महात्मा गांधी : पूर्णाहुति

चतुर्थ खंड

लेखक

प्यारेलाल

अनुवादक

रामनारायण चौधरी

पहला संस्करण, जुलाई १९७३

ISBN 81-7229-306-2

मुद्रक और प्रकाशक

जितेन्द्र ठाकोरभाई देसाई

नवजीवन मुद्रणालय

अहमदाबाद ३८००१४

फोन: +91-79-28540635 । 27542634

E-mail : jitnavjivan10@gmail.com । Website : www.navajivantrust.org

अर्पण

महादेव देसाई को

मैं ईश्वरकी पूर्ण एकतामें और इसलिए मानव-जातिकी एकतामें विश्वास करता हूं। . . . अतएव मैं दुष्टसे दुष्ट मनुष्यसे भी स्वयंको अलग नहीं कर सकता, और न मैं सद्गुणीसे सद्गुणी मनुष्यके साथ अपनी एकरूपतासे इनकार कर सकता हूं।

महात्मा गांधी

प्रकाशकका निवेदन

प्यारेलालके ऐतिहासिक महत्त्व रखनेवाले बहुमूल्य ग्रन्थ 'महात्मा गांधी : पूर्णाहुति' के तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। यह उसका चतुर्थ और अंतिम खण्ड है। इस प्रकार लेखकके देश-विदेशोंमें समादृत मूल अंगरेजी बृहद् ग्रन्थ 'महात्मा गांधी : दि लास्ट फेज़' का हिन्दी अनुवाद इस चतुर्थ खण्डमें समाप्त होता है।

महात्मा गांधीके जीवन-चरित्रके अंतिम रोमांचक तथा यशस्वी भागका प्रमाणिक निरूपण करनेवाले ये चारों खण्ड उन लोगोंके लिए उत्तम भाष्यकी आवश्यकता पूरी करते हैं, जो सत्य और अहिंसाकी सूक्षम कसौटी पर चढ़े हुए गांधीजीके भव्य जीवनको जानने-समझनेकी अभिलाषा रखते हैं।

इस चतुर्थ खण्डमें जो पद्यांश आये हैं वे मूल अंग्रेजी ग्रन्थमें दिये हुए काव्यांशोंके अनुवाद है, जिनके लिए नवजीवन ट्रस्ट डॉ. अम्बाशंकर नागरका अत्यन्त आभारी है।

आशा है, पाठकोंने 'पूर्णाहुति' के तीन खण्डोंका जैसा स्वागत किया है वैसा ही वे इसका भी करेंगे।

२०-०७-१९७३

अनुक्रमणिका

प्रकाशकका निवेदन

पहला भाग

विराट पुरुषका कार्य

१. मुरदों का शहर
२. रक्त और आंसू
३. विजय और विषाद

दूसरा भाग

यात्राका अंत

४. भावी समाज-रचनाकी दिशामें
५. लोकतंत्रको प्रगतिके मार्ग पर लगानेका प्रयत्न
६. प्रभुकी गोदमें
७. पूर्णाहुति
८. उपसंहार

परिशिष्ट क : सशस्त्र आक्रमणका अहिंसक प्रतिरोध

परिशिष्ट ख : गांधीजीका आखिरी वसीयतनामा

पहला भाग

विराट् पुरुषका कार्य

पहला अध्याय: मुरदोंका शहर

१

९ सितम्बर, १९४७ को सुबह गांधीजी कलकत्तेसे दिल्ली पहुंचे – जिसे उन्होंने फिर नहीं छोड़ा । रेलवे स्टेशन पर सरदार पटेल उनसे मिले । पहली ही बार न तो सरदारके चेहरे पर सदाकी मुसकाना थी और न उनका मासिक विनोद था । स्टेशन पर गांधीजीको दूसरे कुछ सुपरिचित चेहरे भी दिखाई नहीं दिये । उनके स्वागतके प्रबंधको घनिष्ठ मित्रोंसे भी गुप्त रखा गया था ।

दिल्ली मुरदोंका शहर बन गया था । कारमें सरदारने गांधीजीको यह खबर दी । ४ सितम्बरसे राजधानीमें साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े थे ।

एक और आश्चर्य गांधीजीकी प्रतीक्षा कर रहा था । उन्हें भंगीबस्तीमें नहीं ले जाया गया, जहां वे ठहरा करते थे । इसके बजाय उन्हें मोटरमें सीधे बिड़ला-भवन ले जाया गया । भंगीबस्ती पर पश्चिम पंजाबके निराश्रितोंने अधिकार कर लिया था । अगर गांधीजी वहां ठहरते तो इन लोगोंको अन्यत्र हटाना पड़ता ।

गांधीजीकी गाड़ी बिड़ला-भवन पहुंची ही थी कि पंडित नेहरू आ गये । वे गांधीजीको समाचार सूना रहे थे तब उनके मुख-मंडल पर चिन्ता, कार्याधिक्य और नींदकी कमीके कारण झुरियां पड़ी हुई दिखाई देती थीं । शहरमें चौबीस घंटेका कर्फ्यू लगा हुआ था । सेना बुला ली गई थी, परन्तु गोलियां चलना और लूटपाट पूरी तरह बन्द नहीं हुई थी । सड़कों पर लाशें बिछी हुई थीं । पंडित नेहरू बहुत गुस्सेमें थे । “कमबख्तोंने सारे शहरमें अव्यवस्था पैदा कर दी है । अब हम पाकिस्तानसे क्या कह सकते है ?”

गांधीजी : “क्रोध करनेसे क्या लाभ ?”

पंडित नेहरू : “मुझे तो अपने पर ही गुस्सा आ रहा है । हम सुरक्षाके लम्बे-चौड़े प्रबंधमें सशस्त्र पहरेदारोंके साथ घूमते हैं । यह शर्मकी बात है । अन्नकी दुकानें लूट ली गई हैं । फल,

सागभाजी और खाने-पीनेका सामान मिलना मुश्किल हो गया है । साधारण नागरिककी क्या दशा होगी ? डॉ. जोशी तो मशहूर सर्जन थे । वे हिन्दू-मुसलमानके बीच भेद करना जानते ही नहीं थे । दोनोंकी समान सेवा करते थे । परन्तु उन पर एक मुसलमान घरसे गोली चलाई गई और उनका प्राणान्त हो ग या। वे एक बीमारको देखने जा रहे थे ।"

इसके बाद नेताओंका एक सम्मेलन हुआ ।

दोनों पंजाबोंकी सरहदोंके दोनों ओर अल्पसंख्यकोंके लिए जीवन असंभव बन रहा था । समाज-विरोधी तत्त्वोंका बोलबाला था । वे किसीकी सत्ताको नहीं मानते थे और समाजकी रचनाको ही नष्ट कर रहे थे । जबसे पश्चिम पंजाबसे आनेवाले निराश्रितोंका तांता लगा था तबसे दिल्लीके वातावरणमें अधिकाधिक तनाव आता जा रहा था । वे भयंकर कहानियां लेकर आये थे – गांवके गांव बरबाद कर दिये गये, औरतोंकी बेइज्जती की गई और उन्हें ले जाकर "लूटके माल" की तरह बांटा गया, कभी कभी खुलेआम बेचा गया । अकसर इन कहानियोंमें अतिशयोक्ति होती थी । परन्तु कभी कभी सच झूठसे ज्यादा आश्चर्यजनक होता है । गोदके शिशुओं और बालकोंको क्रूरतापूर्वक भालोंसे गोद-गोद कर मार दिया गया । सामूहिक रूपमें जबरदस्ती लोगोंका धर्म-परिवर्तन किया गया । अग्निकांड और लूटपाटका बोलबाला रहा । निराश्रितोंके काफिलों और निराश्रितोंकी ट्रेनों पर हमले किये जा रहे थे । दिल्लीमें जो कुछ हुआ उसका तीन-चौथाई इन वर्णनोंका सीधा परिणाम था ।

सीमादलके अंग्रेज अधिकारियोंके आचरणसे दोनों तरफ असन्तोष फैला हुआ था । ऊपरी अधिकारियोंको यह शिकायत थी कि साम्प्रदायिक जहर पुलिस और फौजमें भी घुस गया है । मुसलमान सिपाही अपने सहधर्मियों पर गोली नहीं चलाते थे और न हिन्दू-सिक्ख अपनों पर। २९ अगस्तको संयुक्त रक्षा-परिषद् ने निश्चय किया कि ३१ अगस्तकी आधी रातसे पंजाबकी सीमासेनाको उठा दिया जाय, क्योंकि वह जिस कामके लिए बनाई गई थी उसके लिए वह निकम्मी सिद्ध हुई है और शांति कायम रखनेकी जिम्मेदारी सम्बन्धित सरकारों पर आ गई है । माउन्टबेटनकी प्रबंध सम्बन्धी आखिरी जिम्मेदारी खतम हो गई तो वे दस दिनके आरामके लिए शिमला चले गये । लेकिन दिल्लीसे टेलीफोन पर एक जरूरी सन्देश भेज कर वापस बुला लिये

गये । वे ५ सितम्बरको तीसरे पहर राजधानी पहुंचे । उसी दिन सरकारने स्थितिसे निबटनेके लिए मंत्रि-मंडलकी एक आपत्कालीन समिति बनानेका निश्चय किया, जिसके अध्यक्ष माउन्टबेटन ही बनाये गये ।

भारत सरकारकी एक विज्ञप्तिके द्वारा दिल्ली प्रान्तको एक भयंकर रूपमें अशान्त क्षेत्र घोषित किया गया । सेना और पुलिसको आदेश दे दिया गया कि जब वे कानून तोड़नेवालों पर गोली चलायें तब उन्हें खतम करनेके लिए चलायें । विज्ञप्तिमें हत्या करने, बच्चों और औरतोंको भगाने, आग लगाने और डाका तथा लूट जैसे अपराधोंके लिए मौतकी सजा देनेकी इजाजत दी गई ।

प्रथम हत्याकाण्डके क्रोधको जब पूर्व पंजाबमें नियंत्रित कर लिया गया, तो उसके बाद स्वयं राजधानीमें एक अत्यंत खतरनाक समस्या पैदा हो गई । वहां एक स्थिति ऐसी आ गई जब चार आदमियोंमें एक आदमी निराश्रित था । प्रशासनके सामने अत्यंत कठिन परिस्थिति खड़ी हो गई । पाशविक आवेगोंके तूफानमें व्यक्तियोंकी इच्छाकी कोई कीमत नहीं रही । लाखों लोगोंकी जड़ें उखड़ गईं और वे ऐसे भीषण तूफानमें फंस गये जैसे उष्ण प्रदेशकी आंधीमें जंगलकी पत्तियां फंस जाती है ।

लिखित इतिहासमें जन-समुदायका सबसे बड़ा निष्क्रमण हो रहा था । पंजाबकी दोनों सीमाओंके पार कोई एक करोड़ आदमी इधरसे उधर आ जा रहे थे । सरकारको यह आशा नहीं थी कि उपद्रवोंका आकार इतना बड़ा हो जायेगा । दोनों पंजाबोंमें नागरिक सत्ताका अस्तित्व मिट-सा गया था ।

भारतीय संघकी सरकारने सेनाके द्वारा शहरों और गांवोंको खाली करानेके लिए एक सैनिक संगठन स्थापित किया । उसने सितम्बरके पहले सप्ताहमें मुल्की अधिकारियोंके हाथसे निराश्रितोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जानेका काम अपने हाथोंमें ले लिया । इस कामके लिए रेल, मोटर और हवाई जहाज आदि सब तरहकी सवारी काममें ली गई । बादमें हिंसाब लगाया गया कि २७ अगस्त और ६ नवम्बरके बीच ६७३ रेलगाड़ियां चलाई गईं और उनके द्वारा

२७,९९,००० निराश्रितोंको भारतके भीतर लाया और सरहदके उस पार ले जाया गया । इसी कालमें ४,२७,००० गैर-मुसलमान और २,१७,००० मुसलमान मोटर गाड़ियोंके जरिये लाये और ले जाये गये । इसके लिए १,२०० सैनिक और असैनिक गाड़ियां काममें ली गईं । १५ सितम्बर और ७ दिसम्बरके बीच २७,००० निराश्रितोंको सरकारी विमानोंकी ९६२ उड़ानोंमें भारत लाया गया । लेकिन इन सब प्रयत्नोंसे विराट् समस्याका एक अंश ही हल हो सका । इतनी बड़ी संख्याका आवागमन पैदल कूचके द्वारा ही संभव था । यह कूच दोनों दिशाओंमें हो रहा था । अन्य कूचोंकी संभावना भी दिखाई दे रही थी । आपसी टक्करोंको टालनेके लिए दोनों ओरके अधिकारियोंनो परस्पर ऐसी व्यवस्था कर ली कि जब एक तरफसे काफिला चले तो दूसरी तरफका काफिला रुका रहे ।

इन लाखों लोगोंके लिए अन्न, वस्त्र और निवासकी व्यवस्था करनी थी । सफाईकी उपयुक्त व्यवस्था और दवा-दारूकी सहायताके अभावमें फूट पड़नेवाले संक्रामक रोगोंके रोकथामकी समस्या थी । भीतर आनेवाले निराश्रितों – जो दुःखोंके कारण लगभग दिमागका सन्तुलन खो बैठे थे और बड़ी बड़ी विपत्तियोंमें से गुजरे थे – तथा दोनों ओर अभी भी बचे हुए अल्प-संख्यकोंके बीचके अनिवार्य संघर्षोंको रोकनेकी समस्या थी । भीतर आनेवाले और बाहर जानेवाले निराश्रित मानव-समुदायोंके बीचके संभाव्य संघर्षोंका खतरा था । ये और ऐसी दूसरी बहुतसी समस्याएं इतनी बड़ी और पेचीदा थीं कि चक्करमें डाल देती थीं । आपत्कालीन समितिमें माउन्टबेटनने कहा : “अगर दिल्लीमें हम पराजित हो गये तो खतम हो जायंगे ।” इस उद्गारसे सरकारके सामने जो संकट था उसकी गंभीरताका सही अनुमान लगता था ।

गांधीजी पर इस स्थितिकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? कलकत्तेमें उन्होंने जो चमत्कार किया था उसे क्या दिल्लीमें वे दोहरायेंगे ? सबकी आंखें उन पर लगी हुई थीं । लेकिन उनकी अपनी दृष्टि भीतरकी ओर थी । अन्तमें एकत्रित नेताओंसे उन्होंने बातें कीं । उन्होंने घोषणा की: दिल्ली कलकत्ता नहीं है। “दिल्लीमें मुझे कोई ऐसा नहीं मिलता जो मेरे साथ चलकर मुसलमानोंको नियंत्रणमें रख सके । सिक्खोंमें या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघमें भी कोई आदमी ऐसा नहीं है । मैं

नहीं जानता कि मैं यहां क्या कर सकूंगा । परंतु एक बात स्पष्ट है । **जब तक दिल्लीमें फिरसे शान्ति नहीं हो जाती तब तक मैं इस स्थानको नहीं छोड़ सकता** ।"

जब गांधीजीने इस छोटेसे वक्तव्यके द्वारा यह भारी बोझ अपने कंधे पर रख लिया, तो तने हुए चेहरोंका तनाव कम हो गया । जहां कुछ ही देर पहले अंधेरा ही अंधेरा छाया हुआ था वहां आशाकी किरण दिखाई देने लगी ।

गांधीजी गहरे विचारोंमें डूबे हुअे दिखाई दिये । वे अपने आपसे कहते सुनाई दिये: "ईश्वर, तू ही मेरा सहारा है । मुझे और किसीके सहारेकी जरूरत नहीं ।"

दोपहरको कुछ स्थानीय मुसलमान उनसे मिलने आये । उन्होंने रोते रोते अपनी दुःखगाथा गांधीजीको सुनाई । गांधीजीने उन्हें सान्त्वना दी : आपको ईश्वरमें श्रद्धा रखनी चाहिये । आपको बहादुर बनना चाहिये । मैं यहां दिल्लीमें "करने या मरने" आया हूं ।

एक अखबारी वक्तव्यमें उन्होंने कहा :

> "मनुष्य कुछ सोचता है; ईश्वर कुछ और करता है ।" यह कहावत मेरे जीवनमें बहुधा सच्ची निकली है; शायद दूसरे अनेक लोगोंका भी यही अनुभव हो । जब पिछले रविवारको मैं कलकत्तेसे चला तब दिल्लीकी इस दुःखद परिस्थितिकी मुझे कोई जानकारी नहीं थी । परंतु राजधानीमें पहुंचनेके बाद मैं सारे दिन दिल्लीकी दुःखगाथा सुनता रहा हूं । आज तो दिल्ली दुःखकी मूर्ति बत गई है । मैं कई मुसलमान मित्रोंसे मिला हूं, जिन्होंने मुझे अपनी करूण कहानी सुनाई है । मुझे ऐसी काफी बातें मालूम हुई हैं जिनसे मुझे चेतावनी मिलती है कि मुझे उस समय तक पंजाब जानेके लिए दिल्ली नहीं छोड़ना चाहिये जब तक कि वह पहलेकी तरह पूर्ण शांत नहीं बन जाती ।
>
> दिल्लीके उग्र वातावरणको ठंडा करनेके लिए मुझे भरसक प्रयत्न करना चाहिये । मुझे भारतकी राजधानी पर "करो या मरो" के पुराने मंत्रका प्रयोग करना होगा । मैं

प्रसन्नताके साथ यह कह सकता हूं कि जो अज्ञानपूर्ण विनाश-कार्य हो रहा है, उसे दिल्लीके नागरिक नहीं चाहते। निराश्रितोंके गुस्सेको मैं समझ सकता हूं, क्योंकि भाग्यने उन्हें पश्चिम पंजाबसे बाहर धकेल दिया है। परन्तु क्रोध अल्पकालीन उन्माद ही है। . . . प्रतिशोध इसका इलाज नहीं है। इससे मूल रोग . . . और भी बुरा हो जाता है। इसलिए जो लोग हत्या, आगजनी और लूटपाटके अविचारपूर्ण कामोंमें लगे हुए हैं, उन सबसे मेरा अनुरोध है कि वे अपने हाथ रोक दें।

दोपहरको ये समाचार आये कि निराश्रित लोग किंग्सवे निराश्रित छावनीके सामनेवाले क्षय-चिकित्सालय पर हमला करनेवाले हैं, क्योंकि वहां बड़ी संख्यामें मुसलमान मरीज हैं। गांधीजीने सुशीलाको वहां जानेके लिए कहा। उन्होंने उसे समझा दिया: "रास्तेमें सचिवालयमें रूक कर सरदार और जवाहरलालको सूचित कर देता कि मैं तुम्हें कहां भेज रहा हूं।"

सचिवालयमें सरदार तो अपने ऑफिसमें मिले नहीं, परन्तु सुशीला पंडित नेहरूसे मिली। पंडित नेहरूने अपने साथ उसे अपनी मोटरमें डिप्टी-कमिश्नरके पास चलनेको कहा। टाउन हॉलमें उन्होंने डिप्टी कमिश्नरसे अस्पतालमें फौरन संरक्षकोंका एक दल भेजनेको कहा। डिप्टी कमिश्नरने कहा : "मैं कुछ नहीं कर सकता। सारे ही दल काम पर लगे हुए हैं।" पंडित नेहरूने डिप्टी कमिश्नरकी तरफ मुड़ कर कहा: "अच्छी बात है, तो मैं सुशीलाको उनकी रक्षा करनेके लिए भेज दूंगा।" और नेहरूजीने पिताकी भांति उसकी पीठ थपथपा कर उसे मोटरमें बिठा दिया।

रास्तेमें उसने एक मस्जिदको जलते हुए देखा। वह यह देखनेके लिए रुकी कि भीतर कोई है तो नहीं। "लपटोंके कारण हम सारे कमरोंमें तलाश नहीं कर सके। जब मैं वहां खड़ी थी उस समय सामनेकी इमारतसे गोलियोंकी झड़ी लगी हुई थी।" वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघका अड्डा था। गोलियां मुसलमानोंको और मस्जिदके आसपास घूमनेवाले उनके हमदर्दोंको मारनेके स्पष्ट उद्देश्यसे चलाई जा रही थीं।

अस्पताल पहुंचने पर पता चला कि कुछ ही मिनट पहले लेडी माउंटबेटनकी सहायतासे रोगियोंको जुम्मा मस्जिद पहुंचा दिया गया है । सड़क पर कुछ निराश्रित किंग्सवे शिविरकी दिशामें लूटका माल लिये जा रहे थे । कुछ ही गज पीछे एक पुलिसवाला वर्दी पहने आरामसे घूम रहा था । सुशीलाने उसे पुकारा : "तुम यहां क्या कर रहे हो ? देखते नहीं, यह लूटका माल है? इन्हें तुम रोक नहीं सकते ?" पुलिसवालेने उदासीन भावसे उसकी ओर देखकर उत्तर दिया : " मुझसे बड़े बड़े लोग भी इसे नहीं रोक सकते । तब मैं क्या कर सकता हूं ?"

ठीक उसी समय एक और गाड़ी पीछेसे आकर खड़ी हो गई । सुशीलाको अस्पताल भेज देनेके बाद पंडित नेहरूको चिन्ता हुई । कुछ जरूरी काम निबटानेके बाद वे उसके पीछे आये । उसने पुलिसवालेके साथ हुई बातचीत नेहरूजीको सुना दी । वे बहुत नाराज होकर शिविरकी तरफ चले । निराश्रित लूटका सामान लेकर लौट रहे थे । पंडित नेहरू गाड़ीसे कूद कर बाहर आ गये । उनके चारों ओर भीड़ जमा हो गई । उन्होंने लोगोंको फटकारा : "मैंने समझा था कि हम अपने पीड़ित भाइयोंकी मदद कर रहे हैं । मुझे यह नहीं मालूम था कि हम चोर-डाकुओंको शरण दे रहे हैं ।"

भीड़की त्यौरियां चढ़ गईं । वह भी क्रुद्ध हो गई । एक जोशीला नौजवान सामने आकर बोला : "आप हमें व्याख्यान देते हैं ! आप जानते हैं, हमने क्या क्या कष्ट सहे हैं ?" पंडित नेहरू अधिक बरदाश्त न कर सके । उन्होंने युवककी गर्दन पकड़ कर उसे झकझोर दिया । सुशीलाको चिन्ता हुई । भीड़ काबूसे बाहर हो गई तो ? उसने उन्हें खींच कर हटा लेनेकी कोशिश की । परन्तु उन्होंने अपनी कोहनीसे सुशीलाको वापस धकेल दिया । जब उन्होंने युवकको अपनी पकड़से छोड़ा तो वह बड़बड़ाया : "हां, पंडितजी, कर लीजिये जो करना हो । आपके हाथों मरनेसे बड़े सौभाग्यकी मैं क्या आशा रख सकता हूं ?"

पंडित नेहरूका कोप शान्त हो गया । उनके चेहरे पर उदासी छा गई । वे गद्गद हो गये । उन्होंने कहा : "यह समय मेरे लिए यह बतानेका नहीं कि मैं तुम सबके लिए कितना दुखी हूं और

किस तरह तुम्हारे कष्टोंके लिए मेरे दिलमें दर्द है । परन्तु मेरा कहना यही है : 'क्या इन मुसलमानोंने तुम्हारा कुछ बिगाड़ा है ? नहीं बिगाड़ा हो तो तुम्हें इन्हें हानि नहीं पहुंचानी चाहिये । हमें न्यायपरायण तो होना ही चाहिये । यदि इंसाफ तकाजा करे और जरूरी हो जाय, तो हम पाकिस्तानसे युद्ध छेड़ सकते हैं और आप लोग सेनामें भरती हो सकते हैं । परन्तु इस तरहकी बात निन्दनीय और कायरतापूर्ण है ।

भीड़ने जयध्वनि की : "जवाहरलाल नेहरू जिन्दाबाद !"

जब सुशीलाने सरदारको यह घटना सुनाई तो वे घबराये । "क्या एक प्रशासकको इसी ढंगसे काम करना चाहिये ? उनकी सुरक्षा मेरे जिम्मे है । उन्हें इस तरह लोगोंके बीच नहीं जाना चाहिये – अनावश्यक खतरे नहीं उठाने चाहिये ।"

२

दूसरे दिन यानी १० सितम्बरसे गांधीजीने शहरके उपद्रव-पीड़ित भागों तथा विविध मुस्लिम और हिन्दू निराश्रित शिविरोंका दौरा लगाना शुरू किया । आरंभ हुमायूंके मकबरेके पासकी अरबकी सरायसे किया, जहां अलवर और भरतपुर राज्योंके मेव लोग पाकिस्तान ले जाये जानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उन्होंने कहा : हम कोई भारतसे जाना नहीं चाहते । गांधीजीने उनके लिए भरसक प्रयत्न करतेका वचन दिया ।

अरबकी सरायसे वे ओखलाकी जामिया मिलिया इस्लामियामें गये । यह मुस्लिम राष्ट्रीय विद्यापीठ है (देखिये खंड-१, पृष्ठ २३९) । आसपासके गाँवोंकी बहुतसी मुस्लिम स्त्रियों और पुरुषोंने वहां शरण ली थी । दो दिन तक वे हर क्षण मौतके खतरेमें रहे थे । वे सब पीले और थके हुए दिखाई देते थे । परन्तु जामियाके उपकुलपति डॉ. जाकिरहुसेनके शब्दोंमें साहस और श्रद्धा थी । कुछ दिन पूर्व जब वे पंजाबसे लौट रहे थे तो जालंधर रेलवे स्टेशन पर एक विरोधी भीड़ने उन्हें घेर लिया था और सौभाग्यसे एक सिक्ख कैप्टन तथा दूसरे हिन्दू मित्रके आ जानेसे ही वे बच सके थे । उन्होंने इन्हें पहचान लिया और स्वयं काफी खतरा उठाकर इन्हें बचाया । उन्होंने

पंजाबमें होकर आते समय जो कुछ देखा और खुद अनुभव किया, उसका वर्णन गांधीजीके सामने किया । वे दुःखी थे, परन्तु उनके भीतर कटुता नहीं थी । उन्होंने कहा कि सरकार मुसलमानोंकी रक्षा और सुरक्षाके लिए सब संभव उपाय कर रही है । आपके पहुंच जानेसे प्रशासनमें नई जान आ गई है ।

गांधीजीका हृदय अत्यन्त उद्विग्न था । यदि डॉ. जाकिरहुसेन जैसे पुरुष भी सुरक्षित नहीं हैं, तो भारतमें जीकर क्या करना है ? मुस्लिम शरणार्थी स्त्रियोंमें से एककी गोदमें एक दो महीनेका शिशु था, जिसके मां-बाप दंगोंके दौरान मारे गये थे । उसे देखकर बहुतोंकी आंखोंमें आंसू आ गये । निराश्रितोंसे गांधीजीने कहा : "जरूरी हो तो ईश्वरका नाम लेते हुए मर जाना, परन्तु हिम्मत न हारना ।" जामियाके कार्यकर्ताओंके परिवारकी महिलाओंको सम्बोधित करते हुए वे बोले : "अगर तुम सब इस सुन्दर संस्थाके अहातेमें बहादुरीसे लड़ते हुए मर जाओ, तो मुझे दुःख नहीं होगा । इसे बनानेमें हिन्दुओं और मुसलमानों दोनोंने मिलकर श्रम किया है ।"

लौटते समय वे दीवान हॉलके हिन्दू निराश्रित शिविरको देखने गये । वहां रोषपूर्ण चेहरोंने उन्हें घेर लिया । उसमें हिन्दू और सिक्ख निराश्रित भरे थे । कुछ लोगोंने गांधीजीको कठोर-हृदय कहा और उन पर यह आरोप लगाया कि आपको तो हमारी अपेक्षा मुसलमानके प्रति अधिक सहानुभूति है । गांधीजीके मुख-मंडल पर एक विचित्र और दुःखपूर्ण भाव फैल गया । उन्होंने कहा : आपको नाराज होनेका हक है । आपने वास्तवमें बड़े बड़े कष्ट भोगे हैं ।

हजारों निराश्रित विविध शिविरोंमें भेड़-बकरियोंकी तरह ठूंसे हुए थे । उन्हें जीवनकी प्राथमिक शालीनताओंकी रक्षाकी सुविधायें भी प्राप्त नहीं थीं – भोजन, वस्त्र और निवासकी तो बात ही कहां ? उनके चेहरों पर दुःखकी गहरी छाया फैली हुई थी । गांधीजी भी उनके साथ बड़े दुःखी थे । लेकिन निराश्रित लोग उस दुःखको देख नहीं सकते थे । उनके घाव ताजे थे और वे रिस रहे थे । प्रतिशोध उनमें से बहुतोंको प्यारा लगता था । उनमें से एकको यह कहते सुना गया : अभी तो हमने रुपयेमें दो पैसे भर भी बदला नहीं लिया है । लेकिन अब तो यह "बूढ़ा" (गांधीजी)

आ गया, अब हम हिंसाब बराबर नहीं कर सकेंगे । फिर भी वे गांधीजीसे चिपटते थे । गांधीजीमें कोई चीज ऐसी थी, जो उनके न चाहने पर भी उन्हें गांधीजीकी तरफ खींचती थी। निराश्रित गांधीजीसे नाराज हो सकते थे, झगड़ भी सकते थे, परन्तु अपने दिलकी गहराईमें वे जानते थे कि यह बूढ़ा सबका दोस्त है, किसीका दुश्मन नहीं; यह हमें और हमारे प्रियजनोंको शायद हमसे भी ज्यादा प्यार करता है । वे चाहते थे कि गांधीजी उनका मार्गदर्शन करें, भले ही वे गांधीजीकी सलाह पर चलनेको तैयार न हों ।

रेलवे स्टेशनके पासका वेवेल कैन्टीनका शिविर मुसलमान निराश्रितोंसे भरा था । वे पाकिस्तान ले जाये जानेकी प्रतीक्षामें थे । जब गांधीजी उस शिविरमें थे तब एक घायल पठान वहां लाया गया । वह बड़ा करुण दृश्य था । जब पठानको अस्पताल ले जानेकी व्यवस्था की जा रही थी उस समय गांधीजी बोले : " भारतको निर्दोषोंकी हत्याओंका प्रयाश्चित्त करना होगा ।"

उस दिनका दौरा इकतालीस मीलका हुआ । उसके अन्तमें किंग्सवेका निराश्रित शिविर देखा गया ।

शामको गांधीजीने अपने प्रार्थना-प्रवचनमें कहा : मैं पाकिस्तान जा कर स्वयं जिन्ना साहबके दावोंकी सचाईकी परीक्षा करनेको उत्सुक हूं । उन्होंने घोषणा की है कि पाकिस्तानके हिन्दू हमारे भाई हैं । हम उनकी भाइयों जैसी ही संभाल रखेंगे और पहले उन्हें खिलाकर बादमें खुद खायेंगे । क्या ये वीरतापूर्ण उद्गार दुनियाके कानोंको अच्छे लगनेके लिए ही हैं ? परन्तु दिल्लीके उपद्रवोंके कारण मैं वहां नहीं जा सकता । दोनों ही राज्योंके लाचारी बता कर यह कहने से काम नहीं चलेगा कि यह सब बदमाशोंका काम है । प्रत्येक राज्यको अपने निवासियोंके कार्योंकी पूरी जिम्मेदारी स्वीकार करनी होगी ।

उन्होंने आगे कहा : भारतीय संघके बारेमें भी यही बात लागू होती है । क्या संघके मंत्री अपना दिवाला पीट कर संसारके सामने निर्लज्जतासे यह स्वीकार करेंगे कि दिल्लीके लोग या निराश्रित देशके कानूनको स्वेच्छासे नहीं मानना चाहते ? मैं तो चाहूंगा कि हमारे मंत्री लोगोंसे

उनका पागलपन छुड़ानेकी कोशिशेमें भले ही मर मिटें, लेकिन झुकें नहीं । यह लोगोंके हाथमें है कि वे दिल्लीमें फिरसे साधारण स्थिति पैदा करके मुझे पंजाब भेज दें । दिल्लीमें कर्फ्यू क्यों होना चाहिये ? दिल्ली मुरदोंका शहर क्यों होना चाहिये ?

११ सितम्बरको राजकुमारी अमृतकौर सुशीलाके साथ गांधीजीको इर्विन अस्पताल ले गई । हताहत-विभाग और ऑपरेशन थियेटर दिन-रात काममें लगा रहता था । कर्मचारी बुरी तरह थके हुए थे । घायलोंमें एक चार सालका बच्चा था, जिसे गोलीका घाव लगा था । गांधीजीने हर चारपाईके पास खड़े होकर रोगीको और उसके रिश्तेदारोंको शान्ति और सान्त्वना दी । फिर वे बिड़ला-भवन लौट आये । सुशीला पीछे रह गई, क्योंकि अस्पतालमें काम करनेवाली उसकी कुछ पुरानी सखियोंने उसे अपने भारी काममें सहायता देनेके लिए कहा था ।

थोड़ी देर बाद मैदानके उस पारकी एक इमारतसे अस्पताल पर गोलियोंकी वर्षा हुई । वहां मुस्लिम लीगके मुखपत्र 'डॉन' का दफ्तर था । पासकी ही एक मस्जिदसे ओर एक दूसरे मकानसे भी गोलियां बरसने लगीं, जो मुस्लिस लीगका अड्डा बताया जाता था । तीसरे पहर तीन बजे गोलियोंका जवाब देनेके लिए पुलिसने अस्पतालकी मीनार पर अधिकार कर लिया ।

जब रातको नौ बजेके करीब पंडित नेहरू गांधीजीसे मिलने बिड़ला-भवन आये तब तक सुशीला लौटी नहीं थी । गांधीजीको चिन्ता हो रहीथी । पंडित नेहरूने एक सैनिक जीप उसे लानेके लिए भिजवाई । परन्तु रातको देरमें जब गोलीबार कुछ कम हुआ तभी कोई सुरक्षित रूपमें अस्पतालसे आ सका या वहां जा सका ।

दिल्लीकी ज्यादातर पुलिस मुस्लिम थी । उसके बहुतसे सिपाही अपनी वर्दियां और हथियार लेकर चल दिये थे। दूसरोंकी वफादारीमें भी सन्देह था । सरदार पटेलको तार देकर पश्चिम बंगालसे विश्वस्त गुरखा पुलिस बुलानी पड़ी । उनके एक महत्त्वपूर्ण सन्देशके उत्तरमें मध्यप्रदेशके मुख्यमंत्रीने २५० पुलिसके सिपाहियों और कुछ थानेदारोंका दल भेजा । ऐसी अफवाहें उड़ी थीं कि मुसलमान छापा मार कर शासनको हथियानेकी कोशिश करेंगे । पुलिस

द्वारा ली गई मुस्लिम घरोंकी तलाशीमें बमों, हथियारों और दूसरी युद्ध-सामग्रीके ढेर मिले थे। स्टेनगन, ब्रेनगन, छोटी मोर्टार बन्दूकें और बेतारकी खबरें भेजनेके ट्रान्समीटर पकड़े गये और इन चीजोंको बनानेके छोटे छोटे गुप्त कारखानोंका भी पता लगा। सफाईमें मुसलमानोंने यह आरोप लगाया कि उनके शत्रुओंने उजड़े हुए घरोंमें ये हथियार रख दिये थे। कुछ स्थानों पर ऐसा होना असंभव नहीं था। परन्तु कई जगहों पर मुसलमानोंने राइफलों, स्टेनगनों और मोर्टार बन्दूकोंसे वास्तवमें डट कर लड़ाइयां लड़ी थीं।

सरदारकी उत्तेजनाका पार नहीं था। एक दिन शहरका चक्कर लगाते हुए पता चला कि मुसलमानों द्वारा कब्जा किये हुए एक मकानसे पिछले चौबीस घंटोंमें लगातार गोलियां चलती रही हैं। उन्होंने अपने साथवाले एक उच्च सैनिक अधिकारीसे पूछा : "इस अड्डेकी सफाई क्यों नहीं की गई ?" उसने उत्तर दिया : "जब तक हम इस मकानको उड़ा न देते तब तक हमारे पास जितनी शक्ति थी उससे इसकी सफाई संभव नहीं थी।" सरदारने तमक कर कहा : "तो ऐसा आपने क्यों नहीं किया ?"

गैर-कानूनी गुप्त हथियारोंका हौआ जनता और सरकार दोनोंके मनमें बना रहा। शुरूसे ही गांधीजीने स्थानीय मुसलमानोंको यह समझानेकी कोशिश की कि गैर-कानूनी हथियार रखनेसे आपको और रखनेवालोंको लाभके स्थान पर हानि ही होनेवाली है। आपका उद्धार ये हथियार सौंप देनेमें ही है। यदि यह सलाह पूरी तरह मान ली जाती, तो हिन्दू सम्प्रदायवादियोंके हाथका 'ब्रह्मास्त्र' निकल जाता और मुसलमानोंके जान-मालकी रक्षाका सारा भार सरकारके कन्धों पर आ जा ता। किन्तु ऐसा नहीं किया गया। नतीजा यह हुआ कि सम्प्रदायवादियोंने इसका दुरुपयोग करके मुसलमानोंके खिलाफ लोगोंको भड़काया और सरकारके इरादोंको विफल कर दिया। इस प्रकार बहुतसे निर्दोष मुसलमानोंको थोड़ेसे लोगोंके दुष्कृत्योंकी भारी कीमत चुकानी पड़ी।

गांधीजीके आगे हथियार रख देनेका काम जारी तो रहा, परन्तु बहुत ही कम संख्यामें । कुछ हथियार तो पुलिसने पकड़े । लेकिन पुलिस द्वारा पकड़े गये हथियार किसी भी समय दिल्ली जैसे बड़े शहरके मुकाबले कम ही रहे । गांधीजीने दलील दी : परन्तु गुप्त हथियार तो अंग्रेजी राज्यमें भी रखे जाते थे । उस समय किसीको इसकी चिन्ता नहीं थी । "उनका पता हर तरहसे लगाया जाय । लेकिन कुत्तेको फांसी पर लटकानेके लिए उसे बदनाम मत करो । . . . वर्षोंकी कड़ी मेहनतके बाद . . . हमने जो आजादी प्राप्त की है, उसके योग्य बननेके लिए हमें अपने सामने आनेवाली सारी कठिनाइयोंका बहादुरीसे सामना करना चाहिये; चाहे वे कठिनाइयां कितनी ही कठोर क्यो न हों । उनका ईमानदारीसे सामना करनेसे हम अधिक योग्य और अधिक उदात्त बनेंगे।" [प्रार्थना-प्रवचन, २२ सितम्बर १९४७]

सिक्खोंको सरकारके इस निर्णय पर दुःख था कि उन्हें ९ इंचसे ज्यादा लम्बी 'किरपाण' सुरक्षाकी बिना पर नहीं रखने दी जायगी । उनके प्रतिनिधि एक शिष्ट-मण्डलके रूपमें गांधीजीसे मिले और शिकायत की कि ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध उनके धर्ममें हस्तक्षेप होगा । गांधीजीने उत्तर दिया: "परन्तु आज तो मुझे धर्म कहीं दिखाई नहीं देता । और अगर 'किरपाण' धर्मका प्रतीक ही है, तो उसके आकारके बारेमें लगाये गये प्रतिबन्धकी आपको परवाह नहीं करनी चाहिये ।"

सिक्खोंको इससे समाधान नहीं हुआ । उन्होंने अपने कथनके समर्थनमें प्रिवी कौंसिलके एक पुराने निर्णयका हवाला दिया, जिसमें 'किरपाण' को किसी भी आकारका खड्ग बताया गया था । गांधीजीने उनसे कहा : यह अप्रस्तुत और अनुचित भी है कि ऐसे उपयोगी प्रतिबन्धोंको तोड़नेके लिए कानूनी मिसालें दी जायं, जिनके अधीन रहकर ही समाज स्वतन्त्रतापूर्वक विकास कर सकता है । जिस 'किरपाण' को रखनेका सिक्ख धर्ममें अपने अनुयायियोंको आदेश दिया गया है, वह शुद्धता और संयमका प्रतीक है । वह जबरदस्त कठिनाइयोंके सामने निर्दोष स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों तथा अपंग लोगोंकी अत्याचारसे रक्षा करनेका हथियार है; अरक्षित स्त्रियों और बच्चोंके विरुद्ध आक्रमण अथवा प्रतिशोधका अस्त्र वह हरगिज नहीं है । मुसलमानोंके खिलाफ लड़ी गई लड़ाइयोंके दौरान भी आचरणके नियम ये थे कि दोनों ओरके घायलोंकी सेवा की जाती

थी । कुछ समयसे 'किरपाण' का ऐसे कामोंके लिए उपयोग किया गया है, जिसका बिलकुल समर्थन नहीं किया जा सकता; और जो उसका अनुचित उपयोग करता है, वह उसे रखनेका अधिकार खो देता है ।

१२ सितम्बरको गांधीजी जुम्मा मस्जिद देखने गये । मस्जिद और उसके आसपासकी जगह बड़ी गंदी थी । फर्शबंदी पर सूरजकी तेज झुलसानेवाली धुप पड़ रही थी । परन्तु गन्दगीं और गरमीकी परवाह न करके गांधीजीने आदर-भावसे अपनी चप्पलें उतार दीं और सीढ़ियों पर नंगे पैरों ही चढ़े । जुम्मेकी नमाजके लिए जो बहुतसे लोग जमा हुए थे उनके सिवा मस्जिदमें कोई ५००० मुस्लिम निराश्रित थे। उनमें शहरके कुछ छंटे हुए बदमाश भी शामिल थे । गांधीजीकी मंडलीकी तीनों महिलायें उनके साथ थीं । उन्हें भय-सा लगा । आम तौर पर वे अपने दोनों ओरकी एक एक लड़कीके कंधे पर हाथ रख कर चलते थे । इस मौके पर उन्होंने अपने हाथ बढ़ाकर तीनोंके कन्धों पर रख लिये और जब तक मस्जिदमें रहे उनमें से किसीको पीछे नहीं रहने दिया।

हैदराबाद भवनकी – निजामके महलकी – गंदगी और भी बुरी थी, जहां उच्च श्रेणीके मुसलमान निराश्रितोंने शरण ली थी ।

तीसरे पहर एक प्रमुख मुस्लिम लीगी नेता अपने एक मुस्लिम मित्रके साथ गांधीजीसे मिलने आये । वे बोले : "हमने इस तरहके पाकिस्तानकी कल्पना नहीं की थी । आप ही शहरको बचा सकते हैं ।" उन्होंने गांधीजीके शान्ति-मिशनके लिए अपनी सेवाएं अर्पित कीं ।

उस दिन शामकी प्रार्थना-सभामें गांधीजीने लोगोंसे पिछली बातें भूल जाने और अपने कष्टोंको याद न रखकर एक-दूसरेके सामने दोस्तीका हाथ बढ़ाने तथा शान्तिसे रहनेका निश्चय करनेकी अपील की । उन्होंने कहा मुसलमानोंको भारतीय संघके नागरिक होनेका गर्व होना चाहिये और तिरंगे झंडेका उचित सम्मान करना चाहिये । जिन जिनके पास गैर-कानूनी हथियार तुरन्त हों उन्हें तुरन्त अपने हथियार सौंप देने चाहिये । जब हथियार सौंपनेका काम स्वेच्छासे हो, तो सरकारको कोई कार्रवाई नहीं करनी चाहिये ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके अधिनायक भी गांधीजीसे मिलने आये । यह सबको मालूम था कि आर. एस. एस. का शहरके और देशके दूसरे विविध भागोंके हत्याकाण्डोंमें मुख्य हाथ रहा था । परन्तु इन मित्रोंने इस बातसे इनकार किया । उन्होंने कहा कि हमारा संघ किसीका शत्रु नहीं है । वह हिन्दुओंकी रक्षाके लिए है, मुसलमानको मारनेके लिए नहीं । वह शान्तिका समर्थक है।

यह अतिशयोक्ति थी । परन्तु गांधीजीकी तो मानव-स्वभावमें और सत्यकी उद्धारक शक्तिमें असीम श्रद्धा थी । उन्हें लगा कि मुझे हर मनुष्यको अपनी नेकनीयती सिद्ध करनेका अवसर देना चाहिये । रा. स्व. संघके लोग बुराई करनेमें गौरव नहीं समझते, इसका कुछ तो महत्त्व है ही । गांधीजीने उनसे कहा : आपको एक सार्वजनिक वक्तव्य निकालना चाहिये और अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपोंका खण्डन करना चाहिये तथा मुसलमानोंकी हत्या करने और उन्हें सतानेके कामकी निन्दा करनी चाहिये, जो कि शहरमें अब तक हुआ है और अभी भी हो रहा है । उन्होंने गांधीजीसे कहा : आप खुद हमारे कहनेके आधार पर ऐसा कर सकते हैं । गांधीजीने उत्तर दिया : मैं अवश्य करूंगा । परन्तु आप जो कुछ कह रहे हैं उसमें यदि सचाई हो, तो ज्यादा अच्छा यह होगा कि जनता उसे आपके मुंहसे सुने ।

गांधीजीकी मंडलीके एक सदस्य बीचमें ही बोल उठे: संघके लोगोंने वाहके निराश्रित शिविरमें बढ़िया काम किया है । उन्होंने अनुशासन, साहस और परिश्रमशीलताका परिचय दिया है। गांधीजीने उत्तर दिया: “परन्तु यह न भूलिये कि हिटलरके नाजियों और मुसोलिनीके फासिस्टोंने भी यही किया था ।” उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघको “तानाशाही दृष्टिकोण रखनेवाली साम्प्रदायिक संस्था” बताया ।

थौड़े दिन बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके नेता गांधीजीको अपने एक स्वयंसेवक सम्मेलनमें ले गये, जो वे भंगीबस्तीमें कर रहे थे । गांधीजीने उनका कुछ साहित्य देखा था । उसमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया था कि हिन्दू भारतके मूल निवासी हैं । स्व. लोकमान्य तिलकका यह दावा गलत है कि उत्तरी ध्रुवका क्षेत्र वेदोंका मूल स्थान था और आये लोग उत्तर-

पश्चिमके मार्गसे भारतमें आये थे । रा. स्व. संघके लोग दृढ़ विश्वाससे यह कहते थे कि आर्य लोग बाहरसे यहां नहीं आये थे । उत्तरी ध्रुवके क्षेत्रने भारतसे अपना स्थान बदल लिया था, क्योंकि मूलत: वेदोंके निर्माणके समय वह भारतमें ही था ! "अत्यन्त दीर्घ कालके पहले वह (उत्तरी ध्रुव) उस भूभागमें स्थित था . . . जिसे आजकल बिहार और उड़ीसा कहा जाता है ।" [हम इन समूची धारणाओंको अस्वीकार करते हैं और हमारा यह निश्चित मत है कि हम हिन्दू लोग इस देशमें कहींसे नहीं आये; हम तो सदासे, अनन्त कालसे, इसी भूमिके बालक हैं और इस देशके स्वाभाविक स्वामी हैं ।" — वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड, एम. एस. गोलवलकर, पु. १३] इसलिए भारत हिन्दुओंका है और जिन्होंने हिन्दू धर्म और संस्कृतिको हजम नहीं किया है और जिन्हें हिन्दू धर्म और संस्कृतिने हजम नहीं कर लिया है, वे विदेशी हैं और केवल अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंकी ही मांग कर सकते हैं । कांग्रेसके हानिकारक प्रभावमें "यह विचार . . . पहले-पहल फैलाया गया . . . कि राष्ट्र उन सब लोगोंसे मिलकर बनता है जो संयोगवश उसमें रहते हैं । . . . हम 'इंडिया' के विदेशी नामके नीचे अपने पुराने आक्रमणकारियों और शत्रुओंकी श्रेणीमें स्वयंको रखने लगे और अपने संग्राममें उन्हें शरीक करनेके लिए उनके मन जीतनेका प्रयत्न करने लगे । . . . (और) एक 'वास्तविक' लोकतांत्रिक 'राज्य' की स्थापनाके छलावेके पीछे पड़कर अपने सच्चे हिन्दू राष्ट्रत्वको पूरी तरह भुला बैठे ।" [वही, पृ. १९-२०]

अपने सम्मेलनमें गांधीजीका स्वागत करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके नेताने उन्हें "हिन्दू धर्म द्वारा उत्पन्न किया हुआ एक महान पुरुष" बताया । उत्तरमें गांधीजी बोले : मुझे हिन्दू होनेका गर्व अवश्य है, परन्तु मेरा हिन्दू धर्म न तो असहिष्णु है और न बहिष्कारवादी है । हिन्दू धर्मकी विशिष्टता, जैसा मैंने उसे समझा है, यह है कि उसने सब धर्मोंकी उत्तम बातोंको आत्मसात् कर लिया है । यदि हिन्दू यह मानते हों कि भारतमें अ-हिन्दुओंके लिए कोई समान और सम्मानपूर्ण स्थान नहीं है और मुसलमान भारतमें रहना चाहें तो उन्हें घटिया दरजेसे सन्तोष करना होगा, या मुसलमान यह समझते हों कि पाकिस्तानमें हिन्दू केवल मुसलमानकी मेहरबानीसे गुलाम जातिके रूपमें ही रह सकते हैं, तो इसका परिणाम यह होगा कि हिन्दू धर्म और इस्लाम

दोनों श्रीहीन हो जायंगे । इसलिए मुझे आपके इस आश्वासनसे खुशी है कि आपकी नीति इस्लामके प्रति शत्रुतापूर्ण नहीं है । मैं आपको चेतावनी देता हूं कि अगर आपके खिलाफ लगाया जानेवाला यह आरोप सही हो कि मुसलमानोंको मारनेमें आपके संगठनका हाथ है, तो उसका बुरा परिणाम होगा ।

इसके बाद जो प्रश्नोत्तर हुए उनके दौरान गांधीजीसे पूछा गया: क्या हिन्दू धर्म आततायियोंको मारनेकी अनुमति नहीं देता? यदि नहीं देता, तो गीताके दूसरे अध्यायमें श्रीकृष्णने कौरवोंका नाश करनेका जो उपदेश दिया है उसके लिए आपका क्या स्पष्टीकरण है?

गांधीजीने कहा : पहले प्रश्नका उत्तर 'हां' और 'नहीं' दोनों है । मारनेका प्रश्न खड़ा होनेसे पहले हम इस बातका अचूक निर्णय करनेकी शक्ति अपनेमें पैदा करें कि आततायी कौन है । दूसरे शब्दोंमें, हमें ऐसा अधिकार तभी मिल सकता है जब हम पूरी तरह निर्दोष बन जायं । एक पापी दूसरे पापीका न्याय करने अथवा उसे फांसी लगानेके अधिकारका दावा कैसे कर सकता है ? रही बात दूसरे प्रश्नकी । यह मान भी लिया जाय कि पापीको दण्ड देनेका अधिकार गीताने स्वीकार किया है, तो भी कानून द्वारा उचित रूपमें स्थापित सरकार ही उसका उपयोग भलीभांति कर सकती है । "अगर आप न्यायाधीश और जल्लाद दोनों एकसाथ बन जायें, तो सरदार और पंडित नेहरू दोनों लाचार हो जायंगे । वे राष्ट्रके परखे हुए सेवक हैं । उन्हें आपकी सेवा करनेका अवसर दीजिये । कानूनको अपने हाथोंमें लेकर उनके प्रयत्नोंको विफल न कीजिये ।"

शामको किंग्सवे निराश्रित छावनीकी प्रार्थना-सभामें बड़ी भीड़ थी । ज्यों ही कुरानका पाठ शुरू हुआ, सभामें से कोई चिल्लाया : "इन्हीं आयतोंको पढ़-पढ़कर लोगोंने हमारी मां-बहनोंकी बेइज्जती की, हमारे प्रियजनोंको मारा । हम ये आयतें आपको यहां नहीं पढ़ने देंगे ।"

कुछ लोग चिल्लाये "गांधी मुर्दाबाद" । सभामें फिरसे व्यवस्था स्थापित करनेकी तमाम कोशिशें बेकार साबित हुईं । जब गांधीजी वापस जाने लगे तो उनकी मोटर पर पत्थर फेंके गये

। बादमें मालूम हुआ कि कुछ निराश्रितोंने अधिक गंभीर शरारत करनेके लिए सोडा-वाटरकी खाली बोतलें जमा कर रखी थीं ।

क्या गांधीजी इतने पर भी अपनी सार्वजनिक प्रार्थना-सभायें जारी रखना चाहते थे ? क्या वे यह आशा रखते थे कि दुःखके कारण जिनका दिमाग खराब हो गया है वे लोग क्षमा करके भूल जायंगे और जिन आयतोंके साथ इतनी भयंकर स्मृतियां जुड़ी हुई हैं उनकी खूबियोंकी कदर करेंगे ? ऐसी चुनौतीके सामने दूसरा कोई भी व्यक्ति विचलित हो जाता । परन्तु गांधीजी नहीं हुए । अवसर देखकर व्यवहार करना उनके लिए अपनी श्रद्धासे इनकार करना होता । उनकी दलील यह थी कि कोई धर्मग्रन्थ इसलिए खराब नहीं हो जाता कि उसके अनुयायी गुमराह हो गये हैं । इसलिए प्रतिदिनकी प्रार्थनाको छोड़ा नहीं जा सकता । परन्तु कलसे प्रार्थनाके जिस भाग पर आपत्ति की जाती है वह बीचमें न आकर शुरूमें ही आ जायगा, ताकि आपत्ति करनेवाले अपना विरोध आरम्भमें ही प्रकट कर दें । सभाकी हार्दिक अनुमतिके बिना मैं प्रार्थनाको आगे नहीं बढ़ाऊंगा । सार्वजनिक प्रार्थना जैसी वस्तुको लोगोंकी इच्छाके विपरीत उन पर थोपा नहीं जा सकता । परन्तु प्रार्थना आरम्भ हो जानेके बाद मैं कोई हस्तक्षेप बरदाश्त नहीं करूंगा । यदि श्रोतागण यह आश्वासन दें कि वे बल-प्रयोग अथवा बल-प्रदर्शन करके आपत्ति करनेवालोंको दबानेकी कोशिश नहीं करेंगे, और न उनके विरुद्ध कोई द्वेष या रोष मनमें रखेंगे – भले वे हुल्लड़बाजी ही क्यों न करें – तो बाधाके होते हुए भी प्रार्थना जारी रखी जायगी ।

एक चतुर पाइन्ट्समैन (कांटेवाले) की तरह गांधीजीने देखते देखते लोगोंके तीव्र रोषको इस तरह ऐसे दृढ़ संकल्पकी दिशामें मोड़ दिया, जो बड़ीसे बड़ी उत्तेजनाके बावजूद उत्तेजित नहीं होता । गांधीजीकी प्रार्थना-सभायें यह नापनेका यन्त्र बन गईं कि लोगोंमें अहिंसाका कितना अनुशासन आया है और उसकी अधिक साधनाके लिए नयी कार्य-पद्धतियोंकी खोज और परीक्षा कहां तक हो सकती है । यदि सारी श्रोता-मंडली मन और कर्मसे आहिंसक हो, तो गांधीजीका दावा था कि आपत्ति करनेवालेको झख मार कर संयम रखना ही पड़ेगा :

मेरी रायमें अहिंसा इसी तरह काम करती है। . . . इश्वरीय आदेशोंके नामसे पहचाने जानेवाले तमाम सार्वत्रिक आचार-नियम सादे तथा समझने और अमल करनेमें सरल होते हैं, बशर्ते कि इसके लिए हमारा संकल्प हो । वे केवल उस जड़ताके कारण ही मुश्किल दिखाई देते हैं, जो मानव-जातिमें फैली हुई है । प्रकृतिमें कोई चीज निष्क्रिय नहीं है । केवल ईश्वर ही गतिहीन है । वह कल भी वही था, आज भी वही है और कल भी वही रहेगा – और फिर भी वह सदा गतिमान है । . . . इसीलिए मेरा यह मानना है कि यदि मानव-जातिको जिन्दा रहना है, तो उसे दिनोंदिन सत्य और अहिंसाका शासन अधिकाधिक स्वीकार करना होगा । [प्रार्थना-प्रवचन, ३० अक्तूबर १९४७]

३

पहले साम्यवादी लोग गांधीजीके नेतृत्वकी निन्दा बहुत कर चुके थे । गांधीजीके विरुद्ध उनका यह आरोप था कि क्रान्तिको आरम्भ करके उन्होंने अपने मूल "पूंजीवादी" दृष्टिकोणके कारण अहिंसाका आग्रह रखा और क्रान्तिको उसके "तर्क-संगत" अन्तिम परिणाम तक नहीं जाने दिया । उनके नेता पी. सी. जोशी एक दिन गांधीजीके पास आकर बोले: "लोकतांत्रिक शक्तियां सम्प्रदायवादसे लड़नेको तैयार हैं । वे केवल इस बातकी प्रतीक्षामें हैं कि उनको सज्ज करके गतिमान किया जाय । आप हमें कूचका हुक्म दीजिये । हम आपके आदेशोंका पालन करेंगे।"

गांधीजी : "मैं तो अपनेको बिना सेनाका सेनापति समझता हूं । मैं किसे कूचका हुक्म दूं?"

जोशी : "सेनापतिको अपने आपमें कोई विश्वास नहीं है । वह सेनाको बुला नहीं रहा है । कलकत्तेका हाल तो यहांसे सौगुना खराब था । कलकत्तेमें आपके पास शान्तिसेना थी; यहां हम आपको गृह-रक्षक (होमगार्ड) देंगे ।"

शांधीजीने उन्हें धीरजके साथ कलकत्ता और दिल्लीका फर्क समझाया और यह भी कहा कि "कलकत्तेका चमत्कार" कैसे सम्भव हुआ । परन्तु व्यर्थ । कॉमरेड जोशीने आग्रहसे कहा : "आपने राष्ट्रको बनाया है, आपको इसे आगे बढ़ाना चाहिये । हमें आज्ञा दीजिये ।"

गांधीजीने उत्तर दिया : "मैंने ही राष्ट्रको बनाया और (साम्यवादियोंके मतानुसार) मैंने ही इसे बिगाड़ा । आप सब नौजवान हैं । मुझमें आपके जैसा आत्म-विश्वास नहीं है – और मुझे उसका अफसोस नहीं है । मैं आपकी सलाहसे लाभ उठानेका प्रयत्न करूंगा ।"

जोशी (इस नाजुक व्यंग्यको न समझ कर) : "कृपा करके यह न कहिये ।"

गांधीजी (अचानक जोशमें आकर) : "मैं जो कहता हूं वही करना चाहता हूं । मैं उत्तम अवसरकी प्रतीक्षा कर रहा हूं । मुझमें धीरज है, परन्तु मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि मेरा धीरज तेजीसे टूट रहा है ।"

साम्यवादी मित्र जब गांधीजीके कमरेसे निकले, तो गांधीजीके एक साथीने उनसे पूछा : साम्यवादी गांधीजीके नेतृत्वके लिए इतना आग्रह क्यों कर रहे हैं ? वे पहले गांधीजीके विरुद्ध रहे हैं और अधिकांश बातोंमें उनके और गांधीजीके बीच उत्तर और दक्षिण ध्रुव जितना अन्तर है । जिनमें अपने विश्वासों पर अमल करनेका साहस है, उन्हें अकेले ही यह काम करना चाहिये ।

परन्तु साम्यवादी नेताकी इन सब बातोंमें दिलचस्पी नहीं थी । सम्प्रदायवादके प्रति साम्यवादियोंका विरोध सच्चा था । परन्तु उनका संगठन पूरी तरहसे अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका था और अवसर देख कर चलनेका उनका तत्त्वज्ञान उनकी नेकनीयतीमें कोई विश्वास पैदा नहीं करता था । "भारत छोड़ो" संग्रामके दिनोंमें अंग्रेजोंका साथ देकर उन्होंने अपनी लोकप्रियता खो दी थी; उसे फिरसे प्राप्त करनेके लिए ही गांधीजीके नामका उपयोग करनेको वे उत्सुक लगते थे । केवल इसी बातसे गांधीजी उनसे विमुख न होते । गांधीजीमें दाने और छिलकेको अलग करनेकी विलक्षण कला थी । वे प्रामाणिक सैद्धान्तिक मतभेदोंकी परवाह नहीं करते थे । परन्तु जो उनका अनुगमन करना पसन्द कर लेते, उनसे वे यह आशा और आग्रह रखते थे कि उनमें

अनुशासन, प्रामाणिकता, सचाई, खुलापन, अपनी सब बातें बार-बार परीक्षणके लिए सामने रख देनेकी तैयारी और गहरीसे गहरी जांचको स्वीकार करनेकी तत्परता होनी चाहिये । मौकापरस्तोंको बहुत दूर तक गांधीजीके साथ चलना सुविधाजनक प्रतीत नहीं होता था । वे जल्दी ही गांधीजीका साथ छोड़ देते थे । भारतीय साम्यवादियोंका यही हाल हुआ ।

*

१३ सितम्बरको गांधीजी पुराने किलेका मुस्लिम निराश्रित शिविर देखने गये । वहां छह महीने पहले ही एशियाई सम्मेलन हुआ था । मुस्लिम लीगने अपने साम्प्रदायिक लक्ष्योंको दृष्टिमें रखकर उसका बहिष्कार किया था । अब वहां करीब ७५,००० मुस्लिम निराश्रित पाकिस्तान ले जाये जानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे । कुछ मुस्लिम लीगी जितनी शरारत कर सकते थे उतनी करनेके बाद अब "नेता" बन कर वहां जमे हुए थे और अन्य बातोंके अलावा जो राशन उनके निराश्रित भाइयोंको खिलानेके लिए भेजा जा रहा था उसका गुप्त व्यापार करके उन्हें धोखा देनेके काममें लगे हुए थे । नतीजा यह हुआ कि लगभग दस हजार निराश्रितोंको रोज राशनकी कमी पड़ती थी । कहा जाता था कि कुछ पुलिसवाले, जो अपने हथियार लेकर नौकरीसे भाग आये थे, इस शिविरमें पनाह लिये हुए थे । इसका लगभग यह परिणाम आया कि सरदार पटेलको इस शिविरमें गैर-कानूनी हथियारोंकी जब्तीके लिए सेनाकी एक बटालियन भेजनी पड़ी ।

निराश्रितोंका रुख बड़ा अशिष्टतापूर्ण था । ज्यों ही गांधीजीकी मोटर फाटकमें घुसी, उनकी भीड़ तम्बुओंसे निकल आई और उसने गांधीजीको घेर लिया । गांधी-विरोधी नारे लगाये गये । भीड़में से किसीने गांधीजीकी कारका दरवाजा जोरसे खोला । जो मित्र गांधीजीको इस शिविरमें ले गये थे उनमें से एकने ड्राइवरको सबसे नजदीकके फाटकसे होकर गाड़ी बाहर ले जानेको कहा । ड्राइवरने पैडल दबाया और गाड़ी तेजीसे आगे बढ़ गई । परन्तु गांधीजीने उसे रोकनेकी आज्ञा दी । वे बोले : मैं क्रुद्ध भीड़का सामना करना चाहता हूं । तुरन्त निराश्रित लोग दौड़ कर आ

गये और गाड़ीको फिर उन्होंने घेर लिया। गांधीजीके साथी तो लाचार होकर देखते ही रहे, लेकिन गांधीजी बाहर निकल आये। भीड़ उनके और पास आ गई। उन्होंने लोगोंसे दूबके मैदान पर जमा होनेको कहा। कुछ लोग बैठ गये। किनारों पर खड़े हुए लोग वैसे ही खड़े रहे और क्रोधमें आकर धमकी भरे इशारे करने लगे। कुछ मुस्लिम स्वयंसेवकोंने उन्हें शान्त करनेकी कोशिश की।

इसके बाद कुछ क्षण चिन्तामें गुजरे। लाउड-स्पीकरका कोई प्रबन्ध नहीं था और गांधीजीकी कमजोर आवाज बहुत दूर तक नहीं पहुंच सकती थी। अपने एक साथीके कंधेका सहारा लेकर उन्होंने उसे अपने शब्द खूब जोरसे दोहरानेको कहा। शुरूमें तो निराश्रितोंका रुख अशिष्टतापूर्ण था। जब गांधीजीने कहा कि सबके लिए एक ही ईश्वर है – "मेरे मनमें तो हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और सिक्खका कोई भेद नहीं है, मेरे लिए सब बराबर हैं" – तो रोषपूर्ण विरोधके नारे लगाये गये। गांधीजीने उनसे विनती की कि आप शान्त रहें, गुस्सा न करें और मनमें डर न रखें। अन्तिम शरण ईश्वरकी है, मनुष्यकी नहीं – चाहे वह कितना ही बलशाली हो। जिस चीजको मनुष्यने बिगाड़ा है उसे ईश्वर सुधारेगा। मैं खुद तो यहां "करने या मरने" के लिए आया हूं।

गांधीजीने कोई नई बात नहीं कही थी। लेकिन निराश्रितोंने उनकी आवाजमें वेदनाका स्वर सुना और उनके सूखे मुरझाये हुए चेहरेकी दुःख-भरी गंभीर दृष्टिमें जो भाव देखा उससे उन्होंने समझ लिया कि गांधीजीकी दुखियोंके प्रति कितनी सहानुभूति है और उनके लिए कितना दुःख है। क्रोधसे भरा शोर बन्द हो गया। कुछ ही देरमें कुछ लोगोंके गालों परसे आंसू बह निकले। उन्होंने अपने दुःखों और कष्टोंकी कहानी गांधीजीको सुनाई। गांधीजीने गहरी सहानुभूतिसे उनकी बातें सुनीं और उनके लिए भरसक सब कुछ करनेका वचन दिया। जो लोग कुछ ही क्षण पहले गांधीजीके खूनके प्यासे हो रहे थे, वे ही अब उनके मित्र बन गये। वे आदरपूर्वक उन्हें गाड़ी तक पहुंचाने आये और जब तक वह शिविरसे बाहर निकल न गई तब तक चुपचाप वहीं खड़े रहे। गांधीजी पीछेकी सीठ पर बैठे थे। उन्होंने हाथ जोड़ कर सबसे विदा ली। उस समय उनके चेहरे पर गहरी पीड़ाकी रेखाएं खिच गई थीं।

जब सरदारने इस घटनाके बारेमें सुना तो वे बिगड़े । गृहमन्त्रीके नाते गांधीजीकी सुरक्षाका पूरा प्रबन्ध करना उनका काम था । उन्हें सुरक्षाके उपाय करनेके लिए समय पर सूचना क्यों नहीं दी गई ? उन्होंने गांधीजीके साथियोंको सख्त हिदायत दे दी कि आइंदा पहलेसे उन्हें सूचना दिये बिना गांधीजीको वे कहीं बाहर न ले जायं ।

गांधीजीको यह जानकर बड़ा दुःख और अपमान अनुभव हुआ कि डॉ. अन्सारीकी पुत्री और उनके पतिको दरियागंजका अपना घर छोड़नेके लिए विवश होना पड़ा । यहीं गांधीजी डॉक्टरके मेहमान बनकर ठहरा करते थे (देखिये खंड-१, पृष्ठ २३९) । अब ये दम्पती हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंके डरसे एक होटलमें रह रहे थे ।

उन्होंने अपनी शामकी प्रार्थना-सभामें कहा : क्या यह शर्मकी बात नहीं है कि कांग्रेसके एक स्तम्भ और हिन्दू-मुस्लिम एकताके पुजारीकी लड़कीको इस प्रकार अपना घर छोड़ना पड़े? "मुझे इस बातसे गहरा दुःख और आघात पहुंचता है कि इस ऐतिहासिक नगरने आज अपने आपको इस तरह कलंकित किया है । किसी समय यहां इन्द्रप्रस्थ खड़ा था; इसने इतने राज-वंशों और सभ्यताओंका उत्थान और पतन देखा है; यहां कौरवों, पांडवों और मुगलोंने राज्य किया है; यहां मुसलमानोंने स्वामी श्रद्धानन्दसे जुम्मा मस्जिदमें भाषण दिलवाकर उनका सम्मान किया था; और इसे स्वामीजीने अपने बलिदानसे पवित्र बनाया था ।"

पुराने किलेके और दूसरे निराश्रित शिविरोंके अपने अनुभवका उल्लेख करते हुए गांधीजी बोले : वहां मुझे लोगोंके चेहरों पर रोष भी दिखाई दिया और उन्हीं चेहरों पर प्रेमकी चमक भी दिखाई दी । वर्तमान वैमनस्यको स्थायी शत्रुताका रूप दे देना पागलपन होगा । आबादीकी अदला-बदली एक घातक मोहजाल है । इससे और भी बड़ी विपत्ति आयेगी । इसका सच्चा हल यह है कि दोनों कौमें अपने मूल घरोंमें शान्ति और मित्रभावसे रहें । "मैं चाहता हूं कि दोनों सरकारें अपनी अपनी बहुसंख्यक कौमोंके दुष्कृत्योंको स्पष्ट शब्दोंमें साहसके साथ स्वीकार करें । प्रत्येक

राज्यका यह परम कर्तव्य है कि अपने यहांके अल्पसंख्यकोंको वह पूरे संरक्षणका आश्वासन दे।"

उस दिन गांधीजीने मुस्लिम निराश्रितोंके दो और शिविर देखे – एक ईदगाह पर और दूसरा मोतिया खान पर। वहां उन्होंने जो कुछ देखा उससे उनका सिर लज्जाके मारे झुक गया। उन्होंने शामकी प्रार्थना-सभामें पूछा : इतने सिक्ख और हिन्दू पश्चिम पाकिस्तानके प्रान्तोंसे क्यों चले आ रहे हैं ? दिल्लीके मुसलमान डरके मारे क्यों अपने घर छोड़ रहे हैं ? क्या दोनों सरकारोंका अस्तित्व खतम हो गया है ? यह जो भ्रातृवध हो रहा है वह राष्ट्रीय आत्मघात है। यह व्यक्तियों द्वारा अपनी ही सरकारके प्रति किया जानेवाला विश्वासघात है।

कुछ दिन बाद कांग्रेसी कार्यकर्ताओंका एक दल गांधीजीके पास आया। वे कहने लगे : "हमें आदेश दीजिये।" गांधीजीके पास आदेश तैयार थे। दिल्लीकी सफाईकी व्यवस्था करीब करीब ठप होने जा रही थी। सड़ती हुई लाशोंसे अब भी सड़कें भरी थीं और गलियां बदबू फैला रही थीं। पुराने किलेमें काम करनेके लिए मेरठसे कुछ भंगी लाये गये थे। परन्तु वहांकी हालत देखकर वे इतने डर गये कि उन्होंने अपने घर वापस भेज दिये जानेकी प्रार्थना की। जो कांग्रेसी कार्यकर्ता गांधीजीके पास आये थे, उनसे गांधीजीने भंगीदल बना लेनेको कहा। वे बोले: "अगर आप वहां जाकर काम करें, तो शिविरके अधिकारी आपकी सेवाओंकी बड़ी कदर करेंगे। यदि अपने कामके सिलसिलेमें आपमें से कुछ मारे जायं, तो आप सर्वोच्च यशके भागी होंगे और इस पर मैं आपको और कांग्रेस संगठनको बधाई दूंगा।"

१४ सितम्बरको दिल्लीमें बुरेसे बुरा वर्षा और आंधीका तूफान आया। मूसलाधार पानी बरसा और आकाशमें लगातार बिजली कड़कती रही। गांधीजी बिस्तरमें लेटे लेटे जाग रहे थे। जिस प्राणदायिनी वर्षासे उनके चित्तको शान्ति मिलनी चाहिये थी, उससे उनके दिमागमें उन हजारों निराश्रित पुरुषों, स्त्रियों और बच्चोंका खयाल समा गया, जो अन्न और आश्रयसे वंचित होकर कई जगह घुटनों तक गहरे पानीवाले निराश्रित शिविरोंमें पड़े होंगे और दूसरे हजारों लोग

खुलेमें लम्बी और थका देनेवाली कष्ट-दायी पैदल यात्रा कर रहे होंगे । क्या यह सब अनिवार्य था? दूसरे दिन शामकी प्रार्थना-सभामें एक लिखित सन्देशमें गांधीजीने कहा :

> पिछले बीस घंटोंमें मुझे यही विचार सताते रहे हैं । मेरा मौन एक वरदान सिद्ध हुआ है । इससे मुझे आत्म-निरीक्षणकी प्रेरणा हुई है । क्या दिल्लीके सब नागरिक पागल हो गये हैं ? क्या उनमें कोई इन्सानियत बाकी नहीं रही है ? क्या देशप्रेम और उसकी स्वतंत्रताका उन पर कोई असर नहीं होता ? पहला दोष हिन्दुओं और सिक्खोंको देनेके लिए मैं क्षमा चाहता हूं । क्या द्वेषके ज्वारको रोकने जितना पौरुष वे नहीं दिखा सकते ? मैं दिल्लीके मुसलमानोंसे कहुंगा कि वे सब तरहका डर छोड़ दें, ईश्वर पर भरोसा रखें और उनके पास जितने भी हथियार हैं – जिनके होनेका हिन्दुओं और सिक्खोंको भय है – उन्हें खोज निकालें । अल्पसंख्यक कौमको या तो यह भरोसा रखना चाहिये कि ईश्वर और उसकी सृष्टि अर्थात् मनुष्य सब कुछ ठीक कर देंगे । अथवा उन लोगोंसे, जिन्हें वे विश्वसनीय नहीं मानते, अपनी रक्षा करनेके लिए उन्हें अपने हथियारों पर निर्भर करना चाहिये ।

हिन्दुओं और सिक्खोंको सम्बोधन करते हुए गांधीजी आगे बोले : “मेरी सलाह निश्चित और दृढ़ है । उसकी सत्यता प्रत्यक्ष है । आप अपनी सरकार पर विश्वास रखिये कि वह अन्याय करनेवालोंसे हर नागरिककी रक्षा करेगी । . . . आप उस पर यह भी विश्वास रखिये कि वह अन्याय-पूर्वक संपत्तिसे बेदखल किये गये अल्पसंख्यक कौमके हर सदस्यके लिए क्षतिपूर्तिकी मांग करेगी और क्षतिपूर्ति करायेगी । दोनों सरकारें केवल मृतकोंको ही फिरसे जीवित नहीं कर सकतीं । दिल्लीके नागरिक यदि कानूनको अपने ही हाथमें ले लेंगे, तो पाकिस्तान सरकारसे न्यायकी मांगके प्रश्नको वे कठिन बना देंगे । जो लोग न्याय मांगते हैं उन्हें स्वयं न्याय करना ही होगा, अपने हाथ साफ रखने ही होंगे ।”

उन्होंने सुझाया कि जो मुसलमान अपने घरोंसे बाहर धकेल दिये गये हैं, उन्हें हिन्दुओं और सिक्खोंको अपने अपने घरोंमें लौट आनेका निमंत्रण देना चाहिये । यदि वे यह साहसपूर्ण कदम उठा सकें तो इससे निराश्रितोंकी समस्या तुरन्त सरलसे सरल हो जायगी और उसे पाकिस्तानको ही नहीं परन्तु सारी दुनियाको मान्यता देनी पड़ेगी । "आबादीकी अदला-बदलीको दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करनेके सही कार्यसे पाकिस्तानका अन्याय मिट जायगा। मुझे आशा है कि मेरे अकेलेकी ही यह आवाज रह जायगी, तो भी मुझमें इस मत पर दृढ़ रहनेका साहस होगा ।"

तीन दिन बाद गांधीजीने फिर इसी विषयको लिया । उन्होंने कहा : मेरी बहुत इच्छा होने पर भी मैं अहिंसाका अपना मार्ग आपके सामने नहीं रख रहा हूं; परन्तु इतना ही कहता हूं कि आप सब वही मार्ग अपनाइये, जो तमाम लोकतांत्रिक राष्ट्रोंने अपनाया है । लोकतन्त्रमें व्यक्तिकी इच्छाको समाजकी इच्छाके अनुसार शासित और सीमित रहना पड़ता है । समाजकी इच्छा ही राज्य है; और राज्य लोकतन्त्रके द्वारा और लोकतन्त्रके लिए चलता है । यदि प्रत्येक व्यक्ति कानूनको अपने ही हाथमें ले ले, तो अराजकता फैल जायगी । इसलिए आपको अपना क्रोध दबा देना चाहिये और राज्यको न्याय प्राप्त करने देना चाहिये । यदि आप अपनी बुद्धि पर अपने रोषका प्रभुत्व जमने देनेके बजाय राज्यको उसका कर्तव्य पालन करने देंगे, तो प्रत्येक हिन्दू और प्रत्येक सिक्ख निराश्रित सम्मान और गौरवके साथ अपने घरमें लौट सकेगा, जिन लड़कियोंको भगाया गया है वे लौटा दी जायंगी, बलात् किया गया धर्म-परिवर्तन रद्द कर दिया जायगा और उनकी सम्पत्ति उन्हें लौटा दी जायगी । परन्तु यदि वे न्यायके साधारण क्रममें हस्तक्षेप करेंगे या यह आग्रह रखेंगे कि उनके मुसलमान भाइयों और बहनोंको भारतसे बाहर निकाल दिया जाय, तो वे अपना ही मामला बिगाड़ लेंगे ।

गांधीजीने आगे कहा : यह सच है कि पाकिस्तानमें हिन्दुओं और सिक्खोंके साथ बुरा सलूक किया जाता है । परन्तु यह भी सच है कि पूर्व पंजाबमें अल्पसंख्यको अर्थात् मुसलमानोंके साथ वैसा ही सलूक किया गया है । सभी एकसे अपराधी हैं । अपराधको सोनेकी तराजूमें नहीं तौला जा सकता । मुझे आशा है कि लोगोंमें समझदारी आयेगी । जिन मुसलमानोंने स्वेच्छासे

पाकिस्तान चले जाना पसन्द नहीं किया है, उनसे उनके पड़ोसियोंको इस भावनासे वापस घर लौट आनेके लिए कहना चाहिये कि वे पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे । यह काम सेनाकी सहायतासे नहीं किया जा सकता । यह तो तभी हो सकता है जब लोगोंमें फिरसे सयानापन और समझदारी आये ।

एक भाईने गांधीजीको बताया कि यह कितनी बेमेल बात है कि एक तरफ तो सरकार निराश्रितोंके पुनर्वासके लिए करोड़ों रुपये खर्च करे और दूसरी ओर आप रोज-रोज उनसे यह कहें कि उन्हें पाकिस्तानमें अपने असली घरोंको लौट जाना है । क्या बेचारे निराश्रितोंको अपना सारा समय भारत और पाकिस्तानके बीच आने-जानेमें ही खर्च करना है ? उनकी वफादारी भारतीय संघके प्रति है । पाकिस्तानसे कैसे आशा रखी जा सकती है कि वह उन्हें वफादार पाकिस्तानी नागरिक समझ कर उनका स्वागत करेगा ?

गांधीजीने उत्तर दिया : मैं निराश्रितोंके मानसको ज्यादा अच्छी तरह जानता हूं । उनके हृदयोंकी गहराईमें अपनी जन्मभूमिको लौट जानेकी गहरी अभिलाषा है, परन्तु दावानलके जलते रहनेसे हरएककी निर्णय-शक्ति धुंधली हो गई है । यह बात न होती तो वे वहीं रहते और पाकिस्तानके प्रति वफादारीकी शपथ लेते । ज्यों ही परिस्थिति स्थिर हो जायगी, वे सब वहां वापस जाना चाहेंगे । "मेरी दृष्टिमें यही अन्तिम परिणाम है । अगर मुझे काफी दीर्घ जीवन प्राप्त हुआ, तो आप देखेंगे कि यही होगा । तब मैं आज जो कुछ कर रहा हूं और आपसे कह रहा हूं उसे आप समझेंगे ।"

कुछ मुसलमानोंने गांधीजीको निमंत्रण दिया कि वे कलकत्तेकी तरह दिल्लीमें भी किसी मुसलमान मुहल्लेमें आकर रहें । उनकी प्रार्थना यह थी : "अगर आप हमारे बीच आकर रहें तो हमें सलामती अनुभव होगी ।"

गांधीजी उनके प्रस्तावसे सहमत हो गये । मुसलमान मित्रोंने आसफअलीका मकान सुझाया । तदनुसार गांधीजीकी मंडलीके कुछ आदमी उस मकानको गांधीजीके लिए तैयार

करने वहां गये । परन्तु आसफअलीका घर बहुत ही उपद्रव-ग्रस्त मुहल्लेमें था । उसी दिन प्रातःकाल सरदार पटेलने गांधीजीको बताया था कि किस प्रकार वहांसे कुछ दूरकी एक इमारतसे सारी रात गोलियां चलती रहीं । एक सशस्त्र पुलिस-दलने उस मकानमें घुसनेकी चार बार कोशिश की, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली । जब अन्तमें वे लोग प्रवेश करनेमें सफल हुए तो गोलियां चलानेवाले पड़ोसके घरोंकी छतों पर कूद कर बच्च निकले और अपने पीछे हथियारों और गोला-बारूदका बड़ा-सा ढेर छोड़ गये । अगर मुसलमानोंकी बिना किसी इरादेके छोड़ी हुई कोई छुटपुट गोली गांधीजीको लग जाय, तो उससे उत्तेजित होकर बदलेकी ऐसी कार्रवाइयां शुरू हो सकती हैं, जिनसे भारतके प्रत्येक मुसलमानकी सलामती खतरेमें पड़ जाय । क्या यह खतरा उठाना मुनासिब है ?

जब यह प्रश्न मुसलमानोंके सामने रखा गया, तो उन्हें भी लगा कि यह खतरा तो बहुत बड़ा है । उनसे कहा गया कि इसके बजाय उनकी रक्षाके लिए उस क्षेत्रमें फौजको तैनात कर दिया जायगा । यह विचार उन्हें पसन्द आया । यह सारा किस्सा जब गांधीजीके सामने प्रस्तुत किया गया, तो उन्होंने किसी मुसलमान मुहल्लेमें जाकर रहनेका विचार छोड़ दिया, यद्यपि फौजको तैनात करनेका विकल्प उन्हें बहुत पसन्द नहीं था । उन तूफानी दिनोंमें वे सबसे यह कहते कभी नहीं थकते थे कि अगर मेरी चले तो मैं शहरसे सारी पुलिस और सेनाको हटा लूं और हिन्दुओं तथा मुसलमानोंको, यदि ये चाहें तो, आपसमें लड़ लेने दूं । अधिक संभावना यही है कि उनमें से समझदार लोग एक जगह बैठ कर विचार करेंगे और हुल्लड़बाजोंके विरुद्ध एक हो जायंगे ।

४

गांधीजीको राजधानीमें आये दो सप्ताह हो गये थे । इतने दिनोंमें उपद्रवकी प्रारंभिक प्रचंडताको काबूमें कर लिया गया था । परन्तु दूसरी भीमकाय समस्याएं क्षितिज पर मंडराने लगीं और उनके परिणाम भी उतने ही भयंकर आनेकी संभावना सबको डराने लगी।

जब अगस्तके अन्त और सितम्बरके आरंभमें कस्बों और गांवोंसे भागनेवाले निराश्रित दोनों ओरसे सीमा पार करके दोनों राज्योंमें भारी तादादमें आने लगे, तो दोनों सरकारोंने समझा कि उपद्रवों पर जल्दी ही काबू पा लिया जायगा । परन्तु जल्दी ही यह समझ लिया गया कि जब तक नितान्त विपन्नता और निशारामें डूबे हुए निराश्रितोंके विशाल समूहोंके रूपमें प्रज्वलित अग्नि सीमा पार करके आती रहेगी तब तक इसकी आशा रखना व्यर्थ होगा । ये निःसहाय और टूटे हुए मानव-प्राणी – जो कष्टोंके सारे अमानव बन गये थे और बदलेके प्यासे हो गये थे – जब दूसरी ओर पहुंचे, तो उधरसे भी निराश्रितोंके निष्क्रमणकी वैसी ही घारा आरंभ हुई और इस प्रकार बदले और प्रतिशोधका कुचक्र व्यापक होता चला गया ।

सितम्बरके दूसरे पखवाड़ेमें गैर-मुस्लिमोंके ३० से ४० हजारकी संख्यावाले बड़े काफिले १५० मीलकी लम्बी पैदल यात्रा पर पश्चिम पंजाबकी उपजाऊ नहरी बस्तियोंसे रवाना हुए । १८ सितम्बरसे २० अक्तूबर तक इनमें से २४ काफिले – जिनकी संख्या ८,४९,००० थी – अपने मवेशियों और बैलगाड़ियोंको साथ लेकर सरहद पार करके भारतमें आये । इस घटनाकी एक अद्भुत बात यह थी कि कोई २,००,००० निराश्रित, जो ज्यादातर सिक्ख थे, ५७ मील लम्बी कतार बनाकर लायलपुरसे चले थे । रास्तेमें भागते हुए निराश्रितों पर, चाहे वे सड़कसे या रेलसे सफर कर रहे हों या पैदल कूचकर रहे हों, आसपासके गांवोंके लोगोंने हमले किये । हैजे और दूसरी संक्रामक बीमारियोंने और बादमें आनेवाली बाढ़ोंने उनके दुःखको और बढ़ा दिया । कई हजार आदमी मार्गमें ही मृत्युके शिकार हो गये ।

विचित्र बात यह देखी गई कि जब मुसलमान और गैर-मुसलमान निराश्रितोंकी कतारें विरोधी दिशाओंमें एक-दूसरेके पाससे गुजरतीं, तो वे एक-दूसरे पर क्वचित् ही ध्यान देती थीं । प्रत्येकका एकमात्र विचार यही रहता था कि जल्दीसे जल्दी सुरक्षित रूपमें सरहदके पार पहुंच जायं । कभी कभी जब दोनों बहुत निकट आ जाते तो सिक्ख और मुसलमान निराश्रित एक-दूसरेके दुर्भाग्य पर समवेदना प्रगट करते थे और विभाजन स्वीकार करनेके लिए अपनी अपनी सरकारोंको दोष देते भी सुने जाते थे ।

आनेवाले निराश्रितोंको छोड़े हुए मुस्लिम घरोंमें या दूसरी मुस्लिम इमारतोंमें बसा देना एक आसान और बना-बनाया हल मालूम हुआ। साम्प्रदायिक वर्गने खुले तौर पर इस उपायकी हिमायत की और गैर-मुस्लिम निराश्रितोंको मुसलमानके खाली घरों पर कब्जा कर लेने और बाकी मुसलमानोंको डरा-धमका कर अपने घरोंसे निकाल देनेके लिए उभाड़ा। इस परिस्थितियोंमें पारस्परिक आधार पर आबादीकी नियोजित अदला-बदलीकी मांगका प्रलोभन बड़ा प्रबल हो गया था। परन्तु गांधीजीने चेतावनी दी : यह सूर्यकी भांति स्पष्ट है कि एक बार यह सिद्धान्त मान लिया गया, तो फिर उसका प्रयोग दोनों पंजाबों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकेगा। और यदि भारतमें कोई मुसलमान और पाकिस्तानमें कोई गैर-मुसलमान रह ही न सके, तब तो दोनों राज्योंके बीचका अलगाव स्थायी हो जायगा और इसका अनिवार्य परिणाम आपसका विनाशकारी युद्ध ही होगा। इसलिए मेरा आग्रह है कि कहीं न कहीं यह कुचक्र टूटना चाहिये, गैर-मुसलमानोंके द्वारा मुसलमानोंका उत्पीड़न बन्द होना चाहिये और जो मुसलमान या तो मारे गये हैं या अस्थायी रूपमें भाग जानेको मजबूर हुए हैं, उनकी जायदाद और घरोंकी रक्षा होनी चाहिये। इन घरों और दूसरी जायदादके बारेमें सरकारको उनके अधिकारपूर्ण मालिकोंके संरक्षकके रूपमें उस समय तक काम करना चाहिये जब तक कि मालिक लौट न आयें या वापस न लाये जा सकें।

परन्तु वर्तमान जहरीले वातावरणमें यह चीज हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंको कैसे समझाई जाय ? उनकी दलील यह थी कि जब हमें पाकिस्तानसे निकाल दिया गया है, तो मुसलमानोंको भारतीय संघमें अथवा कमसे कम दिल्लीमें स्थान क्यों मिलना चाहिये ? गांधीजीने उन्हें समझाया : मैंने यह कभी नहीं सोचा कि भारत सरकार पाकिस्तानमें हिन्दुओं और सिक्खोंके प्रति हो रहे दुर्व्यवहारकी उपेक्षा करे; मैं जानता हूं कि संघ-सरकार दोहरा बोझ बरदाश्त नहीं कर सकती। पाकिस्तानमें हिन्दुओं और सिक्खोंकी सुरक्षाको निश्चित बनाना भारत सरकारका फर्ज है। परन्तु इसी कारणसे यह जरूरी है कि सरकारको पूरी स्वतंत्रता दी जाय और उसे भारतके

सभी लोगोंका पूरा और सच्चा सहयोग मिले । किसने कितनी बुराई की या किसने बुराईकी शुरुआत की, इस सवालका आपके व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये ।

गांधीजीके साथ निराश्रितोंकी मुलाकातें अकसर तूफानी होती थीं । एक दिन पश्चिम पंजाबसे आये हुए कई सौ आदमियोंकी भीड़ उनसे बिड़ला-भवनमें मिलने आई । उनके पचास प्रतिनिधियोंको गांधीजीसे मिलने ले जाया गया । उनमें से एक मोण्टगुमरीके एडवोकेट थे । उन्होंने वर्णन किया कि किस प्रकार एक मुस्लिम भीड़ने आकर लगभग २०० स्त्रियों और बच्चोंको घेर लिया । उनमें से एकने एक बूढ़ेको मार डाला और फिर वह उसकी छाती पर बैठ गया । वे बोले: "मैं जीवनभर अहिंसाका पुजारी रहा हूं । परन्तु इन सब घटनाओंके बाद क्या हिन्दू और मुसलमान साथ साथ रह सकते हैं ? क्या हम मुसलमानों पर यह विश्वास रख सकते हैं कि वे भारतीय संघके प्रति वफादार रहेंगे ?"

गांधीजी : "यदि कांग्रेस-जन अपनी परीक्षाके समय अपने राष्ट्रवादी धर्मसे विमुख हो जाते हैं, तो वे कांग्रेसको खतम कर देंगे । बुरीसे बुरी अगर कोई बात हो तो हमारी मृत्यु हो सकती है । परन्तु मृत्यु स्वयं कोई चिन्ताकी बात नहीं होनी चाहिये, क्योंकि सभीको आगे-पीछे मरना ही है । प्रशन यह है कि कौनसी स्थिति ज्यादा अच्छी है – ईश्वरका नाम लेते हुए अपने धर्मके खातिर मरना या बीमारी, लकवे या बुढ़ापेके कारण घुल-घुल कर मरना ? मैं तो पहली मृत्युको कहीं अधिक पसंद करूंगा । चौंतीस करोड़ हिन्दू चार करोड़ मुसलमानोंसे डर कर रहें, यह उन्हें शोभा नहीं देता । अगर कोई मुसलमान देशद्रोही हैं तो सरकार उन पर विधिवत् मुकदमे चला कर उन्हें गोलीसे उड़ा दे – यद्यपि यह मेरा मार्ग नहीं है । परंतु कोई सरकार केवल सन्देह या घबराहट पर अपनी नीतियोंको आधारित नहीं रख सकती ।"

एक सिक्ख निराश्रित: "मेरा व्यवसाय पाकिस्तानमें है । यदि पांच फीसदी हिन्दू भी लौट कर पाकिस्तानमें रह सकें, तो हम किसी न किसी तरह भारतीय संघमें मुसलमानके लिए गुंजाइश कर लेंगे ।"

गांधीजी : "पांच प्रतिशतसे आपका समाधान हो सकता है । पर मुझे इससे सन्तोष नहीं होगा । आप उन सब मुसलमानोंको निमंत्रण दीजिये, जो डरके मारे चले गये हैं; उन्हें वापस ले आइये और उन्हें अपने घरों पर अधिकार कर लेने दीजिये । फिर मेरे पास आइये; मैं आपको अपने साथ पाकिस्तान ले चलूंगा और वहां बुरीसे बुरी स्थितिका सामना करूंगा । तब पाकिस्तानको या तो पाक होना पड़ेगा या वह अपने ही अन्यायके बोझसे दब कर मर जायगा ।"

प्रतिनिधियोंने गांधीजीके सामने निराश्रितोंके मकानोंकी समस्या रखी । गांधीजीने उनसे कहा : नीचे धरती है और ऊपर ईश्वरके दिये हुए आकाशका शामियाना है । आपको इस तरहके "निवास" से सन्तुष्ट रहना चाहिये, परन्तु मुसलमानोंसे छीने हुए घरोंमें रहनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये । जो लोग चाहते हैं कि मैं पश्चिम पंजाब जाऊं, वे अगर काममें लग जायें तो एक दिनके भीतर आवश्यक आश्रय-स्थान खड़े कर सकते हैं । इससे निराश्रितोंका गुस्सा ठंडा हो जायगा और ऐसा उचित वातावरण पैदा हो जायगा, जिससे मैं तुरंत पंजाब जा सकूं ।

१८ सितम्बरकी शामको गांधीजी दरियागंज गये । दरियागंज एक और मुख्यतः मुस्लिम मुहल्ला था । मुहल्लेके मुसलमानोंने रोते हुए गांधीजीसे सेना और पुलिसके पक्षपातपूर्ण व्यवहारकी शिकायत की और कहा कि इससे आंतमें मजबूर होकर हमें अपने घर छोड़कर दिल्लीसे बाहर चले जाना पड़ेगा । गांधीजीने उनसे कहा: आपको किसी भी हालतमें अपने घर नहीं छोड़ने चाहिये । "पुलिस और सेना आप पर गोली चलाये, तो भी आपको गोलियोंका सामना करते हुए बहादुरीसे मर जाना चाहिये, परन्तु अपने घरोंसे भागना नहीं चाहिये ।" यदि आप कानूनको माननेवाले, ईमानदार और वफादार नागरिक बन कर रहें, तो कोई आपको जबरन् नहीं निकाल सकता । मैं जानता हूं कि ऐसे कुछ लोग हैं जो मानते हैं कि उपप्रधानमंत्री सरदार पटेल मुसलमानोंको भारतसे निकाल देने पर तुले हुए हैं । मैंने सरदारसे इस विषयमें लम्बी बातचीत की है और मैं आपसे कह दूं कि ऐसी कोई बात नहीं है । सरदारने रोषपूर्वक इस आरोपका खण्डन किया है । परन्तु साथ ही सरदारने मुझे बताया है कि उनके पास यह सन्देह करनेके लिए कारण हैं कि भारतके मुसलमानोंका विशाल बहुमत भारतीय संघके प्रति वफादार

नहीं है । ऐसे लोगोंके लिए पाकिस्तान चले जाना बेहतर होगा । इसलिए जहां मैंने आपको सरदारका अंदेशा बता देना जरूरी समझा वहां आप इसका विश्वास रख सकते हैं कि सरदार अपने सन्देहका असर अपने कामों पर नहीं पड़ने दे रहे है।

मुसलमानोंने गांधीजीको एक लिखित घोषणा दी कि वे भारतीय संघके प्रति वफादार रहेंगे; जरूरी हुआ तो संघके झंडेके नीचे वे लड़ेंगे भी । गांधीजीने उनसे कहा : "आपने सौगंध खाकर अपनी वफादारीका जो दावा किया है, उस पर मैं अविश्वास कैसे कर सकता हूं ? मुझे आप पर भरोसा रखना ही होगा। अपनी ओरसे आपको भी संघ-सरकार पर भरोसा रखना चाहिये।"

अन्तमें गांधीजीने उन्हें सलाह दी कि भारतीय संघके प्रति अपनी वफादारीके चिह्न-स्वरूप आपको एक सार्वजनिक वक्तव्य निकालना चाहिये कि पाकिस्तानमें मुसलमानों द्वारा भगाई हुई तमाम हिन्दू स्त्रियां उनके परिवारोंको लौटा दी जायें । जहां पाकिस्तान सरकारने सभ्य व्यवहारका उल्लंघन किया है वहां आपको उसकी साफ शब्दोंमें निन्दा करनी चाहिये और यह मांग करनी चाहिये कि जिन हिन्दुओं और सिक्खोंको पाकिस्तानके अपने घर छोड़ देने पड़े हैं उन्हें पूरी सुरक्षा और स्वाभिमानकी पूरी गारंटीके साथ वापस बुला लिया जाय ।

उस दिन सायंकालीन प्रार्थनाके बाद गांधीजीने अपने भाषणमें कहा : मुझे यह सुन कर बहुत दुःख हुआ कि कानून और व्यवस्थाके रक्षक होनेके बजाय पुलिसवाले उनके नाशक बन गये हैं । वे भारतीय संघके प्रति ली गई अपनी वफादारीकी शपथका घोर भंग करनेके अपराधी होंगे, यदि वे विभिन्न कौमोंके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करेंगे अथवा अपनी देखभालमें रहनेवाले सभी लोगोंके जान-माल और धर्मकी या स्त्रियोंकी आबरूकी समान रूपसे रक्षा करनेमें असफल रहेंगे । मैं पूछता हूं कि भारतकी सबसे बड़ी मस्जिद जुम्मा मस्जिदका या पश्चिम पंजाबके सिक्ख गुरुद्वारा ननकाना साहब और पंजा साहबका क्या होगा, अगर कोई भी मुसलमान भारतमें और

कोई भी सिक्ख पाकिस्तानमें नहीं रह सकता ? क्या इन पवित्र स्थानोंका और कोई उपयोग किया जायगा ? हरगिज नहीं ।

परन्तु हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंने इस बातकी सारी आशा छोड़ दी थी कि पाकिस्तान अल्पसंख्यकोंके साथ सही व्यवहार करेगा । उन्होंने बताया कि पाकिस्तानके अधिकारियोंके भाषणों और कार्योंसे किसी हृदय-परिवर्तनका संकेत नहीं मिलता और न निकट भविष्यमें कोई अच्छी स्थिति उत्पन्न होनेके आसार दिखाई देते हैं । गांधीजीने कहा कि यह तो दिनोंदिन बढ़नेवाला कुचक्र है। इसीलिए मैं दिल्लीमें इसे तोड़ देनेके लिए आकाश-पाताल एक कर रहा हूं ।

१९ सितम्बरको पश्चिम पंजाबके कुछ सिक्ख निराश्रित आये और गांधीजीसे मिले । उनमें से कुछने रोते रोते बताया कि किस तरहसे उनकी स्त्रियोंको अपमानित किया गया ।

गांधीजी : “आपने यह सब अपनी आंखोंसे होते देखा ?”

निराश्रित : “जी हां, अपनी आंखोंसे !”

गांधीजी : “और आप यह खबर देनेके लिए जिन्दा रहे ? अब तो मैं पहलेसे भी अधिक दृढ़ताके साथ महसूस करता हूं कि किसी औरतकी इज्जत बचानेकी एकमात्र गारंटी यही है कि वह अपनी बेइज्जतीसे मृत्युको अधिक पसंद करना सीखें ।”

शामको गांधीजी कूचा ताराचंद देखने गये । यह सब तरफसे मुसलमानोंसे घिरी हुई हिन्दू बस्ती थी । हिन्दुओंने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अपने कष्टोंका वर्णन किया और अन्तमें यह कहा कि जैसे पाकिस्तानसे हिन्दुओंको निकाल दिया गया वैसे ही इस सारे मुहल्लेसे मुसलमानोंको निकाल दिया जाय।

गांधीजीने उत्तर दिया : मैं ऐसी मांगका कभी भी समर्थन नहीं कर सकता । दो बुराइयोंसे मिल कर एक भलाई नहीं बन सकती । मेरी सलाह आपको यह है कि आप पूरी तरह हिम्मत रखें

और बहादुर व निडर बन कर बड़ी मुस्लिम आबादीके बीच रहें । मैं मुसलमानोंको भी इसी तरह हिन्दू बहुमतके बीच रहनेके लिए कहा करता हूं ।

दूसरे दिन दिल्लीके कुछ मौलाना गांधीजीसे मिलने आये । वे अपने साथ कुछ जंग लगे हुए हथियार लाये और बोले कि आपकी अपीलके जवाबमें मुसलमानोंने ये हथियार सौंपे हैं । गांधीजीने उनसे कहा कि यह लो केवल ढोंग है । इससे उनका हृदय बदल गया है ऐसा प्रकट नहीं होता । मौलाना लोगोंने विरोध किया और कहा कि आपके आनेसे स्थानीय मुसलमानोंके दृष्टिकोणमें "बड़ी तब्दीली" आई है । हमें भरोसा है कि थोड़े ही समयमें "शहरमें पूरी शान्तिका राज्य फैल जायगा ।"

उनके अतिशयोक्ति और टालमटूल करनेवाले उत्तरोंसे गांधीजीको चोट पहुंची । गांधीजीने उन्हें सख्त चेतावनी दी : "आप अपने आपको धोखा दीजिये । अगर मुसलमान पूरी तरह अपने दिलोंको साफ नहीं कर लेंगे, तो मेरे यहां रहनेसे मुसलमानोंको कोई फायदा नहीं होगा ।"

कुछ दिन बाद चन्द दूसरे स्थानीय मुसलमान आये और उन्होंने शहरके भीतर और उसके आसपासकी असन्तोषजनक परिस्थिति गांधीजीको बताई । गांधीजीने उनसे पूछा : "मैं जो कुछ कर रहा हूं उससे क्या आपको असन्तोष है ? अथवा आप यह पसन्द करेंगे कि मैं कोई ऐसा कदम उठाऊं, जिससे यह मसला बातकी बातमें हक हो जाय ?"

गांधीजीका संकेत अपने उपवासकी संभावनाकी ओर था । मुसलमान भाई इसे समझ नहीं सके । परन्तु गांधीजीके गंभीर निश्चयके कठोर स्वरने उन्हें चौंका दिया । उन्होंने जवाब दिया : "नहीं, आपने हमारे लिए जो किया है उससे अधिक दूसरा कोई नहीं कर सकता था । जब हमें असन्तोष होगा तब हम आपको बता देंगे ।"

२१ सितम्बरको गांधीजी पुल बंगाशके मुसलमान मुहल्लेको देखने गये और लौटते समय बाड़ा हिन्दूराव, खारी बावली और चांदनी चौकसे गुजरे । किसी समय दिल्लीके इन भागोंमें बड़ीसे बड़ी भीड़ लगी रहती थी, लेकिन अब वे आधे उजाड़ और मातमभरे दिखाई देते थे ।

मुसलमानोंने गांधीजीका शानदार स्वागत किया, परन्तु कुछ हिन्दू युवकोंने विरोधी प्रदर्शन किया और उनकी मोटरको रोकनेका प्रयत्न भी किया । पुल बंगाशके पासके एक मकानके झरोखेसे मुसलमानोंको सम्बोधन करके गांधीजीने कहा : यदि तमाम मुसलमान अहिंसाका पालन करते हुए बहादुरीसे मर जायं, तो इस्लाम अमर हो जायगा । परन्तु मैं जानता हूं कि मेरी सलाहको आदर्श सलाह माना जायगा । इसलिए जो मुसलमान पाकिस्तान जाना चाहें, उन्हें जानेकी आजादी होनी चाहिये । उन्हें वहां जानेका हक है । परन्तु मैं यह नहीं चाहता कि एक भी मुसलमान डरके मारे पाकिस्तान जाय ।

शामकी प्रार्थना-सभामें गांधीजी बोले : मैं यह कथन स्वीकार नहीं कर सकता कि सरकार मुसलमानोंके खाली किये हुए या दूसरे घरों पर जबर्दस्ती कब्जा करनेसे गैर-मुस्लिमोंको रोक नहीं सकती, क्योंकि लोकतांत्रिक सरकार प्रचंड सार्वजनिक भावनाके विरुद्ध बल-प्रयोग नहीं कर सकती । यदि लोग सरकारको सही काम नहीं करने दें, तो सरकारको त्यागपत्र दे देना चाहिये । इसी तरह जो लोग चाहते हैं कि सभी मुसलमान भारतसे निकाल दिये जायं, वे अपनी सरकारसे त्यागपत्र मांग सकते हैं । परन्तु न तो उन्हें सरकारी अधिकारियोंके काममें बाधा पहुंचानी चाहिये और न अराजकताका आश्रय लेना चाहिये । यह तो लोकतंत्रकी भावनासे इनकार करना होगा ।

दूसरे दिन वे बोले : "मुझसे यह न कहा जाय कि स्वस्थ सहिष्णुताके आदर्शसे विचलित होनेका जो प्रदर्शन इन दिनों भारतमें हुआ है, वह सब मुस्लिस लीगके दुष्कृत्योंके कारण ही हुआ है । क्या हमारी सहिष्णुता इतनी घटिया दर्जेकी है ? हम अपने आलोचकोंको यह कहनेका अवसर न दें कि हम स्वतंत्रताके योग्य नहीं हैं । मैं भारतके करोड़ों लोगोंसे प्रेम करता हूं । इसलिए जब हमारी सहनशील और मिश्र संस्कृति स्वयं प्रकट नहीं होती, तो मेरे स्वाभिमानको आघात लगता है **। यदि भारत असफल सिद्ध हुआ, तो एशिया मर जायगा । इसे सही अर्थमें अनेक मिश्र संस्कृतियों और सभ्यताओंका जन्मदाता कहा गया है । भारतको जगतकी सभी शोषित जातियोंकी**

आशा बने रहने दीजिये, चाहे वे जातियां एशियामें हों, अफ्रीकामें हों अथवा संसारके अन्य किसी भागमें हों ।"

अवश्य ही बहुसंख्यकोंके लिए यह कायरताकी बात है कि वे इस डरसे अल्पसंख्यकोंको मार डालें या देशसे निकाल दें कि वे सब देशद्रोही बन जायंगे । "अपने आपमें सबल श्रद्धा और तथाकथित अथवा वास्तविक विरोधीके प्रति वीरतापूर्ण विश्वास ही इसका उत्तम संरक्षण है । इसलिए मैं पूरी उत्कटतासे अनुरोध करता हूं कि दिल्लीको यह भूल जाना चाहिये कि पाकिस्तान क्या कर रहा है । तभी वह इस गौरवशाली सौभाग्यकी अधिकारिणी हो सकती है कि उसने निजी बदले और प्रतिशोधके कुचक्रको तोड़ा है । बदले और प्रतिशोधका अधिकार – यदि ऐसा अधिकार किसीको हो सकता हो तो राज्यको ही हो सकता है, उसके नागरिकों या व्यक्तियोंको कभी नहीं ।"

*

दिल्ली पहुंचनेके बाद गांधीजी पर निरंतर जो शारीरिक और आध्यात्मिक तनाव पड़ा, उसने अपना कर गांधीजीसे वसूल करना शुरू कर दिया था । एक विशेष रूपसे वेदनापूर्ण दिवस बितानेके बाद उन्हें नींदमें बड़बड़ाते सुना गया । इसके बारेमें पूछने पर उन्होंने बताया कि मुझे ऐसा सपना आया था कि हिन्दू युवकोंकी एक भीड़ मेरे कमरेमें घुस आई है । उनमें से एकने मुझे गालियां देना शुरू किया । ऐसा मालूम होता था कि वह मुझ पर हमला करना चाहता है । "मैं मन ही मन रामनाम लेने लगा और शान्त होनेके लिए उसे समझाने लगा ।"

एक और अवसर पर जब उनकी नींदमें इसी तरह बाधा पड़ी, तो उन्होंने समझाया : मुझे ऐसा स्वप्न आ रहा था कि एक मुस्लिम भीड़ने मुझे घेर लिया है और मैं उसे अपना कर्तव्य समझानेकी कोशिश कर रहा हूं । "सोते या जागते मैं दूसरी कोई बात सोच ही नहीं सकता ।"

अशान्त रातें बिताने पर उन्होंने असन्तोष प्रगट किया । किसीने यह तर्क करनेका प्रयत्न किया कि इससे यही प्रगट होता है कि आपकी संपूर्ण आत्मा आपके मिशनके लिए समर्पित है,

इसलिए चिन्ताका कोई कारण नहीं होना चाहिये । गांधीजीने यह दलील माननेसे इनकार कर दिया । उन्होंने कहा : सम्पूर्ण समर्पणका अर्थ होता है सम्पूर्ण रूपसे ईश्वरकी शरणमें जाना और इसलिए सम्पूर्ण अनासक्ति । चिन्ताका अर्थ है परिणामके विषयमें उत्सुकता । यह ईश्वरसे अलग होनेकी निशानी है । "यदि कोई ईश्वरमें पूरी तरह समा जाये, तो उसे भले-बुरेको, सफलता-विफलताको ईश्वर पर ही छोड़ कर सन्तोष कर लेना चाहिये और किसी बातकी चिन्ता नहीं रखनी चाहिये । मुझे लगता है कि मैंने वह स्थिति अभी प्राप्त नहीं की है और इसलिए मेरी साधना अपूर्ण है ।"

गांधीजीकी मंडलीकी एक बहन सेवाग्राम जा रही थी । उसने गांधीजीसे पूछा : "वहां किसीके लिए आपको कोई सन्देश देना है ?" गांधीजीने उत्तर दिया : "नहीं, लोगोंने मेरी शिक्षासे जो कुछ आत्मसात् कर लिया है, उसीसे उन्हें मार्गदर्शन लेना चाहिये । उनके लिए हमेशा मेरे पथ-प्रदर्शनकी आशा रखना अच्छा नहीं । अब तो वास्तवमें ईश्वरसे मेरी यही प्रार्थना है कि वह मुझे इस यातनापूर्ण जीवनसे मुक्त कर दे, क्योंकि जीवन मेरे लिए भाररूप बन गया है ।" एक मित्रको उन्होंने लिखा : "मेरे कभी सेवाग्राम लौटनेकी कोई संभावना नहीं दीखती ।"

५

कुछ समयसे गांधीजी कुक्कुर खांसी और जुकाम तथा ज्वरके तीव्र आक्रमणसे पीड़ित थे । २६ सितम्बरको उनका तापमान बढ़ कर १०२ डिग्री हो गया । परन्तु उन्होंने न तो मुलाकातें बन्द कीं और न कातना छोड़ा । इस सुझावको उन्होंने अस्वीकार कर दिया कि कमसे कम दो दिन तक वे किसीसे न मिलें । वे बोले : "मेरे इस जीवनका उपयोग ही क्या, यदि मैं दुखियोंकी दुःखगाथा सुनकर उन्हें सान्त्वना भी न दे सकूं ? क्योंकि मैं उनके लिए और कुछ तो कर नहीं सकता ।"

विकल्पके रूपमें गांधीजीके समक्ष यह प्रस्ताव रखा गया कि फिलहाल मुलाकातोंकी संख्या सीमित कर दी जाय । परन्तु वे यह भी सुननेको तैयार नहीं हुए । उन्होंने कहा: "मैं तो काम करते करते और अन्त तक लोगोंकी सेवा करते करते ही मरना पसन्द करता हूं ।"

जब एक आगन्तुकको भीतर लाया गया उस समय गांधीजीको जोरोंकी खांसी आ रही थी । उन्होंने विनोद किया : "देखा, मैं किस तरह आपका स्वागत करता हूं ।"

तड़के ही खांसीके एक गैर-मामूली सख्त दौरेके कारण गांधीजी जाग गये । वे धीमें स्वरमें बोले: "इससे मुझे बा की आखिरी बीमारी याद आ रही है ।"

मनुने उन्हें शान्त करनेकी कोशिश की : "बापू, आपको बात नहीं करनी चाहिये । कुछ नींद लेनेका प्रयत्न कीजिये ।"

गांधीजी : "मुझे बा का सपना आया था । मैंने उसे (कस्तूरबाको) वहां खड़े देखा (खाली जगहकी ओर उंगली दिखाकर) । अलबत्ता, मुझे सो जानेकी कोशिश करनी चाहिये । (खांसीका दूसरा दौरा आया) परन्तु यह कमबख्त खांसी मुझे सोने नहीं देती । ओह, रामनाम मेरे हृदयमें दृढ़तासे बस जाय, तो यह खांसीं भी मुझे न सताये ।"

कुछ ही मिनटमें उन्हें फिर गहरी नींद आ गई । वे सुबहकी प्रार्थनाके लिए साढ़े तीन बजे उठे ।

गांधीजीने कठोर आदेश दे दिया कि यदि मुझे सुथबुध न रहे, तो जिन्दा रखनेके लिए मुझे शराब या निषिद्ध दवाओंके इंजेक्शन हरगिज न दिये जायं । "अगर कोई ऐसा प्रयत्न करेगा, तो मैं प्राणोंके साथ सहयोग करनेसे इनकार कर दूंगा । मैं येनकेन प्रकारेण जीवित नहीं रहना चाहता। अपनी श्रद्धाको अटल बनाये रखकर मरनेमें मुझे खुशी होगी ।"

उन्होंने अडूसे अथवा नीले फूलोंके काढ़े जैसी घरेलू जड़ी-बूटी भी लेनेसे इनकार कर दिया । यह औषधि आम तौर पर गलेकी व्याधियोंके लिए वैद्य लोग बताया करते हैं ।

एक प्राकृतिक चिकित्सकने गांधीजीकी खांसीके लिए इन पांच चीजोंका नुस्खा बताया: (१) आंतोंकी सफाई, (२) हलका आहार, (३) रोज दो ढाई सेर पानी पियें, (४) हाथ-पैर गरम रखे जायं और (५) पूरा आराम । परन्तु गांधीजीके निसर्गोपचारकी चरम सीमा प्राकृतिक चिकित्साकी साधारण सीमाओंके भी उस पार पहुंचनेका उन्हें संकेत दे रही थी । वे बोले : जिसके हृदयमें रामनाम अंकित हो गया है, उसके लिए मिट्टी और पानीका इलाज भी अनावश्यक हो जाना चाहिये । मैंने औरोंको यही सलाह दी है । यदि मैं स्वयं दूसरे मार्गका अनुसरण करूं, तो वह मेरे लिए अशोभनीय होगा ।

रातको खांसीका सबसे अधिक जोर रहता था । कभी कभी तो दौरे इतने जल्दी जल्दी और इतने लम्बे होते थे कि गांधीजीके मुंहसे बात भी मुश्किलसे निकलती थी और उनकी सेवामें रहनेवाले लोगोंको उनकी बात समझनेमें कठिनाई होती थी । कई बार बहुत रात गये वे उठ उठ कर रामनाम लेने लगते थे । लगातार खांसनेसे पड़नेवाले जोरके कारण उनके पेटके लिए यह स्थिति असह्य हो गयी थी और थूकमें खूनकी धारियां दिखाई देने लगी थीं ।

प्राकृतिक चिकित्सामें इतना अन्तर किया गया कि खांसी कम आये, इसके लिए छाती और गले पर गरम मिट्टीकी पुल्टिस लगाई गई । यह गांधीजीका अपना "घरेलू और ग्रामीण" प्रकारका एण्टिफ्लोजिस्टीन था । मेंकको देर तक जारी रखनेके लिए उन्होंने मिट्टीकी पट्टी पर गरम पानीकी थैली रख ली । यह इलाज तीन तीन घंटेमें दोहराया गया । इसके साथ सांस द्वारा भाप अंदर लेने और गरम पानीमें राईका चूरा डालकर उसमें पैर डुबो रखनेका प्रयोग भी किया गया । उन्होंने चुटकी भर एमोनियम क्लोराइड अपनी तरकारीके झोलमें कफ निकालनेके लिए और गलेमें गरमी लानेके लिए दूधमें पिसी हुई हल्दी मिलानेकी भी अनुमति दे दी । परन्तु खांसी कम होनेके कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये और कमजोरी बढ़ती गई ।

डॉक्टरोंने आग्रह किया कि पेनिसिलीन ले लें, मगर उन्होंने इनकार कर दिया । वे बोले : रामनाम ही मेरा पेनिसिलीन है । मैं आपकी वैज्ञानिक खोजोंसे मरनेके बजाय रामनामके विज्ञानमें अपनी खोजोंके लिए शहीद होना अधिक पसन्द करूंगा ।

डॉक्टरोंने तर्क किया : "विज्ञानने निश्चित रूपसे यह सिद्ध कर दिया है कि विशेष व्याधियोंके विशेष कारण होते हैं । कारण दूर कर दीजिये तो बीमारी चली जायगी । दूसरी ओर किसीके शरीरमें हैजेके कीटाणु डाल देनेसे हैजा पैदा किया जा सकता है । विज्ञानके नियम तो अटल हैं ।"

गांधीजी : "मैं इसे मिथ्याभिमान कहता हुं । विज्ञानको अभी बहुत सीखना बाकी है । उसने अभी तक इस समस्याके छोरको ही छुआ है । सारी बीमारी प्रकृतिके नियमोंका भंग करनेसे अर्थात् ईश्वरके प्रति पाप करनेसे होती है; क्योंकि ईश्वर और उसका कानून एक ही है । इसलिए जब मनुष्यके हृदय पर रामनामका साम्राज्य होता है तब उसकी सारी बीमारी मिट जाती है । लोगोंको रामनामकी पूरी शक्तिकी कल्पना नहीं है । मैं उसका प्रत्यक्ष प्रमाण दुनियाको देनेके लिए कटिबद्ध हूं । मुझे तो ईश्वरके लिए ही और इसलिए उसकी कृपासे ही जीनेकी इच्छा करनी चाहिये । जैसे भौतिक विज्ञानके नियमोंका पता लगानेके लिए कोई डॉक्टर या वैज्ञानिक उस क्षेत्रमें दौड़ जाता है जहां किसी संक्रामक रोगका जोर होता है, ठीक वैसे ही मैंने रामनामके विज्ञानकी खोजके लिए अपने आपको इस आगमें झोंक दिया है । या तो मैं रामनामके विज्ञानका पता लगा लूंगा या इस प्रयत्नमें मर मिटूंगा ।"

यह निश्चय हुआ कि गांधीजीकी मण्डलीके सदस्य रातभर बारी बारीसे उनकी सेवामें रहें । एक दिन प्रात:काल उनकी परिचारिकाकी हिम्मत नहीं हुई कि उन्हें प्रार्थनाके समय जगा दे, क्योंकि उन्हें कई रातके जागरणके बाद शान्ति और आरामकी नींद आ रही थी । इससे उन्हें गहरा दुःख हुआ । उन्होंने नर्ससे कहा कि झूठी दया कर्तव्य-विमुखता है । नियत समय पर मुझे जगा देनेमें ही तुम्हारा सच्चा स्नेह प्रकट होता ।

एक दिन जब डॉ. जीवराज मेहता गांधीजीकी परीक्षा करने आये तो गांधीजीने उन्हें गंभीरतासे कहा : "डॉक्टर, आज मैंने एक नये डॉक्टरको अपना लिया है ।" डॉक्टर चकराकर उनकी ओर देखने लगे । गांधीजी हंसे । थोड़ी देर ठहर कर उन्होंने चुपकेसे कह दिया : "वह डॉक्टर राम है ।"

उनसे पूछा गया : क्या रामनाम टूटी हुई हड्डीको जोड़ सकता है ? उन्होंने उत्तर दिया: वह इससे भी अधिक कर सकता है । वह मनुष्यका ईश्वरके साथ तादात्म्य सिद्ध करा सकता है । ऐसा आदमी अपंग हो जाने पर भी यह श्रद्धा रखेगा कि मैं संपूर्ण अंगवाले मनुष्यकी अपेक्षा ईश्वरका उद्देश्य पूरा करनेका अधिक प्रभावशाली साधन सिद्ध हूंगा और अंतमें इसीमें मेरे जीवनका परम कल्याण है ।

गांधीजीके प्रार्थना-प्रवचन आकाश-वाणी द्वारा प्रसारित किये जाते थे । इसलिए उनकी बीमारीमें खांसी भी प्रसारित होती थी । उसका उत्पात शामको और खुलेमें खास तौर पर अधिक होता था । मित्रोंने गांधीजीकी खांसी न मिटने पर चिन्ता प्रगट की । डॉक्टरोंने खांसीके बने रहनेका कारण यह बताया कि गांधीजी नियमित चिकित्सा करानेसे इनकार करते हैं । इस इनकारका कारण बताते हुए गांधीजीने कहा : कुछ शारीरिक व्याधियोंके इलाजके लिए डॉक्टरी चिकित्साके कारगर होनेमें मुझे सन्देह नहीं । परन्तु मैं अनुभव करता हूं कि मेरे चारों ओर जो आग धधक रही है, उसके बीच ईश्वरके प्रति प्रज्वलित श्रद्धाकी और भी अधिक जरूरत है । इसीलिए मैं केवल रामनामकी शक्ति पर आधार रखता हूं । वही लोगोंको यह आग बुझानेकी शक्ति दे सकता है ।

६

२ अक्तूबर, १९४७ को गांधीजीका जन्मदिन था । यह उनके जीवन-कालमें मनाया जानेवाला अन्तिम जन्मदिन था । उनकी मंडलीके लोग प्रातःकाल ही उन्हें प्रणाम करने आ पहुंचे

। उनमें से एक साथीने कहा: “हमारे जन्मदिन पर हम दूसरोंके पैर छूकर उनसे आशीर्वाद लेते हैं, परन्तु आपके मामलेमें उल्टी बात है । क्या यह न्याय है ?”

गांधीजीने हंस कर कहा : “ महात्माओंकी बातें दूसरी ही होती हैं ! इसमें मेरा कसूर नहीं है । तुमने मुझे महात्मा बना दिया, यद्यपि झूठा महात्मा; इसलिए तुम्हें दंड भुगतना चाहिये।”

उन्होंने अपना जन्मदिन सदाकी भांति उपवास, प्रार्थना और अधिक कताई करके मनाया । उन्होंने समझाया : “ उपवास आत्मशुद्धिके लिए है और कताई इस प्रतिज्ञाको दोहरानेका चिह्न है कि ईश्वरके नीचेसे नीचे और छोटेसे छोटे प्राणीकी सेवामें मैं अपने आपको अर्पित करूं ।” उन्होंने अपने जन्मदिनके उत्सवको चरखेके पुनर्जनमका उत्सव बना दिया था । चरखा अहिंसाका प्रतीक था । यह प्रतीक तो विलीन हो गया लगता था, परन्तु गांधीजीने उत्सव मनाना नहीं छोड़ा था; क्योंकि उन्हें यह आशा थी कि कमसे कम कुछ छुटपुट व्यक्ति तो भी चरखेके सन्देशके प्रति वफादार होंगे । इन्हीं लोगोंके खातिर गांधीजीने इस उत्सवको जारी रहने दिया था ।

जब साढ़े आठ बजे गांधीजी स्नान करके अपने कमरेमें घुसे, तो घनिष्ठ मित्रोंका एक छोटासा दल वहां उनकी प्रतीक्षा कर रहा था । उनमें पं. नेहरू और सरदार, उनके यजमान घनश्यामदास बिड़ला और दिल्लीके बिड़ला-परिवारके सब सदस्य थे । मीराबहनने उनकी बैठकको खूब सजाया था । उसके सामने उन्होंने एक कलापूर्ण क्रॉस, हे राम और पवित्र ॐ कई रंगके फूलोंसे बना दिये थे । एक छोटीसी प्रार्थना हुई, जिसमें सबने भाग लिया । उसके बाद गांधीजीका प्रिय भजन “When I survey the wond’rous cross” और दूसरा उनकी पसन्दका हिन्दी भजन ‘हे गोविन्द राखो शरण’ गाया गया ।

मुलाकाती और मित्र दिनभर राष्ट्रपिताको श्रद्धांजलि अर्पण करने आते रहे । इसी प्रकार विभिन्न देशोंके राजदूत भी आये । उनमें से कुछ अपनी अपनी सरकारोंकी तरफसे गांधीजीके लिए अभिनन्दन और अभिवादन लाये थे । अन्तमें श्रीमती माउन्टबेटन गांधीजीके नाम आये हुए पत्रों और तारोंका ढेर लेकर पहुंचीं ।

उन सबसे गांधीजीने यही प्रार्थना करनेका अनुरोध किया कि "या तो प्रस्तुत दावानल शान्त हो जाय या ईश्वर मुझे उठा ले। मैं नहीं चाहता कि आगसे जलते हुए भारतवर्षमें मेरी दूसरी वर्षगांठ आये।"

जन्मदिनका यह अवसर आनेवालोंकी स्मृतियों पर गांधीजीके जीवनका एक अत्यन्त दुःखद अवसर बनकर रह गया। उन्होंने सरदारसे कहा : " मैंने ऐसा कौनसा पाप किया होगा कि ईश्वरने मुझे ये तमाम भयंकर घटनाएं देखनेको जिन्दा रखा है ?"

चारों ओर फैले हुए दावानलके सामने लाचारीकी भावनासे गांधीजी जले जा रहे थे। सरदारकी पुत्री मणिबहनने उस दिनकी अपनी डायरीमें दुःखके साथ यह लिखा: "उनकी (बापूकी) पीड़ा असहनीय थी। हम खुशीसे उछलते उनके पास गये थे; लेकिन भारी दिलके साथ घर लौटे।"

मिलनेवालोंके चले जानेके बाद गांधीजीको खांसीका दूसरा दौरा हुआ। वे मन ही मन बोले : "यदि प्रभुका नाम मेरे लिए सब रोगोंकी रामबाण दवा सिद्ध नहीं होता, तो मैं इस शरीरको छोड़ देना अधिक पसन्द करूंगा। इस सतत जारी रहनेवाले भ्रातृवधके कारण सवा सौ वर्ष जीनेकी मेरी इच्छा बिलकुल नहीं रह गई है। मैं इसका असहाय साक्षी बनना नहीं चाहता।"

किसीने बीचमें ही कहा : "तो सवा सौ वर्षसे आप शून्य पर उतर आये हैं।"

"हां, यदि दावानल बन्द नहीं हो जाता।"

शामकी प्रार्थनामें गांधीजीने कहा : बहुतसे लोग मुझे बधाइयां देने आये थे। देश और विदेश दोनोंसे मुझे पचासों तार मिले हैं। निराश्रितोंने मेरे पास फूल भेजे हैं और अनेक श्रद्धांजलियां तथा शुभ कामनाएं मुझे प्राप्त हुई हैं। परन्तु मेरे हृदयमें पीड़ाके सिवा कुछ नहीं है। मेरी आवाज एकाकी है। सब जगह यही शोर मचा हुआ है कि हम मुसलमानोंको भारतीय संघमें नहीं रहने देंगे। इसलिए मैं आपकी कोई भी बधाई स्वीकार करनेमें सर्वथा असमर्थ हूं। बधाई

किसलिए ? "क्या समवेदना प्रकट करना अधिक उपयुक्त नहीं होगा ?" जब द्वेष और हत्याकांड वातावरणमें फेलकर हमारा गला घोट रहे हों, तब मैं जिन्दा नहीं रह सकता । मेरी सब लोगोंसे प्रार्थना है कि जो पागलपन आप पर सवार हो गया है, उसे आप छोड़ दें और अपने हृदयोंको द्वेष और घृणासे मुक्त कर लें ।

एक सिक्ख नेताके साथ गांधीजीकी जो बातचीत हुई उसका उल्लेख उन्होंने किया । इन सज्जनने गांधीजीको बताया था कि यह कहना बिलकुल गलत है कि दसवें सिक्ख गुरू गोविन्दसिंहने अपने अनुयायियोंको मुसलमानोंकी हत्याकरनेकी शिक्षा दी थी । इसके बजाय गुरुने यह कहा था कि इस बातका कोई महत्त्व नहीं कि मनुष्य ईश्वरकी पूजा कैसे, कहां और किस नामसे करता है; क्योंकि ईश्वर सबके लिए एक ही है, इतना ही नहीं मनुष्य सर्वत्र एक ही अर्थात् एक ही प्रकारका प्राणी है । "सब एक ही ढांचेमें ढले हुए हैं, सबकी समान भावनाएं होती हैं, सब मरते हैं और सब उसी मिट्टीमें मिल जाते हैं । वायू और सूर्य भी सबके लिए एक है । गंगा किसी मुसलमानको अपना ताजगी लानेवाला पानी देनेसे इनकार नहीं करती । बादल सभी पर पानी बरसाते हैं । अपने और अपने साथियोंके बीच भेद करनेवाला मनुष्य निरा अज्ञान है ।"

आकाश-वाणीने गांधीजीकी वर्षगांठके उपलक्षमें एक विशेष प्रंसारणका कार्यक्रम रखा था । उनसे पूछा गया : क्या आप विशेष कार्यक्रम एक बार भी नहीं सुनेंगे ? उन्होंने उत्तर दिया : "नहीं ।" मुझे 'रेडियो' से 'रेंटियो' (गुजरातीमें चरखेको 'रेंटियो' कहते हैं ।) अधिक पसन्द है । चरखेकी गूंज मुझे अधिक मीठी लगती है । उसमें मुझे "मानवताका शान्त और करुणापूर्ण संगीत" सुनाई देता है ।

गांधीजीने जन्मदिनका कोई सन्देश, तार या पत्र प्रकाशनके लिए देनेसे इनकार कर दिया । ये संसारके समस्त भागोंसे आये थे । मुसलमान भाइयोंके भी अनेक सुन्दर सन्देश आये थे ।

परन्तु गांधीजीका खयाल था कि जब, कमसे कम फिलहाल, आम जनताने अहिंसा और सत्यको मानना छोड़ दिया है तब इन्हें प्रकाशित करनेका उपयुक्त समय नहीं है ।

ये सन्देश अपनी व्यापक विविधताके लिए तथा भेजनेवालोंके विविध स्वभावोंके लिए, जो गांधीजीको अपनी कुछ गहनतम आशाओंका प्रतीक मानते थे, उल्लेखनीय थे ।

वाइसरॉयके कर्मचारी-मंडलके मुखिया लॉर्ड इसमे भी इन बधाइयों और शुभ कामनाओंके समूह-गानमें शरीक हुए, "जो दुनियाभरसे आई थीं" और उन्होंने प्रार्थना की कि भगवान गांधीजीको "शान्तिपथ पर हमारा नेतृत्व करनेके लिए" दीर्घायु प्रदान करे ।

लॉर्ड माउन्टबेटनने "जिस भारतसे हम सबको प्रेम है उसके लिए" गांधीजीके "अद्भुत कार्य" का उल्लेख करनेके बाद लिखा : "सारी दुनियाकी नजरोंमें . . . आपकी एक अनोखी स्थिति है । . . . आपके अहिंसाके उपदेशकी जितनी आवश्यकता आज है उतनी पहले और कभी नहीं थी । परमात्मा उसके प्रचार और प्रसारके लिए आपको दीर्घ जीवन प्रदान करे ।"

भारत-स्थित पाकिस्तानके उच्चायुक्त जाहिद हुसैनका सन्देश इस प्रकार था : "आज भारतके लोग – जिसमें मैं पाकिस्तानको शामिल मानता हूं – द्वेष और संघर्षसे उत्पन्न होनेवाले अकथनीय दुःखों और संकटोंसे पीड़ित हैं । आज देश पर जो अभूतपूर्व संकट छाया हुआ है, उसमें सबकी आंखें महात्मा गांधीकी तरफ लगी हुई हैं । . . . भारत कई प्रकारसे मानव-जातिके भविष्यकी कुंजी है और हम सब आशा और प्रार्थना करते हैं कि महात्मा गांधीके आदर्शोंसे प्रेरित होकर वह अपना पार्ट सच्चे और सुन्दर ढंगसे अदा करें ।

लॉर्ड पेथिक-लॉरेन्सने, जो सत्ताके हस्तांतरित होनेसे कुछ ही पहले भारत-मंत्रीके पदसे अवकाश ग्रहण कर चुके थे, लिखा : "गत वर्ष हमने आपकी जयन्ती मनाई उसके बाद कितनी ही घटनाएं हुई हैं । बेशक, न तो आप और न मैं अन्तिम परिणामसे पूरे सन्तुष्ट हैं । परन्तु सच्चे प्रेमकी भांति अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति भी कभी आसानीसे नहीं होती; और खोये हुएसे पाया हुआ कहीं

अधिक कीमती होता है । . . . मैं हृदयसे आशा करता हूं कि हालकी करुण घटनाएं, यद्यपि वे भारतके सुन्दर नाम पर कलंक बन कर रहेंगी, निरन्तर रिसता घाव बनकर नहीं रहेंगी ।"

एक अलग पत्रमें श्रीमती पेथिक-लॉरेन्सने, जो ८० वर्षकी हो गई थीं, याद दिलाया कि यह दिन (२ अक्तूबर) हमारे विवाहका दिवस भी था । उन्होंने लिखा : "संसारके इतिहास पर आपका कितना प्रभाव पड़ा है – और वर्षों तक भविष्यमें भी पड़ता रहेगा ! . . . आपने मुझे पिछले वर्ष कहा था कि आपका विचार . . . अपनी शताब्दी मनानेका है ! मैं पूरे दिलसे आशा रखती हूं कि आपका मनोरथ पूर्ण हो और आपका हर वर्ष पिछले वर्षकी अपेक्षा अधिक विश्वास और श्रद्धासे पूर्ण हो ।"

सरोजिनी नायडू उत्तरप्रदेशके राज्यपाल-पदसे जल्दी ही अवकाश ग्रहण करनेवाली थीं । वे दुर्बलताकी पुरानी बीमार थीं, फिर भी उनका उत्साह कम नहीं हुआ था । उन्होंने स्नेह और जिन्दादिलीसे सिंचित एक पत्रमें गांधीजीको लिखा : "राज्यपालिका होनेके मेरे दिन अक्तूबरके अन्त तक पूरे हो रहे हैं और मैं पिंजरेसे निकल कर फिर उन्मुक्त पक्षी बन जाऊंगी । . . . क्वचित् ही मैं आपके विचार अथवा समयमें अनधिकार प्रवेश करनेके अपने सतत प्रलोभनके वशीभूत होती हूं और वह भी तितलीकी तरह । आज हलके हलके और कुछ ही क्षणोंके लिए मैं उस इच्छा और प्रलोभन दोनोंके आगे झुककर आपको एक छोटासा अभिवादन भेज रही हूं । . . . मुझे अब कुछ कुछ विश्वास हो गया है कि मैं सचमुच 'प्यारी बूढ़ी महिला' हूं !"

सर स्टैफर्ड क्रिप्स दूरसे उस पीड़ाको देख रहे थे, जिसमें होकर गांधीजी विभाजनके बादसे गुजर रहे थे । शायद उनके मन पर इस प्रतीतिका बोझ भी था कि भारतको जिन करुण घटनाओंका शिकार होना पड़ा, उनमें ब्रिटिश सत्ताका भी कुछ हिस्सा रहा है । इसलिए उन्होंने लिखा :

> जिस अत्यन्त चिन्तापूर्ण और खतरनाक समयमें से आप और आपकादेश – या आपके दोनों देश ! – गुजरते रहे हैं, उसमें आपको कुछ लिखनेसे मैं जान-बूझकर बचा

हूं। . . . इस देशमें आपके मित्र – और वे अनेक हैं – उस दृढ़ताके बड़े प्रशंसक हैं, जिसके द्वारा आपने बुराईको भलाईसे जीतनेका प्रयत्न किया है । हम सबको, जो हृदयसे भारतका कल्याण चाहते हैं, इससे बड़ी प्रेरणा मिली है । जो कुछ हुआ है उससे हम सब बहुत दुःखी हुए हैं और हमें इस बातका बहुत अच्छी तरह भान है कि पिछले इतिहासका भारतके वर्तमान असन्तोषयमें बड़ा हाथ रहा है । मेरी प्रार्थना है कि आपको ईश्वर अपनी श्रद्धा पर अटल रहनेकी शक्ति दे और आपके उदाहरणसे साम्प्रदायिक झगड़ेकी दुर्भावना नष्ट हो जाय, ताकि भारत और पाकिस्तान एकताके ध्येयकी ओर किसी दिन फिर प्रगति करने लगें ।

*

हिन्दू पंचांगके अनुसार गांधीजीका जन्मदिन ११ अक्तूबरको पड़ता था । दिल्लीके गुजरातियोंने एक स्वागत-समारोहमें उन्हें थैली भेंट करनेका आयोजन किया था । यह रुपया उन्होंने गांधीजीके जन्म-दिवसकी स्मृतिमें इकट्ठा किया था । गांधीजी अभी भी जुकाम और फ्लूसे पीड़ित थे । परन्तु उन्होंने सभामें जाना स्वीकार कर लिया । जब सरदार उन्हें सभामें ले जानेके लिए आये तब उन्हें कुक्कुर खांसीका दौरा आ रहा था । सरदारने उन्हें टोंका : “आपके लोभका कोई अन्त नहीं है ! थैली लेनेके लिए आप मृत्युशय्या भी छोड़ कर चले जायेंगे ! आप अपनी खांसी ठीक कर लेंगे, तो सब बातें अपने आप ठीक हो जायंगी । लेकिन आप सुनते कहां हैं ?”

सभामें सरदारसे भाषण देनेको कहा गया । उन्होंने पूछा : “यह क्या मेरा जन्मदिन है, जो मैं बोलूं ? थैली तो आपकी गांधीजी लें और बोलनेका काम मैं करूं–यह बड़े अन्यायकी बात है!” स्नेहपूर्ण व्यंगके साथ वे आगे कहने लगे : “देखा, इस बूढ़ेमें बीमारीके बावजूद आपका रुपया छीननेके लिए फिरसे शक्ति आ गई है । अब आप इन पर दया कीजिये और इन्हें आराम करने दीजिये ।”

गांधीजी बोले: “सरदार फांसीके तख्ते पर चढ़ते समय भी हंसीसे बाज नहीं आयेंगे ।”

७

मनुके ऑपरेशनके समय गांधीजीको रामनामके प्रति अपनी दृढ़ श्रद्धाको थोड़ा शिथिल करना पड़ा था । तभीसे वे अपने विषयमें उसका पूर्ण पालन करनेके लिए छटपटा रहे थे । इस कारण सारी कामनाएं छोड़ना तथा जीवन और मृत्युको एक ही चीजके दो पहलू समझना और इसलिए उन्हें ईश्वरीय देन समझकर समान रूपसे दोनोंका स्वागत करना उनके लिए जरूरी हो गया ।

यह स्थिति न तो जीवनके प्रति तिरस्कारपूर्ण उदासीनता दिखानेसे प्राप्त हो सकती थी और न मुत्युके लिए लालायित रहनेसे प्राप्त हो सकती थी । वह केवल निरन्तर आत्म-संयम साधने और कष्ट-सहनकी अग्निके द्वारा आत्मशद्धि करनेसे ही प्राप्त हो सकती थी । इस कष्ट-सहनसे न तो गांधीजीको बचना था और न उसे मोल लेना था । उन्होंने दीर्घायुको स्थितप्रज्ञताके अपने आदर्शकी कसौटी और उसका स्वाभाविक परिणाम कहा था और उस आदर्शके अनुसार १२५ वर्षकी पूर्ण आयु तक जीवित रहनेकी महत्त्वाकांक्षा प्रगट की थी । यह शान्त और समत्वकी स्थिति प्राप्त करनेमें बार बार विफलता मिलनेके कारण दीर्घकाल तक जीनेके बारेमें उनका मन शंकासे भर गया था । बादकी घटनाओंसे तो उनकी यह इच्छा भी मर गई थी । परन्तु अपने आदर्शके कारण उन्हें इच्छा और अनिच्छाके बीचके मध्यम मार्गका अनुसरण करना था । उनके आत्म-समर्पणका अर्थ “अज्ञानके अन्धकार” की शरण लेना नहीं था । उसके लिए उच्चतम कोटिकी विवेकपूर्ण जागृतिकी आवश्यकता थी । वह गांधीजीको सतत जागरूकतासे तथा समर्पित की जानेवाली वस्तुको पूर्णतया समर्पणके योग्य बनानेके सतत प्रयत्नसे मुक्त नहीं करता था । गांधीजीने फिरसे अपने आपको इस कसौटी पर कसना शुरू कर दिया ।

गांधीजी पहले कह चुके थे कि आसक्तिसे अनासक्ति अधिक फलदायिनी होती है, इसलिए हमें अनासक्तिपूर्वक कर्म करनेका प्रयत्न करना चाहिये । गांधीजीने तर्क किया : लेकिन यह भी उतना ही सही है कि जैसे फल न देनेवाला वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार मेरा शरीर भी

सुख जायगा – यदि उसकी सेवासे वांछित फल न मिल सके । इसलिए यह कहना सर्वथा तर्क-संगत है कि जिस शरीरका कोई उपयोग न रह गया हो, वह नये शरीरको स्थान देकर नष्ट हो जायगा । आत्मा अविनाशी है और वह सेवाकार्यके द्वारा मुक्ति प्राप्त करनेके लिए नये नये रूप धारण करती रहती है ।

एक फ्रांसीसी मित्रने गांधीजीके सामने प्रतिवाद किया : आपने पहले ही इतना काम कर लिया है; और अन्तमें जो कुछ होता है उसके लिए यदि ईश्वर ही जिम्मेदार है, तो वह बुराईमें से भलाईको जन्म देगा । इसलिए आपको हतोत्साह नहीं होना चाहिये । "मेरी रायमें यह (गांधीजीकी खिन्नता) अहिंसाके मार्गसे संसारका दुःख मिटानेमें भारतके योगदानकी ईश्वरीय योजनाको विफल बनानेके लिए शैतानकी आखिरी कोशिश है । आज तो दुनियामें ईश्वरके हेतुको आगे बढ़ानेका एकमात्र साधन आप ही हैं ।

परन्तु गांधीजी, उनके ही शब्दोंमें कहें तो, मीठे शब्दोंसे धोखेमें आनेवाले नहीं थे । उन्होंने उत्तर दिया: कोई भी मनुष्य अपने भूतकाल पर जीवित नहीं रह सकता । मेरी जिन्दा रहनेकी इच्छा तभी हो सकती है जब मैं यह अनुभव करूं कि मैं लोगोंकी सेवा कर सकता हूं – अर्थात् उन्हें अपनी भूल महसूस करा सकता हूं । मैंने अपनेको पूरी तरह ईश्वरके हाथोंमें छोड़ दिया है । यदि ईश्वरकी मुझसे अधिक काम लेनेकी इच्छा होगी तो वह लेगा । परन्तु यदि मैं अधिक सेवा नहीं कर सकूं, तो उत्तम यही होगा कि ईश्वर मुझे उठा ले । [प्रार्थना-प्रवचन, ३ अक्तूबर १९४७]

दो दिन बाद गांधीजीने इस तर्कको और आगे बढ़ाया । "हरिजन में एक लेखमें उन्होंने ललिखा : मेरी मनःस्थितिको निराशाकी स्थिति बताना गलत है । बात इतनी ही है कि मुझमें यह समझ लेनेका मिथ्याभिमान नहीं है कि ईश्वरका कार्य मेरे हाथों ही पूरा हो सकता है ।

> यह उतना ही संभव है कि ईश्वर मुझसे अधिक योग्य साधनका उपयोग इस कार्यको पूरा करनेके लिए करे और मैं एक बलवान राष्ट्रके बजाय कमजोर राष्ट्रका ही प्रतिनिधि बनने लायक था । क्या यह नहीं हो सकता कि अन्तिम कार्यके लिए मुझसे

अधिक शुद्ध, अधिक साहसी और अधिक दूरदर्शी व्यक्तिकी जरूरत है ? यह सब निरी अटकलबाजी है । ईश्वरके मनको समझनेकी ताकत किसीमें नहीं है । हम तो दयाके उस अपार सागरमें बूंदोंके समान हैं । बेशक, आदर्श स्थिति तो यह है कि न हम जीनेकी इच्छा करें . . . और न मरनेकी । . . . मेरी स्थिति तो यही होनी चाहिये कि सब कुछ ईश्वरकी इच्छा पर छोड़ दूं । [हरिजन, १२ अक्तूबर १९४७, पृ. ३६८]

परन्तु गांधीजीको लगा कि खुले रूपमें १२५ वर्ष जीनेकी अपनी अभिलाषा व्यक्त करनेकी "धृष्टता" बतानेके बाद अब बदली हुई परिस्थितियोंमें उन्हें उस अभिलाषाको खुले रूपमें छोड़ देनेकी "नम्रता" भी दिखानी चाहिये । "इसलिए मैं उस सर्वशक्तिमान परमेश्वरसे प्रार्थना करता हूं कि हैवान बने हुए मनुष्यके हत्याकांडका असहाय साक्षी बनानेकी अपेक्षा वह मुझे इस वेदनाके सागरसे उबार कर अपनी शरणमें ले ले । . . . फिर भी मैं पुकारता हूं : 'हे प्रभु, मेरी नहीं, तेरी इच्छा पूर्ण हो ।' यदि प्रभु मुझे चाहता है, तो वह थोड़े दिन मुझे इस पृथ्वी पर और रख लेगा ।"

एक अंग्रेज महिलाने गांधीजीको लिखा : "सारी अशान्तिके नीचे एक शान्तिका स्थान होता है, जहां आत्माओंका मिलन हो सकता है ।" मुझे उन घोषणाओंसे परेशानी नहीं होती, जिनसे इतने लोग घबरा गये हैं । "वे कहते है : 'वे (गांधी) जीना नहीं चाहते', 'वे श्रद्धा खो रहे हैं । वे युद्धका समर्थन करते हैं ।' – इत्यादि । परन्तु मुझे आपके शब्दोंमें आत्माकी वही पुकार सुनाई देती है, जो स्वयं ईसाके हृदयसे निकली थी – 'यदि तेरी इच्छा हो तो यह प्याला (देह) मेरे हाथसे चला जाने दे ।' ईश्वर जानता है कि आप किस पीड़ामें से गुजर रहे हैं । मैं समझ रही हूं कि आपसे और भी बहुत कुछ मांगा जायगा और आप कभी कभी जिस विश्रामकी याचना करते हैं वह अभी आपको नहीं मिलेगा । यदि वह विश्राम आपको मिल गया, तो मुझे आपके चले जानेका दुःख नहीं होगा । मैं स्वार्थवश ही चाहती हूं कि आप हमारी इस भयानक दुनियामें रहें और हमारी मदद करें । परन्तु आप तो अपना संपूर्ण जीवन सतत प्रेमपूर्ण परिश्रममें लगा चुके हैं और इस दीर्घकालमें मानवोंके विचारोंको आपने सत्य और अहिंसाके मार्ग पर मोड़नेका निरन्तर प्रयास किया है । . . . मुझे शंका नहीं है कि भारतने बहुत बड़ी ऊंचाई तक जानेके लिए ही निम्नतम

तलको स्पर्श किया है । इतने वर्षोंसे आपने जो कार्य किया है वही भारतको बतायेगा कि कैसे ऊंचा उठा जाता है ।"

इन्हीं महिलाने एक पत्रका उद्धरण दिया, जो १९४१ में उन्हें महादेव देसाईसे मिला था । उस समय इंग्लैंड जर्मनोंसे अकेले दम लड़ रहा था : "आपको भयंकर कष्ट सहने पड़ रहे हैं – न सिर्फ बमबारी, निराश्रितता और भुखमरीके ही कष्ट आपको सहने पड़ते हैं, बल्कि अज्ञान लोगोंको यह समझानेका कष्ट भी सहना पड़ रहा है कि हम भारतवासी उनके शत्रु नहीं परन्तु मित्र हैं । मैं जानता हूं कि यह बहुत ही कठिन काम है । परन्तु आप, जो बापूजीको इतनी अच्छी तरह जानती और समझती हैं, यह काम कर सकती हैं ।"

इन्हें गांधीजीने यह उत्तर दिया : "महादेवने अपने जीवन-कालमें जिन कष्टोंके बारेमें आपको लिखा था, वे तो आजके कष्टोंकी तुलनामें कुछ भी नहीं थे ।" [गांधीजीका पत्र डोरोथी हॉगको, २२ अक्तूबर १९४७]

एक अमरीकी मित्रने गांधीजीको लिखा : यह स्वाभाविक ही है कि आप उन दुःखद घटनाओंके कारण, जो हाल ही में भारतमें हुई हैं, "कुछ हद तक भ्रम-निवारण" का अनुभव करें। परन्तु इस अनुभूतिको मर्यादित रखना चाहिये और इससे आपका उत्साह भंग नहीं होना चाहिये। "कोई बीज पहले विकास और प्रगतिके कुछ दौर पार किये बिना कभी सीधा ही सुन्दर सुगन्धित फूल नहीं बन जाता । और जब अपने विकासकी – अथवा प्रगतिकी – किसी मंजिल पर वह रुक जाता है तब मालीकी उपस्थितिकी उसे हमेशासे ज्यादा जरूरत होती है ।"

इसका उत्तर देते हुए गांधीजीने 'हरिजन' में लिखा: "लोग जो कहते हैं वह सही साबित हो सकता है और भारत जिस अविचारी रक्तस्नानमें से आज भी गुजर रहा है वह इतिहासकी एक सामान्य घटना ही हो । परन्तु यदि हम यह मानते हैं कि भारतको जैसी भी आजादी मिली है उसका सारा श्रेय अहिंसाको है, तो भारत इस समय जिस भीषण परिस्थितिसे गुजर रहा है उसे असाधारण ही मानना पड़ेगा ।" [हरिजन, १६ नवम्बर १९४७, पृ. ४१२] परन्तु जैसा मैंने बार बार

कहा है, भारतीय संग्रामकी अहिंसा नाममात्रकी ही थी, "वास्तवमें वह दुर्बलोंका निष्क्रिय प्रतिरोध ही था । इस कथनकी सचाईका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें भारतकी वर्तमान घटनाओंसे मिलना है ।" [वही]

परन्तु "भविष्यकी आशा न तो मैंने कभी छोड़ी है और न कभी छोडूंगा। . . . परन्तु जो बात मेरे विषयमें स्पष्ट रूपसे हुई है वह इस बातका पता चलना है कि शायद अहिंसाकी मेरी कार्य-पद्धतिमें कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दोष था । अंग्रेजी राज्यके विरुद्ध लड़े गये तीस वर्षके संग्राममें अहिंसाको वास्तवमें समझा ही नहीं गया । इसलिए एक पीढ़ीके इस संग्राममें आम जनताने आदर धैर्यके साथ जो शान्ति रखी, वह हृदयसे नहीं आई थी । जब ब्रिटिश राज्य भारतसे चला गया तो वह दबा हुआ रोष बाहर उमड़ पड़ा । वह कुदरती तौर पर साम्प्रदायिक हिंसाके रूपमें प्रकट हुआ । यह हिंसा भारतमें कभी पूरी तरह मिटी ही नहीं थी; उसे तो अंग्रेजोंकी संगीनोंसे दबा कर रखा गया था । . . . अहिंसाकी मेरी कार्य-पद्धतिकी असफलतासे स्वयं अहिंसामें मेरी श्रद्धा मिट नहीं जाती; इसके विपरीत, कार्य-पद्धतिका दोष मालूम हो जानेसे वह श्रद्धा अधिक दृढ़ हुई है ।" [हरिजन, २३ नवस्बर १९४७, पृ. ४२०]

कुमारी इलेसिन गांधीजीके दक्षिण अफ्रीकाके कार्यकालमें उनकी भक्त और सचिव थीं । वे भारतमें आकर फिरसे गांधीजीके साथ रहनेका अपना सपना पूरा नहीं कर पाई थीं । लेकिन सुदूर दक्षिण अफ्रीकामें रहकर वे गांधीजीके विचारों और प्रवृत्तियोंका विकास देखती रही थीं । उन्होंने लिखा: "दिनोंदिन इस बातका अधिक ज्ञान होते जानेके कारण कि दुनिया प्रेमविहीन होती जा रही है और इसके फलस्वरूप वह इतना कष्ठ भोग रही है, आपको १२५ वर्षकी उमर तक जीनेका विचार छोड़नेके बजाय इससे भी अधिक जीनेका दृढ़ निश्चय करना चाहिये । कमसे कम १२५ वर्ष तक जीनेके आपके निश्चयको देखते हुए आपके निराशावादके उद्गार मेरी समझमें नहीं

आते । **सर्वव्यापक अन्तर्यामी** परमेश्वरका क्या हुआ ? आपने मुझे कुछ समय पहले एक पत्रमें

लिखा था कि हर आदमीको १२५ वर्षकी आयु प्राप्त करनेकी **इच्छा रखनी चाहिये** – अब आप इससे विचलित नहीं हो सकते ।"

इन्हें गांधीजीने उत्तर दिया: "आम तौर पर तुम्हारे पत्र सही विचारके नमूने हुआ करते हैं । मेरे सामनेका यह पत्र ऐसा नहीं है । तुम मेरे '१२५ वर्ष तक जीनेके निश्चय' की बात करती हो । मैं ऐसा मुर्खतापूर्ण और असंभव निश्चय कभी नहीं कर सकता । यह मानवकी शक्तिसे बाहरकी बात है । वह केवल इच्छा ही कर सकता है । और फिर मैंने तो बिनाशर्त ऐसी इच्छा कभी प्रगट नहीं की । मेरी इस इच्छाके साथ मानव-जातिकी सेवाके सतत कार्यकी शर्त जुड़ी हुई थी । यदि वह कार्य मुझसे न हो सके, जैसा कि भारतमें आज दिखाई दे रहा है, तो न केवल मुझे उस आयुको प्राप्त करनेकी इच्छा ही छोड़ देनी चाहिये, बल्कि उसके विपरीत इच्छा रखनी चाहिये – जैसा कि मैं इस समय कर रहा हुं ।" [गांधीजीका पत्र मिस श्लेसिनको, १ नवम्बर १९४७]

इसी समयके आसपास 'हरिजन' साप्ताहिकोंको बन्द कर देनेका सवाल भी गांधीजीके सक्रिय विचारका विषय बन गया था । कुछ पत्रलेखकोंने उन्हें लिखा था कि आपके सक्रिय जीवनका काल अब समाप्त हो जाना चाहिये । भारतके लिए १५ अगस्त, १९४७ से एक नया युग प्रारम्भ हो गया है । इस युगमें आपके लिए कोई स्थान नहीं है । तब तीनों साप्ताहिकोंको क्यों जारी रखा जाय ?

गांधीजीके उत्तरमें निराशा अथवा श्रद्धाकी कमी लेशमात्र भी प्रकट नहीं हुई : "मुझे इस सलाहमें रोष दिखाई देता है । . . . मेरा जीवन-मार्ग सक्रिय जनसेवाके सांचेमें ही ढला है । मुझे वह स्थिति अभी प्राप्त नहीं हुई, जिसे 'अकर्ममें कर्म' कहा जाता है । इसलिए मेरी प्रवृत्ति अभी तो अन्तिम श्वास तक जारी रहेगी, ऐसी मुझे आशा है । इसे तंग खानोंमें भी नहीं बांटा जा सकता । सब चीजोंकी जड़ सत्यमें है, जिसे दूसरे शब्दमें मैं अहिंसाके नामसे जानता हूं । इसलिए 'हरिजन' पत्रोंको आजकी तरह चलते रहना चाहिये। 'मेरे लिए एक कदम काफी है' ।" [हरिजन, २८ सितम्बर १९४७, पृ. ३४०]

"अकर्ममें कर्म" की स्थितिसे गांधीजीका क्या मतलब था, यह समझाते हुए उन्होंने लिखा: "जीवनमें एक स्थिति ऐसी भी आती है जब मनुष्यको अपने विचारोंकी घोषणा करनेकी भी जरूरत नहीं रहती, तब किसी बाह्य कर्मके द्वारा उन्हें प्रकट करनेकी तो बात ही क्या कही जाय? उसके विचार ही कार्य करते हैं। विचारोंको जब ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है, तब मनुष्यके बारेमें यह कहा जा सकता है कि उसका बाह्य अकर्म ही कर्म है। . . . मेरी साधना इसी दिशामें चल रही है।" [हरिजन, २६ अक्तूबर १९४७, पृ. ३८१]

और उन्होंने अपने पाठकोंको कवि ब्राउनिंगकी ये पंक्तियां, जो एक प्रिय मित्रने उनके पास भेजी थीं, भेंट कीं :

"आंसुओंको पोंछनेके लिए
गिर पड़ो तो भी हंसो,
लड़खड़ाते उठ खड़े हो
और फिर शुरू करो।
समग्र जीवन एक दौड़ ही तो है आखिर !"

और, एक पंक्ति बाइबिलसे भी उद्धृत कर दी :

"करता है प्रभु हनन मेरा,
फिर भी –
विश्वास मैं उसका करूंगा।"

दूसरा अध्याय: रक्त और आंसू

१

गांधीजीकी बीमारी बहुत लम्बी साबित हुई । केवल अशक्तिकी वजहसे मजबूर होकर उन्हें अन्तमें अपनी मुलाकातें बन्द कर देनी पड़ीं । लेकिन मुलाकाती फिर भी आते ही रहे । कुछ लोग दैनिक समस्याओंके बारेमें उन पर लादे हुए आरामके समयमें पढ़नेके लिए कागजात और साहित्य छोड़ जाते थे । गांधीजीको यह सुविधा थी कि वे विभिन्न तत्त्वोंके उत्पातसे ऊपर उठे हुए थे और सरकारके भीतरी रगड़े-झगड़ों और दबावोंसे भी अलग थे । इसलिए वे अनासक्त और समग्र दृष्टिसे हर बातको देख सकते थे और राज्यकी नैयाको अच्छी तरहसे चलानेमें साथियोंको अपने परामर्शका लाभ दे सकते थे । उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि लोकप्रिय मन्त्रियोंको अपने अंग्रेज पूर्वाधिकारियोंकी तरह मनमाने ढंगसे काम करनेके लोभके शिकार हरगिज नहीं होना चाहिये; और जिन बातोंके लिए वे ब्रिटिश सरकारकी आलोचना करते थे वैसी कोई बात उन्हें अपने शासन-कालमें नहीं होने देनी चाहिये । अध्यादेश अथवा संकटकालीन कानूनों द्वारा शासन नहीं चलाना चाहिये, भले इसकी वजहसे कुछ देरी ही क्यों न हो । कानूनके कार्यका स्थान व्यवस्था-विभागकी आज्ञाओंको नहीं लेना चाहिये और न्यायको सस्ता, शीघ्र, सुलभ और शुद्ध बनानेकी पूरी कोशिश होनी चाहिये । यह बात पंचायत-राजके द्वारा ही संभव होगी । भारत जैसे विशाल उप-महाद्वीपमें उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) सबके पास पहुंचे, यह आशा नहीं रखी जा सकती ।

सितम्बरके अन्त तक राजधानीमें बड़े पैमाने पर फैली हुई अराजकता और अव्यवस्था पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया गया था । फिर भी समय समय पर छुटपुट घटनाएं होती रहीं और उनसे चेतावनी मिलती रही कि दिल्लीमें सब कुछ ठीक नहीं चल रहा है । अक्तूबरके पहले सप्ताहमें एक गरीब अज्ञात मुसलमान मुसाफिर दिल्लीके पास रेलके एक डिब्बेमें घुसा । उस पर हिन्दू और सिक्ख यात्रियोंको सन्देह हुआ । उसने अपने आपको गैर-मुस्लिम बताया । परन्तु उसकी

बांह पर बने गोदनेके निशानसे उसका असली रूप प्रगट हो गया । उसे छुरा मार कर जमुनामें फेंक दिया गया । यह घटना इस बातका प्रतीक थी कि देशके लोगोंके मानसमें कितनी विकृति आ गई थी । अधिकांश हिन्दू जनता, जिसमें पश्चिम पाकिस्तानसे आये हुए निराश्रित भी थे, अब मुसलमानोंके विरुद्ध मारकाटके कामोंमें भाग लेना नहीं चाहती थी । परन्तु ऐसी छुटपुट घटनाओंके प्रति सब लोग प्रायः उदासीन रहते थे । इससे समाज-विरोधी तत्त्वोंको बिना किसी रोकटोकके अपनी शरारत करते रहनेका मौका मिल जाता था ।

१९ अक्तूबरको गांधीजीने अपने प्रार्थना-प्रवचनमें कहा : लोग कहते हैं कि दिल्लीमें शान्ति है, परन्तु मुझे इससे समाधान नहीं होता; क्योंकि यह शान्ति पुलिस और सेनाके कारण है । हिन्दु-मुसलमानोंमें कोई प्रेम नहीं रहा । उनके दिल अभी तक फटे हुए हैं । तो क्या यह स्मशानकी शान्ति है ? क्या दिल्लीकी यह हालत हमें होने देनी चाहिये ? "सबकी आंखें भारत पर लगी हुई हैं और वह एशिया और अफ्रीकाकी ही नहीं, सारी दुनियाकी आशा बन गया है । यदि भारतको यह आशा पूरी करनी है, तो उसे भाई-भाईकी हत्याको बन्द करना पड़ेगा । . . . इस सुखद स्थितिके लिए पहली शर्त है हृदयोंकी शुद्धि ।"

उसी रात गांधीजीको खबर दी गई कि दिल्लीमें एक मुस्लिम स्वास्थ्य-अधिकारीकी अपना काम करते समय हत्या कर दी गयी । घबराहट इस हद तक फैल गई थी कि मुस्लिम रिवाजके अनुसार उसे दफनानेके लिए भी काफी संख्यामें मुसलमानोंको इकट्ठा करना मुश्किल हो गया । गांधीजीने आलोचना की : "मुझे बड़ा अन्देशा है कि यह भविष्यका एक संकेत है ।" कुछ दिन बाद एक गरीब मुसलमान इस आशासे कि अन्तमें शान्ति हो गई है अपनी चश्मोंकी दुकान खोलने गया । वह अपनी दुकान खोल रहा था उसी समय उसकी हत्या कर दी गई । पुलिस कहां थी ? सेना कहां थी ? उसकी दुकान जंगलमें तो नहीं थी ।

इससे भी अधिक अशान्ति गांधीजीको इस बातसे हुई कि यद्यपि दंगोंके सिलसिलेमें कई लोग पकड़े गये थे, फिर भी न तो किसी आदमीको सजा सुनाई गई और न किसीसे जवाब तलब

किया गया । गांधीजीको बताया गया कि कभी कभी जब पुलिस गिरफ्तारियां करती है तो शासन-अधिकारी गिरफ्तार व्यक्तियोंकी रिहाईका आदेश दे देते हैं । लोगोंकी गिरती हुई नागरिक भावनाको ऊंचा उठानेका यह उपाय नहीं था । गांधीजीने लोगोंको चेतावनी दी : अपराधियोंकी रिहाई करानेके लिए मन्त्रियोंके पास प्रार्थना-पत्रोंका ढेर लगाकर कानूनके मार्गमें हस्तक्षेप करनेका प्रयत्न खतरनाक है । राज्यके शासन-तन्त्रमें दयाका निश्चित स्थान है, परन्तु उसका बहुत सावधानीसे उपयोग होना चाहिये । मुकदमे वापस लिवानेका उचित उपाय यह है कि अदालतोंमें इसके लिए अपील की जाय । भयंकर अपराधोंमें आसानीसे अपराधीके छूटनेकी गुंजाइश नहीं होती । मुदद्इयोंका डरके मारे गवाही न देना भी ऐसे मुकदमोंको रद्द कर देनेके लिए काफी कारण नहीं समझा जाना चाहिये । अपराधियोंको पहले अपने अपराध स्वीकार करने चाहिये और फिर दयाकी याचना करनी चाहिये । तभी मुदद्इयोंकी स्वतन्त्र और स्वेच्छापुर्ण स्वीकृतिसे उन्हें क्षमा किया जा सकता है । मन्त्री मनमानी कार्रवाई करनेका साहस नहीं कर सकते । प्रशासनकी शुद्धताकी हर कीमत पर रक्षा की जानी चाहिये ।

मुसलमानों पर दबाव जारी रहा । उनकी शिकायत यह थी कि उन्हें किसी न किसी तरह अपने घर खाली करने और उस वक्त तक शिविरोंमें रहनेके लिए विवश किया जाता है जब तक कि वे "रेलसे या पैदल भी पाकिस्तान न भेज दिये जायं । गांधीजीको विश्वास था कि संघ-सरकारकी यह नीति नहीं है । तो क्या अधिकारी बेवफा थे ? गांधीजीको ऐसी आशा नहीं थी । फ़िर भी यह शिकायत सर्वव्यापी थी । अधिकारियोंकी तथाकथित बेवफाईके लिए विविध कारण बताये जाते थे । सबसे युक्तिसंगत कारण यह था कि सेना और पुलिसका साम्प्रदायिक आधार पर बंटवारा किया गया है और उनके सदस्यों पर वर्तमान राग-द्वेषका पूरा असर है । यदि ऐसी बात थी तो इन कर्मचारियोंके अधिक ऊंचे अधिकारियोंका काम था कि वे साम्प्रदायिकतासे ऊपर उठते और यही उदार वृत्ति नीचेके कर्मचारियोंमें पैदा करते ।

दूसरी दलील यह दी गई कि लोकप्रिय सरकारोंको वह "प्रतिष्ठा" प्राप्त नहीं है, जो विदेशी नौकरशाहीको उसके "फौलादी ढांचे" के कारण प्राप्त थी । गांधीजीने कहा : यह आंशिक रूपमें

ही सच है । लोकप्रिय सरकारके पास नैतिक बल है, जो उस भौतिक बलसे कहीं श्रेष्ठ है जिस पर विदेशी सरकारका अन्तिम आधार था । इस नैतिक बलके पीछे वह राजनीतिक बल होना जरूरी है, जो लोगोंके समर्थनसे देशी सरकारको प्राप्त होता है । "आज शायद उस बलका अभाव हो । इसकी जांचका एकमात्र उपाय है केन्द्रके मन्त्रि-मण्डलका त्यागपत्र । . . . केन्द्रीय सत्ताको . . . कभी कमजोर नहीं होना चाहिये; और शायद इससे भी महत्त्वकी बात यह है कि उसे कभी अपनेको कमजोर नहीं समझना चाहिये । . . . इसलिए यदि यह सच हो कि कर्मचारियों और अधिकारियोंमें सरकारी आदेशोंके प्रति अवज्ञाकी वृत्ति है, तो ऐसे लोगोंको नौकरीसे हटा देना चाहिये अथवा मन्त्रि-मण्डल या सम्बन्धित मन्त्रीको त्यागपत्र देकर उस व्यक्तिके लिए जगह खाली करनी चाहिये जो शासन-तन्त्रकी अव्यवस्थाको सफलतापूर्वक दूर कर सके ।" [प्रार्थना-प्रवचत, २७ अक्तूबर १९४७]

इस परिस्थितिमें भारतीय संघके उपद्रव-पीड़ित नागरिकोंका क्या कर्तव्य है ? गांधीजीने कहा: यह स्पष्ट है कि ऐसा कोई कानून नहीं है, जो किसी नागरिकको अपना निवास-स्थान छोड़नेके लिए मजबूर कर सके । "जहां तक मैं जानता हूं, इस आशयके कोई लिखित आदेश जारी नहीं किये गये हैं । मौजूदा मामलेमें तथाकथित मौखिक आदेशोंका असर हजारों लोगों पर पड़ रहा है । जो लोग किसी वर्दीधारी व्यक्तिके दिये हुए आदेशको डर कर मान लेते हैं, उनकी कोई मदद करना कठिन है । ऐसे तमाम व्यक्तियोंको मेरी जोरदार सलाह है कि वे लिखित आज्ञाएं मांगें और यदि कोई शक हो तो उनके उचित-अनुचित होनेकी परीक्षा किसी न्यायालयसे करा लें । अलबत्ता, यह तभी किया जाय जब व्यवस्था करनेवाले अन्तिम अधिकारीसे अपील करने पर सन्तोष न हो ।" [वही]

गांधीजीने स्वीकार किया कि जो गरीब मुसलमान बाकी रह गये हैं और जिन्होंने अपनी आंखोंके सामने दूसरे मुसलमानकी हत्याएं होते देखी हो और अन्य कई मुसलमानोंको पाकिस्तान भाग जानेके लिए विवश होते भी देखा है, उनके लिए अपने घरोंसे चिपटे रहना कठिन है । फिर भी मैं उन्हें इसके सिवा और कोई सलाह नहीं दे सकता । यदि अपने हृदयोंमें अहिंसाको

स्थान देकर काफी संख्यामें वे ईमानदारी और बहादुरीके साथ अपने घरोंमें डटे रहें, चाहे फिलहाल उनके भाग्यमें कष्ट-सहन ही क्यों न हो, तो कठोरसे कठोर हृदय भी पिघल जायंगे। फिर तो उन्हींका नहीं, परन्तु उनके जैसे अनेकोंका भारतके दोनों भागोंमें उद्धार होना निश्चित है। [प्रार्थना-प्रवचन, ५ नवम्बर १९४७]

तीसरी सम्भावना भी थी। क्या मन्त्रि-मण्डल अथवा सम्बन्धित मन्त्री किसी नीतिका प्रतिपादन करते हुए उसके भंगकी उपेक्षा कर सकता है ? इस संभावनाकी कल्पना करना अत्यन्त भयंकर था। तो फिर सचाई कहां थी ? या तो गांधीजीके साथी गांधीजीके साथ विश्वासघात कर रहे थे या खुद साथियोंके साथ उनके मातहत अधिकारी विश्वासघात कर रहे थे; अथवा इससे भी बुरी बात यह थी कि वे एक-दूसरेके साथ विश्वासघात कर रहे थे। इसका एक ही इलाज था : दूसरोंके लिए तपस्या करके, और जरूरत हो तो आत्मोत्सर्ग तक करके, सबकी शुद्धि करना।

परन्तु इस उपायका आश्रय लेनेका विचार करनेसे पहले गांधोजी दूसरे सारे साधन आजमा लेना चाहते थे। उन्हें आचरणके रूपमें अपने साथियोंको दिखा देना था कि वे साथियोंकी कठिनाइयोंको सचमुच समझते हैं और उन्हें सहायता देनेकी उनकी इच्छा है और उनमें शक्ति भी है। सरकारी तन्त्र केवल व्यवस्था-सम्बन्धी कदमों द्वारा अपने निर्णयों पर अमल ही करा सकता है। वह लोगोंके दिलों पर हुकूमत नहीं कर सकता। उसमें मानवताका स्पर्श नहीं होता। इस भारी भरकम तन्त्रकी पहुंचसे बाहर अनेक बातें होती हैं। परन्तु उनके कारण मितव्यय और अपव्ययमें, सुविधा और असुविधामें, शान्ति और अशान्तिमें – सार यह कि सफलता और असफलतामें आकाश-पातालका अन्तर हो सकता है। गांधीजी सरकारके कार्यका यह भाग अपने हाथमें ले सकते थे। इस प्रकारके कार्यके लिए उनमें विशेष कुशलता थी। क्या उन्होंने भारतमें इस शताब्दीके आरम्भमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसेके एक महारथी नेताके क्लार्क और चपरासीके रूपमें अपनी सेवाएं अर्पित करके और भंगीका काम करके अपना "राजनीतिक जीवन" आरम्भ नहीं किया था ? बादमें तो वे उस कांग्रेसके पिता ही बन गये थे। उन्होंने

निराश्रितोंकी समस्याको अपनी चिन्ताका विशेष विषय बना लिया । उन्होंने अपने साथियोंकी तरफसे जो तरह तरहके काम हाथमें लिये, उनकी अल्प-सी झांकी हमें निम्नलिखित उद्धरणोंसे मिलती है :

४ अक्तूबर, १९४७

रुईकी गांठों और छींट तथा "सुइयोंके लिए" अपील निकाली । ये चीजें गरीब निराश्रितोंको बांटनी थीं, ताकि वे आनेवाले जाड़ेमें उपयोग करनेके लिए रजाइयां सी सकें।

१२ अक्तूबर, १९४७

निराश्रितोंको शिविर-जीवनके बारेमें उपयोगी बातें रेडियो द्वारा बताई : "(खुलेमें सोनेवाले लोग) रजाइयोंको रातमें पुराने अखबारोंसे ढंक सकते हैं, ताकि वे ओससे भीगें नहीं ।"

२८ अक्तूबर, १९४७

बिना टिकट सफर करनेकी बुराईको दूर करनेके लिए यह सुझाया कि मामूली दमनात्मक उपायोंका आश्रय लेनेके बजाय रेल्वे-अधिकारियोंको उस समय तक रेलें बन्द कर देनी चाहिये जब तक इस बुराईको मिटानेमें जनता सहयोग न दे ।

७ नवम्बर, १९४७

दिल्लीके पास तिहाड़ गांवके मुसलमानको देखने गया और लौटने पर प्रधानमन्त्री तथा उप-प्रधानमन्त्री तक उनकी यह व्यक्तिगत प्रार्थना पहुंचाई कि उन्हें जल्दी ही पाकिस्तान भेज दिया जाय, क्योंकि उनके अधिकांश सम्बन्धी पहले ही वहां चले गये हैं ।

यह शिकायत सुनी कि गैर-मुस्लिम निराश्रित लोग तांगेवालोंको मुफ्त बिठानेके लिए और दुकानदारोंको जरूरतकी चीजें कम कीमत लेकर या कुछ भी कीमत लिये

बिना देनेके लिए तंग करके उनकी नजरमें घृणाके पात्र बन रहे हैं । उनकी दलील यह थी कि वे "अपना सर्वस्व" खो चुके हैं । उनसे मैंने कहा कि जो "सर्वस्व खो चुकने" का दावा करते हैं, वे इतनी बड़ी खरीदारियां नहीं कर सकते जितनी कि वे करते बताये जाते हैं; और उन्हें ईश्वरके दिये हुए पैरोंके सिवा और कोई सवारी क्वचित् ही काममें लेनी चाहिये।

३० नवम्बर, १९४७

रेडियो पर यह सुझाव दिया कि जो लोग मेरी प्रार्थना-सभामें आयें वे अपने साथ पुराने अखबारका एक पन्ना या एक छोटीसी दरी अथवा आसन अपने साथ ले आयें और अपने नीचे बिछा लें, ताकि जाड़ेमें ठंडी या गीली जमीन पर बैठ कर सरदी न खा जायं ।

यद्यपि स्वयं गांधीजीके पास बहुत थोड़े आदमी मददके लिए थे और अपने पहलेसे ही घटा दिये गये स्टाफमें से किसीको दूसरे काममें लगानेकी स्थितिमें वे नहीं थे, फिर भी उन्होंने सुशीलाको इस बातके लिए नियुक्त किया कि वह कुरुक्षेत्र-शिविरमें डॉक्टरी सहायताको संगठित और व्यवस्थित बनानेमें मदद दे और शिविरके जीवनको साफ-स्वच्छ बनानेका प्रयत्न करे । वह पश्चिम पंजाबसे आये हुए निराश्रितोंका सबसे बड़ा शिविर था ।

गांधीजीने अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें कहा : भारतमें धार्मिक और दूसरे प्रकारके मेले लगते हैं और कांग्रेसके अधिवेशन तथा सम्मेलन भी होते हैं, परन्तु एक राष्ट्रकी हैसियतसे हम लोगोंमें सार्वजनिक सफाईकी भावना नहीं है । इसका परिणाम खतरनाक गंदगीमें आता है और उसके कारण संक्रामक और छुतही बीमारियोंके फैल जानेका भय रहता है । हमें सफाईकी व्यवस्था सैनिक छावनी जैसी रखनी चाहिये :

अपनी विशिष्ट पद्धति, नियोजन और लगभग सम्पूर्ण सफाईके लिए सैनिक छावनी आदर्श होती है । मैंने सेनाकी आवश्यकताको कभी स्वीकार नहीं किया । परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उससे कोई भी भलाई नहीं हो सकती । उससे हमें अनुशासन, सामूहिक जीवन, सफाई और प्रत्येक उपयोगी प्रवृत्तिके लिए समुचित व्यवस्था करनेवाले

निश्चित समय-विभाजनके मूल्यवान पाठ मिलते हैं । ऐसी छावनियोंमें इतनी खामोशी होती है कि सुईके गिरनेकी आवाज भी सुनाई दे जाय । चंद घंटोंके भीतर तंबुओंका एक शिविर-नगर खड़ा हो जाता है । मैं चाहता हूं कि हमारे निराश्रित इस आदर्शके निकट पहुंचें । [प्रार्थना-प्रवचन, १३ अक्तूबर १९४७]

उन्होंने यह भी सुझाया कि ये शिविर बिलकुल सस्ते बनाये जा सकते हैं, अगर सारा काम – जिसमें तंबुओंके इस शहरका निर्माण भी शामिल है – निराश्रित करें और वे स्वयं ही अपने मेहतर, सफाई करनेवाले, सड़क बनानेवाले, खाइयां खोदनेवाले, रसोइये और घोबी वगैरा बन जायं । फिर तो कोई निराश्रित जहां भी जायगा वहां दूसरोंके लिए बोझ नहीं बनेगा ।

जाड़ा नजदीक आ रहा था । इसलिए गांधीजी निराश्रितोंके लिए कम्बलों, गरम कपड़ों और इसी तरहकी अन्य चीजोंके लिए जनतासे अपील करने लगे । ("भेजनेसे पहले कपड़े और कंबल धो लिये जायं और आवश्यकता हो तो उनकी मरम्मत कर ली जाय । . . . रजाइयोंमें यह सुविधा है कि वे उधेड़ी जा सकती हैं, उनका कपड़ा धोया जा सकता है, रुई हाथसे पींजी जा सकती है और रजाई फिरसे भरी जा सकती है ।") इस अपीलका उत्तर तुरन्त मिला और प्रचुर मात्रामें मिला । काश्मीर, सीलोन और बर्मा जैसे दूर दूरके स्थानोंसे कम्बलों और कपड़ोंके दानकी बाढ़ आ गई । सब तरहके कपड़ोंकी गांठें मिलीं । साटन, रेशमी कपड़े, ऊनी कपड़े, कीमती कंबल, दुशाले, जरीके कपड़े, रेशमी परदे, बिस्तरकी चद्दरें आदि आदि । परोपकारके इस कार्यमें सभी वर्गोंने एक-दूसरेके साथ होड़ लगा दी । कुछ सम्पन्न परिवारों और ऊंचे दर्जेके भद्र लोगोंने इन अभागे लोगोंकी सहायता करनेके लिए अपनी कपड़ोंसे भरी आलमारियां लगभग खाली कर दीं ।

*

हालके जमानेमें यूजेत डेब्सने ही यह घोषणा की है कि जब तक संसारमें एक भी अपराधी है तब तक मैं भी अपराधी हूं । अपराधीको समाजसे बहिष्कृत समझनेके बजाय उसके साथ

तादात्म्य साधनेकी वृत्ति भारतीय परम्पराके लिए नई नहीं है। ईसासे तीन शताब्दी पहले सम्राट् अशोकने धर्ममंत्री खड़े किये थे, जिनका काम अन्य बातोंके अलावा यह भी था कि "जो लोग बंधनोंमें पड़े हैं उन्हें आराम दिया जाय, उनकी रुकावटें दूर की जायं और उनका उद्धार किया जाय, क्योंकि उन्हें परिवारका पालन-पोषण करना पड़ता है . . . और वे बूढ़े हो गये हैं।"

२५ अक्तूबरको गांधीजीकी एक अत्यन्त प्रिय मनोकामना पूरी हुई। उस दिन उन्होंने दिल्लीके डिस्ट्रिक्ट जेलके भीतर अपनी प्रार्थना-सभा की। यहांके तीन हजार कैदियोंने गांधीजीसे मिलनेकी इच्छा प्रगट की थी। गांधीजीने कई बार अपने आपको उत्साहपूर्वक "तपा हुआ भूतपूर्व कैदी" कहा था। प्रार्थनाके बाद एक महत्त्वपूर्ण भाषणमें उन्होंने बताया कि किस प्रकार दक्षिण अफ्रीका और भारतमें उन्होंने जेलकी अलग अलग सजाएं काटी थीं। "दक्षिण अफ्रीकामें राजनीतिक और अराजनीतिक कैदियोंमें कोई भेद नहीं किया जाता था। सभी अपराधी थे। जो लोग कानून तोड़ते थे, वे सब कानूनके प्रति अपराधी माने जाते थे। परन्तु भारतमें राजनीतिक और अराजनीतिक कैदियोंमें ही भेद नहीं किया जाता, बल्कि राजनीतिक कैदियोंमें भी 'क', 'ख' और 'ग' वर्ग रखें जाते हैं।" यह बड़े दुःखकी बात है। मैंने इस प्रकारके विभाजनके आधार पर अपने लिए विशेष सुविधाएं मांगने या स्वीकार करनेके कांग्रेसियोंके रिवाजकी हमेशा निन्दा की है। छोटे या बड़े सभी मनुष्य अपराध करते हैं। उनमें से कुछ पकड़े जाते हैं और जेलमें डाल दिये जाते हैं। दूसरे किसी तरह पकड़में आनेसे बच जाते हैं। मुझे याद है कि एक भारतीय जेलके मुख्य जेलरने एक बार मुझसे कहा था : मैं अपने अधीन रहनेवाले कैदियोंसे अकसर अपने आपको ज्यादा बड़ा अपराधी मानता हूं। किन्तु गांधीजीने कहा, "ऊपरवाले सबसे बड़े जेलर" को कोई धोखा नहीं दे सकेगा।

गांधीजीने पूछा : इन लोगोंके लिए स्वाधीनताका क्या महत्त्व है ? इन लोगोंके लिए वह क्या संदेश लाई है ? स्वतंत्र भारतमें हमारी जेलें कैसी होनी चाहिये ? मेरी लंबे समयसे यह राय रही है कि सारे अपराधियोंको बीमार समझना चाहिये, जिन्हें इलाजकी जरूरत है। कोई व्यक्ति इसलिए अपराध नहीं करता कि अपराध करना उसे अच्छा लगता है। अपराध तो रोगी मानसका

लक्षण है । इस विशेष रोगके कारणोंकी जांच-पड़ताल होनी चाहिये और उन्हें दूर करना चाहिये । इसलिए जेल-कर्मचारियोंका दृष्टिकोण अस्पतालके डॉक्टरों और नर्सों जैसा होना चाहिये । कैदियोंको यह लगना चाहिये कि जेलके कर्मचारी उनके मित्र हैं और वे उन्हें फिरसे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करनेमें मदद देंगे तथा किसी तरह परेशान नहीं करेंगे । इस बारेमें शासकोंको आवश्यक आज्ञाएं जारी करनी होंगी; परन्तु तब तक जेल-कर्मचारी अपने प्रशासनमें मानवता लानेके लिए बहुत कुछ कर सकते हैं ।

"एक भूतपूर्व कैदी" की हैसियतसे बोलते हुए उन्होंने अपने "कैदी बन्धुओं" को सलाह दी: तुम आदर्श कैदी बन जाओ । तुम्हें जेलके नियमोंका उल्लंघन नहीं करना चाहिये । जो काम सौंपा जाय उसे पूरे दिलसे करना चाहिये । तुम्हें जो भी शिकायतें हों उन्हें अधिकारियोंके सामने शोभनीय ढंगसे रखना चाहिये । तुम्हे अपने छोटेसे समुदायमें इस प्रकारका आचरण करना चाहिये, जिससे जेलमें प्रवेश करते समय तुम जैसे इन्सान थे उससे अधिक अच्छे इन्सान बन कर यहांसे निकलो । यही आदर्श मैंने सत्याग्रहियोंके सामने रखा था । जो लोग भारतके स्वाधीनता-संग्रामके दौरान सविनय अवज्ञाके कार्यक्रमका अनुसरण करते हुए जेल जाते थे, उन्हें मैं "आदर्श कैदियों जैसा व्यवहार करनेको कहता था ।

अन्तमें गांधीजीने कैदियोंसे कहा : अपने बीच तुम साम्प्रदायिकताके जहरको न आने देना। तुममें हिन्दू कैदी हैं, सिक्ख कैदी हैं और मुसलमान कैदी हैं । सबको मित्रों और भाइयोंकी तरह रहना चाहिये, ताकि जब तुम बाहर जाओ तो बाहरके पागलपनको रोकनेमें समर्थ हो सको । गांधीजीने दूसरे दिन आनेवाली ईदके लिए मुस्लिम कैदियोंको मुबारकबादी दी और आशा प्रकट की कि गैर-मुस्लिम कैदी भी ऐसा ही करेंगे ।

वहांसे रवाना होनेके पहले कैदियोंके अनुरोध पर गांधीजीने जेलके अहातेमें अपने आगमनकी स्मृतिमें एक आमका पौधा लगाया ।

२

विन्स्टन चर्चिलने भारतको अपनी स्वाधीनता लेनेके लिए और ब्रिटेनकी मजदूर-सरकारको उसे स्वीकार करनेके लिए कभी माफ नहीं किया, क्योंकि यह काम उनकी इच्छाके विरुद्ध हुआ था । विभाजनसे होनेवाले झगड़ों और दंगा-फसादोंसे उनको इतना प्रबल प्रलोभन मिला कि उसे वे संवरण न कर सके । भारत और मजदूर-सरकारके विरुद्ध अपने विशिष्ट ढंगसे नाराजी प्रकट करते हुए उन्होंने कहा : भारतमें जो भयंकर हत्याकांड हो रहा है, वह मेरे लिए आश्चर्यकी बात नहीं है । वे अपने आनंदको छिपा न सके । उन्होंने कहा, "जिन जातियोंको भगवानने ऊंचेसे ऊंचे दर्जेकी संस्कृतिके विकासकी क्षमता प्रदान की है, वे मानव-भक्षियों जैसी बर्बरताके साथ एक-दूसरे पर भयंकर अत्याचार और मानव-संहार" कर रही हैं । ये जातियां "ब्रिटिश सम्राट्के उदार, सहिष्णु और निष्पक्ष शासनमें पीढ़ियों तक एक-दूसरेके साथ शान्तिसे रही हैं ।" चर्चिल साहबने भविष्य-वाणी की : " संसारके सबसे शान्तिपूर्ण भागमें . . . जनसंख्या विशाल पैमाने पर घट जायगी . . . और इन विशाल प्रदेशोंमें सभ्यता और संस्कृतिकी अवनति होगी । यह एशियाके इतिहासमें एक सबसे दुःखद और करुण घटना होगी ।"

अपनी बीमारीमें भी गांधीजी इन शरारतभरे उद्गारोंको चुनौती दिये बिना नहीं रह सके । उन्होंने कहा : मैंने पहले भी कहा था कि भारतसे अंग्रेजोंके हट जानेकी घटनाकी तुलना अर्वाचीन इतिहासमें और किसी घटनासे नहीं की जा सकती । बेशक, परोपकारी अशोकके त्यागका उदाहरण हमारे सामने है । परन्तु अशोक तो अतुलनीय था और कमसे कम आणविक युगका सम्राट् नहीं था । अंग्रेजोंने समयके अनुरूप ऊंचे उठ कर अपने साम्राज्यको भंग करनेका निश्चय किया और उसके स्थानमें "हृदयोंका एक अदृश्य और अधिक गौरवशाली साम्राज्य " स्थापित किया । चर्चिल, जो एक महान देशभक्त हैं, भी इस महान कार्यसे संबद्ध थे । इसलिए अच्छा होता यदि वे कोई ऐसी बात न कहते, जिससे उस महान कार्यको कलंग लगे । यह अफसोसकी बात है कि वे शांतिसे नहीं बैठ सके । और यदि चर्चिल साहबको पहलेसे ही मालूम था कि ब्रिटिश जुएसे मुक्त होनेके बाद भारतकी यह दुर्दशा होगी, तो मैं पूछता हूं कि क्या उन्होंने एक क्षणके

लिए भी यह विचार किया कि इसका दोष ब्रिटिश साम्राज्यके निर्माताओं पर है, न कि उन "जातियों" पर जिन्हें ईश्वरने उन्हींके कथनानुसार "ऊंचेसे ऊंचे दर्जेकी संस्कृतिके विकासकी क्षमता प्रदान की है ?" [प्रार्थना-प्रवचन, २८ सितम्बर १९४७]

गांधीजीने आगे कहा : ग्रेट ब्रिटेनके इस अनुपम कार्यको उसके परिणामोंसे परखा जायगा। भारतका अंगभंग करना दोनों भागोंको आपसमें लड़नेके लिए "अनजाने निमंत्रण" देना था । दोनों भागोंको बराबरके उपनिवेश मानकर स्वाधीनता दे देना मुक्त दानको कलंकित करता है । यह कहना बेकार है कि दोनों उपनिवेश ब्रिटिश राष्ट्र-परिवारसे अलग होनेको स्वतंत्र हैं । यह कहना आसान है, परन्तु करना मुश्किल है । इसलिए मैं चर्चिल साहबसे अनुरोध करूंगा कि वे प्रतिष्ठा और प्रामाणिकताको अपनी पार्टीसे अधिक महत्त्व दें और ब्रिटिश कार्यको "गौरवशाली सफलता" में परिणत करनेका प्रयत्न करें, न कि "पूर्वग्रह रखनेवाले पक्षपाती " बन जायं ।

चर्चिलने इस छटादार भाषणके बाद एक और भविष्य-वाणी की : यदि बर्माको स्वाधीनता दे दी गई, तो उसका भी वही हाल होगा जो भारतका हुआ । गांधीजीने पूछा, क्या चर्चिल साहबकी इच्छा इस विचारकी जननी है ? क्या स्वतंत्रता केवल भलेके लिए ही होती है ? क्या स्वतंत्रताकी ब्रिटिश कल्पनामें कुशासनका अधिकार शामिल नहीं होता ? मान लीजिये कि चर्चिल साहब अगले चुनावमें जीत जायें, तो क्या वे इस कार्यको पलट देंगे और भारतको दूसरी बार गुलाम बननेके लिए विवश करेंगे ? मैं चेतावनी देता हूं कि उस सूरतमें अंग्रेजोंको "विरोधकी एक जीवित दीवारका सामना करना पड़ेगा ।" लेकिन यह भी सही है कि यदि भारतके लोग जंगली जानवरों जैसा आचरण करते रहे, तो उनकी महंगी स्वाधीनता हाथसे निकल सकती है । [प्रार्थना-प्रवचन, ५ अक्तूबर १९४७]

चर्चिल साहबकी इस बौखलाहटसे लॉर्ड माउन्टबेटनको फिर एक बार इस बातकी जरूरत महसूस हुई कि अंग्रेज जनता और कुछ अंग्रेजी अखबारोंको अधिक अच्छी तरह अनुभव कराया जाय कि भारत विद्रोही न रहकर राष्ट्र-मंडलका नवीनतम सदस्य बन जाय तो उसका क्या

महत्त्व है । सत्ताका हस्तांतरण होनेसे पहले अंग्रेजी क्षेत्रोंमें आम तौर पर यह माना जाता था कि आगामी वर्षोंमें पाकिस्तान "ब्रिटिश साम्राज्यवादकी अन्तिम सैनिक चौकी" होगा और भारतीय संघ "अंग्रेजोंका विरोधी" होगा । [एलन कैम्पबेल-जॉन्सन, 'मिशन विथ माउन्टबेटन', लंदन, १९५१, पृ. १२९] इधर भारतमें यह प्रबल भावना थी कि भारतीय राष्ट्रवादके प्रति अंग्रेजोंकी परम्परागत शत्रुता और अधिकांश ब्रिटिश अधिकारियोंके पक्षपातपूर्ण आचरणके कारण ही अन्तरमें देशका विभाजन हुआ और उसके बादकी भयंकर घटनाएं घटित हुईं । इससे भारतकी जनतामें गहरा रोष उत्पन्न हुआ था ।

ग्रेट ब्रिटेनके साथ भारतके भावी संबंधोंका प्रश्न अभी तक विचाराधीन ही था। लॉर्ड माउन्टबेटन भारतीय संघके गवर्नर-जनरल थे और साथ ही ब्रिटिश सम्राट्के देशभक्त सेवक भी थे । इसलिए वे नहीं चाहते थे कि भारतके साथ ब्रिटेनके भावी संबंधोंको जहरीले बनानेके लिए आजका अनुचित भेदभाव बना रहे और भारतके लिए राष्ट्र-मंडलका स्थायी सदस्य बना रहना कठिन हो जाय । अपनी लाक्षणिक शक्तिसे वे काममें लग गये और अपने प्रेस-अधिकारीको इस कासके लिए खास तौर पर उन्होंने अनुकूल वातावरण उत्पन्न करनेके लिए इंग्लैंड भेजा । जूनागढ़, काश्मीर और हैदराबाद राज्योंके सम्बंधमें जो संकट खड़ा हो रहा था और भारत तथा पाकिस्तानके बीच जो तनाव बढ़ रहा था, उसके कारण यह कदम और भी समयानुकूल बन गया।

३

अब तक सिन्ध दूसरे प्रान्तोंकी अपेक्षा शान्त रहा था, परन्तु देशके विभाजनके बाद दोनों पंजाबोंमें जो उपद्रव हुए उनकी प्रतिक्रिया वहां भी होने लगी थी ।

"सारे मारवाड़ी और गुजराती लोग तो सिन्धसे बाहर अपने-अपने घरोंको वापस चले गये हैं; लेकिन बेचारे सिन्धी हिन्दू और सिक्ख कहां जायें ?" ९ सितम्बरको गांधीजीके कलकत्तेसे दिल्ली आनेके बाद तुरन्त आचार्य कृपलानीने यह चुनौतीभरा प्रश्न उनके सामने रख दिया था ।

इसका उत्तर गांधीजीने यह दिया था : "यदि मुझसे पूछा जाय तो मैं कहुंगा कि किसीको भी अपना घरबार नहीं छोड़ना चाहिये । इससे पाकिस्तानकी परीक्षा हो जायगी ।"

आज तक आचार्य स्वयं इसी विचारके थे । सिन्ध सूफी अध्यात्मवादका प्रसिद्ध केन्द्र था। उसने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियोंका सुन्दर समन्वय सिद्ध कर लिया था, जिसका उसे गर्व था । उसकी धार्मिक सहिष्णुताकी समृद्ध परम्परा थी । स्वयं आचार्य कृपलानीके परिवारमें दोनों धर्मोंके लोग थे । कराचीके अपने एक भाषणमें उन्होंने सिन्धके हिन्दुओंको सार्वजनिक रूपमें यह सलाह दी थी कि वे सिन्धसे हिजरत करनेका विचार न करें । गलत समझे जानेका खतरा उठा कर भी उन्होंने कहा था; "जैसे भारतसे आनेवाले मुसलमानोंका पाकिस्तानमें स्वागत नहीं होता, वैसे ही संभव है भारतीय संघमें आपका भी स्वागत न हो ।"

सिन्ध कांग्रेसेके एक और नेता प्रोफेसर एन. आर. मलकानीने पाकिस्तानकी स्थापनाके बाद अपनी मान्यता पर इस प्रकार संक्षेपमें प्रकाश डाला था :

> मैं पाकिस्तानको अस्वीकार नहीं करता । मैं सिन्ध और पाकिस्तानमें रहूंगा, क्योंकि सिन्ध मेरी मातृभूमि है । इसलिए मैं पाकिस्तानके प्रति बेवफा नहीं रहूंगा । मैं इसे एक अच्छा और बलवान राज्य बनानेकी कोशिश करूंगा । इसे मैं कमजोर करनेका प्रयत्न नहीं करूंगा और इसमें तोड़फोड़ तो कभी करूंगा ही नहीं ।
>
> सिन्धी और पाकिस्तानी होनेके नाते मैं नागरिकताके पूरे अधिकारोंका दावा करूंगा, क्योंकि मैं अन्य किसी भी नागरिककी तरह पाकिस्तानी बन गया हूं । आवश्यकता हुई तो मैं पाकिस्तानमें एक पाकिस्तानीके और सिन्धमें एक सिन्धीके इन अधिकारोंके लिए लडूंगा ।
>
> सिन्धमें मैं उतना ही सिन्धी हूं जितना कि कोई मुसलमान है । . . . ग्रामीण सिन्धका हृदय अभी तक स्वस्थ और स्थिर है । साधारण सिन्धी मुसलमान सुशील, सहृदय और

सरल मनुष्य होता है । . . . मैं पंजाबियों और दूसरे लोगोंकी सिन्धमें जो बाढ़ आ रही है उससे बहुत चिन्तित हूं । . . .

मैं पुराना या नया भारतीय झंडा अब नहीं फहराऊंगा । मैं उसे समेट कर अपने हृदयके गुप्त कोनेमें एक पवित्र स्मृतिके रूपमें रखूंगा । मैं पाकिस्तानके झंडेको राज्यके झंडेके रूपमें स्वीकार करूंगा । परन्तु मैं कोई झंडा उस वक्त तक अपने घर पर नहीं फहराऊंगा . . . जब तक कि वह मुझे प्रिय न हो जाय । . . .

यदि मुझे नागरिकताके पूरे अधिकार देनेसे इनकार किया गया . . . तो मैं उसका खुला विरोध करूंगा; और जब मैं देखूंगा कि मेरा विरोध व्यर्थ है और यहां मेरा जीवन सम्मान-रहित बन गया है तब मैं पाकिस्तान और अपने सिन्धको छोड़ दूंगा और दूसरोंको भी ऐसा ही करनेकी प्रेरणा दूंगा । मैं आशा करता हूं कि वह दुर्दिन कभी नहीं आयेगा । [प्रो. एन. आर. मलकानी अपने लेख 'माई क्रीड इन पाकिस्तान' में, जुलाई १९४७]

परन्तु परिस्थितियां उनके वशमें नहीं रहीं ।

श्री आर. जी. केसीने अपनी पुस्तक 'एन ऑस्ट्रेलियन इन इंडिया' में पाकिस्तानके नारेमें समाई हुई मुस्लिम आकांक्षाओंका गहरा विश्लेषण करते हुए लिखा है :

मैं जानता हूं कि जब किसी गांव या छोटे कस्बेके मुसलमान पाकिस्तानका विचार करते हैं, तो वे यह सोचते हैं कि उस छोटेसे गांव या कस्बेकी दुकान हिन्दुकी न होकर किसी मुसलमानकी हो । जब कोई शहरी मुसलमान पाकिस्तानका विचार करता है, तो मैं मानता हूं कि अधिकतर उसका विचार यह होता है कि कारखाने, दुकानें और व्यवसाय करनेवाली पेढ़ियां हिन्दुओंके बजाय मुसलमानोंकी हों । . . . परन्तु सच्ची बात यह है कि . . . पाकिस्तान बन जानेसे मुसलमान गांवकी दुकानका मालिक नहीं बन जायगा । कारखाने और व्यवसाय करनेवाली पेढ़ियां भी मुसलमानोंके हाथमें नहीं चली जायेंगी । मुसलमानोंकी आर्थिक उन्नतिका एक ही उपाय है; वह यह कि वे शिक्षा प्राप्त करें और

हिन्दुओंके साथ सफल प्रतियोगिता करना सीखें । इसके लिए लंबे समय तक उन्हें कड़ी मेहनत करनी होगी । यह काम जल्दी नहीं हो सकता और न राजनीतिक उपायोंसे हो सकता है ।

किन्तु अधिकांश मुस्लिम लीगी नेताओंने और पाकिस्तानकी मांगके समर्थकोंने यह कल्पना की थी कि पाकिस्तान वैभव और व्यक्तिगत सत्ता प्राप्त करनेका संक्षिप्त राजनीतिक मार्ग है; और चूंकि भेदभाव तथा उससे भी बुरे उपायोंके सिवा यह अभिलाषा पूरी नहीं हो सकती थी, इसलिए ऐसे उपायोंका खुल कर आश्रय लिया गया । पश्चिम पंजाबमें और आगे चलकर पूर्व बंगालमें सामूहिक साम्प्रदायिक उत्पातोंने इस प्रक्रिया पर आवरण डाल दिया । परन्तु सिन्धमें, जहां कोई बड़े साम्प्रदायिक उपद्रव नहीं हुए, दमन, सम्पत्तिके अपहरण और खुली लूटके बारेमें भी शासक लोग यह समझने लगे कि पाकिस्तानका सपना पूरा होनेका यह स्वाभाविक "आर्थिक परिणाम" है । सरकारी कार्योंके लिए गैर-मुस्लिस मकान और गृह-निर्माणकी सामग्री ले लेनेके लिए अध्यादेश जारी किये गये । निराश्रितोंने अल्पसंख्यक समुदायके लोगोंकी अनुपस्थितिमें जबरदस्ती उनके घरोंमें घुस कर उन पर अधिकार जमा लिया । अल्पसंख्यक समुदायका शायद ही कोई व्यक्ति सुरक्षित था । कभी कभी तो उन्हें अपने घरोंमें मुस्लिम निराश्रितोंको रखनेके लिए मजबूर किया जाता था और कभी उन्हें डरा-धमकाकर अपने घरोंसे जबरन् निकाल दिया जाता था । निराश्रित लोग जबरदस्तीसे लोगोंके निजी मकानोंमें घुस जाते थे, उनमें रहनेवालोंका अपमान करते थे और उन्हें सताते थे, उनमें आग लगा देते थे या लूटपाट मचा देते थे । परन्तु अधिकारी लोग इस ओरसे अपनी आंखें बंद कर लेते थे ।

कराची, हैदराबाद और सिन्धके दूसरे नगरोंकी गलियोंमें गैर-मुस्लिम लोग कामकाजके लिए बाहर निकलते, तो मुस्लिम लिबास पहन लेते थे । सुरक्षितताके लिए कुछ लोग 'डॉन' अथवा और किसी मुस्लिम लीगी अखबारकी प्रति अपने हाथमें रखते थे, भले ही वे उसे पढ़ न सकें । [प्रो. एन. आर. मलकानीका पत्र गांधीजीको, ४ जनवरी १९४८ । दूसरे पैरेमें सिन्धके हरिजनोंकी दशाका जो उल्लेख किया गया है उसके संबंधमें २७ नवम्बर १९४७ का डॉ.

आम्बेडकरका अखबारी वक्तव्य देखिये । उसमें उन्होंने अपने समुदायके लोगोंको निमंत्रण दिया कि जो लोग "पाकिस्तानमें बन्द हैं" वे भारत चले आयें; क्योंकि जिस "बलात्कारपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन" का उन्हें शिकार बनाया जा रहा है, उससे बचनेका यही एक उपाय है । - हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड, कलकत्ता, २९ नवम्बर १९४७]

हरिजनोंकी दशा विशेष रूपसे दयनीय थी । उन्हें यह दिखानेके लिए अपने शरीर पर बिल्ले लगाने पड़ते थे कि वे अछूत हैं । दलील यह दी जाती थी कि ऐसा करनेसे वे लोग सुरक्षित रहेंगे । मेहतरों और घोबियोंको "आवश्यक सेवा अध्यादेश" के अंतर्गत सिन्ध छोड़नेकी इजाजत नहीं दी जाती थी । सिन्धके भीतरी भागोंसे ये खबरें आती थीं कि नीचेके वर्गोंको, खास तौर पर हरिजनोंको, जबरन् मुसलमान बनाया जा रहा है ।

बादमें पूर्व पंजाब तथा भारतके दूसरे हिस्सोंसे आनेवाले निराश्रितोंका सिन्धमें तांता लग गया । ये अधिक झगड़ालू प्रकृतिके लोग थे । जब उनकी संख्या बढ़ी तो पाकिस्तानके अधिकारियोंके लिए उन्हें काबूमें रखना असंभव हो गया; और पश्चिम पंजाब तथा सीमाप्रान्तकी कुछ भयंकरसे भयंकर घटनाओंका स्मरण करानेवाले दृश्योंकी पुनरावृत्ति यहां काफी व्यापक पैमाने पर होने लगी । इससे सिन्धके लोगोंमें घबराहट फैल गई और जालमें फंसनेसे पहले भाग जानेके लिए भागदौड़ मच गई । सरहद पर बाहर जानेवाले निराश्रितोंसे सब-कुछ छीन लिया जाता था । रुपया-पैसा ऐंठने, रिश्वत लेने और डराने-धमकाने, सरहद पर तलाशियां लेने और स्त्रियोंकी बेइज्जती करनेके समाचारोंसे अखबार भरे रहने लगे ।

सितम्बर १९४७ के अन्तमें कांग्रेस-अध्यक्ष आचार्य कृपलानी कराचीमें जिन्नासे मिले थे । उन्होंने सिंधमें अल्पसंख्यक समुदायकी तेजीसे बिगड़ रही स्थितिकी तरफ जिन्नाका ध्यान खींचा था । उत्तरमें उन्हें भारतीय संघकी सरकारके विरुद्ध एक लम्बी शिकायत सुननेको मिली । जिन्नाका कहना था कि सिन्धकी अल्पसंख्यक कौमको कोई शिकायत नहीं हो सकती । बात इतनी ही है कि उसने पाकिस्तानकी स्थापनाको पसन्द नहीं किया है । वह जितनी जल्दी अपनी

इस बदली हुई स्थितिके अनुकूल बन जाय उतना ही उसके लिए अच्छा है । पाकिस्तान सरकारको किसी बातका जवाब नहीं देना है । इसके विपरीत, वह भारतीय समाचारपत्रोंकी गैर-जिम्मेदारीका और द्वेषपूर्ण अतिशयोक्तिका निर्दोष शिकार बन गई है ।

आचार्य कृपलानीने गांधीजीसे यह प्रश्न किया : सिन्धके गैर-मुसलमानोंको सता-सता कर बाहर निकाल दिया जाय और बेघरबार निराश्रितोंकी तरह भारतमें खदेड़ दिया जाय, इसके बजाय क्या उन्हें व्यवस्थित रूपमें बाहर निकालनेके लिए कार्य करना बेहतर नहीं होगा ? गांधीजीने उत्तर दिया : आबादीकी स्थायी अदला-बदलीके बारेमें मेरा जितना प्रबल विरोध पहले था उतना ही अब है । सच तो यह है कि आपने जो कुछ कहा उसके बाद मेरा यह विचार और भी दृढ़ हो गया है कि इस नाजुक अवसर पर सिंधके कांग्रेसी नेताओंका स्थान सिंधमें है । उन्हें वहां जाना चाहिये और जरूरी हो तो वहीं मर जाना चाहिये; और अपने उदाहरणसे गैर-मुस्लिमोंको साहस, श्रद्धा और आत्म-सम्मानके साथ संकटका सामना करना सिखाना चाहिये ।

गांधीजीने आगे कहा : मैं साफ शब्दोंमें यह स्वीकार करता हूं कि मुझे इस बातकी बहुत कम आशा है कि मैं पाकिस्तानके अधिकारियोंसे सही बात करा सकूंगा । परन्तु यदि दिल्लीमें फिरसे साधारण स्थिति पैदा हो जाय, तो मैं पंजाब और सिन्धमें जाकर सिन्धके कांग्रेसी नेताओंको इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण दे दूंगा कि मैं उनसे क्या कराना चाहता हूं । "मैं समझता हूं कि मुझे अहिंसक ढंगसे जीने और मरनेकी कला आती है । **परन्तु मेरे लिए एक सम्पूर्ण कार्यके द्वारा इसका प्रत्यक्ष दर्शन कराना अभी बाकी है** ।"

जिन लोगों पर देशका विभाजन करानेकी नैतिक जिम्मेदारी थी, उनके आत्म-सन्तोषसे गांधीजीको परेशानी होती थी । पाकिस्तानके अधिकारी खुलेआम प्राथमिक न्याय, नैतिकता और निष्पक्षताके नियमोंका उल्लंघन कर रहे थे । इसके सामने भारतीय संघकी सरकार लाचारी महसूस करती थी । गांधीजीने बताया कि देशका विभाजन कुछ शर्तों पर किया गया है । यदि पाकिस्तान खुले आम उन शर्तोंका भंग करता रहे और अल्पसंख्यकोंके सामने इसके सिवा कोई

चारा न रहे कि या तो वे पाकिस्तानके नागरिकोंकी हैसियतसे अपने बुनियादी अधिकारों और मानवोचित अधिकारोंसे भी वंचित रहना स्वीकार कर ले या पाकिस्तानसे निकल जायं और यदि उसके फल-स्वरूप उनका भारतीय संघ निर्गमन जारी रहे, तो फिर विभाजनका आधार ही मिट जाता है; उससे दोनों भागोंमें युद्ध अनिवार्य हो जायगा, भले हम भारतीय संघके नागरिक चाहें या न चाहें। हम इसी विनाशकी ओर तेजीसे बढ़ रहे हैं। मुझे लगता है कि समय बीत जानेसे पहले मुझे खतरेकी घंटी बजानी ही चाहिये।

२६ सितम्बरको प्रार्थना-सभामें गांधीजीने कहा : मैं सदा हर प्रकारकी लड़ाईका विरोधी रहा हूं। परन्तु यदि पाकिस्तानसे न्याय प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय न रह जाय, यदि पाकिस्तान अपनी प्रमाणित भूलको समझनेसे सतत इनकार करे और उसे कमसे कम करके बताता रहे, तो सरकारके पास एकमात्र विकल्प युद्धका ही रह जायगा। युद्ध कोई मजाक नहीं है। युद्ध तो विनाशका मार्ग है। परन्तु मैं किसीको अन्याय बरदाश्त करनेकी सलाह कभी नहीं दे सकता। यदि किसी न्यायपूर्ण ध्येयके लिए सारे हिन्दुओंका नाश हो जाय, तो मुझे उसकी परवाह नहीं होगी। यह सच है कि मेरा अपना मार्ग इससे भिन्न है। मैं ईश्वरकी पूजा करता हूं और वह ईश्वर है सत्य और अहिंसा। परन्तु मैं सरकार तो नहीं हूं।

पाकिस्तान अपना रंग-ढंग न सुधारे तो दोनों राज्योंके बीच युद्धकी संभावना खड़ी हो सकती है, गांधीजीके इन उद्गारोंसे एक तूफान-सा खड़ा हो गया। चिन्तापूर्ण तार आने लगे। भारतके और विदेशोंके मित्रगण पूछने लगे : क्या आप सचमुच युद्धका समर्थन करने लगे हैं ? लॉर्ड माउन्टबेटन तक इससे परेशान हो उठे। परन्तु गांधीजी अपनी बात पर डटे रहे। उन्होंने कहा, मैं तो हमेशाके लिए अहिंसाके व्रतसे बंधा हुआ हूं, इसलिए मैं युद्धका समर्थन कभी कर ही नहीं सकता। परन्तु मैं जानता हूं कि दोनों सरकारोंके पास शस्त्र और सेनाएं हैं, इसलिए वे और किसी तरह काम नहीं कर सकतीं। शुतुर्मुगकी तरह अपना सिर रेतमें गाड़ लेनेसे कोई लाभ नहीं होगा। फैलती हुई राजनीतिक हिंसाके सामने ऐसा रवैया अख्तियार करनेसे ही आज हमारी यह दशा हुई है। विभाजन और उसके बादकी घटनाएं इसी नीतिके दुष्परिणाम हैं। ब्रिटिश

सरकारके रवैयाका कारण समझमें आ सकता है, क्योंकि वह जल्दी ही भारतसे चली जानेवाली है । परन्तु यदि संघ-सरकार इस बारेमें अंग्रेजोंकी नकल करनेका प्रयत्न करेगी, तो वह अपने विनाशको ही निमंत्रण देगी ।

हममें एक अन्धविश्वास प्रचलित है कि जिस घरमें बच्चा भी सांपका नाम ले लेता है, उसमें सांप जरूर दिखाई देता है । मैं आशा करता हूं कि युद्धके विषयमें कोई भारतीय ऐसा अन्धविश्वास नहीं रखता । मेरा दावा है कि मैंने वर्तमान स्थितिका परीक्षण करके और निश्चित रूपमें यह बात बता कर कि दोनों राज्योंके बीच युद्धछका कारण कब पैदा हो सकता है, दोनों पड़ोसी राज्योंकी सेवा ही की है । ऐसा मैंने युद्धको भड़कानेके लिए नहीं, बल्कि उसे यथासम्भव टालनेके लिए किया है ।

मैंने यह भी दिखानेका प्रयत्न किया है कि यदि पागल बन कर लोगोंने हत्याएं, लूटपाट और आगजनीके भयंकर कृत्य जारी रखें, तो वे अपनी सरकारोंको युद्धके किए विवश कर देंगे । जो कदम एकके बाद एक तर्कसंगत रूपमें उठने अनिवार्य हैं, उनकी तरफ जनताका ध्यान आकर्षित करना क्या अनुचित था ? भारत जानता है, और दुनियाको जानना चाहिये, कि मेरी शक्तिका प्रत्येक कण इस बातके लिए खर्च हुआ है और हो रहा है कि इस भ्रातृवधका परिणाम युद्धमें न आये । जब एक ऐसा व्यक्ति, जिसने मानव-प्राणियों पर शासन करनेवाले अहिंसा-धर्मकी प्रतिज्ञा ले रखी हो, युद्धका जिक्र करनेका साहस करता है, तो वह इसीलिए करता है कि युद्धको टालनेके लिए वह अपना पूरा जोर लगाये । [प्रार्थना-प्रवचन, २९ सितम्बर १९४७]

एक पत्र-लेखकने विरोध किया : “दोनों राज्योंके बीच युद्धकी सम्भावनाकी चर्चा विनोदके रूपमें भी न करना ही अच्छा होगा ।” गांधीजीने उत्तर दिया : बेशक यह ठीक है कि दोनों राज्योंके बीच युद्धकी संभावनाकी चर्चा विनोदमें भी नहीं करनी चाहिये । परन्तु यदि वह

सम्भावना वास्तविक हो, तो "उसकी चर्चा करना हमारा धर्म होगा . . . और न करना मुर्खता होगी।" [हरिजन, २६ अक्तूबर १९४७, पृ. ३८४]

इससे दोनों ओरके अल्पसंख्यकोंकी अपने अपने राज्योंके प्रति वफादारीका प्रश्न पैदा हुआ। विभाजनके कारण दोनों राज्य अपने-अपने अल्पसंख्यकोंके वफादारीके दावेको संदेहकी दृष्टिसे देखते थे। गांधीजी पहले कह चुके थे कि दोनों राज्योंके बीच अगर युद्ध हो, तो भारतीय संघके मुसलमानको पाकिस्तानके मुसलमानोंके विरुद्ध लड़ना चाहिये। पत्र-लेखकने गांधीजीसे पूछा : क्या इसका अर्थ यह है कि पाकिस्तानके हिन्दुओं और दूसरे गैर-मुस्लिमोंको भी ऐसा ही करना होगा ? "यदि साम्प्रदायिक प्रश्नके कारण इस प्रकारका युद्ध पैदा होता है, तो किसी भी तर्कसे ना तो पाकिस्तानके मुसलमानसे भारतीय संघके मुसलमान लड़ेंगे और न पाकिस्तानके हिन्दू और सिक्ख भारतके हिन्दुओं और सिक्खोंसे लड़ेंगे।" इस पर आपका क्या कहना है?

गांधीजीने उत्तर दिया : यह सच है कि वफादारी आदेश देनेसे पैदा नहीं की जा सकती। परन्तु इस प्रकारकी सम्भावनाकी कल्पना करनेमें हास्यास्पद कुछ नहीं है। "**संघके मुसलमान जब इसे अपना कर्तव्य समझेंगे तो पाकिस्तानके मुसलमानोंसे लड़ेंगे। दूसरे शब्दोंमें, जब उन्हें यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय संघमें उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है और पाकिस्तानमें गैर-मुस्लिमोंक साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता तब वे पाकिस्तानके मुसलमानोंके साथ लड़ेंगे**। ऐसी स्थिति संभावनासे परे नहीं है। (मोटे टाइप मैंने किये हैं।)

"इसी प्रकार यदि पाकिस्तानके गैर-मुस्लिमोंको यह स्पष्ट प्रतीति हो जाय कि उनके साथ वहां न्यायपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है और वे वहां सुरक्षिततासे रह सकते हैं और फिर भी भारतीय संघके हिन्दू वहांके अल्प-संख्यकोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, तो पाकिस्तानके अल्पसंख्यक कुदरती तौर पर संघके बहुसंख्यकोंसे लड़ेंगे। तब अल्पसंख्यकोंको उनके कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा देनेके लिए किसी दलीलकी जरूरत नहीं रहेगी।

"यह प्रश्न बार-बार पूछा गया है कि भारत और पाकिस्तानके बीच युद्ध होने पर संघके मुसलमान कया पाकिस्तानके मुसलमानोंके विरुद्ध लड़ेंगे और एक राज्यके हिन्दू क्या दूसरे राज्यके हिन्दुओंसे युद्ध करेंगे ? . . . इस कल्पनामें कोई ऐसी बात बिलकुल नहीं है, जो मूलतः असम्भव हो। वफादारीके दावे पर विश्वास करने और विश्वासमें रहे खतरेका साहसपूर्वक सामना करनेकी अपेक्षा वफादारीके दावे पर अविश्वास करनेमें सदा ही अधिक खतरा रहता है। प्रश्नको रखनेका यह ढंग अधिक प्रतीतिजनक हो सकता है : **क्या सत्य और न्यायके खातिर हिन्दु और मुसलमान अपने सहधर्मियोंसे कभी लड़ेंगे ? इसका उत्तर एक प्रतिप्रश्न द्वारा दिया जा सकता है : क्या इतिहासमें ऐसे उदाहरण नहीं मिलते** ?" [वही] (मोटे टाइप मैंने किये हैं।)

गांधीजीके सत्याग्रहके आदर्शकी दृष्टिसे राष्ट्रवाद और स्वदेशीकी तरह अपने देशके प्रति नागरिकोंकी वफादारीको भी नया अर्थ और नया महत्त्व प्राप्त हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि जो चीज ईश्वरकी हो वह राज्यको न दी जाय। यदि हमारा देश कोई अनुचित काम करता है, तो उसके प्रति सच्चे अर्थमें वफादार रहनेके लिए आवश्यक होने पर अपने प्राण देकर भी हमें उसका विरोध करना चाहिये।

४

गांधीजीके दिल्ली पहुंचनेके बाद जल्दी ही शहीद सुहरावर्दी उनके साथ हो गये थे। परन्तु उनके आनेसे गांधीजीको वह बल नहीं मिला था, जिसकी बहुतोंने आशा रखी थी। गांधीजी मानव-स्वभावको खूब जानते थे, इसलिए वे स्वयं तो बहुत आशा नहीं रखते थे। शहीद जब अपने घरके आराम और सुख-सुविधाओंको छोड़कर गांधीजीके साथ कलकत्तेमें रहने चले आये थे और कलकत्तेमें फिरसे शांति स्थापित करनेमें उनके साथी बन गये थे, उस समय उन्होंने बड़े साहस और सहनशीलताका परिचय दिया था। परन्तु दिल्ली कलकत्ता नहीं थी। दिल्लीके मुसलमानों पर शहीदका वह असर नहीं था, जो बंगालके मुसलमानों पर था। इसके अतिरिक्त, उनके और गांधीजीके स्वभावमें मौलिक अन्तर था। वह एक ही झटकेसे मिटाया नहीं जा सकता

था । समय पाकर ही वह मिट सकता था । गांधीजीने जल्दी करनेकी कोशिश नहीं की और शहीदको निरीक्षण करने, अध्ययन करने और स्वाभाविक रूपमें अपनेसे जितना कुछ ग्रहण करके वे पचा सकते थे उतना पचानेके लिए स्वतंत्र छोड़ दिया ।

शहीदने दोनों राज्योंके बीच मेल करानेका विशेष कार्य अपने ऊपर ले लिया । गांधीजीने उन्हें यह समझानेका प्रयत्न किया कि समस्याका मर्मे यह है कि दोनों सरकारोंको अपनी अपनी गलतियों और असफलताओंको खुले दिलसे स्वीकार कर लेना चाहिये । उन्हें ईमानदारी और सचाईके साथ अपने-अपने राज्यमें ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करनेकी कोशिश करनी चाहिये, जिनसे सब निराश्रित सुरक्षितता और समान व्यवहारका आश्वासन लेकर अपने-अपने मूल घरोंको लौट सकें । आज दोनों राज्यों अल्पसंख्यकोंको मुआवजा दिये बिना जबरन् निकाला जा रहा है । इसमें तो वे आश्वासन भी नहीं दिये जा रहे हैं, जो पारस्परिक आधार पर आबादियोंकी योजना-बद्ध अदला-बदलीमें दिये जाते हैं । परिणाम यह है कि निराश्रितोंने कानूनको अपने ही हाथोंमें लेना और अपने अपने राज्योंसे अल्पसंख्यकोंको सता सता कर निकालना शुरू कर दिया है । संघकी सरकार पर यह दबाव डाला जा रहा है कि भारतीय मुसलमानों पर भी आदान-प्रदानकी नीति लागू की जाय । इससे दोनों राज्योंके बीच आसानीसे लड़ाई छिड़ सकती है, क्योंकि पाकिस्तान सरकारने पहले ही यह घोषणा कर दी है कि वह पूर्वी पंजाबसे तो निराश्रितोंको आने देगी, परन्तु भारतके अन्य भागोंसे मुसलमानोंके पाकिस्तानमें आनेका विरोध करेगी । [हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड, कलकत्ता, ८ अक्तूबर १९४७]

पाकिस्तानी नेताओंके साथ पुराने संबंध होनेके कारण शहीदको एक निश्चित प्रारंभिक लाभ था, जिसका वे सदुपयोग कर सकते थे, बशर्ते वे अपना यह कार्य सही वृत्ति और सही तरीकेसे करने लग जाते । गांधीजीने उनसे कहा : आपको कराची तभी जाना चाहिये, जब स्वयं आपका हृदय सब पूर्वग्रहोंसे मुक्त हो । आपकी उपयोगिता इस बात पर निर्भर करेगी कि आप साहसपूर्वक अपने पुराने साथी कायदे आजमसे अल्पसंख्यकों सम्बंधी उनकी नीति-विषयक घोषणाओं पर अमल करा सकें; क्योंकि उन घोषणाओंका आज पालन होनेकी अपेक्षा भंग ही

अधिक किया जा रहा है । यदि स्वयं आपमें दृढ़ विश्वास नहीं है या आपका अपना मन ही साफ नहीं है, तो आपके कराची जानेसे लाभके बजाय हानि अधिक होगी । इस प्रकार गांधीजीकी सूचनाओंके साथ वे कराची चले गये ।

२१ सितम्बरको लाहौरमें पाकिस्तानी नेताओंके साथ प्रारंभिक चर्चा करनेके बाद सुहरावर्दीने गांधीजीके नाम छह 'बुलेटिन' लिख भेजे । इनमें से एकमें उन्होंने यह लिखा था :

> (सर) गुलाम मुहम्मद और लियाकतअली खां दोनों मेरे मसौदेसे सहमत हैं । अब (कायदे आजमसे मिल लेनेके बाद) मेरे लिए यही काम बाकी रहता है कि कायदे आजम, माउंटबेटन, नेहरू, लियाकतअली, बलदेवसिंह, तारासिंह, कर्तारसिंह तथा पटेलकी और आपकी (गुलाम मुहम्मदके विचारसे मुझे भी उसमें रहना चाहिये) एक परिषद् बुलाऊं, ताकि उसमें प्रायश्चित्त और भावी आचरणकी शर्तोंका मसौदा तैयार कर लिया जाय । ... मुझे यह देखकर खुशी है कि दोनों "प्रायश्चित्त" के मामलेमें सहमत हैं । वे आबादीकी अदला-बदली नहीं चाहते (पंजाबकी बात दूसरी है । वहां तो यह पहले ही हो चुका है और कोई ताकत उसे रोक नहीं सकती । इसके बारेमें मैं बादमें लिखूंगा, क्योंकि मेरे विचारसे हिन्दू और मुसलमान तो एकसाथ रह सकते हैं, किन्तु सिक्खोंका साथ रहना असंभव दीखता है) और यह चाहते है कि (पंजाबके सिक्खोंके सिवा) निराश्रितोंको वापस ले जानेका दृढ़ निश्चयके साथ प्रयत्न किया जाय ।

शहीदके लौटने पर गांधीजी ने सदाकी तरह विनोदमें उनसे पूछा : "आप शेर बन कर लौटे हैं या गीदड़ बन कर ?"

शहीद : "नहीं साहब, सिर्फ चूहा बन कर । चूहा बड़ा सयाना प्राणी होता है ।"

गांधीजी : "तो सुनिये । एक बार एक शेर शिकारीके जालमें फंस गया । एक चूहेका ऊपरसे उल्लू और नीचेसे नेवला पीछा कर रहा था । वह भी उसी जालमें दौड़ कर घुस गया । चूहेने शेरके सामने प्रस्ताव रखा : 'तुम मेरी रक्षा करना । मैं तुम्हें आजाद कर दूंगा ।' शेर सहमत

हो गया । सौदा तय हो गया । नेवला तो खिसक गया । परन्तु उल्लूकी गोल-गोल चमकीली आंखें अपने शिकार पर जमी रहीं । शेरने अधीर होकर चूहेसे पूछा: 'तुम अपना काम कब शुरू करोगे ?' चालाक चूहेने जवाब दिया : 'जल्दी क्या है ? जब शिकारी मैदानमें आयेगा तब तुम्हें मुक्त कर दूंगा ।' और शेरको मुक्त करनेके बजाय वह उसके बालोंके नीचे दुबक कर आरामसे सो गया । शेरको गुस्सा तो बहुत आया, परन्तु करे क्या ? जब शिकारी मैदानमें आया तो चूहेने जालकी डोरियां धीरे धीरे कुतर डालीं और क्रोधसे आगबबूला बना हुआ शेर कुछ कर सके इसके पहले ही चुपकेसे अपने बिलकी ओर भाग गया ।" [मूल कहानीमें सिंहके स्थान पर एक जंगली बिल्ली है । यह कथा महाभारत : १२-१३८ में आती है । इसका उद्देश्य राजाओं और उनके मंत्रियोंको यह शिक्षा देना है कि तमाम राजनीतिक संधियां वास्तवमें क्षणभंगुर और स्वार्थपूर्ण होती हैं ।]

कहते समय कहानीमें कुछ मिलावट हो गई थी । शायद इसका कारण यह था कि गांधीजीको उस समय १०२ डिग्री बुखार था । परन्तु दबंग शहीदके लिए इससे कोई अंतर नहीं पड़ा । सीख देनेवाली इन कथाओंमें उनकी बहुत दिलचस्पी भी नहीं थी । गांधीजीने अपनी बात जारी रखी : "आप जानते हैं कि चूहा बड़ा धोखेबाज होता है । आप सो रहे हों तब वह चुपकेसे आपको काट लेता है । जब खून निकल आता है तभी उसकी उपस्थितिका आपको पता चलता है । क्या आप इसी तरह व्यवहार करेंगे ?"

परन्तु शहीद "दया" की पुकार करनेवाले आदमी नहीं थे । जरा भी विचलित हुए बिना उन्होंने उत्तर दिया : "जी, आप तो सब कुछ जानते हैं । फिर मैं क्या कह सकता हूं ?"

कुछ दिन बाद, अक्तूबरके पहले सप्ताहमें, सुहरावर्दीने जिन्नासे मिलनेके लिए कराचीका एक चक्कर और लगाया । वे उन प्रस्तावोंका मसौदा लेकर गये, जिन्हें गांधीजीका समर्थन प्राप्त हो चुका था । जिन्नाने उनसे कहा कि आप गांधीजीके झांसेमें आ गये हैं । और परिणाम पूरी तरह बदल गया ।

सुहरावर्दी : "आज मुझे आपसे कुछ कटु सत्य कहने पड़ेंगे ।"

गांधीजी (हंसकर) : "कहिये, मैं तैयार हूं ।"

सुहरावर्दी : "जिन्ना कहते हैं कि मैं आपके झांसेमें आ गया हूं ।"

गांधीजी : "मेरे लिए इससे ज्यादा शर्मनाक बात और कोई नहीं हो सकती । आपको मालूम होना चाहिये कि मैं किसीको न तो धोखा दे सकता हूं, ना किसीका बुरा चाह सकता हूं ।"

सुहरावर्दी : "जिन्ना पंडित नेहरूकी बड़ी प्रशंसा करते हैं ।"

गांधीजी : "करते होंगे । सार्वजनिक रूपमें तो उन्होंने कभी नेहरूकी प्रशंसा नहीं की । परन्तु इससे क्या ? न तो पंडित नेहरू और न सरदार पटेल स्तुति या निन्दाकी परवाह करते हैं । आप तो जिन्नासे अगर उचित बात ही करा सकें, तो दोनों राज्योंमें फिरसे अमन कायम हो सकता है ।"

सुहरावर्दी : "जिन्ना कहते हैं कि हिन्दुओंसे उन्होंने पाकिस्तानसे निकल जानेको कभी नहीं कहा ।"

गांधीजी : "आपकी बात पर मुझे आश्चर्य होता है । आप जिन्ना और लियाकतअलीसे साफ-साफ क्यों नहीं कह देते ? सत्य क्या है, यह आप जानते हैं । क्या आपका 'शान्ति-मिशन' यह तकाजा नहीं करता कि आप सत्य और न्यायकी रक्षा निडर और साहसी बन कर किसी भी कीमत पर करें ?"

सुहरावर्दी : "आप नहीं जानते कि आम लोगोंमें पाकिस्तान सरकार कितनी अप्रिय हो गई है । कुछ लोग तो जिन्ना और लियाकतअलीको गालियां तक देते हैं ।"

गांधीजी : "यह आपका या मेरा विषय नहीं है । आपके कराची मिशनका उद्देश्य यह बताना नहीं था कि कौन किसे गाल्यां दे रहा है, परन्तु यह था कि आपकी जानकारीमें जो तथ्य हैं उन्हें आप जिन्नाके सामने रखें और उनसे पूछें कि दोनों राज्योंने जो समझौते किये हैं उन पर अमल

करनेके लिए वे क्या करना चाहते हैं। दोनों ओरके अल्पसंख्यक अपने मूल घरोंमें रह सकें ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होनी चाहिये । मुख्य बात है पाकिस्तान सरकारसे उसकी घोषणाओंके अनुसार अमल कराना।"

दो दिन बाद (११ अक्तूबरको) जिन्नाके नाम लिखे अपने एक पत्रमें गांधीजीने लिखा : "शहीद साहबने उनके तैयार किये हुए सुझावोंका मैंने जो समर्थन किया, उस पर आपकी प्रतिक्रिया मुझे बताई। आपकी प्रतिक्रिया जानकर मुझे दुःख हुआ . . . मेरी रायमें पहले ऐसा कोई समझौता होना चाहिये जैसा शहीद साहबने सुझाया है। उसके बाद ही दोनों राज्योंके बीच हार्दिक सहयोगके लिए कोई कदम उठाना चाहिये। बेशक, जरूरत इस बातकी है कि दोनोंके मन, वचन और कर्म एक हों।"

मालूम होता है कि इस पत्रका कोई उत्तर मिला नहीं। कमसे कम इसका कोई रेकार्ड तो नहीं है।

अक्तूबरके अन्तिम सप्ताहमें एक मित्रने, जो लाहौर हो आये थे, गांधीजीको खबर दी : "सड़कों पर मिल जानेवाले हिन्दुओंकी तलाशियां, लूट और परेशानी रोजमर्राकी बात हो गई है। छुरेबाजीकी घटनाएं भी रोज ही होती हैं।...सरकार...लोगोंको इन हथकंडोंका आश्रय लेनेसे रोकनेका भरसक प्रयत्न कर रही है। परन्तु छोटे अधिकारी...आज्ञाओंकी परवाह नहीं करते। ...मैंने देखा कि...एक लाख रुपयेका माल ५,००० रुपयेमें बेच दिया गया। ऐसा लगता था कि बिक्रीके दाम पुलिस और गुण्डोंने आधे-आधे बांट लिये। रास्तों पर पैदल चलनेवाला या मोटरमें भी जाने-आनेवाला कोई हिन्दू सुरक्षित नहीं है। अफरीदी और महसूद लोग घात लगा कर बैठ जाते हैं और गुजरनेवाले नजदीक हों तो छुरीसे और दूर हों तो गोलीसे उन्हें मार डालते हैं।...(भारतीय संघके) डेप्युटी हाई कमिश्नर और उनका पुत्र भी अपने ही मकानके भीतर रहते हैं और बाहर निकलनेका साहस नहीं करते। हिन्दुओंकी अपेक्षा सिक्खोंके प्राणोंकी मांग अधिक है।" [जमनादास द्वारकादासकी रिपोर्ट, २३ अक्तूबर १९४७]

पश्चिम पंजाबके मंत्रि-मण्डलके एक मंत्री मियां मुमताज दौलतानाने, जिनसे ये मित्र लाहौरमें मिले थे, बताया कि "निचले दर्जेके अधिकारियोंमें चोटीके शासकोंकी आज्ञाएं भंग करने और उनका निरादर करनेकी वृत्ति फैल गई है।" इन मित्रकी सूचनाके अनुसार दौलतानाने यह स्वीकार किया कि इनकी हरकतोंको रोकनेके लिए सख्त कार्रवाईकी जरूरत है। कुछ मामलोंमें अनुशासनकी कार्रवाई की भी गई है। परन्तु यह स्पष्टीकरण किया गया कि ये तथ्य प्रकाशित नहीं किये जा सकते, क्योंकि "आम लोगोंकी तरफसे सरकारके खिल्शफ बगावत कर देनेका अंदेशा है।"

पाकिस्तानके प्रधानमंत्री लियाकतअली खां पश्चिम पंजाबके मंत्रि-मंडलके दूसरे मंत्रियोंकी तरह गांधीजी और पंडित नेहरूने दिल्लीमें जो कुछ किया उसकी "भूरि-भूरि प्रशंसा" कर रहे थे :

> मैंने उन्हें बताया कि गांधीजी अगर मौजूद न होते और जवाहरलालजीने अद्भुत साहस न दिखाया होता, तो दिल्लीमें मुसलमानोंका लगभग सफाया हो जाता। . . . एक भी मुसलमान नेताने, जिसमें (पाकिस्तानके) गवर्नर-जनरल भी शामिल हैं, छोटे पैमाने पर भी इस तरहकी हिम्मत नहीं दिखाई। नतीजा यह है कि उनके व्यवहारसे भारतीय संघके लोगोंमें यह उचित सन्देह पैदा हो गया है कि या तो वे गुंडोंकी कार्रवाइयोंकी उपेक्षा करते हैं या उन्हें प्रोत्साहन दे रहे हैं। श्री लियाकतअली खांने . . . स्वीकार किया कि मुस्लिम नेताओंने गांधीजी और पंडितजीके उदाहरणका अनुकरण सिर्फ इस कारण नहीं किया कि सिक्खोंने . . . मुसलमान आबादीको इतना क्रुद्ध कर दिया है कि उनके बदला लेनेके निश्चयमें हस्तक्षेप करनेके किसी प्रयत्नसे मुस्लिम नेताओंके बारेमें गलतफहमी पैदा हो जाती। मैंने उनसे कहा कि पंडितजीने अज्ञान भीड़के विरोधको बदला न लेनेके आदर्श पर डटे रहनेके अपने संकल्पमें और दोनों प्रजाओंके बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेके अपने संकल्पमें कभी बाधक नहीं समझा। उन्होंने इस तथ्यको स्वीकार किया . . . और जोर देकर यह कहा कि हिन्दुओं और मुसलमानके बीच अच्छे सम्बन्ध

स्थापित करनेके लिए कानून-विरोधी कार्रवाइयोंका दृढ़तासे अन्त करने और हिन्दुओंमें विश्वास पैदा करनेके लिए तुरन्त कदम उठाये जाने चाहिये; परन्तु जहां तक सिक्खोंका सम्बन्ध है, उन्हें बरदाश्त करना असंभव है ।

मित्रने यह भी खबर दी कि पाकिस्तान सरकार हिन्दू निराश्रितोंको वापस आकर फिरसे व्यापार-व्यवसाय करने देनेके लिए तैयार हो जायगी, परन्तु सिक्खोंको "कमसे कम कुछ वर्षों तक" तो लौट आनेकी इजाजत नहीं दी जा सकेगी ।

प्रश्नका दूसरा पहलू पेश करते हुए रिपोर्टमें आगे कहा गया : "लगभग एक दर्जन नौजवान मुसलमान मुझसे लगातार दो दिन तक मिलने आये। . . . बे मूलतः मुस्लिम लीगी थे । परन्तु घटनाओंने जो करवट बदली उसे देखनेके बाद **उन्हें इस विचारसे बड़ी आत्मग्लानि हुई कि जिन्नाको उनकी वर्तमान भव्य स्थितिमें रखनेमें उनका हाथ रहा । उन्होंने न सिर्फ गांधीजी और पंडितजीकी बल्कि मौलाना अबुल कलाम आजादकी भी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनका यह खयाल था कि मौलाना आजाद जिन्नाकी अपेक्षा इस्लामके अधिक सच्चे प्रतिनिधि हैं** । उनकी बातचीतके दौरान मुझे उनकी भावनामें पूर्ण विद्रोह दिखाई देता था । . . . पश्चिम पंजाबमें जिस प्रकारका शासन चलता था, उसे वे बरदाश्त नहीं कर सके । अन्तमें यह निश्चय किया गया कि मुस्लिम लीगके भीतर एक युवक-संघ बनाया जाय और उसका एकमात्र उद्देश्य हिन्दु-मुसलमानोंके बीच सद्भाव पैदा करना हो । यह संगठन बना लिया गया है ।" (मोटे टाइप मैंने किये हैं।)

अन्तमें रिपोर्टमें कहा गया : गांधीजी, पंडितजी और मौलाना अबुल कलाम आजादने अत्यन्त अनुकूल असर पैदा किया है । "मेरी यह राय है कि यदि इस रवैयेको टिकाया जा सके और उस पर संघीय मन्त्रि-मण्डलकी स्वीकृतिकी मुहर लगवा ली जाय, तो हमारे लिए (पाकिस्तानमें) सारे भारतके स्थायी लाभकी दृष्टिसे . . . लोगोंकी भावनाओंको क्रियाशील बनाना संभव हो सकेगा । इसके विपरीत, यदि इस नीतिका समर्थन मन्त्रि-मण्डल नहीं करेगा और

आबादीकी सामूहिक अदला-बदलीका आग्रह रखा जायगा, . . . तो मुझे भारतका भविष्य अत्यन्त अन्धकारपूर्ण तथा संसारकी भावी शान्ति भयंकर खतरेमें दिखाई देती है ।"

गांधीजी इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा रहे थे । उन्हें कोई सन्देह नहीं था कि इस नीतिके गुणोंके कारण भारत सरकार इसका पूरे हृदयसे समर्थन करेगी । कठिनाई यह थी कि जिन्ना और पाकिस्तान सरकारके कार्यों और उद्‌गारोंसे मामला बहुत बिगड़ चुका था । मुस्लिम निराश्रितोंके पुनर्वासके लिए की गई धनकी अपनी अपीलमें भी जिन्नाने इस प्रकार कहना उचित समझा : "भारतीय संघके विभिन्न . . . भागोंमें . . . हमारे लोगों पर जो भयंकर यातनाएं बरसाई गई हैं, उनकी व्यापकताके उदाहरण बहुत कम मानव-इतिहासमें मिलते हैं ।" [जिन्नाका अखबारी वक्तव्य, १२ सितम्बर १९४७] पाकिस्तानके गैर-मुस्लिस प्रजाजनोंको मुसलमानोंके हाथों जो कष्ट सहने पड़े या अब भी सहने पड़ रहें हैं, उनके लिए खेद अथवा पश्चात्तापका एक भी शब्द उसमें नहीं था ।

हकीकत यह है कि उस प्रारम्भिक स्थितिमें भी पाकिस्तानका नवजात राज्य और उसके संस्थापक कायदे आजम परस्पर-विरोधी बातोंका समूह बन गये थे । पाकिस्तानके बारेमें कल्पना तो यह थी कि वह मुसलमानकी "मातृभूमि" होगा । परन्तु जब वह अस्तित्वमें आया तो पाकिस्तानके प्रधान-मन्त्रीको यह घोषणा करनी पड़ी कि पूर्व पंजाबके सिवा भारतके किसी भागके मुसलमानोंको पाकिस्तानमें दाखिल नहीं होने दिया जायगा । कायदे आजममें कभीके उस गहरी शारीरिक और आध्यात्मिक व्याधिके लक्षण दिखाई देने लगे थे, जिसने पाकिस्तानकी स्थापनाके तीन ही महीनेके भीतर उनसे सौजन्यपूर्ण आत्म-विश्वासको छीन लिया था और उनकी "क्षमताको यहां तक पंगु बना दिया था कि वे छोटे छोटे निर्णय भी नहीं कर सकते थे । . . . वे खिन्न और उद्विग्न हो कर खामोशी अख्तियार कर लेते थे । . . . बीच बीचमें क्षोभसे उबल पड़ते थे . . . और उनकी आध्यात्मिक शक्ति इतनी मन्द पड़ चुकी थी कि उसकी तहमें घबराहट जैसी मालूम होने लगी थी ।" [मार्गरिट बर्क-व्हाइट, 'हाफ वे टु फ्रीडम', न्यूयॉर्क, १९४९, पृ. ९८] वे उन अवसरवादियों और प्रतिगामी तत्त्वोंकी दया पर निर्भर रहने लगे, जिन्होंने पाकिस्तानकी

स्थापनामें उनकी मदद की थी और जो अब उसका बदला मांग रहे थे । किन्तु अपने पिछले कर्मोंका परिणाम उन्हें उन लोगोंको दबानेके लिए विवश कर रहा था, जिनके चरित्रका वे आदर करते थे और जो उन्हें अपना ही घर ठीक करनेमें सहायता दे सकते थे, परन्तु जो अपनी ईमानदारीके ही कारण उनके राजनीतिक संगठनमें शरीक होनेके लिए तैयार नहीं हो सकते थे । स्वभाव और विश्वाससे उदार तथा प्रगतिशील होकर भी जिन्नाके भाग्यमें लिखा था कि वे शरीयत पर आधारित धार्मिक राज्यके जनक बनें और कट्टर धर्मान्ध मुल्लाओं और राजनीतिक सुधार-विरोधियोंके साथ चलनेके लिए ही नहीं, बल्कि उनके रंगढंग अपनानेके लिए भी मजबूर हों । इन लोगोंके बारेमें वे पंडित नेहरूके पिता पं. मोतीलाल नेहरूसे निजी बातचीतमें कहा करते थे : "पंडित, मैं इनकी किसी बेहूदगीमें विश्वास नहीं रखता, परन्तु मुझे किसी न किसी तरह इस मूर्खोंसे निभानी पड़ती है !" सभी उपलब्ध समाचारोंसे पता चलता था कि १९४७-४८ के शीतकालमें जिन्ना बहुत ज्यादा बीमार थे – जिन आवेगों और बलोंको उन्होंने खुद ही पैदा किया था और जिन पर उनका अब कोई काबू नहीं रह गया था, उन्हींके अब वे खुद शिकार हो गये थे । "सुखसे कोसों दूर", भयभीत मनुष्य "जो द्वेषका पोषण करके अपना भय मिटाना चाहता है" – आदि आदि वर्णन उनके बारेमें वे लोग कर रहे थे, जो उनके पाकिस्तानके गवर्नर-जनरल बन जानेके बाद उनसे मिले थे । [एलन कैम्पबेल-जॉन्सन, 'मिशन विथ माउन्टबेटन', लंदन, १९५१, पृष्ठ २१७]

*

सुहरावर्दीने अपने प्रयत्न जारी रखे, परन्तु उनका कोई स्पष्ट परिणाम दिखाई नहीं दिया । सफलताकी शर्त यह थी कि वे जिन्नाका निर्भयतासे विरोध करते । यह उनके बसकी बात नहीं थी । अक्तूबरके अन्तिम सप्ताहमें शहीदने अपनी विफल कराची यात्राओंमें से एक यात्रा की थी । उसके बाद गांधीजीने अपने मौनके दिन उन्हें यह लिखकर दिया : "मेरी समझमें नहीं आता कि पाकिस्तान असलमें करना क्या चाहता है – वहां हिन्दुओंको वह रखना चाहता है या नहीं । . . . इतना याद रखिये कि निराश्रितोंके लिए यह जीवन-मरणका प्रश्न है । लच्छेदार बातोंसे या

प्रभावशाली कागजी घोषणाओंसे काम नहीं चलेगा । अगर आप पाकिस्तानके अधिकारियोंसे अपनी घोषणाओं पर अमल करा सकें, तो आप भारतीय मुसलमानकी बहुत बड़ी सेवा करेंगे । यद्यपि भारतीय संघमें अनेक भयंकर और गर्हित बातें हुई हैं, फिर भी मेरा दावा है कि संघ-सरकारने मुसलमानोंको सम्पूर्ण सुरक्षितता तथा संरक्षण प्रदान करनेके लिए कोई बात उठा नहीं रखी है । . . . सरदार और पंडित नेहरूने अव्यवस्था और अराजकताको दबानेमें अपने आपको जर्जर कर डाला है । . . . आप नहीं जानते कि सरदार कितने बीमार हैं । फिर भी वे अपने लौह-संकल्पसे कार्य किये जा रहे हैं । मुझे पता नहीं है कि पाकिस्तान सरकारकी क्या नीति है, परन्तु मुझे यह जरूर मालूम है कि पाकिस्तानमें – पंजाबमें, सिन्धमें और सीमाप्रान्तमें अल्पसंख्यकों पर क्या बीत रही है । . . . परन्तु मुझमें श्रद्धा है । मैंने अपने आपको पूरी तरह ईश्वर पर छोड़ दिया है, इसलिए मुझे शान्ति है ।"

इसके बाद शहीदको एक पत्र लिखा गया :

नई दिल्ली,

२७ अक्तूबर, १९४७

प्रिय शहीद,

मैं आपको साफ साफ लिख रहा हूं । मैं चाहता हूं कि संभव हो तो आप अपने दावंपेंच छोड़ दें । अगर आप समझते हैं कि आपमें कोई दावंपेंच नहीं है, तो मैं अपने शब्द वापस लेता हूं ।

हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र नहीं हैं । मुसलमान कभी हिन्दुओंके और हिन्दू कभी मुसलमानोंके गुलाम नहीं होंगे । इसलिए आपको और मुझे इन दोनोंको मित्रों और भाइयोंकी तरह साथ रखनेकी कोशिशमें खपना पड़ेगा । मित्र और भाई तो वे हैं ही । और लोग कुछ भी कहें, आपको और मुझे तो सिक्खों और दूसरे लोगोंको भारतका अंग ही

समझना होगा । अगर उनमें से कोई इस बातसे इनकार करते हैं, तो इसकी जिम्मेदारी उन पर होगी ।

मैं इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि शरारत कायदे आजमकी तरफसे शुरू हुई और अभी भी जारी है । यह बात मैं आपकी भूल सुधारनेके बजाय अपनी बात आपके सामने स्पष्ट करनेके लिए कह रहा हूं । मेरे सामने एक ही मार्ग है – दोनोंको एक करनेके प्रयत्नमें कुछ करना या मर जाना ।

आपका

बापू

शहीदको यह शिकायत थी कि भारतीय संघमें उन पर कोई भरोसा नहीं करता । गांधीजीने उनसे कहा : आपकी नेकनीयतीका प्रमाण देनेका एकमात्र उपाय यह है कि आप पाकिस्तानकी अनुचित नीतियों और कार्रवाइयोंकी सच्चे दिलसे और साहसपूर्वक निन्दा करें । इससे तो स्वयं आप भी इनकार नहीं करते । उदाहरणार्थे, कबायलियों द्वारा काश्मीर पर किये गये हमलेको ही ले लीजिये । पाकिस्तान उसके पीछे था, जैसा कि सारी परिस्थितियोंको देखते हुए मालूम होता है, या उसके पीछे नहीं था । अगर पाकिस्तानका हाथ उसमें था, तो क्या भारतीय राष्ट्रके नागरिकके नाते आपका कर्तव्य नहीं कि अपने इस विश्वासकी आप घोषणा करें ? इसके विपरीत, यदि काश्मीरमें इतनी संख्यामें संगठित सेनाओंके होते हुए भी आपकी यह राय हो कि पाकिस्तानका उसमें कोई हाथ नहीं, तो क्या यह पता लगाना आपका कर्तव्य नही कि इसके लिए वास्तवमें कौन जिम्मेदार है ।? “मेरा आपसे यही कहना है कि सत्यका पता लगाना आपका कर्तव्य है । अगर मुझे यह मालूम हो जाय कि मैं गलत हूं और आप सही हैं, तो मुझे बहुत खुशी होगी ।”

शहीद सिद्धान्तके रूपमें तो कूटनीतिक दृष्टिसे सब बातोंसे सहमत होते थे, परन्तु उसके बाद अमलमें कुछ भी नहीं लाते थे । उनके साथ इस तरहकी एक निष्फल वार्ताके बाद गांधीजी

बोले : मेरे खयालसे शहीदका न तो भारतके लिए और न पाकिस्तानके लिए कोई उपयोग हो रहा है। फिर भी मैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। "इसमें कोई शंका नहीं कि वे बुद्धिमान हैं। यदि उनमें संकल्प-बल हो तो वे भारतीय संघकी, जिसके नागरिक होनेका वे दावा करते हैं, और भारतीय मुसलमानोंकी बड़ी सेवा कर सकते हैं। यह संकल्प-बल उनमें बिलकुल ही नहीं है। किन्तु मुझे श्रद्धा है।"

लोगोंने गांधीजीको चेतावनी दी कि शहीद सुहरावर्दीको हमेशा अपने निकट रखकर आप उन्हें अपनी और संघ-सरकारकी जासूसी करने देते हैं। गांधीजीने उत्तर दिया : मुझे उनकी जासूसीकी परवाह नहीं है। मेरे पास छिपानेके लिए कोई भेद है ही नहीं। असलमें तो मैं चाहता हूं कि शहीद न सिर्फ मुझ पर बल्कि मेरे पास आनेवालों पर भी गहरी निगाह रखें और फिर जो कुछ देखें उसकी जिन्नाको खबर दें।

जब दिसम्बर १९४७ में मैं फिरसे गांधीजीके साथ हुआ तब उन्होंने मुझसे कहा : "शहीदका रंगढंग अभी बदला नहीं है। परन्तु मैं उनकी बात सुनता हूं।" शहीदके लिए गांधीजीका स्नेह कम नहीं हुआ था। शहीद अपनी कमजोरियोंके कारण उनके और भी नजदीक आ गये थे। कलकत्तेमें शुरू शुरूमें तो यह खालिस राजनीतिक सम्बन्ध था, परन्तु अब वह बात नहीं थी। शहीद अपनी गहरी निजी समस्याएं भी गांधीजीके सामने रखते थे और गांधीजीको अपनी उत्तम सलाहसे उन्हें सहायता देनेमें प्रसन्नता होती थी। नीचेका पत्र उनकी मृत्युसे कुछ ही दिन पहले लिखा गया था :

नई दिल्ली

२१ जनवरी, १९४८

(बड़े सवेरे)

प्रिय शहीद,

मुझे आपकी आर्थिक जिम्मेदारीके बारेमें बड़ी चिन्ता थी। इस पत्रसे आप मेरी चिन्ताका अनुमान लगा सकते हैं। मैंने अनेक मुसलमान मित्रोंको उनकी फिजूलखर्चीकी

आदतोंके कारण बरबाद होते देखा है । यह न कहिये कि आप हिन्दुओं वगैरासे ज्यादा अच्छे नहीं हैं । आप जो इलाज सुझाते हैं, वे बीमारीसे भी बुरे हैं । मैं चाहता हूं कि आप वही करें, जो मैंने अपने मुसलमान मुवक्किलोंसे कराया है । इससे उनकी साख बढ़ी थी । वे अपनी और अपने मित्रोंकी नजरोंमें ऊंचे उठे थे । ईमानदारीसे दिवाला निकालना सीधा रास्ता है । आपके सिन्धसे लौटने पर यदि आप चाहेंगे, तो इस प्रश्नपर अधिक चर्चा कर लेंगे । मेरा खयाल सही हो तो अपनी राजनीतिमें आपको काफी सुधार करना है । सरदार बुरे नहीं हैं ।

सस्नेह,

आपका

बापू

५

इस बीच जूनागढ़का मामला गरमी पकड़ रहा था । इस रियासतका कुल क्षेत्रफल कोई ३,३०० वर्गमील था । उसके ७ लाख निवासियोंमें से ८२ प्रतिशत हिन्दू थे । उसका शासन मुसलमान सलाहकारोंकी मददसे एक नवाब करता था, जिसकी जीवनमें खास दिलचस्पी मोटर-गाड़ियों, पोलोके घोड़ों और कुत्तोंमें थी । इन पर वह राज्यकी आयकी बहुत बड़ी रकम खर्च कर देता था । जब भारतकी सत्ताका हस्तांतरण हुआ उस समय वह भारतीय संघके उन तीन राजाओंमें से एक था, जिन्होंने अभी तक इस प्रश्नका निर्णय नहीं किया था कि वे भारतमें रहेंगे या पाकिस्तानमें मिलेंगे । नवाबकी रियासतके चारों तरफ काठियावाड़के दूसरे राज्य थे, जिन्होंने भारतमें रहनेका निर्णय किया था । जूनागढ़के छोटे-छोटे टुकड़े दूसरी रियासतोंके प्रदेशोंमें छोटे-छोटे टापुओंकी तरह बिखरे हुए थे और उनके बीच सीधा सम्पर्क स्थापित करनेका कोई साधन नहीं था ।

मई १९४७ में, सत्ताके हस्तांतरणसे कुछ ही सप्ताह पहले, कराचीके एक मुस्लिम लीगी शाहनवाज भुट्टोको जूनागढ़का दीवान बनाया गया था । वह जल्दी ही राज्यका सर्वसत्ताधारी शासक बन गया और उसने जूनागढ़को पाकिस्तानमें मिलानेके लिए जिन्नासे गुप्त वार्ताएं शुरू कर दीं । सत्ता-हस्तांतरणके दो दिन बाद ही १७ अगस्तको अचानक मालूम हुआ कि नवाब पाकिस्तानमें मिल गया है । न तो नवाबने और न उसके दीवानने अपनी प्रजाकी इच्छा जाननेकी कोई कोशिश की । वहांकी जनता भारी बहुमतमें भारतीय संघमें सम्मिलित होनेके पक्षमें थी । नवाबने काठियावाड़के दूसरे राजाओंकी सलाहके विरुद्ध काम किया, हालांकि उसने पहले यह घोषणा की थी कि विलीनीकरण-सम्बन्धी नीतिमें वह दृढ़तासे उनका साथ देगा । पाकिस्तानमें मिलनेका अर्थ भौगोलिक निकटताके उस सिद्धान्तका भंग करना था, जिसे पाकिस्तान और भारतीय संघ दोनोंके नेताओंने स्वीकार कर लिया था ।

भारत सरकारने पाकिस्तान सरकारसे जूनागढ़के पाकिस्तानमें सम्मिलित होनेके बारेमें अपना रवैया स्पष्ट करनेंको कहा । परन्तु बार-बार याद दिलाने पर भी उसने कोई उत्तर नहीं दिया । यह अमंगल-सूचक मौन १३ सितम्बरको टूटा और कराचीने अन्तमें भारत सरकारको यह सूचना दी कि पाकिस्तानने जूनागढ़का अपने साथ हुआ विलीनीकरण स्वीकार कर लिया है ।

अंग्रेजी शासनमें मांगरोलका शेख और बाबरियावाड़का जागीरदार जूनागढ़के सामन्तोंकी हैसियत रखते थे । १९ सितम्बरको मांगरोल अपने 'अधिराज्य' से सम्बन्ध-विच्छेद करके भारतके साथ सम्बद्ध हो गया । किन्तु इसके चौबीस घंटेके भीतर जूनागढ़ने उसे इस सम्बन्धको तोड़ देनेके लिए विवश कर दिया । मांगरोलसे जबरन् वचन-भंग करानेके बाद जूनागढ़ने बाबरियावाड़में अपनी सेना भेज दी, यद्यपि वह इससे पहले भारतके साथ सम्बद्ध हो गया था । जूनागढ़ने यह बल-प्रयोग दो पड़ोसी राज्योंके विरुद्ध एक ऐसा अधिकार मनवानेके लिए किया, जो सार्वभौम सत्ताकी समाप्ति पर खतम हो चुका था । इससे काठियावाड़के दूसरे राजा घबराये । उन्होंने भारतीय संघकी सरकारसे हस्तक्षेप करनेकी अपील की । किन्तु कोई कार्रवाई करनेसे पहले भारत सरकारने पाकिस्तानको इस आशयका एक पत्र भेजा कि वह जूनागढ़को मांगरोल

और बाबरियावाड़की रियासतोंसे अपनी सेना हटा लेनेका आदेश दे, क्योंकि दोनों ही भारतसे सम्बद्ध हो चुकी हैं । तीन सप्ताहके पत्र-व्यवहारके बाद पाकिस्तान सरकारने सेनाएं हटानेकी बात मान ली, परन्तु उस पर कोई अमल नहीं किया गया ।

जूनागढ़के पाकिस्तानमें मिल जानेके फलस्वरूप जूनागढ़की प्रजाकी ओरसे एक "अस्थायी सरकार" स्थापित करनेके लिए एक आन्दोलन काठियावाड़में सितम्बर १९४७ के तीसरे सप्ताहमें जोर पकड़ने लगा । एक मित्रने गांधीजीसे पूछा : "क्या आपको ऐसी आशा है कि यह आन्दोलन अहिंसाकी आपकी व्याख्याके अनुसार अहिंसक रहेगा ?" गांधीजीने उत्तर दिया : मुझे अन्देशा है कि नहीं रहेगा । आन्दोलनके कर्ताधर्ता ("अस्थायी महाराजा") की कमरसे लटकती तलवार पर एक दृष्टिपात ही इस आशाको झुठला देता है । परन्तु फिर भी मैं आशा नहीं छोड़ूंगा ।

काठियावाड़के एक और बड़े कार्यकर्तासे, जो गांधीजीसे मिलने दिल्ली आये थे, उन्होंने कहा : मुझे जरा भी शंका नहीं कि यदि जूनागढ़के लोग अपना अहिंसक संगठन करके निश्चय कर लें कि वे ऐसी किसी सत्ताको स्वीकार नहीं करेंगे, जो उनकी इच्छाका प्रतिनिधित्व नहीं करती, तो शासकको उनके निर्णयके आगे झुकना पड़ेगा । "इतना ही नहीं, इस प्रकार जूनागढ़ काश्मीर नेशनल कान्फरेंसके अनुसरणके लिए मार्ग साफ कर देगा और इस तरह काश्मीरके प्रश्नका हल भी अपने आप प्रस्तुत कर देगा ।"

ये मित्र क्षमा-याचनाकी वृत्तिसे बोल रहे थे । उन्हें यह विश्वास नहीं था कि मौजूदा हालतोंमें गांधीजीकी व्याख्यावाली अहिंसा परिणामकारी सिद्ध होगी । गांधीजीको इससे दुःख हुआ, परन्तु उन्होंने कहा कि क्षमा-याचनाका भाव दिखानेकी जरूरत नहीं । लोकतन्त्रमें सबको अपनी अपनी प्रेरणासे कार्य करनेकी स्वतन्त्रता है । अहिंसा ऐसी वस्तु नहीं, जो किसी पर ऊपरसे थोपी जा सके ।

*

१ नवम्बरको – पाकिस्तानकी हिमायतसे कबायलियों द्वारा काश्मीर पर हुए हमलेके एक सप्ताह पश्चात्, भारतीय सेनाने मांगरोल और बाबरियावाड़में प्रवेश किया । इस बीच जूनागढ़में जन-आन्दोलन फैलता रहा था । रियासतको कोई खाद्य-सामग्री नहीं मिल रही थी, क्योंकि व्यापारियोंने संगठित होकर राज्यका बहिष्कार कर दिया था । "अस्थायी सरकार" की सेनाएं एकके बाद दूसरे स्थान पर कब्जा करती हुई आगे बढ़ रही थीं ।

जूनागढ़के दीवानने समयको पहचान कर ८ नवम्बरको भारत सरकारसे रियासतके विलीनीकरणके प्रशनका निबटारा होने तक राज्यका प्रशासन संभाल लेनेका अनुरोध किया, ताकि उसे संपूर्ण अराजकताकी स्थितिसे बचाया जा सके । साथ ही, उसने पाकिस्तानके प्रधानमंत्रीको यह सूचना दे दी कि मैंने यह कदम लोकमतके समर्थनसे और राज्य-परिषद् तथा स्वयं नवाबके दिये हुए अधिकारसे उठाया है । नवाब कुछ ही दिन पहले हवाई जहाजमें अपनी बेगमें और हीरे-जवाहरातके साथ कराची भाग गया था ।

इस बीच दीवानके दूत आकर दिल्लीमें गांधीजीसे मिल चुके थे और अपने दीवानको गांधीजीसे हुई बातचीतकी रिपोर्ट दे चुके थे । दीवानने ८ नवम्बरको गांधीजीके नाम यह तार भेजा था :

> हमारे प्रतिनिधियोंसे आप मिले, इसके लिए मैं आपका बहुत आभारी हूं । हम आपकी सलाह स्वीकार करते हैं । परिस्थितियोंके दबावके कारण हमने राजकोटके रीजनल कमिश्नरसे अनुरोध किया है कि वे कानून और व्यवस्था बनाये रखनेमें और बाहरके आक्रमणकारी तत्त्वोंके कारण राज्यमें कोई रक्तपात न होने देनेमें हमारी सहायता करें । लेकिन इससे रियासतके प्रश्नोंके सम्मानपूर्वक निबटारे पर कोई बुरा असर नहीं पड़ना चाहिये । कराचीसे नवाब साहब तार देते हैं कि उनकी प्यारी प्रजाकी खून-खराबीको हर कीमत पर रोका जाय । उन्होंने सारी स्थितिकी चर्चा करनेके लिए मुझे तुरन्त कराची बुलाया है ।

भारत सरकारने इस अनुरोधको स्वीकार करके राजकोटके रीजनल कमिश्नरसे कहा कि वह रियासतका प्रशासन अपने हाथमें ले ले । परन्तु रीजनल कमिश्नरके प्रशासन संभालनेसे पहले ही दीवान भुट्टो कराचीमें नवाबसे जा कर मिला और भारत सरकार द्वारा जूनागढ़का प्रशासन हाथमें लेनेकी बातको "गैर-कानूनी" बताकर उसकी निन्दा करने लगा !

जब नवाबने अपनी प्रजाकी इच्छाकी अवज्ञा की तब तो पाकिस्तान सरकारने उसे उचित बताया था, लेकिन इस समय जब उसने मजबूर होकर प्रजाकी इच्छाका आदर किया तब उसके कार्यको पाकिस्तान सरकारने माननेसे इनकार कर दिया । उसने घोषणा की कि पाकिस्तानके साथ सम्बद्ध हो जानेके बाद न तो नवाबको और न उसके दीवानको ही भारत सरकारके साथ अस्थायी या स्थायी कोई भी समझौता करनेका कानूनी अधिकार है । उसने भारत सरकारकी कार्रवाईको "पाकिस्तानके प्रदेशका स्पष्ट अतिक्रमण और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनका भंग" बताया ।

११ नवम्बरको गांधीजीने जूनागढ़के प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण प्रार्थना-प्रवचनमें स्पष्ट किया। उन्होंने कहा: मेरी हमेशा यह राय रही है कि स्वतन्त्र भारतमें सारा देश जनताका है; उसके किसी भी भाग पर राजाओंका **व्यक्तियोंके रूपमें** कोई अधिकार नहीं है । इसलिए प्रजाकी इच्छाके विरुद्ध जूनागढ़के नवाबका पाकिस्तानसे मिल जाना शुरूसे ही नाजायज था । जूनागढ़की प्रजाकी ओरसे किये जानेवाले अस्थायी सरकारके आन्दोलनमें या काठियावाड़की शान्तिरक्षाके लिए संघ-सरकार द्वारा अपनी सेनाकी सेवायें देनेमें कोई "गैर-कानूनी" बात नहीं है । रही बात जूनागढ़के संविलयनके प्रशनकी, तो वह जनमत द्वारा तय किया जायगा ।

तदनुसार फरवरी १९४८ में जनमत लिया गया । मतोंकी गिनतीसे पता चला कि कुल मतोंमें से १,९०,७७९ मत भारतके पक्षमें और केवल ९१ मत पाकिस्तानके पक्षमें पड़े । सच तो यह है कि जूनागढ़की प्रजाके निर्णयके विषयमें कभी कोई प्रश्न ही नहीं था । पाकिस्तानने जनमतका औचित्य स्वीकार नहीं किया और इसे भारत सरकारके विरुद्ध एक शिकायतका विषय बनाये रखा ।

गांधीजीकी यह आशा पूरी नहीं हुई कि जूनागढ़के लोग अवसरके अनुसार ऊंचे उठेंगे और दूसरी रियासतोंके सामने अहिंसक संगठनका उदाहरण उपस्थित करेंगे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे सम्प्रदायवादी समूह, जिनका दिल्ली और अन्य स्थानोंके हत्याकाण्डोंमें काफी हाथ था, काठियावाड़में भी दुर्भाग्यवश पैर जमा चुके थे और जूनागढ़में भी कुछ मारकाट, अग्निकाण्ड और लूटपाट होनेके बाद ही उन्हें काबूमें लाया जा सका। संघ सरकारने तुरन्त कार्रवाई की, परन्तु उसके पहले बुराई हो चुकी थी।

इन घटनाओंके बाद काठियावाड़का मुस्लिम व्यवसायी और व्यापारी समूदाय काफी संख्यामें पाकिस्तान चला गया। वह सिन्धमें बिखर गया। वहां शुरूमें तो अधिकारी इस बातके लिए उत्सुक थे कि गैर-मुसलमान वहीं रहें, क्योंकि व्यवसाय-बुद्धि अधिकतर उन्हींमें थी। यह अन्देशा था कि उनके बिना सिन्धकी अर्थ-व्यवस्था ठप हो जायगी। पर काठियावाड़से आये ये निराश्रित कुशलता और व्यवसाय-बुद्धिमें किसी भी भारतीयकी बराबरी कर सकते थे। इन लोगोंके पहुंचने पर पाकिस्तानी अधिकारियोंमें गैर-मुसलमानोंको रोकनेकी उत्सुकता नहीं रही और सिन्ध प्रान्तसे अल्पसंख्यकोंके निष्क्रमणकी गति तेज हो गई।

अपनी आदतके मुताबिक गांधीजीने काठियावाड़की आरोपित साम्प्रदायिक ज्यादतियोंकी अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें निन्दा करनेमें देर नहीं लगाई। गांधीजीके कुछ मित्रोंने शिकायत की कि मुसलमानोंकी दी हुई अप्रमाणित खबरोंकी सार्वजनिक चर्चा करके आपने पाकिस्तानके हाथमें एक ऐसा साधन दे दिया, जिसका पाकिस्तान भारतीय संघके विरुद्ध प्रचार करनेमें बुरेसे बुरा उपयोग करनेसे नहीं चूकेगा। झूठका खण्डन करने और उसका भंडाफोड़ करनेके पहले उससे असीम हानि हो जायगी।

गांधीजीने उत्तर दिया : मैं इस खतरेसे अनजान नहीं हूं, परन्तु इससे मेरे लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता। "जब जब भी वह उपाय आजमाया गया है तभी वह बुरी तरह असफल सिद्ध हुआ है और उससे सिद्धान्तहीन पक्षकी प्रतिष्ठा घटी है।" [प्रार्थना-प्रवचन, १ दिसम्बर १९४७] यदि

पाकिस्तानके प्रधानमन्त्रीके समर्थनवाले प्रभावशाली पाकिस्तानी अखबारोंमें लगाये गये अभियोगोंकी मैं उपेक्षा करता, तो मेरी उदासीनताका परिणाम यह होता कि मुस्लिम जगत उन खबरोंको वेदवाक्यकी तरह सत्य समझ लेता । "अब उत्तम मुस्लिम सानसको उनके सत्यके विषयमें शंका होने लगी है । . . . हमें यह समझ लेनेकी भूल कभी नहीं करनी चाहिये कि हम कभी कोई भूल नहीं करते । सबसे कटु आलोचक इसलिए कटु होता हैं कि उसे हमारे विरुद्ध कोई न कोई कल्पित अथवा वास्तविक शिकायत होती है । हम उसे सुधार देंगे, यदि हम उसके प्रति धीरज रखेंगे और जब भी अवसर आये उसकी भूल उसे बतायेंगे या अपनी भूल मालूम होने पर हम उसे सुधार लेंगे । . . . वर्तमान अशान्त वायुमंडलमें, जब एक-दूसरे पर आरोप लगाये जाते हैं, मनके लड्डू खाते रहना और यह खयाल कर लेना कि हम कोई गलती नहीं कर सकते, मुर्खता होगी । हमारे लिए ऐसी आनन्दमयी स्थितिका दावा करना अब सम्भव नहीं है । हमारी शोभा इसीमें है कि हम कठोर प्रयत्न द्वारा इस शरारतको अपनेसे अलग कर दें और फिर उसे मिटा दें । . . . प्रकृतिने हमें कुछ ऐसा बनाया है कि हम अपनी पीठको नहीं देखते; उसे देखनेका काम कुदरतने दूसरोंके लिए रखा है । इसलिए जो कुछ वे देखते हैं उससे लाभ उठानेमें हमारी बुद्धिमानी है ।" [वही]

मुसलमानोंको उन्होंने इस प्रकार कहा : अगर आपका उद्देश्य, जैसा कि मैं समझता हूं वह है, काठियावाड़के हिन्दुओं और भारतीय संघको बदनाम करना नहीं है, बल्कि सत्यको प्रकट करना और मुसलमानके जीवन, इज्जत और सम्पत्तिकी रक्षा करना है, तो यह सब पूरी तरह सत्यके पालनसे और उन अनेक हिन्दू मित्रोंके पास जानेसे हो सकता है, जिन्हें हस्ताक्षर-कर्ता लोग जानते हैं । "काठियावाड़के कार्यकर्ताओंमें कोई साम्प्रदायिक राग-द्वेष नहीं है । वे सत्यकी खोज कर रहे हैं और मुसलमानोंके प्रति किये गये प्रत्येक अन्यायकी क्षतिपूर्ति कराना चाहते हैं । उनको मुसलमान अपने जैसे ही प्यारे हैं । कया आप (मुसलमान) इस प्रक्रियामें सहायता देंगे ?" [वही]

जूनागढ़के "अस्थायी नरेश" (आन्दोलनके नेता) को उन्होंने लिखा : "जूनागढ़के बारेमें मुझे जो तार मिला है, वह तुम्हारे पास इस पत्रके साथ भेज रहा हूं। यदि इसमें बताये गये तथ्य सही हैं, तो तुम एक गंभीर दोषके अपराधी हो। इसके विपरीत, यदि तारमें बताये गये आरोप निराधार है, तो मैंने जो कुछ कहा है उसका भी कोई आधार नहीं रह जाता है। मुझे हिन्दुओंके बहुतसे पत्र इस आशयके मिले हैं कि तुम तलवारके सिवा और कोई बात नहीं करते। काठियावाड़की गुत्थी इतनी आसान नहीं जितनी तुम उसे समझते हो। . . . यदि नेतागण स्वार्थ और अहंकारसे मुक्त नहीं होंगे, तो काठियावाड़को कोई लाभ नहीं होगा। स्वराज्य लेना आसान था; उसे टिकाना कहीं ज्यादा कठिन है।" [गांधीजीका पत्र शामलदास गांधीको, ३ दिसम्बर १९४७]

साथ ही उन्होंने अपने दो विश्वस्त कार्यकर्ताओंको काठियावाड़ भेजा। इन कार्यकर्ताओंने बम्बई और काठियावाड़के कार्यकर्ताओंसे मिलकर स्थानीय मुसलमानोंके साथ प्राप्त हुई खबरोंकी चर्चा की और गांधीजीको तार देकर जो कुछ हुआ था उसे स्वीकार किया तथा जो घोर अतिशयोक्ति की गई थी उसका खण्डन किया। इसका स्थानीय मुसलमान नेताओं पर तत्काल असर हुआ। उन्होंने गांधीजीको तार देकर स्वीकार किया कि हमारे पहलेके तारोंमें बहुत अत्युक्ति थी और पाकिस्तानके पत्रोंमें काठियावाड़के विषयमें जो कुछ निकला था वह गलत था : "हमारा तार ऐसी खबरोंका फल था जो अभी तक प्रमाणित नहीं की गई है। . . . हमें इस बातका सन्तोष है कि हानि व्यापक नहीं थी, जैसा शुरूमें हमें भय था। . . . अकल्पनीय अन्याय अथवा अभूतपूर्व अन्यायका कोई प्रश्न नहीं है। कृपया चिन्ता न कीजिये।"

प्रकाशन और प्रचारके गांधीजीके असली तरीकेका यह एक सुन्दर उदाहरण था। उन्होंने इस बोधपाठकी ओर संकेत किया : झूठे प्रचारसे कोई लाभ नहीं होता। "सही बात यह है कि असत्यको जीतनेके लिए सत्य पर विश्वास रखा जाय।" [प्रार्थना-प्रवचन, ५ दिसम्बर १९४७]

'हरिजन' में गांधीजीने लिखा : "जब उपयुक्त अवसर आये तब सत्य बात कहनी ही चाहिये, चाहे वह कितनी ही अप्रिय क्यों न हो । . . . यदि पाकिस्तानके मुसलमानके दुष्कृत्योंको रोकना या बन्द कराना हो, तो संघके हिन्दुओंके दुष्कृत्योंकी घोषणा पुकार पुकार कर करनी होगी ।" [हरिजन, २१ दिसम्बर १९४७, पृ. ४७३]

६

भारतमें अंग्रेजी राज्यके अन्त तक जिन्ना और मुस्लिम लीगने सफलतापूर्वक यह नीति बनाये रखी थी कि "चित भी मेरी और पट भी मेरी"; क्योंकि ब्रिटिश सत्ताकी उपस्थितिने उन्हें राजनीतिक प्रगतिका निषेधाधिकार दे रखा था । इससे वे बहुमतको विवश करके उससे अपनी हरएक मांग पूरी करा लेते थे । लीगके दो राष्ट्रोंके सिद्धान्तके उदय और अन्तकी सारी कल्पना भारतमें अंग्रेजोंकी उपस्थितिसे उत्पन्न अस्वाभाविक परिस्थितिका परिणाम थी । किन्तु जूनागढ़ने बाजी पलट दी ।

जूनागढ़में पाकिस्तानके आक्रमणका कोई औचित्य नहीं था । जूनागढ़में उसका कोई सामरिक अथवा आर्थिक स्वार्थ नहीं था, क्योंकि वह भारतीय प्रदेशके भीतर स्थित था । परन्तु कांग्रेसको – अब भारतीय संघकी सरकारको – अधिकसे अधिक परेशान करनेके प्रत्येक अवसरका उपयोग करनेकी उसकी पुरानी कुटेव अब भी बनी हुई थी । किन्तु अब परिस्थितियां बदल गयी थीं । पाकिस्तानी जुआ कामयाब नहीं हुआ । जब उसने वही खेल काश्मीरमें खेला – क्योंकि उसका दूसरा लक्ष्य वही था –तो उसे लेनेके देने पड़ गये ।

गांधीजीको हमेशा काश्मीरके बारेमें अनिष्टसूचक विचार परेशान करते थे और उसे दोनों देशोंके बीचकी शान्तिके लिए संभाव्य खतरा बननेसे रोकनेका वे भरसक प्रयत्न करते थे । काश्मीर भारत और पाकिस्तान दोनोंसे लगा हुआ था । जूनके मध्यमें ही लॉर्ड माउंटबेटनने काश्मीरके महाराजाको समझानेकी कोशिश की थी कि वे अपनी प्रजाकी इच्छाका पता लगानेके बाद दोनोंमें से किसी एक डोमीनियनके साथ सम्बद्ध होनेका निश्चय कर लें और १५ अगस्तसे

पहले उस निश्चयकी घोषणा कर दें। सरदार पटेलके अधीन रियासती विभागने खुद होकर, लॉर्ड माउंटबेटनके द्वारा, महाराजाको यह आश्वासन दिया कि यदि काश्मीर पाकिस्तानसे सम्बद्ध होनेका निर्णय करेगा, तो संघ-सरकार उसे "अमित्रतापूर्ण कार्य" नहीं मानेगी। [एलन कैम्पबेल-जॉन्सन, 'मिशन विथ माउन्टबेटन', लंदन, १९५१, पृ. १२०]

परन्तु महाराजा निश्चित तारीख तक किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सके। उन्हें निश्चय करनेके लिए अधिक समयकी जरूरत थी। उन्हें केवल यह निर्णय नहीं करना था कि किस देशके साथ उन्हें सम्बद्ध होना चाहिये; उन्हें इससे कहीं अधिक बड़ा निर्णय करना था – "स्वाधीन रहना दोनों देशों और मेरे राज्यके उत्तम हितमें है या नहीं।" [महाराजा हरिसिंहका पत्र लॉर्ड माउन्टबेटनको, २६ अक्तूबर १९४७] यह अनिश्चय उन्हें बहुत महंगा पड़ा।

अधिक समय पानेके लिए महाराजाने सत्ताके हस्तान्तरणसे तीन दिन पहले पाकिस्तानके साथ एक वर्षके लिए यथास्थिति समझौता (स्टैन्डस्टिल एग्रीमेन्ट) किया। उन्होंने ऐसा ही समझौता भारतीय संघसे भी करना चाहा था, परन्तु इस विषयकी बातचीत चल ही रही थी कि पाकिस्तानने "डंडेकी" नीति अपनाकर उन्हें जल्दी निर्णय करनेको मजबूर कर दिया।

काश्मीरके मुख्य संचार-मार्ग पश्चिम पंजाब (पाकिस्तान) में होकर गुजरते थे। इसलिए रोजाना उपयोगका जरूरी माल पाकिस्तान होकर आता था। उसीकी नदियोंके द्वारा वहांकी इमारती लकड़ी भी बाहर जाती थी। इसके अतिरिक्त उसकी डाक-तार और रेल-व्यवस्था पश्चिम पंजाबसे जुड़ी हुई थी और वहींसे संचालित होती थी। यह पश्चिम पंजाब विभाजनके बाद पाकिस्तानका अंग बन गया था।

काश्मीरके साथ यथास्थिति समझौता करनेके थोड़े ही अर्से बाद पाकिस्तानने काश्मीर सरकार पर अपने पक्षमें विलीनीकरणके प्रश्नका निर्णय करानेके लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। इसके लिए वह और चीजोंके साथ साथ अनाज, नमक, चीनी और पेट्रोल जैसी अत्यावश्यक उपयोगकी चीजें काश्मीर जानेसे रोकने लगा। २४ अगस्तको 'डॉन' ने धमकी देते

हुए लिखा : "काश्मीरके महाराजाको यह कह देनेका समय आ गया है कि उन्हें अपना चुनाव कर लेना चाहिये और पाकिस्तानको ही चुनना चाहिये ।" अगर काश्मीर पाकिस्तानके साथ सम्मिलित नहीं होगा, तो "अत्यन्त गंभीर उत्पातका होना अनिवार्य हो जायगा ।"

सितम्बरमें भारतमें ये समाचार पहुंचे कि सीमाप्रान्तके कबायलियोंको जमा करके काश्मीरकी सरहद पर भेजा जा रहा है । अक्तूबरके आरम्भमें हथियारबन्द टोलियां पश्चिम पंजाबके पड़ोसी जिलोंसे काश्मीर राज्यके जम्मू प्रान्तमें घुस गईं । सीमासे लगे हुए जम्मू प्रदेशके स्थानीय निवासी मुख्यतः हिन्दू थे । उन्होंने बदलेकी कार्रवाई शुरू कर दी । इन सरहदी मुठभेड़ोंमें बहुत बड़ी संख्यामें गांव नष्ट हो गये ।

आक्रमणकारी गांवों और कस्बोंको जलाते हुए आगे बढ़े । अन्य अनेक प्रकारके अत्याचार करनेके साथ उन्होंने वहांके निवासियोंकी हत्या की । काश्मीर राज्यकी सेनाको इन आक्रमणकारियोंका अनेक जगहों पर सामना करना था । जल्दी ही इस सेनाको अनेक टुकड़ोंमें बंट जाना पड़ा और उसकी युद्ध करनेकी संगठित शक्ति खतम हो गई । आक्रमणकारी आधुनिक हथियारोंसे सज्ज थे और बहुत कुशल सैनिक अधिकारी उनका मार्गदर्शन कर रहे थे । इसलिए आक्रमणकारी कुछ ही समयमें जम्मू प्रान्तके बहुत बड़े भागमें फैल गये ।

काश्मीर सरकारको लगा कि पाकिस्तानके बढ़ते हुए दबावसे बच कर जीवित रहनेकी एकमात्र संभावना अपनी प्रजाका समर्थन प्राप्त करनेमें है । इसलिए उसने २९ सितम्बरको शेख अब्दुल्ला और काश्मीर नेशनल कान्फरेंसके दूसरे कार्यकर्ताओंको जेलसे रिहा करनेकी आज्ञा दे दी ।

रिहाईके बाद शेख अब्दुल्लाने अपने एक भाषणमें यह घोषणा की : "मेरा पाकिस्तानके नारेमें कभी विश्वास नहीं रहा . . . फिर भी आज पाकिस्तान एक वास्तविकता है । . . . मैं भारतीय देशीराज्य प्रजा परिषद्का अध्यक्ष हूं और उसकी नीति स्पष्ट है । पंडित जवाहरलाल नेहरू मेरे उत्तम मित्र हैं और मुझे गांधीजीके प्रति सच्चा पूज्यभाव है । यह भी सत्य है कि कांग्रेसने

(काश्मीरमें लोकतान्त्रिक सरकारकी स्थापनाके पक्षमें) हमारे आन्दोलनकी बड़ी मदद की है। परन्तु इन सब बातोंके बावजूद मेरा निजी विश्वास दोनोंमें से किसी एक देशके पक्षमें स्वतन्त्र निर्णय करनेके मार्गमें बाधक नहीं होगा। भारत या पाकिस्तातमें शामिल होनेका हमारा चुनाव जम्मू और काश्मीरमें रहनेवाले चालीस लाख लोगोंकी भलाई पर आधारित होगा। और यदि हम पाकिस्तानमें मिल गये तो भी हम दो राष्ट्रोंके सिद्धान्तको नहीं मानेंगे, जिसने इतना अधिक जहर फैलाया है।" [हजारीबाग (काश्मीर) में शेख अब्दुल्लाका भाषण, ३ अक्दूबर १९४७। -- हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड, कलकत्ता, ६ अक्तूबर १९४७]

पाकिस्तान सरकारने सोनेकी चिड़ियाको हाथसे निकलती देखकर अपना दबाव दुगुना कर दिया। इसके फलस्वरूप काश्मीरके प्रधानमन्त्री मेहरचन्द महाजनको १५ अक्तूबरके दिन पाकिस्तानके गवर्नर-जनरलको यह तार भेजना पड़ा :

> १४ अगस्तको जिन मामलों पर सहमति थी उनके बारेमें यथा-स्थिति समझौतेके बावजूद १५ अगस्तसे ही ... कठिनाइयां अनुभवकी जा रही हैं। ये कठिनाइयां न सिर्फ पेट्रोल, तेल, अन्न, नमक, चीनी और कपड़ेके पश्चिम पंजाबसे आनेके सम्बन्धमें हैं, बल्कि डाक-प्रणालीके कामकाजके सिलसिलेमें भी हैं। सेविंग्स बैंकके हिंसाब-किताबका काम करनेसे इनकार कर दिया गया। पोस्टल सर्टिफिकेट भुनाये नहीं गये हैं और पश्चिम पंजाबके बैंकोंके चेक स्वीकारे नहीं गये हैं। लाहौर करंसी आफिससे रुपया न आनेके कारण इम्पीरियल बैंकको भी अपनी जिम्मेदारी निभानेमें कठिनाई होती है। रियासतमें रजिस्टर की गई मोटरें रावलपिंडीमें रोक ली गई हैं। सियालकोटसे जम्मू तकका रेलवे आवागमन बन्द कर दिया गया है।...
>
> मालूम होता है कि पाकिस्तान रेडियोको खुली छूट दे दी गई है कि वह राज्यके विरुद्ध द्वेषपूर्ण, अपमानजनक और झूठे प्रचारका जहर उगलता रहे। छोटे सामन्ती

राज्योंको प्रेरणा दी जाती है कि वे काश्मीर राज्यको धमकियां दें और उसके राजकाजमें सशस्त्र हस्तक्षेप तक करें । . . .

काश्मीर सरकार यह नतीजा निकाले बिना नहीं रह सकती कि यह सब स्थानीय अधिकारियोंकी जानकारी और मूक अनुमतिसे किया जा रहा है । काश्मीर सरकार इन कार्योंको शत्रुतापूर्ण न समझे तो भी अत्यन्त अमित्रतापूर्ण अवश्य मानती है । अन्तमें सरकार स्पष्ट कर देना चाहती है कि इस रवैयेको बरदाश्त करना अब संभव नहीं है । . . .

गवर्नर-जनरल और प्रधानमन्त्रीसे अनुरोध किया जाता है कि वे व्यक्तिगत रूपमें इस मामलेकी जांच करें और जो अन्याय किये जा रहे हैं उन सबको बन्द करायें । दुर्भाग्यवश यदि इस अनुरोध पर ध्यान न दिया गया, तो सरकारको पूरी आज्ञा है कि पाकिस्तानके गवर्नर-जनरल और प्रधानमन्त्री इस बातसे सहमत होंगे कि काश्मीरका मित्रतापूर्ण सहायता मांगना और अपने मौलिक अधिकारोंके अनुचित उल्लंघनका विरोध करना उचित होगा ।

इस अपीलका एकमात्र परिणाम पाकिस्तानको कुपित करनेमें आया । “मित्रतापूर्ण सहायता मांगने” की बातको “धमकी” समझा गया और पाकिस्तानके गवर्नर-जनरल और प्रधानमन्त्रीसे न्यायकी अपील करनेकी बातको “पाकिस्तानके विरुद्ध निराधार आरोप और निन्दा” बताया गया ! जहां तक पाकिस्तानके लोगोंके काश्मीरमें घुसनेकी बात थी, यह कहा गया कि “काश्मीर और पाकिस्तानके बीच लोगबाग साधारण व्यवसायके सिलसिलेमें आते-जाते ही रहते हैं ।” पाकिस्तान सरकारके तारमें आगे कहा गया :

हमें आपकी “सहायता मांगने” की घमकी सुनकर आश्चर्य होता है । शायद आपका अभिप्राय किसी बाहरी सत्ताकी मदद लेनेसे है । किसी बाहरी सत्तासे आपके इस प्रकार हस्तक्षेप करानेका एकमात्र उद्देश्य यह होगा कि मुसलमानोंके दमनकी प्रक्तियाको पूरा

किया जाय, ताकि आप भारतीय संघमें शरीक हो सकें। यह कार्रवाई आपकी रियासतकी ८५ फी सदी आबादीकी घोषित और भलीभांति जानी हुई इच्छाके विपरीत अवैध रूपमें सत्ता छीन लेने जैसी होगी। . . . यदि यह नीति न बदली गई और इस नीति पर चलनेकी जो तैयारियां और सक्रिय कार्रवाइयां इस समय आप कर रहे हैं वे बन्द न की गईं, तो इसके अत्यन्त गंभीर परिणाम होंगे और उनके लिए अकेले आप ही जिम्मेदार होंगे। [काश्मीर सरकारको पाकिस्तान सरकारका तार, १८ अक्तूबर १९४७]

इसके बाद २३ अक्तूबरको सरहद प्रान्तके कबायलियों और पाकिस्तानी सेनाके सिपाहियोंकी बड़ी बड़ी सशस्त्र टोल्यां एबोटाबाद-मंसेराकी तरफसे मुजफ्फराबादमें घुस गईं। ये सिपाही आधुनिक हथियारोंसे पूरी तरह सुसज्जित थे और "छुट्टी पर" बताये गये थे। इनके पास ब्रेनगन, मशीन गन, मोर्टार, बन्दूकें और आग बरसानेवाली तोपें भी थीं। ये लोग लगभग १०० मोटर ट्रकोंमें भर कर आये थे। इन्हें सीमाप्रान्त और पश्चिम पंजाबके राशनवाले कोटेसे पेट्रोल मिला था। वे घाटीसे नीचे उतर कर तेजीसे श्रीनगरकी तरफ आगे बढ़े। रास्ते भर उन्होंने मकानोंमें आग लगाई, हत्यायें कीं, लूट मचाई, स्त्रियोंके साथ बलात्कार किया और उन्हें भगानेकी करतूतें जारी रखीं।

२४ अक्तूबरको दिल्लीमें खबर मिली कि रावलपिंडीकी सड़क पर कबायलियोंको फौजी गाड़ियोंमें ले जाया जा रहा है। २५ अक्तूबरको मुजफ्फराबाद और डोमेल पर हमला करके कोई पांच हजार कबायलियोंने उन पर कब्जा कर लिया; और ये आक्रमणकारी काश्मीरकी राजधानी श्रीनगरसे कोई ३५ मील ही दूर रह गये। राज्यकी सेनामें घबराहट फैल गई। इस संकटका सामना करनेके लिए वह बिलकुल अपर्याप्त थी। इससे एक अत्यन्त नाजुक स्थिति पैदा हो गई थी।

महाराजाने संघ-सरकारसे प्रार्थना की कि तुरन्त हथियार और सेना भेजकर इस संकटसे राज्यको बचाया जाय। परन्तु संघ-सरकारने लॉर्ड माउंटबेटनकी सलाहसे यह फैसला किया कि

जब तक काश्मीर भारतसे सम्बद्ध होकर भारतके लिए अनिवार्य कर्तव्य पैदा न कर दे तब तक काश्मीरमें भारतीय सेना नहीं भेजी जा सकती । रियासती मंत्रालयके सचिव वी. पी. मेनन २५ अक्तूबरको हवाई जहाजसे महाराजाको संघ सरकारका निर्णय सुनाने गये । २६ अक्तूबरको वे काश्मीरके भारतसे सम्बद्ध होनेकी घोषणा करनेवाला महाराजाके नियमित हस्ताक्षरोंवाला पत्र लेकर लौटे ।

सम्बद्ध होनेका पत्र इस प्रकार था : "मेरे राज्यकी वर्तमान परिस्थितिको और महान संकटको देखते हुए मेरे लिए भारतीय संघसे सहायता मांगनेके सिवा कोई चारा नहीं रह गया है । मैंने वैसा ही करनेका निर्णय कर लिया है और आपकी सरकारकी स्वीकृतिके लिए सम्मिलनका दस्ताचेज साथमें संलग्न करता हूं ।"

उसी पत्रमें महाराजाने संघ-सरकारको सूचना दी : "मेरा इरादा तुरन्त ही अन्तरिम सरकार रचनेका और शेख अब्दुल्लासे मेरे प्रधानमन्त्रीके साथ इस संकटमें जिम्मेदारी संभालनेका अनुरोध करनेका है ।"

नेशनल कान्फरेंस और शेख अब्दुल्ला भी इस अनुरोधमें सम्मिलित हुए कि भारत सरकार काश्मीरके सम्मिलनको स्वीकार करे और आक्रमणकारियोंको मार भगानेके लिए सेना भेजें ।

यदि काश्मीरकी सुन्दर घाटीको आक्रमणकारियोंके हाथोंमें पड़ने न देना हो, तो तुरन्त फैसला करना आवश्यक था । उस समय एक एक घंटे महत्त्व था । इसलिए संघ-सरकारने काश्मीरका सम्मिलन स्वीकार करनेका निश्चय किया और यह स्पष्ट कर दिया कि यह स्वीकृति इस शर्त पर दी जाती है कि रियासतकी प्रजा महाराजाके निर्णयका समर्थन करे । संघ-सरकारकी यह भी इच्छा है कि "ज्यों ही काश्मीरमें फिरसे कानून और व्यवस्था स्थापित हो जाय और उसकी भूमिसे आक्रमणकारियोंको खदेड़ दिया जाय, त्यों ही रियासतके सम्मिलनका प्रश्न प्रजासे पूछकर निबटा दिया जाय ।"

२७ अक्तूबरको बड़े सवेरे पहली सिक्ख बटालियनके तीन सौ तीस सैनिकोंकी पहली टुकड़ी कबायलियोंके बड़े हमलेको रोकनेके लिए हवाई जहाजसे भेजी गई । कबायली बारामूला-श्रीनगर सड़क पर तेजीसे आगे बढ़ रहे थे । शाही भारतीय वायुसेनाके साथ लगभग सभी उपलब्ध असैनिक वायुयान काश्मीरमें सैनिक और गोलाबारूद पहुंचानेके काममें लगा दिये गये । सारी कार्रवाई कुछ ही घंटोंमें व्यवस्थित कर ली गई । इस पर माउंटबेटनने कहा बताते हैं कि : "सैनिक कार्रवाईके रूपमें २७ अक्तूबरकी इस उड़ानकी तेजीको देखकर . . . दक्षिण-पूर्वी एशिया कमाण्ड दंग रह गया ।" [एलन कैम्पबेल-जॉन्सन, 'मिशन विथ माउन्टबेटन', लंदन, १९५१, पृ. २३०] जिन्ना तो सचमुच ही दंग रह गये थे ।

चौबीस घंटेकी और देर हो जाती तो सब कुछ खतम हो जाता । भारतीय सेनाके पहुंच जानेसे आक्रमणका ज्वार रुक गया । आक्रमणकारियोंने बारामूला पर पहले ही अधिकार जमा लिया था, जो काश्मीरकी घाटीके प्रवेश-द्वार पर है । मोहोरके बिजली-घरको जला दिया था, जो काश्मीरकी राजधानीको बिजली देता था । कबायली श्रीनगरके पासवाली हवाई जहाजोंके उतरनेकी पट्टीके लिए खतरा बन गये थे । काश्मीरमें वायुयानोंके उतरनेका एकमात्र यही स्थान था, जहां भारतसे हवाई जहाज द्वारा भेजी जानेवाली मदद पहुंच सकती थी ।

इन आक्रमणकारियोंने किसीको नहीं छोड़ा – न हिन्दुओंको, न मुसलमानोंको और न दूसरोंको । उन्होंने बारामूलाके सेन्ट जोसेफ चर्चको नष्ट कर दिया, अस्पतालके सामानको तोड़फोड़ डाला, चर्चकी बड़ी 'मदर' को घायल कर दिया, कई ब्रह्मचारिणियोंके साथ बलात्कार किया और कुछको गोलीसे मार दिया । बारामूलामें नौ दिन तक आतंक-राज्य रहा । आक्रमणकारियोंको लूट और स्त्रियोंकी ही सबसे अधिक चाह थी । इनमें वे व्यस्त ना हो गये होते तो भारतीय सेनाके पहुंचनेसे पहले ही उन्होंने सारे काश्मीरको रौंद दिया होता ।

यह जो सांस लेनेका समय मिल गया उसमें नेशनल कान्फरेंसके कार्यकर्ताओंने हमलावरोंसे बचाव करनेके लिए स्थानीय लोगोंकी एक सेना संगठित कर ली । श्रीनगरमें कोई

प्रशासन नहीं रह गया था । महाराजा परामर्शके अनुसार पहले ही अपने जम्मूके ग्रीष्म-भवनमें चले गये थे । ना कोई फौज थी, न कोई पुलिस थी; बिजली चली गई थी और निराश्रितोंकी बड़ी संख्या मौजूद थी । फिर भी श्रीनगरका कामकाज किसी तरहकी घबराहटके बिना चलता रहा । नेशनल कान्फरेंसके नेताओं और उनके स्वयंसेवकोंने स्थितिको संभाल लिया । सबके खतरेको देखकर काश्मीरके लोगोंने मेल और एकताकी भावनाका ऐसा परिचय दिया कि हालके साम्प्रदायिक भ्रातृवधकी याद एक दुःस्वप्न जैसी बन गई और धर्म-निरपेक्ष राज्यके आदर्शमें भारतीय संघकी श्रद्धा पूरी तरह उचित सिद्ध हुई ।

जल्दी ही आक्रमणकारी पलायन करने लगे । उरी पर फिरसे अधिकार कर लिया गया, पुंछकी घिरी हुई सेनाको मुक्त किया गया और काश्मीरमें युद्ध-विराम होनेके समय तक काश्मीरकी घाटीमें आक्रमणकारियोंके पुनः प्रवेशका खतरा पूरी तरहसे मिट गया ।

पता चला था कि श्रीनगरके पतनके समाचार सुनने पर, जिसकी हर घड़ी आशा की जाती थी, ईदके दिन काश्मीरकी राजधानीमें विजयका प्रवेश करनेके लिए जिन्ना एबोटाबादमें तैयार ही बैठे थे । संघ-सरकारकी हवाई कार्रवाईसे आगबबूला होकर उन्होंने पाकिस्तानी सेनाको काश्मीरमें प्रवेश करनेके आदेश दे दिये थे । किन्तु पाकिस्तानके कार्यवाहक प्रधान सेनापति जनरल ग्रेसीने मामला सर्वोच्च सेनाधिकारी सर क्लॉड आचिनलेकसे इस विषयमें पूछा । उन्होंने जिन्नाको सलाह दी कि महाराजाके अनुरोध पर काश्मीरमें सेना भेजनेमें भारतीय संघने पूरी तरह अपने अधिकारके भीतर रहकर ही कार्य किया है और पाकिस्तानी सेनाको काश्मीरमें भेजनेसे दोनों देशोंमें युद्ध छिड़ सकता है । इसके परिणाम-स्वरूप दोनों ओरसे प्रत्येक अंग्रेज सैनिक अफसरको हटा लेना पड़ता । पर जिन्ना इसके लिए तैयार नहीं थे । इसलिए उन्होंने अपने आदेश वापस ले लिये ।

पाकिस्तान सरकारने काश्मीरके भारतके साथ हुए सम्मिलनको “धोखे और हिंसा” पर आधारित बताकर उसकी निन्दा की । किन्तु २ नवम्बरको लाहौरकी एक सभामें माउंटबेटनने

जिन्नाको बताया कि काश्मीरका सम्मिलन बेशक "बल और हिंसा" पर आधारित था, परन्तु यह बल और हिंसा कबायलियोंकी तरफसे हुई थी – जिसके लिए भारत नहीं, किन्तु पाकिस्तान जिम्मेदार था। "फिर तो यह दलील एक कुचक्रमें फंस गई। . . . जिन्ना यह व्यंग्य करते कि हिंसा भारतने सेनाएं भेजकर की है और माउंटबेटन अपनी इस दलील पर जमे रहते कि हिंसा वहां थी जहां कबायली थे। यही चक्र चलता रहा। अन्तमें जिन्ना माउंटबेटनकी जड़ता पर अपना क्रोध छिपा न सके।" [वही, पृ. २२९]

काश्मीरके कबायली आक्रमणमें अपना कोई भी हाथ होनेसे साफ इनकार करते हुए पाकिस्तान सरकारने कह दिया कि वह कबायलियोंको पाकिस्तानी इलाकेसे गुजरनेसे नहीं रोक सकती। पाकिस्तानके प्रधानमन्त्रीने कहा कि हम काश्मीरसे आक्रमणकारियोंको हटानेमें एक ही तरहसे मदद दे सकते हैं और वह इस तरह कि पाकिस्तानको अपनी सेना काश्मीरमें भेजने दी जाय। परन्तु जब माउंटबेटनने काश्मीरमें भारतीय सेनाकी ताकत बताई और यह बताया कि कुछ ही दिनमें वह कितनी बढ़ जायगी, तब जिन्नाने "सारी बात समेट लेने" [वही] का प्रस्ताव रखा, बशर्ते कि संघ-सरकार दोनों पक्षकी सेनाएं काश्मीरसे तुरन्त और एकसाथ हटा लेनेको तैयार हो। इससे सिद्ध हो गया कि पाकिस्तानके प्रधानमन्त्रीकी इस दलीलको उनका अपना गवर्नर-जनरल भी गंभीर नहीं मानता था कि जब तक पाकिस्तानी सेनाको काश्मीरमें प्रवेश नहीं करने दिया जाय तब तक पाकिस्तान कबायलियोंको काश्मीरसे नहीं हटा सकता।

काश्मीरके भारतके साथ जुड़नेके समय राज्यमें तीनसे दस हजारके बीच गैर-काश्मीरी आक्रमणकारी थे। वर्षके अन्त तक उनकी संख्या राज्यमें ५०,००० हो गई थी। दूसरे १,००,००० पाकिस्तानकी सीमाकी ओर जमा हो रहे थे। उस समय भारत काश्मीरकी रक्षाके लिए लड़नेवाली सेनाके रूपमें १६,००० से कम ही सैनिक मैदानमें भेज सका था।

२५ नवम्बरको भारतीय संसदमें बोलते हुए भारतके प्रधानमन्त्रीने पाकिस्तान पर अभियोग लगाया कि वह जान-बूझ कर रियासतको बलपूर्वक हथिया लेनेके उद्देश्यसे काश्मीर

पर किये गये सुनियोजित और सुसंगठित आक्रमणमें शरीक है । पंडित नेहरूने कहा : "हमारे पास यह साबित करनेके लिए प्रमाण हैं कि काश्मीरके हमलेकी सारी कार्रवाई पाकिस्तान सरकारके ऊंचे अधिकारियों द्वारा जान-बूझ कर संगठित की गयी थी ।"

गांधीजी काश्मीरकी घटनाओंको पीड़ासे भरी दिलचस्पीके साथ देख रहे थे । अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें उन्होंने जोर देकर कहा : मेरी सदा यह राय रही है कि सारे ही राज्योंके सच्चे शासक वहांके लोग हैं । काश्मीरके लोगोंको किसी बाहरी या भीतरी दबाव अथवा बल-प्रदर्शनके बिना इस प्रश्नका निर्णय स्वयं करना होगा । पाकिस्तान सरकार काश्मीरको पाकिस्तानमें मिलनेके लिए दबाती रही है । इसलिए जब महाराजाने संकटमें फंसकर शेख अब्दुल्लाके समर्थनसे संघमें शामिल होना चाहा, तो भारतीय गवर्नर-जनरल इस प्रस्तावको अस्वीकार नहीं कर सके । यदि महाराजा अकेले ही भारतके साथ मिलना चाहते, तो मैं उसका समर्थन नहीं कर पाता । परन्तु हुआ यह कि महाराजा और शेख अब्दुल्ला दोनोंने जम्मू और काश्मीरके लोगोंकी तरफसे बोलते हुए ऐसा चाहा था । शेख अब्दुल्ला इसलिए मैदानमें आये कि उनका दावा केवल मुसलमानका ही नहीं, बल्कि सारे काश्मीरके लोगोंका प्रतिनिधि होनेका था ।

सीधीसादी बात यह थी कि जूनागढ़के मामलेमें पाकिस्तान सरकार पहले यह रुख अपना चुकी थी कि शासकको सम्मिलनके प्रश्नका निर्णय करनेका "पूरा कानूनी अधिकार" है, इसलिए काश्मीरके शासकके अपनी रियासतके विषयमें उसी विशेषाधिकारका उपयोग करने पर पाकिस्तानका एतराज उठाना बालिश ही माना जा सकता था । काश्मीर नेशनल कान्फरेंस सब कौमोंकी सामान्य लोकप्रिय राजनीतिक संस्था थी और काश्मीरमें लोकतान्त्रिक अधिकारोंके लिए संग्राम करती रही थी । महाराजाके अनुरोधमें उसके शरीक हो जानेसे काश्मीरके सम्मिलनको भारत सरकार द्वारा दी गई स्वीकृति पूरी तरहसे वैध हो गई; और उसका पाकिस्तानकी हिमायतसे हुए काश्मीरके कबायली हमलेको पीछे ढकेलनेके लिए सेना भेजना बिलकुल उचित था ।

*

काश्मीरकी रक्षाके लिए वीरतापूर्ण बलिदान देने पड़े । भारतीय सेनाके एक मुसलमान अफसर ब्रिगेडियर उस्मान अपनी फौजकी कमान संभालते हुए बहादुरीसे लड़ते लड़ते खेत रहे। नेशनल कान्फरेंसके एक नौजवान नेता मीर मकबूल शेरवानीने बारामुलामें हमलावरोंके खिलाफ लोगोंको संगठित किया था । जब हमलावरोंने बारामुला पर अधिकार कर लिया, तो उन्होंने शोरवानीको भी पकड़ लिया । उन्होंने शोरवानीसे नेशनल कान्फरेंससे विमुख होकर तथाकथित आजाद काश्मीर सरकारकी वफादारीकी सौगंध लेनेको कहा । उन्होंने केवल इनकार ही नहीं किया, बल्कि गिरफ्तार करनेवालोंके मुंह पर साहसपूर्वक कह दिया कि तुम्हारी यह जीत कुछ ही दिनकी है, क्योंकि भारतीय सेना जल्दी ही बारामूलामें आ पहुंचेगी । उन्हें गद्दार बताकर ईसाकी तरह उनकी हथेलियोंमें कीलें ठोकी गई और उनके शरीरको चौदह गोलियोंसे छेद कर बादमें उनके चेहरेको बिगाड़ कर अंगच्छेद किया गया । परन्तु इस निर्दय हत्याके ४८ घंटोंके भीतर ही शेरवानीकी मरते समयकी भविष्य-वाणी पूरी हुई और पीछा करती आ रही भारतीय संघकी सेनाने हमलावरोंको बारामूलासे बाहर खदेड़ दिया । गांधीजीने शेरवानीकी दृढ़ता और अदम्य साहसकी प्रशंसा करते हुए अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें कहा : “यह एक ऐसी शहादत है, जिसके लिए किसी भी हिन्दू, सिक्ख या मुसलमानको गर्व होगा ।” [प्रार्थना-प्रवचन, १९ नवम्बर १९४७]

७

दोनों गवर्नर-जनरलों और दोनों प्रधानमन्त्रियोंमें काश्मीरके प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका । पाकिस्तान सरकारका आग्रह था कि जनमत-संग्रहके पहले भारतीय सेनाएं काश्मीरसे हटा ली जायं और भारत सरकारकी मांग यह थी कि पहले सारे कबायली हटा लिये जायं ।

आखिरी वक्तकी कोशिशके तौर पर लॉर्ड माउंटबेटनने पंडित नेहरूकी सहमतिसे श्री एटलीको समुद्री तार दिया कि वे तुरन्त हवाई जहाजसे भारत आयें और “व्यक्तिगत मध्यस्थता”

करके संकटको दूर करनेका प्रयत्न करें । परन्तु श्री एटलीने इनकार कर दिया और सुझाया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ इसके लिए "उपयुक्त माध्यम" [एलन कैम्पबेल-जॉन्सन, 'मिशन विथ माउन्टबेटन', लंदन, १९५१, पृ. २५९] है ।

तदनुसार लॉर्ड माउंटबेटनकी सलाहसे भारत सरकारने झगड़ेको संयुक्त राष्ट्रसंघके सामने रखनेका निश्चय किया । पंडित नेहरूने इसे "श्रद्धाका कार्य" कहा । उससे पहलेकी आवश्यक कार्रवाईके तौर पर उन्होंने अपना शिकायती पत्र २२ दिसम्बरको लियाकतअली खांके हाथमें दे दिया ।

गांधीजीको भारत-पाकिस्तानका कोई भी झगड़ा किसी बाहरी संस्थाके सामने ले जाना बहुत पसन्द नहीं था । उन्होंने चेतावनी दी : वह संस्था हमें "बन्दरवाला न्याय" ही दिलायेगी । उन्होंने अपने २५ दिसम्बरके प्रार्थना-प्रवचनमें पूछा : क्या भारतीय संघ और पाकिस्तानको अपने झगड़े निबटानेके लिए हमेशा किसी तीसरे पक्ष पर निर्भर रहना है ? क्या पाकिस्तान और संघके प्रतिनिधि साथ बैठकर काश्मीरका मामला वैसे ही नहीं निबटा सकते, जैसे उन्होंने अन्य कई बातोंमें कर लिया है ? यह न हो सके तो क्या वे अपनेमें से ही अच्छे और सच्चे व्यक्ति नहीं चुन सकते, जो उन्हें रास्ता दिखायें ? इसके लिए पहली जरूरी शर्त है पिछली भूलोंको "खुले और सच्चे दिल" से स्वीकार करना । हार्दिक पच्चात्तापसे अपराधकी तीव्रता घट जाती है और सही समझौतेका रास्ता मिल जाता है ।

चार दिन बाद वे फिर बोले : "क्या पाकिस्तान सरकार और संघ सरकार अपने मतभेद मिटाकर निष्पक्ष भारतीयोंकी सहायतासे किसी मैत्रीपूर्ण समझौते पर नहीं आयेंगी ? अथवा क्या निष्पक्षता भारतसे चली गई है ? मुझे तो विश्वास है कि वह चली नहीं गई है ।"

३० दिसम्बर, १९४७ को भारत सरकारने काश्मीरमें पाकिस्तानके आक्रमणका मामला संयुक्त राष्ट्रसंघकी सुरक्षा परिषद्के समक्ष विधिवत् प्रस्तुत किया । गांधीजीने फिरसे स्पष्ट किया कि उनके अपने विचार इस विषयमें पहले जैसे ही हैं । ४ जनवारीको अपने प्रार्थना-प्रवचनमें

पाकिस्तानसे अपने नासके अनुसार पाक रहनेकी अपील करते हुए गांधीजीने कहा : हिन्दू और मुसलमान दोनोंने निर्दय कृत्य किये हैं और गंभीर भूलें की हैं । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह पागल दौड़ जारी रहे और अन्तमें इसका परिणाम युद्धमें आये । मैं चाहता हूं कि दोनों कौमोंके बीच मेल और सद्भाव रहे, ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघके समक्ष रखा गया भारतीय संघका आवेदन गौरवके साथ वापस लिया जा सके । मेरा विश्वास है कि स्वयं संयुक्त राष्ट्रसंघ भी इसका स्वागत करेगा । किन्तु मुख्य बात वास्तविक हृदय-परिवर्तनकी है । समझौता सच्चा होना चाहिये । मनमें द्वेषभाव रखना युद्धसे भी बुरा होगा ।

धर्म-निरपेक्ष राज्यके आदर्शसे सम्बन्धित भारतीय संघकी लड़ाईमें काश्मीरके सम्मिलनका प्रश्न निर्णायक तत्व बन गया । गांधीजीने इसका उपयोग भारतीय जनताको यह समझानेमें किया कि हममें फिरसे समझदारी और सयानपन आना चाहिये । आज हमने समझदारीको जैसे कुछ समयके लिए तिलांजलि दे दी है । काश्मीरके अनेक मार्ग पाकिस्तानमें होकर गुजरते है । एक तंग पटरी काश्मीरको पूर्व पंजाब (भारत) से जोड़ती है । यदि मुसलमान पूर्व पंजाबमें रहनेकी तो बात दूर, वहांसे सकुशल गुजर भी न सकें, तो काश्मीरका भारतीय संघसे व्यापार कैसे हो सकता है ? मैं आपसे कहे देता हूं कि अगर पूर्व पंजाबमें पागलपन जारी रहा, तो काश्मीरका भारतीय संघसे सम्बद्ध होना व्यर्थ हो जायगा । किन्तु मुझे आशा है कि पूर्व पंजाबको फिरसे सन्मति सूझेगी । [प्रार्थना-प्रवचन, २७ नवम्बर १९४७]

दूसरे दिन, २८ नवम्बरको, गुरु नानकका जन्मदिन था । गांधीजीसे हिन्दू-सिक्खोंके एक विराट् समारोहमें उपस्थित होनेको कहा गया । किन्तु उन्हें संकोच होता था; क्योंकि सिक्ख उस नेक सलाहसे नाराज बताये जाते थे, जो गांधीजी समय-समय पर उन्हें दे चुके थे । परन्तु सिक्खोंके प्रतिनिधियोंने आग्रह किया । जब उन्होंने कहा कि हम सभामें भाषण देनेके लिए शेख अब्दुल्लाको भी अपने साथ लाये हैं, तो गांधीजीको बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि जब पंजाबमें हिन्दुओं और मुसलमानोंके सम्बन्ध टूटनेकी हद तक बिगड़ चुके हैं, तब पश्चिम पंजाबसे आये हुए सिक्खोंकी सभामें शेख अब्दुल्लाको कैसे लाया जा सकता है ? परन्तु

गांधीजीको यह जानकर साश्चर्य प्रसन्नता हुई कि वे शेख अब्दुल्लाकी बातें एक ऐसे व्यक्तिके नाते सुननेको अत्यन्त उत्सुक थे, जिसने काश्मीरमें हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खोंके बीच मेल कराया था। इस तरह सभामें दोनोंके भाषण हुए और उनकी बात बहुत ध्यानसे सुनी गई।

*

काश्मीर भी साम्प्रदायिक उपद्रवोंके भीषण अनुभवोंसे बच नहीं सका। अक्तूबर १९४७ में पंजाबमें जो भारी उथल-पुथल हुई, उसके बाद जम्मूसे बाहर जानेवाले मुस्लिम हिजरतियों पर गैर-मुसलमानोंने आक्रमण किये और उनकी हत्यायें कीं। इन आक्रमणकारियोंको कभी-कभी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा मार्गदर्शन मिलता था। इन हत्याओंमें राज्यकी सेनाने बड़ा निन्दनीय भाग लिया। जब गांधीजीको इसका पता लगा तो वे बोले : सर्वसत्ताधारी शासक होनेके नाते महाराजा ऐसी घटनाओंके दायित्वसे मुक्त नहीं किये जा सकते। वे सत्ताको संभालनेके लिए अयोग्य हैं। इसलिए या तो वे राजगद्दी छोड़ दें या "ब्रिटिश राजाकी तरह" केवल नामके ही राजा रहें; कानून और व्यवहार दोनों दृष्टिसे राज्यकी पूरी सत्ता जनताके सच्चे प्रतिनिधियोंके हाथोंमें सौंप दी जानी चाहिये।

> संविलयनका दस्तावेज तो पहले जैसा था वैसा ही रहता है। उससे राजाको या तो कुछ अधिकार मिलते हैं या उसके लिए सुरक्षित रहते हैं। मैंने एक स्वतन्त्र व्यक्तिकी हैसियतसे यह सलाह देनेका साहस किया है कि महाराजाको अपने अधिकार छोड़ देने चाहिये या कम कर देने चाहिये और एक हिन्दू राजाके पदसे सम्बन्धित कर्तव्यका पालन करना चाहिये। यदि तथ्योंके सम्बन्धमें मेरी भूल हो, तो उसे सुधार देना चाहिये। यदि हिन्दू धर्म और हिन्दू राजाके कर्तव्यकी कल्पनामें मेरी भूल हो, तो मेरी बात न सुनी जाय। [प्रार्थना-प्रवचन, २९ दिसम्बर १९४७]

भारत सरकारके कुछ सदस्योंको शेख अब्दुल्लाके अन्तिम उद्देश्योंके बारेमें अविश्वास था। उनका यह विचार था कि काश्मीरकी परिस्थितियोंके स्थिर हो जानेसे पहले गांधीजीकी सलाह

पर अमल करनेमें बहुत बड़ा राजनीतिक खतरा है । मौजूदा परिस्थितियोंमें महाराजा पर विश्वास करना अधिक सुरक्षितताकी बात होगी । इससे मंत्रि-मंडलके भीतर काफी तनाव पैदा हो गया था । स्वयं गांधीजी भी आशंकाओंसे मुक्त नहीं थे । परन्तु उनका कहना था कि खतरा कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसके डरसे अपना सिद्धान्त छोड़नेकी अपेक्षा उसके लिए सब-कुछ दाव पर लगा देना कहीं

अच्छा होगा ।

> यदि शेख अब्दुल्ला मंत्रि-मंडलके मुखियाकी हैसियतसे अथवा एक धर्मनिष्ठ मुसलमानकी हैसियतसे अपने कर्तव्य-पालनमें चूक रहे हैं, तो उन्हें जरूर हट जाना चाहिये और किसी अधिक अच्छे व्यक्तिको अपनी जगह दे देनी चाहिये । काश्मीरकी भूमि पर ही इस्लाम और हिन्दू धर्मकी कसौटी हो रही है । यदि दोनों धर्म एक ही दिशामें अपना सही वजन डालें, तो मुख्य पात्र गौरवशाली सिद्ध होंगे और उनका सम्मिलित गौरव उनसे कोई छीन नहीं सकेगा । मेरी एकमात्र आशा और प्रार्थना यह है कि काश्मीर इस अन्धकारमें डूबे हुए उप-महाद्वीपके लिए प्रकाश-स्तम्भका काम करे । [वही]

महाराजाके साथ पूर्ण न्याय करनेके मामलेमें गांधीजी स्वयं काश्मीरके नेताओंसे भी ज्यादा दृढ़ थे और वे अन्त तक उसके लिए जी-जानसे लड़ते रहे ।

*

पाकिस्तानके नेता भारतीय संघके काफिरोंके खिलाफ जिहाद चलानेके लिए काश्मीरके प्रशनका अनुचित लाभ उठाते रहे; और उन्होंने कबायलियोंको इस जिहादमें शरीक होनेका खुला निमन्त्रण दिया ।

लाहौरसे एक व्यक्तिने, जो स्वयंको काश्मीर फ्रीडम लीगका अध्यक्ष कहता था, गांधीजीको लिखा कि चूंकि दोनों देशोंके बीचके तनावका मूल कारण काश्मीर है, इसलिए

"आक्रमणकारी" भारतीय सेनाको काश्मीरसे हटा लेने और "जिस किसीका वह सच्चे अर्थमें हो उसे" काश्मीर सौंप देनेसे दोनों देशोंमें फिरसे मेल होनेमें सहायता मिलेगी और आपकी अत्यंत प्रिय हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी स्थापनाका रास्ता साफ हो जायगा ।

इस प्रस्तावके भोलेपनसे गांधीजीको चोट पहुंची । किसी सिद्धान्तको हानि पहुंचाकर उदार बनना उन्होंने कभी नहीं सीखा था । उनकी अहिंसा थोड़ी कठोर प्रकारकी थी । उसमें दूसरोंको हानि पहुंचानेवाली विशाल-हृदयता दिखानेकी गुंजाइश नहीं थी । जहां नैतिक प्रश्न खड़ा होता वहां उनकी अहिंसा सर्जनके चाकूकी तरह निर्दय हो सकती थी । जो भी गांधीजीके सम्पर्कमें आता था, वह इस बातको जानता था । संसारके आग्रही लोगोंको इसका पता लग गया और अन्तमें उन्होंने इसके लिए गांधीजीका आभार माना ।

क्या काश्मीरके प्रश्नका निबटारा होने तक मुसलमान हिन्दुओं और सिक्खोंको और हिन्दू तथा सिक्ख मुसलमानोंको अपने "शत्रु" समझते रहेंगे ? यह प्रश्न गांधीजीने २० जनवरी, १९४८ की शामको पूछा । भारतीय संघकी सेना अपने मनसे काश्मीरमें नहीं घुसी है; वह रियासतके राजा और काश्मीरी मुसलमानोंके नेताओंके बुलानेसे वहां गई है । "जब आक्रमणकारी, कबायली और दूसरे लोग वहांसे हट जायेंगे और मामलेको पुंछ तथा शेष काश्मीरके विद्रोहियोंके हाथों किसी बाहरी मददके बिना तय करनेको छोड़ देंगे, तब भारतीय सेनाको काश्मीरसे हटनेके लिए कहनेका समय आयेगा ।"

गांधीजीने आगे कहा : यह सुझाव बिलकुल ठीक है कि काश्मीर उसीको मिलना चाहिये, जिसका वह सच्चे अर्थमें हो । तो काश्मीरके अधिकारपूर्ण स्वामी कौन हैं ? महाराजा तो हैं ही और भारत सरकार उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती । अन्तमें तो अपने भाग्यका निर्णय करना काश्मीरके लोगोंका काम है । इसीलिए भारत सरकारने इकतरफा फैसला कर दिया है कि ज्यों ही आवश्यक परिस्थितियां पैदा हो जायं त्यों ही प्रजाकी इच्छाका पता लगा लिया जाय ।

कुछ लोगोंके पास सब रोगोंकी एक ही रामबाण औषधि थी । वे आक्रमणसे पैदा होनेवाली प्रत्येक कठिनाईके लिए विभाजनका गढ़ा-गढ़ाया हल तैयार रखते थे । हां, अपने खुदके देशमें वे इसे लागू नहीं करते थे । उन्होंने सुझाया कि भारतके विभाजनके ढंग पर काश्मीरका भी विभाजन कर दिया जाय और मुख्यतः हिन्दू आबादीवाला जम्मू भारतको दे दिया जाय और काश्मीर घाटी पाकिस्तानको दे दी जाय । गांधीजीने काश्मीरके विभाजनकी बातको "बेतुकी" बताते हुए अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें रोष-पूर्वक पूछा : क्या भारतके दो टुकड़े हो गये, यह काफी नहीं ? हम इसे असम्भव मानते थे कि जिस देशको ईश्वरने एक बनाया है उसका मनुष्य विभाजन कर सकता है । फिर भी ऐसा हो गया और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीस दोनोंने, अपने अपने कारणोंसे ही सही, उसे स्वीकार कर लिया । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विभाजनकी प्रक्रियाका और विस्तार किया जाय । यदि काश्मीरका बंटवारा होना है, तो दूसरी रियासतोंका भी क्यों न हो ? यह सिलसिला कहां जाकर बन्द होगा ?

जनवरी १९४८ के अन्तिम सप्ताहमें 'दि न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' के प्रतिनिधि श्री किंग्सले मार्टिन गांधीजीसे दिल्लीमें मिले । और और बातोंके साथ उन्होंने काश्मीरके विभाजनकी भी गांधीजीसे चर्चा की । उन्होंने पूछा : (१) पुंछ पाकिस्तानको दे देना अव्यावहारिक क्यों है ? और (२) क्या "पंच फैसला" भारत और पाकिस्तानके बीच सीमायुद्धको टालनेका एक साधन नहीं हो सकता, जिसका कभी अन्त नहीं होगा ? गांधीजीने उनसे कहा : ऐसी किसी बातसे दूसरोंके लिए बहुत बुरी मिसाल कायम होगी । हर प्रदेशमें ऐसी विशेष आबादीवाले स्थान (पॉकेट) हैं । उदाहरणके लिए, पूर्व पाकिसतानकी सरहद पर पश्चिम बंगालमें मुर्शिदाबाद है । काठियावाड़का उदाहरण भी है । भारतीय संघ और पाकिस्तानकी नीतिमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि भारतीय नेताओंका भारतका अंग-भंग करनेमें कभी विश्वास नहीं था, जब कि पाकिस्तानी नेताओंका था । पाकिस्तान जूनागढ़को अपनेमें मिलाकर काठियावाड़का अंग-भंग करना चाहता था । काठियावाड़ अविभाज्य था, इसलिए उसका अंग-भंग अकल्पनीय था । विभाजनका सारा आधार ही गलत है । इसलिए मैंने काश्मीरके विभाजनके विचारके लिए बहुत दृढ़तासे 'नहीं' कह

दिया था, जब दो "नामांकित आदमियों" ने उसे मेरे सामने रखा था। [हरिजन, २० जुलाई १९४८, पृ. १४३-४४] मैं तो न केवल भारतमें परन्तु पाकिस्तानमें भी हिन्दुओं और मुसलमानोंकी "हार्दिक एकता" के लिए काम करनेके पक्षमें हूं और इस दिशामें अपने प्रयत्न जारी रखूंगा।

इस पर ठीका करते हुए किंग्सले मार्टिनने बादमें लिखा : "गांधीके प्रति मेरे प्रेम और उनके महापुरुष होनेके मेरे ज्ञानको इस शोधसे हानि नहीं पहुंची है कि वे अभी तक हिन्दू राष्ट्रवादी हैं और महात्माके अपूर्ण शिष्य हैं।" [दि न्यू स्टेट्समैन एन्ड नेशन, लंदन, ३० अप्रैल १९४९, पृ. ४५२] इसके पीछे यह सूक्ष्म धारणा थी – शायद अनजाने ही – कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं। काश्मीरकी घाटीमें मुसलमानोंका बहुमत है और इसलिए "प्राथमिक न्याय" की दृष्टिसे उस पर पाकिस्तानका "अधिकार" है ! तो फिर भारतके चार करोड़ मुसलमान और वे कई लाख गैर-मुसलमान, जो अब भी पाकिस्तानमें हैं, किस राष्ट्रके हैं ? जैसा इस ग्रन्थमें सिद्ध किया गया है, दो राष्ट्रोंका सिद्धान्त विभाजनके आधारके रूपमें कभी स्वीकार ही नहीं किया गया था। ऐतिहासिक दृष्टिसे वह एक असत्य था; सैद्धान्तिक दृष्टिसे वह एक राक्षसी कृत्य था।

संयुक्त राष्ट्रसंघके हाथमें काश्मीरका मामला सौंपनेके बारेमें गांधीजीकी आशंका जल्दी ही सही साबित हो गई। कई बार इनकार और टालमटोल करनेके बाद पाकिस्तानको अन्तमें विवश होकर यह मानना पड़ा कि उसकी सेनाने काश्मीरके आक्रमणमें भाग लिया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ आयोगने अपना यह मत व्यक्त किया कि काश्मीरकी भूमि पर पाकिस्तानने भारतकी प्रभुसत्ताका उल्लंघन किया है। परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघने पाकिस्तानको "आक्रमणकारी" नहीं "कहा"।

पाकिस्तानने भारतके खिलाफ कई शिकायतें दायर कीं। इनमें प्रयत्न-पूर्वक "जाति-विनाश" (जेनो साइड) करनेकी भी एक शिकायत थी। इन शिकायतोंको भारतकी शिकायतके समकक्ष रखा गया और अन्तमें पाकिस्तान "पीड़ित" पक्षके रूपमें सामने आया। संयुक्त

राष्ट्रसंघमें ब्रिटिश प्रतिनिधिने अंग्रेजों और मुस्लिम लीगकी गुटबन्दीकी पुरानी ब्रिटिश परम्पराके अनुसार पाकिस्तानका पक्ष लिया और भारतको अभियुक्तके कटघरेमें रख दिया ।

८

जब कबायलियों द्वारा काश्मीर पर किया गया आक्रमण अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया और योग्य सैनिक अफसरोंके मार्गदर्शनमें अफ्रीदी तथा वैसे ही अन्य लोगोंकी आक्रमणकारी सेना रास्तेके सारे गांवोंको जलाती और लूटती हुई श्रीनगरकी दिशामें आगे बढ़ रही थी, उस समय अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें गांधीजीने कहा : यह विश्वास करना कठिन है कि यह आक्रमण पाकिस्तान सरकारके किसी न किसी तरहके प्रोत्साहनके बिना हो सकता है । [प्रार्थना-प्रवचन, २९ अक्तूबर १९४७] मैं इस नतीजे पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि पाकिस्तान सरकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें इस आक्रमणको प्रोत्साहन दे रही है । कहा जाता है कि सीमाप्रान्तके मुख्यमंत्रीने इस आक्रमणको खुला बढ़ावा दिया है और इस्लामी दुनियासे सहायताकी अपील भी की है । अतः संघ-सरकारके लिए जल्दीसे श्रीनगर सेना भेजकर उस सुन्दर नगरको बचाना उचित ही है । यदि थर्मापलीके स्पार्टनोंकी तरह छोटीसी संघसेना बहादुरीसे काश्मीरकी रक्षा करते हुए मर मिटे, तो मैं एक भी आंसू नहीं बहाऊंगा । अगर शेख अब्दुल्ला और उनके मुसलसान, हिन्दू और सिक्ख साथी काश्मीरको बचानेमें अपने-अपने कर्तव्यके स्थान पर मर जायं, तो उसकी भी मैं परवाह नहीं करूंगा । यह शेष भारतके लिए एक गौरवपूर्ण उदाहरण होगा। इससे भारतके लोग यह भूल जायंगे कि हिन्दू, मुसलसान और सिक्ख कभी एक-दूसरेके शत्रु थे।

गांधीजीने काश्मीरकी रक्षाके लिए सेना भेजनेकी भारतीय संघ-सरकारकी कार्रवाईकी प्रशंसा की, इससे कुछ लोगोंको बड़ा आघात लगा । उनके इस उपदेशको कि काश्मीरकी धरतीसे आक्रमणकारियोंका सफाया करनेमें रक्षकोंका एक-एक आदमी मर मिटे किन्तु झुके नहीं, “चर्चिलवाद” तक कहा गया । यह कहा गया कि जब चर्चिल, हिटलर, मुसोलिनी और

जापानियोंके लिए सब-कुछ गंवा देनेकी संभावना खड़ी हो गई थी, तब उन्हें तो गांधीजीने अपनी अहिंसाकी कार्य-प्रणाली अपनानेकी सलाह दी थी । लेकिन कांग्रेसी सरकारके अपने मित्रोंको उन्होंने वही सलाह क्यों नहीं दी, जब इन मित्रोंने अहिंसाको तिलांजलि देकर काश्मीरके लिए सशस्त्र सहायता भेजी ? क्या यह दूसरोंको हानि पहुंचा कर सदाचारी और सद्गुणी बननेकी बात नहीं हुई ?

गांधीजीने उत्तर दिया : दोनों ही सूरतोंमें मैंने अहिंसा-धर्मका कोई भंग नहीं किया है । मेरी अहिंसा जहां श्रेय देना चाहिये वहां श्रेय देनेसे मुझे मना नहीं करती, भले ही जिस व्यक्तिको श्रेय देना पड़े वह हिंसाको माननेवाला ही क्यों न हो । [प्रार्थना-प्रवचन, ११ नवम्बर १९४७]

इसी प्रकार उन्होंने नेताजी सुभाष बोसकी देशभक्ति, सूझ-बूझ और वीरताकी प्रशंसा करनेमें संकोच नहीं किया था, यद्यपि वे श्री बोसके हिंसक उपायोंको पसन्द नहीं करते थे । १९२१ में ही गहरे विचारके बाद गांधीजी इस निर्णय पर पहुंच चुके थे कि अहिंसामें विश्वास रखनेवाला इस बातके लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होता है कि किसी भी वस्तुकी रक्षाके लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें हिंसा या शरीर-बलका आश्रय नहीं लेगा, परन्तु इस कारण उसका उन मनुष्यों या संस्थाओंकी सहायता करना निषिद्ध नहीं हो जाता, जो स्वयं अहिंसा पर आधारित नहीं हैं :

> बात इससे उलटी हो तो, उदाहरणार्थ, स्वराज्य-प्राप्तिके लिए भारतकी सहायता करना मेरे लिए निषिद्ध होगा, क्योंकि मुझे निश्चित रूपमें मालूम है कि स्वराज्यमें भारतकी भावी संसद कुछ सेना और पुलिस रखेगी; अथवा एक घरेलू दृष्टान्त लें तो मैं अपने पुत्रको न्याय प्राप्त करनेमें मदद नहीं दे सकता, अगर वह सचमुच अहिंसामें विश्वास रखनेवाला नहीं है । . . . मेरा काम स्वयं कोई भी हिंसा करनेसे बचना है और समझा-बुझा कर तथा सेवाके द्वारा ईश्वरकी अधिकसे अधिक सृष्टिको अपने इस विश्वास और आचरणमें शरीक करना है । [यंग इंडिया, १ जून १९२१, पृ. १७३]

जब दोनों पक्ष हिंसामें विश्वास करते हों तब भी अकसर न्याय एक पक्ष या दूसरे पक्षकी ओर होता है । उदाहरणार्थ, किसी मनुष्यको लूटा गया हो तो न्याय उसके पक्षमें होता है, भले ही वह अपनी गयी हुई सम्पत्तिको फिरसे बलपूर्वक प्राप्त करनेकी तैयारी कर रहा हो । गांधीजीने कहा: "ऐसे मनुष्यों अथवा कदमोंको, जो अहिंसाके सिद्धान्तके सर्वथा अनुकूल न हों", [वही] मैं न्यायसंगत ध्येयमें सहायता देनेसे इनकार करूं, तो मैं अपनी श्रद्धाके प्रति झूठा सिद्ध हूंगा । एक और अवसर पर गांधीजीने कहा कि यद्यपि सब प्रकारकी हिंसा बुरी है और सिद्धान्त रूपमें उसकी निन्दा करनी चाहिये, फिर भी "अहिंसामें विश्वास रखनेवाले व्यक्तिके लिए यह विहित ही नहीं परन्तु कर्तव्यरूप भी है कि आक्रामक और रक्षकमें वह भेद करें . . . (और) अहिंसक ढंगसे रक्षकका पक्ष ले ।" [हरिजन, २१ अक्तूबर १९३९, पृ. ३०९]

दूसरे महायुद्धके शुरू हो जानेके बाद गांधीजीसे पूछा गया : यदि युद्ध अपने आपमें बुरा हो तो आप आक्रमणके विरुद्ध लड़े जानेवाले लोकतांत्रिक राष्ट्रोंके युद्धको अपना नैतिक समर्थन कैसे प्रदान कर सकते हैं ? एक क्षणके लिए भी संकोच अनुभव किये बिना उन्होंने जवाब दिया: "मैं युद्धमात्रको बिलकुल अनुचित मानता हूं । परन्तु यदि हम लड़नेवाले दोनों दलोंके हेतुओंकी छानबीन करें, तो हमें एक दल सही और दूसरा गलत मालूम हो सकता है । उदाहरणके लिए, 'क' यदि 'ख' के देशको हथियाना चाहता है, तो स्पष्ट है कि 'ख' पीड़ित पक्ष है । दोनों हथियारोंसे लड़ते हैं । अब मेरा हिंसक युद्धमें विश्वास नहीं है, फिर भी 'ख' का पक्ष न्यायसंगत होनेके कारण वह मेरी नैतिक सहायता और शुभ कामनाका पात्र है ।" [हरिजन, १८ अगस्त १९४०, पृ. २५०]

दो वर्ष बाद गांधीजीने फिर लिखा : "मेरा युद्ध-विरोध इस हद तक नहीं जाता कि जो उसमें भाग लेना चाहते हों उन्हें मैं विफल बनाऊं । मैं उन्हें समझाता हूं । मैं उनके सामने ज्यादा अच्छा मार्ग रखता हूं और चुनावके लिए उन्हें स्वतंत्र छोड़ देता हूं ।" [हरिजन, १८ जनवरी १९४२, पृ. ४]

काश्मीरके मामलेमें गांधीजीको काश्मीरियोंकी सहायताके लिए संघ-सरकारका शस्त्र-प्रयोग करना या काश्मीरियोंका हथियारोंका आश्रय लेना पसन्द नहीं था । परन्तु इसी कारण वे उनकी देशभक्ति, सूझ-बुझ और हिम्मतकी तारीफ किये बिना नहीं रह सकते थे । उन्होंने कहा: इस विषयमें मुझे कोई शंका नहीं कि यदि कष्ट-निवारण करनेवाली सेना और काश्मीरी रक्षक दोनों ही बहादुरीसे लड़ते-लड़ते मारे जायं, तो "शायद " इससे भारत-का नकशा बदल जायगा; परन्तु यदि यह रक्षा मन और कर्मसे पूरी तरह अहिंसक हो, तो मुझे "शायद" शब्दका भी उपयोग न करना पड़े । "कारण, तब तो काया-पलट निश्चित ही होगा – पाकिस्तानका मंत्रि-मण्डल न हो तो भी संघका मंत्रि-मंडल तो रक्षकोंके विचारका हो ही जायगा ।" [प्रार्थना-प्रवचन, ५ नवम्बर १९४७]

बेगम अब्दुल्ला अपने पतिकी रिहाईके बाद दिल्ली आईं उस समय उन्होंने गांधीजीकी मंडलीके एक सदस्यको अपने साथ काश्मीर चलनेका निमंत्रण दिया । गांधीजीने उनसे कहा : मुझे इससे ज्यादा खुशी और क्या हो सकती है कि इस साथीसे शुरू करके काश्मीरवाले अपनी एक ऐसी अहिंसक सेना बना लें, जो "शस्त्र-प्रयोगके बिना आक्रमणकारियोंकी ताकतका सामना करें और आक्रमणकारियोंका भय और उनके प्रति रोष न रख कर अपने कर्तव्यके स्थान पर मर मिटें । इस यत्नमें यदि वे अपने घूंसेका भी प्रयोग न करें, तो वीरताका ऐसा प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित होगा जिसकी इतिहासमें आज तक कोई मिसाल नहीं देखी गई होगी ।" फिर तो काश्मीर "एक पवित्र भूमि बन जायगा, जो अपनी सुगंध भारतमें ही नहीं, सारी दुनियामें फैलायेगा।"

इस प्रकार उन्होंने अपने मित्रोंको – काश्मीरके नेताओं और संघके मंत्रि-मंडलके सदस्योंको – जो सलाह दी वह किसी भी प्रकार उस सलाहसे भिन्न नहीं थी, जो वे चर्चिल, हिटलर, मुसोलिनी और जापानियोंको दे चुके थे – अर्थात् यह कि जिनमें आक्रमणकारियोंका प्रतिकार करते हुए बच्चे बच्चे तक मर मिटनेका साहस और दृढ़ संकल्प हो, वे अपने साहस और

संकल्पका उत्तम उपयोग यही कर सकते हैं कि अपने हृदयोंमें क्रोध या प्रतिशोधकी भावना न रख कर बिना झुके मर मिटनेको तैयार हों ।

परन्तु गांधीजी यह श्रद्धा न तो काश्मीरी नेताओंमें जगा सके, और न भारतीय संघकी सरकारके अपने कांग्रेसी मित्रोंमें । जिनमें यह श्रद्धा नहीं थी उन पर अपने विचार लादना उन्हें पसंद नहीं था । लोगोंको जबरन् अहिंसक नहीं बनाया जा सकता । जैसा गांधीजी कई बार समझा चुके थे, अहिंसा उस व्यक्तिको नहीं सिखाई जा सकती, जो मरनेसे डरता है और प्रतिकारकी शक्ति नहीं रखता । "वह अहिंसाको समझ सके, इससे पहले उसे यह सिखाना होगा कि जब आक्रमणकारी उस पर हावी होनेकी आशा रखता हो तब भी वह अटल रहकर अपनी रक्षाके प्रयत्नमें मरनेको तैयार रहे । इसके विपरीत व्यवहार करना उसकी कायरता पर मुहर लगा कर उसे अहिंसासे और भी दूर ले जाना होगा । मैं बदला लेनेमें उसकी प्रत्यक्ष सहायता नहीं कर सकता, लेकिन मुझे किसी कायरको तथाकथित अहिंसाकी आड़ भी नहीं लेने देना चाहिये ।" [हरिजन, २० जुलाई १९३५, पृ. १८०]

गांधीजीका युद्ध-सम्बन्धी बुनियादी रवैया बदला नहीं था । वे काश्मीरमें या और कहीं भी युद्धके लिए राजी नहीं हुए थे । वे **जानते थे** कि शस्त्र-बलकी अपेक्षा अहिंसा अधिक **परिणामकारी** है । वे अपने अहिंसाके शस्त्रको पूर्ण बनानेमें लगे हुए थे । उस शस्त्रकी क्षमता स्वातंत्र्य-संग्राममें तो प्रत्यक्ष रूपसे सिद्ध हो ही चुकी थी; परन्तु जो कर्तव्य इस समय उसके सामने था उसके लिए उसे फिरसे चमकाना और उसका पुनर्परीक्षण करना – उसे नया रूप देना भी आवश्यक था । उन्हें जरा भी शंका नहीं थी कि इस शस्त्रको नया रूप देनेका काम सफलतापूर्वक किया जा सकता है । इस संबंधमें उनके मनमें एक योजनाकी रूपरेखा भी बन रही थी । परन्तु इस बीच वे – संघ-सरकार और काश्मीरके लोग – क्या करें, जब कि आक्रमण उन पर हावी होने जा रहा था? गांधीजीकी अहिंसाका तत्त्वज्ञान बुराईका विरोध पूरी ताकतके साथ करनेके कर्तव्यसे बचनेका कोई मार्ग नहीं दिखाता था । दोनोंके लिए कुछ न कुछ करना अनिवार्य हो गया था ।

गांधीजीने स्वीकार किया कि अपने कांग्रेसी साथियों पर उनका पहले जैसा प्रभाव नहीं रहा है । वे अपनी असमर्थताको स्वीकार करके कहते थे कि मेरे शब्दमें वह शक्ति नहीं है जो स्वयं पर सम्पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करनेवालेको प्राप्त होती है और जिसका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायकी अंतिम पंक्तियोंमें किया गया है । जो श्रद्धा मुझमें है उसे अपने साथियोंमें जागृत करनेके लिए आवश्यक तपश्चर्याका मुझमें अभाव है । अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें गांधीजीने कहा : मैं तो प्रार्थना ही कर सकता हूं और दूसरोंको अपने साथ यह प्रार्थना करनेके लिए निमंत्रित करता हूं कि ईश्वर मुझे वह अनिवार्य गुण प्रदान करनेकी कृपा करे । [प्रार्थना-प्रवचन, ५ नवम्बर १९४७]

उन्होंने भारतीय सरकार अथवा कांग्रेसी नेताओंका साथ नहीं छोड़ा, क्योंकि उन्हें दूसरी कोई सरकार या नेता-मंडल पा सकनेकी आशा नहीं थी, जिसके साथ सहयोग करके वे अपने आदर्शोंकी पूर्तिमें अधिक सफलता प्राप्त कर पाते । दूसरा मार्ग यह होता कि वे जिस समाज और सरकारके अधीन रहते थे उससे असहयोग करते । उनकी अहिंसा कोई एकान्तवासीका गुण नहीं था, जो केवल संन्यासियों अथवा गुफामें रहनेवालोंके लिए ही हो । वह तो सामाजिक परिवर्तनका ऐसा साधन था, जिसका सामर्थ्य और मूल्य इसी जगतमें सिद्ध कर दिखाने थे ।

“न आदर्शोंमें,
न पृथ्वीके तला-तलमें,
और न दूरस्थ किसी निर्जन द्वीपमें,
भगवान जाने कहां है वह !
लेकिन इसी दुनियामें,
जो हम सबकी अपनी है,
वह स्थान है –
जहां पहुंच कर
पाते हैं हम अपना सुख

अथवा कुछ भी नहीं पाते !"

९

मनुष्य अपने प्रतिदिनके व्यवहारमें एक ओर बुराईके प्रतिकारके कर्तव्य तथा दूसरी ओर अहिंसाके कर्तव्यकी परस्पर-विरोधी मांगोंका मेल कैसे बैठाये ? गांधीजीने उत्तरमें कहा : सुरक्षित नियम यह है कि हमें जीवनके हर क्षेत्रमें अहिंसाके पालनका सतत प्रयत्न करना चाहिये और संकटमें ऐसे ढंगसे व्यवहार करना चाहिये जो हमारे लिए **सबसे अधिक स्वाभाविक** हो । इसका परिणाम उतनी ही अहिंसामें आयेगा जितनी हमने सफलतापूर्वक उसके लिए कोशिश की होगी । "यदि अहिंसाका विचार हमेशा हमारे मनमें रहे, तो संकटके समय हमारी स्वाभाविक प्रतिक्रिया अहिंसक ही होगी । अन्तिम कसौटी हमारे व्यवहारका दिखावा अथवा बाह्य रूप न होकर हमारी भीतरी भावना होगी ।" [गांधीजीका पत्र मनु गांधीको, २७ जून १९४६]

उदाहरणार्थ, किसी बदमाशने एक लड़कीका सरेआम अपमान किया । लड़कीने उस पर अपना जूता फेंका । बहुत लोगोंने इसे देखा । बदमाश भाग गया । बादमें उसने आकर लड़कीसे क्षमा मांगी । लड़कीने गांधीजीसे पूछा : "क्या मेरा यह व्यवहार अहिंसक था?" गांधीजीने उसे लिखा: "यदि तुम्हारा उद्देश्य बदमाशको केवल सबक सिखाना ही था, तो तुम्हारा कार्य उसके कार्यसे भिन्न नहीं था । उसने तुम्हारा अपमान किया; तुमने बदलेमें उस पर जूता फेंका । . . . इसके विपरीत, यदि तुम्हारे आचरणमें बदमाशके प्रति दयाकी प्रेरणा थी और उसका उद्देश्य बदमाशको दण्ड देनेके बजाय सुधारना था, तो तुम्हारा बल-प्रयोग अहिंसाका सूचक था । इस उदाहरणमें कसौटी यह होगी : जब बदमाशने देखा कि तुम्हें क्रोधके बजाय उसके लिए दुःख और चिन्ता हुई, तब तुम्हारी शुद्धताके वश वह हुआ या शारीरिक भयके ? मैं अपने ही जीवनका एक दृष्टान्त देता हूं । कुमारी श्लेसिनने मुझे उत्तेजित करनेके लिए मेरे ही सामने सिगरेट पी । मैंने उसके मुंह पर तमाचा मारा और उससे सिगरेट छीन कर फेंक दी । अपने जीवनमें पहली बार वह मेरे

सामने रो पड़ी और उसने मुझसे क्षमा मांगी । उसने केवल दो छोटे छोटे वाक्य मुझे लिखे : 'मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूंगी । अब आपके प्रेमको मैं समझ सकती हूं ।' "

गांधीजीसे एक बार पूछा गया : "मान लीजिये कि किसीको अधिक शक्तिशाली पशुबलके सामने लाचारी महसूस हो, तो क्या उसका अन्यायको रोकने लायक बलका उपयोग करना उचित होगा ?"

उन्होंने जवाब दिया : "हां, परन्तु आपमें सच्ची अहिंसा हो तो विवशताकी वह भावना आपनमें पैदा ही नहीं होगी । हिंसाके सामने विवशता अनुभव करना अहिंसा नहीं परन्तु कायरता है । कायरताको अहिंसाके साथ मिला नहीं देना चाहिये ।" [हरिजन, ९ मार्च १९४०, पृ. ३१]

गांधीजीसे फिर पूछा गया: "मान लीजिये कोई आपके पास आकर आपका अपमान करे, तो क्या आपको इस प्रकार अपना अपमान होने देना चाहिये ?"

"अगर आपको अपमान महसूस हो तो आपका बदमाशके मुंह पर चांटा मारना या अपने स्वाभिमानकी रक्षाके लिए जो भी कार्रवाई जरूरी लगे वह करना उचित होगा । ऐसी परिस्थितिमें बल-प्रयोग स्वाभाविक परिणाम होगा, बशर्ते कि आप कायर नहीं हों । लेकिन यदि आपने अहिंसक वृत्तिको आत्मसात् कर लिया हो, तो आपमें अपमानकी कोई भावना नहीं होनी चाहिये। तब आपका अहिंसक व्यवहार या तो बदमाशको शरमिन्दा कर देगा और अपमानको रोक देगा; अथवा आप पर उसका कोई असर ही नहीं होगा और एक तरहसे वह अपमान बदमाशके मुंहमें ही रह जायगा – वह आपको बिलकुल स्पर्श नहीं करेगा ।" [वही]

"मान लीजिये कि कोई पागल मारपीट करने लगे . . . (या) कोई क्रोधसे उन्मत्त बनी भीड़ हो . . . तो क्या पागलको रोकनेके लिए बलका प्रयोग करने अथवा भीड़में अश्रुगैस छोड़नेको आप ठीक समझेंगे ?"

"मैं उसे सदा ही बरदाश्त कर लूंगा । परन्तु मैं यह नहीं कहूंगा कि अहिंसक दृष्टिसे वह उचित है । मैं यह कहूंगा कि आपमें इतनी मात्रामें अहिंसा नहीं थी जिससे आपमें विशुद्ध अहिंसक व्यवहारका आत्म-विश्वास पैदा हो सके । यदि होती तो आपकी उपस्थिति ही पागलको शान्त करनेके लिए पर्याप्त होती । अहिंसा . . . कोई यांत्रिक वस्तु नहीं है । **आपके यह कहने मात्रसे कि 'मैं बल-प्रयोग नहीं करूंगा' आप अहिंसक नहीं बन जाते । इसका हृदयमें अनुभव होना चाहिये । . . . जब हृदयमें यह भावना होती है तो वह किसी कार्यके द्वारा प्रकट होती है । वह कार्य कोई संकेत, दृष्टिपात अथवा मौन भी हो सकता है । परन्तु अपने उसी रूपमें वह पापीके हृदयको पिघला देगा और अन्यायको रोक देगा** ।" [वही] (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

अहिंसाके आदर्शके पालनमें बार बार अनेक परस्पर-विरोधी बातें मनुष्यके सामने आती हैं, परन्तु इससे न तो वह आदर्श अनुचित ठहरता है और न उसकी सम्पूर्ण सिद्धिके लिए सफल प्रयत्नमें बाधा आती है ।

गांधीजीने इस विरोधाभासको इस प्रकार हल किया :

> जीवन एक महत्त्वाकांक्षा है । उसका लक्ष्य पूर्णताकी साधना करना है । उसीको आत्म-साक्षात्कार कहते हैं । हमारी दुर्बलताओं और अपूर्णताओंके कारण आदर्शको नीचे नहीं उतारना चाहिये । . . . जो व्यक्ति अपना भाग्य अहिंसा अर्थात् प्रेमधर्मके साथ जोड़ देता है, वह दिनोंदिन विनाश-चक्रको घटाता है और उसी अनुपातमें जीवन और प्रेमको बढ़ाता है । जो हिंसा अर्थात् घृणाके नियमका अनुयायी है, वह विनाश-चक्रको विस्तृत करता है और उसी अनुपातमें मृत्यु और घृणाको बढ़ाता है । [हरिजन, २२ जून १९३५, पृ. १४८]

१०

यह तो हुई व्यक्तिगत आचरणकी बात । अहिंसक मनुष्य समाजके एक अंगके रूपमें "संघर्ष, उपद्रव और राग-द्वेष" से भरे इस जगत क्या भाग अदा करे ?

गांधीजी उत्तर देते हैं : जीवन पर अनेक बालोंका प्रभाव होता है । यदि मनुष्यके कार्योंका क्रम एक ऐसे सामान्य सिद्धान्तसे निश्चित किया जा सके, जिसका प्रयोग किसी विशेष समयमें इतना स्पष्ट हो कि क्षण भरका विचार करनेकी भी आवश्यकता न रहे, तब तो काम बड़ा सरल हो जाये । परन्तु मुझे एक भी कार्य ऐसा याद नहीं आता, जिसका निर्णय इतनी आसानीसे किया जा सके ।

उदाहरणार्थ, गांधीजीके आश्रममें कुछ एकड़ खेतीकी जमीन थी । परन्तु फसलके बन्दरों द्वारा नष्ट कर दिये जानेका खतरा था । गांधीजी प्राणिमात्रको पवित्र मानते थे और इसलिए बन्दरोंको किसी भी प्रकारकी पीड़ा पहुंचाना अहिंसाका भंग समझते थे । फिर भी फसलको बचानेके लिए बन्दरों पर हमला करनेकी सलाह देनेमें उन्हें संकोच नहीं हुआ । "मैं इस बुराईसे बचना चाहता हूं । संस्थाको छोड़कर या उसे तोड़ कर मैं इस बुराईसे बच सकता हूं । ऐसा मैं नहीं करता, क्योंकि मुझे कोई ऐसा समाज मिलनेकी आशा नहीं जहां खेती न होती हो और इसलिए प्राणहानि न होती हो । अतः किसी दिन कोई मार्ग निकल आयेगा, ऐसी आशा रख कर मैं डरते डरते और कांपते कांपते, नम्रता और पश्चात्तापकी भावनासे, बन्दरोंको पीड़ा पहुंचानेके कृत्यमें शरीक होता हूं ।" [यंग इंडिया, १३ सितम्बर १९२८, पृ. ३०८]

गांधीजीने आगे कहा : इसी प्रकार एक कट्टर युद्ध-विरोधीके नाते मैंने विनाशक शस्त्रास्त्रोंके प्रयोगकी तालीम कभी नहीं ली और शायद इसीलिए मैं मानव-प्राणियोंके प्रत्यक्ष विनाशसे बच गया । लेकिन मुझे लगा कि जब तक मैं पशुबल पर आधारित शासन-प्रणालीके मातहत रहता हूं और उसके द्वारा उत्पन्न की गई अनेक सुविधाओं तथा विशेषाधिकारोंका स्वेच्छासे उपयोग करता हूं तब तक मेरा धर्म है कि मैं युद्धमें फंसी हुई सरकारकी यथाशक्ति मदद करूं । हां, यदि मैं सरकारके साथ असहयोग करूं और उसके दिये हुए विशेषाधिकारोंका भरसक त्याग करूं तो बात दूसरी है ।

उन्होंने अपने साप्ताहिकमें लिखा : "ऐसा मैं कर नहीं सका । मैं जिस समाजका अंग था उससे नाता तोड़ लेना मेरा पागलपन होता ।" [वही] इसलिए गांधीजीके शुरूके जीवनमें अहिंसाकी खोजने ही उन्हें तीन युद्धोंमें भाग लेनेके लिए मजबूर कर दिया । "(उस समय) ब्रिटिश सरकारसे असहयोग करनेका मेरा कोई विचार नहीं था । आज सरकारके बारेमें मेरी स्थिति सर्वथा भिन्न है और इसलिए उसके युद्धोंमें मैं स्वेच्छापूर्वक शरीक नहीं हो सकता; और यदि मुझे उसकी सैनिक कार्रवाइयोंमें हथियार उठाने या अन्य किसी प्रकारसे भाग लेनेके लिए विवश किया जाय, तो मैं कारावासका ही नहीं, फांसी तकका खतरा उठा लूंगा ।" [वही]

इससे पहेली हल नहीं हुई । १३ सितम्बर, १९२८ के 'यंग इण्डिया' में उन्होंने लिखा : "यदि राष्ट्रीय सरकार हो तो मैं किसी युद्धमें प्रत्यक्ष भाग तो नहीं लूंगा, लेकिन ऐसे अवसरोंकी कल्पना मैं कर सकता हूं जब उन लोगोंकी फौजी तालीमके लिए मत देना मेरा कर्तव्य हो जाय, जो वह तालीम लेना चाहें । कारण, मैं जानता हूं कि उसके सारे सदस्य उस हद तक अहिंसाको नहीं मानते जिस हद तक मैं मानता हूं । किसी व्यक्ति या समाजको जबरन् अहिंसक बनाना असंभव है ।" '

इससे उनके कुछ पाठकोंके दिमागमें किसी तरहकी उलझन पैदा न हो जाय, इसलिए उन्होंने यह भी लिखा: "अहिंसा अत्यन्त रहस्यमय ढंगसे काम करती है । अकसर अहिंसाकी दृष्टिसे किसी मनुष्यके कार्योंका विश्लेषण नहीं किया जा सकता । इसी तरह अकसर उसके कार्योंमें ऊपरसे हिंसा दिखाई दे सकती है, जब कि वह ऊंचेसे ऊंचे अर्थमें सर्वथा अहिंसक हो और बादमें अहिंसक सिद्ध भी हो । . . . मुझे अपनी त्रुटियोंका भान है और उनके लिए बड़ा दुःख है । किन्तु भीतरका प्रकाश स्थिर और स्पष्ट है । . . . भले ही मेरे विरुद्ध जो आरोप लगाये जाते हैं वे सब सर्वथा असमर्थनीय पाये जायं, परन्तु मैं यह नहीं चाहूंगा कि मेरे किसी भी कृत्यसे अहिंसाके सिद्धान्तके साथ समझौता करनेकी बात सिद्ध हो या कभी यह समझा जाय कि मैं किसी भी रूपमें हिंसा अथवा असत्यके पक्षमें हूं ! हिंसा और असत्य नहीं, किन्तु अहिंसा और सत्य हमारे जीवनका धर्म है ।

१९४२ में गांधीजीने कहा था कि मित्रराष्ट्र जिन सिद्धान्तोंके लिए लड़नेका दावा करते हैं उन सिद्धान्तोंको भारत पर लागू करके यदि वे अपनी नेकनीयती साबित न करें, तो उनके युद्ध-प्रयत्नके साथ असहयोग किया जाय । प्रान्तोंके कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलोंके कार्योंसे पहले ही इस बातकी पर्याप्त सूचना मिल चुकी थी कि स्वाधीनता आने पर राष्ट्रीय सरकारका क्या स्वरूप होगा।

गांधोजीसे पूछा गया, "क्या स्वतन्त्र भारतमें पूरा सैन्य-संगठन होगा और सम्पूर्ण युद्ध उपाय अपनाये जायंगे ?"

"मैं नहीं कह सकता कि स्वतन्त्र भारत सैनिकवादमें भाग लेगा या अहिंसक मार्ग पर चलना पसन्द करेगा । परन्तु मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि यदि मैं भारतको अहिंसाके मार्ग पर लगा सकूं तो जरूर लगाऊंगा । यदि मैं चालीस करोड़ लोगोंके विचार बदल कर उन्हें अहिंसक बनानेमें सफल हो जाऊं, तो यह जबर्दस्त बात होगी, राष्ट्रका एक अद्भुत कायापलट होगा ।" [हरिजन, १९ जुलाई १९४२, पृ. २३४]

"परन्तु क्या सैनिक प्रयत्नका विरोध आप सविनय कानून-भंग द्वारा करेंगे ?"

"मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं है । मैं (इस मामलेमें) स्वतन्त्र भारतकी इच्छाका विरोध सविनय कानून-भंग द्वारा नहीं कर सकता । यह गलत होगा ।" [वही]

"आजादी मिलनेके बाद आप अपनी नीति किस हद तक चलायेंगे ?"

"मैं नहीं कह सकता कि राष्ट्रीय सरकार क्या नीति अपनायेगी । मैं तो शायद तब तक जिन्दा भी न रहूंगा । . . . यदि जिन्दा रहा तो मैं यथासम्भव अधिकसे अधिक अहिंसा अपनानेकी सलाह दूंगा । और वह संसारकी शान्ति तथा नई विश्व-व्यवस्थाकी स्थापनामें भारतका एक महान योगदान होगा । मैं आशा करता हूं कि भारतमें इतनी सैनिक जातियां होने और सरकारमें उन सबकी आवाज होनेके कारण राष्ट्रीय नीतिका झुकाव एक सौम्य ढंगके सैनिकवादकी तरफ

होगा । **मैं यह आशा जरूर रखूंगा कि पिछले बाईस वर्षोंमें राजनीतिक बलके रूपमें अहिंसाकी क्षमता सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया गया है, वह व्यर्थ नहीं जायगा और देशमें सच्ची अहिंसाका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक बलशाली दल रहेगा** ।" [हरिजन, २१ जून १९४२, पृ. १९७] (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

१९४६ में जब निर्णयकी घड़ी निकट आ गई थी, गांधीजी इस कथनके तमाम व्यावहारिक पहलुओंका फिरसे परीक्षण करने लगे थे ।

उनसे पूछा गया : "जिसने अपना सारा जीवन युद्ध करनेमें बिताया हो वह सफलतापूर्वक अहिंसाको कैसे अपना सकता है ? क्या ये दोनों बातें बेमेल नहीं हैं ?"

गांधीजीने उत्तर दिया : "मैं आपकी बातसे सहमत नहीं । बादशाह खान एक पठान हैं । परन्तु आज वे अहिंसाके सिपाही हो गये हैं । टॉल्स्टॉयने भी सेनामें काम किया था, फिर भी वे यूरोपमें अहिंसाके महान पुजारी बन गये । हमने अभी तक अहिंसाकी शक्तिको पहचाना ही नहीं है । यदि सरकार मुझे १९४२ में गिरफ्तार न कर लेती, तो मैंने यह दिखाया होता कि जापानके साथ अहिंसक ढंगसे कैसे लड़ा जाय ।" [हरिजन, ९ जून १९४६, पृ. १७४]

"अहिंसक सेनाके लिए प्रशिक्षण और अनुशासन कैसा होना चाहिये ? क्या परम्परागत सैनिक तालीमके कुछ भाग उसके पाठ्यक्रमका अंग नहीं बनने चाहिये ?

"सेनाको मिलनेवाली प्रारम्भिक तालीमका बहुत थोड़ा भाग अहिंसक सेनाके लिए समान होता है । वह भाग है : अनुशासन, कवायद, समूह-गान, ध्वजारोहण, संकेत देना आदि । **यह भी नितान्त आवश्यक नहीं है और उसका आधार भी भिन्न है** । अहिंसक सेनाके लिए निश्चित रूपमें जरूरी तालीम यह है कि ईश्वरमें उसकी अटल श्रद्धा हो, अहिंसक सेनाके मुखियाके प्रति स्वेच्छापूर्ण तथा सम्पूर्ण आज्ञा-पालनकी वृत्ति हो और सेनाके विभिन्न दलोंसे पूरा भीतरी और बाहरी सहयोग हो ।" [हरिजन, १२ मई १९४६, पृ. १२८] (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

"क्या सैनिक दृष्टिसे दुर्बल लोगोंकी अपेक्षा सैनिक दृष्टिसे शक्तिशाली लोगोंका अहिंसक प्रतिकार अधिक सफल नहीं होता ?"

"ये परस्पर-विरोधी बातें हैं । सैनिक दृष्टिसे बलशाली लोग अहिंसाका आचरण नहीं कर सकते । . . . सच तो यह है कि यदि वे लोग, जो किसी समय शस्त्रबलमें शक्तिशाली थे, अपने विचार बदल लें, तो वे अपनी अहिंसाका प्रत्यक्ष प्रमाण संसारको और अपने विरोधियोंको भी अधिक अच्छी तरह दे सकेंगे । जो लोग अहिंसामें बलवान हैं वे इसकी परवाह नहीं करेंगे कि उनका विरोध सैनिक दृष्टिसे दुर्बल लोग करते हैं या अत्यन्त बलशाली लोग करते हैं ।" [वही]

"अवश्य ही आत्मरक्षाके लिए तलवारका उपयोग अहिंसाका भंग नहीं है ?"

"वेवेल, आचिन्लेक अथवा हिटलर भी जरूरतके बगैर तलवार नहीं चलाता । परन्तु इससे उनकी हिंसा अहिंसा नहीं बन जाती । वह हिंसा ही रहती है, फिर उसका औचित्य सिद्ध करनेके लिए कुछ भी क्यों न कहा जाये ।" [हरिजन, ९ जून १९४६, पृ. १७४]

"क्या यह मालूम होनेसे कि विरोधी अहिंसाकी प्रतिज्ञासे बंधा हुआ है, गुंडोंको अकसर प्रोत्साहन नहीं मिलता ?"

"गुंडोंको अपना अवसर तब मिलता है जब उन्हें कमजोरोंकी अहिंसाका सामना करना पड़ता है । बलवानोंकी अहिंसा पूरी तरह हथियारबन्द बहादुरसे बहादुर सिपाहीकी अपेक्षा अथवा सारी सेनाकी अपेक्षा भी सदा अधिक शक्तिशाली होती है ।" [हरिजन, १२ मई १९४६, पृ. १२८]

"क्या मौजूदा परिस्थितियोंमें यह अधिक अच्छा नहीं होगा कि भारत और इंग्लैंड जैसे देश अपनी पूर्ण सैनिक क्षमता बनाये रखें और साथ ही यह निश्चय करें कि कोई सैनिक कार्रवाई करनेसे पहले अहिंसक प्रतिकारको वे उचित रूपमें आजमा कर देखेंगे ?"

"भारत और इंग्लैंड दोनों पूर्ण सैनिक क्षमता कायम रखते हुए किसी भी हालतमें अहिंसक प्रतिकारको उचित अवसर नहीं दे सकते । साथ ही यह पूरी तरह सही है कि तमाम सैनिक सत्ताएं

पारस्परिक झगड़ोंके शान्तिपूर्ण निबटारेके लिए संधिवार्ताएं करती हैं। परन्तु हम यहां पर युद्धका निर्णय करनेवाले सत्ताधारियोंसे अपील करनेसे पहलेकी प्रारम्भिक शान्ति-वार्ताओंकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम तो युद्ध नामक सशस्त्र संघर्ष, नग्न भाषामें सामूहिक हत्या, का स्थान लेनेवाले किसी अन्तिम उपायकी चर्चा कर रहे हैं।" [वही]

एक संवाददाताने गांधीजीसे एक बुनियादी सवाल किया : "किसी आधुनिक राज्यके लिए, जिसका वास्तविक आधार पशुबल है, भीतरी और बाहरी दोनों तरहकी अव्यवस्था फैलानेवाली शक्तियोंका विरोध करनेके लिए अहिंसक प्रतिकार सम्भव है ? अथवा क्या यह जरूरी है कि जो लोग अहिंसक प्रतिरोध करना चाहते हैं, वे सबसे पहले राज्याधिकार छोड़ दें और विरोधीके सामने अपनी हैसियत बिलकुल निजी व्यक्तियोंकी बना लें ?"

गांधीजीने जवाब दिया : "पशुबल पर आधारित किसी आधुनिक राज्यके लिए यह सम्भव नहीं कि वह बाहरी या भीतरी अव्यवस्था पैदा करनेवाली शक्तियोंका अहिंसक प्रतिकार करे। . . . (परन्तु) यह दावा किया जाता है कि **किसी राज्यका आधार अहिंसा हो सकता है** अर्थात् वह सशस्त्र सेनाओं पर आधारित किसी विश्वसंघके विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार कर सकता है। अशोकका राज्य ऐसा ही था। ऐसी मिसालें दोहरायी जा सकती है।" [वही] (मोटे टाइप मैंने किये हैं।)

दूसरे प्रश्नका उत्तर बादमें आया। वह आपको आगेके अध्यायमें मिलेगा।

तिसरा अध्याय: विजय और विषाद

१

मुसलमानोंका ईदका त्योहार २६ अक्तूबरको पड़ा। गांधीजीको चिन्ता थी कि कहीं कोई दुर्घटना उसे बिगाड़ न दे। किन्तु सरदार पटेलने उन्हें विश्वास दिलाया कि मैंने हर तरहकी सावधानी और तैयारी रखी है। उस शुभ दिन मुसलमान सुबहसे ही गांधीजीसे मिलने आने लगे। इनमें उनके पुराने मित्र – दिल्लीके मौलाना लोग भी थे। गांधीजी मन ही मन बोले "मैं किस मुंहसे उन्हें 'ईद मुबारक' कहूंगा ?" मिलनेके लिए आये हुए मुसलमानोंसे उन्होंने कहा : "अहिंसाकी परीक्षा सदा हिंसाके बीच और दयाकी निर्दयताके बीच होती है; सत्यकी परीक्षा असत्यके बीच और प्रेमकी द्वेषके बीच होती है। यही शाश्वत सनातन नियम है। यदि आजके शुभ दिन हम सब यह पवित्र निश्चय कर लें कि खूनके बदलेमें खून नहीं बहायेंगे, बल्कि खूनके बदलेमें हम अपना खून दे देंगे, तो हम इतिहासका सर्जन करेंगे। ईसा मसीहने सूली पर चढ़े चढ़े ईश्वरसे प्रार्थना की कि जिन्होंने मुझे क्रूस पर चढ़ाया है उन्हें तू क्षमा कर। मैं ईश्वरसे सदा यही प्रार्थना करता हूं कि वह मुझे अपने हत्यारेके पक्षमें भी बीच-बचाव करनेकी शक्ति दे। और आपकी भी यही प्रार्थना होनी चाहिये कि आपके इस वफादार सेवकको खुदा क्षमा करनेकी शक्ति दे।"

रामकृष्ण मिशनवाले एक मित्रके साथ हुई बातचीतमें गांधीजीने एक प्राचीन धर्मग्रंथमें वर्णित शिवि राजाकी कहानी सुनाई। शिविकी परीक्षा लेनेके लिए ईश्वरने बाजका रूप धारण किया था। बाजने एक बटेरका बुरी तरह पीछा किया। बटेरने शिवि राजाकी शरण ली। बाजने बटेरको अपना भक्ष्य कहकर राजासे कहा : मेरा भक्ष्य मुझे दे दो। शिविने इसके बदलेमें बटेरके बराबर अपना मांस बाजको देनेका प्रस्ताव रखा। राजाने अपने शरीरका कितना ही मांस निकाल कर तराजू पर चढ़ा दिया, लेकिन मांसका वजन बटेरके बराबर नहीं हुआ। अन्तमें राजा स्वयं तराजूमें बैठ गया, तभी जरूरी वजन पूरा हुआ। बटेरके प्राण तब बचे जब राजा स्वयं अपने प्राण

देनेको तैयार हुआ । गांधीजीने कहा कि इससे शिक्षा यह मिलती है कि "हमें अहिंसाको इस सीमा तक ले जाना होगा । ऐसी अहिंसा कभी असफल नहीं होती ।"

दिल्लीकी परिस्थितियां जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं थीं । गांधीजीके पास शिकायतें पहुंची थीं कि भारतीय संघके कुछ भागोंमें हिन्दुओंकी यह मांग है कि उनके बीच रहनेवाले मुसलमान मांस-मच्छी खाना छोड़ दें, क्योंकि मांसके पकनेकी गंध कट्टर सनातनी परम्परामें पले हुए हिन्दुओंको बुरी लगती है । गांधीजी स्वयं पक्के शाकाहारी थे और कस्तूरबा गांधी तो और भी कट्टर हिन्दू परम्परामें पली थीं । फिर भी जब एक समुद्र-यात्राके दरमियान यह सुझाव दिया गया कि गांधीजीका खाना जहाजके रसोई-घरसे बाहर पकाया जाय, ताकि कस्तूरबा मांस-मच्छीके दृश्य और गंधसे बच जायं, तो गांधीजीने दृढ़तासे यह कह कर उसे अस्वीकार कर दिया कि इससे जहाजी कम्पनीका अपमान होगा, जो मेरे प्रति इतनी कृपालु और आतिथ्यशील रही है । इसके फलस्वरूप सारी यात्रामें कस्तूरबाने जहाजके रसोई-घरमें ही भोजन बनाया ।

गांधीजीने हिन्दुओंको समझाया : आपमें भी शाकाहारियोंकी संख्या बहुत थोड़ी है । तब मुसलमानों पर अपनी मरजी थोपनेका आपको क्या अधिकार है ? इसी तरह कुछ हिन्दू भारतीय संघमें कानून द्वारा गोवधका निषेध कराना चाहते हैं । तो क्या संघ एक धार्मिक राज्य होगा और हिन्दू धर्मके सिद्धान्त गैर-हिन्दुओं पर लादे जायेंगे ? "में आशा करता हूं कि ऐसा नहीं होगा । संसार भारतसे तुच्छता या धर्मान्धताकी आशा नहीं परन्तु ऐसी महानता और नेकीकी आशा रखता है, जो चारों ओर फैले हुए अन्धकारमें सारी दुनियाके लिए प्रकाश-स्तम्भका काम दे।" [प्रार्थना-प्रवचन, ४ नवम्बर १९४७ । (तृतीय खण्डके अध्याय – १० की टिप्पणी - ३ भी देखिये)]

कुछ मामले ईसाइयोंको सतानेके भी गांधीजीके ध्यानमें लाये गये थे । एक जागरूक माताकी भांति वे इन बुरे लक्षणोंको गहरी चिन्तासे देखते रहते थे । उनका कहना था कि दूसरोंके अधिकारोंके प्रति उदार सहिष्णुता और आदरकी भावना स्वतन्त्रताकी आत्मा है । यदि इस रोगका

ठीक इलाज नहीं किया गया, तो यह नवजात लोकतन्त्रके लिए आसानीसे घातक सिद्ध हो सकता है ।

गांधीजीका पत्र राजाजीको

५ नवम्बर, १९४७

ऊपर ऊपरसे परिस्थितियां काफी अच्छी दिखाई देती हैं, परन्तु भीतरी प्रवाहसे आशाकी गुंजाइश नहीं रह जाती । मैं नहीं समझताकि बंगाल बहुत दिन तक टिका रहेगा । हम आशा रखें । . . . हां, मुझे तो केवल रामका ही आसरा है ।

पांच दिन बाद गांधीजी मोटरसे पानीपतके मुसलमान निराश्रितोंको देखनेके लिए गये । जो कुछ वहां देखा उससे उन्हें गहरा आघात लगा । पानीपतमें पश्चिम पंजाबसे आये हुए २०,००० हिन्दू निराश्रित भी थे । उनकी दशा मुस्लिम निराश्रितोंसे अच्छी नहीं थी ।

शामकी प्रार्थना-सभामें गांधीजीने अपने दिलकी पीड़ा व्यक्त की : पूर्व पंजाबके मुख्यमंत्री कांग्रेसके एक प्रमुख नेता है और मेरे पुराने साथी हैं । परन्तु यदि पानीपत उनकी कार्य-कुशलताका नमूना है, तो उनकी सरकार पर वह दुःखद लांछन है । निराश्रितोंको बिना सूचना दिये चाहे जहां क्यों भर दिया जाता है ? उनके स्वागतकी व्यवस्था इतनी अपर्याप्त क्यों है ? अफसरोंको पहलेसे क्यों नहीं मालूम रहता कि कौन और कितने निराश्रित आ रहे हैं ?

इससे भी अधिक अशान्तिकारक सूचना यह है कि गुडगांव जिलेके १,५०,००० मुसलमानोंको डर कर घरबार छोड़ना पड़ा है । वे अपने परिवारों और मवेशियोंके साथ पंजाबकी कड़ी सरदीमें सड़क पर पड़े हैं और उनके सामने ३०० मीलकी यात्रा है ।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी और दूसरे सब समान रूपमें भारतकी सन्तान हैं । मैंने बचपनसे यही आदर्श अपने सामने रखा है । परन्तु स्वाधीनता-प्राप्तिके साथ वह विलीन होता दिखाई दे रहा है । मेरी अहिंसा मुझे रोने नहीं देती । बचपनसे ही मैंने अपने सामने आनेवाले

दुःखोंके लिए अपना दिल फौलादका बना लिया है । प्राचीन ऋषियोंने यह सिखाया है कि जो मनुष्य अहिंसासे परिपूर्ण है, उसे अपना हृदय फूलसे भी कोमल और वज्रसे भी कठोर रखना पड़ता है । [वही]

उनका हृदय निराश्रितोंके प्रति सहानुभूतिसे भरा था, परन्तु वे नहीं चाहते थे कि निराश्रित लोग अपनेको दीन-हीन और लाचार महसूस करें । गांधीजीने स्पष्ट शब्दोंमें उन लोगोंसे कहा : "यह स्वीकार करना होगा कि आपमें सूझबूझकी कुछ कमी है, जिसके कारण आपका दुःख बढ़ जाता है ।" उन्होंने सिक्खोंको उनमें फैली हुई शराबकी बुरी लतके लिए खूब आड़े हाथों लिया और कहा कि आपके आ जानेके बाद राजधानीमें शराबकी खपत बहुत बढ़ गई है । उन्होंने धनवान निराश्रितोंको खरी-खोटी सुनाई और कहा कि गरीब निराश्रितोंसे आप लोग अलग-थलग हो गये हैं और उनके सुख-दुःखमें शरीक होनेके बजाय भोग-विलासमें पड़ गये हैं । आप सबको एक ही साथ तैरना या डूबना है । आप पर जो विपत्ति आई है वह आप सबकी कसौटी करनेके लिए आई है । इसमें से आप जीत कर निकलेंगे या हार कर, इसका दारमदार स्वयं आप पर ही है ।

> मुझे जरा भी शंका नहीं कि इस करुण घटनासे भी लाभ उठाया जा सकता है; शर्त यह है कि निराश्रित लोग सही व्यवहार करें । . . . मुझे कोई शंका नहीं कि सब विशेष योग्यतावाले पुरुषों और स्त्रियों – जैसे डॉक्टर, वकील, वैद्य, हकीम, नर्स, व्यापारी और साहुकार आदि – को यह शुभ परिणाम लानेके लिए दूसरोंके साथ मिल जाना चाहिये और पूरे सहयोगके साथ एक संयुक्त शिविरका जीवन व्यतीत करना चाहिये । उन्हें यह कभी नहीं समझना चाहिये कि हम खैरात पर निर्भर रहनेवाले लाचार लोग हैं; बल्कि यह समझना चाहिये कि हम सूझबूझवाले स्वतंत्र स्त्री-पुरुष हैं, जो अपने दुःखको कुछ नहीं समझते और जो भविष्यके लिए आशास्पद तथा शिविर-निवासियोंके लिए अनुकरणीय जीवन व्यतीत करते हैं । फिर जब धंधेवाले लोग सामूहिक और निःस्वार्थ जीवनके आदी हो जायंगे और बादमें उन्हें इन शिविरोंसे मुक्त किया जा सकेगा, तब उन्हें गांवोंमें या अन्यत्र

अलग अलग जगहों पर भेज दिया जायगा और वे जहां भी होंगे वहीं अपने जीवनकी सुगंध फैलायेंगे । [हरिजन, ७ दिसम्बर १९४७, पृ. ४५२]

उन्होंने आगे कहा: इस बीच निराश्रितों और अनिराश्रितों दोनोंका यह फर्ज है कि वे अविश्वास, अमानुषिकता, निर्दयता और प्रतिशोधके चारों ओर फैले हुए वायुमण्डलसे अपनी मानवताको नष्ट न होने दें और न अपनी संवेदनशीलताको कम होने दें, बल्कि सुनहले कार्य जहांसे भी जाननेको मिलें वहांसे उनका संग्रह करें और दूसरोंको सुनायें तथा अपने भीतरके मानव-दयाके स्त्रोतोंका पोषण करें ।

गांधीजीने दो मुसलमान भाइयोंका उदाहरण देकर कहा कि उन्होंने गैर-मुस्लिम निराश्रितोंके लिए मेरे पास कम्बल भेजे हैं और अधिक कम्बल खरीदनेको रुपये भेजे हैं । जब मैंने उनसे कहा कि आप खुद ही बांट दें, तो उन्होंने इनकार कर दिया । उन्होंने कहा कि हमारा दान हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंमें आपके द्वारा बांटनेके लिए है । उन्होंने स्वीकार किया कि एक समय ऐसा था जब हम आप पर (गांधीजी पर) दोषारोपण करते थे । परन्तु अब हमें यकीन हो गया है कि आप सभीके मित्र हैं और किसीके शत्रु नहीं हैं । एक भाईने मुझसे कहा है कि उनकी जानकारीमें पश्चिम पाकिस्तानमें कमसे कम एक मुस्लिस परिवार ऐसा था, जिसने एक सिक्खको शरण दी थी । इतना ही नहीं, उस परोपकारी सज्जनने अपने घरमें एक कमरा अलग रख दिया था, जिसमें सिक्ख मित्रके ग्रंथ साहबको उचित सम्मानके साथ रखा जा सके । मुझे विश्वस्त समाचार मिले हैं कि अनेक हिन्दुओं और सिक्खोंने मुसलमानोंको और मुसलमानोंने हिन्दुओं और सिक्खोंको इस सर्वव्यापी पागलपनके बीच भी अपने घरोंमें आसरा दिया था ।

*

माउण्टबेटन थोड़े दिनकी छुट्टी पर इंग्लैण्ड जानेवाले थे । राजकुमारी (अब रानी) एलिजाबेथकी शादी उनके भतीजेसे होनेवाली थी, जो बचपनसे ही माउण्टबेटन घरानेमें पला था। लॉर्ड माउण्टबेटनके साथ हुई एक मुलाकातमें गांधीजीने कहा था कि मैं विवाहकी कोई भेंट

भेजूंगा । माउण्टबेटन इससे प्रसन्न हुए । गांधीजीने पूछा : "लेकिन मैं क्या भेज सकता हूं ? आप जानते है कि मेरे पास कोई पार्थिव सम्पत्ति नहीं है ।" कुछ चर्चाके बाद यह निश्चय हुआ कि उन्हें कोई अपनी ही बनाई हुई चीज भेजनी चाहिये । अपने निवास-स्थान पर पहुंचनेके बाद गांधीजीने अपना ही काता हुआ कुछ सूत मंगवाया और उससे चायका मेजपोश बनवा लिया ।

गांधीजीका पत्र लॉर्ड माउण्टबेटनको

९ नवम्बर, १९४७

> यह छोटासा मेजपोश मेरे अपने काते हुए दुबटे सूतका बना हुआ है । इस पर कशीदा एक पंजाबी लड़कीने किया है । . . . कृपया यह भेंट वधु और वरको मेरे आशीर्वाद और इस शुभ कामनाके साथ दे दीजिये कि उन्हें मानव-सेवाका सुदीर्घ और सुखी जीवन प्राप्त हो ।

लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन दूसरे दिन हवाई जहाजसे चले गये । उन्होंने गांधीजीकी भेंट स्वयं राजकुमारी एलिजाबेथको बकिंगघम पैलेसमें जाकर दी । विवाहके समय सेण्ट जेम्स गिरजेमें आई हुई भेंटोंमें उसे प्रमुख स्थान पर प्रदशित किया गया था । लौटने पर लॉर्ड माउण्टबेटनने गांधीजीको राजकुमारी और उनके पतिकी तरफसे सम्मान और कृतज्ञताका व्यक्तिगत सन्देश पहुंचाया था । लॉर्ड माउण्टबेटनने बताया कि राजकुमारी इस बातसे बहुत ही प्रभावित हुईं कि गांधीजीने उनके प्रति इतना हार्दिक स्नेह बताया । राजकुमारीने कहलाया कि मैं इसे सदा सुरक्षित स्थान पर रखूंगी और चायके मेजपोशकी तरह इसका उपयोग न करके इसे एक मूल्यवान भेंट समझूंगी, क्योंकि मैं इसके ऐतिहासिक संदर्भको बहुमूल्य समझती हूं । राजकुमारीने उस मेजपोशको जरूर विशेष सावधानीके साथ रखा होगा, क्योंकि सात वर्ष बाद जब उसके बारेमें उल्लेख किया गया तो वे उसे तुरंत दिखा सकी थीं ।

यह भारतके अहिंसक स्वातंत्र्य-संग्रामका कितना शोभनीय और भव्य अंत कहा जायगा! इस संग्राममें दोनों पक्षोंमें से एक भी घाटेमें नहीं रहा और उसने अपने पोछे शत्रुता तथा कटुताका जहर फैलानेके बजाय मित्रता और सद्भावनाकी सुगंध ही फैलाई ।

*

दूसरी दीवालीके समय भारत शोकमग्न था । गांधीजी बोले : "मुझे इस विपत्तिमें हर्षके लिए कोई कारण नहीं दीखता । इस उत्सवमें भाग लेनेसे अगर हम दृढ़ता और बुद्धिमानीसे इनकार करें, तो उससे हमें आत्मनिरीक्षण तथा आत्मशुद्धिकी प्रेरणा मिलेगी ।" [प्रार्थना-प्रवचन, ९ नवम्बर १९४७]

उन्होंने कहा: इस समय सबसे अधिक आवश्यकता हमें मानवों द्वारा जलाई हुई दीपमालाकी नहीं है, बल्कि अपने हृदयोंमें "प्रेमका प्रकाश" जगानेकी है । काश्मीर या जूनागढ़की विजयसे हमें लाभ नहीं होगा, यदि हमें अपने भीतर ईश्वरकी सत्ताका अनुभव न हो और पारस्परिक द्वेष और सन्देहको हम मनसे दूर न रखें । जब तक डरके मारे भागे हुए तमाम मुसलमानोंको आप वापस भारतमें न ले आयें तब तक दीवाली झोभास्पद ढंगसे कभी नहीं मनाई जा सकती । [प्रार्थना-प्रवचन, १२ नवम्बर १९४७]

लाहौरके एक प्रमुख हिन्दू गांधीजीके एक पुराने मित्रके साथ आये और उनसे कहने लगे : मेरा अहिंसामें विश्वास है । मैं अपनी कमजोरीके कारण पश्चिम पंजाबसे भाग आया था । परन्तु जैसा आपने सब हिन्दुओंसे करनेको कहा है, अब मैं वापस जाकर मौतका भी सामना करनेके लिए तैयार हूं । गांधीजीने उनसे कहा : अगर आप शुरूमें ही अपने आप ऐसा करते, तो वह आपके लिए शानकी बात होती । आपकी मिसालसे आपके पश्चिम पंजाबके हिन्दू भाइयोंको साहस और बल मिलता और मुसलमानों पर भी उसका अच्छा असर पड़ता । परन्तु वहांस चले आनेके बाद अब आपके कर्तव्य-पालनका सबसे कारगर तरीका यही है कि आपके हृदयमें मुसलमानोंके खिलाफ थोड़ी भी कटुता या रोष पैठ गया हो तो आप उसे निकाल दें और हिन्दू निराश्रित भाइयों

पर अपना प्रभाव डाल कर दिल्लीमें फिरसे साधारण स्थिति उत्पन्न करनेकी कोशिश करें। इससे तमाम हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंके पाकिस्तान लौटनेके लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो जायगा।

अलीगढ़ छात्रसंघका एक मुस्लिम शिष्ट-मंडल आया और उसने गांधीजीसे कहा कि हम लोग हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंके शिविरोंमें जाकर साम्प्रदायिक सद्भावनाके प्रतीकके रूपमें कम्बल, कपड़े वगैरा बांटनेके लिए उत्सुक हैं। गांधीजीने उनसे कहा : आपके लिए इतना काफी नहीं होगा। इसका कोई असर नहीं होगा। आपको कमसे कम इतना तो करना ही चाहिये कि पाकिस्तान जाकर आप वहांके अधिकारियों और लोगोंसे साहसपूर्वक कहें कि वे हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंको अपने घरोंमें लौटनेके लिए राजी करें और उन्हें पूरी सलामती तथा स्वाभिमानकी गारंटी दें, जैसे मैं भारतमें भारतीय संघके मुस्लिम निराश्रितोंके बारेमें कर रहा हूं। शिष्ट-मंडलके सदस्योंने गांधीजीकी सलाह मान ली। [प्रार्थना-प्रवचन, २८ अक्तूबर १९४७]

२

अब कांग्रेस महासमितिकी बैठकको चार महीने हो गये थे। इस बीच देशमें बड़े बड़े परिवर्तन हो चुके थे। विदेशी शासनका अंत हो गया था। परन्तु उसके अंतके बाद ऐसी भयंकर उथल-पुथल हुई, जिसकी किसीने पहलेसे कल्पना नहीं की थी। उसके फलस्वरूप ऐसी भीमकाय समस्याएं पैदा हुईं, जिनसे किसी भी सरकार अथवा समाज-व्यवस्थाकी जड़ें तक हिल सकती थीं। संघ-सरकार इस उथल-पुथलके बाद भी टिकी रही और उसने राजधानीमें अराजकताके खतरेका सफलतापूर्वक सामना किया। परन्तु चारों ओर बरबादी ही बरबादी दिखाई देती थी और कांग्रेसियोंके मस्तिष्कमें परस्पर-विरोधी प्रवाहों और विचारसरणियोंका तूफान खड़ा हो गया था।

कांग्रेसने मजबूर होकर देशका बंटवारा स्वीकार किया था, परन्तु उसने दो राष्ट्रोंके सिद्धान्तको कभी स्वीकार नहीं किया था। किन्तु इस बातका खतरा था कि पाकिस्तानसे

आनेवाले निराश्रितोंके लगातार बढ़नेवाले दबावके कारण विवश होकर संघ-सरकार भी वही काम करे, जिसका उसने सिद्धान्तके रूपमें विरोध किया था ।

फिर निराश्रितोंके पुनर्वासका भी सवाल था । यदि वह अस्थायी होता तो एक रूप ग्रहण करता और स्थायी होता तो दूसरा रूप ग्रहण करता । संघ-सरकारका अन्तिम लक्ष्य विस्थापित लोगोंको स्थायी रूपसे भारतमें बसाना था या उन्हें पाकिस्तान वापस भेजना था ? इन मुद्दोंके बारेमें कांग्रेस महासमितिके सही निर्णय पर भविष्यका आधार था ।

कांग्रेस कार्यसमितिमें हुई चर्चासे इस प्रश्न पर गहरा मतभेद प्रकट हुआ कि पश्चिम पंजाबसे आये हुए हिन्दू और सिक्ख निराश्रित वापस जाकर पाकिस्तानमें रहें या नहीं । गांधीजीका मत था कि उनके लिए पाकिस्तान लौटना संभव है और उन्हें जाना ही चाहिये; दूसरा कोई मार्ग नहीं है । शर्त यह है कि इसी तरह मुसलमान भी भारतमें और दिल्ली तथा आसपासके प्रदेशमें सलामती और आत्म-सम्मानके साथ रह सकें । सरदारको पहली बातमें गंभीर संदेह था; और दूसरी बातके विषयमें सिद्धान्ततः गांधीजीसे सहमत होते हुए भी सुरक्षाकी बिना पर उन्हें इसमें बुद्धिमानी नजर नहीं आती थी कि बड़ी तादादमें ऐसे लोग दिल्लीमें और दिल्लीके आसपास रहें, जिनका इतिहास अच्छा न रहा हो और जिनकी गुप्त निष्ठा अब भी मुस्लिम लीग और पाकिस्तानके साथ हो । इन दो दृष्टिकोणोंके बीच रस्साकशी चल रही थी ।

अन्तमें यद्यपि इस विषय पर कार्यसमितिने कोई निश्चित प्रस्ताव महासमितिमें रखने के लिए पास नहीं किया, फिर भी गांधीजी ६ नवम्बरको अपनी प्रार्थना-सभामें यह घोषणा कर सके कि संपूर्ण कार्यसमिति इस मतकी है कि कांग्रेस, जो अपने जन्मसे ही पूर्ण साम्प्रदायिक एकताकी समर्थक रही है, किसी भी हालतमें अपने आदर्शसे विमुख नहीं हो सकती । कार्य-समितिका यह भी विचार है कि कांग्रेस कुछ समयके लिए भले ही अल्पमतमें हो जाय, फिर भी वह प्रचलित उन्मादका शिकार बननेके बजाय वर्तमान अग्नि-परीक्षाका प्रसन्नतापूर्वक सामना करेगी ।

दो दिन बाद कांग्रेस महासमितिमें गांधीजीकी आवाज अंतिम बार सुनी गई । उसके जन्मके बाद २५ वर्षसे भी अधिक समय तक गांधीजी उसका मार्गदर्शन करते रहे, चाहे वे उसमें उपस्थित रहे हों या न रहे हों । राष्ट्रपिताकी सीधी बातको सदनके सभी वर्गोंनें उसी आदरके साथ सुना जिसके योग्य वह थी । उन्होंने कार्यसमितिके अन्त:करण रूपी ऐरन पर घनकी चोटें लगा लगा कर पुरानी कांग्रेसकी उस परम्परा और उन आदर्शोंकी ज्वालाको जगानेका प्रयत्न किया, जिनसे कांग्रेसको देशमें अद्वितीय शक्ति प्राप्त हुई थी :

"काफी देखनेके बाद मैं यह महसूस करता हूं कि यद्यपि हम सब तो पागल नहीं हो गये हैं, फिर भी कांग्रेस-जनोंकी काफी बड़ी संख्या अपना दिमाग खो बैठी है । . . . मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि अगर हम इस पागलपनका इलाज नहीं करेंगे, तो जो आजादी हमने हासिल की है उसे हम खो बैठेंगे । हमारी जो स्थिति है उसकी गंभीरता आपको समझनी और स्वीकार करनी चाहिये । . . .

"आप विशाल भारतीय मानव-सागरके प्रतिनिधि हैं । आप दुनियाको यह नहीं कहने देंगे कि कांग्रेस उन मुट्ठीभर लोगोंकी संस्था है, जो देश पर शासन करते हैं । कमसे कम मैं तो ऐसा नहीं होने दूंगा । . . .

"जब हम अपनी स्वाधीनताके लिए लड़ रहे थे तब हम पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी थी । परन्तु आज जब हमें स्वतंत्रता मिल गई है तब हमारी जिम्मेदारी सौ गुनी बढ़ गई है । . . . अनेक स्थान ऐसे है जहां कोई भी मुसलमान सुरक्षित रूपमें नहीं रह सकता । . . . अगर आप कहें कि यह आपके बसकी बात नहीं या आपका इसमे कोई भाग नहीं है, तो मुझे इससे संतोष नहीं होगा । हमें इस पागलपनसे लड़ना होगा और इसका इलाज ढूंढ़ना होगा । . . . मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे वह इलाज अभी तक नहीं मिला है । . . .

"यह कांग्रेसका बुनियादी उसूल है कि भारत जैसा हिन्दुओंका घर है वैसा ही मुसलमानोंका भी है। . . . मुझे अपने इस दावेके समर्थनमें कांग्रेसके संविधानका प्रमाण देनेकी जरूरत नहीं है।

"कुछ लोग कहते हैं कि अगर हम भारतके मुसलमानों पर पाकिस्तानके हिन्दुओं और सिक्खों पर किये गये अत्याचारोंसे भी बुरे अत्याचार करेंगे, तो इससे पाकिस्तानके मुसलमानोंको अच्छा सबक मिल जायगा। बेशक, वे सबक तो सीखेंगे, परन्तु आपका इस बीच क्या हाल होगा ? दुष्ट अपने ही पापकी मारसे नष्ट होते हैं। तो क्या हमें भी उनके साथ नष्ट होना है?

"मैं साढ़े तीन करोड़ मुसलमानोंको पाकिस्तानमें खदेड़ देनेकी बातको असंभव मानता हुं। उन्होंने क्या अपराध किया है ? मुस्लिम लीग दोषी होगी, मगर हर मुसलमान तो दोषी नहीं है। अगर आप समझते हैं कि वे सब देशद्रोही और पांचवीं कतारके हैं, तो बेशक उन्हें गोलीसे उड़ा दीजिये। परन्तु मुसलमान होनेके कारण ही उन सबको अपराधी मान लेना अनुचित है। अगर आप उन पर धौंस जमायें, उन्हें मारें-पीटें और उन्हें डरायें-घमकायें, तो वे पाकिस्तान भाग जानेके सिवा दूसरा क्या कर सकते हैं ? आखिर तो जान उन्हें भी प्यारी है। परन्तु ऐसा आचरण आपको शोभा नहीं देता। इससे आप कांग्रेसको, अपने धर्मको और राष्ट्रको नीचे गिरा देंगे।

"अगर आप यह अनुभव करते हैं, तो आपका फर्ज है कि उन सब मुसलमानोंको आप वापस बुलायें, जो मजबूर हो कर पाकिस्तान भाग गये हैं। भारत इतना बड़ा है कि वह उन्हें और पाकिस्तानसे भाग कर आये हुए सब हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंको भी आसरा दे सकता है। अलबत्ता, जो मुसलमान पाकिस्तानमें विश्वास रखते हैं और वहीं सुखी रहना चाहते हैं वे शौकसे पाकिस्तान जा सकते हैं। उनके लिए कोई रुकावट नहीं है। . . .

"आजकी स्थितिमें हम दुनियाके सामने अपना सिर ऊंचा नहीं रख सकते। हमें स्वीकार करना होगा कि हमें विवश होकर पाकिस्तानके दुष्कृत्योंकी नकल करनी पड़ी है और इस प्रकार हमने उसके रास्तेको उचित सिद्ध कर दिया है। . . .

"मैं फिर कहता हूं कि पाकिस्तानमें कुछ भी होता रहे, आपका यह प्रथम कर्तव्य है कि आप मुसलमानोंको अपने भाई समझें। . . . संयमसे आपकी शक्ति बढ़ेगी। . . . इसके विपरीत, जो कुछ हुआ है वह यदि आपको पसन्द है, तो आपको कांग्रेस महासमितिके सिद्धांतों और उसके स्वरूपको ही बदल देना चाहिये। आपके सामने मूल प्रश्न यही है। . . . जो मुसलमान अपने घरबार छोड़ कर पाकिस्तान भाग गये हैं, उन सबको वापस आ जाने दीजिये। . . . अभी पाकिस्तान कुछ भी क्यों न करे, आगे-पीछे उसे भी संसारके लोकमतके दबावसे विवश होकर ऐसा ही करना पड़ेगा। उसके बाद युद्धकी आवश्यकता नहीं होगी और आपको अपना खजाना खाली नहीं करना पड़ेगा। . . .

"गुड़गांवके पासके कोई डेढ़ लाख मुसलमान पाकिस्तान भेजे जानेवाले हैं। कहा जाता है कि वे जरायमपेशा जातियोंसे बेहतर नहीं हैं, इसलिए उनको पाकिस्तान भेज देना ही अच्छा है। इस दलीलमें रहा तर्क मेरी समझमें नहीं आता। अंग्रेजी राज्यमें जरायमपेशा जातियां थीं। तब उन्हें निर्वासित करनेकी कोई बात कही गई थी ? उनके 'अपराधी' होनेके कारण हमारा उन्हें पाकिस्तान भेज देना अनुचित है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम उन्हें सुधारें। हमारे लिए यह कितनी शर्मकी बात है कि हम उन्हें तीन सौ मील पैदल चलकर पाकिस्तान जानेको मजबूर करें ! मैं इस तरह उन्हें जबरन् भारतसे निकालनेके विरुद्ध हूं। . . .

"मैं जानता हूं कि कुछ लोग कह रहे हैं कि कांग्रेसने अपनी आत्माको मुसलमानोंके चरणोंमें धर दिया है। गांधी ! वह जैसा चाहे बकता रहे। वह तो गया-बीता हो गया है। जवाहरलाल भी कोई अच्छा नहीं है। रही बात सरदार पटेलकी, सो उसमें कुछ है ! वह कुछ अंशमें सच्चा हिन्दू है। परन्तु आखिर तो वह भी कांग्रेसी ही है ! ऐसी बातोंसे हमारा कोई फायदा नहीं होगा। . . . हिंसक गुंडागिरीसे न तो हिन्दू धर्मकी रक्षा होगी, न सिक्ख धर्मकी। गुरु ग्रन्थसाहबमें ऐसी शिक्षा नहीं दी गई है। ईसाई धर्म भी ये बातें नहीं सिखाता। इस्लामकी रक्षा तलवारसे नहीं हुई है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके बारेमें मैं बहुतसी बातें सुनता रहता हूं। मैंने यह सुना है कि इस सारी शरारतकी जड़ रा. स्व. संघ है। . . . हिन्दू धर्मकी रक्षा ऐसे हत्याकाण्डोंसे

नहीं हो सकती । अब आप एक स्वतंत्र राष्ट्र हैं । आपको अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा करनी होगी । वह रक्षा आप तभी कर सकते हैं जब आप दयावान और वीर बनेंगे और सदा जागरूक रहेंगे । अन्यथा एक दिन ऐसा आयेगा जब आपको अपनी इस मुर्खता पर पछतावा होगा, जिसके कारण यह सुन्दर और बहुमूल्य फल आपके हाथसे निकल जायगा । मैं आशा करता हूं कि वैसा दिन कभी नहीं आयेगा ।"

सब बातोंको देखते हुए महासमितिके अधिवेशनमें गांधीजीकी व्यक्तिगत विजय हुई । कांग्रेसकी नीतिके बुनियादी सिद्धान्तों पर मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार पास हुआ :

> भारत अनेक धर्मों और अनेक जातियोंका देश है और ऐसा ही रहेगा । फिर भी भारत एक बुनियादी एकतावाला देश रहा है और आज भी है; और कांग्रेसका लक्ष्य इस समग्र महान देशका विकास एक ऐसे लोकतांत्रिक धर्म-निरपेक्ष राज्यके रूपमें करनेका रहा है, जहां सारे नागरिकोंको पूरे पूरे अधिकार प्राप्त होंगे और राज्यके संरक्षणके समान अधिकार होंगे, फिर वे किसी भी धर्मके अनुयायी क्यों न हों ।
>
> कांग्रेस भारतके अल्पसंख्यक समुदायोंको यह विश्वास दिलाना चाहती है कि वह उनके नागरिक अधिकारों पर होनेवाले आक्रमणसे यथाशक्ति रक्षा करती रहेगी । तदनुसार केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारोंको ऐसी स्थिति पैदा करनेकी पूरी कोशिश करनी चाहिये, जिसमें तमाम अल्पसंख्यक समुदायों और समस्त नागरिकोंको सलामती और प्रगतिके लिए अवसर प्राप्त हों ।...

एक और प्रस्तावमें निजी सेनाओंकी वृद्धि पर चिन्ता प्रगट की गई । प्रस्तावमें मुस्लिम नेशनल गार्डों, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, अकाली स्वयं-सेवकों और ऐसे ही दूसरे संगठनोंको उपर्युक्त श्रेणीमें आनेवाले वास्तविक और संभाव्य अपराधी बताया गया और देशकी महान त्याग और तपस्याके बाद मिली हुई स्वतंत्रताके लिए खतरा माना गया । इन संगठनोंसे ऐसी प्रवृत्तियां

बन्द कर देनेकी अपील की गई और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारोंसे कहा गया कि वे इस सम्बन्धमें आवश्यक कदम उठाये ।

एक और प्रस्तावमें सरकार तथा जनतासे अनुरोध किया गया कि वे इस प्रकार काम करें जिससे दबावकी वजहसे अपना घरबार छोड़कर पाकिस्तान चले जानेवाले मुसलमान अपने घरोंको लौट आयें और अपने मूल कामधंधे फिरसे शुरू कर सकें ।

> पंजाबमें और अन्यत्र हालके महीनोंमें जो दुःखद घटनाएं हुई हैं, उनके परिणाम-स्वरूप विशाल पैमाने पर एक देशकी प्रजा दूसरे देशमें गई है । . . . कांग्रेस महासमिति... की राय है कि इस देशान्तर-गमनको प्रोत्साहन न दिया जाय और भारतीय संघ तथा पाकिस्तान दोनोंमें ऐसी स्थिति पैदा की जाय कि अल्पसंख्यक समुदाय शान्ति और सलामतीसे रह सकें । यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय, तो लोगोंकी देशके दूसरे भागमें जाकर बसनेकी इच्छा नहीं होगी । इस समितिकी रायमें पाकिस्तानके हिन्दू और सिक्ख निवासियोंको अपने घर छोड़ कर भारतीय संघमें और भारतीय संघके मुसलमानोंको पाकिस्तानमें जा बसनेके लिए मजबूर करना अनुचित है ।
>
> यह तो असंभव है कि जो कुछ किया जा चुका है उसे मिटा दिया जाय । परन्तु इस बातका पूरा प्रयत्न होना चाहिये कि दोनों राज्योंके निष्क्रान्त लोग और निराश्रित अपने अपने घरोंको लौट कर सुरक्षितता तथा सलामतीकी अवस्थामें अपने मूल धंधे करने लगें । जो लोग अभी तक अपने घरबार छोड़ कर नहीं गये हैं, उन्हें वहीं रहनेको प्रोत्साहित किया जाय । यदि वे स्वयं दूसरे देशमें जाना चाहें तो दूसरी बात है । उस सूरतमें उन्हें ऐसा करनेकी सुविधाएं मिलनी चाहिये । भारतीय संघकी केन्द्रीय सरकार और पाकिस्तान सरकारका यह कर्तव्य है कि वे इस आधार पर वार्ताएं करें और ऐसी स्थिति पैदा करें जिससे निष्क्रान्त और निराश्रित लोग सुरक्षित वापस आ सकें ।

१८ नवम्बरको शामकी प्रार्थना-सभामें गांधीजीने घोषणा की : सच्ची कसौटी यह है कि जो काफिले पाकिस्तानकी तरफ पैदल कूच कर रहे हैं उन्हें वायुमण्डलमें इतना परिवर्तन महसूस हो कि वे अपने घरोंकी ओर लौट पड़ें। जो काफिला गुड़गांव जिलेसे प्रयाण कर रहा था, उसके कुछ व्यक्ति घरकी तरफ मुड़ गये हैं। यदि लोग सही व्यवहार करें, तो काफिला उनके पीछे पीछे चला आयेगा।

एक अनिष्टकी ओर संकेत करनेवाली खबर गांधीजीके पास यह पहुंची कि महासमितिके जिन सदस्योंने इस प्रस्तावके पक्षमें मत दिया था, वे सब अपनी बातके सच्चे नहीं थे। एक पत्रमें उन्होंने मुझे लिखा: "मैं देखता हूं कि लड़ाई मुझे दिल्लीमें ही लड़कर जीतनी होगी। मेरे करनेके लिए यहां बहुत काम है।...इस बार कांग्रेस महासमितिके छह प्रस्ताव लगभग मेरे थे।...अब देखना यह है कि उन पर अमल कैसे किया जाता है।" [गांधीजीका पत्र प्यारेलालको, १ दिसम्बर १९४७]

बिखरनेसे पहले कांग्रेस महासमितिने कांग्रेसके अध्यक्ष आचार्य कृपलानीका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। वे जबसे अध्यक्ष हुए थे तभीसे सरकारके अपने कांग्रेसी साथियोंसे उनकी बनी नहीं थी। ऐसी स्थितिमें उनको लगा कि उनके कांग्रेस अध्यक्ष बने रहनेसे कांग्रेसकी कार्यकारिणी और कांग्रेसकी केन्द्रीय-सरकारमें मेल और सहयोगका अभाव ही रहेगा और इसलिए उनका अध्यक्ष-पदसे अलग हो जाना ही उत्तम होगा। गांधीजीने उनके निर्णयका समर्थन किया।

आचार्य कृपलानीका स्थान कौन ले ? लगभग सभी चोटीके नेता सरकारमें थे और कांग्रेस कार्यकारिणी तथा केन्द्रीय सरकारके भावी सम्बन्ध अभी तक स्पष्ट रूपमें निश्चित नहीं किये गये थे। किसीने गांधीजीसे पूछा : ऐसी अवस्थामें आप ही कांग्रेसका काम नहीं संभाल लेंगे ? उन्होंने उत्तर दिया : मुझे भरोसा नहीं कि मेरे तीव्र उपाय किसीको भी पसंद आयेंगे। मेरा जुआ सबके लिए अत्यंत भारी साबित हो सकता है। कोई कांग्रेस समाजवादी अध्यक्ष होता तो गांधीजी पसंद

करते; क्योंकि कोई प्रमुख कांग्रेसी नेता सरकारसे बाहर नहीं था, जो कांग्रेसका कार्य संभाल लेता । और गांधीजी यह नहीं चाहते थे कि कांग्रेस केवल सत्तारूढ़ सरकारकी हांमें हां मिलानेवाली संस्था बन जाय । उन्होंने आचार्य नरेन्द्रदेवका नाम सुझाया । परन्तु वह कांग्रेसी नेताओंको स्वीकार नहीं था । उन्होंने डॉ. राजेन्द्रप्रसादके पक्षमें निर्णय दिया और राजेन्द्रबाबू कांग्रेसके अध्यक्ष बननेके लिए केन्द्रीय मंत्रि-मंडलके अन्न और कृषि-विभागसे मुक्त हो गये ।

३

निराश्रितोंके प्रश्न पर कांग्रेस महासमितिका प्रस्ताव पास हुआ ही था कि समाचार आने लगे कि स्वयं राजधानीमें ही उसकी कीमत मृत कानून जैसी हो रही है ।

चांदनी चौककी एक मुस्लिम दुकान एक गैर-मुस्लिम निराश्रितको अस्थायी रूपमें इस शर्त पर दे दी गई कि जब मालिक लौट आयेगा तब उसे खाली कर देना पड़ेगा । मूल मालिक लौट आया । परन्तु जब पुलिस दल निराश्रितके पास गया और दुकानका कब्जा मांगा, तो दुकानके सामने लगभग २,००० की भीड़ इकट्ठी हो गई । उसका रवैया धमकीभरा था और वह अस्थायी मालिकको निकालनेके विरूद्ध प्रदर्शन कर रही थी । वह तभी तितर-बितर हुई जब पुलिसने हवामें दो चार बार गोली चलाई । एक राहगीरके छुरा भोंक दिया गया ।

शहरके एक और हिस्सेमें चालाकीसे काम लिया गया । सिक्खोंने शराबमें पागल होकर मुस्लिम मुहल्लेमें गश्त लगाई । वे नंगी तलवारें लेकर नाचे और हुल्लड़ मचाकर उन्होंने मुसलमान निवासियोंको डराया-धमकाया, ताकि वे मजबूर होकर अपने मकान छोड़ दें और हिन्दुओं तथा सिक्खोंके लिए जगह कर दें ।

कुछ दिन बाद दिल्लीकी शान्ति फिर भंग हुई । कुछ हिन्दू और सिक्ख निराश्रित एक खाली मुस्लिम घरमें गये और उस पर जबरन् अधिकार जमानेका प्रयत्न करने लगे । इससे झगड़ा हो गया । उसमें कुछ लोगोंको चोटें आईं । ऐसी अफवाह फैलाई गई कि चार सिक्खोंकी हत्या

कर दी गई है । इसके बाद बदलेकी कार्रवाई शुरू हुई । कई व्यक्ति छुरोंसे घायल कर दिये गये । परिणाम-स्वरूप शहरके कई भागोंमें फिर करफ्यू लागू करना पड़ा।

गांधीजीने दुःखी होकर राजाजीसे कहा: "मेरे द्वारा कांग्रेस अथवा महासमितिसे कुछ प्रस्ताव पास करानेसे क्या लाभ होगा, यदि अमलमें वे व्यर्थ बना दिये जायें ?" मेरे आसपास जो कुछ चल रहा है उसका जीता-जागता साक्षी बननेके बजाय मैं इसे ज्यादा पसंद करूंगा कि मेरी आंखें सदाके लिए बंद हो जायं ।

२ दिसम्बरको यह खबर पाकर कि पानीपतके हिन्दू मुस्लिम घरों पर जबरन् कब्जा करने लगे हैं, गांधीजी फिर वहां गये । पर्चिमी पंजाबसे आये हुए हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंकी संख्या २८,००० तक पहुंच गई थी । वे नारे लगा लगाकर मांग कर रहे थे कि मुसलमानोंको पूर्व पंजाबसे निकाल दिया जाय । मुसलमानोंने यह मांग की कि उन्हें पाकिस्तान भेज दिया जाय ।

उन्होंने गांधीजीसे कहा : जब आप पिछली बार आये थे तो हमने कहा था कि हम पाकिस्तान नहीं जायंगे । लेकिन उसके बाद यहांकी स्थिति बिगड़ गई है । न तो यहां हमारी जान सुरक्षित है, न इज्जत । तब फिर हमारी सम्पत्तिकी तो बात ही क्या ? ऐसी अवस्थामें हम कैसे यहां रह सकते हैं ? गांधीजीने उनसे कहा : आप पर चले जानेके लिए कोई जबरदस्ती नहीं है । आपको अपनी तकलीफें अधिकारियोंके सामने रखनी चाहिये । आपको उचित न्याय दिलाऊंगा । परन्तु उन्होंने पाकिस्तान जानेका निश्चय कर लिया था।

गांधीजीकी पिछली मुलाकातके बादसे स्थितिमें यह बिगाड़ किस कारण हुआ होगा ? पूछताछ करने पर गांधीजीको पता चला कि यह फर्क पश्चिम पंजाब और सीमाप्रान्तसे बड़ी संख्यामें हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंके आ जानेसे पड़ा है । वापसी सफरमें गांधीजी उनके प्रवक्ताको अपने साथ ले आये । उससे उन्होंने कहा : आपको हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंसे कहना चाहिये कि वे मुसलमानोंको अपने घरोंमें ही रहनेके लिए राजी करें और उनके तमाम

डरको मिटा दें । यह पानीपतकी वास्तविक विजय होगी, जो अपनी उन तीन लड़ाइयोंके लिए विख्यात है, जिन्होंने भारतके इतिहासकी दिशा तीन बार बदल दी थी ।

परन्तु देर बहुत हो चुकी थी । मुसलमानोंने कहा : हम तो पाकिस्तान चले जाना ही पसन्द करेंगे । और अन्तमें वे सब चले गये । गांधीजीको बड़ा दुःख हुआ । उनके उचित उद्गार इस प्रकार थे : "पानीपतकी चौथी लड़ाई" हम हार गये !

इन सब बातोंसे गांधीजीको इतना गहरा दुःख हुआ कि वे बोले : मुझे कभी कभी ऐसा लगता है कि मैं पृथ्वी पर व्यर्थका भार बन गया हूं । भारतके पास अब अपनी स्थलसेना है, जलसेना बन रही है और हवाई सेना भी है । इन सबका अधिक विकास किया जा रहा है । परन्तु मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि भारत अपनी अहिंसक शक्तिका विकास नहीं करेगा, तो वह "अपने लिए या दुनियाके लिए कुछ भी प्राप्त नहीं करेगा" । गांधीजीको अन्त तक यह आशा बनी रही कि भारत किसी न किसी दिन वीरोंकी अहिंसाके मेरे आदर्शको प्राप्त करेगा और सारे मानव-समाजके लिए मार्ग प्रकाशित करेगा ।

स्वाधीनताके बाद भारत अहिंसाके आदर्शके अनुसार आचरण न कर सका, इसके मूल कारणका विश्लेषण करते हुए गांधीजीने एक स्विस शान्तिवादी महिला मेडम एडमण्ड प्रिवाटको एक पत्रमें लिखा कि इस असफलताके लिए वही कारण जिम्मेदार है जो कि पश्चिममें ईसाई धर्मकी असफलताके लिए जिम्मेदार था; अर्थात् निष्क्रियताको भ्रमसे अहिंसा समझ लेना :

> यूरोपने नाजारेथके ईसाके साहस, वीरता और बुद्धिमत्तापूर्ण प्रतिकारको भूलसे कमजोरोंका निष्क्रिय प्रतिरोध समझ लिया । जब मैंने पहली बार 'न्यू टेस्टामेन्ट' पढ़ा तो उसके चारों उपदेशोंमें चित्रित ईसामें कोई निष्क्रियता या दुर्बलता मुझे दिखाई नहीं दी; और जब मैंने टॉल्स्टॉयकी 'हार्मनी ऑफ दि गॉस्पेल्स' नामक पुस्तक और उनकी ऐसी ही अन्य रचनाएं पढ़ीं, तो वह अर्थ मेरे लिए और भी स्पष्ट हो गया । क्या ईसाको निष्क्रिय प्रतिरोधी मान कर पश्चिमने भारी कीमत नहीं चुकाई है ? ईसाई संसार उन युद्धोंके लिए

जिम्मेदार रहा है, जिनके सामने 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' तथा दूसरे ऐतिहासिक अथवा अर्ध-ऐतिहासिक रेकार्डोंमें वर्णित युद्ध भी फीके पड़ जाते हैं । [हरिजन, ७ दिसम्बर १९४७, पृ. ४५३]

बेशक, भारतने "निष्क्रिय प्रतिरोध" के द्वारा अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, फिर भी "निष्क्रिय प्रतिरोध" को "अहिंसक प्रतिकार" समझ कर जो भूल अनजाने हमने की या "मैंने की" उसकी भारी कीमत हम रोज ही चुका रहे हैं ।

यदि मैंने यह भूल न की होती तो हमें एक कमजोर भाई द्वारा अपने कमजोर भाईकी अविचारपूर्ण और अमानुषिक हत्याका अपमानजनक दृश्य न देखना पड़ता । मेरी तो यही आशा और प्रार्थना है और मैं चाहता हूं कि इस आशा और प्रार्थनामें मेरे यहांके तथा संसारके दूसरे भागोंके मित्र भी सम्मिलित हों कि इस रक्तस्नानका शीघ्र ही अंत होगा और शायद इस अनिवार्य हत्याकांडमें से एक नये और सशक्त भारतका उदय होगा – वह भारत युद्धप्रिय और पश्चिमकी तमाम घृणित बातोंका नीच अनुकरण करनेवाला नहीं होगा बल्कि ऐसा नवीन भारत होगा, जो पश्चिमकी उत्तम बातें सीखेगा और न सिर्फ एशिया और अफ्रीकाकी बल्कि सारे पीड़ित संसारकी आशा बनेगा ।

अंतमें उन्होंने लिखा : "मुझे स्वीकार करना चाहिये कि मेरी यह आशा व्यर्थ है, क्योंकि आज तो हम सेनाके और उस नग्न पशुबलके साथ जड़ी हुई तमाम बातोंके भक्त हो रहे हैं । हमारे राजनीतिज्ञ दो पीढ़ियोंसे भी अधिक समयसे ब्रिटिश राज्यके अंतर्गत सेना व शस्त्रास्त्रों पर होनेवाले भारी खर्चकी निन्दा करते रहे हैं; परन्तु अब राजनीतिक गुलामीसे मुक्ति मिल गई है, इसलिए हमारा सैनिक व्यय बढ़ गया है और अभी इससे ज्यादा बढ़नेका अंदेशा है; और इसका हमें गर्व है ! हमारी विधान-सभामें इसके खिलाफ एक भी आवाज नहीं उठती । किन्तु इस पागलपन और पश्चिमकी चमककी थोथी नकलके बावजूद मेरी और दूसरे अनेक लोगोंकी यह आशा बनी हुई है कि भारत मृत्युके इस ताण्डवके बाद भी जीवित रहेगा और उसे वही नैतिक

उच्चता प्राप्त होगी जिसका १९१५ से आज तकके ३२ वर्षोंके अविच्छिन्न कालमें अहिंसाकी – अपूर्ण ही सही – तालीम पाकर वह पात्र बना है ।"

*

भारतीय सेनाके सेनापति के. एम. करिअप्पाने इंग्लैण्डमें अपने एक भाषणमें यह कह दिया था कि भारतकी वर्तमान परिस्थितियोंमें अहिंसाका कोई उपयोग नहीं है; बलशाली सेना ही भारतको संसारका एक महानतम राष्ट्र बना सकती है ।

गांधीजीने 'हरिजन' में इसका विरोध किया : "सेनापति करिअप्पासे अधिक बड़े सेनापतियोंने बुद्धिमानी और नम्रतापूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है कि उन्हें अहिंसाकी महान शक्तिकी संभावनाओंके बारेमें बोलनेका कोई अधिकार नहीं हो सकता । मैं साहसपूर्वक कहता हूं कि अणुबमके इस युगमें विशुद्ध अहिंसा ही एक ऐसी शक्ति है, जो हिंसाकी सारी चालोंको विफल बना सकती है । हम सैनिक विज्ञान और उसके प्रयोगके दुःखद दिवालियापनको उसके घरमें ही देख रहे हैं । क्या किसी दिवालियेको, जो शेयर बाजारके जुएसे बरबाद हो चुका है, उस विशेष प्रकारके जुएका गुणगान करना चाहिये ?" [हरिजन, १६ नवम्बर १९४७, पृ. ४१२]

सेनापतिने बादमें कहा : यह तो सेनाकी भाषामें एक 'रॉकेट' था ! परन्तु उन्होंने इसे खिलाड़ीकी वृत्तिसे ग्रहण किया । भारत लौटने पर वे पूर्वी सेनाकी कमान हाथमें लेनेसे पहले दिसम्बरके प्रथम सप्ताहमें गांधीजीसे मिलने आये । यह दोनोंकी पहली मुलाकात थी । उस दिन गांधीजीका मौन था । वे चरखा चला रहे थे । गांधोजीने उन्हें बैठनेको कुरसी दी । लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया और आदरके भावसे जमीन पर ही बैठे ।

उन्होंने गांधीजीसे कहा : "मैं आपके आशीर्वाद लेने आया हूं । . . ."

गांधोजीने कागजके पुरजे पर लिख दिया : "आपने पिछले महीने लंदनमें अहिंसा पर जो वक्तव्य दिया था, उस पर मैंने अपने पत्रमें लिखा था । आपको उसका कुछ पता है ?"

सेनापति हंसे और बोले : मैंने उसे देखा है । यह जानकर मुझे गौरवका अनुभव हुआ कि मेरे जैसे व्यक्तिके, जिससे वे कभी नहीं मिले, विचारोंको महात्माजीने इतनी विस्तृत आलोचना करनेका कष्ट उठाया ।

चर्चाके विषय पर आकर सेनापतिने कहा : "हम सैनिकोंका समुदाय बड़ा बदनाम है । . . . आप भी ऐसा समझते हैं कि हम बड़े हिंसक लोग हैं । परन्तु हम ऐसे नहीं हैं । . . . दुनियाके सब लोगोंमें अगर कोई समुदाय युद्धोंको नाप्सन्द करता हो, तो वह सेनिकोंका समुदाय है । इसका कारण रणक्षेत्रके खतरे और भयानक दृश्य नहीं हैं, परन्तु हमारा यह ज्ञान है कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े निबटानेमें युद्ध बिलकुल बेकार साबित हुए हैं । हमारे खयालसे एक युद्धका परिणाम दूसरा युद्ध होता है । इतिहासने हमें यही पाठ पढ़ाया है ।"

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको निबटानेके एक साधनके रूपमें युद्धकी नितान्त व्यर्थताका प्रमाण इतने प्रसिद्ध पेशेवर योद्धाकी तरफसे पाकर गांधीजीको साश्चर्य आनन्द हुआ । इससे गांधीजी और सेनापति दोनोंके बीच युद्धका कोई कारगर नैतिक एवज ढूंढ़नेका समान कारण उपस्थित हो गया । इस प्रकार आधी लड़ाई तो जीत ली गई ।

सेनापतिने अपनी बात जारी रखी : "किसी लोकतांत्रिक देशमें युद्ध सैनिकोंकी तरफसे आरम्भ नहीं होता । . . . सरकारें युद्धकी घोषणा करती हैं, जब उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंका कोई सन्तोषजनक हल नहीं मिलता । . . . हम तो केवल सरकारके और इसलिए . . . जनताके आदेशका पालन करते हैं । . . . अगर लोकतंत्रमें जनताको युद्ध पसन्द नहीं हो, तो उसे हमें दोष न देकर . . . उस सरकारको दोष देना चाहिये, जिसे उसने सत्तारूढ़ किया है । . . . अगर जनता उस सरकारसे सन्तुष्ट नहीं है, तो उसके लिए उस सरकारको बदल कर उसके स्थान पर दूसरी ऐसी सरकार खड़ी करना बिलकुल आसान है, जो युद्धका आश्रय नहीं लेगी । . . . इस प्रकार आप देखते हैं कि हम तो निर्दोष हैं । . . . आप हमें क्यों दोष देते हैं ?"

गांधीजीने सेनापतिको जो कागजका पुरजा दिया था उसे लौटानेका संकेत उन्होंने किया। उस पर गांधीजीने फिर लिखा : "जब हम दुबारा मिलेंगे तब मैं आपसे इस विषय पर अधिक चर्चा करना चाहूंगा ।

दो दिन बाद वे फिर मिले । सेनापतिको याद आता है : "वे (गांधीजी) बहुत प्रसन्न दिखाई देते थे । इस मौके पर मैं फौजी वर्दी पहने हुए था । मैंने उनके सामने खड़े होकर उन्हें सैनिक वंदन किया ।"

गांधीजी उनकी तरफ मुड़कर मुस्कराते हुए बोले : "में देखता हूं कि आपने जूते फिर बाहर निकाल दिये हैं । आप दो दिन पहले आये थे तब भी आपने ऐसा ही किया था ।"

सेनापतिने गहरे पूज्य भावसे उत्तर दिया : "मेरा ऐसा करना उचित ही है, क्योंकि मैं आप जैसे ईश्वर-परायण पुरुषसे मिलने आया हूं ।

अहिंसा पर अपनी बातचीत फिरसे आरम्भ करते हुए सेनापति बोले : "मैं आपसे यह कहने . . . आया हूं कि हम सैनिक लोग आप जिस विचारधारा पर अमल करते हैं उसके एक एक अंगका पालन करते हैं . . . जैसे, मानव-जातिके प्रति प्रेम और वफादारी, अनुशासन, अपने देशकी निःस्वार्थ सेवा, श्रमका गौरव और अहिंसा । . . . अगर हमें कोई सेना रखनी ही है . . . तो वह अच्छी होनी चाहिये । . . . मैं अपने ही ढंगसे सैनिकोंको याद दिलाऊंगा कि अहिंसाकी कितनी आवश्यकता और कितना महत्त्व है । अगर मैं हमेशा अपने सैनिकोंसे अहिंसाकी बात ही करता रहूं और अच्छे सैनिक बननेकी पूरी पूरी तैयारी करनेके उनके मुख्य कार्यको गौण बना दूं, तो मैं देशके प्रति अपना कर्तव्य अच्छी तरह निबाह नहीं सकता । इसलिए मैं आपसे निवेदन करता हूं कि कृपया मुझे 'बालककी ज्ञानकुंजी' दीजिये । . . . कृपा करके मुझे बताइये कि सैनिकके नाते अपने पेशेकी अच्छी तालीम प्राप्त करनेके उनके कर्तव्यको खतरेमें डाले बिना मैं सैनिकोंमें अहिंसाकी वृत्ति कैसे पैदा कर सकता हूं । . . . मैं इस विषयमें बालक जैसा हूं । आपका मार्गदर्शन चाहता हूं ।"

गांधीजी हंस दिये । वे अब भी अपना चरखा चला रहे थे । वे रुके और सेनापतिकी ओर देखकर बोले : "हां . . . आप सब बालक हैं; मैं भी बालक ही हूं, लेकिन संयोगवश मैं आपसे बड़ा बालक हूं, क्योंकि मैंने आप सबकी अपेक्षा इस विषयमें अधिक विचार किया है । आपने मुझे प्रत्यक्ष और ठोस रूपमें यह बतानेको कहा है कि आप अपनी सेनाके सैनिकोंको अहिंसाकी आवश्यकताकी प्रतीति कैसे करा सकते हैं ।"

अपनी आंखें आधी मूंद कर और अपनी बात पर जोर देनेके लिए अपनी दाहिनी बांह फैलाकर उन्होंने यह भी कहा : "उत्तरके लिए मैं अभी तक अंधेरेमें टटोल रहा हूं । मैं इसका पता लगाऊंगा और किसी दिन आपको बताऊंगा ।"

फिर वे बताने लगे कि लॉर्ड वेवेल और लॉर्ड माउंटबेटन दोनों ही कुशल और अनुभवी पेशेवर सैनिक थे, फिर भी उन्होंने अहिंसाके महत्त्वमें अपनी पूर्ण श्रद्धा प्रगट की थी । "जिस अहिंसक तरीकेसे हमने हिन्दू-मुसलमानोंके साम्प्रदायिक झगड़ोंको निबटाया है, उसका लॉर्ड वेवेल पर बड़ा असर हुआ । उन दोनोंको आशा है कि अहिंसा और शान्तिवादकी हमारी विचारधाराको संसारके लोग समझेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको मिटानेमें सब लोग उनके अनुसार आचरण करेंगे ।" अलबत्ता, आपकी तरह उन्होंने यह भी कहा है कि आत्मरक्षाके लिए हमें सदा तैयार रहना चाहिये ।

विदाईके समय गांधीजीने फिर कहा : "अगले चन्द दिनोंमें मैं इसके बारेमें गंभीरतापूर्वक विचार करूंगा और आपको जल्दी ही बताऊंगा । लेकिन मैं आपसे कई बार मिलना चाहूंगा, ताकि हम इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर ज्यादा चर्चा कर सकें । . . . सेनाके अनुशासनकी और आप सेनाके लोग सफाई और स्वास्थ्यके नियमोंको जो महत्त्व देते हैं उसकी मैंने हमेशा बड़ी प्रशंसा की है । बातचीतमें मैं अपने लोगोंसे इन बातोंमें सेनाकी नकल करनेके लिए कहता हूं ।"

सेनापति करिअप्पा गांधीजीसे अन्तिम बार १८ जनवरी, १९४८ को मिले । वे पश्चिम कमानका कार्यभार संभालने दिल्ली आये थे । उस समय इसे डी. ई. पी. (दिल्ली और पूर्वी पंजाब

कमान) कहते थे और जम्मू तथा काश्मीरमें सैनिक कार्रवाई चलानेकी जिम्मेदारी इसी कमान पर थी ।

करिअप्पा बोले, "मैं कुछ ही दिनोंमें काश्मीर जा रहा हूं ।

गांधीजीने उत्तर दिया : "आशा है, आप काश्मीरकी समस्या अहिंसक ढंगसे हल करनेमें सफल होंगे । काश्मीरसे लौटनेके बाद आप मुझसे मिलिये ।"

सेनापति उत्सुकतापूर्वक इसकी आशा लगाये हुए थे कि समय पाकर उन्हें "बालकोंकी ज्ञानकुंजी" गांधीजीसे मिलेगी । भारतके अहिंसक स्वातंत्र्य-संग्रामका सेनापति भारतीय सेनाके सेनापतिको अहिंसक कार्य-प्रणालियोंकी दीक्षा दे और दोनों मिलकर युद्धके स्थान पर किसी दूसरे कारगर उपायकी खोज करके उसके प्रयोगका काम करें, यह एक संमोहक संभावना थी । दोनों इस बातसे सहमत थे कि लड़ाईसे किसी भी प्रश्नका निबटारा नहीं होता । इसी उद्देश्यके लिए गांधीजीने बादशाह खान और सीमाप्रान्तके लड़ाकू पठानोंके साथ काम किया था और उसमें उन्हें कैसी अद्भुत सफलता मिली थी ! इस बारेमें गांधीजीके निश्चित विचार थे कि जो राज्य अहिंसक आदर्शकी सिद्धिकी आकांक्षा रखता हो उसमें सेनाका क्या भाग हो और उसकी शक्ति को अहिंसक उपायों द्वारा कैसे बढ़ाया और कारगर बनाया जा सकता है । परन्तु ईश्वरको कुछ और ही स्वीकार था । सेनापति ३० जनवरी, १९४८ को तीसरे पहर काश्मीरसे लौटे और दूसरे दिन राजघाट पर गांधीजीके मृतदेहके ही दर्शन कर पाये !

४

दिसम्बर १९४७ के दूसरे सप्ताहमें गांधीजी शहीद सुहरावर्दीसे पश्चिम पंजाबसे भगाई हुई स्त्रियोंके प्रश्न पर चर्चा कर रहे थे । चर्चामें उन्होंने कहा : "आपको जानना चाहिये कि यहांके लोगोंको और उससे भी अधिक संघ-सरकारके सदस्योंको आप पर उतना विश्वास नहीं है जितना मुझे है । वे कहते हैं कि आप मुझे बेवकूफ बना रहे हैं और कलकत्तेमें आप मेरे कहने पर इसलिए चलते थे कि वहां मुसलमान खतरेमें थे; परन्तु यहांकी स्थिति दूसरी है और इसलिए आप भी

दूसरे हैं । अगर आप उनका अविश्वास और सन्देह मिटाना चाहते हैं, तो आपमें जिन्ना और लियाकतअलीसे साफ कह देनेका साहस होना चाहिये कि भगाई हुई औरतोंका पता लगाने और अल्पसंख्यक समुदायों सम्बन्धी दूसरे मामलोंके बारेमें उन्हें भारतीय संघके साथ एकसी नीति अपनानी होगी । इसी प्रकार कराचीमें जो कुछ होता कहा जाता है उसकी सचाईका पता आपको लगाना चाहिये और जिन्नासे पूछना चाहिये कि उसका उनकी इस घोषणाके साथ कैसे मेल बैठता है कि पाकिस्तानमें अल्पसंख्यकोंकी पूरी रक्षा की जायगी । और यदि आप उनसे इस बारेमें कुछ न करा सकें, तो आपको एक मुसलमान और भारतीय नागरिकके नाते एक बयान जारी करके पाकिस्तानकी नीतिका स्पष्ट शब्दोंमें विरोध करना चाहिये । इससे आप भारत और पाकिस्तान दोनोंकी सेवा करेंगे ।"

यह विषय उन अनेक चर्चाओंका था, जो शहीद और स्थानीय मुसलमानोंके साथ गांधीजीकी हुईं । गांधीजीने उनसे कहा: भारतीय संघ अल्प:संख्यकोंके खातिर भारतको सुरक्षित बनानेके लिए और भारतीय नागरिकोंकी हैसियतसे उनके संपूर्ण अधिकारोंकी रक्षा करनेके लिए साम्प्रदायिक धर्मान्धताके विरुद्ध जो दारुण युद्ध लड़ रहा है, उसमें आप दोनोंको सत्य और न्यायके पक्षमें आगे आकर जिन्ना और पाकिस्तानको अपने मनकी बात कह देनी चाहिये ।

शहीदके साथ गांधीजीकी बातचीत चल ही रही थी कि स्थानीय मुसलमानोंका एक दल गांधीजीसे मिलने आया । गांधीजीने उन्हें भी यही सलाह दी : अगर आप महसूस करते हैं कि पाकिस्तानमें अल्पसंख्यकोंके साथ न्याय नहीं किया जा रहा है, तो आपको एक सार्वजनिक वक्तव्य द्वारा अपने विचार प्रकट करने चाहिये और साहसके साथ साफ शब्दोंमें कहना चाहिये कि यह पाकिस्तानके लिए शर्म और इस्लामके लिए कलंककी बात है । मुसलमान मित्रोंनें स्वीकार किया कि पाकिस्तानका व्यवहार अल्पसंख्यकोंके साथ अत्याचारपूर्ण, अनैतिक और इस्लामके विरुद्ध है; हमें वह पूरी तरह नापसन्द है । उन्होंने यह भी कहा कि यह पाकिस्तानके हाथमें है कि पाकिस्तानमें अल्पसंख्यकोंके साथ उचित व्यवहार करके वह भारतीय

मुसलमानोंकी सुरक्षाको निश्चित बना दे । उन्होंने गांधीजीको वचन दिया कि वे एक वक्तव्य निकालेंगे और उसमें ये सब बातें शामिल कर लेंगे ।

लगभग इसी समय उत्तरप्रदेशके चार मुसलमानोंका एक शिष्ट-मण्डल, जो पश्चिम पंजाबमें शान्ति-मिशन पर गया था, लौट आया और उसने गांधीजीको एक रिपोर्ट दी । उसमें उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि अब हिन्दू लाहौर लौट सकते हैं और वहां सुरक्षित रूपमें रह सकते हैं, परन्तु सिक्खोंको समयकी प्रतीक्षा करनी होगी । उन्होंने यह भी कहा: "उत्तरप्रदेशके शान्ति-मिशनके सदस्य अपने गैर-मुस्लिम भाइयोंको विश्वास दिलाते हैं कि जो लोग अपने घरोंको लौट जाना चाहें, उनके साथ वे खुद जायंगे और वहां उनके पुनर्वासमें मदद करेंगे । वे अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर उनकी रक्षा करेंगे और जब तक उन्हें सलामती अनुभव नहीं होगी तब तक उन्हें छोड़कर वे नहीं आयेंगे ।"

यह सही दिशाका एक कदम था । परन्तु लोगोंके मनमें इतना अविश्वास और कड़वापन था कि इस रिपोर्ट पर निराश्रितोंकी तरफसे रोषपूर्ण विरोध ही प्रकट हुआ । जो निराश्रित पश्चिम पंजाब लौटनेका प्रयत्न कर चुके थे, उनके अनुभवोंका प्रमाण दिया गया । यह बताया गया कि वे अनुभव इस रिपोर्टके बिलकुल विपरीत हैं । गांधीजीको चेतावनी दी गई कि वे "पाकिस्तानके मुस्लिम नेताओंकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें" न आयें । सिक्खोंको छोड़ कर हिन्दू निराश्रित लाहौर लौटें और अपना कारबार फिर संभाल लें, इस निमन्त्रणको "हिन्दुओं और सिक्खोंके बीच फूट पैदा करनेकी . . . एक धूर्त चाल" कहा गया ।

गांधीजीने शंकाशीलोंको समझाया : जो बातें बताई गई हैं वे अगर सही हों, तो भी मुसलमान मित्रोंका कथन आवश्यक रूपमें झूठा सिद्ध नहीं होता । यदि प्रस्तावका हेतु हिन्दुओं और सिक्खोंके बीच फूट डालनेका हो, तो वह अवश्य एक दुष्ट चाल है । यह सच है कि प्रस्तावका एक अर्थ ऐसा लगाया जा सकता है । परन्तु आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि उत्तरप्रदेशके मित्रोंने इस तरहके बुरे अर्थका जोरदार खण्डन किया है । "उन्हें सिर्फ अपनी ही प्रतिष्ठाकी रक्षा

नहीं करनी है, बल्कि संघके जिन मुसलमानोंके वे प्रतिनिधि हैं उनकी तथा पाकिस्तानके जिन अधिकारियोंने उन्हें आश्वासन दिया है उनकी प्रतिष्ठाकी भी रक्षा करनी है। मैं यहां यह भी कह दूं कि

. . . वे लोग निष्क्रिय नहीं हैं; वे अपने शांति-मिशनको आगे बढ़ा रहे हैं।" [प्रार्थना-प्रवचन, १५ दिसम्बर १९४७]

अन्तमें गांधीजीने लोगोंसे कहा : आपको दोनों तरफकी दुर्भाग्यपूर्ण वस्तुस्थितिको ध्यानमें रखना चाहिये। "इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पाकिस्तानमें सिक्खोंके विरुद्ध अधिक तीव्र भावना है।" इस दृष्टिसे देखें तो उत्तरप्रदेशके इन मित्रोंके इस प्रयत्नमें कोई अनौचित्य नहीं है कि "फिरसे सरहद लांधनेके कामको आसान बनाया जाय।" हम जिस संकटमेंसे गुजर रहे हैं उसमें हमें हदसे ज्यादा नाजुकमिजाज और शक्की नहीं बनना चाहिये। "अविश्वास एक धोखेबाज साथी होता है। . . . अपनी तरफसे तो . . . मैंने जीवनभर आंखें खोलकर दूसरोंका विश्वास किया है। . . . विश्वाससे विश्वास पैदा होता है। इससे आपको विश्वासघातका सामना करनेकी ताकत मिलती है। यदि दोनों ओरके निष्क्रान्त लोगोंको अपने अपने घर लौट जाना है, तो यह उसी उपायसे सम्भव होगा जो मैंने सुझाया है और जिसे मैं कर रहा हूं।" [वही]

यह गांधीजीके स्वभावकी विशिष्टता थी कि एक ओर वे अपनी पूरी शक्तिके साथ लोगोंको समझाते थे कि आप उन लोगोंकी नेकनीयती पर सन्देह न करें जो दोनों राज्योंके बीचकी खाईको पाटनेकी कोशिश कर रहे हैं, तो दूसरी ओर वे सब सम्बन्धित लोगोंसे यह भी छिपानेका प्रयत्न नहीं कर रहे थे कि खूद उन्हें ही इसका भरोसा नहीं है कि हिन्दू और सिक्ख निराक्षितोंके अपने मूल घरोंको लौट जानेके लिए परिस्थितियां अनुकूल हो गई हैं। परन्तु इतना तो वे स्पष्ट कह ही सकते थे : "निराश्रितोंके अपने घरोंमें वापस गये बिना शान्ति नहीं हो सकती। आबादीकी स्थायी अदला-बदलीके प्रस्तावसे में कभी सहमत नहीं हो सकता।" [प्रार्थना-प्रवचन, १७ दिसम्बर १९४७]

५

जिस दुविधाके कारण चारु चौधरीको और मुझे अगस्तके महीनेमें कलकत्ता जाना पड़ा था, वह अभी मिटी नहीं थी । गांधीजी उस समय उपवास कर रहे थे, इसलिए उनसे सलाह-मशविरा करनेका मौका हमें नहीं मिला । किन्तु हमने यह आशा रखी थी कि बादमें वे नोआखाली वापस आकर हमारा मार्गदर्शन करेंगे । लेकिन ईश्वरकी कुछ और ही इच्छा थी ।

१७ सितम्बरको मुझे एक पत्रमें गांधीजीने दिल्लीसे लिखा : "मेरा नोआखाली आना अनिश्चित है । यहांका काम अत्यन्त कठिन है । परन्तु कठिनाइयोंके बीच ही हमारी सच्ची परीक्षा होती है ।"

पत्रके अन्तमें उन्होंने लिखा था : "जो अपने आपको पूरी तरह ईश्वरके हाथोंमें छोड़ देते हैं, उनका कल्याण ही होता है । उसकी इच्छा ही पूर्ण हो ।"

उसी लिफाफेमें मेरी बहन सुशीलाका लिखा हुआ एक पत्र इस प्रकार था : "बापूको यहां कठिन समयका सामना करना पड़ेगा । . . . कल वे कह रहे थे कि हममें से कुछ लोगोंको यदि फ्रांसीसी क्रान्तिके नेताओंके मार्गका अनुसरण करना पड़े, तो उन्हें आश्चर्य नहीं होगा । . . . वायुमण्डल्में सर्वनाशकी गन्ध आती है । . . . उस दिन प्रार्थना-सभामें निराश्रितोंके क्रोधका फूट पड़ना आंखें खोलनेवाली घटना थी । . . . हम कितना ही नापसन्द क्यों न करें, आबादीकी अदला-बदली तो वास्तवमें हो ही रही है । इसके प्रभावके परिणामसे भारतीय मुसलमानोंको बचानेके लिए भगीरथ प्रयत्न करना होगा । . . . क्या पश्चिमी पाकिस्तानकी तरह ही पूर्वी पाकिस्तानसे भी हिन्दुओंका सामूहिक निष्क्रमण होगा ? बापू कहते हैं कि यह विनाशकारी सिद्ध होगा । वे ठीक कहते हैं । परन्तु यहांके लोग कहते हैं कि सही हो या गलत, अच्छा हो या बुरा, यह अनिवार्य है । हिन्दुओंके लिए और कोई मार्ग ही नहीं रह गया है । इन सब बातोंका अन्त क्या होगा ? दोनों राज्योंके बीच युद्ध और कठिनाईसे प्राप्त हुई हमारी स्वाधीनताका विनाश ? ईश्वर हमें इस अन्तसे बचा दे !"

वस्तुतः पूर्वी बंगालसे निराश्रितोंका नया निष्क्रमण शुरू भी हो चुका था । गांधीजीने ६ अक्तूबरके पत्रमें मुझे लिखा था : "पूर्वी बंगालसे हिन्दुओंका ताजा निष्क्रमण हो रहा है । यह किस बातका सूचक है? मैंने मान लिया है कि ढाका-क्षेत्रमें (जहांसे निष्क्रमण हो रहा था) नोआखालीका काण्ड नहीं दोहराया जायगा । कहा जाता है कि मुसलमान हिन्दुओंको संगीतके साथ उनके त्योहार नहीं मनाने देते । मुसलमानोंमें दो गुट हो गये बताये जाते हैं । एक गुट कहता है कि हिन्दुओंको ऐसा करनेका पूरा हक है । दूसरा कहता है कि हम ऐसा नहीं होने देंगे । परिणाम-स्वरूप हिन्दुओंमें घबराहट फैली हुई है । पूरी जांचके बाद मुझे ब्यौरेवार लिखो ।"

पहलेके एक पत्रमें गांधीजीने मुझसे पूछा था : तुम नोआखालीसे मुक्त नहीं हो सकते ? मैंने उत्तर दिया था : यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी अधिक जरूरत कहां है ? अगर आपको दिल्लीमें मेरी आवश्यकता हो तो मैं आ सकता हूं । उन्होंने फिर लिखा : "बेशक, तुम्हारी मुझे यहां जरूरत है । . . . यहां कितना ही काम करना है । इसके सिवा मैंने कुछ अर्सेसे 'हरिजन' के सम्पादनका काम फिरसे क्रियात्मक रूपमें संभाल लिया है । . . . इस कारण यहां तुम्हारी जरूरत और भी बढ़ गई है । फिर भी नोआखालीको मैं पहली प्राथमिकता देता हूं । जब तक तुम सब लोग वहां हो, मैं मनमें शान्तिका अनुभव कर सकता हूं । मान लो कि तुम सब नोआखालीसे चले आओ, तो उस स्थितिमें मुझे दूसरे सब काम छोड़कर अकेले भी नोआखाली जाकर 'करने या मरने' का मिशन पूरा करनेके लिए मजबूर हो जाना पड़ेगा ।"

विभाजनके बाद नोआखालीके मुसलमानोंमें हिन्दुओंके प्रति सद्भावनाकी बाढ़ आ गई थी। उपद्रव-ग्रस्त भागोंके दौरेमें सतीश दासगुप्तने राजनीतिक विचारके मुसलमानोंके रवैयेमें हार्दिकता व भाईचारेकी स्पष्ट झलक देखी । निर्मम शत्रुताके स्थान पर प्रेमपूर्ण स्वागतकी भावना दिखाई दी । कई स्थानों पर उन्होंने मुसलमानोंमें कताई और दूसरी रचनात्मक प्रवृत्तियोंके केन्द्र खोलनेकी मांग की । कहीं कहीं जागृत मुस्लिम लोकमत अपनी बात दृढ़तासे कहने लगा था । मेरे पासवाले गांवमें मुसलमानोंके कुछ शरारती लोकरोंने एक हिन्दू लड़केको पकड़ा और गायके माने हुए खूनको उसके मुंहमें डालकर उसका नकली धर्म-परिवर्तन कर डाला । इस निर्दय खेलके

बदलेमें बुजुर्ग मुसलमानोंने पंचायत करके अपराधियोंको २५ और १४ बेतोंकी सजा दी और पांच रुपये जुर्माना करके पीड़ित पक्षको मुआवजा दिलवाया। पश्चात्तापकी निशानी और भविष्यमें नेकचलनीकी जमानतके तौर पर स्थानीय परम्पराके अनुसार अपराधियोंको सब लोगोंके सामने जमीन पर नाक रगड़नी पड़ी। परन्तु पीड़ित पक्षने मुआवजेका रुपया लेनेसे इनकार कर दिया और कहा कि हमारे धर्मका अपमान रुपयेसे नहीं परन्तु अपराधियोंके सच्चे पश्चात्तापसे मिट सकता है। इसलिए उन्होंने सुझाया कि अपराधियोंसे जुर्माना न लिया जाय। परन्तु मुसलमान बुजुर्गोंने यह बात नहीं मानी। आख़िर दोनों पक्षोंकी अनुमतिसे जुर्मानेका उपयोग वहांके बीमार मुसलमान अनाथोंको दूधका पाउडर देनेमें किया गया।

मैकिननींके स्थान पर आये हुए मुस्लिम जिला-मजिस्ट्रेटने ढाका द्वारा बदनाम गुनहगारोंके जमानत पर छोड़े जानेका कड़ा विरोध किया। ऐसा मालूम होता है कि नोआखालीके सेशन्स-जजने उनकी जानकारीके बिना यह काम किया था। जिला-मजिस्ट्रेट जमानतें रद्द करानेकी कोशिश कर रहे थे। उन्होंने उपद्रव-पीड़ितोंके लिए मंजूर हुई आर्थिक सहायता, जो बाकी थी, दिलवाने के लिए रुपया भी मांगा था। उन्होंने वचन दिया कि मैं हिन्दुओंका वह स्थान देखने आऊंगा, जिस पर शाहपुरके मुसलमानोंने दंगोंके दिनोंमें अधिकार जमा लिया था और जिस पर उन्होंने गैर-कानूनी ढंगसे मस्जिद बनवा ली थी, और सारा मामला ठीक कर दूंगा।

दंगोंसे सम्बन्धित तमाम मुकदमे एक विशेष मजिस्ट्रेटको सौंपे जानेवाले थे और उसे अधिक गंभीर मामलोंको फिरसे शुरू करनेकी सत्ता दी गई थी। परन्तु पीड़ितोंका ठीक ठीक प्रतिनिधित्व करनेवाला कोई नहीं था और पर्याप्त सहारे तथा कानूनी सहायताके अभावमें उनका मामला अदम-पैरवीमें खारिज हो जानेकी पूरी संभावना थी। इससे लोगोंकी टूटी हुई हिम्मत और भी टूटे बिना नहीं रहती।

इसके सिवा, कानून और व्यवस्थाके तंत्रमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। पुलिसके और जिलेके दूसरे अफसरोंके पक्षपातपूर्ण व्यवहारके अलावा प्रभावशाली स्थानीय मुसलमानोंका

दबाव भी पड़ता था । इन सब बातोंसे उस सद्भावना-नीतिके बेकार हो जानेका भय था, जिसका आश्वासन पूर्व बंगालके मुख्यमंत्रीने ढाकामें हमें दिया था (देखिये खण्ड-३, पृष्ठ ५५५) ।

मैंने इन तथ्योंकी ओर पूर्व बंगालके मुख्यमंत्रीका ध्यान आकर्षित किया था और इस सम्बन्धके पत्र-व्यवहारकी नकल गांधीजीको भी भेजी थी । मैंने गांधीजीका ध्यान पूर्व बंगालके मुख्यमंत्रीके उस वक्तव्यकी तरफ भी दिलाया था, जिसमें उन्होंने कहा था कि भारतके साथ फिरसे मिलनेके पक्षमें लोकमत खड़ा करना भी राज्यके प्रति द्रोह समझा जायगा : "इसका अर्थ यह है कि अगर हम पाकिस्तानको उसी तरह बिनाशर्त स्वीकार नहीं कर सके जिस तरह कि हम किसी समय ब्रिटिश साम्राज्यको स्वीकार करते थे – यहां तक कि अपने बच्चोंसे स्वीकृत अंग्रेजी धुनमें 'गॉड सेव दि किंग' का गीत भी गवाते थे – तो हम पाकिस्तानमें राज्यके प्रति 'बेवफ़ाई' का अपराध किये बिना नहीं रह सकते । तब जो लोग हृदयसे हिन्दुस्तानके विभाजनको अच्छी चीज या सदाके लिए अमिट वस्तु नहीं मान सकते, उनके लिए पाकिस्तानमें कोई स्थान कैसे हो सकता है ?

"त्रिपुरा रियासतमें छोटे पैमाने पर काश्मीरका नाटक दोहरानेकी धुंआंधार तैयारियां हो रही हैं । इसमें पाकिस्तानी अधिकारियोंका गहरा हाथ है । उनमें से कुछ तो त्रिपुरा रियासतमें राजाके खिलाफ भी इस उद्देश्य से षड्यंत्र करते बताये जाते हैं । तीन-चार दिन पहले कुमिल्लामें मुसलमानोंने एक आम सभामें भाषण दिये थे और लोगोंको त्रिपुराके सत्ताधारियोंके विरुद्ध कार्रवाई शुरू करनेके लिए उभाड़ा था । पाकिस्तानके हिन्दू प्रजाजनोंको चुनौती दी गई कि पाकिस्तानकी सीमाओंके विस्तारके पुण्यकार्यमें सम्मिल्ति होकर वे अपनी 'वफादारी' साबित करें । हिन्दुओंका क्या रवैया होना चाहिये ? नोआखालीके जो हिन्दू निराश्रित अगरतल्ला (त्रिपुराकी राजधानी) में आकर बस गये हैं, उन्हें क्या करना चाहिये ? जो हमारी सलाह मांगें उन्हें हम क्या परामर्श दें ?

"किन्तु एक तरहसे अब नोआखालीकी स्थितिको साधारण कहा जा सकता है । अब सरकारकी नीति हिन्दुओंको तंग करने या सतानेकी नहीं रह गई है । परन्तु प्रशासनका स्वरूप साम्प्रदायिक और उसका व्यवहार खुल्लमखुल्ला पक्षपातपूर्ण है । भेदभाव और 'इस्लामी राज्य' के नाम पर दबाव वराबर जारी है और भ्रष्टाचार, अक्षमता और अनुशासनहीनताका रोग प्रशासनके सभी अंगोंमें घुस गया है । विभाजनसे पहले केन्द्रीय सरकार, कमसे कम नामके लिए तो भी, कुछ नियन्त्रण रखती थी । अब तो वह भी जाता रहा । अब तो दोनों राज्योंके बीच लड़ाई सचमुच छिड़ जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा किसी बड़े पैमाने पर उपद्रव होनेका निकट भविष्यमें कोई खतरा नहीं है । दूसरे शब्दोंमें, अब पूर्व बंगालकी शान्तिका दारमदार केवल स्थानीय परिस्थितियोंके बजाय दोनों राज्योंकी सम्पूर्ण स्थिति पर अधिक रहेगा । . . . इसका यह अर्थ नहीं कि हम नोआखालीके अपने शिविर बन्द कर सकते हैं; परन्तु शायद यहांकी अपनी प्रवृत्तिके प्रकार और क्षेत्रके तथा कार्यकर्ताओंके सारे प्रश्नकी हमें फिरसे जांच करनी होगी और उसके बारेमें अपनी नीतिको बदलना पड़ेगा ।

"अखबारोंमें जो समाचार छपे हैं उनसे ऐसा मालूम होता है कि हम युद्धबन्दी बननेसे बाल-बाल बच गये; क्योंकि उस समय काश्मीरके प्रश्न पर दोनों राज्योंमें लड़ाई छिड़नेकी संभावना बहुत बढ़ गई थी ।

"इस बीच कोई बुरी घटना यदि न हुई, तो मैं अगले तीन-चार सप्ताहोंमें बहुत करके कुछ दिनके लिए यहांसे मुक्त होकर दिल्ली आ सकूंगा । जब मैं हमारे नये जिला-मजिस्ट्रेटसे पिछली बार मिला था तब उन्होंने मुझसे कहा था कि अब आप नोआखालीसे कुछ दिनकी छुट्टी ले सकते हैं और खुद देख सकते हैं – और हमें भी देखने दे सकते हैं – कि हम स्वयं स्थितिसे कैसे निबटते हैं ।"

इसका गांधीजीने संपूर्ण और ब्यौरेवार उत्तर भेजा :

"तुम्हारे नाजिमुद्दीनके साथ हुए पत्र-व्यवहारकी नकलें मुझे मिल गईं । . . . मुझे सारा पत्र-व्यवहार पसन्द आया । तुम्हारे प्रश्नोंके उत्तर ये हैं :

"पाकिस्तान-सम्बन्धी अपने वक्तव्यमें ख्वाजा साहब मेरी रायमें मर्यादा चूक गये हैं । मैं यह तो समझ सकता हुं कि दोनों भागोंको फिरसे मिलानेके पक्षमें प्रचार किया जाय और कार्य द्वारा उसका समर्थन किया जाय, तो वे आपत्ति उठायेंगे । परन्तु वे पाकिस्तान सरकारकी वर्तमान नीतिके खिलाफ राय भी रखनेसे या उसका प्रचार करनेसे अथवा अपनी रायके पक्षमें लोकमत बनानेसे किसीको कैसे रोक सकते हैं ? तुम्हें ख्वाजा साहबसे रूबरू मिलकर या उन्हें पत्र लिखकर इस प्रश्नकी सफाई करा लेनी चाहिये । पाकिस्तान सरकारको दबानेकी कोई भी कोशिश न करे, परन्तु प्रत्येकको यह अधिकार जरूर है कि जो कुछ हुआ है उसकी भूल बह मुसलमानोंको समझाये और सम्भव हो तो उन्हें अपने विचारका बताये । डाकमें डालनेसे पहले ख्वाजा साहबके नाम लिखे जानेवाले अपने पत्रका मसौदा मेरे पास भेजना ।

"तुमने ब्रिटिश साम्राज्यके सम्बन्धमें मेरे रवैयेका उल्लेख किया है । मैं तुम्हें बताऊं कि ब्रिटिश साम्राज्यके प्रति मन, वचन और कर्मसे संपूर्ण निष्ठा रखनेसे मुझे काफी बल मिला था । पाकिस्तानके बारेमें भी मैं ठीक वही कर रहा हूं ।

"त्रिपुरामें जो कुछ हो रहा है वह बहुत बुरा है । वह नग्न दमन है । लेकिन अगर त्रिपुराके लोगोंमें जरा भी दम न हो, वे मूर्ख हों या राज्यका प्रशासन पूरी तरह सड़ गया हो, तो कोई क्या कर सकता है ? मैं नहीं समझता कि तुम इस मामलेमें कुछ भी कर सकते हो । . . . अवश्य ही तुम सलाह देकर सहायता कर सकते हो । यदि राज्यके अधिकारियोंके साथ निजी सम्पर्क स्थापित करके तुम उनसे **मानवों** जैसा आचरण करा सको तो यह बड़ी बात होगी ।

"जब तक भ्रष्टाचार जड़से न मिटा दिया जाय तब तक मैं नोआखालीकी स्थितिको किसी भी अर्थमें 'साधारण' नहीं मान सकता । एक झटकेमें होनेवाली मौत तिल-तिल करके मरनेसे कहीं अच्छी है ।

"यहां ऊपर-ऊपरसे तो शान्ति है । परन्तु जब तक दिल नहीं मिलते तब तक वह शान्ति बालूके महलकी तरह है । तुम्हारा यह कहना बिलकुल सही है कि जब तक उच्च स्तर पर यहांकी बातें ठीक नहीं होंगी तब तक वहां कोई सच्चा सुधार नहीं होगा ।

"उस छोटे लड़केकी कहानी बड़ी हृदयस्पर्शी है । जुर्मानेके रुपयेके उपयोगके सम्बन्धमें किया गया निर्णय बहुत ठीक था । स्थानीय मुसलमानोंने जो कार्रवाई की वह उनके लिए शोभास्पद है । . . .

"मैं तुम्हें पहले ही लिख चुका हूं कि जब भी वहांकी स्थिति और कार्य तुम्हें मुक्त करें तब तुम्हें यहां आना चाहिये ।"

गांधीजीके पत्रसे राजधानीके उनके अनुभवका आभास मिलता था । वहां संघ-सरकारकी घोषित नीति अधीनस्थ अधिकारियोंकी कार्रवाइयोंके कारण व्यर्थ हो रही थी । उस समय हमें इसकी कोई स्पष्ट कल्पना नहीं थी । गांधीजी जिस बातको इतना साफ देख रहे थे, उसे हम नहीं देख पाये थे ।

किन्तु गांधीजीका यह पत्र उस समय मेरे पास नहीं पहुंच सका । उसका मजमून मुझे दिसम्बरके मध्यमें पुनः गांधीजीके साथ होने पर ही मालूम हुआ ।

मेरे नोआखाली छोड़नेसे पहले हमने जिला-मजिस्ट्रेकके सहयोगसे शाहपुरके मुसलमानोंको इस बातके लिए समझा लिया था कि वे पूर्वोक्त मस्जिदकी जगह हिन्दुओंको लौटा दें । उन्होंने मकानको स्वयं अपने हाथोंसे गिरा दिया और उतारी हुई टीनकी चादरें उन मूल स्वामियोंको लौटा दीं, जिनके घरसे वे लूटी गई थीं । अपने हस्ताक्षरोंवाले एक वक्तव्यमें उन्होंने इस कार्यको "हमारे हिन्दू भाइयोंके प्रति सद्भावनाका संकेत और उनके पुनर्वासकी दिशामें उठाया गया एक कदम" बताया ।

यह निर्णय स्थानीय मुसलमानोंने काफी कठोर आत्म-निरीक्षणके बाद किया । ऐन मौके पर भी कुछ लोगोंने "समझौता" करानेके लिए हिन्दू-मुसलमानोंकी सम्मिलित सभा बुलानेकी बात की । मैंने उन्हें बताया कि किसी स्पष्ट अन्यायको –जैसा कि इस मामलेमें हुआ है – दूर करनेके प्रश्न पर "समझौते" की बात अनुचित है । यदि अल्पसंख्यक समुदायने इसके लिए कोई मांग न की होती, तो भी पूर्ण न्याय प्रदान करना बहुसंख्यक समुदायका धर्म था । भौतिक क्षतिपूर्ति किसी कामकी नहीं, यदि वह हृदय-परिवर्तनका प्रतीक न हो और उसके साथ क्षतिपूर्ति करनेवालोंकी सद्भावना न हो । उन्होंने मेरी बात समझ ली और "समझौते" की बात छोड़ दी । उन्होंने कहा कि हम हृदयसे क्षतिपूर्ति करना चाहते हैं और बिस्मिल्लाह कहकर जो मस्जिद उन्होंने गैर-कानूनी तौर पर खड़ी की थी उसे गिरा दिया ।

नोआखालीके समग्र वातावरणका विचार करते हुए यह एक तुच्छ-सी बात थी । परन्तु सही या गलत ढंगसे जिस मस्जिदको मुसलमानोंने एक बार खड़ा कर दिया था उसे गिरानेके साथ उनकी जो भावना जुड़ी हुई थी उसका विचार करके गांधीजीने इस घटनाका स्वागत किया और यह समझा कि कमसे कम पाकिस्तानके एक भागमें तो हृदय-परिवर्तनका संकेत मिलता है : "यदि भारत और पाकिस्तानके सब लोग इस उदाहरणका अनुसरण करें, तो देखते ही देखते दोनों भागोंकी पूरी शकल ही बदल जाय ।" [प्रार्थना-प्रवचन, २३ दिसम्बर १९४७]

*

गांधीजी जो शान्ति-समिति अपने पीछे बिहारमें छोड़ गये थे, वह सत्ताधारियोंके पूरे सहयोगसे अपना अच्छा काम करती रही । उनकी मंडलीके सदस्य लोगोंके और सरकारके बीच कड़ीका काम करते थे । वे गांधीजीके मिशनका परिश्रमपूर्वक प्रचार करते थे, निराश्रितों, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और स्थानीय अधिकारियोंकी कठिनाइयोंकी तरफ शासकोंका ध्यान दिलाते थे और निराश्रितोंके पुनर्वास-सम्बन्धी नीति और प्रशासनकी बातोंमें गैर-सरकारी सलाह देकर उनकी मदद करते थे ।

आजाद हिन्द फौजके जनरल शाहनवाजने, जो मसौढ़ी (बिहार) में काम कर रहे थे, कौमी आगमें जल रहे पंजाबमें जानेके लिए दिल्लीसे प्राप्त निमन्त्रणका तारसे यह उत्तर दिया था : "खेद है कि मैं नहीं आ सकता । बापू कहते हैं कि मसौढ़ी ही मेरा लालकिला है ।" इस उत्तरसे गांधीजीका हृदय खिल उठा था । आजाद हिन्द फौज जब नेताजी सुभाष बोसके नेतृत्वमें ब्रिटिश हुकूमतसे लड़ रही थी उस समय लालकिला उसके लक्ष्यका प्रतीक था ।

एक और कार्यकर्ताने यह समाचार पाकर कि उसकी भावी पत्नीको एक गम्भीर दुर्घटनामें सख्त चोटें आई हैं, गांधीजीसे कुछ दिनके लिए उसे देखने जानेकी छुट्टी मांगी । गांधीजीका उत्तर आया कि अगर ऐसा लगता हो कि जाना "अनिवार्य" है तो तुम जा सकते हो । कार्यकर्ताने गांधीजीको लिखा कि किसी सिपाहीके लिए उसके कर्तव्यके सिवा दूसरा कुछ भी "अनिवार्य" नहीं । इस पर गांधीजीने उसे एक अत्यन्त स्नेहपूर्ण पत्र लिखा और उसके संयमके प्रयत्नकी प्रशंसा की । उन्होंने लिखा : अगर तुम सचमुच अपनेको ऐसा सैनिक बना लो, जिसके लिए अपने कर्तव्यके सिवा दूसरा कुछ भी "अनिवार्य" नहीं है, तो तुम बड़े बड़े काम कर लोगे । इस तरह गांधीजी मिट्टीमें से वीरोंको जन्म देते थे । उनके अपार स्नेहके कीमियासे उनका जुआ सहन करना हल्का और आसान हो जाता था और आत्म-संयमकी साधना भार बननेके बजाय सुख बन जाती थी ।

इससे भी अधिक आह्लादक रिपोर्ट जनवरी १९४८ के आरंभमें शान्ति-समितिके एक मुसलमान सदस्यसे गांधीजीको मिली थी । बिहारके दंगोंमें गया जिलेके सदर उप-विभागमें सुरैया गांव सबसे अधिक पीड़ित था । वहांके कोई १०० निराश्रित गया-शिविरमें थे । यद्यपि उनके घर अभी तक रहनेके लिए तैयार नहीं हुए थे, फिर भी वह सदस्य उन्हें गांवमें ले गया । " गांवके हिन्दुओंने हमारा फूलोंकी मालाओंके साथ स्वागत किया । हिन्दू प्रुरुषोंने मुसलमान पुरुषोंको और हिन्दू स्त्रियोंने मुसलमान स्त्रियोंको गले लगाया । दो दिन तक उन्होंने खाना भी सबको अपने ही खर्चसे खिलाया । हिन्दुओंने उनके लिए अपने घरोंमें जगह कर दी; और जब तक उनके अपने

घर तैयार नहीं हो जायंगे तब तक वे लोग वहीं रहेंगे । मैं कुछ दिन बाद उन्हें फिरसे देखने गया । . . . हिन्दू हर तरहसे उनकी सेवा कर रहे थे ।"

सिसवार गांव भी दंगोंमें कम वीरान नहीं हुआ था । वहांके निवासी भी लौट आये थे । उन्हें हिन्दुओंने स्थानीय पाठशालामें तब तक रहनेका निमंत्रण दिया जब तक उनके अपने घर तैयार न हो जायं । खिजरसराय थाना कांग्रेस कमेटीका दफ्तर पासके ही स्थानसे सिसवार ले जाया गया और यह निश्चय किया गया कि दफ्तर तब तक वहीं रहेगा जब तक मुसलमानोंके घर तैयार न हो जायं । एक शान्ति-समिति बना ली गई और "वही नौजवान उसका मुखिया है जिसने आपकी (गांधीजीकी) मुलाकातके समय बड़के विशाल पेड़के नीचे यह शपथ ली थी कि वह अपने प्राणोंकी बाजी लगा कर भी मुसलमानोंकी रक्षा करेगा ।"

जेहानाबादमें स्थिति इतनी मैत्रीपूर्ण हो गई कि जब क्षतिपूर्तिके लिए तखमीने बनाये जाने लगे तो मुसलमानोंने हिन्दुओंसे अनुरोध किया कि वे उनका मामला अधिकारियोंके सामने पेश करें; और हिन्दुओंने सावधान तथा जागरूक संरक्षक बनकर उनके विश्वासको सत्य सिद्ध कर दिया ।

उपद्रवोंके दौरान तिलहारामें भयंकर क्रूरतायें की गई थीं । गांधीजीके एक कार्यकर्ताको, जो वहां भेजा गया था, यह देख कर हर्ष हुआ कि जो दो मुसलमान वापस आ गये थे वे वहां शान्तिसे रह रहे थे । उनमें से एक बूढ़ा था । उसके खानेकी व्यवस्था हिन्दू कर रहे थे । "उसने कहा : मेरे लड़के-लड़कियां भी जल्दी ही लौट आयेंगे । नगरनौसामें भी कुछ मुसलमान पुरुष और कुछ विधवाएं पूरे अमनसे रह रही थीं ।" और नगरनौसा वह स्थान था जहां दंगोंके दिनोंमें लगभग एक सौ हिन्दू पुलिसकी गोलियोंसे मारे गये थे ।

कुछ मास पहले जब गांधीजीने हिन्दुओंसे अनुरोध किया था कि अगर आपके मुसलमान भाइयों और बहनोंके मकान बरसात आनेसे पहले फिरसे खड़े ना हो सकें तो आप इन्हें अपने घरोंमें जगह दें उस समय गांधीजीकी यह सलाह शायद ही व्यावहारिक मानी गई होगी । किन्तु

अविश्वसनीय बात हो गई और एक बार फिर मानव-हृदयकी बुनियादी अच्छाईमें गांधीजीका विश्वास सही साबित हुआ ।

६

१९४७ के अन्त और १९४८ के आरंभमें जब काश्मीरके अनसुलझे प्रश्नके साथ हैदराबादका दिनोंदिन बढ़ता हुआ संकट जुड़ गया, तो भारतीय संघमें एक अत्यंत उग्र स्थिति पैदा हो गई ।

बहुत बड़े भागकी रियासतोंके भारतीय संघके साथ जुड़ जानेके बाद सरदार पटेलकी अध्यक्षतामें रियासती मंत्रालय और उनके सुयोग्य सचिव वी. पी. मेननने भारतीय भूभागके साथ रियासतोंके एकीकरणका काम तेजीसे शुरू कर दिया । इस दिशामें पहला कदम यह उठाया गया कि छोटी छोटी रियासतें पासवाले प्रान्तोंमें विलीन कर दी गईं, क्योंकि वे अपने छोटे आकारके कारण अलग खर्चीले प्रशासनका बोझ नहीं उठा सकती थीं । दूसरा कदम भारत सरकारकी छत्रछायामें इन रियासतोंके संघ रचनेका था, ताकि भौगोलिक निकटता तथा दूसरे सम्बन्ध रखनेवाले पड़ोसी राज्योंको जोड़ कर स्थायी घटकोंकी स्थापना की जा सके ।

राज्योंके विलीनीकरणके समय राजाओंको अपनी पदवियां और प्रतिष्ठायें, अपने महल और निजी सम्पत्ति रखनेकी अनुमति दे दी गई और उनके खर्चकी रकमें नियत कर दी गईं । परंतु भारत सरकारने यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी कि रियासतोंकी भावी रचनाकी एक आवश्यक शर्त यह होगी कि राजा पूरी सत्ता प्रजाको सौंप दें । “जब तक देशी राज्य स्पष्ट रूपमें उत्तरदायी सरकारोंकी स्थापनाकी व्यवस्था नहीं करेंगे तब तक भारत सरकारको राज्योंसे सम्बन्धित कोई भी व्यवस्था स्वीकार नहीं होगी ।”

परन्तु जब ये क्रान्तिकारी परिवर्तन भारतके संपूर्ण स्वरूपको बदल रहे थे, उस समय हैदराबादके निजामने अपनी प्रजाके भारी बहुमतकी इच्छाकी खुली अवहेलना करके दूराग्रहपूर्वक भारतीय संघमें मिलने अथवा प्रजाको तुरंत उत्तरदायी शासन देनेसे इनकार कर

दिया । निजाम इस अवास्तविक और ऐतिहासिक दृष्टिसे अस्वाभाविक स्थिति पर अड़े रहे कि "हैदराबाद एक देश है और उसका संगठन एक देशके तौर पर हुआ है ।" ऐतिहासिक और राजनीतिक दोनों आधारों पर भारत सरकारने निजामके इस दावेको अस्वीकर कर दिया कि हैदराबाद स्वाधीन था और स्वाधीन रहेगा ।

ठेठ १२ अगस्त, १९४७ को माउण्टबेटनने निजामके लिए स्वाधीनता-दिवसके बाद दो मासकी अवधि बढ़वा दी थी, ताकि इस बीच वह भारतके साथ जुड़नेके प्रश्न पर भारतीय संघके साथ समझौता कर सके । बाहरसे निजाम विशेष शर्तों पर भारतीय संघके साथ समझौता करनेका इरादा जाहिर करते रहे और उसके लिए उन्होंने वार्तायें भी जारी रखीं, परन्तु संघ-सरकारको मालूम हुआ कि निजामकी सरकार गुप्त रूपसे झेकोसलावाकियासे हथियार जुटानेकी कोशिश कर रही है । साथ ही, एक मुस्लिम सैनिक संगठन इत्तेहाद-उल मुसलमिन और उसका अर्धफौजी अंग –रजाकार—अत्यंत सक्रिय हो गये । ये दोनों रियासतकी हिन्दू आबादीको आतंकित करने लगे और अत्यंत उत्तेजक भारत-विरोधी प्रवृत्तियां चालू रखकर निजाम पर दबाव डालने लगे कि वह भारत सरकारके साथ कोई समझौता न करें ।

गांधीजीके पास इन प्रवृत्तियों और गुप्त तैयारियोंके बारेमें कई स्वतंत्र साधनोंसे खबरें पहुंच चुकी थीं । एक मित्रने, जो हैदराबादकी घटनाओके जानकार थे, गांधीजोको समाचार दिये: "इन घटनाओंसे भारत सरकार बहुत अशान्त है । संघ-सरकार स्थिति पर सावधानीसे निगाह रख रही है ।उसे विश्वास हो गया है कि आगे-पीछे हैदराबादके विरुद्ध कार्रवाई करनी ही पड़ेगी।" गांधीजीने तुरंत जवाब दिया : "ऐसी सूरतमें क्या यह बुद्धिमत्ता होगी कि उन्हें अपनी तैयारियां पूरी करने दी जायें ?"

हैदराबादके प्रतिनिधि-मंडल और भारत सरकारके बीच लम्बी चर्चाओंके बाद एक यथावत् स्थिति करारका मसौदा २२ अक्तूबरको तैयार हुआ । तीन दिन बाद निजामकी कार्यकारिणी परिषद् ने तीनके विरुद्ध छहके बहुमतसे निजामको यह करार मंजूर कर लेनेकी

सलाह दी । अंतिम करार लेकर निजामका प्रतिनिधि-मंडल दूसरे दिन प्रात:काल दिल्लीके लिए रवाना होनेवाला था । परन्तु आश्चर्यकी बात है कि अंतिम क्षणमें निजामने किसी भी स्पष्टीकरणके बिना उस करार पर अपने हस्ताक्षर करना टाल दिया । दूसरे दिन सुबह ही इत्तेहादियोंकी भीड़ने, जो लगभग बीस हजारकी तादादमें रही होगी, प्रतिनिधि-मंडलके सदस्योंके मकानोंको घेर लिया और उन्हें दिल्ली जानेसे रोक दिया । भारत सरकारने काश्मीरका संविलयन स्वीकार करके वहां वायुयान द्वारा अपनी सेनायें भेजीं उसके २४ घंटेके भीतर ही यह घटना हुई ।

२७ अक्तूबरको निजामने प्रतिनिधि-मंडलसे मिलकर कहा कि मैं अपनी परिषद्के विचारोंसे पूरी तरह सहमत हूं और मैं इत्तेहादियोंके नेता कासिम रजवीको बुलाकर उसे परिषद्का निर्णय स्वीकार करनेके लिए "विवश करूंगा" । परंतु जो मुलाकात हुई उसमें निजाम पर रजवीका प्रभुत्व रहा । उसने शेखी मारी कि संघ-सरकार तो काश्मीरके उपद्रवमें उलझी हुई होगी, इसलिए मैं उसे मजबूर करके मूल मसौदेकी शर्तें मनवा लूंगा । इसके फलस्वरूप निजामके प्रतिनिधि-मंडलने, जिसमें उनका प्रधानमंत्री भी था, त्यागपत्र दे दिया । निजामने भारत सरकारको सूचना दी कि पुराने प्रतिनिधि-मंडलको भंग कर दिया गया है और नया मंडल, जो मेरी परिषद्के विरुद्ध मत रखनेवाले सदस्योंसे बना है, बातचीत जारी रखनेके लिए भेजा जायगा । साथ ही, उन्होंने यह धमकी दी कि यदि संघ-सरकारके साथ वार्ताएं असफल रहीं, तो वे तुरंत पाकिस्तानसे बातचीत करके करार कर लेंगे । ऐसा पता चला कि यह बात उन दो दूतोंके लौटने पर हुई, जिन्हें निजामने कराची भेजा था, और शायद वहांसे वे जो पैगाम लाये उसीका नतीजा थी ।

नये प्रतिनिधि-मंडलने दिल्ली पहुंचकर यह रवैया अपनाया कि हैदराबाद स्वाधीन सर्वसत्ताधारी राज्य रहना और "दोनों देशोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना" ज्यादा पसन्द करेगा । इस प्रतिनिधि-मंडलके समक्ष यह स्पष्ट कर दिया गया कि भारत सरकार अब भी उस करारके मसौदे पर कायम है, जिसे निजामके पहले प्रतिनिधि-मंडलने, निजामकी परिषद् ने और स्वयं निजामने स्वीकार कर लिया था । यदि निजाम अपने ही निर्णयसे मुकरते रहेंगे, तो उसके

परिणामोंकी जिम्मेदारी उन्हींकी होगी । परन्तु जाहिर था कि प्रतिनिधि-मंडल भारतकी काश्मीर-सम्बन्धी चिन्तासे फायदा उठाने पर तुला हुआ था । माउण्टबेटनके प्रेस-अधिकारीने अपनी डायरीमें यह लिखा है : "हैदराबादका निजाम निःसंदेह समय ले रहा है और यह देख रहा है कि काश्मीरमें कया होता है । उसके बाद ही वह अन्तिम निर्णय करेगा । . . . इस प्रयत्नमें उसने ऐसी वार्तायें चलाई हैं, जिन्हें काल्पनिक ही कहा जा सकता है । जिस इत्तेहादको उसने शुरूमें प्रोत्साहन दिया, वह अब सचमुच भस्मासुर बन गया है । . . ." [एलन कैम्पबेल-जॉन्सन, 'मिशन विथ माउन्टबेटन', लन्दन, १९५१, पृ. २४१]

कुछ अधिक प्रपंचपूर्ण कूटनीतिक खटपटोंके अंतमें २९ नवंबरको निजामने यथावत् स्थिति करार पर हस्ताक्षर कर दिये । यह करार एक वर्षके लिए था; इस बीच कोई स्थायी समझौता होनेवाला था ।

इस करार पर हस्ताक्षर होनेके तीन दिन पहले कासिम रजवी, जो वार्ताओंके दिनोंमें दिल्लीमें था, गांधीजीसे मिला । उस मुलाकातमें क्या क्या हुआ, यह गांधीजीके ही शब्दोंमें उत्तम ढंगसे कहा गया है :

गांधीजीका पत्र कासिम रजवीको

२६ नवम्बर, १९४७

मुझे खुशी है कि हम मिले । आपकी बातचीतसे मुझे आश्चर्य हुआ । उस पर विश्वास करना कठिन था । मैंने आपसे पूछा था कि क्या मैं आपको वे कागजात भेज सकता हूं, जो आपके और हैदराबादके मुसलमानोंके बारेमें मेरे पास आये हैं । मेरे पास बहुत शिकायतें हैं । परन्तु जो तीन मैं भेज रहा हूं, वे इस मतलबके लिए काफी होंगी ।

जाहिर है कि इस मुलाकातका शोखीखोर रजाकार नेता पर कोई असर नहीं हुआ । उसकी लापरवाही और दुःसाहस और ज्यादा बढ़े । बादमें उसने आडम्बरके साथ घोषणा की कि वह तब तक चैन नहीं लेगा जब तक वह दिल्लीके लालकिलेमें अपने आपको स्थापित नहीं कर देगा ।

आठ महीने बाद रजवी लालकिलेमें स्थापित तो हुआ, लेकिन एक विजेताके खरूपमें नहीं, परन्तु कैदीके रूपमें । यह घटना हैदराबादके विरुद्ध संघ-सरकारकी "पुलिस कार्रवाई" के बाद हुई ।

सिन्धकी स्थिति बराबर बिगड़ती चली गई । अक्तूबरके अन्तिम सप्ताहमें हैदराबाद (सिन्ध) में एक दंगा हुआ । उसके बाद १७ दिसम्बरको एक और दंगा हुआ । प्रान्तके सबसे बड़े शिक्षाकेन्द्र हैदराबाद शहरमें लगभग सभी शिक्षासंस्थाएं मुसलमान निराश्रितोंके लिए ले ली गई । इस कार्रवाईका बुरा असर लगभग २५,००० गैर-मुस्लिमों पर पड़ा । पूजाके स्थानोंको जबरन् निराश्रित-शिविर बना दिया गया । एक कॉलेजकी इमारतमें, जहां निराश्रितोंको जगह दी गई थी, उन्होंने पुस्तकालयकी किताबें फाड़ डालीं; कॉलेजके कागजात नष्ट कर दिये, प्रयोगशालाओंका सामान तोड़ दिया और आचार्यके बंगलेको लूट लिया । यह बात नहीं थी कि सरकार निराश्रितोंके लिए और कहीं जगह तलाश नहीं कर सकती थी, परन्तु उसने इसकी परवाह ही नहीं की । गैर-मुसलमानोंकी सम्पत्तिकी बिक्री, हस्तान्तरण और विनिमयके मार्गमें बाधाएं डाली गईं । उसका प्रकट कारण यह बताया गया कि इसका उद्देश्य लोगोंके निष्क्रमणको प्रोत्साहन न देना है । जिन गैर-मुस्लिस सरकारी नौकरोंने अपने परिवारोंको भारतीय संघमें भेज दिया था, उन्हें धमकी दी गई कि अगर तुम अपने परिवारोंको वापस नहीं लाओगे तो तुम्हें नौकरीसे हटा दिया जायगा । स्पष्ट ही इसका हेतु यह था कि परिवारके लोग इन नौकरोंकी वफादारीके लिए जामिन बने रहें।

गांधीजीने पाकिस्तानके शासकोंको चेतावनी दी कि यदि गैर-मुस्लिमोंके लिए सिन्धमें स्वतंत्र नागरिकोंकी तरह रहना असंभव कर दिया जायगा और उन्हें गुलाम और दास बन कर रहनेको मजबूर किया जायगा, तो इसके गंभीर परिणाम होंगे । निष्क्रमणको रोकनेका उपाय अल्पसंख्यकोंका फिरसे विश्वास प्राप्त करना है । जो लोग सिन्धसे बाहर जाना चाहते हैं, उन्हें पाकिस्तान सरकारको विश्वास दिलाना होगा कि वे जानेके लिए स्वतंत्र हैं और इसके लिए उन्हें सारी सुविधाएं दी जायंगी । ऐसा किया जायगा तो जो लोग चले गये हैं वे भी फिरसे साधारण स्थिति स्थापित हो जाने पर अपने घरोंको लौट आनेकी इच्छा कर सकते हैं । जबरदस्तीका असर बिलकुल उलटा होगा ।

गांधीजीकी सलाहका कोई असर नहीं हुआ । ५ जनवरी, १९४८ तक कुल १४ लाख हिन्दुओं और सिक्खोंमें से लगभग ५ लाखने सिन्ध छोड़ दिया था । हैदराबाद (सिन्ध)की हिन्दू आबादी एक-तिहाई रह गई थी । पंजाबके मुसलमान निराश्रितोंके न होनेसे अब तक पश्चिमी और ऊपरी सिन्धसे हिन्दुओंका बड़े पैमाने पर निष्क्रमण नहीं हुआ था । परन्तु जनवरीके दूसरे सप्ताह तक ढाई लाख मुस्लिम निराश्रितोंका एक भारी काफिला सिन्धके लिए चल पड़ा था । ये लोग ज्यादातर पश्चिम पंजाबके शिविरोंमें रहे थे, इसलिए काफी निराश थे । वे सिन्ध-पंजाबकी सीमा पर मुल्तानके पास एक स्थान पर पहुंच चुके थे । यह सन्देशा आया था कि ज्यों ही ये सिन्धमें फैलेंगे त्यों ही व्यापक उत्पात शुरू हो जायंगे । इस संभावनासे लोगोंके मनमें भय छा गया ।

६ जनवरोको कराचीमें दंगे शुरू हो गये । चौंसठ सिक्ख, जिन्होंने एक गुरुद्धारेमें शरण ली थी, मौतके घाट उतार दिये गये । कई हिन्दू उसी भीड़के द्वारा आर्य-कन्याशालाके भवनमें मार डाले गये । साथ ही कराची भरमें २ बजेसे शामके ७ बजे तक हिन्दू घरोंकी लूटपाट होती रही । इस लूटपाटके दौरान कई हिन्दू फिर मारे गये । कराचीमें सरकारी अधिकारी इस विषयमें एकमत थे कि लगभग ७० फी सदी हिन्दू घर, दुकानें और दूसरे व्यावसायिक मकान लूट लिये गये । दंगेके शिकार हुए बहुतसे लोगोंसे पहने हुए कपड़ोंके सिवा दूसरा सब कुछ छीन लिया गया ।

सब बातोंको देखते हुए सिन्ध सरकारने व्यवस्थाको फिरसे कायम करनेके लिए “मजबूत, कारगर और प्रामाणिक” कार्रवाई की । परन्तु शरारत तो हो चुकी थी । हिन्दुओंको निकाल देनेका शोर मचता रहा । हिन्दुओंमें यह भावना बढ़ गई कि गैर-सिन्धी मुसलमान आगे-पीछे उनसे पिण्ड छुड़ाने पर तुले हुए हैं, इसलिए जब अच्छी तरह जा सकते हैं तभी क्यों न सिन्ध छोड़ दिया जाय ?

कराचीमें हिन्दुओं और सिक्खोंकी संयुक्त आबादी विभाजनसे पहले साढ़े तीन लाख थी । १३ जनवरी, १९४८ तक सारे सिक्ख निवासी चले गये थे और हिन्दू केवल नब्बे हजारके करीब रह गये ।

पाकिस्तान सरकार कहती थी कि वह ज्यादासे ज्यादा तेजीसे दंगोंको दबानेकी कोशिश कर रही है । परन्तु स्थितिमें कोई सुधार नहीं हुआ । गांधीजीका कहना था कि अगर सरकार हिंसाको रोकनेमें असमर्थ है, तो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिये । "इससे थोड़ी देरके लिए हालात और भी बिगड़ सकते हैं, मगर अन्तमें स्थिति सुधर जायगी।" यही सलाह उन्होंने संघ-सरकारको भी दी थी (देखिये पृष्ठ-३४) ।

सिन्धके एक हिन्दू नेताने गांधीजीके सामने उन अपमानोंका वर्णन किया, जिनके कारण सिन्धियोंको प्रान्त छोड़ना पड़ा । उन्होंने अपने लिए दिल्लीमें बसनेकी सुविधाएं मांगी ।

गांधीजीने उनसे पूछा : "आप अपने हजारों गरीब भाई-बहनोंको छोड़ कर यहां आ कैसे सके ? आपने उन लोगोंका साथ छोड़ देनेका साहस कैसे किया, जिन्होंने आप पर भरोसा किया, आपमें श्रद्धा रखी और सत्याग्रह-संग्राममें आपके नेतृत्वमें कोई भी बलिदान देनेमें आगापीछा नहीं किया । यह बात मैं आपकी निन्दाके लिए नहीं कह रहा हूं, परन्तु आपको समझाना चाहता हूं कि आपका और मेरा असली रूप प्रगट हो गया है । मुझे आप पर दया आती है, परन्तु अपने पर मुझे अत्यंत दुःख होता है । यदि सिन्धके चोटीके नेता मेरे साथ तीस वर्ष तक सम्बंध रखनेके बाद अपना यही परिचय देते हैं, तो मेरे लिए अपने आपसे यह पूछनेका समय आ गया है कि "मैं कहां खड़ा हूं ? ' "

सिन्धमें जो कुछ हो रहा था वह भारतके विभाजनके आधारको ऐसी बुरी तरह तोड़ रहा था कि गांधीजीको लगता था कि सिन्धके गैर-मुस्लिम नेताओं तथा संघ-सरकारको चाहिये कि वे सिन्धको परीक्षणका केस बना लें । उन्होंने गैर-मुस्लिम नेताओंसे, जो उनके पास आये थे, कहा : आपको सिन्ध वापस जाकर अहिंसाके द्वारा अत्याचारका अन्त तक प्रतिकार करना

चाहिये और अपने लोगोंको ऐसा ही करनेकी शिक्षा देनी चाहिये, परन्तु कायरोंकी तरह पलायन करके अपने जन्मसिद्ध अधिकारका अपहरण नहीं होने देना चाहिये। मैं आप पर आपकी शक्तिसे बाहर जोर नहीं डालना चाहता। आपमें यदि इतना बल या साहस नहीं हो, तो दूसरा मार्ग यह है कि आप अपने परिवारों सहित किसी भारतीय गांवमें बस जायं और रचनात्मक कार्यमें लग कर देहाती जनताकी सेवा करें; परन्तु शहरोंमें भीड़ करके अपने और भारतीय संघके लिए नई-नई समस्याएं पैदा न करें।

गांधीजीने महसूस किया कि जब नेता चले आये हैं, तो जो सिन्धी सिन्ध छोड़ना चाहें उन्हें ऐसा करनेमें मदद दी जाय। यह काम भारतीय जहाजी कम्पनियोंकी सहायतासे संघ-सरकारने यथाशक्ति उत्तम ढंगसे किया।

पूर्व बंगालसे हिन्दुओंका निष्क्रमण जारी रहा। इसके साथ बहावलपुर रियासत (पाकिस्तान) से होनेवाला निष्क्रमण भी जुड़ गया। इससे एक ओर बम्बई, काठियावाड़, मध्यप्रदेश, दिल्ली और उत्तरप्रदेशमें तथा दूसरी ओर बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसामें विपन्न निराश्रितोंकी संख्या बहुत बढ़ गई। आनेवाले निराश्रित उन लोगोंके प्रति कोई मित्रभाव लेकर नहीं आये, जिनके पाकिस्तानी सहधर्मियोंने इलके घरबार छीन कर इन्हें अपनी अत्यंत प्रिय जन्मभूमिसे नंगे-भूखे बनाकर निकाल दिया था। इस प्रकार भारतमें आम तौर पर और दिल्लीमें खास तौर पर एक खतरनाक स्थिति पैदा होने लगी।

इस परिस्थितिमें कांग्रेसके उच्च कक्षाके नेताओंको लाचारी महसूस होने लगी। वे न तो निष्क्रमणको रोक सकते थे और न आवेगोंके बढ़ते हुए ज्वारको ही रोक सकते थे। यह ज्वार निराश्रितोंके बढ़ते हुए दबाव और बिगड़ती हुई स्थितिसे पैदा हुआ था। इसका परिणाम ऐसा विनाश ही हो सकता था जिससे न केवल उन मूल्योंको ही खतरा था, जिनकी कांग्रेस और भारतीय संघ हिमायत करते थे, बल्कि स्वयं स्वाधीनता भी खतरेमें थी। और यह परिणाम देखनेके लिए जिन्दा न रहनेकी गांधीजीने प्रतिज्ञा ले रखी थी।

दूसरा भाग

यात्राका अंत

चौथा अध्याय: भावी समाज-रचनाकी दिशामें

१

भारत अब स्वाधीन हो गया था। परन्तु गांधीजीकी दृष्टिमें राजनीतिक स्वाधीनताका बहुत कम महत्त्व था, अगर वह जन-साधारणके युगके आगमनकी घोषणा न करे। उन्होंने बार-बार कहा था कि गोरे शासकोंकी जगह काले शासकोंके आ जानेसे उन्हें सन्तोष नहीं होगा। उनकी दृष्टिमें राजनीतिक स्वाधीनताका संग्राम अपने आपमें कोई ध्येय नहीं था; वह तो जन-साधारणकी मुक्तिकी दिशामें केवल पहला कदम था। जब देशके हाथमें शासनकी बागडोर नहीं थी तब भी वे उसी ध्येयके लिए काम कर रहे थे।

गांधीजीकी पूनाकी आखिरी नजरबन्दीके दिनोंमें उनसे एक बार पूछा गया था : "यह कब कहा जायगा कि भारतको पूर्ण स्वाधीनता मिल गई है ?" उन्होंने उत्तर दिया : "जब आम जनता यह महसूस करे कि वह अपने ही प्रयत्नसे अपनी स्थिति सुधार सकती है और मनचाहे ढंगसे अपने भाग्यका निर्माण कर सकती है।" उनसे फिर पूछा गया : "क्या सत्ताके वैधानिक हस्तान्तरणसे आम जनताको वास्तवमें पूरी सत्ता मिल सकती है ? क्या धीरे धीरे चलनेकी नीतिसे जन-जागृतिकी बाढ़ रुक नहीं जायगी और पुरानी शासन-प्रणालीको जारी रखनेसे क्रान्तिकारी परिवर्तनकी आशा पर पानी नहीं फिर जायगा ?" उन्होंने उत्तर दिया : "अगर सत्ताका हस्तान्तरण शान्तिपूर्ण हो और आम जनता अन्त तक अहिंसा पर डटी रहे, तो ऐसा नहीं होगा।"

किन्तु स्वाधीनतासे पहले और बादके साम्प्रदायिक हत्याकांडने सारी बाजी बिगाड़ दी। अपने चारों ओर होनेवाली घटनाओंको, खास कर स्वाधीनता मिलनेके बाद, देखकर गांधीजीके मनमें कभी कभी यह प्रश्न उठता था कि स्वाधीनता कहीं बहुत जल्दी या बहुत देरसे तो नहीं आई? यदि रचनात्मक कार्यकी जड़ें गहरी जमानेका समय मिला होता और तीन वर्ष पहले नजरबन्दीसे रिहा होने पर उन्होंने उसे जो नया रूप देना चाहा था उसके लिए अधिक समय मिला होता, तो देशको वांछित मार्ग पर अग्रसर किया जा सकता था। बादमें लोग खुद उसकी चिन्ता

कर लेते और भारी कठिनाइयोंके बीच भी अपना मार्ग निकाल लेते । इसी तरह यदि स्वाधीनता बहुत पहले आ गई होती, तो जिस साम्प्रदायिक हत्याकांडमें स्वाधीनता लगभग डूब गई उसमें शायद न डूबी होती और शान्त तथा अहिंसाके वातावरणमें आम जनताको अपने कुदरती हक प्राप्त करनेका अच्छा अवसर मिल जाता । इस विचारसे गांधीजी बहुत उद्विग्न थे । परन्तु वे यह आशा रखते थे कि ज्यों ही देशको सांस लेनेका समय मिलेगा, वे अपना अधूरा काम फिरसे हाथमें ले सकेंगे । १९४४ में अपनी रिहाईके बादसे ही वे इन संभावनाओंके विषयमें कांग्रेसके नेताओंसे बातचीत करते रहे थे ।

अक्तूबर १९४५ के पहले सप्ताहमें अपने एक पत्रमें गांधीजीने पंडित नेहरूको लिखा : "हमारे दृष्टिकोणमें जो भेद है उसके बारेमें मैं लिखना चाहता हूं । यदि यह भेद बुनियादी है तब तो . . . जनताको वह मालूम हो जाना चाहिये । उसे अन्धकारमें रखनेसे . . . हमारे स्वराज्यके कार्यको हानि पहुंचेगी ।"

कांग्रेसकी कार्यसमितिमें स्वाधीनताके बाद कांग्रेसेके सामाजिक और आर्थिक उद्देश्योंके बारेमें हुई चर्चाको ध्यानमें रखकर यह पत्र लिखा गया था । इन प्रश्नों पर दृष्टिकोणकी भिन्नताएं तो कार्यसमितिके सदस्योंमें पहले भी थीं, परन्तु अब तक वे अधिकतर सैद्धान्तिक चर्चा तक ही सीमित रही थीं । व्यवहारमें तो गांधीजीके कार्यक्रमकी ही विजय होती थी । स्वातंत्र्य-संग्रामकी स्थितिमें तो और किसी विकल्पकी गुंजाइश ही नहीं थी । किन्तु स्वतंत्रता आती दिखाई देने पर बुनियादी स्थितिको फिरसे जांच लेना नितान्त आवश्यक हो गया ।

कार्यसमितिकी बैठकके अन्तमें यह निर्णय किया गया कि इस प्रश्न पर समितिकी दो अथवा तीन दिनकी बैठकोंमें फिरसे चर्चा की जाय और स्थितिको अन्तिम रूपसे स्पष्ट कर दिया जाय । गांधीजीने पंडित नेहरूको लिखा : "परन्तु कार्यसमितिकी बैठक हो या न हो, मैं चाहता हूं कि हम एक-दूसरेकी स्थितिको साफ साफ समझ लें । . . . जो बन्धन हम दोनोंको जोड़ता है, वह केवल राजनीतिक नहीं है । . . . वह गहरेसे गहरा है और अटूट है । इसलिए . . . मैं हृदयसे

चाहता हूं कि राजनीतिक क्षेत्रमें भी हम एक-दूसरेको साफ साफ समझ लें । . . . हम दोनों भारतकी आजादीके ध्येयके लिए जीते हैं और दोनों ही उसके लिए हंसते हंसते मर जायंगे । . . . हमें प्रशंसा मिले या बदनामी, इसका हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है । . . . मैं अब बूढ़ा हो गया हूं । . . . **इसलिए मैंने तुम्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किया है । परन्तु मुझे अपने उत्तराधिकारीको समझ लेना चाहिये और उत्तराधिकारीको मुझे समझ लेना चाहिये, तभी मुझे सन्तोष होगा** ।" (मोटे टाइप मैंने किये है ।) गांधीजीके पत्रमें आगे यह लिखा था :

> मेरा विश्वास है कि यदि भारतको सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और भारतके द्वारा संसारको भी प्राप्त करनी है, तो आगे-पीछे यह तथ्य हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि लोगोंको गांवोंमें न कि शहरोंमें, झोंपड़ोंमें न कि महलोंमें रहना होगा । करोड़ों आदमी शहरोंमें और महलोंमें कभी एक-दूसरेके साथ सुख-शान्तिसे रह ही नहीं सकेंगे । फिर तो उनके पास हिंसा और असत्य दोनोंका आश्रय लेनेके सिवा और कोई चारा ही नहीं रहेगा।
>
> मैं मानता हूं कि सत्य और अहिंसाके अभावमें मानव-जातिके लिए विनाशके सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जायगा । सत्य और अहिंसाको हम ग्रामीण जीवनकी सादगीमें ही सिद्ध कर सकते हैं और यह सादगी चरखेमें और चरखा जिन चीजोंका प्रतीक है उन्हींमें उत्तम रूपमें मिल सकती है । अगर आज दुनिया गलत रास्ते पर जा रही है, तो मुझे उससे डरना नहीं चाहिये । यह हो सकता है कि भारत भी उसी रास्ते जाय और कहावतके पतंगेकी तरह अन्तमें उसी दीपककी आगमें जल मरे, जिसके आसपास वह तांडव-नृत्य करता है । परन्तु मेरा जीवनके अंतिम क्षण तक यह परम धर्म है कि मैं ऐसे सर्वनाशसे भारतकी और भारतके द्वारा समस्त संसारकी रक्षा करनेका प्रयत्न करूं ।
>
> मेरे कहनेका सार यह है कि मनुष्यको अपनी सच्ची जरूरतोंसे संतुष्ट रहना चाहिये और आत्म-निर्भर बन जाना चाहिये । अगर मनुष्य यह संयम नहीं रखता, तो वह अपनी

रक्षा नहीं कर सकता। आखिर तो जैसे बूंद बूंदसे समुद्र बनता है वैसे ही संसार व्यक्तियोंसे बना है। . . . यह एक प्रसिद्ध सत्य है। . . .

जहां मैं आधुनिक विज्ञानका प्रशंसक हूं, वहां मैं मानता हूं कि पुरानी चीजको ही अर्वाचीन विज्ञानके सच्चे प्रकाशमें देखकर नया जामा पहनाना और नया रूप देना चाहिये। तुम्हें यह नहीं सोचना चाहिये कि मेरी कल्पनामें वही ग्रामीण जीवन है, जो आज हम देख रहे हैं। मेरे सपनोंका गांव अभी तक मेरे विचारोंमें ही है। आखिर तो प्रत्येक मनुष्य अपने सपनोंके संसारमें ही रहता है। मेरे आदर्श गांवमें बुद्धिमान मानव प्राणी होंगे। वे जानवरोंकी तरह गंदगी और अंधकारमें नहीं रहेंगे। उसके नर-नारी स्वतंत्र होंगे और संसारमें किसीके सामने भी डटे रहनेकी क्षमतावाले होंगे। वहां न प्लेग होगा, न हैजा, न चेचक; वहां कोई बेकार नहीं रहेगा, कोई ऐश-आराममें डूबा नहीं रहेगा। सबको अपने अपने हिस्सेका शरीर-श्रम करना होगा। . . . उस गांवमें रेल, डाक-तार . . . और ऐसी ही दूसरी चीजोंकी कल्पना की जा सकती है।

पंडित नेहरूने उत्तरमें लिखा :

हमारे सामने प्रश्न सत्य बनाम असत्यका या अहिंसा बनाम हिंसाका नहीं है। हम यह मान लेते हैं – हमें मानना ही चाहिये – कि लक्ष्य सच्चे सहयोग और शान्तिपूर्ण उपायोंका रहना चाहिये और ऐसा समाज, जो इनको प्रोत्साहन देता है, हमारा ध्येय होना चाहिये। सारा प्रश्न यह है कि ऐसे समाजकी स्थापना कैसे की जाय और उसका स्वरूप क्या हो। मेरी समझमें नहीं आता कि गांव आवश्यक तौर पर सत्य और अहिंसाका साकार रूप क्यों होना चाहिये। सामान्यतः गांव बुद्धि और संस्कृतिकी दृष्टिसे पिछड़ा हुआ होता है और पिछड़े हुए वातावरणमें कोई प्रगति नहीं की जा सकती। संकीर्ण विचारोंके लोगोंके लिए असत्यपूर्ण और हिंसक होनेकी बहुत ज्यादा संभावना रहती है। . . .

हमें कुछ उद्देश्य स्थिर कर लेने चाहिये; जैसे पर्याप्त मात्रामें अन्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा और सफाई वगैरा देशके और हरएक नागरिकके लिए अल्पतम आवश्यकताएं होनी चाहिये । ये लक्ष्य ध्यानमें रखकर ही हमें खास तौर पर यह पता लगाना चाहिये कि उन्हें तैजीसे कैसे सिद्ध किया जाय । साथ ही मुझे यह भी अनिवार्य मालूम होता है कि परिवहनके आधुनिक साधन तथा अर्वाचीन विकासके अन्य कई साधन जारी रहने चाहिये और उनका विकास होना चाहिये । उनका रहना मुझे अनिवार्य लगता है । अगर ऐसी बात है तो अनिवार्य रूपमें भारी उद्योग भी कुछ मात्रामें रहेंगे ही । विशुद्ध ग्राम-समाजके साथ इन सब चीजोंका मेल कहां तक बैठेगा ? मैं स्वयं तो आशा रखता हूं कि भारी या हलके उद्योग सब यथासंभव विकेन्द्रित होने चाहिये । अब विद्युत्-शक्तिके विकासके कारण ऐसा करना संभव है । अगर देशमें दो प्रकारकी अर्थ-व्यवस्था रहेगी, तो या तो दोनोंमें संघर्ष होगा अथवा एक दूसरी पर हावी हो जायगी ।

इस संदर्भमें स्वाधीनता और राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों तरहके विदेशी आक्रमणसे रक्षाका प्रश्न भी सोचना होगा । मैं नहीं मानता कि जब तक भारत यंत्रोद्योगोंमें उन्नत देश नहीं होगा तब तक वह वास्तवमें स्वाधीन रह सकता है । मैं इस समय केवल सैनिक दृष्टिसे नहीं, परन्तु वैज्ञानिक उन्नतिकी दृष्टिसे विचार कर रहा हूं । संसारके वर्तमान संदर्भमें हम सांस्कृतिक दृष्टिसे भी हर विभागमें वैज्ञानिक अनुसंधानकी दृढ़ पृष्ठभूमिके बिना आगे नहीं बढ़ सकते । इस समय दुनियामें व्यक्तियों और समूहों तथा राष्ट्रोंमें भी परिग्रहकी जबरदस्त वृत्ति है, जो संघर्ष और युद्धको जन्म देती है । हमारा सारा समाज कम या अधिक मात्रासे इसी पर आधारित है । यह आधार मिटना चाहिये और उसका सहयोगमें रूपान्तर होना चाहिये – उसका रूपांतर अलगावमें नहीं होना चाहिये, जो कि आज असंभव है । यदि यह मान लिया जाता है और संभव दिखाई देता है, तो उसे अमलमें लानेकी कोशिश ऐसी अर्थ-व्यवस्थाकी दृष्टिसे नहीं होनी चाहिये, जो शेष संसारसे अलग-थलग हो, बल्कि सहयोगकी पद्धति पर चलनेवाली अर्थ-व्यवस्थाकी दृष्टिसे होनी चाहिये।

आर्थिक अथवा राजनीतिक दृष्टिकोणसे अलग-थलग रहनेवाला भारत संभवतः ऐसा रिक्त स्थान बन जाय, जो दूसरोंकी परिग्रह-वृत्ति और लोभको बढ़ा दे और इस प्रकार संघर्ष पैदा कर दे ।

लाखों-करोड़ों लोगोंके लिए महलोंमें रहनेका कोई सवाल ही नहीं है । लेकिन कोई कारण दिखाई नहीं देता कि लाखोंके लिए आराम देनेवाले नये ढंगके घर क्यों न हों, जहां वे सभ्य और संस्कृत जीवन बिता सकें । आवश्यकतासे अधिक बढ़े हुए बहुतसे शहरोंमें ऐसी बुराइयां पैदा हो गई हैं, जो खेदजनक हैं । शायद हमें शहरोंकी इस अतिवृद्धिको रोकना होगा और साथ ही गांवको शहरकी संस्कृतिके अधिक निकठ पहुंचनेके लिए प्रोत्साहन देना पड़ेगा । . . .

यह निर्णय करना आपका काम है कि कांग्रेसके लिए इन बुनियादी प्रश्नों पर, जिनमें जीवनके विविध तत्त्वज्ञान समा जाते हैं, विचार करना कहां तक वांछनीय है । मेरे खयालसे तो कांग्रेस जैसी संस्थाको ऐसे प्रश्नोंकी बहसमें नहीं पड़ना चाहिये, जिनसे लोगोंके विचारोंमें और ज्यादा गड़बड़ी ही पैदा हो और उसके फलस्वरूप वर्तमानमें भी वे काम न कर सकें । इसका यह परिणाम भी हो सकता है कि कांग्रेस और देशके दूसरे लोगोंके बीच दीवालें खड़ी हो जायं । बेशक, अन्तमें तो इस प्रश्न और ऐसे दूसरे प्रश्नोंका स्वतंत्र भारतके प्रतिनिधयोंको फैसला करना होगा । मेरा खयाल है कि इनमें से अधिकांश प्रश्नों पर विचार और चर्चा बहुत पुरानी दृष्टिसे की जाती है और पिछली पीढ़ीमें तथा उससे भी कुछ पहले सारी दुनियामें जो विशाल परिवर्तन हो चुके हैं उनकी उपेक्षा की जाती है । . . . आज दुनिया बिलकुल बदल गई है; संभव है कि वह गलत दिशामें बदली हो । कुछ भी हो, इन प्रश्नों पर विचार करते समय वर्तमान तथ्यों, बलों और वर्तमान मानव-समाजको ध्यानमें रखना होगा, अन्यथा वस्तुस्थितिसे उसका कोई सम्बंध नहीं रहेगा ।

पंडित नेहरूके पत्रके अन्तमें उनके स्वभावमें पायी जानेवाली अंतिम घड़ीकी अनिश्चितता और संकल्प-विकल्प प्रकट होता है । यह उनकी ईमानदारी और उनके हृदयकी सचाई और सरलताका प्रमाण है । जिस प्रश्नचिह्नको मिटानेके लिए वे चले थे उसे मिटानेके बजाय उन्होंने अन्तमें स्वयं अपना एक प्रश्न और जोड़ दिया : "आपका यह कहना ठीक है कि संसार या उसका एक बड़ा हिस्सा आत्महत्या करने पर तुला हुआ मालूम होता है । सम्भव है यह उस बुरे तत्त्वका अनिवार्य परिणाम हो, जो संसारमें विकसित हुई आधुनिक सभ्यतामें निहित है । मेरा खयाल ऐसा ही है । इस बुराईको दूर कैसे किया जाय और साथ ही वर्तमान तथा भूतकालमें जो अच्छाई है उसे कायम कैसे रखा जाय, यही हमारी समस्या है । स्पष्ट है कि वर्तमानमें अच्छाई भी है ।"

एक महीने बाद दोनोंकी दूसरी मुलाकतमें गांधीजीने फिर वही विषय छेड़ा । उन्होंने नेहरूजीसे कहा कि तुम्हारे पत्रमें जो मुख्य बातें हैं वे मुझको भी स्वोकार हैं । इतना ही नहीं, इस विषयमें मैं शायद तुमसे भी आगे जा सकता हूं । दोनोंके बीच समान बातें ये हैं : शहरी और ग्रामीण जीवनके स्तरोंमें समानताको निश्चित बनाना; "अन्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य-सफाई वगैराकी आत्म-निर्भरता" तेजीसे सिद्ध करना, जो "देशके लिए और हर नागरिकके लिए अल्पतम आवश्यकताएं " रहें; "सच्चा सहयोग और शान्तिपूर्ण पद्धतियां" तथा "इनको प्रोत्साहन देनेवाले समाजकी स्थापना" का लक्ष्य; और अन्तमें "इन प्रश्नों" की किसी भी चर्चामें "वर्तमान तथ्यों, बलों और आजके हमारे मानव-समाजको" ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता ।

परन्तु इन सब बातोंको सिद्ध करनेका प्रयत्न करने पर पता चलेगा कि नेहरूजीकी बताई हुई योजना अथवा विचार-सरणीकी अपेक्षा गांधीजीने जो विचार-सरणी और कार्य-पद्धति बताई है उसका अनुसरण करनेसे ही ये सब सिद्ध हो सकेगी :

हमारी कलकी बातसे मुझे प्रसन्नता हुई । मुझे दुःख है कि हम उसे और आगे न बढ़ा सके । मेरे खयालसे वह बात एक ही बैठकमें समाप्त नहीं की जा सकती; उसके लिए हमें बार बार मिलनेकी जरूरत रहेगी । मेरी प्रकृति तो ऐसी है कि अगर मैं शरीरसे भाग-दौड़ करने योग्य होता,

तो तुम जहां कहीं रहते वहीं तुम्हें पकड़ लेता और तुमसे दो दिन दिल खोलकर बातें करके लौट आता । मैंने पहले भी ऐसा किया है । यह जरूरी है कि हम एक-दूसरेको अच्छी तरह समझ लें और दूसरे भी इसे साफ समझ लें कि हम दोनों कहां खड़े हैं । कोई चिन्ता नहीं, यदि अन्तमें हममें मतभेद बना रहे, बशर्ते आजकी तरह हमारा दिल एक रहे । हमारी कलकी बातचीतकी मुझ पर यह छाप पड़ी है कि हमारे दृष्टिकोणमें बहुत अन्तर नहीं है । इसकी परीक्षाके लिए मैंने जिस तरह तुम्हें समझा है उसका सार मैं यहां दे देता हूं । अगर कोई अन्तर रह गया हो तो तुम सुधार देना ।

१. तुम्हारे खयालसे मुख्य प्रश्न यह है कि मनुष्यका उच्चतम बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक विकास कैसे किया जाय । मैं पूरी तरह सहमत हूं ।

२. इसमें सबके लिए उन्नतिका समान अधिकार और समान अवसर होना चाहिये ।

३. दूसरे शब्दोंमें, शहरियों और देहातियोंके भोजन, पानी, कपड़े और जीवनकी दूसरी स्थितियोंके स्तरमें समानता होनी चाहिये । इस समानताको लानेके लिए आज लोगोंको जीवनकी आवश्यक वस्तुएं अर्थात् वस्त्र, अन्न, मकान, रोशनी और पानी खुद ही पैदा कर लेनेके लिए समर्थ बनना चाहिये ।

४. मनुष्य अलग-थलग रहनेको पैदा नहीं हुआ है, परन्तु वह मूलतः एक सामाजिक प्राणी है, जो स्वाधीन और परस्परावलम्बी है । कोई किसीकी पीठ पर सवार नहीं हो सकता, ना होना चाहिये । ऐसे जीवनके लिए आवश्यक परिस्थितियां उत्पन्न करनेकी कोशिश करें, तो हम मजबूरन् इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि समाजका घटक एक गांव हो या नियन्त्रणमें रखी जाने लायक लोगोंकी छोटी मंडली हो, जो आदर्श दृष्टिसे (अपनी जीवन-सम्बन्धी जरूरतोंके मामलेमें) एक घटकके रूपमें आत्म-निर्भर हो और परस्पर सहयोग तथा परस्परावलम्बनके बन्धनोंमें बंधी हो ।

अगर मुझे यह मालूम हुआ कि यहां तक मैंने तुम्हें ठीक समझा है, तो मैं प्रश्नके दूसरे भागका विचार अगले पत्रमें करूंगा ।

किन्तु इसके बाद यह चर्चा तेज गतिसे होनेवाले राजनीतिक परिवर्तनोंके कारण और बादमें भयंकर साम्प्रदायिक दंगोंके छिड़ जानेके कारण फिरसे शुरू नहीं की जा सकी । स्वाधीनताके बाद १९४७ के उत्तरार्धमें यह प्रश्न फिरसे उठा, परन्तु उस समय भी इसे किसी परिणाम पर नहीं पहुंचाया जा सका । लेकिन यह संभव है और वांछनीय भी है कि मोटी रूपरेखाके तौर पर गांधीजीके लेखोंसे उनके अधूरे रहे तर्कको पूरा कर लिया जाय और आजको दुनियाके सन्दर्भमें उसके फलितार्थोंकी जांच कर ली जाय ।

२

आधुनिक उद्योगोंके उदय-कालसे ही शहर और गांवके तथा उद्योग और खेतीके विभिन्न हितोंका प्रश्न हमेशा चर्चाका विषय रहा है । समय समय पर सामाजिक और राजनीतिक संग्रामोंके दौरान दोनों विभागोंमें मेल हुआ है, परन्तु यह मेल अस्थायी सिद्ध हुआ है । ज्यों ही सामान्य उद्देश्य पूरा हुआ त्यों ही शहर और गांवके बीचका पुराना विरोध पहलेसे अधिक तीव्र रूपमें प्रगट हुआ है ।

कच्चे माल, सस्ती मजदूरी और बाजारोंके शोषणके लिए एक देश पर दूसरे देशेके आर्थिक और राजनीतिक नियन्त्रणकी बुराईको उसका उचित नाम उपनिवेशवाद दे दिया गया है और आजकल उपनिवेशवादके समर्थक बहुत कम मिलते हैं । लेकिन जो देश नवयुगमें तेजीसे प्रवेश करनेकी आकांक्षा रखते हैं, वे आज भी अपनी ही ग्रामीण प्रजाके प्रति उपनिवेशवादकी नीतिका सार रूपमें अमल करते हैं । इसके लिए उद्योग जितनी मात्रामें और जिस कीमत पर चाहते हैं, गांवों पर अपना तैयार माल थोपते हैं और उन्हें उद्योगपतियोंकी मनचाही कीमत और मात्रामें कच्चा माल पैदा करनेको मजबूर करते हैं । लेकिन कोई इस पर किसी तरहका विचार ही नहीं करता । इसके विपरीत, इसे "प्रगति", "राष्ट्रीय सम्पन्नता" वगैरा नाम देकर उचित बताया जाता है और उसका गौरव भी बढ़ाया जाता है । गीना लॉम्ब्रोसो कहते हैं : "बड़े उद्योगोंसे सम्बन्धित पशुबल उन तमाम देशों और वर्गोंको, जो उद्योग-प्रधान नहीं हैं और इसलिए कमजोर

हैं, विजित देश और विजित वर्ग समझता है ।" [गीना लॉम्ब्रोसो, 'दि ट्रेजेडीज़ ऑफ प्रोग्रेस', न्यूयॉर्क, १९३१, पृ. २५०]

उद्योगोंके क्षेत्रमें उत्पादनके बढ़नेका अर्थ सामान्यतः लागत खर्चका घटना होता है । परन्तु खेतीकी रचना ऐसी है कि उसमें धरतीके उपजाऊपनको हानि पहुंचाकर ही उस पर बढ़ती हुई मांगको पूरा किया जा सकता है । सस्ता कच्चा माल – जिसके लिए यांत्रिक उत्पादनने पूरी न होनेवाली मांग पैदा कर दी है – और खुराक तथा जीवन-निर्वाहके अन्य साधन – जिनके बिना उत्पादन न करनेवाली औद्योगिक आबादीका काम चल ही नहीं सकता – इन दोनोंको प्राप्त करनेके लिए कई तरहकी सूक्ष्म युक्तियों और दबावके द्वारा किसानको मजबूर किया जाता है कि वह औद्योगिक फसलें उत्पन्न करे । इससे जो चीजें उसे खुद अपने स्वस्थ जीवन-निर्वाहके लिए चाहिये वे उसे नहीं मिलती । इसके फलस्वरूप कसहीन जमीनसे होनेवाली आयकी कमी पूरी करनेंके लिए "खेतीके लिए आर्थिक सहायता, रिश्वत और भावोंके नियन्त्रण" का आश्रय लेना पड़ता है और ग्रामीण प्रजाको सन्तुष्ट रखनेके लिए कारखानोंमें बना सस्ता माल, मौज-शौककी सामग्री, सिनेमा, रेडियो, मोटरों आदिका उन पर "नशा" चढ़ाया जाता है । इसके अलावा सड़कों और रेलोंका जाल गांवोंमें बिछाया जाता है, जिनके बिना उनका काम बहुत-कुछ चल सकता है । परन्तु ये दोनों इसीलिए फैलाई जाती हैं कि इनसे उद्योगोंकी उद्देश्य-पूर्ति होती है । ग्रामीणोंको ये सब चीजें मंत्रमुग्ध कर लेती है और वे यह समझने लगते हैं कि ये ही प्रगतिका लक्षण हैं और इस प्रकार वे स्वेच्छासे अपने ही शोषणके साधन बन जाते हैं ।

किसी समय यह आशा रखी गई थी कि योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्थामें आर्थिक और सामाजिक नियन्त्रण रखनेसे गांव और शहरका संघर्ष मिट जायगा – कमसे कम सिद्धान्तमें तो वह मिटाया ही जा सका है — और "खेत, कारखाने तथा उद्योग-घर" का समन्वय किया जा सकेगा । परन्तु व्यवहारमें, डॉ. मिट्रानीके शब्दोंमें, नियन्त्रण बराबर ग्रामीण जनताको हानि पहुंचाकर "निरन्तर बना रहा है ।" नतीजा यह है कि समाजके दोनों वर्गोंके बीचकी चौड़ी खाई अभी तक नहीं पट पाई है । "एकको अब भी रोष होता है, यदि दूसरेकी तरफसे मालकी पूर्ति

कम हो जाती है या अपनी कोशिशोंके रूपमें चुकाई जानेवाली कीमत . . . उसे हानिकारक मालूम पड़ती है ।" [डेविड मिट्रानी, 'मार्क्स अगेन्स्ट दि पीज़ेंट्स', लन्दन, १९५२, पृ. २२९]

शहरोंमें पैदा होनेवाले बुद्धिवादियोंका रुख जब किसानकी जीवन-प्रणालीके प्रति तिरस्कारका नहीं होता तब वह कृपाका और आश्रयदाताका होता है । परन्तु भद्र लोगोंकी तरह गांधीजीके मनमें किसानकी जीवन-प्रणालीके प्रति तिरस्कार नहीं था । भद्र लोग तो उसे सह्य बनानेके लिए गांवोंको "शहरी सुविधाओं" का दान करते हैं । गांधीजीकी दृष्टिमें किसान वैसा मुर्ख और असाध्य प्रतिगामी भी नहीं था, जैसा समाजवादी दर्शनमें उसे माना जाता है । समाजवादी ऐसा समझते हैं कि किसान "अधिकसे अधिक . . . देहाती मजदूर है और कमसे कम . . . वह धरतीसे अपना निर्वाह भर कर लेता है, जिसे इसकी परवाह नहीं होती कि जमीन पर और उसके उत्पादन पर दूसरोंका अधिकार है या दूसरोंकी जरूरतें निर्भर करती हैं "। [जॉर्ज आर. सार्जेण्ट, 'दि न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन', ५ जनवरी १९५२] और, ऐसे आदमीका उसके अपने हित और समाजके हितकी दृष्टिसे खातमा कर देना चाहिये । इसके विपरीत; गांधीजीके मतसे किसान धरतीका नमक है, लोकतन्त्रका आधार है । "भारतीय ग्रामीणकी बात तो यह है कि उसके गंवारपनकी तहके नीचे युगोंकी पुरानी संस्कृति छिपी हुई है । . . . उसके बाहरी गंवारूपनके नीचे आपको आध्यात्मिकताका गहरा भण्डार मिलेगा । . . . पश्चिममें आपको यह बात नहीं मिलेगी ।" . . . भारतीय किसानके ऊपरकी यह तह उतार दीजिये, उसकी पुरानी दरिद्रता और निरक्षरताको मिटा दीजिये, फिर आपको संस्कृत, सभ्य और स्वतन्त्र नागरिक कैसा होना चाहिये, इसका बढ़ियासे बढ़िया नमूना ग्रामवासीमें मिलेगा ।" [हरिजन, २८ जनवरी १९३९, पृ. ४३९]

सिद्धान्तमें सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि भारत अपने गांवोंमें रहता है, इसलिए राज्यको गांवकी चिन्ता सबसे पहले और सबसे ज्यादा होनी चाहिये । परन्तु जब गांवोंको हानि पहुंचा कर शहरोंके प्राप्त विशेषाधिकारोंको मिटानेकी बात आती है, और इसका अनिवार्य परिणाम जब इस बातमें आता है कि जनताका धन गांवों पर उसी अनुपातमें खर्च होना चाहिये जिस अनुपातमें वह गांवोंसे वसूल किया जाता है, तब अत्यन्त सदाशयी लोग भी बगलें झांकने

लगते हैं और तरह तरहके कुतर्क और भुलावेमें डालनेवाले बहाने करने लगते हैं । ये तर्क और ये बहाने "प्रगति" के दर्शनशास्त्रमें विपुल मात्रामें मिल जाते हैं ।

गांधीजीकी बात बिलकुल सीधी थी : "शहर जो धृष्टतापूर्ण अन्याय और अत्याचार करते रहते हैं, उनके कारण ग्रामजनोंके जीवन और स्वातंत्र्यके लिए हमेशा खतरा बना रहता है ।" [यंग इंडिया, १७ मार्च १९२७, पृ. ८६] "यदि शहर इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण देना चाहते हैं कि वहांके लोग भारतके ग्रामवासियोंके लिए जियेंगे, तो उनके अधिकांश साधन और सम्पत्ति गरीबोंकी स्थिति सुधारनेमें खर्च होने चाहिये ।" [यंग इंडिया, २३ अप्रैल १९३१, पृ. ८१] इसके सिवा, "शहर ग्रामजनोंका शोषण कर रहे हैं और उनका धन खींच कर ले जा रहे हैं । . . . मेरी योजनामें शहरोंमें ऐसी कोई चीज तैयार नहीं होने दी जायगी, जो गांवोंमें उतनी ही अच्छी तरह तैयार की जा सकती है । शहरोंका सच्चा काम यह है कि वे गांवोंके मालको खपानेके साधन बने। . . . गांवोंको आत्म-निर्भर बनना होगा । अगर हमें अहिंसाकी दृष्टिसे काम करना है, तो मुझे और कोई हल नजर नहीं आता ।" [हरिजन, २८ जनवरी १९३९, पृ. ४३८-३९]

जीवित रहनेकी योजनामें ग्रामीण जीवन-प्रणालीके अपने कुछ लाभ हैं और उसका अपना महत्त्व भी है । मिरियम बिअर्डने अपनी पुस्तक 'हिस्टरी ऑफ दि बिजिनेस मैन' में लिखा है : "जमीन पर आधार रखनेवाले लोग कष्ट पाते रहे, मगर जीवित रहे; शहरोंमें लोग फूले-फले – और धीरे धीरे नष्ट हो गये ।" प्रकृतिमें शान्त, स्वस्थ बुद्धिमानी और सन्तोष है, जो किसानोंके जीवनमें प्रतिबिम्बित होते हैं । उसे कभी कभी भूलसे शिथिलता और मूढ़ता समझ लिया जाता है । परम्परागत ग्रामीण जीवन-प्रणालीसे किसानको वह सुरक्षा मिल जाती है, जो अभी तक पश्चिमके उन्नत देशोंमें भी औद्योगिक जन-साधारणकी आकांक्षा बनी रही है । बेकारी, बीमारी, संकट तथा वृद्धा-वस्थामें मजदूरको क्या सुरक्षा मिलेगी, यह उसे बता दिया जाता है । परन्तु किसानको तो अपनी परम्परागत अर्थ-व्यवस्थामें ही यह सुरक्षा प्राप्त हो जाती है । संभव है कि इससे उसे वैसे "भौतिक लाभ न मिलें, जो . . . पश्चिममें राज्य द्वारा दिये जाते हैं; परन्तु यह सुरक्षा ऐसी है जिसे किसान अपने ही हाथोंसे प्राप्त कर सकता है और जो उसे अपने ही पैरों पर खड़ा

रहनेके लिए स्वतन्त्र कर देती है।" [[डेविड मिट्रानी, 'मार्क्स अगेन्स्ट दि पीज़ेंट्स', लन्दन, १९५२, पृ. १३०]

व्यक्ति और समाज दोनोंमें निराशा और आक्रमणके बीच जो पारस्परिक सम्बन्ध है, वह सबको मालूम है। लड़नेकी वृत्ति मनुष्यमें जन्मजात होती है। उसे जड़से कभी मिटाया नहीं जा सकता। उसका रूपान्तर ही किया जा सकता है। किसानकी बात यह है कि धरती माताके साथ उसका गहरा सम्बन्ध उसमें आन्तरिक सुरक्षाकी भावना उत्पन्न करता है, जिसे वह स्वयं अपने प्रयत्नसे प्राप्त कर सकता है। उसकी "जन्मजात युद्धवृत्ति" का जोश प्रकृतिके साथ प्रतिदिन संग्राम करनेमें खर्च होता रहता है। इसलिए किसान स्वभावसे आक्रमणकारी नहीं होता। यही बात कारीगर पर भी लागू होती है। उसकी युद्धवृत्ति सुजनशील कार्यमें प्रकट होती है और इसलिए उसमें भी अपनी विनाशक वृत्तियोंको प्रकट करनेकी इच्छा नहीं रहती।

इसके अभावमें कादखानेका मजदूर अपने आसपासकी स्वभाविक परिस्थितियोंसे उखड़ कर एक सांचेमें ढली हुई व्यवस्था और सामूहिक मानसके वायुमण्डलमें रहता है, उसे बेकारी और औद्योगिक अस्थिरताका हमेशा डर बना रहता है और इनको जन्म देनेवाले कारणों पर उसका कोई काबू नहीं होता। इससे मजदूर एक ऐसा व्यक्ति बन जाता है, जो जुंगके शब्दोंमें "अस्थिर, अरक्षित और स्वतन्त्र विचारकी शक्ति खोकर दूसरोंके विचारोंमें बह जानेवाला बन जाता है।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कण्टेम्पोरेरी इवेंट्स', लन्दन, १९४७, पृ. १३] निराशासे मानसिक रोग होता है। ऐसे मजदूरमें वह सामग्री मिल जाती है, जिसका तानाशाह और युद्धके पुजारी अपने अपने उद्देश्योंके लिए दुरुपयोग करते हैं।

यह सच है कि किसान भी मौसमकी अनिश्चितताओं वगैराका शिकार होता है। परन्तु वह अपने परिश्रम, बुद्धि और कुशलतासे उनके साथ जूझ सकता है। अन्तमें वह किसी तरह निर्वाह करनेके लिए सहायक धन्धोंका सहारा तो ले ही सकता है। उसे निराशा अनुभव नहीं होती। इसलिए स्वभावसे ही किसान और कारीगरका समाज शान्तिप्रिय होता है। प्रो. सीगनोब्स कहते

हैं : "भूस्वामी किसानोंके लोकतन्त्रसे अधिक शांतिप्रेमी राज्य दूसरा कोई नहीं होता । जबसे दुनिया पैदा हुई है तबसे ऐसे किसी समुदायने न तो कभी युद्धकी इच्छा की और न युद्धकी तैयारी अथवा शुरुआत ही की ।"

लेकिन जहां किसान स्वभावसे आक्रमणकारी नहीं है, वहां वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके लिए लड़नेवाला अत्यन्त प्रचंड योद्धा भी है । "अन्न पैदा करनेवाले किसान आजादीके अन्तिम दुर्ग होते हैं ।" विल्फ्रेड वेलॉकके शब्दोंमें, "किसानके हाथमें वह शस्त्र है, जो वोटसे अधिक शक्तिशाली होता है । वह ओजस्वी भाषाका प्रयोग भले न कर सके, परन्तु जब हम सबके मरनेकी नौबत आ जाय तब भी वह जिन्दा रह सकता है ।" [विल्फ्रेड वेलॉक, 'ए मेकेनिस्टिक ऑर ए ह्यूमन सोसाइटी', पृ. १४]

किसान प्रकृतिकी प्रक्रियाओंमें भाग लेता है । उसने अनुभवसे यह सीख लिया है कि इनकी गतिको जबरन् कभी भी बढ़ाया नहीं जा सकता । इसलिए "उसकी मान्यताओंमें स्थिरता और अविचलता" आ जाती है और उसमें धीरज, लगन और अध्यवसायके गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण "राजनीतिक संग्राममें संलग्न होने पर वह अजेय" [जे. क्रेंज़ेविक, 'पीज़ेंट मूवमेण्ट इन ईस्टने एण्ड डैन्यूबियन यूरोप', 'कण्टेम्पोरेरी रिव्यू' में उद्धत, अगस्त १९४८] बन जाता है । जैसा डॉ. मिट्रानीने कहा है : "किसानकी शक्ति उसके कार्यमें नहीं, परन्तु उसके प्रतिरोधमें रहती है ।" [डेविड मिट्रानी, 'मार्क्स अगेन्स्ट दि पीजेंट्रीज़', लन्दन, १९५२, पृ. १६४] टिल्टमैनने, जो इस विषयके दूसरे विशेषज्ञ हैं, लिखा है कि किसान सारे इतिहासमें सबसे बड़ा शान्त प्रतिकार करनेवाला रहा है । जेफर्सनने पारिवारिक खेती और लोकतन्त्रको एकरूप बताया है ।

गांधीजीका मत था कि किसानों और कारीगरोंके प्राणवान समुदायों पर आधारित समाज-व्यवस्था लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रताका वास्तविक स्तम्भ सिद्ध होगी और भारतकी ओरसे कोई

आक्रमणकारी या विस्तारवादी वृत्ति अपनानेके विरुद्ध स्वाभाविक आश्वासन रहेगी । ऐसी समाज-व्यवस्था विश्व-शान्तिका एक शक्तिशाली साधन होगी ।

३

गांधीजीकी आर्थिक व्यवस्थाके मुख्य अंग ये हैं : (१) सघन, छोटे पैमानेकी, व्यक्तिगत और विभिन्न फसलोंवाली खेती – जिसे सहकारी प्रयत्नका सहारा हो, न कि यान्त्रिक और बड़े पैमाने पर की जानेवाली सामूहिक खेती; (२) खेतीके सहायक गृह-उद्योगोंका विकास; (३) पशुओं पर आधारित अर्थ-व्यवस्था जिसमें "लौटानेका नियम" सख्तीसे अमलमें लाया जाय – यानी जो कुछ धरतीसे निकाला जाय उसे सजीव रूपमें धरतीको लौटा दिया जाय; (४) पशु, मानव और वनस्पति-जीवनका ठीक संतुलन और एक-दूसरेके लाभके लिए उनका परस्पर सम्बन्ध; और (५) सामाजिक योगक्षेमके लिए यन्त्रोंकी प्रतिस्पर्धामें मानव और पशु दोनों शक्तियोंकी स्वेच्छासे रक्षा ।

अपनेको अधिक बुद्धिमान माननेवाले आलोचकोंने कभी कभी इसे "अप्रगतिशील, विज्ञानसे पहलेका मध्यकालवाद", "गोबर-युगमें वापस जाना" और "बैलगाड़ीकी मनोवृत्ति" बताया है । सच बात तो यह है कि गांधीजी अपने समयसे बहुत आगे थे । लेकिन मूलतः वे कर्मठ पुरुष और मौलिक विचारक थे, इसलिए वे अपने विचारोंको जान-बूझकर आम लोगोंकी सादी भाषाका जामा पहनाना पसन्द करते थे । उन्हें इन्हीं लोगोंके द्वारा अपनी क्रांतिको कार्यान्वित करना था, इसलिए वे अपने विचारोंको प्रकट करने के लिए शब्दाडंबरवाली प्रचलित वैज्ञानिक भाषाका उपयोग नहीं करते थे ।

कृषिशास्त्रमें हाल ही हुई प्रगतिके कारण "लौटानेके नियम" पर अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा है । एक अटल शर्त, जिसके आधार पर मनुष्यको प्रकृति पर राज्य करने दिया जाता है, यह है कि वह अपने आसपासके वातावरणको पहलेसे अधिक अच्छी स्थितिमें छोड़कर जाय । इस नियमका थोड़ासा भी भंग होनेसे प्रकृति कठोर और तात्कालिक न्याय करती है । विज्ञानकी

सहायतासे मनुष्य धरतीकी पूंजीको ऐसी गतिसे सम्पत्तिमें बदल रहा है कि उससे स्वयं सभ्यताके भविष्यके लिए ही भारी खतरा पैदा हो गया है । यहां यह याद दिलानेकी जरूरत नहीं है कि अच्छे व्यवसाय पूंजीमें से मुनाफा बांट कर कभी स्थिरतासे नहीं चलाये जाते ।

प्रकृतिमें सर्वत्र गाढ़ आर्थिक और जैविक सम्बन्ध देखनेमें आता है । पौधे और पशु धरतीके सूक्ष्म जीवाणुओंके साथ मिलकर एक जाति बचाते हैं । इन तीनोंको धरतीसे पोषण मिलता है और जब ये मरते हैं तब जो कुछ इन्होंने धरतीसे लिया हो वही उसे लौटा देते हैं । चूंकि कुछ पौधों और कुछ प्राणियोंको एककी अपेक्षा दूसरे तत्त्वकी ज्यादा जरूरत होती है, इसलिए वनस्पति और प्राणि-जातियां परस्पर पूरक समूहोंमें सम्बद्ध हो जाती हैं । पशु "कठोर वनस्पतिका रूपान्तर करनेवाले" हैं । वे कठोर वनस्पतिको मनुष्यके खाने योग्य आहारमें बदल देते हैं । इसके सिवा, वे अपने मल-मूत्रसे धरतीको उपजाऊ बनाते हैं । जीवनके तत्त्व धरतीसे प्राणियों और पौधोंके शरीरमें प्रवेश करते हैं और जीवनके एक स्वरूपसे दूसरेमें संक्रान्त होते हैं । इसे प्राय: 'नत्रजन-चक्र' (Nitrogen Cycle) कहा जाता है । जीवनके इन तत्त्वोंका चक्र निरन्तर गतिमान रहता है । जीवनके इस चक्रको गतिमान रखनेवाली इस प्रक्रियाको 'सिम्बिओसिस' अर्थात् जीवनको टिकाये रखनेवाला परस्परावलम्बन कहा जाता है ।

आर्थिक और जैविक पहलूके अलावा मानव-जीवनका एक और पहलू, जिसका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ होता है, आध्यात्मिक है । जब आध्यात्मिक और भौतिक पहलूके बीचका संतुलन टूटता है तब रोग पैदा होता है ।

गांधीजीने कहा है : "पृथ्वी प्रत्येक मनुष्यकी आवश्यकता पूरी करनेके लिए तो काफी देती है, परन्तु प्रत्येक मनुष्यके लोभको तृप्त करनेके लिए नहीं देती ।" जब तक हम जीवन-चक्रके साथ सहयोग करते हैं, तब तक जमीन अपना उपजाऊपन निरन्तर नये सिरेसे निर्माण करती रहती है और जो उस पर निर्भर करते हैं उन्हें स्वास्थ्य, मनोरंजन, पोषण और सुख-शान्ति प्रदान करती रहती है । परन्तु जब "छीन कर खाने" की वृत्तिका बोलबाला होता है, तब प्रकृतिका

संतुलन बिगड़ जाता है और सर्वत्र जीवनके क्षेत्रमें बिगाड़ होनो लगता है । इसलिए मनुष्य-जीवन और प्राणी-जीवनके बीच तथा प्राणी-जीवन और वनस्पति-जीवनके बीच ठीक सम्बन्ध और संतुलन होने पर धरती और समाज दोनोंके स्वास्थ्यका आधार रहता है । मनुष्य, प्राणी और वनस्पतिका स्वास्थ्य जमीनके स्वास्थ्य पर आश्रित है, "स्वास्थ्य-प्रद खुराक पानेवाली जमीन अपना स्वास्थ्य वनस्पतिको देती है, वनस्पति अपना स्वास्थ्य प्राणियों और मनुष्योंको देती है और मनुष्य अपनी विवेकपूर्ण खेतीसे उसे फिर जमीनको लौटा देता है । यह 'स्वास्थ्यचक्र' है ।" [जी. टी. रेंच, 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीज़ेंट्रीज़', लन्दन, १९३९, पृ. १३९]

धरती केवल जड़ और अचेतन पदार्थ नहीं है । वह एक सजीव प्रयोगशाला है, जहां सजीव जीवाणुओं और सजीव पदार्थोंकी परस्पर प्रतिक्रियासे नव-जीवनके निर्माणकी प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है । यह धारणा अब सही नहीं रही कि जमीनकी उर्वरता केवल नाइट्रोजन, पोटाश और फॉस्फोरसकी काफी बड़ी मात्रा देने पर निर्भर करती है और बड़ी मात्रामें रासायनिक खाद देनेसे जमीनकी उर्वरता हमेशा नये सिरेसे प्राप्त की जासकती है । धरतीकी बनावट, धरतीमें पाये जानेवाले जीवाणु और धरतीकी सुस्थिति सबका धरतीके उपजाऊपनसे गहरा सम्बन्ध है । धरतीकी सही रचना अधिकतर उसमें रहे कीटाणुओं तथा ह्यूमस तत्त्वकी मात्रा पर आधार रखती है । ह्यूमस तत्त्वके अभावके कारण धरतीकी छिद्रालुता अथवा मुलायमी नष्ट हो जाती है, जिसकी वजहसे धरतीके सम्बन्धमें अत्यन्त हानिकारक परिणाम पैदा होते हैं । यह ह्यूमस तत्त्व धरतीको सड़े हुए जानवरों तथा वनस्पतिके अवशेषोंसे प्राप्त होता है ।

वनस्पति और प्राणियोंके अवशेषोंके सड़ जानेसे जीवित वनस्पतिको आहार और ह्यूमस तत्त्व मिलता है; इसके अलावा जीवित वनस्पतिसे जमीनको ऐसी रक्षक चादर मिलती है, जो हवा और वर्षाके जमीनको काटनेवाले असरसे उसे बचाती है । "आधुनिक जीवन" [केवल अखबारी कागज बनानेमें ही जंगलकी लकड़ी इतनी भारी मात्रामें खर्च हो जाती है । यह हिंसाब लगाया गया है कि 'न्यूयॉक टाइम्स' जैसे एक दैनिक पत्रके रविवासरीय संस्करणके कागजके लिए ही आवश्यक लकड़ीका गूदा जुटानेके लिए "दस एकड़ जमीनके बड़े बड़े पेड़" चाहिये ।

और अखबारी कागज तो हमारे आधुनिक जीवनकी उन अनेक वस्तुओंमें से एक है, जिनका हमारी वन-सम्पत्ति पर आक्रमण होता है।] की जरूरतें पूरी करनेके लिए या खेतीके योग्य जमीन प्राप्त करनेके लिए जंगलोंको अदूरदर्शितापूर्वक काटनेसे, जमीन पर उगे हुए घासकी जड़ तक नष्ट हो जाय इस हद तक ढोरोंको चरानेसे तथा व्यापारके लिए पशु-पालन करनेसे और ट्रेक्टरोंका विवेकहीन प्रयोग करनेसे जमीन इस चादरसे वंचित हो जाती है। [डॉ. मिट्रानीने प्रो. वाई. यू. नॉरनेवकी पुस्तकसे निम्नलिखित उद्धरण दिया है : "सूखे प्रदेशोंमें ट्रेक्टरका हल घासकी जमीनका दुश्मन है। परन्तु रूसी खेतीको आधुनिक बनानेवाले प्रचारकके लिए वह अनिवार्य है। यद्यपि दूसरे देशोंके अनुभवसे पहले ही चेतावनी मिल चुकी है, फिर भी यह निश्चय करना कठिन है कि अधिकारी यंत्रीकरणके खतरेसे परिचित हैं या नहीं।"] गहरी जुताईसे जमीनके भीतर घासकी आपसमें गुंथी हुई जड़ें कट जाती हैं और वापस जमीनमें मिलकर हरी खादका काम देती हैं। इससे शुरूमें तो विपुल मात्रामें फसलें पैदा होती हैं, परन्तु बादमें आम तौर पर तेजीसे उनकी पैदावार घटती जाती है। जमीनकी रक्षा करनेवाली चादरके न होनेसे या जमीनको बांध कर रखनेवाली घासकी जड़ोंके उखड़ जानेसे धरतीका कटाव तेज हो जाता है और जमीनके नीचेकी तहमें पानीका संग्रह कर रखनेकी जो शक्ति होती है उस पर बुरा असर पड़ता है। इस शक्ति पर पूरी वर्षासे भी अधिक जमीनकी उर्वरताका आधार होता है। इसके फलस्वरूप अधिकाधिक मात्रामें वर्षाका पानी जमीन परसे बह जाता है और बेकार चला जाता है। इस तरह पानीके व्यर्थ बह जानेकी मात्रा कुछ वर्षों ही आम तौर पर एक-दो फीसदीसे बढ़कर दससे बीस फीसदी तक पहुंच जाती है, अर्थात् दस गुनी बढ़ जाती है। इससे जमीनकी नमी, वर्षा और तापमान अर्थात् जलवायु पर भी असर पड़ता है। जब तापमान सम्बन्धी रेकार्ड भी कोई खास परिवर्तन नहीं दिखाता तब भी वास्तवमें जलवायु वस्तुतः अधिकाधिक बिगड़ती जाती है। "हलकी वर्षा बेकार जाती है, भारी वर्षा विनाशक सिद्ध होती है और सामान्य हवाओंका आंधी जैसा असर होता है।" [जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ', पृ. ३७]

एक बार जंगल अथवा भूमिका वनस्पति रूपी आच्छादान नष्ट हो जाता है तब संसारमें इंजीनियरोंकी बड़ीसे बड़ी कुशलता भी नदियोंमें आनेवाली बाढ़ोंके रोषको और अरक्षित भूमि पर कुपित होनेवाली हवा और वर्षाकी विनाशक कार्रवाईको स्थायी और बड़े पैमाने पर काबूमें नहीं रख सकती । कुछ ही दिनोंमें ऊपरी सतहकी करोड़ों मन मिट्टी इस प्रकार आंधीसे उड़कर चली जा सकती है और कटावके स्थानकी हजारों एकड़ जमीनको बरबाद कर सकती है । जहां यह धूल जाकर बैठती है वहांकी सारी वनस्पतिको वह दबा देती है और वहां यही प्रक्रिया बार-बार होने लगती है । नदियां भी बावली हो जाती हैं; उनके शान्त और स्वच्छ प्रवाहके बजाय हमेशा गंदले पानीकी तेज धाराएं बहने लगती हैं; कीचड़के जम जानेके कारण नदियोंका पेंदा ऊंचा उठ जाता है; देशके भीतरका नौका-व्यवहार रुक जाता है, बाढ़ें बार-बार आने लगती हैं और दिनोंदिन भयंकर होती जाती हैं । नदियों पर बांध बांधनेसे भी उनमें रुकावट नहीं होती । बाढ़-नियन्त्रणके लिए, पानीसे बिजली पैदा करनेके लिए और सार्वजनिक जलपूर्तिके लिए जो जलाशय बनाये जाते हैं, उनके बांधोंके पीछे मिट्टी जम जाती है और वे विश्वास न हो इतनी तेजीके साथ बेकार हो जाते हैं; [मई १९३४ में, जैक्स और व्हाइटके कथनानुसार, मध्य पश्चिमकी ३० करोड़ टन मिट्टी एक तूफानमें उड़ गई थी और उसमें से कुछ "इतिहासमें पहली बार अटलांटिक समुद्र-तट पर इतनी मात्रामें पहुंची कि शहरोंमें अन्धकार छा गया और निवासियोंका दम घुटने लगा ।" – दि रेप ऑफ दि अर्थ, पृ. २१४] गर्मीमें सोते, कुएं और तालाब सूख जाते हैं । जो पहले आदर्श सौंदर्यका स्थान होता है वह अब वीरान जंगल बन जाता है । मनुष्यके व्यवहारके नैतिक स्वरूपका प्रभाव इस प्रकार न केवल उसके सामाजिक वातावरण पर पड़ता है बल्कि स्वयं प्रकृति पर भी उसका निर्णायक प्रभाव होता है ।

सच्ची खेतीका मूल लक्षण यह है कि "वह व्यापार-व्यवसाय नहीं, परन्तु एक जीवन-प्रणाली है ।" लॉर्ड नॉर्थबोर्नके शब्दोंमें, "खेती मनुष्यका अंग है और मनुष्य खेतीका अंग है ।" जब जमीनका उपयोग उसे नकद पैसेमें बदल कर धनवान बननेके साधनके रूपमें किया जाता है, तब वह "जमीन पर बलात्कार" हो जाता है ।

पहले जब खेती जीवनकी एक प्रणाली थी तब न केवल किसानकी बल्कि शहरी समाजकी भी प्रतिवर्ष होनेवाली जमीनकी पैदावारमें गहरी दिलचस्पी रहती थी । लेकिन आज यदि जमीनके कसहीन बन जानेसे या किसी और कारणसे जमीनकी पैदावार घट जाती है, तो शहरके लोगोंको उस समय तक उसकी चिन्ता नहीं होती जब तक और कहींसे उन्हें सस्ता अन्न मिलता रहता है । औद्योगिक मजदूरोंकी जरूरतें पूरी करनेके लिए एकके बाद दूसरे देशकी जमीन बरबाद हो जाय तो इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती । हमेशा किसी न किसी और साधनसे उनका काम चल जाता है । परिवहन और अन्नरक्षाकी सुविधाएं बढ़ जानेसे दूसरी चीजोंकी तरह जमीनकी उर्वरताका भी रुपयोंके साथ विनिमय कर लेनेका अदम्य प्रलोभन पैदा हो गया है और सभ्यता तथा भूमिके बीचका सजीव सम्बन्ध कट गया है । व्यापार-व्यवसाय और उद्योगों द्वारा होनेवाली जमीनकी इस "अत्यंत लाभदायक लुट" के कारण कुछ देश आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त धनवान हो गये हैं, परन्तु उनकी धरती गरीब हो गई है ।

"बढ़ती हुई सभ्यताकी मांगें" जब जमीनकी आरोग्य प्राप्त कर लेनेकी शक्तिसे अधिक बढ़ जाती है, तब जमीनका कटाव शुरू हो जाता है । कटाव असलमें "मानव-समाज और उसके आसपासकी चीजोंका आपसमें मेल न बैठनेका लक्षण है ।" [वही, पृ. २६] केवल जलवायु ही कभी उसका कारण नहीं होता; परन्तु मनुष्यका अज्ञान और उससे भी अधिक मनुष्यका लोभ उसका कारण होता है । कृषिशास्त्रके प्रसिद्ध विशेषज्ञ एडवर्ड ह्याम्सने शोषणकारी अर्थ-व्यवस्थाके साथ जुड़े हुए विज्ञानके दुरुपयोगके परिणामोंका सचोट वर्णन इस प्रकार किया है :

> पूंजीवादीके मनमें बहुत बड़े नफेकी बात बसी रहती है और मार्क्सवादीको कारखानोंसे सम्बन्धित आबादीको खिलानेकी चिन्ता होती है; इसलिए दोनों ही या तो इस तथ्यके अज्ञानमें मग्न रहते हैं या इसके प्रति उदासीन होनेका पाप करते हैं कि उनका 'वैज्ञानिक' ढीलाढाला, अकार्यक्षम और बरबादी करनेवाला है; क्योंकि वनस्पति-सृष्टिका, जो निरन्तर 'ह्यूमस' के रूपमें अपने पोषक तत्त्वोंका पुन-निर्माण करती रहती है, लाभ उठानेके लिए प्रकृति-चक्रका चतुराईसे उपयोग करनेके बदले वैज्ञानिक सबसे पहले

जमीनके भीतर के 'ह्यूमस' को नष्ट कर देता है और फिर उसे भारी खर्च करके कृत्रिम खाद तैयार करने और उसे बांटनेके लिए बड़े बड़े कारखाने बनाने और चलाने पड़ते हैं। कृषक उद्योगपति यह देखकर कि कागज बनानेके लिए आवश्यक मावेके लिए लकड़ी बेचनेसे अधिक पैसे मिलते हैं, . . . पेड़ोंको काट देता है। जमीन पेड़ोंक बिना भी ठीक रह सकती थी, मगर कृषक उद्योगपतिने . . . देख लिया है कि एकसाथ दस लाख एकड़ गेहूंकी और दस लाख एकड़ कपासकी खेतीका ऊपरसे दिखाई देनेवाला खर्च १०,००० मिलेजुले फार्मोंसे कम होता है।. . . इसलिए वह प्रतिवर्ष एक ही तरहके पोषक तत्त्वोंको जमीनसे खींचता रहा है और उनकी जगह करोड़ों मन महंगी कृत्रिम खाद ला-लाकर डालता रहा है; क्योंकि अब उसके पास सजीव भूमि न रहकर निर्जीव धूल भर रह जाती है।. . . खुली पड़ी जमीनकी इस धूलको पहली हवाका झोंका उड़ाकर समुद्रमें डाल देता है। . . . यह तो बहुत पुरानी कथा है। पहले चीनकी उपजाऊ पीली मिट्टी उस पर शहरी मूल्य थोपनेसे नष्ट हुई; फिर उससे भी अधिक उपजाऊ सिन्धकी उष्ण-कटिबन्धवाली धरतीको हड़प्पा और मोहनजोदड़ोकी बड़ी शहरी आबादियोंने बंजर और वीरान बना डाला . . . और इसी तरह यह कहानी चलती रही; अन्तमें पचाससे भी कम वर्षोंमें अमरीकी पूंजीवादियोंके लोभ और अनुशासनहीनताने मध्य-पश्चिमके विशाल उर्वर मैदानोंका नाश कर दिया; और अन्तमें उन्होंने मानवको स्थायी रूपसे लज्जित करनेवाले मरु-स्थलका रूप ले लिया। किसानोंके द्रोही उद्योगपतियोंके कारण **मनुष्य पृथ्वी पर जीवनके लिए हानिकारक रोगका घर बन गया है**। [एडवर्ड ह्याम्स, 'दि न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन', ८ दिसम्बर १९५१]

निर्वाहके लिए की जानेवाली खेती अर्थात् किसानके जीवनका आधार बनी हुई खेती वास्तवमें विविध फसलोंवाली खेती है। ऐसी खेती जमीनके कसको नष्ट न करके उसकी रक्षा करती है, इसलिए वह संग्राहक या रक्षक खेती कहलाती है। जब खेती जीवन-प्रणालीके रूपमें की जाती है तब किसान इस बातकी विशेष सावधानी रखता है कि जमीनसे उस मात्रासे ज्यादा

कस नहीं खींचना चाहिये जितनी जमीनकी क्षति पूरी कर लेनेकी शक्तिको देखते हुए ठीक हो; और इसलिए वह जमीनकी उर्वरता बनाये रखनेके लिए उसका अपना स्वार्थ और बुद्धि उसे जो भी उपाय सुझाती है उसका उपयोग करता है । वह जानता है कि उसके परिवारको इसी जमीनसे प्रतिवर्ष और पीढ़ी दर पीढ़ी आजीविका प्राप्त करनी है । इसलिए उसके उपजाऊपनको हानि पहुंचे यह किसानको पुसा ही नहीं सकता । लेकिन जब जमीन पर खेती धनके लिए की जाती है – जमीन पर पैसा कमाने के लिए लगातार फसलें पैदा की जाती हैं या शहरी कारखानोंके उत्पादन न करनेवाले मजदूरोंकी जरूरतें पूरी करनेके लिए निर्यात किया जानेवाला अनाज उत्पन्न किया जाता है या पशु-पालन किया जाता है, तब खेतीकी पैदावारके साथ साथ जमीनकी उर्वरता भी निर्यात कर दी जाती है । [१९२०-२५ के वर्षोंमें ५,२०,००० टनसे ज्यादा केवल हड्डियां भारतसे निर्यात की गईं और उसी हद तक धरतीमें चूने और फॉस्फेट पर्दार्थोंकी कमी हो गई । -- सर जॉन ओर । रेंचने 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीजेंट्रीज़' में यह उद्धरण दिया है, लन्दन, १९३९, पृ. ८१]

इसकी क्षतिपूर्तिका प्रयत्न कृत्रिम खादोंके उपयोगसे किया जाता है । परन्तु कुदरती 'ह्यूमस' के अभावमें जो अन्न उत्पन्न किया जाता है, वह ऊपरसे बढ़िया दिखाई दे तो भी उसमें जीवनके कुछ पोषक तत्त्वोंकी कमी पाई जाती है । ऐसी खादोंसे बढ़िया बड़े दानेवाले गेहूंकी तथा इनाम पाने लायक और बाग-बगीचोंकी फसलोंके प्रदर्शनोंका गौरव बढ़ानेवाले फलों और तरकारियोंकी असाधारण फसलें तो पैदा हो सकती हैं । परन्तु 'ह्यूमस' की बहुतायतवाली धरती पर जानवरोंके सजीव खादकी मददसे पैदा होनेवाली फसलोंके विपरीत, इन फलों और तरकारियोंको जब जानवरोंको खिलाया जाता है तो उनमें पोषक तत्त्वोंकी कमी दिखानेवाले लक्षण उत्पन्न होते हैं । खेतीसे सम्बन्धित रॉयल कमीशनके समक्ष मैक्केरीसनने जो निवेदन किया था, उसमें उन्होंने कहा था :

> वे (वनस्पति और पशु दोनों) न तो फूल-फल सकते हैं और न पूर्णतम 'प्रजनन-शक्ति' प्राप्त कर सकते हैं, यदि उन्हें अपने आहारके खनिज तत्त्वोंके साथ 'ऑक्सीमोन्स'

नामक सजीव पदार्थ न पहुंचाये जायं। ये पदार्थ पौधोंके स्वाभाविक विकासके लिए उतने ही आवश्यक हैं, जितने विटामिन मनुष्यों और पशुओंके स्वाभाविक विकासके लिए आवश्यक हैं। 'ऑक्सीमोन्स' जमीनके अमुक प्रकारके कीटाणुओं द्वारा सड़ाये जानेवाले सजीव पदार्थसे जमीनमें पैदा होते हैं। और इस प्रयोजनके लिए उत्तम सजीव खाद खलिहानकी खाद ही है। [मेक्कैरीसन और विश्वनाथन्‌के कथनानुसार ढोरोंकी खाद लगाई हुई धरती पर पैदा किये गये अन्नके पोषक मूल्यकी तुलना रासायनिक खाद दी हुई जमीन पर पैदा होनेवाले अनाजके पोषक तत्त्वोंस की जाय, तो बाजरेसे लगभग १५ प्रतिशत और गेहूंमें १० से १७ प्रतिशत तक अन्तर रहता है। जो गेहूं पूरी रासायनिक खादवाली धरतीमें पैदा किया जाता है उससे पशुओंकी खादवाली धरतीमें पैदा किये हुए गेहूंमें अधिक विटामिन 'ए' होता है; पशुओंकी खादवाली धरतीमें पैदा हुए बाजरेमें पूरी रासायनिक खादवाली जमीनमें पैदा हुए बाजरेसे ज्यादा विटामिन 'बी' होता है। -- इंडियन जरनल ऑफ मेडिकल रिसर्च, १९२६, पृ. ३५१]

स्वास्थ्यके लिए सिर्फ सही खुराक ही नहीं, परन्तु नीरोग धरतीसे पैदा हुई खुराक जरूरी है। [सर आल्बर्ट हॉवर्ड, डायरेक्टर, इन्स्टिट्यूट ऑफ प्लान्ट इण्डस्ट्री, इन्दौर (१९२४-३१) ने पशु और पौधोंके पालनके प्रयोग किये थे। उनके परिणाम-स्वरूप वे इस नतीजे पर पहुंचे कि " (१) पौधोंकी बीमारीके असली कारण कीड़े या कुकुरमुत्ता नहीं होते। वे तो गलत तरीकेसे बोई हुई फसल या अनुपयुक्त ढंगके पौधों पर ही आक्रमण करते हैं। (२) दवाइयां छिड़ककर फसलकी रक्षा करनेकी नीति बिलकुल अवैज्ञानिक और बुनियादी तौर पर गलत है। सफल होने पर भी यह पद्धति केवल ऐसी ही सामग्रीकी रक्षा करती है, जो शायद ही बचानेके लायक हो।"]

जहां तक बाहरसे मंगाये जानेवाले अनाजका सम्बन्ध है, पहले तो उसे एक प्रकारकी वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा निर्जीव बताना पड़ता है, जिससे मार्गमें और गोदाममें उसमें कोई परिवर्तन न हो सके। इससे वह निस्सत्व हो जाता है। [लॉर्ड नॉर्थबोर्न कहते हैं : "पाश्चरीकरणकी क्रियासे दूधमें रहे रोगके कीटाणु नष्ट होते हैं। परन्तु इस प्रक्रियामें दूधका एक अति महत्त्वपूर्ण पोषक

तत्त्व – फॉस्फेट नष्ट हो जाता है, जो हमारी हड्डियों और दांतोंके लिए बहुत जरूरी है । -- लुक टू दि लैण्ड, लन्दन, १९४०] दोनों ही सूरतोंमें नतीजा यह होता है कि जिस आबादीका उस पर निर्वाह होता है, उसको पूरा पोषण नहीं मिलता । अधूरा पोषण आजकल आहारकी "कम-ज्यादा मात्रा" पर आधार नहीं रखता । निस्सत्व आहारसे व्यक्तिका पेट भर जाने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता । [गिल्बर्टे सी. विल्सन लिखते हैं : "हमने अपनी धरतीसे सब-कुछ ले लिया, परन्तु उसे कुछ वापस नहीं दिया । हमने धरतीको मेहनतसे जोता, परन्तु उसके किए कोई पोषक फसल नहीं बोई । इससे जमीनके भीतरके सजीव तत्त्व नष्ट हो गये । सजीव तत्त्वोंके नष्ट हो जानेसे किसी समयकी पोची और छिद्रालु जमीन कड़ी और सीमेन्ट जैसी बन गई ।] सन्तोष न होनेके कारण वह जरूरतसे ज्यादा खाना खाता है । अन्तमें उसकी पाचन-शक्ति नष्ट हो जाती है और रुचि बिगड़ जाती है । जब ऐसा होता है तब जो आहार अच्छा होता है वह भी या तो बरबाद होता है अथवा अग्राह्य बन जाता है । लॉर्ड नॉर्थबोर्न कहते हैं : "जमीनकी पैदावारका गुण जमीनके साथ रहने और जीनेवाले मनुष्यके सीधे सम्बन्ध पर निर्भर करता है; लेकिन वह सम्बंध परस्परावलम्बनका होना चाहिये, न कि लुटेरेपनका – अर्थात् पोषण-चक्र बराबर चलता रहना चाहिये ।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टु दि लैण्ड', लंदन, १९४०, पृ. ८३]

यह शायद ही महसूस किया जाता है कि अत्यंत सम्पन्न और विपुल आहारवाले देशमें भी, जहां खेतीकी गलत पद्धतियां प्रचलित होती हैं, अधूरे पोषणका अनुपात बहुत ऊंचा हो सकता है । अमरीका जैसे सम्पन्न देशमें भी स्वर्गीय राष्ट्रपति रूज़वेल्टने बताया था : "राष्ट्रकी एक-तिहाई आबादीको पर्याप्त रक्षक आहार नहीं मिलते ।" [डेविड मिट्रानी, 'मार्क्स अगेन्स्ट दि पीज़ेन्ट्स', १९५२, पृ. १२८] गिलबर्ट सी. विल्सन "चिमर्जिक यूसेज फॉर ओल्ड एण्ड न्यू क्रॉप्स" पुस्तकमें लिखते हैं : "डॉक्टर जानते हैं कि . . . अनेक बीमार ऐसे भूखे लोग होते हैं, जिनके पेट भरे होते हैं। . . . सामान्य निरीक्षकको भी यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि घटिया, कटी हुई और खनिज तत्त्वोंकी कमीवाली धरतीमें और उस पर गुजर करनेवाले सदाके बीमार और खूनकी कमीवाले लोगोंमें क्या सम्बंध है ।" [चेमर्जिक पेपर्स, १९४६ सिरीज, नं. ५] अमरीकाके सलेक्टिव सर्विस

एडमिनिस्ट्रेशनको मालूम हुआ था कि कुछ प्रदेशोंमें, जहां जमीनका उपजाऊपन नष्ट हो चुका था, सत्तर प्रतिशत आदमियोंको शारीरिक अयोग्यताके कारण सैनिक नौकरीमें लेनेसे इनकार कर देना पड़ा था; और जहां जमीन अब भी उपजाऊ थी वहां यह अनुपात केवल तीस प्रतिशत था । [ग्रिस्कम मॉर्गन, 'वाइटेलिटी एण्ड सिविलाइज़ेशन', चिकागो, १९४७, पृ. ९]

गांवोंकी धरतीकी पूंजीको लूट कर सभ्यता जो कुछ लूटा है उसे बरबाद करनेकी दिशामें मुड़ती है । प्रो. किंगके विचारसे : "वुल्फ, केलनर और कार्पेण्टर अथवा हॉलके दिये हुए तथ्योंके आधार पर अमरीका और यूरोपके लोग समुद्रमें, झीलों और नदियोंमें या भूगर्भ स्थित जलाशयोंमें प्रति १० लाख मनुष्योंकी आबादी पर ५७,९४,३०० से १,२०,००,००० पौण्ड नाइट्रोजन, १८,८१,९०० से ४१,५१,००० पौण्ड पोटेशियम और ७,७७,२०० से ३०,५७,६०० पौण्ड फॉस्फोरस प्रतिवर्ष बहा देते हैं ।" [रेंच, 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीजेण्ट्रीज़', लन्दन, १९३९, पृ. ८१]

आज तो धरतीका कटाव विश्वव्यापी वस्तु बन गया है । इसके फलस्वरूप दस लाख वर्ग मीलसे अधिक भूमि रेगिस्तानमें बदल चुकी है और "इससे कहीं बड़ा क्षेत्र रेगिस्तानकी स्थितिके नजदीक पहुंच रहा है ।" [सारे संयुक्त राज्य अमरीकामें डेढ़ करोड़ एकड़ अच्छी धरती हर साल कटावके कारण खराब हो रही है । अफ्रीकामें सहाराका रेगिस्तान औसत आधे मीलसे अधिक प्रतिवर्ष दक्षिणनी ओर बढ़ रहा है और तुर्काना रेगिस्तान छह-सात मील प्रतिवर्ष पूर्वकी तरफ बढ़ रहा है । किसी समय उत्तरी सहाराका प्रदेश "रोमका अन्न-भंडार" के रूपमें प्रसिद्ध था ।] जनरल स्मट्सने धरतीके कटावको " राजनीतिसे भी बड़ी, देशके सामने उपस्थित सबसे बड़ी समस्या [जैक्स एण्ड व्हाइट कृत 'दि रेप ऑफ दि अर्थ' में उद्धत जनरल स्मट्स, पृ. २१] बताया था। विशेषज्ञोंने हमें चेतावनी दी है कि हमारी वर्तमान अर्थ-व्यवस्थाने, जिसका आधार मुद्राके मूल्यों पर और शीघ्र लाभ उठानेके लिए प्रकृतिका दुरूपयोग करनेकी इच्छा पर है, रेगिस्तानोंकी गतिको बढ़ा दिया है और एक सदीकी अवधिमें "**संसारकी उत्तमसे उत्तम बिनजुती धरतीको ऐसा बरदाद कर दिया है, जिसकी तुलनामें इतिहासके समस्त युद्धोंका विनाश-कार्य भी नगण्य है** ।"

[जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ, पृ. ३९] (मोटे टाइप मैंने किये हैं।) जैक्स और व्हाइटके शब्दोंमें, धरतीका कटाव "पिछली सभ्यताओं और साम्राज्योंके पतनके प्रबल कारणोंमें से एक रहा है। इन सभ्यताओं और साम्राज्योंके बरबाद हुए नगर आज उन वीरान और रेगिस्तान बनी जमीनोंमें बिखरे पड़े है, जो एक समय संसारकी सबसे उपजाऊ जमीनें थीं।" [वही, पृ. २१] वह "बलशाली राष्ट्रोंको नीचा दिखा रहा है, उनकी आंतरिक तथा आन्तरराष्ट्रीय नीतियोंको नई शकल दे रहा है और . . . विश्वके इतिहासका मार्ग इतने क्रान्तिकारी ढंगसे बदल रहा है जितना किसी युद्ध अथवा क्रान्तिने भी नहीं बदला।" [वही, पृ. १९]

धरतीका कटाव कोई अलग-थलग घटना नहीं है। वह एक तरहका नासूर है, "समग्र शरीरकी रोगग्रस्त अवस्थाका स्थानीय चिह्न है।" लेकिन एक फर्क है। वह यह कि धरतीके कटावके मामलेमें असली कारण घटना-स्थल पर भी उतना ही स्थिर किया जा सकता है जितना "उससे हजारों मीलके स्थान पर।" इसलिए धरतीके कटावमें स्थानीय अथवा केवल लक्षणोंके उपचारसे काम नहीं चल सकता। यह मनुष्यकी पैदा की हुई बीमारी है और वह भी अत्यंत संक्रामक बीमारी है। युद्धसे नष्ट हुआ देश कुछ वर्षोंमें फिरसे खुशहाल बनाया जा सकता है, परन्तु किसी खेतके लिए हमें चेतावनी दी गई है कि एक बार उसकी मिट्टी कट जाने पर वह अपना विनाश सम्पूर्ण होनेके बाद भी अपने आसपास बरबादी फैलाता रहता है। "शहर कुकुरमुत्तेकी तरह खड़े हो जायं, रेलें और सड़कें देशभरमें छा जायं और बैंकोंमें पैसा कई गुना बढ़ जाय, परन्तु अगर धरती बिगड़ती और नष्ट होती रहे, तो उसका खाल्सि परिणाम यह होगा कि समय स्थितिके पास पहुंचनेके बजाय दुनिया उससे दूर होती जायगी।" [वही, पृ. ३७]

आम तौर पर धरती-कटावका आक्रमण अप्रकट रूपसे होता है। एक बार शुरू हो जाने पर वह दिन दूनी रात चौगुनी गतिसे विन्ताशको फैलाता है। [स्टुअर्ट चेज़ने अपने ग्रंथ 'रिच लैंड, पुअर लैंड' में वर्णन किया है कि किस प्रकार ज्योर्जिया (संयुक्त राज्य अमरीका) में चालीस वर्ष पहले ३००० एकड़ लम्बी-चौड़ी और २०० फुट गहरी खाई बननी शुरू हुई थी। कारण यह हुआ कि एक अन्नागारकी छतसे लापरवाहीके कारण पानी चूने लगा और एक नाली बनने लगी।

किसीके ध्यान न देनेसे वही फिर नाला बन गया और बादमें उसने तेज धाराका रूप ले लिया । वह प्रवाह और उसमें आ मिले दूसरे प्रवाह आसपासके ४०००० एकड़में फैले हुए हैं ।] पृथ्वीकी सारी उत्पादक शक्ति धरतीकी पतली सजीव ऊपरी सतहमें सीमित होती है । उसकी गहराई कुछ इंचोंसे लेकर कुछ फुट तककी हो सकती है । उसके नीचेकी जमीन "उतनी ही निर्जिव होती है जितना चन्द्रमा ।" हमें बताया गया है कि प्रकृतिको एक इंच धरती बनानेमें शायद एक हजारसे कम नहीं किन्तु अधिक ही वर्ष लगते हैं । परन्तु अकेले मिसूरी राज्यमें ही धरती-कटावकी गति ऐसी है "जिससे चौबीस वषेमें सात इंच जमीन नष्ट हो जायगी ।" धरती-कटावको यदि नहीं रोका जाय, तो अंतिम परिणाम "राष्ट्रका सर्वनाश" ही होता है । [जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ', पृ. २१]

लेकिन एक छोटीसी सान्त्वनाकी बात भी है । अभी भी बहुत देर नहीं हुई है । अगर पृथ्वीके साथ बुद्धिमानीसे काम लिया जाय, तो वह आज भी इतनी सम्पन्न है कि दीर्घकाल तक मानव-जातिका, उसकी वृद्धिकी वर्तमान गतिके बावजूद, निर्वाह हो सकता है । परन्तु समय रहते हमने अपने कदम पीछे नहीं हटाये, तो किसी दिन हम देख सकते हैं कि सुरक्षाकी सीमा पार हो चुकी है और इस प्रक्रियाको लौटाया नहीं जा सकता । हार्वर्ड विश्वविद्यालयके प्राध्यापक एन. एस. शेलरके शब्दोंमें "यदि मानव-जाति पृथ्वीके साथ काम लेनेकी कोई ऐसी पद्धति सोच कर अमलमें नहीं ला सकती, जिससे जीवन-स्रोत सुरक्षित रहे, तो हमें ऐसे समयके लिए तैयार रहना चाहिये . . . जब हमारी जाति अपने महान उत्तराधिकारको नष्ट करके उसने जो बरबादी की है उसीके कारण पृथ्वीसे विलीन हो जायगी ।" [प्रो. शेलर 'नेशनल ज्यॉग्राफिक मैगज़ीन' में, १८९६] इसलिए अगर हमारी सभ्यताको भी उन इक्कीस सभ्यताओं जैसी दुर्दशाको निमंत्रण न देना हो, जिनके इतिहासका डॉक्टर टॉयनबीने पता लगाया है, तो हमारे पास इसके सिवा अन्य कोई चारा नहीं कि हम शोषणकारी अर्थ-व्यवस्थाको तिलांजलि देकर चिरस्थायी समृद्धिकी अर्थ-व्यवस्थाका आश्रय लें ।

१९३५ के कृषि-संबंधी रॉयल कमीशनने यह रिपोर्ट पेश की थी कि भारतमें खेतीकी अधिकांश जमीनमें "सैकड़ों-हजारों वर्षोंसे खेती होती रही है और अधिकसे अधिक दरिद्रताकी स्थितिमें वह अनेक वर्षों पहले पहुंच चुकी है ।" और बड़ी-बड़ी नदियोंके किनारों पर "विशाल भूभागोंका खेतीकी दृष्टिसे कोई मूल्य नहीं रह गया है ।" [देखिये 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीजेंट्रीज़', लंदन, १९३९, पृ. ९४] फिर भी कमीशनने धरती-कटावको रोक कर उसकी रक्षाके प्रश्न पर रिपोर्टके ६७५ पृष्ठोंमें से केवल १ पृष्ठ खर्च किया था !

जब धरती-कटावका सारे देश पर बुरा असर पड़ता है, तब "देशकी व्यवस्था और लोगोंकी जीवन-प्रणालीमें जड़मूलसे परिवर्तन करनेकी" [जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ', पृ. २६] जरूरत होती है । इसलिए जमीनकी औसत पैदावारको गिरते और जनसंख्याको बढ़ते हुए देख कर भारत जैसे देशके लिए सिवा इसके और कोई मार्ग नहीं है कि जीवन-प्रणालीके रूपमें वह सघन और निर्वाहकी खेती (अन्नपूर्णा खेती) को फिरसे अपनाये, जिसका आधार पशु-पालन पर निर्भर अर्थ-व्यवस्था हो और जिसका सहारा गृह-उद्योग हों । अंतमें जीवित रहनेका उत्तम अवसर इसी खेतीमें मिलता है ।

यह बात परस्पर-विरोधी मालूम हो सकती है, फिर भी जब जमीन परसे वनस्पतिका आच्छादन नष्ट हो जाता है तब वहां घनी आबादीका आच्छादन खड़ा हो जाता है । "जमीन पर जितने लोगोंका निर्वाह हो सकता है उस सीमा तक" लोग बस जाते हैं और धरतीको काटनेवाली शक्तियोंसे धरतीकी रक्षा इन्हीं लोगोंके द्वारा सबसे अच्छी होती है । "उनकी घनी आबादियोंसे एक एक एकड़ जमीनको इतना राष्ट्रीय महत्त्व मिल जाता है कि उनकी पैसा कमानेकी शक्तिकी तुलनामें उसकी कीमत बहुत ज्यादा बढ़ जाती है । लोग . . . हर कीमत पर अपनी धरतीकी रक्षा करनेको विवश हो जाते हैं । धरतीकी रक्षा करनेवाली खेती . . . स्वभावत: उनके जीवनका अंग बन जाती है ।" [वही, पृ. २८६]

इसका अर्थ यह हुआ कि लोगोंको अपने मनमें यह निश्चय कर लेना पड़ेगा कि वे धरतीकी पूंजीको नकद पैसेमें बदलकर शीघ्र संपन्नता और सत्ता प्राप्त करनेका छोटा रास्ता छोड़ दें – जिसकी सुविधा विनियुक्त विज्ञान हमारे सामने रख देता है –निर्यातकी वस्तुओंका उत्पादन कम कर दें और रहन-सहनके थोड़े अधिक नीचे स्तरको सहन कर लेना सीखें। यह तेज और कड़वी दवा है, परन्तु यह एक ऐसी दवा है जिसे "धरती माता तब तक छोड़ नहीं सकती जब तक उसके शरीरके घाव पूरी तरह भर न जायं।" मनुष्यकी अकुशलता और लालचने जिसे बिगाड़ दिया है, उसे सतत परिश्रम और त्यागसे ही फिर सुधारा जा सकता है। जैसा लॉर्ड नॉर्थबोर्नने कहा है : "जब हम कठोरताके साथ व्यावहारिक होना चाहते हैं तब हम आज भी यही कहते हैं – चलो फिर धरती माताकी शरणमें चलें।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टु दि लैण्ड', लंदन, १९४०, पृ. ८०]

४

संसार-व्यापी धरती-कटाव तथा जमीनके कसहीन होनेकी घटनाको जन्म देनेमें "नये तथा शक्तिशाली यंत्रों" [वही, पृ. २४] की "सहायतासे तत्काल धनी बन जाने" और "प्रादेशिक अथवा राजनीतिक सीमाओंके बाहर पूंजी भेजनेकी" [जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ', पृ. २११] उत्पन्न हुई भारी संभावनाओंने जितना हाथ बंटाया है, उतना किसी और वस्तुने नहीं बंटाया है। लॉर्ड नॉर्थबोर्नके शब्दोंमें, "आंतर-राष्ट्रीय ऋण और धरती-कटाव दोनों जुड़वां भाई-बहन हैं।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टू दि लैण्ड', लन्दन, १९४०, पृ. २५] १९वीं सदीकी अर्थ-व्यवस्थाके कारण अनेक देशोंसे लगातार भारी मात्रामें अन्न और कच्चा माल खिंच कर बाहर जाने लगा। यह स्थिति ब्रिटिश साम्राज्यमें विशेष रूपसे थी, क्योंकि उसके शक्ति-संचालित उद्योग बढ़ रहे थे, उसकी शासन-प्रणाली उपनिवेशवादी थी और यूरोपियन सत्ताओंने विदेशोंमें भारी पूंजियां लगाई थीं। इसके फलस्वरूप पृथ्वीके विशाल क्षेत्रोंकी धरती अपनी उर्वरतासे वंचित हो गई। "पुरानी दुनियाने प्रकृतिके साथ हजार वर्ष तक जो संघर्ष किया, उसका फल कुछ ही वर्षोंमें नई दुनियाको मिल गया।" [जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ', पृ. २८२] पाश्चात्य राष्ट्रोंकी अत्यन्त तेज गतिसे सम्पन्नता और सत्ता विपुल मात्रामें प्राप्त हो गई। उन्हें अपनी ही सीमाके

भीतर अपनी धरती पर कोई श्रम नहीं करना पड़ा । इसके लिए हजारों वर्षसे दूसरे देशोंने अपनी जमीनकी जो उर्वरता सुरक्षित रखी थी उसे लूटनेका काम ही उन्हें करना पड़ा । भारत जैसे शोषणके शिकार बने देशोंमें जनसंख्या बढ़ी, सड़कें और रेलें बनाई गईं, व्यापार और उद्योगका तेजीसे विस्तार हुआ, नये नये शहर खड़े हो गये, विशेषाधिकार प्राप्त वर्गोंके लिए उच्च जीवन-स्तर सिद्ध किये गये, जंगल काटकर साफ किये गये, चरागाहोंमें खेती होने लगी तथा "जो कीटाणु जड़ और चेतन शक्तियोंके बीच संतुलन बनाये रखते हैं" उन्हें नष्ट किया गथा । परन्तु शोषित देशोंने प्रगतिके इस सारे दिखावेकी कीमत यह चुकाई कि धीरे धीरे उनकी धरती कसहीन होती गई, उनकी नदियोंसे मिट्टी जम गई, हर साल बाढ़ें आने लगीं, सूखा पड़ने लगा, आंधी-तुफान आने लगे, अकाल पड़ने लगे और आम जनताकी गरीबी बढ़ने तथा जीवन-शक्ति घटनेके कारण रोग बढ़ने लगे ।

आज तो हमारे समाजमें पैसे और यंत्रवादका बोलबाला है । "लेकिन इनसे कहीं बड़ी वास्तविकता तो धरतीकी है ।" [जी. टी. रेंच, 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीजेंट्रीज़', लन्दन, १९३९, पृ. १४४] नेपोलियनने सेन्ट हेलेनामें अपने निर्वासन-कालमें कहा था कि खेती "राज्यका प्राण है, आधार है ।" व्यापार और उद्योग-धंधे तभी अच्छे हैं जब वे उभरती हुई प्राणशक्तिके चिह्न हों । वे स्वयं प्राणशक्ति पैदा नही कर सकते । वे तो इससे उल्टी स्थितिके ही सूचक हो सकते हैं । उदाहरणार्थ, अंग्रेजी राज्यमें भारतका औद्योगिक विकास और उसके अनुकूल व्यापार-तलपट भारतकी सम्पन्नताके चिह्न न होकर उसके शोषणके चिह्न थे ।

जब तक सीमित संसारमें असीम भौतिक आवश्यकताओंके तत्त्वज्ञानके अनुसार एक प्रदेशमें विपुल मात्रामें खर्च किया जानेवाला अन्न और कच्चा माल दूसरे प्रदेशमें उत्पन्न किया जायगा तब तक प्रकृतिका संतुलन कायम नहीं रखा जा सकता । स्थायी अर्थ-व्यवस्थाकी बुनियाद क्षेत्रीय आत्म-निर्भरता पर या गांधीजीके कथनानुसार स्वदेशीकी दृढ़ चट्टान पर ही रखी जा सकती है । यह मत अकेले लॉर्ड नॉर्थबोर्नका ही नहीं है कि "यदि खाद्यान्नका व्यापार कुछ व्यंजनोंको छोड़ कर बन्द ही कर दिया जाय, तो मानव-जातिके लिए लाभदायी होगा ।" फिर तो

दूसरे प्रकारका व्यापार और व्यवसाय "खूब फूले-फलेगा ।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टु दि लैंड', लन्दन, १९४०, पृ. १२९]

इसलिए हमें पैसेके मूल्योंसे मुक्त होना पड़ेगा और मानव तथा पशु-सम्पत्तिके उच्चित और पूर्ण उपयोगको हमारी अर्थ-व्यवस्थाके साधनके रूपमें ही नहीं, परन्तु साध्यके रूपमें समझना सीखना होगा । हमें प्रकृतिके प्रति नम्रताका और "जीवसृष्टिके प्रति पूजाका भाव" विकसित करना होगा; और इसमें न केवल पेड़ और पौधे, परन्तु जंगलके जानवर भी शामिल होंगे ।

धरतीका संतुलन फिरसे पैदा करने और कायम रखनेमें कीटाणु और जीव-जन्तु तथा कुछ कुतरकर खानेवाले और बिलोंमें रहनेवाले चूहे, गिलहरी, खरगोश वगैरा जानवर महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं । धरतीके कीड़े जमीनको ४ से ६ फुटकी गहराई तक उलटते-पलटते और हवा पहुंचाते है । कुछ जानवर खेतीके लिए सीधे उपयोगी तो नहीं होते, "परन्तु मनुष्यों, पशुओं, कीड़ों तथा पौधोंके साथ मिल कर रहनेकी पेचीदा योजनामें अन्नचक्रकी एक कड़ीका काम करते हैं ।" [जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ', पृ. २०३] वे या तो खेतीके लिए उपयोगी अन्य जीवोंके लिए भोजन मुहैया करते हैं या फसलको नष्ट करनेवाले जीव-जंतुओं, पौधों तथा प्राणियों पर जीकर परोक्ष रूपमें खेतीके लिए सहायक सिद्ध होते हैं । कुछ पक्षी किसानका जितना दाना खा जाते हैं उसकी क्षतिपूर्ति किसानको हानि पहुंचानेवाले कीड़ों और जन्तुओंको नष्ट करके कर देते हैं । इसलिए अमरीकामें यह समझा जाने लगा है कि जंगलके जानवरोंकी रक्षा करना "धरती, वनस्पति और पानीकी रक्षाका एक अभिन्न अंग है ।" ऑक्सफोर्ड विश्व-विशालयके प्राणीसृष्टि विभागकी १९३६-३७ की वार्षिक रिपोर्टके अनुसार, "कोई मानव-प्राणी ऐसा नहीं है, जिस पर प्राणीसृष्टिका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ता हो । . . . मौसमकी दृष्टिसे किसी शंकास्पद दिनमें छाता लिये बिना बाहर चले जानेमें उतनी नैतिक समस्या नहीं है, जितनी किसी जातिके प्राणियोंको इस शंका पर मार डालनेकी आज्ञा देनेमें है कि वे मानव-हितोंको हानि पहुंचाते होंगे ।" धरतीकी रक्षासे सम्बन्धित एक बहुत बड़े निष्णातने हमें यह बताया है कि धरती-कटावने

"समय सजीब सृष्टिके साथ एक परिवारकी तरह रहनेकी कलाके बुनियादी सिद्धान्तका ज्ञान मनुष्य-जातिके लिए अत्यन्त आवश्यक बना दिया है।" [वही, पृ. ३८]

सबसे अधिक तो हमें अपनी भौतिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण लगाना सीखना होगा। प्रकृतिकी मूल अवस्थामें वहां तो धरती-कटाव और बाढ़की घटनाएं लगभग होती ही नहीं, जहां मनुष्यने उसके व्यवस्थित राज्यमें अपने अज्ञानपूर्ण हस्तक्षेप और अदूरदर्शी लोभसे गड़बड़ न मचाई हो। प्रकृतिमें जो विसंवादिता दिखाई देती है वह हमारे भीतरकी विसंवादिताका ही अंश है। उसे मिटानेके लिए हमें फिरसे भौतिक और आध्यात्मिक जीवनके बीच संतुलन स्थापित करना होगा। यह काम धर्मका है। "धर्मकी . . . आवश्यकता मनुष्यके लिए स्थायी अन्नपूर्तिके खातिर और मनुष्य, पृथ्वी और उसके अन्य सब प्राणियोंके बीच अन्योन्याश्रयी जीवन-सम्बंधोंके खातिर है। केवल आत्मा ही मनुष्यकी सत्ताकी अनियंत्रित लालसाको, उसकी स्वार्थ-परायणताको, उसके लोभ, अहंकार, अदूरदृष्टि और दूसरोंका शोषण करनेकी वृत्तिको दबानेका सामार्थ्य रखती है।" [रिचार्ड बी. ग्रेग, 'व्हिच वे लाइज़ होप ?', अहमदाबाद, १९५२, पृ. २१]

किसी विनोदीने कहा है कि समाजवाद "दूसरे लिबासमें आया हुआ पूंजीवाद" है। विनोदकी बातको छोड़ दें तो सचमुच इस उद्गारमें काफी सत्य है। समाजवाद और पूंजीवाद दोनोंने अपना आधार एक ही प्रकारके मूल्यों पर रखा है। दोनों पर ज्यादातर उपयोगितावाद और कार्य-क्षमताके विचारोंका प्रभाव है। उनकी प्रभुत्वकी लड़ाई मुख्यतः शहरों और पैसेके मूल्योंकी चारदीवारीके अन्दर ही चलती है। समाजवाद यह मान कर चलता है कि "उत्पादनकी सारी समस्याएं तो पूंजीवादने बहुत पहले हल कर दी हैं; अब तो फलोंको अधिक न्यायपूर्ण ढंगसे दुबारा बांटनेका ही काम बाकी रह गया है।" [डेनियक बेल 'एनकाउंटर' में, जून १९५४, पृ. १३] दोनोंका ही किसानके प्रति मार्क्सवादी पूर्वग्रह है और वे उत्सुकतासे उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं जब खेतीका गृह-उद्योग उठा दिया जायगा और खेती "उद्योग" के रूपमें मशीनों और मजदूरोंकी सेना द्वारा की जायगी। प्रसिद्ध अंग्रेज पत्रकार एच. जे. मैसिंघमने 'दि न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' में लिखा था : "क्या यह स्वयंसिद्ध नहीं है कि जिस विज्ञानने औद्योगिक राज्य पैदा किया है, वह . .

. किसानके बारेमें यह समझता है कि वह समाजके दकियानूसी स्वरूपका अंग है, लगभग जंगली जैसा है और अधिक बुद्धिपूर्वक की जानेवाली खेतीके पूरे विकासमें बाधक है ?" उन्होंने यह भी कहा कि हमें यह सत्य स्वीकार करना ही होगा कि औद्योगिक सभ्यता "उग्र रूपमें किसानके विरुद्ध है" और "जब तक स्वयं उद्योगवादमें सुधार न हो जाय तब तक किसानकी कीमत और जरूरतको . . . सही दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता ।" [एच. जे. मैसिंघम 'दि न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' में, २९ दिसम्बर १९५१]

लेकिन आनेवाले परिवर्तनके लक्षण दिखाई दे रहे हैं । जब तक खर्च करनेके लिए पर्याप्त अन्न था तब तक शहरों द्वारा चलनेवाली धरतीकी रासायनिक उर्वरता और भौतिक रचनाकी "विशाल पैमानेवाली लूट" जारी रह सकती थी । परन्तु अब तो आधी सभ्य दुनिया नगरोंमें निवास करती है और संसारकी जनसंख्यामे लगातार वृद्धि हो रही है । इसलिए अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि यह लूट बन्द होनी चाहिये । अन्नका निर्यात करनेवाले प्रदेशोंमें निर्यातके लिए उपलब्ध अन्न दिनोंदिन कम होता जा रहा है । इसलिए उद्योग अब यह मान कर नहीं चल सकते कि उनकी सत्ताके सुवर्ण कालकी तरह उन्हें जारी रखनेके लिए बाहरसे अमर्यादित मात्रामें अन्न आता रहेगा । एडवर्ड हायम्सने हालमें ही चेतावनी दी है कि वह समय आ पहुंचा है जब हमें अपनी इस दुनियामें – जिसमें उत्तरोत्तर अन्नकी मात्रा घट रही है – "शहरी उद्योगवादी मनस्थितिके पूर्वग्रहसे मुक्त हो जाना सीखना चाहिये", "किसान समाज और मजदूरोंकी ग्रामीण आबादीका फर्क" समझना चाहिये और "किसान समाजको खड़ा करनेके काममें लग जाना चाहिये ।" [एडवर्ड ह्याम्स 'दि न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' में, ८ दिसम्बर १९५१]

सभ्यताएं आती हैं और सभ्यतायें चली जाती हैं, परन्तु धरती बनी रहती है । "अगर कोई सभ्यता ऐसी है जो धरतीका दर्जा घटाती है, तो धरती नष्ट नहीं होती, परन्तु वह सभ्यता नष्ट होती है ।" [जी. टी. रेंच, 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीजेंट्रीज़', लन्दन, १९३९, पृ. १४४] इसलिए जल्दी या देरसे, बल्कि जल्दी ही, हमें प्रकृतिके साथ समझौता करना होगा और जड़से ही नव-रचनाका काम फिरसे आरंभ करना होगा । जो जीवन-संग्राम अब तक मुख्यत: बाजारोंके लिए संग्राम रहा

है, वह निकट भविष्यमें पानीके लिए संग्राम बन जानेवाला है । तब सभ्यताको प्रकृतिके साथ नये, परस्परावलंबनवाले सम्बन्धको अपना आधार बनाना पड़ेगा । स्पष्ट है कि उस व्यवस्थामें निर्वाहकी खेती और हस्त-उद्योगोंको अधिकांश लोगोंकी जीवन-प्रणाली बनाना पड़ेगा । उस व्यवस्थामें नगरोंकी सामाजिक और राजनीतिक प्रधानता खतम हो जायगी, "नगरोंकी तुलनामें ग्रामोंकी सत्ता बढ़ेगी । जो लोग भूमिकी व्यवस्था-पद्धतिके अनुसार नदियों पर शासन करेंगे, वे ही राष्ट्र पर शासन करेंगे । उनके पास धन चाहे न हो, परन्तु सामूहिक रूपसे उनके पास वह सत्ता होगी, जो इस समय उद्योगपतियोंके हाथमें है । तब उद्योग सन्तुलित तथा फलदायक खेतीका दास बन कर रहेगा और खेतीकी स्थायी सम्पन्नता पर ही शहरोंके भविष्यका आधार रहेगा ।" [जैक्स एण्ड व्हाइट, 'दि रेप ऑफ दि अर्थ', पृ. २९७]

५

अभी अभी उद्योगको अलग अलग स्थानोंमें फैलानेके कई आन्दोलन हुए हैं । अनुभवसे यह पाया गया है कि बड़े शहरोंमें उद्योगको केन्द्रित करना स्वयं उद्योगके लिए भी अच्छा नहीं है और अब अणुबमके आगमनसे तो उद्योगको जगह जगह फैला देना अनिवार्य हो गया है । यह दावा किया जाता है कि बड़ी बड़ी औद्योगिक इकाइयोंको कई छोटी छोटी इकाइयोंमें बांट देने और उन्हें गांवोंमें ले जानेसे उद्योगवादकी अधिकांश बड़ी बड़ी बुराइयां मिट जायंगी और उद्योग तथा खेतीके बीचका संघर्ष खतम हो जायगा । लेकिन उद्योगको भौगोलिक दृष्टिसे फैला कर गांवोंमें खड़ा कर देनेसे और गांधीजीकी विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्थामें जमीन-आसमानका अंतर है । आर्थिक और सामाजिक नीतिके रूपमें विकेन्द्रीकरण व्यक्तिगत उत्पादनके आधार पर ही कारगर हो सकता है और व्यक्तिगत उत्पादन छोटे पैसाने पर विशाल राशिमें किया जानेवाला उत्पादन नहीं है । व्यक्तिगत हाथ-उद्योगोंका उत्पादन और गांवोंमें विशाल राशिमें किया जानेवाला उत्पादन दो प्रतिद्वंद्वी, बेमेल और एक-दूसरेका बहिष्कार करनेवाली अर्थ-व्यवस्थाएं हैं – जिनके स्वरूप, अस्तित्वके हेतु और उपयोगिताके क्षेत्र अलग अलग हैं । जब हेनरी फोर्डको यह विचार सूझा कि विभिन्न कामोंके पास मजदूरोंको कारखानेके अलग अलग हिस्सोंमें पैदल ले जानेके

बजाय मजदूरोंके पास भिन्न भिन्न काम पहुंचाये जायं, तो निश्चय ही वह कारखानेके प्रबंधकी अधिक मितव्ययी पद्धति थी । उससे खर्च तो घट गया, मगर न तो उद्योगपतिके मुनाफेमें कमी हुई और न उसकी सत्तामें । गांवके लोगोंके घरोंके पास ही विशाल राशिवाले उत्पादनको सुविधाजनक बनानेके लिए उद्योगको गांवोंमें फैलाने तथा वहां खड़ा करनेसे उद्योगपतियोंको गांवोंके भौतिक और मानव-साधनोंके आर्थिक और जैविक शोषण* के अधिक संपूर्ण और सक्षम उपाय मिल सकते हैं । इससे खेत कारखानेका अंग बन जायगा और गांव शहरी कारखानेके अनुत्पादक मजदूरोंको खिलानेके लिए एक अन्न-भण्डार हो जायगा । परन्तु इससे उद्योगों और पैसेकी सत्ताका राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण जरा भी कम नहीं होगा – बल्कि बढ़ जायगा । गांवका पुनरुद्धार तो तभी संभव होगा जब उसका शोषण बन्द हो जायगा । शहरको गांवकी पीठ परसे उतर जाना चाहिये । लेकिन जैसा गांधीजीने बताया था, बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण होनेसे "ग्रामजनोंका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष शोषण अवश्य होगा, क्योंकि उससे प्रतियोगिता और बिक्रीकी समस्याएं सामने आयेंगी ।" [हरिजन, २९ अगस्त १९३६, पृ. २२६] इसलिए शहरमें पला-पुसा बुद्धिवादी, जो उद्योगीकरण और सामूहिक उत्पादनको छोड़े बिना गांवोंका पुनरुद्धार करना चाहता है, ऐसे सदाशयी परोपकारीके समान है – जो यह समझता है कि जिस आदमीकी पीठ पर वह सवार है उसकी पीठसे उतरे बिना ही अपने दानसे वह उस आदमीकी मदद कर सकता है । गांधीजी मानते थे कि चरखा और उसके साथ जुड़े हुए उद्योग ही गांवोंके शोषणको बंद कर सकते हैं और शहरी तथा ग्रामीण समाजके बीचकी सारी सामाजिक और आर्थिक असमानताएं मिटा सकते हैं । "अहिंसा लोगोंको जो बल देती है उसके बढ़ते हुए भानसे और अपनी गुलामीमें सहयोग देनेसे ज्ञानपूर्वक इनकार करनेसे समानता जरूर आयेगीं ।" [हरिजन, २५ जनवरी १९४२, पृ. १६]

एलबर्ट ग्लीज़ेसने 'लाइफ एण्ड डेथ ऑफ दि क्रिश्चियन वेस्ट' नामक सुन्दर पुस्तक लिखी है । एच. जे. मैसिंघमने अपने प्राक्कथनमें इस पुस्तकको "शक्ति और दूरदृष्टिसे पूर्ण" तथा "निश्चित रूपसे भविष्यवाणी करनेवाली" बताया है । इसमें लेखकने सूक्ष्मताके साथ एक भ्रमका

विश्लेषण किया है । वह भ्रम आजकलके लोगोंकी यह प्रिय धारणा है कि "गांवको आधुनिक रूप देने" से ग्रामीण जीवनका पुनरुद्धार हो जायगा । वे कहते हैं कि आधुनिक "बुद्धिवादी" ने यह अनुभव कर लिया है कि "बड़ा शहर प्राण-पोषक नहीं किन्तु एक प्राण-संहारक संस्था है" और गांवको छोड़ कर शहरमें आनेकी वृत्तिका विरोध होना चाहिये । लेखक इस विषयमें चिन्तातुर हैं और उनकी सच्चाईमें हमें कोई शंका नहीं है । परन्तु वास्तविकतासे बुद्धिवादियोंका सम्पर्क छूट गया है, इसलिए "जिसे उन्होंने पूजा है उसे वे जला नहीं सकते और जिसे उन्होंने जला दिया है उसे वे पूज नहीं सकते । . . . प्रगतिकी धारणा उन्हें बाधक बननेवाली तमाम चीजोंसे छुटकारा पानेसे रोकती है ।" वे अपनी किसी "जीत" को छोड़ना नहीं चाहते । वे कल्पना करते हैं कि "घरोंमें विशाल राशिका उत्पादन संगठित करनेसे, शहरी जीवनकी सुख-सुविधायें गांवके लोगों तक पहुंचा देनेसे, टेलीफोनका आनंद, सीनेमाकी मुर्खतायें और बेतारकी भद्दी आवाजें उनके पास पहुंचानेसे गांवके नौजवानोंको अपने घरोंमें रहनेके लिए राजी किया जा सकेगा, भले ही लोकतांत्रिक और राज्य-नियंत्रित प्रारंभिक पाठशाला उन्हें बुद्धिवादी बनाती रहे और खेतीके जीवनके सिवा दूसरी सब बातोंके अनुकूल उन्हें करती रहे ।" यह व्यर्थकी आशा है । अंतिम विश्लेषणमें तो गांवोंका ह्रास ऐसी मनोवृत्तिका, मूल्योंकी ऐसी समझका परिणाम है, जो बड़े शहरोंका अंग होती है । इसलिए शहर उसी मनोवृत्तिके कारण बाहरसे ऐसे प्रभावका उपयोग नहीं कर सकता, जिससे स्वयं उसीका अस्तित्व मिट जाय । वह बाहरकी तरफ फैले और दूसरोंको अपने अधीन बनाना चाहे, तो उसकी दृष्टिसे यह सुसंगत ही है । ग्लीज़ेस अन्तमें कहते हैं कि इसी कारणसे गांवोंकी बुराइयोंके लिए शहरी बुद्धिवादियोंकी तमाम रामबाण औषधियां अपर्याप्त सिद्ध होती हैं । जब तक वे स्वयं अपनी जीवन-प्रणालीको नहीं बदल लेते और अपनी विशष शहरी मनोवृत्तिकी "बड़ी सावधानीके साथ" खुद रक्षा करते हैं, तब तक उनके उत्तम हेतुओंके बावजूद उनके उपाय व्यर्थ सिद्ध होंगे और "वे ही नतीजे लायेंगे जिनका उन्हें डर है ।"

ग्रिस्कम मॉर्गनने अपने एक निबंध 'वाइटेलिटी एण्ड सिविलाइज़ेशन' में यह चेतावनी दी है : "मनुष्य-जातिको घरसे बाहर खुली हवामें विकसित होनेवाली ग्रामीण सभ्यता पर मध्यम

वर्गके शहरी जीवन-मूल्य थोपनेसे दूर रहना चाहिये ।" गांवोंका शहरीकरण करनेसे सभ्यताको कोई लाभ नहीं हो सकता । उसका परिणाम यही हो सकता है कि प्राणशक्तिके वे स्रोत अपने उद्गम पर ही सूख जायं, जहांसे शहरी लोग अपनी शक्तिकी पूंजी खतम होने पर उसकी क्षतिपूर्ति करते रहे हैं ।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गांवोंका उद्धार गांवोंमें "शहरी सुख-सुविधाएं" पहुंचा देनेसे नहीं, बल्कि शहरोंके भौतिक मूल्योंका त्याग करनेसे होगा; अथवा जैसा गांधीजी कहा करते थे, बुद्धिशालियोंके शहरोंकी दृष्टिसे मर कर गांवोंमें पुनर्जन्म लेनेसे होगा । इसलिए जिन्हें श्रद्धा है उन्हें, एलबर्ट ग्लीज़ेसके शब्दोंमें "पुनः गांवोंमें पहुंच जाना चाहिये और उस समय तक वहां ठहरनेका धीरज रखना चाहिये, जब और लोग अपनी इच्छाके विरुद्ध भी किसी दिन अपने घर लौट आयेंगे ।" [आल्बर्ट ग्लीजेज़, 'लाइफ एण्ड डेथ ऑफ दि क्रिश्चियन वेस्ट', लन्दन १९४७, पृ. ५६]

---

* हेनरी फोर्ड नामक एक महान उद्योगपतिने ऐसी शोध की कि श्रम-विभाजनके सिद्धान्तको बिलकुल अंतिम सीमा तक खींच कर ले जाया जाय, तो उत्पादनका खर्च विश्वास न हो सके इतना घटाया जा सकता है । उसने यह भी खोज निकाला कि कारखानेके अलग अलग विभागोंमें मजदूरोंको ले जानेके बदले उनके कामको ही मजदूरोंके पास पहुंचाया जाय, तो यह पद्धति अधिक सरल और किफायतवाली होगी । इसके लिए उसने मजदूरोंके पास कामको ले जानेवाले जबरदस्त पट्टोंकी योजना की । इन पट्टों पर यंत्रोंके आपसमें जोड़े जानेवाले अलग अलग हिस्से रख दिये जाते थे । एक निश्चित अन्तर पर बैठे हुए मजदूरोंकी कतारके सामनेसे वह पट्टा सरकाया जाता था । प्रत्येक मजदूर अपना निश्चित किया हुआ छोटासा काम करता था । एक मजदूर बोल्ट डालता था, दूसरा उस पर चक्र चढ़ा देता था और तीसरा उसे कस देता था । इसे 'असेम्बली लाइनकी प्रक्रिया' कहा जाता है । ऐसा करनेसे उत्पादनका खर्च तो कम होता था, परन्तु मनुष्य मनुष्य न रह कर जड़ यंत्र जैसा बन जाता था । एक ही कामको छोटी छोटी अनेक क्रियाओंमें विभक्त कर देनेसे मजदूरकी कुशलता बढ़ती है । घूमनेवाले पट्टेकी गति बढ़ानेसे कामकी गति बढ़ाई जा सकती है । इस प्रकार मजदूरों पर अधिक अच्छी देखरेख रखी जा सकती है और अधिक कड़ा अनुशासन रखा जा सकता हैव । इस तरह

मजदूरोंको यंत्र बना दिया जाता है । वे जो काम करते हैं, उससे उन्हें सन्तोष नहीं मिलता । इसके फलस्वरूप उनमें मानसिक उपद्रव उत्पन्न होते हैं । यह सब जैविक शोषण है । मजदूरको जब उसके कामके अनुपातमें कम मजदूरी दी जाती है तब वह आर्थिक शोषण होता है ।

६

यंत्रवादके विषयमें उसकी अच्छीसे अच्छी मानी हुई कल्पनामें भी एक भ्रामकता, एक मायावी गुण होता है । वह सुनहले वचन देता है, जो प्रथम दृष्टिमें तो शत प्रतिशत पूरे होने लायक दिखाई देते हैं । परन्तु साथ ही वह ऐसी विपरीत प्रतिक्रियाओंको भी जन्म देता है, जिनसे उसकी सिद्धियां बहुत अंशमें नष्ट हो जाती हैं । उदाहरणार्थ, उससे रोजगारके नये और हमेशा बढ़नेवाले क्षेत्र पैदा होते हैं । परन्तु वह जितनी तेजीसे नये काम उत्पन्न करता है उससे अधिक तेजीसे पहलेसे काममें लगे हुए लोगोंको उनके स्थानसे हटा देता है । नतीजा यह होता है कि "एक आदमी और एक मशीन मिल कर हाथसे काम करनेवाले दस आदमियोंकी जगह ले लेते हैं । . . . एक आदमी रह जाता है और नौ आदसी चले जाते हैं । समाजको उत्पादनकी सस्ती प्रक्रिया मिल जाती है और नौ आदमियोंकी रोजी छिन जाती है । अंतिम शुद्ध लाभ हमेशा इतना स्पष्ट नहीं होता ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉक, १९२९, पृ. २०६] "संघर्ष-जनित बेकारी" * की समस्याका कोई हल अभी तक नहीं मिला है और मनुष्यके संचालनके बिना अपने-आप चलनेवाले यंत्रोंके आगमनसे और भी बुरी स्थिति उत्पन्न होनेका खतरा रहता है ।

इसके बाद एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेके साधनोंकी प्रगतिको लीजिये । इससे हमें यात्रामें लगनेवाले समयको कम कर सकना चाहिये था । परन्तु जैसा बर्ट्रेण्ड रसेलने बताया है, नियम यह मालूम होता है कि यात्राका समय घटनेके बजाय परिवहनके साधनोंमें सुधार हो जानेसे वह प्रदेश ही बढ़ जाता है जिसमें लोग यात्रा करते हैं और इसलिए जो समय वे यात्रामें खर्च करते है वह बढ़ जाता है – क्योंकि पहले तो उन्हें अपने कामके स्थानसे दूर रह सकनेकी सुविधा दी जाती है और फिर उन्हें ऐसा करनेके लिए विवश किया जाता है । ऑस्टिन फ्रीमैनके शब्दोंमें, जो बात आरंभमें पसन्दकी थी वह जल्दी ही अनिवार्य जरूरतकी बन गई । "बढ़ी हुई गति और बढ़ा

हुआ अन्तर सामान्य गति और सामान्य अन्तर बन गये, जिन पर जीवनकी साधारण परिस्थितियोंका आधार था ।" [आर. ऑस्टिन फ्रीमैन, 'सोशियल डिके एण्ड रिजनरेशन', लन्दन, १९२१, पृ. १०१] मानव-प्रवृत्तियां नई सुविधाओंके अनुकूल हो गईं और अनुकूल होनेमें अतिरिक्त लाभको उन्होंने खतम कर दिया । आने-जानेकी बढ़ी हुई सुविधाओंने इस प्रकार वास्तवमें मनुष्यसे उसकी फुरसत छीन ली और एक शताब्दीकी यांत्रिक प्रगतिके बाद सभी लोग यह शिकायत करते हैं कि "भारी दबावके इन दिनोंमें" "दौड़धाम", "कशमकश" और "फुरसतकी कमी" रहती है और पुराने जमानेके शांत और स्थिर जीवनको आतुरतासे याद करते हैं, जब "जीवनकी सुविधाएं" तो तुलनामें थोड़ी थीं परन्तु आराम अधिक था, उत्पादन सीमित था परन्तु जीवनकी बुनियादी जरूरतोंकी बहुतायत थी और वे सबको मिल सकती थीं ।

इसी तरह यंत्रोंके उपयोगसे उत्पादनकी क्षमता तो बढ़ गई, परन्तु साथ ही प्राकृतिक साधनोंके बदलेमें दूसरे उपयुक्त साधन तलाश करनेकी कीमत बहुत ज्यादा बढ़ रही है । ये प्राकृतिक साधन बुरी तरह बरबाद किये जा रहे हैं, क्योंकि फिजूल खर्च करनेकी आदतें पड़ गई हैं और यंत्रोद्योगके सस्ते मालके लिए "निरादर" का भाव होनेके कारण माल तैयार करनेकी प्रक्रियामें कच्चे मालका लापरवाहीसे उपयोग किया जाता है । स्टुअर्ट चेज़ कहते हैं : "सभी पाश्चात्य राष्ट्रोंने उड़ाऊ कपूत कहलानेका पात्र अपनेको सिद्ध कर दिया है ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स,' न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. ३०१]

यह दलील दी गई है कि प्राकृतिक साधनोंके खतम हो जानेका डर वैसा ही बहुत अतिरंजित है, जैसा यह डर कि सूर्य ठंडा हो रहा है या पृथ्वीकी धुरी अपना स्थान छोड़ रही है । गर्व और लापरवाहीके साथ यह कहा जाता है कि "अभी तो विज्ञानके चमत्कारोंका शैशव काल ही है, कुछ न कुछ उपाय तो इसका खोज ही लिया जायगा ।" स्टुअर्ट चेज़ इसका उत्तर देते हैं : "विज्ञानके चमत्कारोंके बारेमें मुझे सब-कुछ मालूम है और उसकी कुछ भव्य असफलताओंके बारेमें भी मैं जानता हूं । मैं आप महाशयोंसे पूछता हूं कि आखिर किस चीजकी निश्चित रूपसे खोज की जायगी और कितनी कीमत देकर ?" [वही, पृ. ३०६]

अन्तमें सस्तेपनकी बातको लीजिये । विशाल राशिके उत्पादनसे ऊपरी तौर पर खर्च कम हो गये हैं । परन्तु यंत्रने एक समस्या हल की है, तो उसके बदलेमें कई ऐसी दूसरी समस्याएं पैदा कर दी हैं, जो पहले नहीं थीं और जिनका मुकाबला या तो विज्ञानकी भव्य प्रगति कर नहीं सकी है, अथवा आंशिक रूपमें ही कर सकी है । क्या कोई रामबाण दवा या आधुनिक शल्यक्रियाके चमत्कार "आधुनिक जीवन-पद्धति" के कारण होनेवाले केन्सर (नासूर), बहुमूत्र, रक्तचाप और हृदय-रोगोंके भयंकर फैलावका सामना कर सकते हैं ? पहले तो हम लोगोंको उनके स्वाभाविक वायु- मंडलसे हटा कर और विशेष प्रदेशोंमें इकट्ठा करके शुद्ध ताजी हवा, घूप और शुद्ध तथा पूर्ण आहार आदि स्वाभाविक जीवनके लाभोंसे उन्हें वंचित करते हैं और फिर उनके बदले उन्हें कृत्रिम नीली रोशनी, विटामिनों (जीवन-तत्त्वों) का सार, सार्वजनिक बगीचे, उपनगरोंमें बसाई हुई मजदूर-बस्तियां, हवाकी उष्णता अथवा शीतलताका नियमन करनेवाले साधन आदि मुहैया करते हैं । और बदलेमें दी जानेवाली ये चीजें कितनी घटिया होती हैं ! इससे उत्पन्न होनेवाली राष्ट्रीय स्वास्थ्य तथा कार्य-क्षमताकी विराट् समस्यायें, परिवहन और नागरिक सुविधाओंकी व्यवस्था तथा ऐसे मानव-समूहोंको, जो प्राणशक्तिके स्त्रोतोंसे अलग कर दिये गये हैं, दिये जानेवाले बीमारी, बुढ़ापे और बेकारीके बीमेके लाभ सामाजिक खर्चका बजट बेहद बढ़ा देते हैं । जीवन-शक्तिके रूपमें चुकाई जानेवाली कीमत** तथा सामाजिक असंतोष, वर्ग-संघर्ष और मानसिक रोगोंके रूपमें चुकायी जानेवाली कीमत, प्राकृतिक साधनोंकी विचारहीन बरबादी और इनसे होनेवाला मनुष्यके उत्तराधिकारका ह्रास तो और भी भारी कीमतें हैं । परन्तु ये तो सब "लम्बी मियादके बिल हैं, जो अनिश्चित भविष्यमें चुकाये जानेवाले हैं" और उत्पादनके खर्चके तलपटमें शामिल नहीं होते, इसलिए उनकी कोई चिन्ता नहीं करता और "सम्पन्नता" और "सस्तेपन" का भ्रम बना रहता है ।

स्वाधीनतासे पहले कांग्रेस द्वारा नियुक्त और मौजूदा योजना-आयोगकी पूर्वज नियोजन-समितिके कामकी प्रारंभिक स्थितिमें एक बार समितिको यह सुझाया गया था कि अगर २ १/२ फीसदीके लगभग छोटासा चुंगी-कर मिलके कपड़े पर लगा कर उतनी सहायता खादीको दे दी

जाय, तो खादी और मिलके कपड़ेकी कीमत बराबर हो जायगी । इसका उत्तर यह दिया गया था कि "जो मूलत: आर्थिक दृष्टिसे घाटेके उद्योग" हैं, उन्हें सहारा देकर खड़ा रखना और यांत्रिक उत्पादनकी स्पर्धा करने देना "सिद्धान्तके रूपमें गलत" होगा; क्योंकि इससे देशकी "उत्पादक शक्ति" घट जायगी । गांधीजीने इसका खंडन किया । उन्होंने बताया कि लम्बे समयसे कारखानेके मालको

ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता मिलती रही है और आज भी मिल रही है और इसका भार करदाताओं पर पड़ता है । इस सहायताके रूप ये हैं : सस्ता रेल-परिवहन, विशेष म्युनिसिपल सुविधाएं, खेती और खुराककी नीतियोंका इस प्रकार निर्धारण कि जिससे गांवकी आबादीको हानि पहुंचा कर उत्पादन न करनेवाली शहरी और औद्योगिक आबादीके लिए कच्चा माल और अन्न सस्ता किया जा सके, कारखानेके मजदूरोंके लिए मकानोंकी और दूसरी सुविधायें, यंत्र-सम्बन्धी शोधकी और तालीमकी संस्थायें आदि । लेकिन चूंकि इससे हमें प्रगतिके साधन — तेज सफर, मोटर गाड़ियां, रेडियो, सिनेमा, बिजलीकी रोशनी और शहरी जीवनकी सैकड़ों रोमांचक वस्तुएं मिल गईं और हम उनके आदी हो गये, इसलिए हमने इस भारी खर्चकी परवाह नहीं की ।

इस प्रकार किसी पदार्थका सस्तापन या महंगापन उसका कोई मूलभूत गुण नहीं होता, वह तो "आरोपित गुण" *** है । उसका विचार उन मूल्यों और जीवनकी पद्धतियोंसे अलग नहीं किया जा सकता, जिन्हें हम अपने लिए वांछनीय समझते हैं । यह तो "संपूर्ण सौदे" **** का एक हिस्सा ही है । इससे अलग उसकी कोई वास्तविकता नहीं रहती । जब खादी उपयोग करनेवालेकी अपनी ही पैदा की हुई कपाससे उसीके कामके लिए बनाई जाती है, तो उससे सस्ता कोई कपड़ा नहीं होता । इसी तरह अपनी ही जमीन पर काम करनेवाले, रहनेवाले और निर्वाह करनेवाले आदमीको जो जीवन-तत्त्व घरकी उगाई हुई ताजी तरकारियों, स्वाभाविक पूर्ण अन्न और धूपसे मुफ्तमें मिलते हैं, उनका स्थान कृत्रिम जीवन-तत्त्व (विटामिन) नहीं ले सकते । इसी प्रकार किसानोंका भूमिके साथ सीधा सम्बंध होनेसे उन्हें जो स्वाभाविक स्वास्थ्य, बल और

जीवन-शक्ति मिलती है, उसका स्थान और कोई चीज कभी ले सकती है ? लेकिन जब हम पैसेके मूल्योंमें ही रमे रहते हैं और जब "प्रतिष्ठा" और "सत्ता" की दृष्टिसे ही विचार करते हैं, तब व्यापार और उद्योगकी मांगें आसानीसे राष्ट्रीय हितके समकक्ष मान ली जाती हैं। और जो वस्तुएं मनुष्यको उसकी मुख्य सुख-सुविधा प्रदान करती हैं, उनकी उपेक्षा की जाती है ।

उस असफल लड़ाईको लीजिये, जो इस सदीके तीसरे दशकमें बंगालकी प्राचीन सिंचाई-व्यवस्थाको फिरसे कायम करानेके प्रश्न पर लड़ी गई थी। उस व्यवस्थासे दो हजार वर्षसे अधिक काल तक ग्रामीण बंगालकी आवश्यकता पूरी हुई थी । उससे न सिर्फ बंगालकी बाढ़ और मलेरियाके नियन्त्रणकी, वर्षके बहुत बड़े भागके लिए सस्ते आंतरिक यातायातकी तथा प्रतिवर्ष जमीनकी नये सिरेसे प्राप्त होनेवाली उर्वरताकी एक-दूसरेसे सम्बद्ध समस्याओंका एकमात्र आदर्श हल मिल गया था, बल्कि सिंचाईके अधिकारों पर आधारित एक सामुदायिक संगठन भी खड़ा हो गया था। चूंकि इस संगठनमें प्रत्येकको अपने पड़ोसीके हितको अपना ही हित समझना पड़ता था, इसलिए जो लोग इसमें शरीक होते थे वे ऊंचे उठ जाते थे और "चरित्रनिर्माणका किसी भी शालासे अधिक अच्छा क्षेत्र" [विलियम विल्कॉक्स, 'एन्शियण्ट इरिगेशन सिस्टम ऑफ बेंगाल', कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३०, पृ. ७] मिल जाता था ।

बरसातके मौसममें बंगालमें भारी वर्षा होती है। परन्तु भूमिके नीचेके भागकी एक अजीब खासियतके कारण भूगर्भ स्थित जलका स्तर वर्षाके बाद तेजीसे नीचे चला जाता है और जिस समय पानीकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है उसी समय पानीकी गंभीर कमी हो जाती है। इसके फलस्वरूप तालाब और कुएं सूख जाते हैं या प्रवाहहीन हो जाते हैं और मलेरिया तथा कई अन्य व्यापक रोग पैदा करते हैं । बंगालके तत्कालीन सार्वजनिक स्वास्थ्यके निर्देशक डॉ. बेंटलेने अपने उत्तम निबन्ध 'मलेरिया एंड दि इरिगेशन इन बेंगाल' में बताया था कि इसका एकमात्र उपाय यह है कि इन कुओं और तालाबोंको साफ कर दिया जाय और "वर्षाके अधिकसे अधिक पानीको सतह पर रोक कर और अधिकसे अधिक समय तक संग्रह करके भूमिके नीचेके भागको पानीसे भरा रखा जाय" । पहले ऐसा किया जाता था, खास तौर पर बंगालके पश्चिमी और मध्य

विभागमें । इसके लिए नदियोंकी बाढ़के गंदले पानीसे तालाबों और चावलके खेतोंको कबालब भर दिया जाता था और बारिशका पानी तालाबोंमें जमा कर लिया जाता था । किसी समय अकेले बर्दवान जिलेमें ही पचास हजारसे अधिक तालाब काममें आ रहे थे । धानके खेतों और भरे हुए तालाबोंसे छन छन कर जो पानी नीचे चला जाता था, उससे भूगर्भ-स्थित जल-भंडार आजकी अपेक्षा दस-पन्द्रह फुट ऊंचे स्तर पर रहता था और गरमीमें हरी फसलका और सूखे मौसममें कुओं और तालाबोंका सूखना रुक जाता था । मानव-श्रमसे खोदी हुई जो सिंचाईकी नहरें थीं उनका एक सिलसिला बंगालमें बहुत प्राचीन कालसे विद्यमान था । नदियोंकी बाढ़का मिट्टीवाला गंदला पानी धानके खेतोंमें ले जाया जाता था और वहां उसकी मिट्टी जम जाती थी । नदीकी मिट्टी बहुत मूल्यवान खाद होती है । उससे खेती समृद्ध होती थी और तालाबों और धानके खेतोंका हानिकारक घासफूस नष्ट हो जाता था । हरएक तालाब और धानके खेतमें धुलाई और सिंचाईकी नालियां होती थीं । नदीके पानीकी मिट्टीके साथ साथ कार्प नामकी मछलीके अंडे भी आ जाते थे । यह मछली इल्लियोंको खानेवाली होती है । वह एनेफोल नामक मलेरियाके मच्छरोंकी सारी इल्लियां खा जाती थी और साथ ही चावल खानेवाले किसानोंके लिए अत्यावश्यक पोषण प्रस्तुत करती थी । नदीके पानीसे मिट्टी हटा देनेकी वजहसे नदियोंके मुहाने पर मिट्टी जमा नहीं होती थी और इसलिए बाढ़ नहीं आती थी । परन्तु कुशासन और राजनीतिक अव्यवस्थाके जमानेमें किसानोंका संगठन टूट गया और इस प्रणालीके चलनके लिए जो ऊंचे दर्जेका सहयोग चाहिये था वह खतम हो गया; इसलिए पानीकी नालियां मिट्टीसे भर गईं और अज्ञान अंग्रेज इंजीनियरोंने उन्हें "मृत" या "काना" करार दे दिया । इसके बाद भीषण विनाशकारी बाढ़ोंका तांता लग ग्या । उन्हें रोकनेके लिए जो रक्षक बांध बनाये गये, उनसे बाढ़ोंकी भीषणता और बढ़ गई । इन रक्षक बांधोंने और पूर्व बंगाल रेल्वेके बांधोंने पानीके बहनेके कुदरती मार्गोंको बन्द कर दिया । इसके तुरन्त बाद सख्त मलेरियाकी भयंकर बीमारी फैली, जिसने एक ही दशकमें एक जिलेकी कुल आबादीके एक-तिहाई हिस्सेका सफाया कर दिया । जो क्षेत्र किसी समय प्रसिद्ध "स्वास्थ्य-प्रद प्रदेश" थे, वे "नाशके प्रदेश" हो गये । संसारके एक

बड़ेसे बड़े सिंचाई इंजीनियर सर विलियम विलकॉक्सने बताया है कि किसानोंके सहयोगसे "मुर्दा नदियों" को फिरसे जिन्दा करनेके लिए जरासे प्रारम्भिक खर्चकी ही जरूरत है । परन्तु इस सूचना पर किसीने ध्यान नहीं दिया । यह कुचक्र एक बार टूट जाता तो बाकीकी योजनाका खर्च अपने आप निकल आता । परन्तु नदियोंमें यातायात करनेवाली स्टीमर कम्पनियों और रेलवे परिवहनकी स्पर्धा इसमें बाधक बन गई । नतीजा यह हुआ कि जिस एक चीजसे किसानोंके "वे पुराने वैभवके दिन जब गंगाकी बाढ़के मिट्टीवाले पानीकी सिंचाई सबकी विरासत थी" [वही, पृ. ११०] फिरसे वापस आ सकते थे, उसको कभी आजमाया ही नहीं गया । मलेरिया और बाढ़-नियन्त्रणकी योजनाओं पर करोड़ों रुपये खर्च किये गये । और सत्तर वर्ष तक बाढ़ोंको रोकनेके लिए नदियों पर बांधे गये बांधोंसे "जमीनको और लोगोंको गरीबीसे विपन्न और मलेरियासे पीड़ित होने दिया गया, जब कि पैसेके मामूली खर्चसे प्रजाको बहुत बड़ी राहत दिलाई जा सकती थी ।" [वही, पृ. १०८] सर विलियम विलकॉक्सके शब्दोंमें : "सिंचाई-विभागने प्राचीन सिंचाईके सिवा दूसरी हर तरहकी सिंचाई पर हाथ आजमाया है । इसके फलस्वरूप धरतीका घटियापन, मछलियोंका विनाश, मलेरियाका आरम्भ और नदियोंके मुहानोंका मिट्टीसे भर जाना आदि बुराइयां नहरों और नदियोंके किनारों पर हर जगह मौजूद हैं और देशमें आज जगह जगह निकम्मे और हानिकारक बांधोंके खंडहर खड़े हैं ।" [वही, पृ. १२७]

गांधीजीका उत्पादनकी प्राचीन पद्धतियोंके प्रति प्राचीन होनेके कारण ही कोई पक्षपात नहीं था । उनकी चुनौती आजकल जिसे बार बार प्रगतिका नाम दिया जाता है उसीकी बुद्धिमत्ताके प्रति थी । उन्होंने लिखा है : "मैंने अपने बहुतसे देशवासियोंको यह कहते सुना है कि हम अमरीका जितनी समृद्धि तो प्राप्त करेंगे, मगर उसकी कार्य-पद्धतियोंसे बचेंगे । मैं यह कहनेका साहस करता हूं कि ऐसी कोशिश की गई, तो वह असफल ही साबित होनेवाली है । हम एक ही क्षणमें 'बुद्धिमान, शान्त और उत्तेजित' नहीं हो सकते । यह कल्पना नहीं की जा सकती कि एक ऐसे देशमें देवताओंका निवास होगा, जिसे मिलों और कारखानोंके धुएं और कोलाहलने कुरूप बना दिया है तथा जहां ऐसे मनुष्योंसे खचाखच भरे हुए – जिन्हें इस बातकी

कोई समझ ही नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं और जो अकसर शून्यमनस्क रहते हैं – रेलके अनेक डिब्बोंको एंजिन रास्तों परसे खींचकर ले जाते हैं। और इस प्रकार भेड़-बकरीकी तरह ठूंस ठूंस कर डिब्बोंमें भरे हुए ये लोग एक-दूसरेसे बिलकुल अपरिचित होते हैं और भारी असुविधा भोगनेके कारण सम्भव हो तो सब एक-दूसरेको इन डिब्बोंमें से निकाल बाहर करनेकी ताकमें रहते हैं। मैं इन चीजोंका उल्लेख यहां इसलिए करता हूं कि इन्हें भौतिक प्रगतिका प्रतीक समझा जाता है। परन्तु इनसे हमारे सुखमें रत्तीभर भी वृद्धि नहीं होती।" [स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, चौथा संस्करण, पृ. ३५४-५५]

यह बुद्धिका विचित्र विपर्यास है कि उन इलाजोंको विज्ञानकी विजय माना जाय, जो स्वयं कितने ही अद्भुत होते हुए भी हैं तो उन्हीं बुराइयोंके इलाज, जिन्हें शुरूमें हमींने पैदा किया है और जो इतनी तेजीसे बढ़ती जा रही हैं कि उनसे निबटना अब हमारे बूतेके बाहर हो गया है। इस तर्कका कारण यही है कि आजकलका मानस वास्तविकतासे अलग पड़ गया है और कलुषितता तथा मूढ़ताका शिकार हो गया है। गांधीजी "विशाल राशिमें किये जानेवाले उत्पादनके खब्त" के कट्टर विरोधी थे, क्योंकि इसमें उत्पादन स्वयं एक लक्ष्य बन जाता है, जिसकी पूर्तिके लिए मानव-मूल्योंकी बलि दी जाती है। और यह सब किया जाता है "राष्ट्रीय सम्पत्ति" और "सम्पन्नता" के हवाई विचारोंके लिए। उन्होंने कहा है : "क्षणभरके लिए मान लीजिये कि यन्त्रोंसे मानव-जातिकी सारी जरूरतें पूरी हो जाती हैं, फिर भी उनसे होनेवाला उत्पादन विशेष प्रदेशोंमें केन्द्रित रहेगा और वितरणका नियमन करनेके लिए हमें लम्बे रास्ते अपनाने पड़ेंगे। इसके विपरीत, जहां चीजोंकी जरूरत है उन्हीं प्रदेशोंमें उनका उत्पादन और वितरण हो, तो उसका नियमन अपने-आप हो जाता है और धोखेबाजीकी सम्भावना कम रहती है – सट्टेबाजीकी तो बिलकुल ही नहीं रहती।... जब उत्पत्ति और उपभोग दोनों स्थानीय हो जाते हैं, तब उत्पादनकी गति अनिश्चित रूपमें और किसी भी कीमत पर बढ़ानेका प्रलोभन मिट जाता है। जो अनन्त कठिनाइयां और समस्याएं हमारी वर्तमान अर्थ-व्यवस्था प्रस्तुत करती है, वे भी सब उस हालतमें खतम हो जायंगी। ... हां, विशाल मात्रामें उत्पादन अवश्य हो, ... परन्तु वह उत्पादन व्यक्तिगत

आधार पर लोगोंके अपने ही घरोंमें हो । अगर आप व्यक्तिगत उत्पादनको लाखों गुना कर लें, तो क्या इससे प्रचंड पैमाने पर विशाल मात्रामें उत्पादन नहीं हो जायगा ? . . . आपका 'विशाल मात्रामें उत्पादन' . . . कमसे कम मनुष्यों द्वारा और निहायत पेचीदा यंत्रोंकी मददसे होता है । . . . मेरे यन्त्र अत्यन्त प्राथमिक ढंगके होंगे, जिन्हें मैं करोड़ों लोगोंके घरोंमें रख सकता हूं ।" [हरिजन, २ नवम्बर १९३४, पृ. ३०१-०२]

गांधीजी चाहते थे कि हमारी योजनामें मनुष्यको फिरसे उसका उचित स्थान दिया जाय और उत्पादनको मनुष्यके प्राथमिक कल्याणके अनुकूल बनाया जाय, न कि मनुष्यको उत्पादन बढ़ानेके लिए खर्च की जा सकनेवाली सामग्री माना जाय । गांधीजीने कहा था कि जहां पैसे और यंत्रवादका बोलबाला होता है वहां "पूंजी अपनी वृद्धिके लिए थोड़ेसे लोगोंके श्रमका शोषण करती है; परन्तु करोड़ों लोगोंके श्रमका बुद्धिमानीसे उपयोग किया जाय, तो उस सारे परिश्रमके फलस्वरूप करोड़ों लोगोंकी सम्पत्ति बढ़ जाती है ।" [प्रार्थना-प्रवचन, २० दिसम्बर १९४७] वे चाहते थे कि श्रमका उपयोग इस तरह किया जाय जिससे उत्पादनकी क्रिया स्वयं जीवन, आनन्द और स्वतन्त्रताका स्रोत बन जाय; वे यह नहीं चाहते थे कि उत्पादनके लिए इनमें से किसी एक वस्तुका और अर्थके मूल्योंके लिए इन सब वस्तुओंका बलिदान किया जाय । इसीमें सच्चे लोकतन्त्रकी कुंजी है ।

---

* जैसे जैसे यंत्रोंका विकास होता है वैसे वैसे बेकारी बढ़ती है और इसके साथ जैसे जैसे नये उद्योग खड़े होते हैं वैसे वैसे मजदूरी और काम-धंधेकी गुंजाइश भी बढ़ती है । किन्तु बेकार लोगोंको नये धंधेमें काम पानेमें देर लगती है । इसलिए बेकारी और दूसरे धंधेमें काम मिलनेके बीच अन्तर रह जाता है । इसे 'संघर्षजनित बेकारी' कहा जाता है ।

**आर्थिक शोषणकी तुलनामें जीवन-शक्तिका जो शोषण तथा सामाजिक हानि होती है, वह आर्थिक शोषणसे भी बढ़ जाती है । मजदूरकी आयु-मर्यादामें जो कमी होती है वह जीवन-शक्तिका शोषण है । आर्थिक, सामाजिक या आध्यात्मिक कारणोंसे मानव-जातिका जोश और उत्साह घट जाय, तो वह निर्बल और निस्तेज

बन जाती है । यह जीवन-शक्तिके रूपमें चुकाई जानेवाली कीमत है, जो अंतमें मानव-जातिकी अधोगति या नाशका रूप ले लेती है ।

*** अन्तर्गत नहीं परंतु बाह्य परिस्थितियोंके कारण उत्पन्न हुआ गुण आरोपित गुण है । जैसे, कारखानेके मजदूरोंको यदि हम मुफ्त सवारी, मुफ्त मकान और नियत या कम भावसे खाने-पीनेकी सामग्री वगैरा दें, तो यह कीमत करदाता चुकाते हैं । परन्तु इसका लाभ मिलोंको मिलता है । और इसलिए वे अपना कपड़ा हाथ-करघा चलानेवाले बुनकरोंसे कम भावमें बेच सकती हैं । इस रीतिसे सिद्ध की गई कपड़ेके भावकी कमी एक 'आरोपित गुण' है; मूलभूत काट-कसर या किफायतशारी नहीं है ।

**** ऐसा सौदा जिसमें कोई चीज पसन्द करके या चुन कर नहीं ली जाती, परन्तु सारा माल थोकबन्द खरीदा जाता है ।

७

परन्तु जीवनके स्तरका क्या होगा ? क्या इससे "जीवनका स्तर गिर नहीं जायगा ?" इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि ऊंचे जीवन-स्तरसे हमारा मतलब क्या है । अगर "ऊंचे जीवन-स्तर" का अर्थ यह है कि जिन्हें खानेको पूरा भोजन नहीं मिलता उन्हें पर्याप्त मात्रामें ताजा, स्वास्थ्यप्रद और सन्तुलित आहार मिले, जो नंगे हैं उन्हें सादे किन्तु कलापूर्ण टिकाऊ कपड़े मिलें, जो बिना हवा और रोशनीवाली गंदी चालियोंमें रहते हैं या जिनके लिए कोई आश्रय-स्थान नहीं है, उनके रहनेके लिए सुहावने वातावरणमें हवा, रोशनी और आरामवाले मकान होने चाहिये, तब तो गांधीजीकी बताई हुई अर्थ-व्यवस्था ही आम लोगोंको तुरन्त जीवनका सभ्य स्तर दिलानेवाला सबसे सक्षम, सबसे सस्ता और सबसे निश्चित उपाय है ।

लेकिन जब लोग जीवनका स्तर ऊंचा उठानेकी बात करते हैं, तब शायद उनका यही अभिप्राय नहीं होता । जीवनका स्तर ऊंचा उठानेसे उनका मतलब "आधुनिक जीवन" है । हमने जिन झूठे मूल्योंको अपना लिया है उनके कारण हम सोचते हैं कि अगर कोई आदमी अपने खेतमें कुदाली चलाता है और घरकी उगाई हुई या बगीचेमें पैदा हुई ताजी तरकारियां और फल काममें लेता है, तो उसकी जीवन-पद्धति नीची, प्राचीन ढंगकी है । अगर लोग स्वास्थ्यप्रद

प्राकृतिक वातावरणमें बड़े होकर जीवनके आनन्दकी उमंगमें ही गाते और खेलते हैं, तो वे असभ्य देहाती हैं। लेकिन अगर वे रेडियोके आसपास उदास होकर बैठते हैं और "तैयार" संगीत सुनते हैं – जिसके चुनावमें उनका कोई हाथ नहीं होता – तो वह संस्कृतिका प्रमाण माना जाता है। अगर मजदूर अपना धन्धा अपने गांवमें करता है, जहां उसे ताजी हवा और धूप बारहों महीने मुफ्त मिलती है, उसके काममें विविधता रहती है और उसे मनोरंजनके कुदरती मौके मिलते हैं, तो उसे जीवनकी गंवारू पद्धति कहा जाता है। परन्तु यदि उसे कारखानेके आत्मघाती घोर परिश्रमसे एक पखवाड़ेकी छुट्टी मिल जाती है और वह उसे ग्रामीण क्षेत्रमें जाकर मुफ्त मनाता है, तो उसे मजदूरोंके स्वर्गकी सिद्धि माना जाता है।

गांधीजीकी दुनियामें लोगोंको जीवनकी तड़क-भड़कवाली चीजें – "सभ्यताके खिलौने" – कम मिल सकती हैं, परन्तु वे प्रकृतिकी गोदमें रहेंगे और प्रचुर मात्रामें शुद्ध स्वास्थ्यप्रद भोजनका आनन्द लेंगे, जो उन्हें अपने ही परिश्रमसे मिल सकेगा। इस दुनियामें उन्हें प्रकृतिकी दी हुई धूप, ताजी हवा और सौन्दर्य-सुख बहुत बड़ी मात्रामें मिलेंगे। ये चीजें शहरी कारखानोंके मजदूरोंको कृत्रिम साधनों द्वारा थोड़ीसी मात्रामें भी भारी खर्च करने पर मिलती हैं। उस दुनियामें काम जीवनका नाश करनेवाला नहीं होगा, बल्कि जीवनके सम्पूर्ण सुख और सन्तोषका एक साधन होगा – वह स्थायी सौन्दर्य और आनन्दका साधन होगा। वहां असंख्य अनावश्यक चीजोंके बीचमें आवश्यक चीजोंका अभाव नहीं होगा। अनेक लोगोंकी आवश्यकताओंका थोड़ेसे लोगोंकी विशेष सुविधाओंके लिए अथवा "राष्ट्रीय सम्पन्नता" और "प्रगति" जैसी काल्पनिक वस्तुके लिए बलिदान नहीं किया जायगा। लोग बिना किसी अंकुशके आजादीका उपभोग करेंगे। उनके हाथमें अपनी उत्पादक शक्ति बढ़ानेवाली नई नई कुशलताएं और पद्धतियां होंगी, लेकिन इससे उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम नहीं होगी; उच्च कक्षाके अर्थतंत्र, उच्च कक्षाकी यांत्रिक कला तथा बुद्धिकी सामन्तशाहीके प्रभुत्वसे मुक्त होकर वे पहली ही बार अपना भविष्य निर्माण करनेका कार्य अपने हाथमें लेंगे और "जीवनमें अधिकसे अधिक मात्रामें जो कुछ सिद्ध करना

सम्भव हो" उसे सिद्ध करनेके लिए उन्हें उतना ही अवसर मिलेगा जितना कि देशके किसी प्रथम पंक्तिके व्यक्तिको मिल सकता है ।

सुख-सुविधाओंके साधनों और प्राप्त सुख-सुविधाओंके स्तरमें आकाश-पातालका अन्तर है । यांत्रिक प्रगतिके परिणामस्वरूप सुख-सुविधाके साधनोंमें अत्यन्त वृद्धि हुई है, परन्तु यही बात करोड़ोंके लिए प्राप्त सुख-सुविधाओंके स्तरके बारेमें कही जा सकती है अथवा नहीं इसमें शंका है । स्टुअर्ट चेज़ कहते हैं, "हम सब प्रगतिके कोलाहलमें खो गये हैं ।" वर्ज़िल जॉर्डनके शब्दोंमें, "समृद्धि शब्दके उपयोगकी कोई सीमा ही नहीं रह गई है और . . . वह समृद्धि बुनियादी सामग्री और मूलभूत सेवाएं प्रदान करनेवाले पुराने उद्योगोंको हानि पहुंचाकर आंशिक रूपमें ही प्राप्त हुई है ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. २२८] स्टुअर्ट चेज़ने तथ्य और आंकड़े देकर यह सिद्ध किया है कि कच्चे मालका जो भारी ढेर एक औसत अमरीकी परिवारके रहन-सहन पर खर्च होता है, उसका लगभग आधा भाग तो खानसे खोद कर उसका कच्चा माल बनानेमें बरबाद हो जाता है, और उसका बड़ा भाग माल तैयार करनेकी प्रक्रियामें नष्ट हो जाता है और बाकीका भाग आखिरमें उपभोगके लिए बचता है – जिसका बड़ा भाग "निकम्मा कूड़ा-कर्कट" ही होता है । उनकी राय है कि इसके बदलेमें अगर बहुत बड़ी तादादके लोगोंके लिए अधिक स्वास्थ्य-प्रद आहार, अधिक मात्रामें ज्यादा अच्छे कपड़े और जीवनकी दूसरी आवश्यक वस्तुएं प्राप्त की जायें, तो वह "कोई बहुत बड़ा त्याग" न कहा जायेगा । वे आगे चलकर कहते हैं: "बेशक, हमारे मकान अधिक तड़क-भड़कवाले हैं, हमारे भोजनमें नाना प्रकारके व्यंजन होते हैं और कपड़े अधिक महीन और मुलायम होते हैं; परन्तु एक राष्ट्रके नाते हमारे मकान जितने विस्तृत, हमारा भोजन जितना सन्तोषप्रद और हमारे कपड़े और जूते जितने अधिक एक पीढ़ी पहले होते थे उतने अब नहीं होते ।" [वही, पृ. २२४] "प्रकृतिकी गोदमें रहनेवाली और प्रचुर अन्नके क्षेत्रमें बसी हुई प्रजायें उनके पास भौतिक वस्तुएं हमसे थोड़ी होने पर भी कदाचित् हमसे अधिक सुख-सुविधाका जीवन जीती हैं । [वही, पृ. ३१९]

जो भी हो, जीवनके ऊंचे स्तरका लक्ष्य रखनेमें बहुत समझदारी नहीं है, यदि उसके फलस्वरूप जीवनकी प्रक्रिया ही स्वयं नष्ट हो जाय । यह सिद्ध करनेवाले प्रमाणोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है कि जमीनकी तेजीसे घटनेवाली उर्वरता, गतिहीन और उद्यम-रहित जीवन तथा उत्तेजक दवाओंका ही काम करनेवाले स्वादिष्ठ बनाये हुए अर्करूप खाद्य-पदार्थोंके उपयोगसे उत्पन्न होनेवाली पोषणकी कमीके कारण तथा "प्रगति" के प्रसारके साथ घटनेके बदले दिनोंदिन बढ़ती दिखाई देनेवाली स्वास्थ्य-सम्बन्धी बुरी आदतोंके प्रसारके कारण प्रबल नगर-परायणता "मनुष्यके मूलभूत आरोग्य" के लिए हानिकारक सिद्ध हुई है । सार्वजनिक स्वास्थ्यका मापदण्ड सुधर जानेके कारण और चिकित्सा-विज्ञानमें प्रगति होनेसे मनुष्यका औसत आयुकाल बढ़ गया है, परन्तु साथ ही रोगोंका अनुपात भी "आधुनिक जीवन" के कारण इतनी तेजीसे बढ़ा है कि उससे "अत्यधिक भय" उत्पन्न हो गया है । रीगाकी युनिवर्सिटी ऑफ मेडिकल क्लीनिकके डाइरेक्टर प्रो. मार्टिन सिहलेने यह प्रमाणित किया है : "जब हम अपने रोगियोंकी ज्ञानेन्द्रियोंका भी विचार करते हैं तब हमें उनकी क्रियाओंके दोष बार-बार मालूम होते हैं । एक आदमीकी नजर कम है, तो दूसरा ऊंचा सुनता है, तीसरेको तथाकथित पुराना जुकाम है, . . . चौथेके फेफड़ोंके ऊपरका भाग अच्छी तरह काम नहीं करता, . . . पांचवेंका हृदय अकसर बढ़ जाता है । . . . और पाचनके अवयव ? वे तो बहुत ही थोड़ोंके पूरी तरह काम करते हैं ।" [रेंच, 'दि व्हील ऑफ हेल्थ', लन्दन, १९३८, पृ. १३५]

अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशनके मुखपत्रके कथनानुसार १५ वर्ष और उससे ऊपरकी आयुवाले १,००० अमरीकियोंमें से ९७६ लोगोंमें कोई न कोई बीमारी या गड़बड़ पाई जाती है । इन रोगोंमें खूनकी कमी, मोटापा और क्षयसे लेकर कोई २० अन्य शारीरिक दोष और व्याधियां पाई जाती हैं । दूसरे विश्वयुद्धके पहले और उसके दौरान जिन १ करोड़ ४० लाख अमरीकी नौजवानोंकी सैनिक भरतीके लिए परीक्षा की गई, उनमें से केवल २० लाख ही कसौटी पर पूरे उतरे । हमें बताया गया है कि अमरीकामें मधुमेह (डाएबिटीज़) की वृद्धिका प्रतिशत अनुपात "जन्मसंख्याके अनुपातकी वृद्धिसे अधिक" है । ७० लाखसे अधिक अमरीकी गठियाके शिकार

हैं । दस स्वस्थ अमरीकी पुरुषोंमें से एकके पेटमें नासूर है; छहमें से एक अमरीकी नपुंसक है । [रिचार्ड बी. ग्रेग, 'व्हिच वे लाइ़ज होप ?', अहमदाबाद, १९५२, पृ. २६]

इससे भी गंभीर स्थिति मानसिक विकृतियों, मानसिक रोगों तथा हिस्टीरिया आदिकी है । अमरीकाके प्रधान सर्जनके कार्यालयके चिकित्सा-सम्बन्धी आंकड़ा-विभागकी १९४६ की रिपोर्टसे मालूम हुआ है कि दूसरे विश्वयुद्धमें अमरीकी सेनाकी भरतीके समय जिन डेढ़ करोड़ आदमियोंकी जांच-पड़ताल की गई थी, उनमें से १२ प्रतिशतको मानसिक व्याधियोंके कारण अस्वीकार कर दिया गया । १९४५ में इन व्याधियोंसे ६,५७,३९३ आदमी पीड़ित थे – अर्थात् देशके तमाम अस्पतालोंके वार्डोंमें ३८ प्रतिशत ऐसे रोगी थे । १९४४ के वर्षके लिए अमरीकामें मानसिक रोगोंके कारण होनेवाले सारे खर्च और नुकसानका अनुमान १,२९,५०,००,००० डॉलर लगाया गया था ।" [वही, पृ. २६]

"शान्तिदायक औषधियों", "आनन्द-वटियों" आदिके उत्पादन और बिक्रीमें भयंकर वृद्धि एक और संकेत है, जिसके महत्त्वकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । कुछ अत्यन्त उद्योग-प्रधान पश्चिमी देशोंमें इन दवाओंकी जितनी बिक्री और खपत होती है उतनी अन्य सब दवाओंकी मिलकर भी नहीं होती ।

वह बुरी अर्थ-व्यवस्था है, जिसमें "सम्पत्ति बढ़ती है और मनुष्योंका ह्रास होता है ।" गांवमें काम करनेवाले लोगोंका दैनिक जीवन बहुत शिक्षाप्रद होता है । एक किसानको मौसम, ऋतुओं, फसलों, पेड़ों, पौधों और घरेलू तथा जंगली जानवरोंका ज्ञान होना ही चाहिये । इसी तरह एक हाथ-कारीगरको लकड़ी, धातुओं, मिट्टियों और कपड़ा बुननेके लिए जरूरी रेशों वगैराका ज्ञान होना चाहिये । गांवमें काम करनेवाले मानवका अपने आसपासके वातावरणके साथ प्रतिदिन जो सजीव सम्पर्क बना रहता है, उसके बारेमें स्टुअर्ट चेज़का, जो यांत्रिक प्रगतिके सचमुच विरोधी नहीं हैं, कहना है कि "इससे वह बुनियादी तौर पर ज्ञानवान ही नहीं बनता, बल्कि साहसी, दक्ष, स्वावल्म्बी और स्वाधीन भी बनता है।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉर्क,

१९२९, पृ. २८९] इसके विपरीत, शहरमें काम करनेवाले मजदूरके दैनिक कार्यक्रममें ऐसा कोई शिक्षात्मक तत्त्व नहीं होता । उसका जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि वह "मोटर-गाड़ियोंकी चपेटसे बचनेकी योग्यता रखें, समय-पत्रक, चेतावनीके संकेत और डिब्बोंमें बन्द खाद्य-पदार्थोंके नामवाले लेबल पढ़ सके, पैसे और टेलीफोनका उपयोग जानता हो तथा मरम्मत करनेवाले यांत्रिकोंको सूचनायें दे सकता हो और जमाखर्चके हिंसाबके साधारण सिद्धान्तोंका कुछ ब्योरा जानता हो ।" वह कुछ और भी सीख लेता होगा और साधारणतः सीख भी लेता है । परन्तु "इसका उसके आसपासके वातावरणकी विशेष परिस्थितियोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता और जीवित रहनेकी उसकी योजनामें इस ज्ञानका कोई स्थान नहीं होता ।" इसके फलस्वरूप उसमें उस "आत्म-निर्भरता और दक्षताका, उस बुनियादी समझदारीका अभाव होता है, जो अविकसित प्रदेशमें विकासका सर्वप्रथम कार्य आरम्भ करनेवाले अगुवा तथा आत्म-निर्भर गांवके निवासीकी स्वाभाविक विरासत होती है ।" [वही, पृ. २८९-९१] और इस प्रकार हमारे सामने यह अनोखी वस्तु आती है – जिसकी ओर ऑस्टिन फ्रीमैनने हमारा ध्यान आकर्षित किया है – कि किसी जाति-विशेषमें "सामान्य बुद्धिमत्ताका स्तर उतरनेके साथ-साथ ज्ञानकी लगातार वृद्धि हो सकती है ।" [आर. ऑस्टिन फ्रीमैन, 'सोशियल डिके एण्ड रिजनरेशन', लन्दन, १९२१, पृ. २३] ग्रेट ब्रिटेन और अमरीकामें ली गई बुद्धिकी परीक्षाओंसे यह पाया जाता है कि प्रत्येक पीढ़ीमें एकसे दो बिन्दु तक बुद्धिका स्तर गिर रहा है । [रिचार्ड बी. ग्रेग, 'व्हिच वे लाइज़ होप ?', १९५२, पृ. २५]

कभी कभी यह तर्क किया जाता है कि कारखानोंके लोगोंमें ज्ञानतंतुओंकी दुर्बलताका बढ़ना संयोगकी बात है और औद्योगिक परिस्थितियोंमें सुधार होनेसे वह दूर हो जायगी । यह सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी सही नहीं है और सत्यकी दृष्टिसे भी सही नहीं है । लन्दन अस्पतालके एक प्रसिद्ध डॉक्टर कुल्पिनके अध्ययनसे निश्चित रूपसे यह पता लगा है कि एक ऐसे परिश्रमालयमें "जहां काम करनेकी परिस्थितियां उत्तम" थीं नाड़ियोंकी दुर्बलताका अनुपात ऊंचा था और एक ऐसे परिश्रमालयमें "जहां तेजीसे काम करनेकी और दूसरी परिस्थितियां खराब थीं उसका

अनुपात नीचा था ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. १५६] आधुनिक यन्त्रों पर काम करनेवाले मजदूरोंमें स्नायु-विकारकी वृद्धिका काम या कामके वातावरणके साथ कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता । यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है, परन्तु कामके स्वरूपके साथ अनिवार्य रूपमें ही यह परिणाम जुड़ा हुआ है ।

औद्योगिक युगसे पहले जब मजदूर अपने परिवारके बीच आनन्दप्रद और रुचिकर वातावरणमें काम करता था, तब वह अपने काम, आराम और खेल-कूदका समय सुविधाके अनुसार रख या बदल सकता था । वह कुशल कारीगर होता था –चाहे खेतमें काम करे, चाहे परिश्रमालयमें । उसकी प्रवृत्तिमें ही उसे विविधता और परिवर्तन मिल जाता था [डेनियल बेलने जून १९५४ के 'एनकाउंटर' में लिखा था : "यदि श्रमिकोंमें नई भावना भरनेकी और कामकी नई भूख पैदा करनेकी आशा रखनी है, तो श्रमिकको कारखानेमें 'एक मानव-सम्बन्ध' के अंगकी अपेक्षा कुछ अधिक समझनेकी जरूरत है । उसके कामसे उसके शरीरको ही भोजन नहीं मिलना चाहिये, उसकी आत्माको भी पोषण मिलना चाहिये ।] और उसमें उसे अपनी बुद्धि और कुशलताका उपयोग करनेका अवसर मिलता था । वह जो वस्तु बनाता था वह आरम्भसे अन्त तक उसके हाथमें रह कर ही बढ़ती और बनती थी । उसे अपने कामसे सर्जनका सन्तोष मिलता था । यंत्र पर काम करनेवाला मजदूर अपने श्रम और तैयार मालके बीचका सम्बन्ध देख नहीं सकता । वह कारीगर न रहकर यंत्रको चलानेवाला एक "हाथ" बन जाता है । वह कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करता; हर वस्तु यन्त्र उत्पन्न करता है । वह केवल यंत्रको चलाता है । "कार्य और परिणामकी सानसिक एकता" टूट जाती है । बार-बार वही काम करनेके कारण और अथक तेज गतिवाले यंत्रके साथ जुड़े रहनेके कारण मजदूर पर निरन्तर शारीरिक और मानसिक तनाव बना रहता है । इसके फलस्वरूप उसमें चिड़चिड़ापन, असन्तोष और कामके प्रति विद्रोह पैदा होता है । उसे जो वस्तु अपने काममें नहीं मिलती, उसको वह खेलमें पानेकी कोशिश करता है । परन्तु दिनके अन्तमें वह शरीर और मनसे इतना शिथिल हो जाता है कि "उसमें खेलनेकी शक्ति ही नहीं रह जाती ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. २६५] उसके लिए फुरसत

"एक व्यापक शून्यता, . . . खोखलेपन और सूनेपनकी निराशापूर्ण स्थिति बन जाती है ।" [हर्बर्ट रीड, 'एज्युकेशन फॉर पीस', न्यूयॉर्क, १९४९, पृ. ४४] उसके जीमें इतना ही आता है कि इस रिक्तताको वह निष्क्रिय मनोरंजनसे भरे । "वह खेलनेके बजाय खेल देखता है; नाटकमें स्वयं भाग लेनेके बजाय नाटक-गृहमें जाकर दूसरोंका अभिनय देखता है; पैदल चलनेके बजाय किसी मोटरकी सवारी करता है ।" [वही, पृ. ४५] हमारे इस युगमें जिसे "प्रदर्शन" की कला और संस्कृति कहा गया है, उसकी बाढ़का यही रहस्य है । [हर्बर्ट रीड लिखते हैं : "मैं यहां यह भी स्वीकार कर लूं कि जिसे मैं प्रदर्शनकी संस्कृति कह सकता हूं उसके बारेमें मैं दिनोंदिन शंकाशील हो रहा हूं । चित्रकला और स्थापत्यके, शास्त्रीय संगीतके, आधुनिक संगीतके और चीनी संगीतके सम्मेलन; वियेनाके संगीत नाटक या रूसी बेले – ये सब बहुत मनोरंजक होते हैं। . . . परन्तु इन सबका उस प्राणदायक यथार्थताकी दृष्टिसे क्या अर्थ है, जो हमारे दैनिक व्यवहार और तात्कालिक सुखमें समाई हुई है ? मुझे तो कोई अर्थ दिखाई नहीं देता ।" – एज्युकेशन फॉर पीस, न्यूयॉर्क, १९४९, पृ. ४६] स्टुअर्ट चेज़ने अमरीकाके लिए इस प्रकारके विविध खेलों और मनोरंजनोंके कुल वार्षिक खर्चका अनुमान २१ अरब डालर लगाया है । "यह खर्च राष्ट्रीय आयके चौथाई भागके आसपास पहुंचता है ।" [अवकाशके विषयमें स्टुअर्ट चेज़ यह कहते हैं : "मिडलटाउनमें '३० वर्षसे ऊपरकी लगभग सभी स्त्रियोंका और ज्यादातर पुरुषोंका अवकाश खास तौर पर बैठे रहनेमें खर्च होता है' – मोटर गाड़ीमें, चलचित्रोंमें, पढ़नेमें या रेडियो सुननेमें जाता है । बहुत थोड़े लोग खेलते हैं . . . और बाकी लोग शोरगुल मचाते हैं, तालियां बजाते हैं, अपने पड़ोसियोंकी टोपियां कुचलते हैं और खेलोंमें सक्रिय रूपमें भाग लेनेके बजाय निष्क्रिय रूपमें जो भी रोमांच अनुभव किया जा सकता है उसे अनुभव करते हैं ।" – मैन एण्ड मशीन्स, न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. २५९] स्टुअर्ट चेज़ आगे कहते हैं कि इनमें से अधिकतर खेल-कूद "मनोरंजक" अर्थात् "काममें जो प्रसन्नता खो दी हो उसकी खेल द्वारा पूर्ति करनेवाले" नहीं होते, परन्तु "ग्लानि पैदा करनेवाले" अर्थात् "निरर्थक खेलों द्वारा कामकी वजहसे उत्पन्न हुए प्रसन्नताके अभावको चौगुना बढ़ानेवाले होते हैं ।" [वही, पृ. २५६] यह प्रगतिकी नहीं परन्तु ह्रास

और पतनके आरम्भकी निशानी है, जैसा कि रोमन साम्राज्य और दूसरी प्राचीन नामशेष सभ्यताओंके इतिहाससे प्रमाणित होता है ।

सच्चे कारीगरको "फुरसत नहीं, आराम ही मिलता है ।" शिक्षाशास्त्री हर्बर्ट रीड कहते हैं: " स्वतन्त्रताका आनन्द लेनेवाली मुक्त मानव-आत्मा" नहीं, परन्तु "शहरोंकी घिचपिचमें फंसी हुई, भूमि और ऋतुओंसे अलग पड़ी हुई तथा सन्तोषप्रद प्रवृत्तियोंके स्वाभाविक परिवर्तनोंसे वंचित" आत्मा ही अपनी नीरसता दूर करनेके लिए खर्चीले मनोरंजनोंकी लालसा रखती है । [हर्बर्ट रीड, 'एज्युकेशन फॉर पीस', न्यूयॉर्क, १९४९, पृ. ५५] "फुरसत" की आधुनिक समस्या "विशाल पैमाने पर समाजमें फैले हुए मानसिक रोग" का एक लक्षण है, जो हमारे जमानेका एक प्रधान सत्य है ।

इसलिए "कामसे मुक्ति" होने पर "मनोरंजक फुरसत" का द्वार खुल जायगा और उससे प्रत्येकके लिए और सबके लिए सभ्य जीवन सम्भव हो जायगा, इस तरहकी बातें बिलकुल निरर्थक बकवास हैं । स्टुअर्ट चेज़के शब्दोंमें, काम और खेलमें "किसी तरहका सम्बद्ध संतुलन रहना चाहिये । अगर आप काम करनेकी वृत्तिका नाश कर देंगे, तो उसके साथ खेलकी वृत्ति भी नष्ट हो जायगी ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. २६५]

आज हमारे सामने जो चित्र आता है वह "रोगी मनुष्य और रोगी समाज" का चित्र है । चिकित्सा-शास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान डॉ. जेम्स एल. हैलिडे, एम. डी., मानसिक-सामाजिक चिकित्सा सम्बन्धी अपनी पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ सिक सोसाइटी' में बताते हैं कि आजका चिकित्सा-शास्त्र भी "केवल शारीरिक रोगों या भौतिक न्यूनताओं या कीटाणुओंकी अपेक्षा रोगी समाजके परिणामरूप" रोगियोंके इलाज खोजनेमें अधिक व्यस्त है । उन्होंने सिद्ध किया है कि आजके रोगका महत्त्वपूर्ण भाग "लोगोंकी जीवन-प्रणालीसे उत्पन्न होनेवाले सामाजिक विघटन और क्षीण हो रही जीवन-शक्तिका परिणाम है ।" हमारा सामाजिक रोग हमारे अपने मानसिक रोगका ही प्रतिबिम्ब है । एक सुसंकलित सम्पूर्ण व्यक्तिकी तरह एक सुसंकलित सम्पूर्ण समुदाय

स्वास्थ्यको खराब करनेवाले तत्त्वोंके आक्रमणका मुकाबला करता है और उन्हें बाहर फेंक देता है । परन्तु जब समुदायकी प्रतिरोध-शक्ति कम हो जाती है तब "यह मानसिक, शारीरिक रोग अधिकाधिक संक्रामक होता जाता है और समुदाय स्वयं रोगी हो जाता है ।" "वर्ग युद्ध" और "विनाशके लिए नेतृत्व" इसी रोगका एक प्रकट रूप है ।

युद्धोंकी विनाशकता, उनकी सम्भावना और उनका क्षेत्र आज बढ़ रहा है और इससे व्यक्ति और समाजके मानसिक स्वास्थ्यका प्रश्न परम चिन्ताका विषय बन जाता है । हर्बर्ट रीड हमें बताते हैं कि "आवारा समाज" के वैज्ञानिक अध्ययन किये गये हैं और उनसे पता चलता है कि "फुरसतवाले यानी अतिरिक्त समयवाले समाजोंमें से ही, जिनमें बेकारीकी क्षतिपूर्ति करनेवाले धन्धे नहीं होते, अपराध, गुंडागिरी और फासिस्टवादका अनिवार्य रूपसे विकास होता है ।" [हर्बर्ट रीड, 'एज्युकेशन फॉर पीस', न्यूयॉर्क, १९४९, पृ. ४८] हमारे बीच आज ऐसे लोगोंका एक वर्ग बढ़ रहा है, जिन्हें अपने पदोंका – उनसे मिलनेवाले पुरस्कार और सामाजिक दर्जेके कारण – गर्व है । लेकिन उन्हें अपने कामको देखते ही उससे घृणा होती है । ये ही वे लोग हैं जो अपने "धन्धेकी नीरसतासे पैदा होनेवाली अनिवार्य रिक्तता" को भरनेके लिए महत्त्वाकांक्षा और सत्ताके दुःस्वप्न सिद्ध करनेमें अपने-आपको लगा देते हैं । इसलिए गांधीजीने कहा था कि आर्थिक प्रगतिका लक्ष्य "मानव-सुख और उसके साथ मनुष्यका सम्पूर्ण मानसिक और नैतिक विकास" [हरिजन, १८ जनवरी १९४२, पृ. ५] होना चाहिये । दूसरे शब्दोंमें, हमारी जीवन-पद्धति ऐसी होनी चाहिये, जिसमें न सिर्फ जीवनके भौतिक साधनोंकी बल्कि सन्तोषप्रद प्रवृत्तियोंकी भी व्यवस्था हो । ये प्रवृत्तियां स्वभावत: "खेलकूद जैसी आकस्मिक और वैकल्पिक" नहीं हो सकतीं । इसके विपरीत ये "हेतुपूर्ण प्रवृत्तियां" होंगी, जिनका हमारे और समाजके प्राथमिक धारण-पोषणके साथ सीधा सम्बन्ध रहेगा; और उनमें न केवल हमारी बुद्धि और कुशलताका उपयोग होगा, बल्कि हमारी मांसपेशियोंका भी उपयोग होगा । कारण, मांसपेशियोंको यदि उपयोगी कामोंकी तालीम ना दी जाय, तो वे स्वतन्त्र रूपसे अपना काम करती हैं ।" [हर्बर्ट रीड, 'एज्युकेशन फॉर पीस', न्यूयॉर्क, १९४९, पृ. ४८]

इसका अर्थ यदि थोड़ा अधिक शारीरिक श्रम हो और जिन शहरी सुविधाओंके हम आदी हो गये हैं उनमें से कुछका त्याग हो, तो भी ज्यादा चिन्ताकी बात नहीं है। इसके परिणाम-स्वरूप लाखों-करोड़ों लोगोंको अधिक जीवन, अधिक स्वास्थ्य और अधिक सुख मिलेगा; और शान्तिके लिए यह बहुत बड़ी कीमत नहीं होगी। हर्बर्ट रीडकी इस बातसे अधिक सच्ची बात और किसीने नहीं कही कि "उत्पादनकी यांत्रिक प्रणाली, ऐश-आराम और सुख-सुविधा तथा जीवनके ऊंचे स्तरके लिए जो कीमत हम चुकाते हैं, युद्ध उसीका एक हिस्सा है।" [वही, पृ. ३२]

मानव-प्रगतिके सम्पूर्ण विचारमें जीवन-शक्तिका प्रश्न एक बुनियादी प्रश्न है। जीवन-शक्तिकी व्याख्या इस प्रकार की गई है : यह "जीवनको टिकाये रखनेकी क्षमता और जीवनका वह भंडार है, जो हमारे सम्पूर्ण शारीरिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकारके द्वारा एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ी तक संचित और सुरक्षित रखा जाता है।" [ग्रिस्कम मॉर्गन, 'वाइटेलिटी एण्ड सिविलाइज़ेशन', चिकागो, १९४७, पृ. ४] ग्रिस्कम मॉर्गनने अपनी पुस्तक 'वाइटेलिटी एण्ड सिविलाइज़ेशन' में बताया है कि इतिहासके क्रम पर "जीवन-शक्तिका उतना ही नियन्त्रण है जितना राजनीति, अर्थशास्त्र या विचारोंका है।" [वही] इतिहासमें अनेक बार लोगोंकी संचित जीवन-शक्तिका दुरुपयोग करके सभ्यताके आकस्मिक और अल्पकालीन उत्कर्ष सिद्ध किये गये हैं। परिणाम सदा ही ऐसी सभ्यताओंके ह्रास और मृत्युके रूपमें आया है।

प्रोफेसर सोरोकिनने गांवको आबादियोंका "उत्पादक" और शहरको उनका "नाशक" बताया है। जीवन धरतीसे उत्पन्न होता है। संस्कृति और जीवन-शक्ति गांवमें उत्पन्न होती हैं। शहर तो वह स्थान है, जहां उनका शोषण और अपव्यय होता है और जहां अन्तमें उनकी मृत्यु हो जाती है। महान यात्री, राजनीतिज्ञ और इतिहासवेत्ता इब्न खाल्दुनने लिखा है कि "जब नगरकी वृद्धि और नगरकी कला, विज्ञान और व्यापारका विकास चरम सीमाको पहुंचता है, तब नगरके और सारे समाजके ह्रास और पतनका प्रारम्भ होता है।... **शहरी परिवारोंके उत्थान और पतनका साधारण क्रम चार पीढ़ियोंमें पूरा हो जाता है**।" (मोटे टाइप मैंने किये हैं।)

मनुष्योंका शुद्ध शहरी समाज अपने-आपको कभी तब तक स्थायी रूपसे टिका नहीं सका, जब तक उसने अपनी नष्ट हुई संख्याकी पूर्ति गांवोंसे लोगोंको बुलाकर न की हो। शहरोंके द्वारा गांवोंका यह सतत मानवीय शोषण औद्योगिक सभ्यताका एक अत्यन्त अर्थपूर्ण सत्य है।

जैसा कि सामान्यतः माना जाता है, औद्योगिक आबादियोंका स्वास्थ्य गिरनेका कारण उनकी कड़ी मेहनत या भौतिक वस्तुओंका अभाव नहीं है, परन्तु आधुनिक प्रगतिके कारण मिलनेवाले ऐश-आराम और सुखमय जीवनका ऊंचा स्तर इसका कारण है। विपत्ति और शरीर-श्रम तो जीवन-शक्तियोंके संचय और रक्षणको अनिवार्य बना देते हैं। "जब अधिकांश लोग सूर्यास्तके बाद सक्रिय जीवन व्यतीत नहीं कर सकते थे और शीतकालमें विवश होकर उन्हें निष्क्रियताका आश्रय लेना पड़ता था, तब प्रकृति उनकी प्राणशक्तिकी रक्षामें सहायक होती थी।" [वही, पृ. ९] परन्तु जब मनुष्यको अपने धन्धेमें कोई अर्थ दिखाई नहीं देता और दिनभर कड़ी मेहनत करनेके बाद जब वह घर लौटता है और उसकी विफल सृजनशील वृत्ति पूरा विद्रोह करती है, तब उसे अपनी जीवन-शक्तिको चूस लेनेवाली तरह तरहकी प्रवृत्तियों द्वारा आराम पानेकी चाह होती है। [जुंग लिखते हैं : "गांवोंके बढ़ते हुए उद्योगीकरण और असुरक्षितताकी बढ़ती हुई भावनाके कारण लोग अपनी भावनात्मक शक्तियोंको प्रकट करनेके अनेक अवसरोंसे वंचित रहते हैं। किसानके विविधतापूर्ण कार्योंके कारण उसे अनजाने ऐसे सन्तोष मिल जाते हैं, जो कारखानेके मजदूरों और दफ्तरके नौकरोंको मालूम ही नहीं होते। ये उन सन्तोषोंका अनुभव कभी कर ही नहीं सकते।" – टू एसेज़ ऑन एनेलिटिकल साइकोलॉजी, लन्दन, १९५३] माता-पिता बनने, पारिवारिक जीवन जीने और सामुदायिक दायित्व निभानेकी जिन आवश्यकताओं पर किसी सभ्यताका टिकना निर्भर करता है उनकी उपेक्षा की जाती है।

किसी राष्ट्र या सभ्यताकी सफलताओंकी सच्ची कसौटी उसके उत्पादनके आंकड़े नहीं होते, बल्कि टिके रहनेकी उसकी शक्ति होती है। हमें चेतावनी दी गई है कि मानव-मूल्योंको आर्थिक प्रगतिके अधीन कर देनेके फलस्वरूप पाश्चात्य समाजमें आज "मानव-साधनोंका इतना बिगाड़ हो रहा है कि उसका हमारे भविष्य पर निर्णायक असर हो सकता है।" [ग्रिस्कम मॉर्गन,

'वाइटेलिटी एण्ड सिविलाइज़ेशन', चिकागो, १९४७, पृ. ३] इसमें पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों समान रूपसे दोषी हैं। "जन-साधारणको अपनी दया पर निर्भर रहनेकी स्थितिमें डाल कर ये दोनों वाद सभ्यताके विशाल कार्य पूरे करनेके लिए उनकी जीवन-शक्तिका निर्दय शोषण करते हैं। भविष्यमें इसकी क्या कीमत चुकानी पड़ेगी, इसकी कोई गिनती नहीं की जाती।" [वही, पृ. १३]

जो सभ्यताएं कालका ग्रास बन चुकी हैं, उनके भग्नावशेषोंको देख कर यह सिद्ध होता है कि नगर-परायण समाज-रचना, व्यवसायवाद, खेतीका ह्रास और बाहरसे मंगायी हुई खाद्य सामग्रीका उपयोग – जिसके फलस्वरूप "सभ्यताकी अमुक बीमारियां", जैसे दांतोंकी खराबी, गठिया, संधिवात आदि फैलती हैं – अनिवार्यत: उन सभ्यताओंके पतनकी पूर्व-सूचना देनेवाले थे। किसी रास्ते चलते आदमीको भी दिखाई दे सकता है कि आज हमारे बीचमें भी चेतावनीके इन संकेतोंका अभाव नहीं है। इन संकेतोंकी उपेक्षा करके हम खतरा ही मोल लेंगे।

८

लोकतन्त्र इस समय एक संकटका सामना कर रहा है। लोकतन्त्र और विपुलतामें, समानता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रतामें, प्रगति और शान्तिमें परस्पर-विरोध है। समस्त तंत्रों और वादोंमें विशेषाधिकारकी समस्या प्रमुख बन गई है। लोकतन्त्रमें वह उत्पादन और वितरणके साधनोंके एकाधिकारके रूपमें प्रकट होती है, अधिनायक-तंत्रमें वह राजनीतिक सत्ताके एकाधिकारके रूपमें प्रकट होती है; और दोनोंमें वह बुद्धिमत्ता, यंत्र-विज्ञान और विशिष्ट अनुभवके एकाधिकारके रूपमें प्रकट होती है। रूप बदलता है, परन्तु असमानता वैसी ही बनी रहती है। अनियंत्रित व्यक्तिवादसे असमानताएं पैदा होती हैं। यदि हम राज्यके हस्तक्षेपसे असमानताएं दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, तो स्वतन्त्रता ही नष्ट हो जाती है।

लोकतन्त्रकी व्याख्या करते हुए उसे "ऐसी शासन-प्रणाली बताया गया है, जिसमें प्रत्येक वयस्क नागरिकको अपने विचार और इच्छाएं प्रगठ करनेकी, उन विचारोंके अनुसार निर्णय

करनेके लिए अपने साथी नागरिकोंको प्रभावित करनेकी और उन इच्छाओं पर अमल करनेकी समान स्वतन्त्रता होती है ।" [स्टैफर्ड क्रिप्स, 'डेमॉक्रेसी अपटु डेट', लन्दन, १९३९, पृ. १९] परन्तु स्वतन्त्रता "सैद्धान्तिक अधिकारोंकी कोई सूचीमात्र" नहीं है । उसमें इन अधिकारोंसे लाभ उठाने और स्वतन्त्रतासे उनका उपयोग करनेकी योग्यताका भी समावेश होना चाहिये ।

लोकतन्त्रके वर्तमान रूपोंका विकास अधिकतर तब हुआ, जब मुक्त साहस और अनिवार्य प्रगतिके सिद्धान्तोंका बोलबाला था : "मनुष्यका स्वार्थ ईश्वरकी देन है" (माल्थुस); आर्थिक स्वतन्त्रता ईश्वरका कानून है, वह "शाश्वत और अटल है" (कॉब्डन और ब्राइट); "प्रत्येक मनुष्य अपना ही व्यक्तिगत स्वार्थ साधे और उसमें कमसे कम प्रतिबन्ध हो, तो यही सार्वजनिक सम्पत्तिकी वृद्धिका उत्तम उपाय है" (एडम स्मिथ) । विपुलताकी कुंजी प्रगति थी और प्रगतिकी कुंजी मुक्त साहस था । दलील यह दी जाती थी कि जहां गरीबी हो वहीं दौलतकी तड़क-भड़क टिक सकती है; सर्वत्र समृद्धि हो वहां यह तड़क-भड़क नहीं चल सकती । विज्ञान और उद्योगसे सबके लिए विपुलता निश्चित हो जायगी । जब शोषणके लिए दरिद्रता या असुरक्षाका भूत ही नहीं रहेगा, तो शोषण अपने-आप बन्द हो जायगा; प्रभुता स्थापित करनेका हेतु ही नहीं रहेगा; प्रतिष्ठाके लिए दूसरे और संभवत: ऊंचे मार्ग ढूंढ़े जायंगे और अन्तमें पृथ्वी पर लोकतन्त्र और स्थायी शान्तिके युगका उदय होगा ।

उसके बादसे घोर आर्थिक असमानताओं और पूंजीवादी व्यक्तिवादकी अनियन्त्रित प्रतियोगिताकी दूसरी बुराइयोंने हवाका रुख विपरीत दिशामें मोड़ दिया है और इन बुराइयोंको मिटानेके लिए सरकारी कार्रवाईकी आवश्यकताको सब कोई मानने लगे हैं । परन्तु अनुभवने यह सिद्ध कर दिया है कि एक बार राज्यने हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया कि उसकी कार्रवाईका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि लोगोंके जीवन और उनकी प्रवृत्तियोंका राज्य अधिकसे अधिक नियमन करने लगता है और जो लोग लोकतांत्रिक मूल्योंकी हिमायत करते हैं, वे "अपने एकाधिकारवादी विरोधियोंकी प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता" को देख कर या तो "नियन्त्रणके तानाशाही तरीके अख्तियार करनेके लिए" मजबूर हो जाते हैं या फिर "दकियानूसी लोकतांत्रिक

स्वरूपोंसे चिपटे रह कर . . . एकके बाद दूसरी हार स्वीकारनेके लिए विवश हो जाते हैं ।" [वहीं, पृ. २१। सर स्टैफर्ड क्रिप्स यह भी कहते हैं : " लेकिन जब हम एक बार राज्यके हस्तक्षेपको आवश्यक मान लेते हैं, तो संसद अत्यन्त पेचीदा प्रवृत्तियोंके समग्र क्षेत्रमें फंस जाती है और सब वर्गों और विभागोंके लोगोंकी तरफसे नियमन और सहायताके लिए उससे मांग होने लगती है । . . . एक बार राज्यने व्यापार और उद्योगके व्यक्तिगत संचालनमें हस्तक्षेप किया कि उसे देशके सारे औद्योगिक जीवनके नियमनमें अधिकाधिक भाग लेनेके लिए मजबूर होना पड़ता है ।" (पृ. ३४-३५)]

तानाशाहीके उदयका यही रहस्य संसारके सम्मुख कुछ समयसे प्रकट हुआ है । जिराल्ड हर्डके शब्दोंमें : "तानाशाही राज्योंका तीव्र और बर्बर सैनिक पद्धतिका संगठन प्रजायें व्यक्तिगत रूपमें और सामूहिक रूपमें अतिशय दीर्घकाल तक जिस निष्फलताकी शिकार रही हैं उसकी प्रतिक्रिया मात्र है । सैनिक कवायदें केवल उत्पन्न हुई इस शिथिलताको दूर करनेका प्रयत्न ही हैं। [जेराल्ड हर्ड, 'पेन, सेक्स एण्ड टाइम', लन्दन, १९३९, पृ. २३६]

इन सब बातोंकी जड़ है हमारा जीवनके मूल्योंका झूठा मापदण्ड । जैसे यह सच है कि उन लोगोंके लिए, जिनके जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएं भी पूरी नहीं होतीं, लोकतन्त्र और स्वतन्त्रताका कोई अर्थ नहीं रह जाता, वैसे यह भी उतना ही सच है कि सांसारिक वस्तुओंके लिए अधिकाघधिक लालायित रहनेसे लोकतन्त्रमें रुकावट होती है और वह लालसा व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको हानि पहुंचाकर ही पूरी की जा सकती है ।

विशाल पैमानेकी उत्पादन-प्रणालीका जन्म अधिकाधिक भौतिक सामग्री प्राप्त करनेकी इच्छासे हुआ है । उसने समाजमें "मनुष्यको दिड्मूढ़ बना डालनेवाली" विशालता पैदा कर दी है, जिसमें व्यक्तिका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है । जो माल दुनियाके एक सिरे पर पैदा होता है और जिसकी खपत दूसरे सिरे पर होती है, उसके लिए दूर-दूरके देशोंमें बाजार खड़े हो गये हैं । भावोंका निर्धारण और विनिमयकी दरोंमें उतार-चढ़ाव विशेषज्ञोंके सिवा अन्य सभीके लिए

रहस्यमय और समझमें न आने जैसे बन गये हैं । यही हाल यंत्र-विज्ञानका है । स्टुअर्ट चेज़का कहना है कि "जिस यंत्र-विज्ञानसे साधारण मनुष्यको आवास, वस्त्र और अन्न मिलता है, उसको समझनेकी उसकी शक्तिमें चौंकानेवाली कमी हो गई है । यंत्र-विज्ञानकी सिद्धि और उसके गूढ़ार्थोंके विषयमें जनताका अज्ञान - दोनों विपरीत दिशाओंमें समान गतिसे आगे बढ़ रहे हैं ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. ३२२] सामान्य जनको अपने और अपने परिवारके लिए जीविका कमानी पड़ती है, इसलिए उसके पास न तो इतना समय होता है और न तालीम होती है कि वह अपने चारों ओरकी औद्योगिक और आर्थिक रचना या उसके कामकी पेचीदगियोंका अध्ययन कर सके या उसे समझ सके । उसे ऐसा लगता है मानों वह सामानको इधर-उधर पहुंचानेवाले यंत्रके पट्टे पर बेठा है, जिसके ठीक तरहसे चलते रहने पर ही उसका जीवन निर्भर करता है । या तो उसके चलते रहनेमें वह मन-बेमनसे सहयोग दे या खतम हो जाय । वह उस पर बहुत कम नियन्त्रण रख सकता है; उसकी अपनी सूझ-बूझका कोई महत्त्व ही नहीं है । उसे अपने लिए दूसरोंको ही विचार करने देना होता है । इस प्रकार व्यक्तिवादी व्यवस्थामें बलशाली व्यवस्थापकोंका और नियोजित अर्थ-व्यवस्थामें राजनीतिज्ञों, नियोजकों, विशेषज्ञों और नौकरशाहोंका एक नया शासक-वर्ग खड़ा हो जाता है । विशेषाधिकार नई शकलमें लौट आते हैं । समानताको विपुलताके पीछे पड़कर कुर्बान कर दिया जाता है । यंत्र-विज्ञानके युगका यह बेचैनी पैदा करनेवाला पहलू है कि आम लोगोंकी नजरमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी "कीमत दिनोंदिन घटती जा रही है । [आर. ऑस्टिन फ्रीमैन, 'सोशियल डिके एण्ड रिजनरेशन', लन्दन, १९२१, पृ. ३४]

गांधीजीको आर्थिक प्रगतिसे नफरत नहीं थी । इसके विपरीत, वे तो यहां तक कहते थे कि भूखोंको ईश्वर दाल-रोटीके रूपमें ही दिखाई दे सकता है । "गरीबोंके लिए जो आर्थिक है वही आध्यात्मिक है" । [यंग इंडिया, ५ मई १९२७, पृ. १४२] उनसे आधुनिक प्रगतिकी बात करना, उनके सामने ईश्वरका नाम लेना उनका अपमान करना है । अगर हम उनसे ईश्वरकी चर्चा करेंगे, तो वे आपको और मुझे राक्षस कहेंगे । उन्हें ईश्वरका अगर कुछ भी ज्ञान है, तो वह आतंक और

प्रतिशोधका ईश्वर और निर्दय अत्याचारी ईश्वर ही है ।" [यंग इंडिया, १५ सितम्बर १९२७, पृ. ३१३] अपने ढंगसे उन्होंने आम लोगोंको जीवनके कुछ अधिक भौतिक साधन दिलानेके लिए जितना प्रयत्न किया उतना दूसरे किसीने नहीं किया । इतना जरूर था कि वे भौतिक आवश्यकताओंकी वृद्धिको ही प्रगतिकी एकमात्र कसौटी माननेसे इनकार करते थे और जब भौतिक तथा नैतिक वस्तुओंके बीच संघर्ष होता तब वे भौतिकको नैतिक वस्तुसे पहले नहीं रखते थे ।

जो बात आर्थिक पहलूकी है वही यंज्ञ-विज्ञानसे सम्बन्धित पहलूकी है । किसी अति आधुनिक नगरमें जीवन कई अत्यावश्यक सेवाओं पर निर्भर करता है । उनमें से कोई एक असफल हो जाय, तो लोग अपने घरोंमें उतने ही असहाय हो जायंगे जितना चूहा जहर डाले हुए बिलमें असहाय हो जाता है; और यदि वह सेवा जल्दी ही फिरसे चालू न हो जाय, तो सारा शहर कब्रस्तान बन जायगा । बिजलीके बन्द हो जानेसे प्रत्येक घर अन्धकारमें डूब जायगा । टेलीफोन, परिवहन, लिफ्ट, दूध, अन्न तथा पानीकी व्यवस्था और हवा तककी गतिविधि अचानक ठप हो जायगी । स्टुअर्ट चेज़ द्वारा चित्रित इस भयानक चित्रमें अतिशयोक्ति नहीं है : "किसी दिन कोई कटु मजदूर-आन्दोलन या कोई छोटासा भी मुख्य उद्योगमें काम करनेवाला मजदूर-समूह सचमुच शहरी जीवनकी किसी नाड़ीको काट सकता है । किसी दिन दो व्यवसाय-मंडलोंकी कशमकशसे कोई नाड़ी कट सकती है । किसी दिन भूकम्पसे ऐसी कई नाड़ियां कट सकती हैं, लेकिन इस भूकम्पसे गांवोंमें कोई खास हानि नहीं होगी ।" [स्टुअर्ट चेज़, 'मैन एण्ड मशीन्स', न्यूयॉर्क, १९२९, पृ. ३००] वे पूछते हैं: "इन सेवाओंके यंत्र-विज्ञान सम्बन्धी कामकाजको और उनके पारस्परिक सम्बन्धोंको कौन समझता है ? कहां हैं ऐसे आदमी, . . . कहां है वह केन्द्रीय बुद्धि, जो इन नाड़ियोंके बन्द हो जाने पर किसी बड़े नगरकी सेवा कर सके ?" और वे ही उत्तर देते हैं : "कहीं नहीं । . . . इसकी समस्याएं इतनी ज्यादा पेचीदा हैं कि किसी एक मनुष्यको या किसी एक छोटे समूहको उनकी पकड़ नहीं हो सकती ।" [वही, पृ. २९६] हमें समुचित प्रमाणोंके साथ बताया गया है कि किसी सारे शहरके जीवनको ठप करनेके लिए जरूरी मनुष्योंकी संख्या

"एक प्रतिशत आबादीके बहुत छोटेसे भाग" [वही, पृ. २९९] से अधिक होनेकी आवश्यकता नहीं । बढ़ती हुई एकांगी विशेषज्ञतासे और विद्युत्-शक्ति, बाहरसे आनेवाले ईंधन तथा बाहरसे आनेवाली खाद्य-सामग्री पर निर्भर रहनेसे गांवोंमें भी सासुदायिक आत्म-निर्भरता तेजीसे नष्ट हो रही है और उसीके साथ साधारण मनुष्यकी अपने लोकतान्त्रिक अधिकारोंके लिए लड़नेकी क्षमता भी क्षीण हो रही है । जहां इतने अधिक लोग इतने थोड़े लोगोंकी दया पर जीते हैं, वहां न तो चुनावकी कोई सच्ची आजादी हो सकती है, न काम करनेकी ।

ऐसी आर्थिक और यंत्र-विज्ञान सम्बन्धी दुर्बलताकी बुनियाद पर लोकतन्त्र और शान्तिकी इमारत खड़ी नहीं की जा सकती । जो राष्ट्र बाहरसे आनेवाली खाद्य-सामग्री पर आधार रखते हैं, उन्हें सदा यह डर बना रहता है कि उनकी जीवन-धाराओंको कोई भी विदेशी शत्रु राष्ट्र काट सकता है । इससे लोगोंमें असुरक्षितताकी भावना, डरकी मनोवृत्ति पैदा होती है, जिसका तानाशाह और युद्ध-व्यवसायी किसी संकटके समय आसानीसे अनुचित लाभ उठाकर लोगोंको भावोन्मत्त बना सकते हैं । इसके फलस्वरूप वे अपने चिरपोषित आदर्शोंको ताकमें रखकर युद्धकालीन सर्वसत्तावादी कार्य-क्षमताकी वेदी पर अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी बलि चढ़ाने तथा यंत्र-पुरुषोंकी तरह दूसरोंको मारने और स्वयं मरनेके लिए तैयार हो जाते हैं । यंत्र-विज्ञानकी उन्नतिसे वास्तवमें व्यक्तिकी स्वतन्त्रता कम हुई है । सामान्य व्यक्तिके सामने व्यक्तिगत या राष्ट्रीय सुरक्षा और अर्ध-गुलामीके बीच चुनावका सवाल खड़ा होता है, तब वह ज्यादातर अर्ध-गुलामीको ही पसन्द करता है । इसीलिए आल्डस हक्सलेने कहा है : "अनेक मोर्चों पर प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली गई है; परन्तु . . . मनुष्यकी और उसकी स्वतन्त्रताओंकी लगातार पराजय ही हुई है ।" [आल्डस हक्सले, 'सायंस, लिबर्टी एण्ड पीस', न्यूयॉर्क, १९४६, पृ. ३]

अन्तमें लोगोंकी स्वतन्त्रताओंकी एकमात्र पक्की गारंटी तो अन्याय और बुराईका सामना करनेकी उनकी क्षमता ही है । आल्डस हक्सले कहते हैं : "अत्यन्त गैर-जिम्मेदार तथा मूढ़ आशावादी, इतिहास और मनोविज्ञानके तथ्योंसे जान-बूझकर हठपूर्वक आंखें बन्द कर लेनेवाला व्यक्ति ही यह मान सकता है कि जो लोग एक तरफ तो केवल यह जानते हैं कि सरकार

सर्वशक्तिमान है और दूसरी तरफ यह कि आम लोगोंको राज्य और उसके प्रतिनिधियों पर निर्भर रहना चाहिये और इसलिए उनके सामने दब कर चलना चाहिये, वे स्वतन्त्रताके कागजी आश्वासनोंका – ऐसे आश्वासनोंका जिनको राजनीतिक और आर्थिक सत्ताकी यथार्थताओंका समर्थन प्राप्त नहीं है – आदर करेंगे ।" [वही, पृ. २२] गांधीजी कहते थे कि स्वाधीनताकी सच्ची कसौटी साधारण मनुष्यको "इस बातका भान होना है . . . कि अपने भाग्यका विधाता वह स्वयं है ।" [यंग इंडिया, १३ फरवरी १९३०, पृ. ५२] वास्तविक स्वाधीनता "थोड़ेसे आदमियोंके हाथमें अधिकार आ जानेसे नहीं परन्तु अधिकारका दुरुपयोग होने पर उसका विरोध करनेकी क्षमता सबको प्राप्त होनेसे तथा आम लोगोंको यह समझानेसे आयेगी कि सत्ताका नियमन और नियन्त्रण करनेकी उनमें शक्ति है । [यंग इंडिया, २९ जनवरी १९२५, पृ. ४१]

परम्परागत लोकतन्त्र जनताके इस जन्मजात अधिकारको मानता है कि जब लोकतन्त्रकी व्यवस्थाका दुरुपयोग किया जाता हो तब लोग सत्ताधारियोंके विरुद्ध हिंसक विद्रोह भी कर सकते हैं । परन्तु यंत्र-विज्ञानकी उन्नतिसे छोटे छोटे समूहों और वर्गोंके हाथमें सत्ताका भयंकर केन्द्रीकरण हो गया है । इसलिए जिनके हाथमें राज्यतंत्रका नियन्त्रण है वे आज जनताके प्रतिरोधको दबा देनेके लिए दमनके सफल साधनोंसे जितने सुसज्जित हैं उतने उनके पूर्वज पहले कभी नहीं थे । उन्हींके हाथमें सामूहिक प्रसारके समस्त साधन – अखबार, रेडियो, सिनेमा आदि भी हैं, जिनसे वे आम लोगों पर जादू डालकर उनके विचारों पर भी नियन्त्रण कर सकते हैं । इनका मुकाबला करनेके लिए लोगोंके पास ऐसी कोई चीज नहीं है । किसी समय उनके पास जो शक्तियां थीं वे अब यन्त्र-विज्ञानकी उन्नतिके कारण पुरानी और बेकार हो गई हैं।

नतीजा यह है कि जहां लोकतांत्रिक शासन नहीं होता या दबा दिया गया है अथवा अन्य किसी तरह तोड़ दिया गया है, वहां लोगोंके पास अपनी स्थिति सुधारनेका, अन्याय-निवारणका कोई प्रभावशाली उपाय रह नहीं जाता । उनकी एकमात्र आशा इस संभावना पर रहती है कि सत्ताका सामना ऐसे स्तर पर भी किया जा सकता है जहां यंत्र-विज्ञानकी श्रेष्ठताका कोई महत्त्व नहीं होता । और यह उपाय अहिंसक प्रतिरोध या सत्याग्रहका ही हो सकता है । गांधीजीने एक

बार कहा था : "अंग्रेजोंके पास संहारक हथियार हैं, हमारे पास ऐसे हथियार नहीं हैं । हमें उनसे ऐसी भूमिका पर लड़ना चाहिये जिसमें हम तो अपने हथियारोंका उपयोग कर सकें, परन्तु वे अपने हथियारोंका उपयोग न कर सकें" – अर्थात् अहिंसक असहयोग तथा सत्याग्रहके हथियारोंसे उनके साथ हमें लड़ना चाहिये । परन्तु आम लोगोंके सफल सत्याग्रहकी पहली शर्त तो यह है कि सत्याग्रहके नेताओंने बुनियादी आध्यात्मिक संयमकी साधना की हो और साधारण सत्याग्रहियोंका बुद्धिपूर्वक, हेतुपूर्वक और ज्ञानपूर्वक चलाई हुई रचनात्मक प्रवृत्तिके द्वारा अहिंसक संगठन कर लिया हो । दूसरी शर्त यह है कि सत्याग्रह करनेवाले लोगोंमें से कमसे कम काफी बड़ी संख्या बड़े पूंजीपतियों, बड़े मालिकों या "सबके मालिक – राज्य " पर निर्भर रहे बिना किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर सकती हो । इसके लिए यह जरूरी है कि उनके पास खेतीके लिए अपनी जमीन हो और उन्हें अनेक धन्धे आते हों, ताकि संकटके समय उन्हें अपनी और अपने आश्रितोंकी आजीविकाके साधनोंके अभावमें दबा कर झुकाया न जा सके ।

इसलिए गांधीजीने आध्यात्मिक मूल्योंको पुन:स्थापित करनेकी हिमायत की । यह छोटी छोटी, काबूमें रखी जाने योग्य, स्वशासन-भोगी इकाइयोंके आधार पर समाजके पुनर्गठन और जीवन-तन्त्रको जड़से ही सादा बना देनेका उपाय था । इन इकाइयोंमें ग्रामीण समुदाय अपनी बुनियादी जरूरतोंके मामलेमें अपने अपने क्षेत्रमें आत्म-निर्भर रहेंगे और उनके हाथमें प्रभावशाली राजनीतिक सत्ता रहेगी । विल्फ्रेड वेलॉक कहते हैं : "प्रादेशिक व्यवस्थामें ही मनुष्य अपनी अधिकसे अधिक स्वतन्त्रता सिद्ध कर सकता है । सचमुच प्रादेशिक व्यवस्थाकी आज तीव्र आवश्यकता खड़ी हो गई है । वह व्यक्तिकी स्वतन्त्रता और मानवतापूर्ण समाजकी प्राप्ति और रक्षाकी अनिवार्य शर्त बन गई है । [विल्फ्रेड वेलॉक, 'ए मेकेनिस्टिक ऑर ए ह्यूमन सोसायटी', पृ. २६]

गांधीजीने लिखा है:

ग्राम-स्वराज्यकी मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतोंके लिए अपने पड़ोसियों पर भी निर्भर नहीं करेगा; और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतोंके लिए – जिनमें दूसरोंका सहयोग अनिवार्य होगा – वह परस्पर सहयोगसे काम लेगा । इस तरह हरएक गांवका पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरतका तमाम अनाज और कपड़ेके लिए पूरी कपास खुद पैदा कर ले । . . . इसके बाद भी अगर गांवकी जमीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके; यों वह गांजा, तम्बाकू, अफीम वगैराकी खेतीसे बचेगा । जहां तक हो सकेगा, गांवके सारे काम सहयोगके आधार पर किये जायंगे । . . . सत्याग्रह और असहयोगकी कार्य-पद्धतिके साथ अहिंसाकी सत्ता ही ग्रामीण समाजका शासत-बल होगी । गांवकी रक्षाके लिए ग्राम-सैनिकोंका एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाजिमी तौर पर बारी-बारीसे गांवके चौकी-पहरेका काम करना होगा । इसके लिए गांवमें ऐसे लोगोंका रजिस्टर रखा जायगा । गांवका शासन चलानेके लिए हर साल गांवके पांच आदमियोंकी एक पंचायत चुनी जायगी । इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यतावाले गांवके बालिग स्त्री-पुरुषोंको अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें । इन पंचायतोंको सब प्रकारकी आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे । चूंकि इस ग्राम-स्वराज्यमें आजके प्रचलित अर्थोंमें सजा या दंडका कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिए यह पंचायत अपने एक सालके कार्यकालमें स्वयं ही धारासभा, न्यायसभा और कार्यकारिणी सभाका सारा काम संयुक्त रूपसे करेगी । इस ग्राम-शासनमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधार रखनेवाला सम्पूर्ण प्रजातन्त्र काम करेगा । व्यक्ति ही अपनी इस सरकारका निर्माता भी होगा । उसकी सरकार और वह दोनों अहिंसाके नियमके वश होकर चलेंगे । अपने गांवके साथ वह सारी दुनियाकी शक्तिका मुकाबला कर सकेगा, क्योंकि हरएक देहातीके जीवनका सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गांवकी इज्जतकी रक्षाके लिए मर मिटे । [हरिजन, २६ जुलाई १९४२, पृ. २३८]

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गांव पड़ोसियों पर या संसार पर निर्भर नहीं रहेंगे अथवा उनके द्वारा स्वेच्छापूर्वक दी जानेवाली सहायता नहीं ले सकेंगे । "यह पारस्परिक बलोंकी मुक्त और स्वेच्छापूर्ण क्रिया होगी ।" [हरिजन, २८ जुलाई १९४६, पृ. २३६]

> ऐसा समाज अनगिनत गांवोंका बना होगा । उसका स्वरूप एकके ऊपर एकके ढंग पर नहीं बल्कि लहरोंकी तरह एकके बाद एककी शकलमें होगा । जिन्दगी मीनारकी शकलमें नहीं होगी, जहां ऊपरकी तंग चोटीको नीचेके चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है । वहां तो समुद्रकी लहरोंकी तरह जिन्दगी एकके बाद एक घेरेकी शकलमें होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा । यह व्यक्ति हमेशा अपने गांवके खातिर मिटनेको तैयार रहेगा । गांव अपने इर्दगिर्दके गांवोंके लिए मिटनेको तैयार होगा । इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगोंका बन जायगा, जो उद्धत बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं और अपनेमें समुद्रकी उस शानको महसूस करते हैं जिसके वे एक अंग हैं । इसलिए सबसे **बाहरका घेरा या दायरा अपनी ताकतका उपयोग भीतरवालोंको कुचलनेमें नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उनसे ताकत पायेगा** । . . . (उसमें) न कोई पहला होगा, न कोई आखिरी । [वही] (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

गांधीजीकी रायमें ऐसा समाज "अवश्य ही सुसंस्कृत होता है ।" [वही] उसमें "प्रत्येक पुरुष और स्त्रीको यह मालूम रहता है कि उसे क्या चाहिये; और वे यह भी जानते हैं कि किसीको ऐसी चीजकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, जो दूसरोंको उतनी ही मेहनतसे न मिल सके । [वही]

अंतमें यह समाज "स्वभावत: सत्य और अहिंसा पर आधारित होगा और ये दोनों . . . ईश्वरमें सजीव श्रद्धाके बिना संभव नहीं हैं । ईश्वरसे मेरा मतलब है एक स्वयंभू, सर्वज्ञ चेतन शक्ति, जो संसारकी सब शक्तियोंमें विद्यमान है, जो किसी पर निर्भर नहीं है और जो तमाम दूसरी शक्तियोंके मिट जाने या निष्क्रिय हो जाने पर भी जीवित रहेगी ।" [वही]

कहा जाता है कि जी. डी. एच. कोलने एक बार ये उद्गार प्रकट किये थे कि इंग्लैण्डमें साधारण मनुष्य किसी शहरी जिला परिषद्से बड़ी इकाईमें असरकारी लोकतंत्रकी रक्षा कर सकता है या नहीं, इसमें मुझे शंका है । लॉर्ड नॉर्थबोर्नका कहना है कि अगर हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रताको रखनेके लिए, न कि खोनेके लिए, किसी प्रकारका मानवीय शासन चाहिये, तो उसका आधार "छोटी छोटी नियंत्रणमें रखी जाने योग्य ठोस प्राथमिक इकाइयोंके अस्तित्व पर रखना होगा । ये इकाइयां स्वत: संश्लिष्ट और स्वयंपूर्ण होंगी । इन्हींकी बड़ी इकाइयां बनाई जा सकती हैं । वे भी सु संश्लिष्ट और स्वयंपूर्ण होंगी ।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टू दि लैंड', लन्दन, १९४०, पृ. १८५]

प्राणवान लोकतंत्रका विकास आपसके अर्थपूर्ण सम्बंधों और स्वयं-प्रेरणासे होनेवाले संगठन द्वारा ही हो सकता है । ये सम्बंध और संगठन उन लोगोंमें स्थापित होते हैं, जो अपनी मूलभूत समस्याएं आपसके सहयोगसे हल करनेके लिए स्थानीय स्तर पर इकट्ठे होते हैं । ऐसे समुदायमें आत्म-निर्भरता और सुरक्षा जब पड़ोसियोंके सहयोगसे सिद्ध होती है तब उसमें स्थानीय शक्ति और एकताकी प्रबल भावना पैदा होती है और समाजके प्रति व्यक्तिकी जिम्मेदारीकी भावना और उसकी भलाईकी चिन्ता अत्यंत उत्कट हो जाती है । सामुदायिक विकासके एक अमरीकी विशेषज्ञ क्लाइड ई. मरेने बताया है कि "क्षेत्रिय अथवा राष्ट्रीय तथा आन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर किये जानेवाले कार्योंके लिए व्यक्तियों और मंडलोंकी चिन्ता तब तक प्राणवान और चिरस्थायी नहीं हो सकती जब तक कि उसका आधार स्थानीय समस्याओंमें सक्रिय सहयोग न हो । यदि लोग स्थानीय प्रश्नोंके बारेमें उदासीन हैं और एक-दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बंध नहीं रखते, तो व्यापक क्षेत्रमें प्राणवान लोकतंत्रका होना असंभव है ।" [सी. ई. मरेका उद्धरण, 'कम्युनिटी सर्विस न्यूज', मार्च-अप्रैल १९४८]

आज तो लोकतंत्रकी बुनियादें विनियुक्त यंत्र-विज्ञानके आघातसे चूर चूर हो रही हैं । लोकतंत्रके सामने जो चुनौती है उसके समक्ष यदि उसे जीवित रहना है और टूट नहीं जाना है, तो उसकी बुनियादोंको पुनः मजबूत बनाना होगा । लोकतंत्रकी बुनियादें ये हैं : (१) लुप्त हो चुके

व्यक्तित्वका बुद्धिपूर्वक किया जानेवाला विकास तथा "ज्ञानचक्षु खुलनेके बाद शरीर और इन्द्रिय-व्यापारकी सच्ची पहचान;" (२) मनुष्यकी शक्तिके अनुरूप सामाजिक व्यवस्थाकी पुनर्रचना जिसमें मनुष्यके व्यक्तित्वकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो सके; तथा (३) जड़-चेतन जगतके साथ मनुष्यके सम्बन्धोंमें ज्ञान और विज्ञानके साथ परमात्माकी पहचान ।

एलबर्ट ग्लीज़ेस कहते हैं कि "व्यक्तिकी क्षमताके अनुकूल कोई व्यवस्था हो, जिसमें 'साधारण मनुष्य' डूब नहीं जाता और उसे सौंपे हुए कार्यभागमें दिलचस्पी ले सकता है, तो वह गांव ही है; क्योंकि उसमें अपनी सूझसे कुछ काम करनेकी और व्यक्तिगत प्रभाव रखनेकी गुंजाइश रहती है ।... वही सच्ची मातृभूमि है ।... वह अनाक्रमणकारी है और सामान्य मानवकी शक्तिके अनुकूल है ।" इस कारण वे कहते हैं कि समाजके "अग्रगण्य लोगोंका यह परम कर्तव्य है कि वे गांवकी शरीर और आत्मा दोनों दृष्टियोंसे पुन-र्रचना करें ।" [आल्बर्ट ग्लीजेज़, 'लाइफ एण्ड डेथ ऑफ दि क्रिश्चियन वेस्ट', लन्दन, १९४७, पृ. ९६]

९

क्या यह यंत्र-विज्ञान और प्रगतिके परिणामोंको अस्वीकार करना नहीं होगा ? गांधीजीसे एक बार पूछा गया था : "क्या आप भारतका उद्योगीकरण नहीं करेंगे ?"

उन्होंने उत्तर दिया: "मैं उद्योग शब्दके अपने अर्थके अनुसार जरूर ऐसा करूंगा ।"

"तब तो आप प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्थाकी दिशामें वापिस लौट जायंगे ?"

"हां ... परन्तु मैं गांवोंका उद्योगीकरण अलग ढंगसे कर रहा हूं ।" [हरिजन, २७ फरवरी १९३७, पृ. १८]

उसमें यंत्रोंका क्या स्थान होगा ? गांधीजी बोले : "सबके लाभके लिए किये गये विज्ञानके हर आविष्कारका मैं आदर करूंगा ।" [हरिजन, २२ जून १९३५, पृ. १४६] "प्रत्येक ऐसे यंत्रके लिए स्थान है, जो प्रत्येक व्यक्तिको सहायता पहुंचाता है ।" [हरिजन, २८ जुलाई १९४६, पृ. २३६]

परन्तु इसमें उन यंत्रोंके लिए कोई स्थान नहीं होगा, जो मानव-श्रमको हटाकर थोड़ेसे लोगोंके हाथोंमें सत्ता केन्द्रित कर देते हैं। "सभ्य और सुसंस्कृत मानव-परिवारमें श्रमका अनोखा स्थान है।" [वही]

गांधीजी यंत्र मात्रके विरोधी नहीं थे, परन्तु यंत्रोंकी विवेकहीन वृद्धिके विरोधी थे। वे "यंत्रोंकी बाहरी विजय" से प्रभावित होनेसे इनकार करते थे। वे कहते थे : "सादे औजारों और साधनोंका और ऐसे यंत्रोंका, जिनसे व्यक्तिके श्रममें बचत होती है तथा करोड़ों कुटीर-निवासियोंका भार हलका होता है, मैं स्वागत करूंगा।" [यंग इंडिया, १७ जून १९२६, पृ. २१८]

दूसरे शब्दोंमें, जैसा कि उन्होंने एक युवा प्रश्नकर्ताको समझाया था, वे "यंत्रोंके पीछे पागल होने" के विरुद्ध थे। "यह पागलपन जिन्हें श्रम बचानेवाले यंत्र कहा जाता है उन यंत्रोंके लिए है। . . . समय और श्रम मैं जरूर बचाना चाहता हूं, परन्तु मानव-जातिके एक छोटेसे भागके लिए नहीं, बल्कि सबके लिए। धनका एकत्रीकरण मैं भी चाहता हूं, परन्तु कुछ लोगोंके हाथोंमें नहीं, बल्कि सब लोगोंके हाथोंमें। आज तो यंत्र केवल थोड़ेसे लोगोंको करोड़ोंकी पीठ पर सवार होनेमें ही मदद करते हैं। इस सबके पीछे मानव-दयाकी वृत्तिसे श्रम बचानेकी प्रेरणा नहीं है, परन्तु लोभ है। मैं इसी व्यवस्थाके खिलाफ अपनी सारी ताकत लगा कर लड़ रहा हूं।" [यंग इंडिया, १३ नवम्बर १९२४, पृ. ३७८]

गांधीजीसे प्रश्न किया गया : "तब आप यंत्रके विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके दुरुपयोगके विरुद्ध लड़ रहे हैं। और दुरुपयोग तो आज उसका बहुत ज्यादा होता दिखाई दे रहा है।"

उन्होंने उत्तर दिया : "मैं निःसंकोच 'हां' कहूंगा। परन्तु मैं यह भी कहूंगा कि सबसे पहले वैज्ञानिक सत्य और शोधें लोभके साधन नहीं रहने चाहिये। तब मजदूरोंको शक्तिसे ज्यादा काम नहीं करना पड़ेगा और यंत्र बाधक होनेके बजाय सहायक बन जायंगे। मेरा लक्ष्य सभी यंत्रोंका नाश करना नहीं, बल्कि उनकी मर्यादा बांधना है।" [वही]

एक और प्रश्न गांधीजीसे यह किया गया : क्या तर्कको अंत तक ले जाने पर इसका यह गूढ़ार्थ नहीं होगा कि शक्ति-संचालित कोई भी अटपटे यंत्र नहीं रहने चाहिये ? उत्तरमें उन्होंने स्वीकार किया कि ऐसे यंत्र जाने चाहिये । "पर एक बात मुझे यहां स्पष्ट कर देनी चाहिये । सर्वोपरि विचार मनुष्यका होना चाहिये । ऐसा नहीं होना चाहिये कि यंत्र मनुष्यके हाथ-पैरोंको बेकार बनाने लग जायं । . . . व्यक्तिका ही सबसे अधिक महत्त्व माना जाना चाहिये । व्यक्तिकी मेहततको बचाना उनका ध्येय होना चाहिये और लोभके बजाय प्रामाणिक मानव-कल्याण उनका हेतु होना चाहिये ।" [वही]

गांधीजीने कहा : जब मुनाफाखोरी और मानव-शोषण नहीं रहेंगे तब लोगोंको आजादी होगी कि वे ग्राम-समुदायको आत्म-निर्भर बनाने और उत्पादन बढ़ानेके लिए जो यंत्र जरूरी हों उन्हें गांवोंमें दाखिल करे । शर्त यह होगी कि उत्पादन मुख्यतः उपयोगके लिए हो, न कि दूसरोंके शोषणके लिए । जब तक इस शर्तका पालन होता रहेगा तब तक "ग्रामवासी जिन्हें बना सकें और जिनका उपयोग उनको पुसाये ऐसे आधुनिक यंत्रों और औजारोंका भी वे उपयोग करें तो किसीको आपत्ति नहीं होगी ।" [हरिजन, २९ अगस्त १९३६, पृ. २२६] मैं "बुद्धिपूर्वक अपवाद" भी कर दूंगा । उदाहरणके लिए, सिंगरकी सिलाईकी मशीनको ले लीजिये । "यह उन थोड़ीसी उपयोगी चीजोंमें से एक है, जिनका आज आविष्कार किया गया है । . . . सिंगरने अपनी पत्नीको अपने ही हाथोंसे सीने और कपड़ोंको जोड़नेकी थका देनेवाली प्रक्रिया पर श्रम करते देखा और केवर पत्नीके प्रति अपने प्रेमके कारण उसने सिलाईकी मशीन खोज निकाली । . . . उसने . . . उसीका श्रम नहीं बचाया, परन्तु ऐसे सब लोगोंका श्रम बचा दिया, जो सिलाईकी मशीन खरीद सकें ।" [यंग इंडिया, १३ नवम्बर १९२४, पृ. ३७८] इसी तरह छापेखाने जारी रहेंगे और हमें साइकलों तथा शस्त्रक्रियाके साधनोंकी भी जरूरत रहेगी । "ये सब यंत्र और साधन हाथसे कैसे बनाये जा सकते हैं ? इनके लिए भारी यंत्रोंकी आवश्यकता होगी ही ।" [हरिजन, २२ जून १९३५, पृ. १४६-४७] इसी तरह "सार्वजनिक उपयोगका जो काम मानव-श्रमके द्वारा नहीं कराया जा

सकता," उसके लिए भी भारी यंत्रोंका अपना "अनिवार्य स्थान" [वही, पृ. १४६] रहेगा । परन्तु गांधीजीने कहा कि वे इतना आग्रह रखनेकी हद तक समाजवादी अवश्य हैं कि लोगोंकी बड़ी संख्याको काममें लगानेवाले ऐसे समस्त भारी उद्योगोंका "या तो राष्ट्रीयकरण हो या उन पर राज्यका नियंत्रण हो" और वे "अत्यंत आकर्षक और आदर्श स्थितिमें मुनाफेके लिए नहीं परन्तु मानव-समाजके लाभके लिए" [यंग इंडिया, १३ नवम्बर १९२४, पृ. ३७८] काम करें ।

ऐसे समुदायमें समाज यंत्रों और संगठनका जो स्तर अपनायेगा, वह लोगोंकी बदलती हुई जरूरतोंके अनुसार, जीवनके वांछित मापदण्डके अनुसार और बदलती हुई परिस्थितियोंके अनुसार समय समय पर और स्थान स्थान पर भिन्न होगा । मार्गदर्शक सिद्धान्त हमेशा यह रहेगा कि कीमती और पेचीदा यंत्रों या प्रक्रियाओंको जारी करके समाजकी आत्म-निर्भरताको घटाया ना जाय और वे लोगोंकी बुद्धि और समझमें उतर सकें । साथ ही उन यंत्रोंका खरीदना व्यक्तिगत या सामूहिक रूपमें लोगोंकी आर्थिक शक्तिके बाहर न हो ।

अन्नकी आत्म-निर्भरताका जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व कुदरती शक्तियोंमें – कोयला, बिजली, तेल आदिमें – क्षेत्रीय आत्म-निर्भरता सिद्ध करनेका है । जैसा कि आल्डस हक्सलेने बताया है, असीम शक्तिके नये स्त्रोतोंकी शोधमें इतनी विशाल मात्रामें पूंजी लगानेकी अथवा कच्चे मालका उपयोग करनेकी जरूरत होती है कि बहुत थोड़े लोग ही यह सब खर्च कर सकते हैं और इस कारणसे यह शोध लोकतंत्र, स्वतंत्रता और शांतिके लिए सहायक सिद्ध होनेके बजाय पहलेसे चल रही भयंकर आन्तर-राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाको तथा निर्बलों पर सबलोंके प्रभुत्वको अधिक तीव्र बनायेगी । इसका प्रमाण मध्यपूर्वमें महान सत्ताओंकी तेलके लिए होनेवाली प्रतिस्पर्धासे और "तेलकी कूटनीतिके" अशुभ लक्षणसे मिलता है । अणुशक्तिसे यह स्थिति और भी खराब हो जायगी ।

चूंकि मैं खुद गांवोंमें बिजलीकी सुविधा पैदा करनेके विचारसे बहुत प्रभावित था, इसलिए पूनाकी हमारी पिछली नजरबंदीके समय मैंने कई बार इसके लिए गांधीजीका समर्थन प्राप्त

करनेकी कोशिश की । गांधीजी पहले कह चुके थे कि हर झोंपड़ीमें बिजली समान रूपसे दी जा सके, तो कमसे कम सिद्धान्तके तौर पर ग्रामोद्योगोंको बिजलीसे चलाने पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी । "लेकिन उस स्थितिमें ग्राम-समाज या राज्य बिजली-घरोंका वैसे ही स्वामी होगा, जैसे वह चरागाहोंका होता है ।" [हरिजन, २२ जून १९३५, पृ. १४६] परन्तु खेतीकी बात दूसरी है । जो कारण पहले समझाये गये हैं और आगे जो दूसरे कारण बताये जायंगे उन पर विचार किया जाय, तो बिजलीसे चलनेवाले यंत्रोंका स्थायी अर्थ-व्यवस्थामें* खेतीके लिए यदि कोई उपयोग होगा भी तो बहुत थोड़ा ही हो सकता है । परन्तु ऐसा मालूम होता है कि गांधीजीने अपनी स्वीकृतिके साथ जो शर्त लगा दी थी उसे वे केवल "सिद्धान्तकी दृष्टिसे सत्य किन्तु अव्यावहारिक सलाह" मानते थे । मैं गांवोंके विद्युतीकरणके विचारके लिए उनमें कभी उत्साह पैदा नहीं कर सका । उन्होंने कहा : मैंने अपनी स्वीकृति पर जो शर्तें लगाई हैं, उन्हें मैं अधिकसे अधिक महत्त्व देता हूं । मुझे डर है कि विद्युतीकरणके उत्साही लोग अपनी सुविधाके लिए गांवोंकी उपेक्षा कर देंगे । शायद उनका यह भी खयाल था कि एक बार बिजलीने गांवोंमें पैर जमा लिये तो फिर उसके उपयोगको किसी पूर्व-निश्चित मर्यादाके भीतर रख सकना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होगा । उदाहरणके लिए, यदि रोशनी और भोजन बनानेके लिए बिजलीका उपयोग किया जाय, तो फिर सिंचाईके लिए, आटा पीसनेके लिए, चावल कूटनेके लिए या तिलहनसे तेल निकालनेके लिए उसका उपयोग क्यों न किया जाय ? और क्या भारतके पांच लाख गांवोंके विद्युतीकरणका काम देशका सर्वांगीण उद्योगीकरण किये बिना और आत्म-निर्भर गांवोंकी सारी अर्थ-व्यवस्था पर हानिकारक असर डाले बिना पूरा किया जा सकता है ? तर्ककी अपनी सारी शक्ति खर्च करनेके बाद मैं उनसे अधिकसे अधिक इतनी ही स्वीकृति ले सका कि जिन्हें विद्युतीकरणमें विश्वास है उनका काम है कि मेरी शंकाएं दूर करें और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दें कि सबसे कमजोर आदमीको भी हानि पहुंचाये बिना गांवोंमें बिजली ले जाई जा सकती है । उन्होंने कहा, जहां तक मेरा सम्बंध है, मैंने जो काम पहलेसे हाथमें ले रखे हैं उन्हींके लिए अभी बहुत-कुछ करना बाकी है ।

गांधीजीका कहना था: जिस समाजमें से शोषण और मुनाफाखोरी निकल गई हो, उसकी स्वाभाविक वृत्ति यह होगी कि जो भी काम हाथसे अधिक अच्छा किया जा सकता है और जो काम श्रमिकको आरोग्यवर्धक और सन्तोषप्रद ढंगकी रोजी देता है, उसके लिए यंत्रोंका स्थान हस्त-उद्योगोंको दिया जाय । मनुष्यके हाथमें जो उच्च कक्षाकी कुशलताएं निहित हैं, उनके विकासकी और उत्पादनकी गतिको तीव्र बनानेके लिए जो औजार काममें लिये जा रहे हैं उनकी कार्य-क्षमताको बढ़ानेकी कोई सीमा नहीं है । इस प्रकार एक व्यक्तिके उत्पादनमें होनेवाली जरासी वृद्धिको भी लाखों गुनी कर देनेसे राष्ट्रीय सम्पत्तिमें जो शुद्ध वृद्धि होगी, वह करोड़ों रुपये खर्च करके बिजलीसे चलनेवाले भीमकाय कारखाने खड़े करनेसे होनेवाली बुद्धिकी अपेक्षा कहीं ज्यादा होगी । यदि मनुष्य और पशुकी सारी मेहनतका पूरा पूरा उपयोग करनेके बाद और कुछ करना बाकी रह जाय, तो लोगोंको अधिकार होगा कि वे आवश्यक यांत्रिक शक्तिका उपयोग करें । उदाहरणके लिए, मान लीजिये कि कोई ग्राम या ग्रामोंका समूह एक सड़क, बांध या जलाशय बनाना चाहता है, या धरतीकी रक्षाके लिए ढालू जमीन पर पाल बनाना चाहता है, तो उसे यह विचार करनेका अधिकार होगा कि उस कामको पूरा करनेमें लगनेवाले आवश्यक श्रमको बचानेकी दृष्टिसे यंत्रों अथवा श्रम बचानेवाले उपकरणोंका उपयोग किया जाय या नहीं और किया जाय तो किनका किया जाय । अनिवार्य शर्त यह है कि इसका निर्णय खुद लोग ही करें ।

इस व्यवस्थामें चुनावका स्वाभाविक क्रम यह होगा कि पहले हवा, पानी, ज्वार और घूपकी शक्तिका उपयोग किया जाय । बाहरसे लाई जानेवाली बिजली अथवा ईंधनकी शक्तिका उपयोग तो अनिवार्य होने पर ही किया जाय । इस प्रकार वे गंदे पानीकी गैसका, जो मनुष्य और पशुके मल-मूत्रसे तैयार की जायगी, आजादीसे उपयोग करेंगे, यदि गांवोंमें यह काम किफायतसे किया जा सके; सूर्यतापसे जलनेवाले चूल्हों और बैटरियों तथा पवन-चक्कियों और जल-चक्कियोंका भी उपयोग किया जा सकेगा, यदि वे मानव और पशुके श्रमकी पूर्ति करें और उसे हटानेका या शहर पर गांवकी निर्भरताको बढ़ानेका काम न करें ।

इस रचनामें खेती और उद्योग साथ साथ चलेंगे । ग्रामवासियोंके दैनिक उपयोगकी चीजें अथवा उनके गृह-उद्योगोंमें काम आनेवाली चीजें गांवोंमें ही बना ली जायंगी । बची हुई पैदावार ही शहरोंमें भेजी जायगी और वह भी न्यायपूर्ण आधार पर प्राप्त होनेवाली सेवाओं और मालके बदलेमें । शहरोंमें तैयार किया हुआ माल गांवों पर लाद देनेके बजाय शहर गांवोंकी पैदावारके बिक्री-भंडारोंका काम करेंगे । यंत्रोंका सर्वथा त्याग नहीं किया जायगा । इसके विपरीत, लोगोंके पास आजसे कहीं ज्यादा यंत्र होंगे । परन्तु ये यंत्र सीधे-सादे होंगे, जिन्हें लोग खुद ही चला सकेंगे और खुद ही व्यक्तिगत रूपमें या सामूहिक रूपमें उनके मालिक होंगे । समाज ऐसे छोटे छोटे घटकोंका बना होगा, जिनकी आसानीसे व्यवस्था की जा सके; और वे सहयोगके आधार पर एक-दूसरेसे सम्बद्ध होंगे । वह ऐसी दुनिया होगी जिसे साधारण आदमी भी समझ सकेंगे और इसलिए जिसका अच्छी तरह नियंत्रण कर सकेंगे । इस छोटीसी दुनियाकी सीमायें संकरी तो होंगी, परन्तु उसकी स्वतंत्रताकी सीमायें बढ़ जायंगी । इस व्यवस्थामें व्यवसाय और उद्योग-धन्धे खेतीके अधीन होंगे, खेती उनके अधीन नहीं होगी ।

एक बार विज्ञान और यंत्रोंके उपयोगके बारेमें अपनी दृष्टि स्पष्ट करते हुए गांधीजीने ये उद्गार प्रगट किये थे : “एक साधारण बुद्धिके आदसीके नाते मैं जानता हूं कि मनुष्य उद्योगके बिना नहीं रह सकता । इसलिए मैं उद्योगीकरणके विरुद्ध नहीं हो सकता । परन्तु यंत्र-उद्योग आरंभ करनेके बारेमें मुझे बड़ी चिन्ता है । यंत्र बहुत ही तेजीसे उत्पादन करते हैं और अपने साथ एक ऐसी आर्थिक व्यवस्थाको लाते हैं, जिसे मैं समझ नहीं सकता । मैं किसी ऐसी चीजको स्वीकार नहीं करना चाहता, जिसके दुष्परिणाम मुझे दिखाई देते हैं और जो उस भलाईसे अधिक हैं जो कि उसके साथ आती है **। मैं चाहता हूं कि हमारे देशके करोड़ों मूक लोग स्वस्थ और सुखी हों और मैं चाहता हूं कि वे आध्यात्मिक दृष्टिसे आगे बढ़ें । अभी तक यह हेतु साधनेके लिए हमें यंत्रोंकी आवश्यकता नहीं है** । हमारे देशमें बेशुमार लोग बेकार हैं । परन्तु जब हमारी समझ बढ़ेगी तब यदि हमें यंत्रोंकी जरूरत मालूम होगी तो हम उन्हें जरूर रखेंगे । हमें उद्योग चाहिये; हम उद्योगी बनें । हम अधिक स्वावलम्बी बन जायं; उसके बाद हम दूसरे लोगोंके नेतृत्वमें इतने

ज्यादा नहीं चलेंगे । अगर हमें यंत्रोंकी जरूरत होगी तो समय आने पर हम उन्हें दाखिल करेंगे । एक बार हमने अहिंसाके आधार पर अपना जीवन बना लिया, तो हमें मालूम हो जायगा कि यंत्रों पर नियंत्रण कैसे रखा जाता है ।" [गांधीजीका उद्धरण, एम. एन. चटर्जी, 'कम्युनिटी सर्विस न्यूज', सितम्बर-अक्तूबर १९४६, पृ. ४] (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

जब गांधीजी १९३१ में इंग्लैण्ड गये थे तब एक अमरीकी पत्र-प्रतिनिधिने अनेक प्रश्नोंके अन्तमें उनसे पूछा था : "तो आप यंत्रोंका विरोध सिर्फ इसलिए, और तभी, करते हैं जब वे उत्पादन और वितरणको मुट्ठीभर लोगोंके हाथोंमें केन्द्रित करते हैं ?"

गांधीजीने उत्तर दिया : "आप ठीक कहते हैं । मुझे विशेषाधिकार और एकाधिकारसे घृणा है । जो चीज आम लोगोंको नहीं मिल सकती, वह मेरे लिए निषिद्ध है । इसमें सब-कुछ आ जाता है ।" [हरिजन, २ नवम्बर १९३४, पृ. ३०३]

आधुनिक विज्ञानके दो पहलू हैं – शिक्षात्मक अथवा मूलभूत और आर्थिक या शिल्प-विज्ञान सम्बन्धी । मूलभूत पहलूमें विज्ञान एक दिक्षात्मक और मुक्तिदायक बल रहा है । उसने सत्यको कट्टरताके बंधनोंसे मुक्त किया है । सत्यका यह पहलू गांधीजीके व्यक्तित्वमें जितना मूर्त होता था उतना शायद और किसी जीवित व्यक्तिमें नहीं होता था । गांधीजीसे अधिक अथक प्रयत्न अन्य किसीने वह बौद्धिक प्रामाणिकता साधनेके लिए, वस्तुनिष्ठ सत्यका – जो अपनी ही मान्यताको सच माननेके अंधाग्रहसे सर्वथा भिन्न हैं — वह अनासक्त परीक्षण और शोध करनेकी आदत डालनेके लिए नहीं किया, जो वैज्ञानिक अनुशासनके लिए आवश्यक है; न अन्य किसीने गांधीजीसे अधिक प्रयत्न जन-साधारणमें जीवनकी हर वस्तुको वैज्ञानिक दृष्टिसे देखने-परखनेकी भावना उत्पन्न करनेके लिए किया । उन्होंने चरखेको "विज्ञानका सर्वोपयोगी स्वरूप" बताया था । आर्थिक दृष्टिसे गांधीजी चरखेको आम लोगोंकी मानसिक जड़ता पर विजय पानेका और उनकी बुद्धि तथा आविष्कार-शक्तिको तीव्र करनेका उत्तम साधन समझते थे । असहयोग आन्दोलनके शुरूमें जब लाखों लोगोंने चरखेको और उसके साथ जुड़ी हुई प्रक्रियाओंको अपना

लिया था और गांवकी सबसे बूढ़ी महिलासे ले कर छोटेसे छोटे बच्चे तकके हाथमें तकली या पींजन थी और वे सब सोचने लगे थे कि इन औजारोंमें सुधार कैसे किया जाय, तब एक बार गांधीजीने उल्लसित होकर कहा था : "साधारण लोगोंमें आविष्कारकी वृत्ति जितनी तेजीसे इस समय काम कर रही है उतनी तेजीसे उसने कभी काम नहीं किया ।" मैं इस बातको कभी भूल नहीं सकता कि जब उन्होंने यह उद्गार प्रगट किया था तब उनका सारा चेहरा कैसा खिल उठा था और उनकी आंखोंमें कैसी चमक आ गई थी ।

हेनरी फोर्डने अपने व्यक्तिगत संस्मरणोंकी पुस्तक 'माई लाइफ एण्ड वर्क' में लिखा है कि कैसे एक बार जब उनके पास किसी देशसे ट्रेक्टरोंकी मांग आई तो उन्होंने ट्रेक्टरोंके बदले मोटर-ट्रकें भेज दी थीं । उन्होंने समझाया कि "लोगोंको तेज गतिकी मनोवृत्तिवाले बसानेके लिए मैंने ऐसा किया था । एक बार वे समयकी कीमत समझने लग जायंगें, तो मुझे विश्वास है कि वे बहुत ज्यादा ट्रेक्टर चाहेंगे ।" और परिणामसे साबित हो गया कि उनका यह विचार ठीक था । मोटर-ट्रकोंके बाद ही उनके पास ट्रेक्टरोंकी जितनी मांग शुरूमें आई थी उससे कहीं बड़ी मांग आ गई । गांधीजीको यह आशा थी कि चरखे और उसके साथ जुड़ी हुई सब प्रक्रियाओंके पुनरूद्धारसे शिल्प-विज्ञानमें एक नई क्रान्तिका सूत्रपात होगा और उससे आविष्कारोंकी वैसी ही चमत्कारी परम्परा शुरू होगी जैसी औद्योगिक क्रान्तिसे हुई थी । परन्तु उसका रूप दूसरा होगा । वे आविष्कार औद्योगिक क्रान्तिके दुष्परिणामोंको सुपरिणामोंमें बदल देंगे ।

आल्डस हक्सलेका कहना है कि मान लीजिये आविष्कारकों और इंजीनियरोंका यह हेतु है कि वे व्यावहारिक विज्ञानका उपयोग करके आम लोगोंके लिए "लाभदायक और वास्तवमें सार्थक काम करनेके तथा स्त्री-पुरुषोंको अपने मालिकोंसे स्वाधीनता प्राप्त करनेमें मदद देनेके साधन जुटा दें, ताकि वे स्वयं अपने माल्कि बन सकें अथवा आजीविका और स्थानीय क्रय-विक्रयके लिए काम करनेवाले एक स्वशासन-भोगी सहकारी मंडलके सदस्य हो सकें ।" इसके समर्थनमें उपयुक्त कानून बन जाने पर "यंत्र-विज्ञानकी इस भिन्न स्वरूप लेनेवाली प्रगति" का फल यह होगा कि "जनसंख्याका, भूमिकी सुलभताका, उत्पादनके साधनोंके स्वामित्वका और

राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ताका दिनोंदिन विकेन्द्रीकरण होता चला जायगा ।" इसके अतिरिक्त "यह सामाजिक लाभ होगा कि अधिक लोगोंको मानव-दृष्टिसे अधिक सन्तोषप्रद जीवन मिलेगा, अधिक मात्रामें सच्चा स्वशासन-भोगी लोकतंत्र प्राप्त होगा और उस बेहूदा या हानिकारक प्रौढ़शिक्षासे सुखद मुक्ति मिलेगी जो उपभोक्ताओंके मालका बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवाले लोग विज्ञापनोंके जरिये जनताको देते हैं ।" [आल्डस हक्सले, 'सायंस, लिबर्टी एण्ड पीस', न्यूयॉर्क, १९४६, पृ. २८-२९] इससे विज्ञानको भी लाभ होगा । जब विज्ञान व्यवसायकी चीज बन जाता है तब उसकी प्रगति रुक जाती है ।

अब तक विज्ञान और यंत्र-विज्ञानका उपयोग ज्यादातर मजबूतीसे जमी हुई सत्ताओंके हितमें – बड़े उद्योगपतियों, बड़े पूंजीपतियों और कृत्रिम तथा स्वार्थपूर्ण जीवन बितानेवाले शहरी लोगोंके फायदेके लिए हुआ है । ग्रामीणोंको – किसानों, दस्तकारों और कारीगरोंको – तो उससे संयोगवश ही लाभ पहुंचा है । गांधीजीका लक्ष्य विज्ञान और यंत्र-विज्ञानको पहाड़ोंकी चोटीसे नीचे उतार कर मैंदानोंमें लाना था, जहां आम लोग रहते हैं, ताकि जन-साधारणको – छोटे उत्पादकोंको, जमीन तोड़नेवाले किसानोंको और अपनी झोंपड़ीमें बैठकर धंधा करनेवाले कारीगरोंको – उनका पूरा लाभ मिल सके ।

---

* स्थायी अर्थ-व्यवस्थाका अर्थ है ईश्वरकी दी हुई बख्शिशोंका अंधाधुंध उपयोग करके और उन्हें व्यर्थ नष्ट करके समृद्धिका भ्रम पैदा करनेवाली अर्थ-व्यवस्थासे भिन्न कुदरती तथा मानव साधन-सम्पत्तिकी रक्षा करके स्थायी समृद्धि प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेवाली अर्थ-व्यवस्था ।

१०

जबसे कांग्रेस अहिंसक सीधी कार्रवाईसे हटकर "राजनीतिक प्रवृत्ति" पर जोर देने लगी, तबसे गांधीजीको यह देखकर गहरी चिन्ता होती थी कि गांवों पर शहरोंका प्रभुत्व बढ़ रहा है । उन्होंने बार-बार यह घोषणा की थी कि सच्चा भारत "उसके मुट्ठीभर शहरोंमें नहीं बल्कि उसके

सात लाख गांवोंमें बसा हुआ है । परन्तु हम . . . नगर-निवासियोंकी मान्यता यह रही हैं कि भारत शहरोंमें ही बसा है और गांव तो हमारी जरूरतें पूरी करनेके लिए ही खड़े किये गये हैं ।" [हरिजन, ४ अप्रैल १९३६, पृ. ६३]

जिन्हें शिक्षाका लाभ मिला था उनकी उपेक्षाके कारण ग्रामवासियोंको दीर्घकालसे कष्ट भोगने पड़े थे । बुद्धिशाली वर्गने शहरी जीवन पसन्द कर लिया था । नगर-निवासी "आम तौर पर ग्रामजनोंका शोषण करते थे; वास्तवमें तो वे गरीब ग्रामवासियोंके निर्वाहके साधनों पर ही गुजर करते रहे हैं ।" [वही] किसी समय भारतके गांव कस्बों और शहरोंको उनकी जरूरतकी तमाम चीजें पैदा करके देते थे । "भारत गरीब और कंगाल तब बना जब हमारे शहर विदेशी बाजार बन गये और विदेशोंके सस्ते और भद्दे मालको देशमें ला ला कर भरने और गांवोंकी दौलत खींच कर ले जाने लगे । [हरिजन, २७ फरवरी १९३७, पृ. १८]

ग्रामवासियोंको "अज्ञान और संकुचित" कहनेका फैशन हो गया था । गांधीजी इस तरहकी बातें करनेवालोंको चुनौती देकर कहते थे कि वे गांवोंमें जाकर उस भोजन पर गुजर करें, जिस पर करोड़ों ग्रामीण गुजर करते हैं । "वह खुराक खाकर हम एक महीनेसे अधिक जीवित रहनेकी आशा नहीं रख सकेंगे या हमारी मानसिक शक्तियां खो देनेका भय पैदा हो जायगा ।" [हरिजन, ४ अप्रैल १९३६, पृ. ६४] फिर भी ग्रामीण तो प्रतिदिन और प्रतिवर्ष इसी अवस्थामें से गुजरता रहता है । गांधीजी कहते थे कि बुद्धिशाली वर्गोंने अपनी पिछली अवहेलनाके द्वारा ग्रामीणोंके साथ जो घोर अन्याय किया है, उसके प्रायश्चित्तका एकमात्र उपाय यह है कि वे ग्रामीणोंको उनके मृत उद्योगों और कलाओंको फिरसे जीवित करनेके लिए प्रोत्साहन दें और उनके मालकी बिक्री तत्परतासे करानेका उन्हें आदवासन दें । जब शहर यह समझ लेंगे कि उन्हें गांवोंसे जो बल और पोषण मिलता है उसका पूरा बदला चुकाना उनका कर्तव्य है और उन्हें स्वार्थी बन कर गांवोंका शोषण नहीं करना चाहिये, तभी दोनोंके बीच लाभदायक और नैतिक संबंध पैदा हो सकेगा ।" [हरिजन, ९ अक्तूबर १९३७, पृ. २९३]

भूतकालमें उद्योगवादका आधार सस्ते कच्चे मालके भंडारोंका लाभ उठानेकी उसकी क्षमता पर तथा अतिरिक्त तैयार मालको खपानेके लिए उपलब्ध प्रतिस्पर्धा-रहित विदेशी बाजारों पर रहा है । [गोलमेज परिषद्के दिनोंमें एक अमरीकी पत्र-प्रतिनिधि लन्दनमें गांधीजीसे मिला था । उससे उन्होंने कहा था : "आप देखते हैं कि ये राष्ट्र (यूरोप और अमरीका) संसारकी दुर्बल और असंगठित जातियोंका शोषण कर सकते हैं । एक बार ये जातियां प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करके निश्चय कर लें कि अब वे शोषित नहीं रहेंगी, तो वे उन्हीं चीजोंसे सन्तोष कर लेंगी जिन्हें वे स्वयं जुटा सकती हैं । तब कमसे कम जहां तक जीवनकी प्राणभूत आवश्यक वस्तुओंका सम्बन्ध है, सामूहिक उत्पादन खतम हो जायगा ।" – हरिजन, २ नवम्बर १९३४, पृ. ३०१] उद्योगीकरणकी दौड़के आरंभमें जो देश आगे निकल गये थे, उनके लिए यह आकांक्षा रखना ठीक ही था कि वे विश्वके कारखाने बन जायें । परन्तु गांधीजीने चेतावनी दी थी : संसारके सब भागोंमें तेजीसे जागृति उत्पन्न हो रही है, व्यापारकी प्रतियोगिता बढ़ रही है और एकके बाद दूसरे देशमें अपने अपने स्वदेशी उद्योगोंकी उन्नति हो रही है । इसलिए उद्योगीकरणकी दौड़में नये शामिल होनेवालोंके लिए यह काम उतना आसान नहीं होगा, क्योंकि उनके विरोधमें पुराने जमे हुए प्रतिस्पर्धी मौजूद होंगे । कुछ भी हो, भारत जैसे देशके लिए, जहां समस्या यह नहीं है कि उसके गांवोंके करोड़ों आदमियोंके लिए फुरसत कैसे जुटाई जाय, बल्कि यह है कि उनके बेकारीके समयका उपयोग कैसे किया जाय, उद्योगीकरणकी आवश्यकता ही नहीं है :

> पाश्चात्य अर्थमें भारतको उद्योग-प्रधान देश क्यों बनना चाहिये ? पश्चिमकी सभ्यता शहरी सभ्यता है । इंग्लैण्ड या इटली जैसे छोटे देशोंके लिए अपनी समाज-व्यवस्थाओंको शहरी बनाना शायद लाभदायक हो सकता है । बहुत छिछरी आबादीवाले अमरीका जैसे बड़े देशके लिए शायद दूसरा कोई चारा न हो । परन्तु एक बड़े देशको, जिसकी आबादी करोड़ोंकी हो, जिसकी प्राचीन ग्रामीण परम्परा हो और जिसका काम उस परंपरासे अब तक अच्छी तरह चला हो, पश्चिमी नमूनेकी नकल करनेकी जरूरत नहीं; उसे नकल नहीं करनी चाहिये । जो बात एक स्थितिवाले किसी राष्ट्रके लिए अच्छी है, वह भिन्न स्थितिवाले

दूसरे राष्ट्रके लिए भी अच्छी ही हो यह जरूरी नहीं। अकसर एक अदमीका भोजन दूसरेके लिए जहर होता है। . . . जो काम पूरा करना है उसके लिए जब करनेवाले लोग बहुत थोड़े हों तब यंत्रीकरण लाभदायी होता है। किन्तु भारतकी तरह जब काम करनेवाले लोग जरूरतसे अधिक हों तब यंत्रीकरण हानिकारक होता है। [यंग इंडिया, २५ जुलाई १९२९, पृ. २४४; और हरिजन, १६ नवम्बर १९३४, पृ. ३१६]

गांधीजीको यह डर था कि अगर भारतमें भारी उद्योगोंका बोलबाला हो गया, तो उसे अंतमें मजबूर होकर शोषणका आश्रय लेना पड़ेगा और वह "दूसरे राष्ट्रोंके लिए एक अभिशाप तथा संसारके लिए खतरा" बन जायगा। [यंग इंडिया, १२ नवम्बर १९३१, पृ. ३५५] औद्योगिक पद्धतिमें अति-उत्पादनकी वृत्ति स्वाभाविक ही होती है। यंत्र जितना अधिक उन्नत और लगानेमें जितना अधिक महंगा होगा, उतना ही मांगकी परवाह किये बिना उत्पादनके लिए उसकी पूरी शक्तिका उपयोग करनेके लिए हमें अधिक मजबूर होना पड़ेगा। कारण, यंत्र बेकार रखा जायगा, तो भी उस पर लगी हुई भारी पूंजीका ब्याज बढ़ता रहेगा। इसलिए उद्योगको या तो घाटा उठाकर माल बेचना होगा या अतिरिक्त मालको बेचनेके लिए नये बाजार खोजने पड़ेंगे। इससे जो व्यावसायिक प्रतियोगिता और बाजारोंके लिए संघर्ष पैदा होगा, उसका परिणाम आन्तर-राष्ट्रीय संघर्ष और विस्तारवाद ही होगा। व्यापारके पीछे पीछे देशका झंडा भी जाता है। अन्तमें किसी देशकी विदेश-नीतिका निर्णय उसके घोषित आदर्शों या नारोंसे न होकर उसकी उत्पादन-प्रणालीकी अटल जरूरतोंसे होता है। गांधीजी कहते थे : "ईश्वर करे भारत कभी पश्चिमके ढंगके उद्योगवादको न अपनाये। एक ही छोटेसे द्वीपराज्य (इंग्लैण्ड) के आर्थिक साम्राज्यवादने सारे संसारको गुलामीकी जंजीरोंमें जकड़ रखा है। तब यदि ३० करोड़का समस्त राष्ट्र (भारत) इसी तरहके आर्थिक शोषणका मार्ग अपना ले, तो वह टिड्डीदलकी तरह सारी दुनियाका सफाया कर देगा।" [यंग इंडिया, २० दिसम्बर १९२८, पृ. ४२२]

और जो बात भारत पर लागू होती है, वही दुनियाके घनी आबादीवाले दूसरे देशों पर भी लागू होती है।

कभी कभी यह दलील दी जाती है कि शोषणका कारण उद्योगवाद नहीं परन्तु पूंजीवादी प्रणाली है । समाजवादी अर्थ-व्यवस्थामें उद्योगीकरणका उपभोग आम लोगोंकी सेवाके लिए – उन्हें घोर परिश्रमकी दासतासे मुक्त करनेके लिए – किया जायगा, न कि किसीके शोषणके लिए । गांधीजी इस विचारसे सहमत नहीं थे । उन्होंने कहा था : "पंडित नेहरू उद्योगीकरण चाहते हैं, क्योंकि उनका ऐसा खयाल है कि वह समाजवादी ढंगका होगा तो पूंजीवादकी बुराइयोंसे मुक्त रहेगा । मेरा अपना विचार यह है कि ये बुराइयां उद्योगवादके मूलमें ही हैं और उद्योगोंका कितना भी समाजीकरण क्यों ना किया जाय, फिर भी वे जड़से दूर नहीं हो सकतीं ।" [हरिजन, २९ सितम्बर १९४०, पृ. २९९]

आज हम देखते हैं कि अत्यंत उद्योग-प्रधान राज्य – फिर वे पूंजीवादी हों, समाजवादी हों या साम्यवादी हों – अपना औद्योगिक प्रभुत्व बढ़ानेमें एक-दूसरेसे होड़ लगा रहे हैं । पूंजीवाद और समाजवादमें यह "आर्थिक साम्राज्यवाद", उपनिवेशवाद और "अधीनस्थ देशों" तथा "शासनाधीन प्रदेशों" की प्राप्तिका रूप ग्रहण करता है, तो साम्यवादमें वह "रक्षित राज्यों" के रूपमें सामने आता है । सच तो यह है कि शोषणका कोई रूप इतना निर्दय और भयानक नहीं होता जितना कि जीवनके ऊंचे स्तरके पीछे पड़े हुए एक देशके सारे श्रमिक-वर्ग द्वारा किया जानेवाला दूसरे देशका शोषण । गांधीजीने यह चेतावनी दी थी : "आप कारखानोंकी सभ्यताके आधार पर अहिंसाका निर्माण नहीं कर सकते, परन्तु आत्म-निर्भर गांवोंके आधार पर उसका निर्माण किया जा सकता है । . . . मेरी कल्पनाकी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था शोषणसे सर्वथा मुक्त है; और शोषण हिंसाका सार है । इसलिए अगर आपको अहिंसक बनना हो, तो पहले ग्रामीण मनोवृत्तिका विकास करना होगा और ग्रामीण मनोवृत्तिका विकास करनेके लिए चरखेमें विश्वास "रखना होगा ।" [हरिजन, ४ नवम्बर १९३९, पृ. ३३१] और फिर कहा : "अहिंसा पर आधारित समाज गांवोंमें बसे हुए समूहोंका ही हो सकता है, जिसमें गौरवपूर्ण और शान्ति-मय जीवन जीनेकी शर्त होगी स्वेच्छापूर्ण सहयोग ।" [हरिजन, १३ जनवरी १९४०, पृ. ४१०-११]

गांधीजीके साथ ग्रामोद्योगोंकी लम्बी चर्चाके बाद पोलैण्डके एक मित्रसे कहा था : "गांधीजी समाजवादियोंसे भी अधिक क्रांतिकारी सुधारक हैं। समाजवादी श्रमिकोंके शोषणके विरुद्ध हैं; गांधीजी केवल इस बातके ही विरुद्ध नहीं हैं, वे तो इसके भी विरुद्ध हैं कि श्रमिक दूसरोंका शोषण करें।" [हरिजन, २९ अगस्त १९३६, पृ. २२६]

उद्योगीकरणके बजाय गांधीजी चाहते थे कि भारतमें ऐसे ढंगकी अर्थ-व्यवस्थाका विकास हो, जिसका आधार "अहिंसक धंधे" हों। अहिंसक धंधेकी व्याख्या उन्होंने यह की थी : "जो धंधा बुनियादी तौर पर हिंसासे अछूता हो" और जिसमें "दुसरोंका शोषण अथवा द्वेष न हो," [हरिजन, १ सितम्बर १९४०, पृ. २७१] वह अहिंसक धन्धा है। वे मानते थे कि एक समय ऐसा था जब भारतकी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाका आधार अहिंसक धंधे थे। जो लोग ये धंधे करते थे वे अपनी जीविका तो जरूर कमाते थे, परन्तु इन धंधोंका मूल आधार समाज-सेवाकी भावना थी। भार अधिकारों पर नहीं, किन्तु कर्तव्यों पर दिया जाता था। दूसरे शब्दोंमें, समाजका आधार लाभका हेतु नहीं परन्तु सेवाका हेतु था। इन धंधोंका हार्द शरीर-श्रम था और उनमें बड़े पैमाने पर कोई यंत्र नहीं थे। यह अर्थ-प्रणाली वास्तवमें शोषणहीन थी। "कारण, जब मनुष्यको उतनी ही जमीनका मालिक बननेसे सन्तोष हो, जिसे वह अपनी मेहनतसे जोत सके, तब वह दूसरोंका शोषण नहीं कर सकता। हाथ-उद्योगोंमें शोषण और गुलामीकी गुंजाइश ही नहीं होती।" [वही, पृ. २७२]

अन्याय इस प्रणालीमें भी हो सकता था। परन्तु उसे "कमसे कम किया जा सकता था। . . . लोगोंकी आंखोंमें अधिक तेज था और उनके हाथ-पैरोंमें अधिक शक्ति थी। . . . वह ऐसा जीवन था, जिसका आधार सहजात अहिंसा पर था।" [वही] गांधीजी मानते हैं : "वह जीवन बहुत अविकसित था। मैं जानता हूं कि उसमें मेरी परिभाषा और कल्पनाकी अहिंसा नहीं थी। परन्तु इसका बीज उसमें मौजूद था।" उनकी राय थी कि "भारतका ग्राम-प्रजातंत्र अहिंसा पर आधारित सभ्यताके अधिकसे अधिक निकट था।" [हरिजन, १३ जनवरी १९४०, पृ. ४११]

गांधीजीने अपने सपनोंके स्वराज्यकी व्याख्या इस प्रकार की थी कि उसमें "राजाओं और अमीरोंकी तरह ही गरीबोंको भी जीवनकी आवश्यक वस्तुएं प्राप्त होंगी।" [यंग इंडिया २६ मार्च १९३१, पृ. ४६-४७] उन्होंने समझाया था कि इसका मतलब यह नहीं कि उनके पास भी राजाओंकी तरह "महल" हों। "सुखके लिए महल जरूरी नहीं हैं। आप या मैं तो उनमें खो ही जायंगे। परन्तु आपको जीवनकी वे सारी सुविधाएं मिलनी चाहिये, जो एक धनवानको प्राप्त हैं।" [वही] गांधीजी चाहते थे कि भारतकी और सारी दुनियाकी संरचना ऐसी हो कि "उसमें अन्न-वस्त्रकी कमीका कष्ट किसीको भी नहीं भोगना पड़े। दूसरे शब्दोंमें, हरएक व्यक्तिको इतना काम मिल जाना चाहिये, जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह कर सके।" [यंग इंडिया, १५ नवम्बर १९२८, पृ. ३८१] और यह आदर्श उनकी रायमें सर्वत्र तभी पूरा हो सकता है "**जब जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताओंके उत्पादनके साधन आम लोगोंके नियंत्रणमें रहें। ये साधन सबको वैसे ही आजादीसे मिलने चाहिये, जैसे ईश्वरका दिया हुआ पानी और हवा मिलते हैं, या मिलने चाहिये। उन्हें दूसरोंके शोषणके लिए व्यापारका साधन नहीं बनाना चाहिये**।" [वही] (मोटे टाइप मैंने किये हैं।)

यही समाजकी वह समाजवादी रचना है, जो परश्चिमकी अंधी नकल न हो कर भारतकी प्राचीन परम्परा और संस्कृतिके अनुसार तथा जनताके स्वभाव और प्रतिभाके अनुकूल है और जिसे गांधीजी भारतके द्वारा सिद्ध कराना चाहते थे। [कुछ विद्यार्थियोंके उठाये हुए प्रश्नके उत्तरमें गांधीजीने कहा था : "वर्णाश्रम-व्यवस्था ऊंच-नीचके और पूंजी तथा श्रमके भेदका मेल बैठानेके साधनके सिवा और है ही क्या ? इस विषय पर पश्चिमसे जो भी चीज आती है उस पर हिंसाका रंग चढ़ा रहता है। मैं उसका विरोध करता हूं, क्योंकि मैंने वह बरबादी देखी है जो इस मार्ग पर चलनेसे अन्तमें होती है। . . . हमें अपनी पूर्वीय संस्थाओंका अध्ययन वैज्ञानिक जिज्ञासाकी भावनासे करना चाहिये। इस तरह हम ऐसे सच्चे समाजवाद और साम्यवादका निर्माण करेंगे, जिसकी संसारने कभी कल्पना भी नहीं की थी। यह मान लेना निश्चित रूपसे गलत है कि आम लोगोंकी गरीबीके सवार पर पश्चिमी समाजवाद या साम्यवाद वेदवाक्य हैं।" – अमृत बाजार

पत्रिका, ३ अगस्त १९३४ । एन. के. बोसकी 'सिलेक्शन्स फ्रॉम गांधी' नामक पुस्तकसे यह उद्धरण लिया गया है; पृ. ९३।] और यह उनका दृढ़ मत था कि कमसे कम जहां तक भारतका सम्बंध है, निकट भविष्यमें लोकतांत्रिक मूल्योंका बलिदान किये बिना उसे सिद्ध करनेका सबसे शीघ्र उपाय यही है कि देशमें ऐसी विकेन्द्रित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था खड़ी की जाय, जिसका आधार किसान-कारीगरोंके स्वशासन-भोगी ग्राम-समाज हों और जो अपनी आवश्यकताओंके बारेमें वैसी ही प्रादेशिक आत्म-निर्भरताका उपभोग हों जैसी हमारे देशमें किसी समय थी ।

११

लोकतंत्रका पौधा धीरे धीरे बढ़ता है । उसे धीरज, शान्ति, स्थिरता और स्थायी शक्तिकी जरूरत होती है । करोड़ों लोगोंकी दृष्टिसे कहा जाय तो उसके आवश्यक अंग अन्न, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य और व्यक्तिगत स्वतंत्रता हैं । निरा राजनीतिक लोकतंत्र हो और उसके साथ आर्थिक स्वाधीनता और समान वितरण न हो, तो वह एक मृगतृष्णा और भ्रमजाल ही साबित हो सकता है ।

पहले अन्नको ही लें । कृषि-विज्ञानमें जो अद्भुत खोजें हो चुकी हैं – श्रम बचानेवाली मशीनें, जो एक आदमीको अनेकका काम करनेकी शक्ति देती हैं, नयी खाद, कीटाणु-नाशक औषधियां और वे नई तथा अधिक शक्तिशाली फसलें जो ऐसी धरती पर और ऐसे जलवायुमें पनपती हैं जिन्हें पहले अत्यन्त प्रतिकूल समझा जाता था – उन सबके बावजूद दुनियामें अन्नकी पूर्ति उतनी तेजीसे नहीं बढ़ती जितनी तेजीसे उसकी जनसंख्या बढ़ रही है । और दुनियाकी भुखभरीके खतरेकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

बेशक, इसका आखिरी हल जनसंख्याका नियंत्रण ही है । [आबादीके प्रश्नसे सम्बन्धित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि ज्यॉग्राफी ऑफ हंगर' में जोसे डिकैस्ट्रोने यह सिद्ध किया है कि अधिक आबादी भुख-मरीका कारण नहीं होती, परन्तु भुखमरी अधिक आबादीका कारण होती है । उनके कथनानुसार जिन लोगोंको पर्याप्त पोषक भोजन नहीं मिलता, उन लोगोंमें प्रजनन-शक्ति निश्चित

रूपमें अधिक पाई जाती है ।] परंतु जनसंख्याके नियंत्रणकी पद्धति कुछ भी क्यों न चुनी जाय, एक बात स्पष्ट है । वह पद्धति ऐसी अर्थ-व्यवस्थाके साथ साथ चलनी चाहिये, जिससे धरतीकी उर्वरताको हानि पहुंचायें बिना अधिकसे अधिक लम्बे कालके लिए अधिकसे अधिक लोगोंका उपलब्ध भूमि पर स्वास्थ्य और उचित आरामके साथ निर्वाह किया जा सके । यह सिद्ध किया जा सकता है कि इसके लिए सबसे अनुकूल प्रणाली सघन व्यक्तिगत खेती है – जिसका आधार जीवन-प्रणालीके रूपमें पशु और मानव अर्थ-व्यवस्था हो और जिसकी पूर्ति गृह-उद्योगोंसे होती हो – न कि भारी उद्योगीकरणके गौण अंगके रूपमें बड़े पैमाने पर की जानेवाली सामूहिक यांत्रिक खेती ।

एफ. बाडे कहते हैं : खेतीमें "उत्पादन धरतीसे जुड़ा हुआ है, केवल इस एक कारणसे भी खेतीमें बड़े पैमानेके उत्पादनको वही श्रेष्ठता प्राप्त नहीं हो सकती जो उद्योगोंमें होती है ।" [डॉ. मिट्रानी, 'मार्क्स अगेन्स्ट दि पीज़ेंट्स', लन्दन, १९५२, पृ. १७७] छोटे व्यवसायोंमें कुछ सुविधाएं होती हैं जो बड़ोंमें नहीं होतीं । उदाहरणके लिए, बड़े फार्ममें मजदूरी पर ज्यादा खर्च करना पड़ता है और उसकी देखरेख कठिन होती है । बड़े पैमानेकी खेतीकी सफलताओंका लाभ "अधिकांशमें किसानोंकी छोटी खेतीके लिए भी बिलकुल आसानीसे उपलब्ध कराया जा सकता है ।" [वही] इसलिए कार्ल मार्क्सके विचारके विरुद्ध, धन-विकास अथवा केवल आर्थिक विकासके लिए नहीं किन्तु जीवन-विकासके साधनके रूपमें की जानेवाली खेतीका लाभ "पूंजीपति किसान" को उतना नहीं मिलता, जितना पारिवारिक खेतीमें लगे हुए छोटे किसानोंको मिलता है । "जब कभी सघन खेतीका, जानवरोंकी व्यक्तिगत देखभाल आदिका प्रश्न होता है, तब वैतनिक मजदूरों पर आश्रित बड़े पैमानेवाली खेतीको मुक्त बाजारमें छोटे किसानोंके उत्पादनसे स्पर्धा करना हमेशा कठिन होता है ।" [वही, पृ. १२८] इसीलिए एफ. बाडे अन्तमें कहते हैं : "कृषि-जीवन जीनेके लिए पश्चिममें ऐसी खेतीकी मांग निरन्तर बनी ही रही है, जिसमें सारा परिवार खेतीका काम करे ।" [वही]

इसीका समर्थन चीनी सघन खेतीके उन तथ्योंसे होता है जो जॉन लॉसिंग बककी पुस्तक 'लैण्ड युटिलाइज़ेशन इन चाइना' में दिये गये हैं। बकने बताया है कि जब खेत चार-पांच एकड़से छोटा होता है तब यद्यपि जमीनकी पैदावार घटने लगती है, लेकिन उसके बाद भी उस समय तक कुल पैदावार बढ़ती रहती है जब तक कि खेतका आकार २.६ एकड़ तक पहुंचता है। उसके बाद वह धीरे धीरे घटने लगती है। [रिचार्ड बी. ग्रेग, 'व्हिच वे लाइज़ होप ?', अहमदाबाद, १९५७, पृ. १३६-३७] परन्तु जब खेत इससे भी छोटे होते हैं "तब भी प्रति एकड़ पैदावार और इसलिए कुल पैदावार प्रति व्यक्तिके पीछे होनेवाली पैदावारकी घटतीसे कम होती है।" इसलिए किसानको जमीनसे चिपटे रहनेमें तब भी लाभ ही दिखाई देता है। इस कारणसे घनी आबादीवाले देशमें "समूची आबादीके खातिर पर्याप्त खुराककी व्यवस्था करनेके लिए ...घटती पैदावारके स्तरसे कहीं नीचे पहुंचनेके बाद भी" [वही, पृ. १३७] निर्वाहके लिए की जानेवाली खेतीको जीवन-विकासके हेतुसे आरंभ की हुई 'ऋषि-खेती' के रूपमें अपनाना और जमीनमें सघन खेती करना लाभदायक होता है।

प्रिन्स क्रोपॉटकिनने अपनी पुस्तक 'फील्ड्स, फैक्टरीज़ एण्ड वर्क-शॉप्स' में अपने प्रयोगोंके आधार पर यह सिद्ध किया है कि व्यक्तिगत, सघन, छोटे पैमानेकी खेतीसे जो आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं, उन पर विश्वास करना कठिन होता है। कृषि-सम्बन्धी पदार्थविज्ञान और भूमि-व्यवस्थाके महान अमरीकी निष्णात एफ. एच. किगने भी इसी तरह अपनी पुस्तक 'फार्म्स ऑफ फॉर्टी सेंच्यूरीज़' में लिखा है कि कैसे चीन, कोरिया और जापानमें जमीनके कसको सुरक्षित रख कर खेती करनेकी नीति अर्थात् संग्राहक नीतिके कारण बीस और शायद तीस या चालीस सदियोंके बाद भी धरतीसे "इतना उत्पादन कर लेना संभव हुआ है, जो इन देशोंकी वर्तमान अत्यन्त घनी आबादियोंके निर्वाहके लिए पर्याप्त होता है।" वे हमें बताते हैं कि लगभग प्रतिदिन वे और उनके साथी उन परिस्थितियों और रीति-रिवाजोंसे "ज्ञान, आश्चर्य और विस्मय प्राप्त करते थे" जो सर्वत्र उनके सामने आते थे; "ज्ञान इस बातका मिलता था कि किस ढंगसे और किस हद तक इन राष्ट्रोंने सदियों तक अपने प्राकृतिक साधनोंकी

रक्षा और उनका उपयोग किया है और अब भी कर रहे हैं; तथा आश्चर्य इस पर होता था कि वे अपने खेतोंसे अब भी कितनी बड़ी मात्रामें पैदावार कर लेते हैं ।" [प्रो. किंगने यह भी लिखा है : चीनके शाण्टुंग प्रान्तमें उन्होंने एक किसानको देखा, जिसके परिवारमें १२ आदमी थे । वह एक गधा और एक गाय, जो दोनों परिश्रम ही करनेवाले जानवर थे, और दो सूअर रखता था । उसके पास २.५ एकड़ जमीन थी, जिसमें वह गेहूं, बाजरा, शकरकंद और मटर बोता था । एक अन्य किसानका परिवार १० आदमियोंका था । उसका खेत १ ⅔ एकड़का था । वह एक गधा और एक सूअर रखता था]

और ये हैं वे पद्धतियां जो उन्होंने वहां प्रचलित देखीं : "जमीनके ऊपरी स्तरकी तथा निचले स्तरकी दोनों मिट्टियां लोग गांवोंमें ले जाते हैं और वहां दो फसलोंके बीचके समयमें जरूरतके अनुसार बड़ी मेहनतसे मनुष्य और पशुके मल-मूत्रके साथ उन्हें मिलाकर मिश्र खाद बनाई जाती है और बादमें अकसर सुखाकर उसकी बुकनी बना ली जाती है । फिर उसे वापस खेतोंमें ले जाकर घरकी बनी खादके तौर पर उसका उपयोग किया जाता है । सब प्रकारकी खाद, पशुओं और मनुष्योंकी, धार्मिक भावनासे बचा कर रखी जाती है और इस ढंगसे खेतोंमें दी जाती है कि हमारी पद्धतियोंकी अपेक्षा वह कहीं अधिक कार्यक्षम सिद्ध होती है ।" इस मानव मल-मूत्रके आर्थिक मूल्यके बारेमें किंगने लिखा है : "शंघाई नगरकी 'इन्टरनेशनल कन्सेशन' नामक संस्थानें * १९०८ में एक चीनी ठेकेदारको ठेका दिया । उसके अनुसार उसे एक वर्ष तक रोज सुबह ही घरों और सार्वजनिक स्थानोंमें जाकर मल-मूत्र उठा ले जानेका अधिकार दिया गया । इसके बदलेमें संस्थाको ७८,००० टन मल-मूत्रकी कीमतके रूपमें सोनेके ३१,००० से अधिक डालर मिले थे ।"

भारतमें मल-मूत्रकी खादका कुल मूल्य २३० करोड़ रुपये कूता गया है । इसी प्रकार भारतके विशाल पशुधनसे भी प्रतिवर्ष ९०० करोड़ रुपयेकी खाद मिलनेका अनुमान लगया गया है । यदि इसमें से २५ प्रतिशत खादकी भी रक्षा की जा सके, तो भारतके मानवों और पशुओंके मल-मूत्रसे मिलनेवाली कुल खादकी कीमत २८० करोड़ रुपये होगी ।

गांधीजीका कहना था कि अगर उचित भूमि-व्यवस्था हो [गांधीजी मानते थे कि जमीनके बारेमें जड़मूलसे सुधार होना चाहिये । उनको लगता था कि यह सुधार उनका संरक्षकताका सिद्धान्त लागू करनेसे हो सकता है । लेकिन यह सुधार कैसे किया जाय, इसकी कोई निश्चित पद्धति उन्होंने बताई नहीं थी । यह काम अब विनोबा भावेने कर दिया है ।] तो जमीनके कसकी रक्षा करनेवाली निर्वाहकी खेतीके द्वारा हमारे अपने ही साधनोंसे, जनसंख्याकी वर्तमान वृद्धिके बावजूद, हमारी सारी आबादीका काफी लम्बे समय तक निर्वाह हो सकता है, बशर्ते कि हम कुछ समयके लिए "प्रगति" के कुछ आडंबरोंका त्याग कर दें और अधिक महत्त्वकी वस्तुओंको प्रथम स्थान दें । तदनुसार उन्होंने मल-मूत्रका कम्पोस्ट (मिश्र) खाद बनानेकी प्रक्रियाको अपनी पुनर्रचना-सम्बन्धी योजनाओंकी बुनियाद बनाया और उसका आरंभ अपने आश्रमसे किया । खाइयों अथवा खड्डोंकी टट्टियां बनाना और भंगीका काम करना आश्रमके दैनिक कार्यक्रमका आवश्यक अंग था और आश्रमवासी बननेके इच्छुक प्रत्येक नवागंतुकको यह तालीम लेनी पड़ती थी ।

बड़े पैमानेकी यांत्रिक खेतीमें, जिसमें एककी एक फसल हर बार बोई जाती है और कृत्रिम खादकी सहायता ली जाती है, रुपया-आना-पाईकी दृष्टिसे खर्च कम आता है । उसमें जमीन पर रखे गये प्रत्येक मजदूरके हिंसाबसे पैदावार बहुत बढ़ जाती है । दूसरी ओर, निर्वाहके लिए खेती करनेवाला किसान मालीकी तरह आवश्यकतानुसार हर पौधे पर अलग अलग ध्यान देता है । मशीन यह काम नहीं कर सकती । वह विवेक नहीं रख सकती । इसलिए निर्वाहकी खेतीमें प्रत्येक घटकमें होनेवाली अधिकतम पैदावार अन्य किसी भी पद्धतिसे अधिक होती है । [भारतके भूतपूर्व अमरीकी राजदूत चेस्टर बाउल्सने अपनी पुस्तक 'एम्बेसेडर्स रिपोर्ट' (न्यूयॉर्क, १९५४) में कहा है : " यह दलील कि एक-एक मालिकके हाथमें जमीनके छोटे-छोटे टूकड़े होनेसे कम उत्पादन होगा, बिलकुल सही नहीं है । इसमें अमरीकामें प्रति टन उत्पादनके खर्चको तथा प्रति एकड़ उत्पादनकी मात्राको एक ही चीज समझ लिया जाता है । हमने इस काल्पनिक बातको मान लिया है, क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीकामें, जहां जमीन बहुत है और मजदूर कम और महंगे

हैं, हमते भीमकाय यंत्रोंसे बड़े पैमाने पर खेती करनेकी पद्धतिको बहुत लाभप्रद पाया है । परंतु लोग आइलैण्डका एक किसान पर्याप्त खाद देकर और सघन खेती करके दो एकड़ अच्छी जमीनमें ट्रेक्टरकी मददसे बड़े पैमानेकी खेती करनेवाले नॉर्थ डेकोटाके एक किसानसे प्रति एकड़ अधिक गेहूं पैदा कर सकता है ।" (पृ. १७५)] और उस सूरतमें वह कहीं अधिक होती है जब आम लोगोंके प्राथमिक कल्याणकी दृष्टिसे मूल्यांकन किया जाता है – जो श्रमिक उसमें रंगे हुए हैं उन्हें और जिस आबादीकी वह सेवा करती है उसे प्राप्त होनेवाले स्वास्थ्य और जीवन-शक्तिकी दृष्टिसे मूल्यांकन किया जाता है । एक खेती शोषण करनेवाली है; दूसरी रक्षक है । एकसे त्वरित गतिसे ऊपरी विपुलता बढ़ती है, परन्तु बादमें तेजीसे धरतीका कस उतरता जाता है; दूसरी स्थिरता और निरन्तर फल देनेवाली है ।

विकल्पके तौर पर, मान लीजिये कि आधी आबादीको जमीनसे हटा कर जमीनका बोझ घटानेके लिए उद्योगमें लगा दिया जाय । एल्मर पेण्डल द्वारा प्रस्तुत तथ्योंके अनुसार जब जमीन प्रति व्यक्ति ५.५ एकड़ उपलब्ध थी तब उससे जितनी पैदावार होती थी उसकी उपरोक्त स्थितिमें ६८ प्रतिशात ही रह जायगी । परिणाममें अगर आबादीका खुराकके साथ अनुपात ऐसा हो कि सारी ग्रामीण और औद्योगिक आबादीको खेतीकी ६८ प्रतिशत पैदावारसे सन्तोषपूर्वक खिलाया जा सके, तब तो यह योजना अच्छी तरह काम करेगी । इसमें यह "मान लिया गया है कि कारखानोंका माल प्रतिवर्ष बिक जाया करेगा ।" परन्तु यदि यह ६८ प्रतिशत पैदावार सारी आबादीके लिए काफी न हुई, तो परिणाम यह होगा कि सभी भूखे रहेंगे । "हां, यदि कारखानोंके मालका दूसरे देशोंसे अन्न खरीदनेके लिए उपयोग किया जाय तो बात दूसरी है ।" [रिचार्ड बी. ग्रेग, 'व्हिच वे लाइज़ होप ?', अहमदाबाद, १९५७, पृ. १३६-३७] परन्तु इसकी संभावना संदिग्ध है । बढ़ती हुई प्रतियोगिताके कारण विदेशी बाजारोंमें तैयार माल बेच सकनेकी अनिश्चितताको छोड़ दें, तो भी अधिक अन्न उत्पन्न करनेवाले देशोंसे निर्यातके लिए अन्न मिलनेकी संभावना तेजीसे घटती जा रही है, क्योंकि संसारकी आबादीमें निरन्तर स्वाभाविक वृद्धि हो रही है । इस प्रकार कमसे कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि भूमिका भार कम करने और लोगोंका

जीवन-स्तर ऊंचा उठानेके लिए तेजीसे उद्योगीकरण करनेका उपाय अपनाना एक खतरनाक जुआ ही सिद्ध होगा ।

इस तरह यह स्पष्ट है कि सघन, छोटे पैमानेकी, विविध फसलोंवाली खेतीकी जीवन-प्रणाली अपनाई जाय और उसे सहायक गृह-उद्योगोंका सहारा हो, तो यह खेतीकी पैदावारसे अधिकसे अधिक जनसंख्याको खिलाने और उसके स्वास्थ्यको टिकाये रखनेका सबसे विश्वस्त और कारगर उपाय है । केवल इसी पद्धतिसे "उद्योगों और खेतीमें घनिष्ठ सम्बन्ध" स्थापित हो सकता है तथा भारतके लिए आवश्यक धंधोंकी वह विविधता प्राप्त हो सकती है, जिससे खेती "वर्षाऋतुका जुआ" न बन जाय और उत्पादक तथा उपभोक्ता परस्पर-विरोधी हितोंवाले संघोंमें एकत्र होनेके बजाय समान हितोंवाले संघमें मिलकर काम कर सकें । इसके विपरीत, जब खेतीको कृषि-सहकारियों, ग्रामीण ऋण और क्रय-विक्रमकी सुविधाओं आदि उपायोंका ही सहारा देनेकी कोशिश की जाती है, तब परस्पर-विरोधी हितोंवाले संघोंका ही जन्म होता है । परन्तु इस प्रणालीमें शहरोंके उपयोगके लिए गांवोंसे अन्न खरीद लेना उतना आसान नहीं होता और यह व्यापारिक हेतुओंके लिए पैदावारकी बड़ी मात्रामें व्यवस्था करनेके लिए अनुकूल नहीं है । इसमें किसानोंकी तरफसे प्रचण्ड विरोध होनेकी भी संभावना रहती है, यदि काल्पनिक सिद्धान्तोंके पीछे पड़ कर किसानोंकी जीवन-प्रणालीमें अविचारपूर्ण तथा अनुचित हस्तक्षेप किया जाय या किसानोंको हानि पहुंचा कर शहरियोंको लाभ पहुंचानेका प्रयत्न किया जाय । स्वभावतः यह प्रणाली धनलोलुप पेशेवर नियोजकों और नियंत्रित अर्थ-व्यवस्थाके समर्थकोंको पसंद नहीं होती ।

---

* शंघाई शहरका वह भाग जहां विभिन्न राष्ट्रोंके लोगों पर चीनका कानून लागू नहीं होता, परन्तु उनके अपने देशका कानून लागू होता है ।

१२

पशु और मानव केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था पर आधारित निर्वाहकी खेतीका ही अविभाज्य अंग है हस्त-उद्योगों और सहायक गृह-उद्योगोंका प्रश्न । खेती संसारमें कहीं भी स्वयंपूर्ण धंधा नहीं है । निर्वाहकी खेतीमें किसान और उसके परिवारको बारहों महीने काम नहीं मिल सकता । उसके सहारेके लिए सहायक गृह-उद्योगोंकी जरूरत होती है । साथ ही हमारे जैसे देशमें – जहां खेतीबाड़ी और धरतीके स्वास्थ्यका आधार पशुओं और मानवोंके बीच समुचित संतुलन बनाये रखने पर होता है, पशुधनकी रक्षा एक बुनियादी जरूरत बन जाती है । और इस बातको आर्थिक दृष्टिसे लाभदायी बनानेके लिए मनुष्यों और पशुओं दोनोंको बहुविध कार्य करनेवाले बनना पड़ता है । इसका विकल्प यह है कि ज्यों ही पशुओंको पालना आर्थिक दृष्टिसे घाटेका सौदा बन जाय, त्यों ही उनका वध कर दिया जाय । पर इस देशमें प्रचलित धार्मिक भावना ऐसा कभी होने नहीं देगी । इसलिए जो पशु जमीनको जोतते हैं उन्हें उसे उर्वर भी बनाना चाहिये और जब वे खेतीके काममें न लगे हों तब वे खूंदकर अनाज निकालें, आटा पीसें, तेलघानी चलायें, कुओंसे पानी खींचे और परिवहनका काम करें । इसी तरह मनुष्योंको जब खेतीका काम न रहे तब अपने खेतकी पैदावारसे वे विविध प्रकारकी खाने योग्य चीजें बनायें, हस्त-उद्योग चलायें और दूसरे गृह-उद्योगोंमें लगे रहें । गांधीजी कहते थे कि यह काम यदि बुद्धिपूर्वक किया जाय, तो इससे उनकी मानसिक शक्तियोंका भी विकास होगा और सदा बैलोंके साथ रह कर वे मार्खमके शब्दोंमें "बैलके भाई" नहीं बन जायंगे ।

इसका अर्थ यह है कि गांवके पशुओं और मानवों दोनोंको यांत्रिक शक्तिकी प्रतियोंगितासे बचाया जाय । पशु-केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था ट्रेक्टर, डीजल इंजन या बिजलीके पंपके हमलेके सामने जीवित नहीं रह सकती ।

अब हम जीवनकी दूसरी जरूरत – कपड़ेको लें । इसकी समस्या इतनी कपड़ा-मिलोंके बावजूद अभी तक हल नहीं हुई है । १९५१ में भारतमें प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष ११.५ गज कपड़ा

उपलब्ध था और योजना-आयोग अधिकसे अधिक इतना ही वचन दे सका था कि वह अपनी पहली पंचवर्षीय योजनाके अन्तमें प्रति मनुष्य १५ गज कपड़ा प्रतिवर्ष दे सकेगा और दूसरी पंचवर्षीय योजनाके अंतमें १८ गज कपड़ा दे सकेगा । यह अनुमान लगाया गयाहै कि २० सेर रुई या ७० सेर कपाससे १,४६० मानव-घंटोंमें ८४० गज सूतवाली ४८० से ५१२ तक सूतकी गुंडियां मिलती हैं । इस प्रकार पांच आदमियोंके परिवारका प्रत्येक व्यक्ति कातने और साथकी प्रक्रियाओंमें ४८ मिनट रोज खर्च करके या सारा परिवार सामूहिक रूपमें रोज चार घंटे खर्च करके इतना सूत तैयार कर सकता है, जिससे १२१ वर्ग गज कपड़ा बुना जा सकेम । इससे प्रत्येक व्यक्तिको २४ गज कपड़ा प्रतिवर्ष मिल जायगा ।

और यह कोई सैद्धान्तिक अनुमान नहीं है । सेवाग्रामकी बुनियादी शालाके लगभग १४ वर्षकी आयुवाले ७ वीं श्रेणीके बच्चोंने ९४७ मानव-घंटोंमें ६० वर्ग गज कपड़ा तैयार किया था । (इसमें रुई साफ करनेसे ले कर तैयार कपड़ेकी उत्पत्ति तककी सारी प्रक्रियाएं शामिल थीं ।) दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो प्रति व्यक्ति १५ गज कपड़ा यदि घर पर तैयार कर लिया जाय, तो ५ आदमियोंके परिवारको ३ घंटे ४५ मिनट या हर व्यक्तिको ४५ मिनट रोज देने पड़ेंगे । इसलिए गांधीजीने कताई और उसके साथ लगी हुई प्रक्रियाओंको अपनी बुनियादी शिक्षा-प्रणालीकी बुनियाद बनाया और यह भी नियम कर दिया कि भारतके हर नागरिकको एक अल्पतम मात्रामें प्रतिदिन “कताई-यज्ञ” करना ही चाहिये और इसे वैसे ही राष्ट्रीय कर्तव्य समझा जाय जैसे इंग्लैण्डमें तैरनेको समझा जाता है ।

किसी भी वस्तुको सार्वत्रिक बनाना हो तो सादगी उसका प्राण होनी चाहिये । भारतकी अन्न-वस्त्रकी बुनियादी समस्याओंके गांधीजी द्वारा प्रस्तुत हलकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह बहुत ही सीधा-सादा है । उसमें पूंजीका खर्च लगभग नगण्य है । पूंजी-व्ययकी तुलनामें उत्पादनका अनुपात चरखेमें कपड़ा-मिलसे कहीं ऊंचा है । थोड़ीसी तालीमके बाद प्रत्येक पुरुष, स्त्री, बच्चा और बीमार तथा अपंग व्यक्ति तक कताईमें लग सकता है । इसके अतिरिक्त, हाथकी कताईमें घटिया दर्जेकी रुईसे भी ऊंचे नंबरका सूत काता जा सकता है । चूंकि इस जातिकी

रुईका उत्पादन अधिक होता है, इसलिए अन्नके उत्पादनके लिए अधिक भूमि काममें लाई जा सकती है । हाथ-कताईके लिए आवश्यक अधिकांश कपास कातनेवाले खुद अपने ही घरोंके आंगनमें या गांवके किसी कोनेमें उपेक्षित पड़ी हुई जमीनमें पैदा कर सकते हैं । इसी तरह घरका और दूसरा काम करते हुए बीच बीचममें मिलनेवाले फुरसतके समयसे, जो अन्यथा बेकार जाता है, लाभ उठाया जा सकता है । यही बात आवश्यक परिवर्तनके साथ दूसरे हस्त-उद्योगों पर भी लागू होती है ।

वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि समुद्रके पानीमें जो अति सूक्ष्म मात्रामें सोना मौजूद रहता है, उसे आर्थिक दृष्टिसे लाभप्रद पद्धति द्वारा निकालनेकी कोई पद्धति मालूम कर ली जाय, तो इस तरह प्राप्त कीमती धातुकी मात्रा दुनियाकी तमाम सोनेकी खानोंसे मिलनेवाली सोनेकी मात्रासे कई गुनी अधिक होगी । गांधीजीने कहा था कि इसी तरह करोड़ों आदमियोंके उपयोगमें न आनेवाले समयका और श्रमके छोटे छोटे असंख्य हिस्सोंका और लगभग प्रत्येक मनुष्यकी पहुंचके भीतर रहनेवाली उपेक्षित साधन-सामग्रीका पूरा उपयोग किया जाय, तो आम लोगोंकी भलाईकी दृष्टिसे जो परिणाम निकलेगा वह उस परिणामसे कहीं अधिक होगा, जो किसी सरकार या संगठनकी अधिकसे अधिक महत्त्वाकांक्षी और खर्चीली योजनाओं द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । मानव और पशु-केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था पर आधारित निर्वाह-खेतीको लीजिये । जैसा लॉर्ड नॉर्थबोर्नने कहा है, "यद्यपि नष्ट होनेवाली हर अलग अलग छोटी चीजकी कीमत शून्यवत् होती है, फिर भी उन सबका जोड़ भीमकाय रूप ले लेता है । जो भी आंखें खोलकर घूमता है, उसके लिए दिन प्रतिदिन और वर्ष प्रतिवर्ष निरन्तर होनेवाली इस अनन्त हानिका विचार कष्टप्रद और चौंकानेवाला है । दूसरी ओर, इस ऊपरसे महत्त्वहीन दिखाई देनेवाली साधन-सामग्रीको एकत्र करके कुशलतापूर्वक उसका उपयोग करने तथा उससे सुन्दर वस्तुएं बनानेका काम अत्यन्त आकर्षक और सन्तोष-प्रद सिद्ध होगा । इस दृष्टिसे राष्ट्रीय और स्थानीय अधिकारी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । परन्तु साधारण व्यक्ति उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । . . . वह छोटे छोटे बिगाड़ों और नुकसानोंको रोक सकता है और ये सब नुकसान मिलकर बड़े नुकसानोंसे भी शायद ज्यादा

महत्त्वपूर्ण होते हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि कोई भी छोटासा जमीनका टुकड़ा नवजीवनका केन्द्र बन सकता है, जिसका जीवनदायी प्रभाव आसपासके प्रदेशों तक भी पहुंच सकता है। और छोटे पैमानेमें धत-सम्बन्धी विचारोंके जड़ बनानेवाले प्रभावको सामान्यतः दूर रखा जा सकता है।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टु दि लैण्ड', लंदन, १९४०, पृ. ७७-७८]

गांधीजी कहते थे कि भारतके करोड़ों लोगोंको आवश्यक साधन और गृह-उद्योगोंकी तालीम देकर यदि बरबाद होनेवाली छोटी छोटी साधन-सामग्रियोंका उपयोग करनेकी शक्ति उनमें पैदा की जाय, तो यह करोड़ोंके लिए निर्वाहके लाभदायी साधन मुहैया करनेका त्वरितसे त्वरित मार्ग होगा। अपने करोड़ों लोगोंको जीवन-निर्वाहके साधन देना भारतका सबसे बड़ा प्रश्न है, जो आज तक हल नहीं हो पाया है। यह चीज संगठित उद्योग नहीं कर सकते, क्योंकि वे व्यापारिक दृष्टिसे चलाये जाते हैं। परन्तु यदि देशके करोड़ों लोग साथ मिलकर यह काम करने लगें, तो क्रांतिकारी परिणाम लाये जा सकते हैं।

गांधीजी एक बार कोलारकी सोनेकी खानें देखने गये थे। तब उन्हें सोनेके कणोंवाली मिट्टीके टीले दिखाये गये थे, जो आकाशसे बातें करते थे। उस मिट्टीमें सोनेका अनुपात इतना कम समझा गया था कि उस समय तक जो पद्धतियां मालूम थीं उनके द्वारा मिट्टीसे सोना निकालनेमें कोई आर्थिक लाभ नहीं था। परन्तु हालमें एक नई प्रक्रियाका पता लगा है, जिससे यह क्रिया लाभप्रद हो सकती है। इसलिए मिट्टीको सोना निकालनेके लिए फिरसे अनेक कुओंमें डाला जा रहा है। इससे सोना निकालनेकी पद्धतिमें एक क्रांति हो गई है।

अहिंसक संगठनके कीमिया द्वारा आम लोगोंमें छिपी हुई शक्तिका सफल उपयोग करनेकी गांधीजीकी पद्धति उतनी ही क्रांतिकारी है, जितनी सोनेवाली मिट्टीमें से बचा हुआ सोना निकालनेकी 'सिआनाइड' प्रक्रिया है।

वर्षों पहले जब गांधीजीने पहले-पहल चरखेकी बात करना शुरू किया था, तब एक बार उन्होंने अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें कहा था कि चरखा मुख्यतः गरीब किसानों और ग्रामीण स्त्रियोंकी आय बढ़ानेका साधन है । बादमें उन्हें चरखेमें छिपी प्रचण्ड शक्तिका पता चला । वह शक्ति अहिंसाकी शक्ति थी । यदि भारतके चालीस करोड़ लोगोंमें से सभी स्त्रियां, पुरुष और बड़ी उमरके बच्चे चरखा चलायें, तो वे अवश्य ही करोड़ों लोगोंके लिए आवश्यक सूत कात लेंगे और करोड़ों रुपये बचा लेंगे । परन्तु गांधीजीकी नजरमें यह बहुत महत्त्वकी बात नहीं थी । इसमें जिस बातको वे सबसे अधिक महत्त्व देते थे वह थी "इन चालीस करोड़ लोगोंके सहयोगी प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाली शक्ति ।" [प्रार्थना-प्रवचन, १३ दिसम्बर १९४७]

अहिंसाकी शक्तिकी खोज करते हुए गांधीजीको पता चला था कि अहिंसाका उत्तम रूप तुच्छ दिखाई देनेवाली छोटी छोटी बातोंमें प्रकट होता है । इसलिए उन्होंने कहा था : "लोगोंका अहिंसक संगठन खड़ा करनेके लिए हमें बड़ी बातोंको छोड़कर छोटी छोटी बातों पर ध्यान एकाग्र करना होगा और उनमें पूर्णता प्राप्त करनी पड़ेगी । तब हमें बड़े परिणाम मिलेंगे । इसके लिए यह जरूरी है कि लोकनेता, राजकर्मचारी और शासक-वर्गके लोग जनताके सच्चे सेवक बन जायं । उन्हें अपने विशेषाधिकार छोड़-कर आम जनताके साथ एकरूप हो जाना पड़ेगा, जिसके प्रतिनिधि होनेका वे दावा करते हैं । तभी वे आम जनताके और आम जनता उनके हृदयोंमें प्रवेश कर सकेगी । इसीसे वह हार्दिक सामुदायिक सहयोग पैदा होगा, जो हमारे सोचे हुए चमत्कारको सम्भव बनायेगा ।"

१३

हेनरी मेन, मनरो, एल्फिन्स्टन, मेटकाफ आदि अनेक प्रसिद्ध लेखक भारतके स्वयंशासित ग्राम-समाजोंकी प्राचीन प्रणालीका सजीव चित्र हमारे लिए छोड़ गये हैं । "उन छोटे छोटे प्रजातन्त्रोंको अपने भीतर जो भी चीजें चाहिये वे लगभग सभी उन्हें प्राप्त हैं और विदेशी सम्बन्धोंमें वे लगभग स्वाधीन हैं"; "छोटे पैमाने पर उनमें राज्यकी सारी सामग्री मौजूद है"; "दूसरी सब

सरकारें हट जायं तो भी वे अपने सदस्योंकी रक्षा करनेमें लगभग समर्थ हैं" – ग्राम-समाजोंके इस तरहके वर्णत इन लेखकोंने किये है । [दत्तने 'इकॉनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया' (चौथा संस्करण, पृ. ३४६ और ३८६) नामक अपनी पुस्तकमें सर चार्ल्स मेटकाफकी ७ नवम्बर १८३० की टिप्पणी उद्धृत की है । वह इस प्रकार है : "जहां और कोई चीज नहीं टिकती वहां वे (गांव) टिके हुए हैं । एकके पश्चात दूसरा राजवंश धराशायी होता जाता है; क्रान्तिके बाद क्रान्ति होती है . . . परंतु ग्राम-समाज जैसेके वैसे बने रहते हैं । उपद्रवके समय वे अपनेको शस्त्रसज्ज बनाकर अपना रक्षण करते हैं; शत्रुकी फौज गांवमें से गुजर जाती है; ग्राम-समाज अपने ढोरोंको अपनी चारदीवारीके भीतर जमा करता है और शत्रुको उत्तेजित किये बिना गुजर जाने देता है । यदि उन पर आक्रमण किया जाय, गांवमें लूट-पाट मचाई जाय और यदि उन्हें लगे कि हम शत्रुकी शक्तिके सामने टिक नहीं सकते, तो वे कुछ दूरके मित्र-गांवोंमें भाग जाते हैं । परंतु जब तूफान निकल जाता है तो वे तुरंत लौट कर अपने-अपने धंधे फिरसे करने लगते हैं । . . . एक पीढ़ी यदि वहीं खप जाय, तो नई पीढ़ी गांवमें लौट जाती है । पुत्र अपने पिताकी जगह ले लेंगे, गांवका वही स्थान होगा, घरोंकी वही जगह होगी । आक्रमण होने पर जो लोग भाग गये थे, उनकी संतानें फिर उन्हीं जमीनों पर आबाद हो जायेंगी । और मामूली-सी बातमें तो वे भाग नहीं जायंगे, क्योंकि अकसर उत्पात और उखाड़-पछाड़के जमानेमें भी वे अपनी जगह पर डटे रहेंगे और इतनी शक्ति जुटा लेंगे जिससे लूट-खसोट और अत्याचारका सफलतापूर्वक सामना किया जा सके ।"] सर चार्ल्स मेटकाफने, जो बादमें भारतके गवर्नर-जनरल हो गये थे, लिखा है : ग्राम-समाजोंका यह संघ ही था – "प्रत्येक समाज अपने आपमें एक अलग राज्य था" – जो और किसी भी कारणकी अपेक्षा तमाम क्रान्तियों और परिवर्तनोंमें से गुजरने पर भी "भारतवासियोंकी रक्षा करनेमें अधिक सहायक सिद्ध हुआ और आज भी उनके सुख, स्वतंत्रता तथा स्वाधीनताका बहुत बड़ा साधन है।"

इस प्रणालीकी आत्मा ग्रामसभा या ग्राम-पंचायत थी । स्थानीय पंचायत और वंश-परम्परागत अधिकारी सार्वजनिक कार्य करते थे, सार्वजनिक इमारतों और कुओंके निर्माण और

मरम्मतके कामकी देखभाल करते थे तथा तालाबों और जलमार्गोंका, शिक्षा और सफाईका निरीक्षण करते थे । इससे ग्राम-समाजको "समान जीवन और समान उद्देश्यका ठोस आधार" मिलता था । उनके पास गरीबोंके लिए कानून था, यद्यपि वह अलिखित था । [१८८० की इंडियन फेमिन कमेटीने अपनी रिपोर्टमें कहा है : "भारतमें गरीबोंके लिए कानून है, परन्तु वह लिखित नहीं है । साधारण समयमें राज्यको कष्ट-निवारणके कोई उपाय नहीं करने पड़ते, इसका कारण यही है कि सभी वर्गोंमें यह गहरी भावना है कि गरीबों और निःसहायोंकी यथाशक्ति सहायता करना उनका धर्म है, चाहे ये लोग एक ही परिवारके हों, जातिके हों, गांवके हों अथवा कस्बेके हों ।" – रेंच, दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीज़ेंट्रीज़, लंदन, १९३९, पृ. १०१] गरीबोंकी राहतके लिए जमीन अलग निकाली जाती थी, कारीगरों पर उनके वर्गके निराधारोंके पालनके लिए कर लगाया जाता था और गरीबोंके लिए फसलका एक भाग अलग रख दिया जाता था । एक पश्चिमी समकालीनने कुछ भारतीय गांवोंमें, जहां यह प्रणाली अभी तक काम कर रही है, इसका कार्य देखकर प्रमाणित किया है : "उनका जीवन समान लाभ और समान हानि पर रचा हुआ है । जब एक किसानकी फसल कमजोर होती है, तो सबको नुकसान होता है । जब एक तेलीका उत्पादन कम होता है, तो सबकी हानि होती है । 'समाज' शब्दका अर्थ (मनुष्योंके जीवन जीने और कार्य करनेका सम्बन्ध) ही उनके ज्ञानका मूलभूत भाग है । . . . मैंने महसूस किया कि हमारी अपेक्षा इन देहाती लोगोंको सामाजिक जीवनका अधिक गहरा और बुनियादी ज्ञान है ।" [ए. ई. मॉर्गन, 'कम्युनिटी न्यूज़ सर्विस', मई-जून १९५१, पृ. ८०]

चौकीदारीके प्रबन्धकी जिम्मेदारी गांवके सरपंचकी होती थी । उसका मुख्य सहायक, गांवका चौकीदार, गांवके भीतर पुलिसका काम करता था । न्याय व्यावहारिक ज्ञानके सिद्धान्त पर किया जाता था । पंचायतमें कोई मतदान नहीं होता था, किसी बहुमतका शासन नहीं था; सब लोग जमा होकर परिवारके ढंग पर बातें और चर्चा करते थे और अन्तमें जब वे "एक सामान्य संयुक्त मत" पर पहुंच जाते थे तब सब उसे मान लेते थे । पंचायतका न्याय शीघ्र, कार्यक्षम और सस्ता होता था, इस बातकी सब लोग गवाही देते हैं । पंचायत मुकदमेबाजीको प्रोत्साहन नहीं

देती थी, बल्कि पक्षोंको आपसके समझौतेसे अदालतके बाहर झगड़े निबटा लेनेमें मदद करती थी । यही अहिंसक लोकतन्त्रकी आधार-शिला और कड़ी कसौटी है । पंचायतका न्याय लोगोंमें न्यायप्रेम और सच बोलनेकी आदत बढ़ाता था । लखनऊके ब्रिटिश रेसिडेण्ट सर विलियम स्लीमैनने अपनी साक्षी दी है कि ब्रिटिश न्यायालयोंमें प्रस्तुत किये जानेवाले प्रमाण "अत्यन्त अविश्वसनीय" होते थे, जब कि पंचायतमें सचाई आसानीसे मालूम हो जाती थी । उन्होंने प्रमाणित किया है : "संसारमें कोई प्रजा ऐसी नहीं है, जिससे अपनी ग्राम-पंचायतोंमें इतनी आसानीसे सत्य निकाला जा सकता हो – वहां लोग अपने सम्बन्धियों, बुजुर्गों और पड़ोसियोंके सामने सब बातें सच-सच कह देते हैं, क्योंकि सुखके लिए इन सबका आदर पाना जरूरी है और वह सत्य पर डटे रहनेसे ही मिल सकता है ।" [रिंच, 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीज़ेंट्रीज़', लंदन, १९३९, पृ. १०६]

स्वशासनकी इस भावनासे भारतीय ग्राम-प्रणालीमें शक्ति तथा प्राणका संचार होता था । इस भावनाके कारण गांवका रास्ता, तालाब, कुआं या नहर "सचमुच जीवित" रहती थी और गांवके लोग, जो उन्हें अपनी इच्छा, सहयोग और मुफ्त ऐच्छिक श्रमसे बनाते थे, उनके "स्वामी होनेमें आनन्द और गौरव" महसूस करते थे । हमें इसके लिखित प्रमाण मिलते हैं कि अकेले मद्रास प्रान्तमें ही इसके परिणाम-स्वरूप किसी समय छोटे छोटे तालाबों और नहरोंसे, जिनका प्रबन्ध ग्रामवासी खुद करते थे, "कुल मिलाकर उतने ही क्षेत्रकी सिंचाई होती थी जितने क्षेत्रकी उस प्रान्तमें ब्रिटिश सरकारके बनवाये हुए तमाम बड़े तालाबों और नहरोंसे होती थी ।" [वही, पृ. १०५]

यह चित्र एक "प्राणवान लोकतन्त्र" के कार्यका है, जिसमें लोग "खुद ही जीवनकी बढ़ती हुई समस्याओं और जीवनके बदलते हुए स्वरूपोंका अपना हल निकाल लेते हैं ।" जैसा सर विल्यिम स्लीमैनने प्रमाणित किया है, लोगोंको अपनी जीवन-प्रणालीसे इतना गहरा अनुराग था कि अवधके ९५ प्रतिशत निवासी अंग्रेजोंके राज्यमें मिलनेके विरुद्ध थे; "यद्यपि अवधके नवाबोंने

किसानोंको कम नहीं सताया था, फिर भी उनके इस विरोधका एकमात्र कारण यह था कि नवाबोंने उनकी ग्राम-व्यवस्थामें कभी हस्तक्षेप नहीं किया था ।"

जब अंग्रेजोंका अधिकार भारत पर हो गया, तब उन्होंने पंचायतोंको ब्रिटिश प्रणालीका अंग बनाकर उसमें शामिल कर लिया और कर लगाकर वही काम वैतनिक नौकरोंसे कराना शुरू कर दिया, जिसे पहले ग्रामवासी अपनी ही पंचायतके अधीन स्वेच्छापूर्ण श्रमसे करते थे । यह स्वशासन अथवा स्वराज्यकी भावनाके विरुद्ध था । जैसा गांधीजीने बताया था, पंचायत "अपने ही बनाये हुए कानूनके अधीन काम कर सकती है ।" जब उसे अपना अधिकार ग्राम-समाजकी इच्छाके बजाय ब्रिटिश कानूनसे मिलने लगा तब उसकी जड़ें उखड़ गईं । जब पंचायतके पास सच्ची जिम्मेदारी और सत्ता ही नहीं रही, तो उसका "कार्य" भी नहीं रहा; और उसके साथ ही गांवोंके निर्माण-कार्यों और संस्थाओंका भी उपयोग नहीं रहा । उनकी उपेक्षा हुई और किसीने उन पर ध्यान नहीं दिया । शिक्षाका ह्रास हुआ, [यह बात अजीब तो लग सकती है, पर है सही कि ब्रिटिश सरकारने भारतकी शिक्षाका काम हाथमें लिया उसके बाद सचमुच लोगोंमें साक्षरताका अनुपात घटता गया । एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रीके ये विचार २९ दिसम्बर १९२० और १९ जनवरी १९२१ के 'यंग इंडिया' में प्रकाशित हुए थे : "गांवकी शिक्षा गांवके प्रशासनका अत्यावश्यक भाग था और गांवके खर्चमें उसके लिए व्यवस्था होती थी । पंजाबके हर गांवमें किसी न किसी तरहकी पाठशाला होती थी । उसमें प्रारंभिक शिक्षा या तो मुफ्त दी जाती थी या नाममात्रकी मासिक फीस ली जाती थी । इन पाठशालाओंके अलावा, सारे प्रान्तमें विविध श्रेणियों और स्वरूपोंवाले 'कॉलेज' फैले हुए थे, जिनमें शिक्षणके प्राचीन आदर्श सजीव और सशक्त रखे जाते थे । वे अध्यात्म-विद्या, ज्योतिष, गणित, व्याकरण, दर्शन और दूसरे शास्त्रोंके ऊंचे दर्जेके अध्ययन-केन्द्र होते थे । . . . 'देशी ग्रामीण पाठशाल्हाएं ग्राम-व्यवस्थाका महत्त्वपूर्ण अंग हैं और वे इंग्लैंडकी पाठशालाओंके लिए नमूना बन गई हैं ।' वे (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) यह भी बताते हैं : 'हिन्दुओंकी इस आदरणीय और परोपकारी संस्थाने क्रांतियोंके आघातोंका सामना किया है और देशी लोगोंकी सामान्य बुद्धिमत्ताका श्रेय इसी संस्थाको है ।" वहां ३०००० देशी

पाठशालाएं और अनेक कॉलेज थे, जो लगभग ४ लाख विद्यार्थियोंको शिक्षा दे रहे थे ।"] गांव "गोबरके ढेर" बन गये, पोषणका अभाव हो गया और संक्रामक रोग चिरस्थायी बन गये । गरीबोंके कष्ट-निवारण, सफाई, [सर एफ. एस. लेलीने ये उद्‌गार प्रकट किये थे : "सचाई यह है कि लोगोंकी आदतें यूरोपियनोंकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ हैं; यद्यपि पुरानी, बहुत पुरानी भूल करते हुए हम समझ लेते हैं कि वे सीधी-सादी नहीं हैं, क्योंकि भिन्न हैं ।" – रेंच, दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीज़ेंट्रीज़, लन्दन, १९३९, पृ. १०३] और गांवके संरक्षण आदि कार्योंका भी यही हाल हुआ । वे निष्प्राण बन गये और जब ब्रिटिश शासनप्रणालीके साथ उनका एकीकरण हुआ तो वे भ्रष्ट हो गये । "फूल जब सड़ते हैं तब घासफूससे भी ज्यादा दुर्गंध फैलाते हैं ।" जब गांवकी भीतरी और बाहरी सुरक्षाके प्रबन्धकी जिम्मेदारीमें सारा गांव भाग लेता था तब गांवका चौकीदार सच्चे अर्थमें गांवका रक्षक हुआ करता था । जब वह पुलिसका एजेण्ट बन गया तब गांवके लिए वह छोटासा अत्याचारी बन गया और गांववाले उससे डरने और घृणा करने लगे । आज भी उसकी यही स्थिति है ।

बादमें ब्रिटिश अधिकारियोंने इन संस्थाओंको सरकारी तंत्रके एक भागके रूपमें फिरसे जीवित करनेकी कोशिश की, परन्तु सरकारके विपुल घनका सहारा पाकर भी वे लोगोंमें उत्साह पैदा नहीं कर सकीं । अपनी स्वशासनकी शक्तिके प्रति जाग्रत, स्वावलम्बी और स्वयंपूर्ण ग्राम-समाज बाह्य सत्ताकी किसी दस्तंदाजी या दबावके बिना अपने सदस्योंके स्वाभाविक सहयोगसे अपनी समस्यायें और प्रश्न हल करनेका प्रयत्न करते हैं, तब नैसर्गिक संगठनमें से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह शक्ति शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य-दक्षता या धनके द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती ।

अधोगतिके दिन आरम्भ होनेसे पहले जब यह ग्राम-व्यवस्था अपने बल और जीवन-शक्तिके उच्च शिखर पर थी तब वह सबको घर, प्रामाणिक धन्धा और स्वस्थ जीवन-निर्वाहके साधन अवश्य देती थी । उसमें कमियां और कमजोरियां भी थीं । वह बाल-विवाह, जात-पांत, छुआछूत, अज्ञान, अंधविश्वास और सामुदायिक सफाईकी भावनाके अभाव जैसी सामाजिक

बुराइयोंके बोझसे दबी हुई थी । परन्तु ये बुराइयां उसका अविभाज्य अंग नहीं थीं । गांधीजीका यह दृढ़ विश्वास था कि मनरो आदि द्वारा उल्लिखित स्वशासन-भोगी ग्राम-समाज मर नहीं गया है । उसकी स्वशासन-भोगी सत्ता और क्षेत्रीय आत्म-निर्भरताके पुनरुद्धारसे उसे नवजीवन प्रदान किया जा सकता है । इस प्रकार नवजीवन तथा नये प्राणोंसे युक्त और बुराइयोंसे मुक्त ग्राम-व्यवस्था उपयुक्त सुधारोंके साथ लोकतन्त्रकी सारी वर्तमान आवश्यकतायें पूरी कर सकती है ।

१४

प्रायः सभी "ग्राम-सुधारकी योजनाओंमें" – जिनके बारेमें आजकल सुना जाता है और जिन्हें पूंजीवादी या समाजवादी सरकारें तैयार करती हैं – एक बात समान होती है । उन सबमें व्यापारिक विचारोंकी और इसलिए धनके मूल्योंकी प्रधानता होती है । उनमें समस्याकी तीव्रताको कम करनेके उपाय तो होते हैं, परन्तु वे समस्याकी जड़को नहीं छूतीं । उदाहरणार्थ, "क्रय-विक्रमकी योजनाओं" को ही लीजिये । वे "गुप्त आर्थिक सहायता" के रूपमें काम करती हैं; कभी कभी वे उत्पादन पर प्रतिबन्ध ललगानेकी योजनाएं बन जाती हैं । इसके सिवा "भाव नियत करनेवाले तंत्र" तथा ग्रामवासियोंको पैसा उधार देनेकी व्यवस्था करनेवाली योजनाएं भी होती हैं । भाव नियत करनेका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि शक्तिशाली औद्योगिक हितोंकी तरफसे ऐसी ही मांग होती है और एक प्रकारकी "भावोंकी राजनीतिक लड़ाई" छिड़ जाती है, जिसमें किसान अपने-आपको, एक लेखकके शब्दोंमें, शहरी तत्त्वों – उद्योग, व्यवसाय और शहरका मजदूर-वर्ग – के "ग्राम-विरोधी" मोर्चेके खिलाफ खड़ा पाता है, जो आपसमें "एक-दूसरेसे लड़ते रहते हैं, परन्तु असंगठित या अल्प-संगठित किसानोंके विरुद्ध एक हो जाते हैं ।" [मिट्रानी, 'मार्क्स अगेन्स्ट दि पीज़ेंट्ज़', लन्दन, १९५२, पृ. २७६] उनका "सस्ती रोटी" और रहन-सहनके कम खर्चका समान नारा किसानोंके खिलाफ भी ऐसी ही पुकार कराता है । फल यह होता है कि पूंजीपतियों और मजदूरोंके बीच चलनेवाले अधिक मजदूरीके संघर्षमें किसान और ग्रामीण जनताको नुकसान उठाना पड़ता है । इसके अलावा, भाव नियत करनेकी नीतिके कारण किसान भाव नियत करनेवाली सत्ताकी दया पर निर्भर हो जाता है और यह सत्ता "व्यवहारमें

कृषि-सम्बन्धी तानाशाहीका रूप ले सकती है ।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टु दि लैण्ड', लन्दन, १९४०, पृ. १२२] भूमिका राष्ट्रीयकरण अपने-आपमें तो केवल राज्य या क्षेत्रीय सत्ताको जमीनके निजी स्वामित्वसे होनेवाले लाभको स्वयं हथिया लेनेकी शक्ति देता है और ग्रामजनोंको ऋण देनेवाला तंत्र "ऐसे भूस्वामी (या साहुकार) को, जो सामान्यतः दयालू और अकसर कार्यक्षम होता है", हटाकर उसके स्थान पर एक "मानवताहीन और कदाचित् अकुशल भूस्वामी (या साहुकार)" को बिठा देता है । [वही, पृ. १४३] यही बात ग्रामीण ऋणकी सुविधाओंकी है । [कवि, नाटककार और प्रसिद्ध लेखक रोनाल्ड डंकन अंग्रेज शान्तिवादी डिक होपडेके साथी थे । वे अपनी शान्तिवादी प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न होनेवाले कुछ प्रश्नोंका उत्तर गांधीजीसे पानेके लिए सेवाग्राम आये थे । गांधीजीने यह विचार प्रकट किया कि अंग्रेज सच्चे दिलसे शान्तिप्रेमी तभी बन सकते हैं जब वे "छोटे इंग्लैंडवाले" वन जायं और आहारके मामलेमें आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लें । इस विचारसे प्रभावित होकर डंकन इंग्लैंड लौटे और अपने शान्तिवादी प्रयत्नके अंगके रूपमें सामुदायिक खेतीके एक प्रयोगमें लग गये । उन्होंने अपनी पुस्तक 'जनेल ऑफ ए हस्बैन्डमैन' में इस प्रकार लिखा है : "बैंक कागज पर लिखकर साख पैदा कर सकते हैं । मैं कागज पर लिखकर व्याज नहीं चुका सकता । यदि बैंक मुझे बीज दें तो मैं उन्हें गेहूंकी शकलमें लौटा सकता हूं । वे मुझे कागज देते हैं । मुझे उन्हें कागजके रूपमें ही दाम चुकाने चाहिये । वे कागज बना सकते हैं, मैं नहीं बना सकता । और उनके कागजकी शकलमें दाम चुकानेके लिए मुझे अपना गेहूं किसी व्यापारीके हाथों उसके भाव पर बेचना होगा । जल्दी ही व्यापारीको गेहूं मिल जायगा, बैंकको खेत मिल जायगा और मैं फाटक पर कागजका टुकड़ा लिये हुए बैठूंगा ।" (पृ. ४६)] वे आर्थिक दृष्टिसे ग्रामीण समुदायको आर्थिक मदद तो देती हैं, परन्तु उनके कारण उसे शोषणसे मुक्ति नहीं मिलती । सच तो यह है कि, जैसा कि भूतकालमें हुआ है, उनका गांवोंके शोषणको बढ़ानेमें उपयोग किया जा सकता है । वे योजनायें ग्राम-समुदायको उसका आंतरिक बल और जीवन-शक्ति फिरसे नहीं दे सकतीं ।

शहरी और ग्रामीण मनुष्यमें मूल भेद यह है कि शहरीका "धरतीसे वह आंतरिक सम्बन्ध" नहीं होता जो ग्रामीणका होता है । शहरी मनुष्य धरतीको और जिन पदार्थोंसे उसका सम्पर्क आता है उन्हें ऐसी चीजें समझता है जिन्हें नकद पैसेमें बदलना है । उसके जीवनके धारण-पोषण पर उनका अप्रत्यक्ष प्रभाव ही होता है । वह पैसेकी दृष्टिसे ही सोचता है । दूसरी ओर, ग्रामीण मनुष्य प्राथमिक अर्थमें उत्पादक होता है; "भूमिकी सृजन-शक्तिमें भागीदार होता है ।" [रिंच, 'दि रेस्टोरेशन ऑफ दि पीज़ेंट्रीज़', लन्दन, १९३९, पृ.१२३] उसके लिए खेती एक जीवन-प्रणाली है, जीवनके मूल्योंको प्रकट करनेका एक माध्यम है ।

किसान अपने जीवन-निर्वाहके लिए जितने खेतीके उत्पादन पर ही आधार रखते हैं और उनके जीवनमें पैसेकी अर्थ-व्यवस्थाका जितना कम हस्तक्षेप होता है, उतनी ही जीवन-शक्ति वे जमीनसे प्राप्त करते हैं ।* किसानको जब अपने भोजनके लिए, अपने पशुओंके दाने-चारेके लिए और अपनी फसलोंकी खादके लिए नगर-निवासियोंसे सामग्री खरीदनी पड़ती है, तब उसे अपनी जीवन-प्रणालीका मुख्य लाभ नहीं मिलता । उसका सम्बन्ध अपनी जीवन-शक्तिके स्रोतोंस कट जाता है । यद्यपि वह भूमि पर रहता है और उस पर काम करता है, परन्तु पोषणकी दृष्टिसे वह शहरके अधीन बन जाता है । और चूंकि उसके पास खर्च करनेके लिए नगर-निवासीसे कम रुपया होता है, इसलिए उसकी और भी दुर्दशा हो सकती है । प्रकृति जो चीज किसानको मुफ्त दिया करती है, उसका कुछ हिस्सा नगर-निवासी अपने पैसेसे किसी न किसी तरह जुटा सकता है ।

जब तक ग्राम-समुदायका सम्बन्ध पैसेकी प्रधानतावाली अर्थ-व्यवस्थासे सफलतापूर्वक तोड़ नहीं दिया जाता, तब तक जीवनमें झूठे मूल्योंका बोलबाला रहता है और उत्पादनको व्यापार और व्यवसायके विचारोंके अधीन रखा जाता है, तब तक गांववालोंको अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती । जमीन व्यापारकी वस्तु नहीं रहनी चाहिये । इसी तरह श्रम और पैसा भी व्यापारकी चीज नहीं रहना चाहिये और ग्रामीण समुदायको जीवनकी दृष्टिसे संपूर्ण आत्म-निर्भर और पैसेकी अर्थ-व्यवस्थासे बहुत-कुछ मुक्त हो जाना चाहिये । सार यह कि प्रत्येक क्षेत्रीय

घटकको स्वयं ही अपने यहांके मनुष्यों, जानवरों और फसलोंके लिए तमाम जरूरी खुराक पैदा कर लेनी चाहिये ।

भारतके ग्रामीण समुदायोंकी शक्ति, स्थिरता और जीवन-शक्तिका रहस्य यह था कि वे आधुनिक अर्थ-प्रणालीसे स्वाधीन थे । वे आपसमें माल और सेवाओंका सीधा लेनदेत कर लेते थे और भोजन, वस्त्र, औजार और पैसा आदि जिन चीजों पर उनका अस्तित्व निर्भर था वे ज्यादातर गांवकी (या ग्राम-समूह) की सीमाके भीतर ही मिल जाती थीं । इससे साझेदारीको प्रोत्साहन मिलता था और विभिन्न वर्गोंमें एकता और मेलजोलका सजीव सम्बन्ध स्थापित होता था । इससे प्रत्येक ग्राम-समाज लोकतंत्रका सुदृढ़ दुर्ग बन जाता था । **ग्राम द्वारा अपने कर्मचारियोंके जरिये वस्तुओंके रूपमें कर चुकानेकी** परम्परागत पद्धतिके स्थान पर **सरकारी नौकरों द्वारा नकद पैसेके रूपमें** कर वसूल करनेकी पद्धति आरंभ हुई तब इस ग्राम-व्यवस्थाकी जड़ें हिल गईं ।

जब जमीनका लगान फसलके एक नियत भागके रूपमें चुकाया जाता था, तब फसल खराब होने पर या बिलकुल न होने पर किसानको अपने-आप राहत मिल जाती थी । यदि जमीनमें फसल कम होती थी, तो राज्यको मिलनेवाला कर का हिस्सा भी कम हो जाता था । इसलिए हर साल जमीन-की पैदावारमें राज्यको सीधी दिलचस्पी रहती थी । इससे राज्यका किसानों पर ऐसे भार डालनेका लोभ कम हो जाता था, जो धरतीकी पूंजीको हानि पहुंचा कर ही पूरे किये जा सकते थे।

पैदावारके रूपमें करकी अदायगी उन चीजों पर निर्भर करती थी, जिनकी किसान खुद खेती करता था और इसलिए उन्हें वह समझ सकता था और नियंत्रित भी कर सकता था । परन्तु जब उसे ऐसे पदार्थके रूपमें लगान चुकाना पड़ता था, जिसे वह स्वयं उत्पन्न नहीं करता था, तब वह "उस पदार्थ पर नियंत्रण रखनेवाले अज्ञात स्वामियोंके अज्ञात बलों" के अधीन हो जाता था । [वही, पृ. ११०] जो वस्तु किसानोंको अपने पकाये हुए मालसे दूर हटा कर "अनिश्चित, अस्थिर

और जिसका पार न पाया जा सके ऐसे तात्त्विक कल्पनाके समान द्रव्यके घेरेमें – विशेषतः जिसे किसान उत्पन्न नहीं कर सकते ऐसे द्रव्यके घेरेमें ले जाती है," [वही, पृ. १२४] वह उन्हें कमजोर बनाती

है । वह उन्हें द्रव्य-बाजारके भावोंके उतार-चढ़ावके शिकार बनाती है और उनकी उस सुरक्षा पर कुठाराघात करती है, जो जीवित रहनेकी किसानोंकी कशमकशमें उनकी मुख्य पूंजी होती है । इसी कारणसे किसानको नगरके सभी सम्पर्कों और उसके "उद्धार" के लिए शहरमें बनाई हुई कागजी योजनाओंके प्रति जन्मजात अविश्वास होता है ।

पहले जब संपत्ति पदार्थोंके रूपमें जमा की जाती थी तब प्रामाणिक परिश्रमके फलोंको चुराना, छिपाना, फिजूल खर्च कर डालना या उनका गबन कर लेना आसान नहीं था । परन्तु आज चूंकि संपत्ति पैसेके रूपमें इकट्ठी की जाती है, यह सब अत्यंत सरल हो गया है; और उसकी कोई सीमा नहीं है । करोंकी फसलके रूपमें अदायगी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्थाका सम्बन्ध उन चीजोंसे जोड़ती है, जो साधारण मनुष्यके प्राथमिक धारण-पोषणके लिए निहायत जरूरी हैं । वह राष्ट्रीय द्रव्य-व्यवस्थाको "सचमुच पृथ्वी पर" ले आती है और राष्ट्रकी सारी अर्थ-व्यवस्थाको एक भिन्न मोड़ दे देती है । "राज्यका और राज्यकी द्रव्य-व्यवस्थाका जहाज भिन्न भिन्न पतवारसे चलता दिखाई देने लगता है, इस पतवारकी गतिविधि छोटे पैमाने पर होनेके कारण बड़े जहाजकी भारी गतिविधिसे भिन्न होती है, फिर भी उस भारी गति-विधिकी दिशा वही निश्चित करती है ।" [वही, पृ. ११३]

राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्थाको आम लोगोंकी भलाईकी दिशामें मोड़नेके लिए, जिससे उस पर उनका वास्तविक नियंत्रण रह सके, गांधीजीने सुझाया था कि राष्ट्रकी अधिकांश संपत्ति ऐसे स्वरूपमें एकत्र करके रखी जाय, जिसमें बहुत आसानीसे उसका गबन और दुरुपयोग न हो सके । इसके एक उपायके रूपमें उन्होंने भूमिकरको फसलके रूपमें चुकानेका समर्थन करना शुरू किया था । साथ ही, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाको आधुनिक अर्थतंत्रके घेरेसे अधिकाधिक बाहर निकाल लेनेके लिए वे "अन्न-बैंकों", "हाथकते सूतके सिक्कों" और सुवर्णके बदले श्रमके सहारे

ग्राम-ऋणदान-प्रणाली आदि संस्थाओंके प्रयोग करने लगे। [रोनाल्ड डंकनने अपनी पुस्तकमें गांधीजीके इन प्रयोगों पर ये विचार प्रगट किये हैं : "यह बेहुदा बात है कि इतनी उपजाऊ जमीन इसलिए बेकार पड़ी है कि हमारे पास इसे जोतनेके लिए सिक्के नहीं हैं । हम वस्तु-विनिमयका प्रयोग कर रहे हैं । और यह जितना अधिक हो उतना ही अच्छा । भारतीय किसान अब अपना ही मूल चलनी द्रव्य उत्पन्न करनेकी कोशिश कर रहा है । एक शताब्दीके अत्याचारपूर्ण शासनके बाद—इस कालमें उसे बम्बईके रुपयेके साथ पूरी तरह जकड़ लिया गया था – अपने हाथसे कती और बुनी खादीके आधारवाले नोट उसने तैयार किये हैं । — जर्नल ऑफ ए हस्बैन्डमैन, पृ. ४९] वे सर डेनियल हैमिल्टनसे इस बातमें सहमत थे कि "जहां मनुष्योंकी बहुतायत हो, वहां पैसेकी कमी नहीं होनी चाहिये । कारण, श्रम उनकी पूंजी है ।" उनकी राय थी कि सरकारी करोंको श्रमके रूपमें चुकानेमें समाज और राज्य दोनोंका समान लाभ है । "सिक्कोंके रूपमें करकी अदायगीकी अपेक्षा श्रमके रूपमें करकी अदायगी राज्यके लिए अधिक मूल्यवान होगी । श्रमके रूपमें करकी अदायगीसे राष्ट्रमें शक्तिका संचार होता है । जहां लोग समाजकी सेवाके लिए स्वेच्छासे श्रमदान करते हैं वहां पैसेका विनिमय अनावश्यक हो जाता है । कर वसूल करने और हिंसाब रखनेकी मेहनत बच जाती है और परिणाम उतने ही अच्छे होते हैं ।" [हरिजन, २५ मार्च १९३९, पृ. ६५] गांधीजीका यह दावा था कि "स्वावलम्बन और स्वयंपूर्णताके आदर्श पर अमल करनेसे लोगोंको कमसे कम कर चुकाने पड़ेंगे और कुल मिला कर अन्य किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा इससे वे अधिक मात्रामें सुख भोगेंगे ।" [वही, पृ. ६४] फसलके रूपमें करकी अदायगीसे यह बात भी निश्चित हो जायगी कि खेतीमें घोर परिश्रम करनेवालोंसे वसूल किये गये करोंको यों ही नहीं उड़ा दिया जायगा, बल्कि ज्यादातर उन्हींके लाभके लिए वे खर्च किये जायंगे जिनसे वसूल किये गये हैं ।

इस प्रबंधमें गांवकी अधिकांश पैदावार गांवमें ही रहेगी और उससे ग्रामीण जनता अपनी पूरी श्रमशक्तिको पूंजीमें बदल सकेगी । इससे उनके लिए यह संभव हो जायगा कि बाहरकी आर्थिक सहायता पर निर्भर रहे बिना वे अपने उद्धारके कार्यों और योजनाओंका संचालन स्वयं

ही कर लें । इसके सिवा, चूंकि जमीनका लगान कुल पैदावारके एक निश्चित भागके रूपमें होगा, इसलिए उत्पादकको धोखा देकर उसके कठिन परिश्रमका फल छीन नहीं लिया जायगा, जैसा कि आजकल अकसर होता है । गांवोंको कष्ट पहुंचा कर शहरोंको सम्पन्न नहीं बनाया जायगा और न उत्पादकका लाभ उपभोक्ताकी हानि होगा । जो माल और सेवाएं ग्रामवासियोंको शहरसे लेनेकी जरूरत होगी, उनके लिए ग्रामवासी सामूहिक रूपमें अपने अतिरिक्त उत्पादनका न्यायपूर्ण आधार पर विनिमय कर लेंगे – और यह भी कमसे कम किया जायगा । [इसके साथ रोनाल्ड डंकनकी पुस्तकके इस अंशकी तुलना कीजिये : "किसी डॉक्टरकी फीसके साथ किसानकी मजदूरीकी तुलना करना दिलचस्प होगा । एक डॉक्टरने अपनी पांच-पांच दस-दस मिनटकी तीन-चार अलग अलग मुलाकातोंमें मेरे परिवारके एक सदस्यका इलाज किया है और दो- तीन मिनटमें दो-तीन टांके लगाये हैं । इसके लिए उन्होंने १५ गिनीका बिल अभी-अभी मेरे पास भेजा है । उनका एक घंटेका समय और कुछ इंच घोड़ेके बालका खर्च हुआ है – हमारा सोलह घंटेका काम, पेट्रोल, तेल और एक पेड़ और साथ-साथ कुछ खतरा, जो किसी गोल करोतके साथ काम करनेमें सदा लगा रहता है। इस विषमताका एक गढ़ा-गढ़ाया उत्तर यह हुआ करता है कि डॉक्टरकी खर्चीली तालीमका बदला उसे मिलना चाहिये । और बेशक यह है भी सही । परन्तु किसानकी तालीम भी महंगी ही होती है । उसका ट्रेक्टर घिसता है और उसे बदलनेकी जरूरत होती है, जब कि डॉक्टरका व्यवसाय तो उसके दिमागमें रहता है । . . . यह बिलकुल स्पष्ट है कि इस विषमताका आधार अधिकतर प्रतिष्ठा या बड़प्पनकी भावना है । डॉक्टरकी पत्नीके पास एक नौकरानी होनी ही चाहिये, परन्तु किसानकी स्त्रीको अपने बरतन स्वयं मांजने चाहिये ।" – जर्नल ऑफ ए हस्बैन्डमैन, पृ. ५०] चूंकि नगर-निवासियोंको ग्रामजनोंके मालकी अधिक नहीं तो उतनी ही जरूरत होगी जितनी ग्रामजनोंको नगर-निवासियोंके माल और सेवाओंकी होगी, इसलिए नगरके लोग ग्रामीणोंको जो माल और सेवायें देंगे उनकी वे अन्यायपूर्ण कीमत ग्रामजनोंसे वसूल नहीं कर सकेंगे । ग्रामीण और नागरिक आयके स्तरका भारी अन्तर खतम होता जायगा । समाजके लिए जो भी चीजें और सेवाएं

अत्यावश्यक होंगी उन सबका समान पुरस्कार दिया जायगा और वर्तमान ऊंच-नीचके भेदों और प्रतियोगितावाली समाज-व्यवस्थाके स्थान पर अखंड और समतावादी समाज-व्यवस्थाका जन्म होगा । गांधीजीका मत था कि सुरक्षित और सुखमय जीवनकी शान्त धाराका उपभोग गांवके साधारण लोगोंको करानेका अन्य कोई उपाय नहीं है । उस जीवन पर चलनकी अस्थायी परिस्थितियोंका और सिद्धान्तहीन तथा लालची सट्टेबाजोंकी शेयर-बाजारमें चलनेवाली सट्टेबाजीका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा । वह जीवन शहरोंके प्रभुत्व और पैसेके मूल्योंसे उत्पन्न दासत्वमें होनेवाले मानव और प्रकृति दोनोंके शोषणसे मुक्त होगा । उसमें आत्म-निर्भर किसान समुदायोंका ऐसा संगठन होगा, जिस पर कमसे कम जहां तक उनकी आंतरिक आवश्यकताओंका सम्बंध है पैसेकी अर्थ-व्यवस्थाका कोई असर न होगा ।

गांधीजीका दावा था कि इस आधार पर संगठित समुदायमें स्वशासन, सुरक्षा और आंतरिक बलकी प्रबल भावना विकसित होगी, वह अधिक बड़ी मात्रामें सच्चे लोकतंत्रका उपभोग करेगा और अपने जीवनके लिए अत्यावश्यक वस्तुओं पर जितनी अधिक मात्रामें उसका नियंत्रण होगा उतना किसी आधुनिक राज्यके नागरिकोंका नहीं होगा ।

---

* कहनेका आशय यह है कि किसानको अपने खेत पर रहना चाहिये । वह अनुपस्थित जमींदारकी तरह शहरमें रहे और केवल देखरेखके लिए खेत पर आये यह ठीक नहीं । इसके सिवा, उसे खेतीकी ताजी पैदावारका उपयोग करना चाहिये । विदेशोंसे मंगाई हुई टीनमें बन्द खुराक पर उसे नहीं जीना चाहिये । तभी उसे जमीनसे जीवन-शक्ति प्राप्त हो सकती है ।

१५

जीवनकी दो सुपरिचित दृष्टियां है । एक तो प्रसिद्ध जर्मन प्राध्यापक विलियम रोशेरके इस प्रसिद्ध वचनमें व्यक्त होती है : “मनुष्य संस्कृतिके क्षेत्रमें जो भी प्रगति करता है, वह उसकी

बुद्धिसंगत आवश्यकताओंकी संख्या और तीव्रताकी वृद्धिमें प्रकट होती है।" दूसरी दृष्टिका सार ज्ञानपूर्ण और जागरूक आत्म-संयमके भारतीय आध्यात्मिक आदर्शमें व्यक्त होता है।

भूमि मनुष्य पर मर्यादाएं लगाती है। उसके कारण ग्रामीणको भूमिकी शक्तिकी मर्यादामें रह कर जीवन बिताना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए धरतीका सिद्धान्त आत्म-नियंत्रण और इच्छाओंकी मर्यादाका सिद्धान्त है। यांत्रिक उद्योग ऐसी किसी मर्यादाको नहीं जानते। उनका कानून प्रगतिशील वृद्धिका है। जिन्होंने भारतकी प्राचीन संस्कृतिका आदर्श स्थापित किया, वे इस धारणाको स्वीकार नहीं कर सके कि संस्कृतिकी वृद्धि मनुष्योंकी आवश्यकताओंके बढ़ने और पूरा होनेके साथ होती है। उनका तर्क यह था कि मनुष्यकी इच्छायें असंख्य होती हैं। अत: उन पर यदि कोई अंकुश न रखा जाय, तो वे हमें "सतत संघर्ष और अपार प्रतिस्पर्धा" के मार्ग पर ले जायंगी – जिसमें "बहुतोंकी ऐसी इच्छायें होंगी जिन्हें आत्म-संयमकी अपेक्षा यदि परिस्थितियां दबायेंगी" तो उनके विचारोंमें विपर्यास उत्पन्न होगा और उन्हें विपत्तिका सामना करना पड़ेगा। उन्होंने घोषित कर दिया था कि पार्थिव बन्धनोंसे मुक्त होकर दिव्य जीवनकी ओर ले जानेवाला एकमात्र मार्ग स्वेच्छापूर्ण आत्म-संयम और अन्तमें निष्कामताका ही है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य मनुष्यकी "अनन्त इच्छाओं" की पूर्ति नहीं, परन्तु अपने अत्यावश्यक कर्तव्योंके पालनमें पूर्णता प्राप्त करना, सारी सृष्टिके साथ तादात्म्य अनुभव करना और उसके द्वारा प्राणीमात्रकी निःस्वार्थ सेवा करके दिव्य सत्य अथवा ईश्वरके साथ एकाकार हो जाना है।

यह कल्पना समाजके कर्म-विभाजन (देखिये खण्ड -२, पृष्ठ २५८) पर आधारित भारतकी स्वदेशी ग्राम-प्रणालीमें व्यक्त हुई थी। दूसरी कल्पना प्रगति और विपुलताकी अर्थ-व्यवस्थाके सिद्धान्तके रूपमें फली-फूली, जिस पर आजकी औद्योगिक समाज-व्यवस्थाका आधार है।

गांधीजीका कहना था : "मन तो चंचल पक्षी है। उसे जितना अधिक मिलेगा उतना ही वह और चाहेगा और फिर भी असन्तुष्ट रहेगा।... इसलिए हमारे पूर्वजोंने हमारे भोगकी सीमा नियत कर दी थी।... वे जानते थे कि यदि ऐसी चीजोंके पीछे हम पड़ गये, तो हम वासनाओंके गुलाम

बन जायंगे और अपना नैतिक बल खो बैठेंगे । इसलिए उन्होंने समुचित विचारके बाद निश्चय किया कि हम उतना ही काम करें जितना हम अपने हाथ-पैरोंसे कर सकते हैं । उन्होंने समझ लिया था कि हमारा सच्चा सुख और स्वास्थ्य हमारे हाथ-पैरोंके सदुपयोगमें ही है । उन्होंने यह भी समझाया कि बड़े बड़े शहर एक मोहजाल और व्यर्थका भार हैं और . . . उनमें . . . गरीबोंको अमीर लोग लूटेंगे । इसलिए उन्होंने छोटे छोटे गांवोंसे ही सन्तोष किया ।" [गांधीजी, 'हिन्द स्वराज', अहमदाबाद, १९४६, पृ. ४४-४५]

गांधीजीकी समाज-व्यवस्थाका लक्ष्य वह सभ्यता नहीं थी, जिसे वे "बिना कांटोंके गुलाबकी सभ्यता" कहते थे । उनका ऐसी "बहादुर नई दुनिया" में विश्वास नहीं था, जिसमें कष्ट और कठोर परिश्रमका सर्वथा अंत हो जाय । जुंगने बताया है, "जीवनकी पूर्णता और सिद्धिके लिए सुख और दुःखके संतुलनकी आवश्यकता है ।" परन्तु दुःख स्वयं अप्रिय होता है । इसलिए लोग इस बारेमें सोचना ही नहीं चाहते कि मनुष्यके भाग्यमें कितनी चिन्ता और कितना शोक लिखा है । इस कारण वे प्रगति और अधिकतम सुख जैसे आश्वासन देनेवाले शब्दोंका उपयोग करते हैं और यह भूल जाते हैं कि यदि अमुक मात्रामें दुःख नहीं भोगा जाय तो सुख भी विषाक्त हो जाता है ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लन्दन, १९४७, पृ. ४२] क्षतिपूर्तिका नियम अटल है । मानसिक चिकित्सक हमें बताते हैं कि मानसिक रोगके पीछे "अकसर वह सारा प्रकृतिजन्य और आवश्यक कष्ट छिपा रहता है, जिसे सहन करनेके लिए रोगी अनिच्छुक रहा है ।" [वही] यह पाया गया है कि हिस्टीरियासे पीड़ित रोगी उस स्थितिमें अच्छा हो जाता है जब वह उस मानसिक पीड़ाको, जिससे वह भागना चाहता था, स्वीकार करके उसे सहन करना सीख लेता है ।*

इसलिए गांधीजीने कहा था, मनुष्यका यह काम नहीं है कि वह "सुखकी असंभव अवस्था" को प्राप्त करनेकी लालसा करता रहे; उसे उस सम्यक् दृष्टि और आध्यात्मिक नियमनकी साधना करनी चाहिये, जिससे वह संतुलन, धैर्य और परिपक्व भावनाके साथ जीवनकी समस्याओंका सामना कर सके । जब हम सुखकी प्राप्तिको ही अपना एकमात्र ध्येय

बना लेते हैं, तो सुखका स्वयं ही खंडन हो जाता है । जिराल्ड हर्डके शब्दोंमें, "सुख किसी दूर तक जानेवाली प्रवृत्तिके उप-परिणाम" के रूपमें ही प्राप्त किया जा सकता है । यही बात अर्थशास्त्रकी है । जब हमारा लक्ष्य "कोई ऐसी व्यवस्था होती है जो आर्थिक और भौतिक सीमासे परे हो," [जेराल्ड हर्ड, 'पेन, सेक्स एण्ड टाइम', लंदन, १९३९, पृ. २३४] तभी हमें ऐसी भौतिक परिस्थितियां प्राप्त होती हैं, जिनसे अर्थशास्त्रके हेतु पूरे हो सकते हैं – व्यक्ति और समाजको स्वास्थ्य, सुख और शान्ति प्राप्त हो सकते हैं । महत्त्वकी वस्तु हमें जो आर्थिक प्रगति प्राप्त होती है वह नहीं, बल्कि उसकी खोजमें हमें जो अनुभव होता है वह है । जुंग हमें चेतावनी देते हैं : "हमारा संकल्प चाहे जितना बलवान हो तो भी हम पृथ्वी पर स्वर्ग उतार कर नहीं ला सकते और यदि ले भी आयें तो थोड़े ही समयमें हमारा हर प्रकारसे पतन हो जायगा ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लंदन, १९४७, पृ. ५४] इसका प्रमाण यह है कि संसारमें आत्म-हत्या और पागलपनकी सबसे अधिक संख्या आज कुछ ऐसे अत्यंत उद्योग-प्रधान देशोंमें है, जहां भौतिक सुखकी दृष्टिसे लोगोंको लगभग किसी बातकी कमी नहीं है ।

आधुनिक "बुद्धिवादियों" की दृष्टिमें हाथकी सख्त मेहनत जंगलीपनकी निशानी है, अधिकसे अधिक एक आवश्यक बुराई है, जिससे किसी न किसी दिन विज्ञान हमें मुक्त करा देगा । फिर भी, जैसा फ्रायडने हमें याद दिलाया है, "काम, शारीरिक श्रम ही व्यक्तिको वास्तविकताके साथ बांध रखनेवाला मुख्य साधन है ।" एच. जे. मैसिंघमका कथन है : "धर्म, खेती और 'शरीर-श्रमके धंधों' के माध्यमसे ही सत्य समझमें आता है । यही वे मूलभूत प्रवृत्तियां हैं, जिनसे सामान्यका विशेषके साथ, शाश्वतका अशाश्वतके साथ और निरपेक्षका सापेक्षके साथ सम्पर्क होता है ।" [एच. जे. मैसिंघमका प्राक्कथन, 'लाइफ एण्ड डेथ ऑफ दि क्रिश्चियन वेस्ट', लंदन, १९४७, पृ. ८]

गांधीजी शरीर-श्रम मात्रको "आदमका अभिशाप" नहीं मानते थे । इसके विपरीत, उनका दृढ़ विश्वास था कि शरीर-श्रम या "रोटीकी मेहनत", जैसा वे रूसी किसान-लेखक बोन्दरेव्हके गढ़े हुए शब्द-प्रयोगके अनुसार कहते थे, जीवनका नियम है और अपने पसीनेकी कमाई हुई

रोटी खाना व्यक्ति और समाजके स्वास्थ्य, सुख और आन्तरिक शान्तिकी एक आवश्यक शर्त है । उनकी रायमें हमारी आजकलकी अनेक सामाजिक बुराइयोंका कारण इस नियमका उल्लंघन है । "शरीर-श्रमके धर्मका पालन करनेसे समाजकी रचनामें एक शान्त क्रान्ति होगी । जीवन-संग्रामके स्थान पर परस्पर सेवाके संग्रामकी स्थापना करनेमें ही मनुष्यकी विजय होगी । पशुके कानूनके स्थान पर मानवके कानूनकी स्थापना होगी ।" [हरिजन, २९ जून १९३५, पृ. १५६]

थोरोने कहा है : "हम ऐसे समयकी कल्पना करते हैं जब मानवकी संकल्प-शक्ति भौतिक जगतके लिए कानून होगी और मनुष्य ... वास्तवमें सृष्टिका स्वामी होगा ।... इस प्रकार स्वर्गकी फिरसे प्राप्ति होगी तथा उस पुरानी और कठोर आज्ञाके बन्धनसे अन्तमें मुक्ति मिलेगी । मनुष्यको अपने पसीनेकी रोटी खानेकी जरूरत नहीं रहेगी । सारा परिश्रम केवल 'बटन दबाने' और 'तैयार माल उठा लनेमें' ही समा जायगा ।" लेकिन थोरोने बताया है कि इसमें एक बातका हिंसाब लगाना बाकी रह जाता है और वहीं कठिनाई खड़ी होती है । "प्रत्येक मनुष्यमें कोई दिव्य-शक्ति है, जिसका उपयोग अभी तक थोड़ा ही किया गया है ।" परन्तु "वह सभी तरहके कार्यके लिए सर्वथा अपरिहार्य है । किसी कामको टाला नहीं जा सकता । उसे अनिश्चित कालके लिए स्थगित रखा जा सकता है, परन्तु अनंत कालके लिए नहीं । यंत्रोंसे ... कोई सचमुच महत्त्वपूर्ण काम आसान भी नहीं बन सकता । किसी आदमीको डरानेवाले श्रमका एक कण भी पूरा किये बिना टाला नहीं जा सकता । उसे गीदड़ों और चीलोंकी तरह पड़ोससे भगाया नहीं जा सकता । वह भागेगा ही नहीं ।" और यह कोई दुःखकी बात भी नहीं है । कारण "एक अल्प, अस्पष्ट किन्तु शाश्वत और संचित शक्ति है, जो खेतमें काम करते हर फावड़ेके पीछे खड़ी रहती है । वही शक्ति घाटियोंको चमकाती है और मरुभूमियोंको वास्तवमें फूला-फला बनाती है ।" [एच. एस. कैनबी द्वारा संपादित, 'दि वर्क्स ऑफ थोरो', बोस्टन, १९४६, पृ. ७८४-८५]

मनुष्य और प्रकृतिके पुनरुद्धारके लिए दिव्य शक्तिके इस भंडारका – जन-साधारण जिसके प्रतीक हैं – उचित और पूर्ण उपयोग ही गांधीजीकी अर्थ-व्यवस्थाका उद्देश्य था । उनके

मतानुसार गांवोंकी ओर लौटनेका अर्थ है "रोटीके लिए श्रम करनेके धर्मको तथा उसके साथ जुड़े हुए अर्थोंको निश्चित रूपमें स्वेच्छासे स्वीकार करना ।" [हरिजन, २९ जून १९३५, पृ. १५६]

गांधीजीको "शरीर-श्रम" के अपने इस तत्त्वज्ञानके लिए गीताके एक श्लोकमें प्रमाण भी मिल गया । उसमें कहा गया है कि जो मनुष्य "यज्ञ" किये बिना खाता है वह पापको खाता है । गांधीजीका विश्वास था कि यहां "यज्ञ" का अर्थ "शरीर-श्रम" ही हो सकता है । "बुद्धि भी हमें इसी निर्णय पर पहुंचाती है । . . . करोड़पति भी अगर अपने पलंग पर लोटता रहे और उसके मुंहमें कोई खाना डाले तब खाये, तो वह अधिक समय तक खा नहीं सकेगा । इसमें उसे आनंद भी नहीं आयेगा । इसलिए वह कसरत वगैरा करके भूख पैदा करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंहको हिलाकर । अगर इस प्रकार किसी न किसी तरह अंगोंकी कसरत गरीब-अमीर सभीको करनी पड़ती है, तो रोटी पैदा करनेकी कसरत ही सब क्यों न करें ? किसानको हवाखोरी या अंगोंकी कसरत करनेके लिए कोई नहीं कहता । और दुनियाके ९० प्रतिशतसे अधिक लोगोंका निर्वाह खेती पर होता है । बाकीके १० प्रतिशत लोग यदि इनकी नकल करें, तो जगतमें कितना सुख, कितनी शांति और कितना स्वास्थ्य फैल जाय !" [गांधीजी, 'फ्रॉम यरवडा मंदिर', अहमदाबाद, १९४५, पृ. ३५-३६]

किन्तु यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि खेती पर आधारित जीवनके संभाव्य लाभ बहुत-कुछ कल्पित ही हैं । कमसे कम भारतके गांवोंमें रहनेवाले करोड़ों लोगोंके लिए आज जीवनका अर्थ केवल दरिद्रता, घोर परिश्रम और आधी भुखमरी ही है । गांधीजी स्वीकार करते थे कि दुर्भाग्यसे यह बिलकुल सच है । परन्तु इसका वास्तविक कारण यह है कि ग्रामवासी शरीर-श्रमके धर्मका स्वेच्छासे पालन नहीं करते । "शरीर-श्रमके धर्मका मजबूरीसे पालन किया जाय, तो दरिद्रता, रोग और असन्तोष उत्पन्न होते हैं । यह तो गुलामीकी दशा है । उस धर्मका स्वेच्छापूर्वक पालन करनेसे सन्तोष और स्वास्थ्य प्राप्त होता है । और स्वास्थ्य ही सच्ची सम्पत्ति है ।" [हरिजन, २९ जून १९३५, पृ. १५६] जीवनकी उपयुक्त आर्थिक परिस्थितियोंमें खेतीका सक्रिय शारीरिक कार्य नीरस या थकानेवाला नहीं होना चाहिये । सच तो यह है कि उससे प्राप्त

होनेवाले आनंद और उत्साहका कोई पार ही नहीं है । आज यदि स्थिति इसके विपरीत है तो उसका कारण शरीर-श्रम नहीं, बल्कि यह है कि अनेक लोग, जिनको शरीर-श्रम करना चाहिये, नहीं करते । गांधीजी कहते थे कि खेती-सम्बंधी अनेक कष्ट आसानीसे दूर हो जायंगे, यदि हर आदमी उसमें हाथ बंटाये । इससे भी बड़ी बात यह है कि "ऊंच-नीचके ईर्ष्यामूलक भेदभाव मिट जायंगे, जब प्रत्येक व्यक्ति निरपवाद रूपमें शरीर-श्रम करके खानेका धर्म स्वीकार कर लेगा । . . . मालिक और मजदूरमें आज संसार-व्यापी संघर्ष है और गरीब अमीरोसे ईर्ष्या करते हैं । अगर सब अपनी रोटीके लिए श्रम करें, तो ऊंच-नीचके भेद मिट जायंगे; धनी तो फिर भी रहेंगे, परन्तु वे अपनेको अपनी सम्पत्तिके संरक्षक समझेंगे और उसका उपयोग मुख्यतः सार्वजनिक हितमें ही करेंगे ।" [गांधीजी, 'फ्रॉम यरवडा मन्दिर', अहमदाबाद, १९४५, पृ. ३६]

प्रिन्स क्रोपॉटकिनने अपनी पुस्तक 'दि कांक्वेस्ट ऑफ ब्रेड' के एक मर्मस्पर्शी प्रसंगमें वर्णन किया है कि किस प्रकार फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके सभी महान दिनोंमें "सबसे बड़ा दिन वह था जिस दिन फ्रांसके सारे भागोंसे पेरिसमें आये हुए समस्त प्रतिनिधियोंने हाथमें फावड़े लेकर काम किया था और संघके उत्सवके लिए कैम्प द मार्सके मैदानको समतल कर दिया था ।"

उस दिन समूचा फ्रांस एक हो गया । नवीन भावनासे अनुप्राणित हो कर उसने धरती पर एक साथ काम करके उज्ज्वल भविष्यके दर्शन कर लिये ।

और आगे भी धरती पर एक साथ मिलकर काम करनेसे ही स्वाधीन बने हुए समाजोंमें एकता स्थापित होगी और जिस द्वेष तथा उत्पीड़नने उन्हें अब तक विभाजित कर रखा है वह मिटेगा ।

आइन्दा एकताकी कल्पना कर सकनेके कारण नया समाज युवावस्थाकी समस्त शक्ति और उत्साहके साथ भविष्य पर विजय प्राप्त करनेके लिए आगे बढ़ेगा, क्योंकि एकताकी यह प्रचंड शक्ति मनुष्यकी शक्तिको और उसके सृजन-बलको सौगुना बढ़ाती है ।

जब समाज अज्ञात ग्राहकोंके लिए उत्पादन करना बन्द कर देगा और अपने ही सदस्योंकी जरूरतें तथा रुचियां पूरी करने लगेगा, तब वह उदारतासे अपने प्रत्येक सदस्यको जीवन-निर्वाह, सुख-आराम और स्वेच्छासे चुने गये तथा स्वेच्छासे पूरे किये गये कामसे प्राप्त होनेवाले नैतिक संतोषका तथा दूसरोंके जीवनमें हस्तक्षेप किये बिना मिलनेवाले जीवनके आनन्दका आश्वासन देगा ।

एक नये साहससे प्रेरित होकर — और वह साहस एकताकी भावनासे उत्पन्न होगा — सब साथ साथ ज्ञान और कलात्मक सर्जनके उदात्त आनंदकी प्राप्तिके लिए आगे बढ़ेंगे । [क्रोपॉट्किन, 'दि कांक्वेस्ट ऑफ ब्रेड', लंदन, १९१३, पृ. २९५-९६]

गांधीजी चरखेके पुनरुद्धारके लिए और एक ऐसी समाज-व्यवस्थाकी स्थापनाके लिए उत्कंठित थे, जिसमें चरखे द्वारा प्रकठ होनेवाले मूल्य पूरी तरह व्यक्त हों । इस उत्कंठाकी जड़में उनकी यह आंतरिक अभिलाषा थी कि करोड़ों मेहनतकशोंके साथ तादात्म्य स्थापित करके वे परम प्रभुके साथ एकाकार हो जायं ।

---

* यहां कहनेका आशय यह है कि हिस्टीरियाके रोगीकी शारीरिक पीड़ा उतनी ही होती है जितना उसने अपनी मानसिक पीड़ासे भागनेका प्रयत्न किया होगा । इसी प्रकार उसकी मानसिक पीड़ा उतनी ही होती है जितना उसने शारीरिक पीड़ासे भागनेका प्रयत्न किया होगा । रोगी इस बातको समझता है । वह – पुरुष हो या स्त्री—जिन तथ्योंको उसने अपनी चेतनासे जबरन् दूर करनेका प्रयत्न किया हो उनका सामना करना सीखता है तभी उसका रोग मिटता है ।

१६

परंतु एक बात स्वीकार कर लेनी चाहिये । गांधीजीकी अर्थ-व्यवस्थासे हम किसी जबरदस्त युद्धशक्तिका निर्माण नहीं कर सकेंगे । आजके युद्धका स्वरूप ही ऐसा है कि उसे कोई ऐसा राष्ट्र सफलतापूर्वक नहीं लड़ सकता, जिसके पास बड़ी बड़ी मशीनोंके उद्योगकी अत्यंत

विकसित प्रणाली न हो और उसके साथ उपभोगकी वस्तुओंके सामूहिक उत्पादनका उद्योग न जुड़ा हो – जिसे युद्धकालमें शस्त्रास्त्र तथा अन्य युद्ध-सामग्री तैयार करनेवाले उद्योगमें तुरंत बदला जा सके। इसके सिवा, आधुनिक युद्धका संचालन सफलतापूर्वक वे ही राष्ट्र कर सकते हैं, जो अपनी समूची जन-शक्तिको अनिवार्य भरती द्वारा सैनिक या औद्योगिक कार्यमें लगा सकते हों। और, लोगोंकी सार्वत्रिक अनिवार्य भरती या भारी युद्धकालीन करोंके रूपमें सम्पत्तिका एकत्रीकरण तभी उत्तम ढंगसे किया जा सकता है जब लोगोंकी बड़ी संख्या अपनी आजीविकाके लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवाले निजी मालिकों और संघों पर या सबसे बड़े संघ—राज्य पर निर्भर करे। गृह-उद्योगोंसे दिनोंदिन बढ़नेवाले युद्धतंत्रके लिए पैसा नहीं मिल सकता।

इसलिए लोगोंको अपना रास्ता स्वयं चुन लेना है। यदि उन्हें शस्त्रास्त्र चाहिये – एक प्रचण्ड और विशाल युद्धतंत्र चाहिये – तो उसका उपाय बड़े चैमाने पर उत्पादनकी केन्द्रित यांत्रिक प्रणाली है। तब उनमें भी शस्त्रास्त्रोंके राजा या "मौतके सौदागर" होंगे, स्नीडर और स्कोडा होंगे, जो अपने अतिरिक्त शस्त्रास्त्र अपने संभावित शत्रुओंको युद्धोंके बीचकी अवधिमें बेच कर भारी मुनाफा कमानेमें हिचकिचायेंगे नहीं। सरकारें भी शान्तिकालमें अपने शस्त्रास्त्रोंके कारखानोंको पूरी तरह चालू रखनेके लिए इस तरहके व्यवसायकी ओर आंखें बन्द करती देखी गई हैं या उन्हें प्रोत्साहन देती भी पाई गई हैं। और युद्ध छिड़ जाने पर ये शस्त्र शत्रु द्वारा उसी देशके खिलाफ उपयोग किये जा सकते हैं जिसने उन्हें तैयार किया है – जैसा कि गत दोनों विश्वयुद्धोंके जमानेमें हुआ था। इसके विपरीत, यदि हम करोड़ों लोगोंके लिए शान्ति, स्वतंत्रता, स्वास्थ्य और विपुलताकी स्थापना करना चाहते हों और सच्चे अर्थमें संस्कृतिका विकास चाहते हों, तब तो ये सब चीजें गांधीजीकी पद्धतिका अनुसरण करनेसे बहुत आसानीसे प्राप्त की जा सकती हैं।

हमसे कहा जायगा, "परन्तु तब तो हमारे पड़ोसी हमें निगल जायंगे।" गांधीजीका कहना था कि जो राष्ट्र एक ही पीढ़ीके अल्पकालमें बलशाली ब्रिटिश सत्ताको घुटने टेक देने पर मजबूर कर सका, उसके लिए यह भय अशोभनीय है। जिस राष्ट्रने अहिंसक असहयोग और आमरण अहिंसक प्रतिरोधकी कला सीख ली है, उसे न तो कोई शक्ति आसानीसे निगल सकती है, न

हजम कर सकती है । सही परिस्थितियोंमें आक्रमणके विरुद्ध अहिंसक रक्षा करनेसे शस्त्र-प्रयोगकी अपेक्षा अधिक चमत्कारी परिणाम आ सकते हैं । शर्त यही है कि लोग किसी भी प्रकारसे आक्रमणकारीके आगे झुकने या उसके साथ सहयोग करनेके बजाय मर मिटनेका दृढ़ निश्चय कर लें । यह निश्चय तो सशस्त्र रक्षाके लिए भी उतना ही जरूरी है । जिस देशमें गृह-उद्योगों और आत्म-निर्भर गांवों पर आधारित विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था हो, वह जितनी डट कर दीर्घकाल तक आक्रमणकारीका अहिंसक प्रतिरोध कर सकता है उतना वह देश नहीं कर सकता, जिसका जीवन अत्यंत पेचीदा यंत्र-प्रधान अर्थ-व्यवस्थाके आधार पर संगठित होता है । ऐसा प्रतिरोध अन्तमें आक्रमणकारीको थका देता है और उसे विवश होकर समझौता करना पड़ता है – खास कर जब संख्याबल रक्षा करनेवालोंके पक्षमें हो । केन्द्रित कारखानोंके आधारवाली अर्थ-व्यवस्था शत्रुके लिए प्रलोभनका साधन बनती है । उसे हथिया कर या तोड़-फोड़ कर वह किसी राष्ट्रके समूचे जीवनको ठप कर सकता है और लोगोंको घुटने टेकनेके लिए विवश कर सकता है । अमृतसरमें यही हुंआ था जब जनरल डायरने १९१९ के फौजी शासनके दिनोंमें शहरकी पानी और बिजलीकी व्यवस्था तोड़ दी थी । आत्म-निर्भर गांवों और ग्राम-समूहों पर आधारित ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था इतनी आसानीसे टूट नहीं सकती और विनाशके बाद उसका उद्धार भी अधिक जल्दी हो जाता है । जैसा गांधीजीने कहा था, एक गांवके बाद दूसरे गांवको और एक घरके बाद दूसरे घरको उड़ाते उड़ाते सारे उप-महाद्वीपको जड़ा देनेमें बहुत लम्बा समय लगेगा । “हिटलरका ऐसा इरादा भी हो, तो वह हमारे सात लाख अहिंसक गांवोंका ध्वंस नहीं कर सकता । इस प्रक्रियामें वह स्वयं अहिंसक बन जायगा ।” [हरिजन, ४ नवम्बर १९३९, पृ. ३३१]

इसके सिवा, इस बातकी क्या गारंटी है कि शस्त्रास्त्र आक्रमणके विरुद्ध हमेशा सफल ही सिद्ध होंगे ? और अगर शस्त्रास्त्र असफल सिद्ध हों – जैसे कि वे श्रेष्ठ शस्त्रास्त्रोंके सामने अनिवार्य रूपमें होते हैं और कभी कभी घटिया हथियारोंके सामने भी होते हैं—तब क्या हो ? यह सामान्य अनुभव है कि जब लोग शस्त्रास्त्र पर भरोसा करते हैं, तब उनके असफल सिद्ध होने या

छिन जाने पर पतनकारी समर्पणके सिवा लोगोंके सामने कोई चारा नहीं रह जाता । गांधीजीने हमें चेतावनी दी थी कि यदि हमने मैजिनो लाइनके तत्त्वज्ञानमें विश्वास रखा, तो वह हमारे लिए खतरनाक जाल साबित होगा । फ्रांसकी परीक्षाके समय वह काम नहीं आया और इसी तरह सिगफ्रीड लाइनका तत्त्वज्ञान हिटलरकी जर्मनीके भी काम नहीं आया और अन्तमें उसका सम्पूर्ण विनाश हुआ । परन्तु जिन लोगोंको सत्याग्रहका शस्त्र चलानेकी तालीम मिल जाती है, उनके हाथमें अपने सम्मान और स्वाभिमानकी रक्षाका एक शक्तिशाली और अचूक उपाय हमेशा मौजूद रहता है । गांधीजीने इसका रहस्य हमारे सामने उस समय प्रकट किया था जब दूसरे विश्वयुद्धके सबसे अन्धकारपूर्ण कालमें भारत पर जापानी आक्रमणका खतरा पैदा हो गया था (देखिये परिशिष्ट- १) । उससे हम अपने सिरोंको ऊंचे और नैतिक उत्साहको सजीव बनाये रख सके थे । आखिरी बात यह है कि सत्याग्रहमें विनाशका अर्थ अस्तित्वका मिट जाना नहीं होता । और यदि किसी शक्तिशाली पड़ोसीके संभावित आक्रमणसे पैदा होनेवाली बड़ी समस्याका एकमात्र हल आमरण युद्ध मान लिया जाय, तो फिर आत्म-समर्पण किये बिना मृत्युपर्यन्त अहिंसक असहयोग करना उसका हल क्यों न माना जाय ?

आजकलकी सिकुड़ती हुई दुनियामें राष्ट्रीय रक्षाका प्रश्न एक अर्थमें विश्वशान्तिके व्यापक प्रश्नका एक अंग है । हम उस दिनकी राह देख रहे हैं जब सभ्य राष्ट्र युद्धको बर्बरता और असभ्यताका सार समझकर निषिद्ध घोषित कर देंगे और पृथ्वी पर सर्वत्र शान्तिका राज्य होगा । किसी विश्व-संस्थाके द्वारा शान्ति-स्थापन हमारे वर्तमान युगका एक स्वप्न है । परन्तु प्रश्न यह है कि अपने निर्णयोंको व्यवहारमें लानेकी शक्ति उसमें कैसे आये ? यदि हमारी स्मृतिमें होनेवाले दो विश्वयुद्धोंने कोई एक बात अन्तिम रूपमें सिद्ध की हो, तो वह है "युद्धके द्वारा युद्धका अन्त करने" की कल्पनाका खोखलापन । किसी विश्वसंस्थाके द्वारा शान्ति-स्थापन तब तक निरा सपना बना रहेगा जब तक हमारे पास एकमात्र पृष्ठबल सैनिक बल होगा, और वह भी वैसा जो आक्रमणकारीके पास होता है । आक्रमणको सैनिक बलसे दबानेके लिए विश्वसंस्थाको निर्दयतामें आक्रमणकारीसे भी आगे बढ़ जाना होगा; आधे मनसे यह उपाय अपनानेसे इसमें

सफलता नहीं मिलेगी । परन्तु वैसा किया गया तो भी कोई विशेष आक्रमणकारी तो नष्ट हो जायगा, लेकिन उसकी पद्धति तो बनी ही रहेगी । यह विजय आवश्यक रूपमें सत्य या न्यायकी नहीं होगी, परन्तु अधिक शक्तिशाली पशु-बलकी विजय होगी । और यदि विश्वसंस्था स्वयं भ्रष्ट हो गई अथवा उसमें सत्ताकी राजनीतिका बोलबाला हो गया और उसने गलत निर्णय दिया – यदि रक्षक ही भक्षक बन गया –तो फिर शान्तिके रक्षकोंकी रक्षा कौन करेगा ? तब क्या न्यायकी हत्या हो जायगी और इसके विरुद्ध पुकार या अपील करनेकी कोई आशा या उपाय ही नहीं रहेगा ? कोई भी मानव- संस्था पूर्ण नहीं होती । आल्डस हक्सलेके शब्दोंमें जब तक सत्ताकी लालसा बनी हुई है तब तक कोई राजनीतिक व्यवस्था, भले उसकी रचना कितनी ही चतुराईसे क्यों न की गई हो, शान्तिकी गारंठी नहीं दे सकती । और एक सर्व-शक्तिमान विश्वसंस्थाको यदि आणविक विनाशकी सत्ता दे दी जाय और वह असहिष्णु, अहंकारी या भ्रष्ट हो जाय, तब तो उसके द्वारा जो अत्याचार हो सकता है वैसा मानव-जातिने आज तक कभी देखा या जाना नहीं होगा ।

जिस विश्वसंस्थाके पीछे कोई नैतिक या अहिंसक बल होगा, वही विश्व-शान्तिकी गारंटी दे सकती है । १९३१ में जिनेवामें राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) के बारेमें बोलते हुए गांधीजीने कहा था : *मुझे सदा ही यह लगा है कि राष्ट्रसंघके पीछे आवश्यक बल नहीं है । . . . मैं आपके समक्ष यह सुझानेका साहस करता हूं कि हमने भारतमें जो उपाय अपनाये हैं उनसे राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाको आवश्यक बल मिल जायगा ।" [यंग इंडिया, १४ जनवरी १९३२, पृ. १७] विश्व-सरकारकी गांधीजी की कल्पना यह थी कि उसमें संसारके सब राज्य स्वतन्त्र और समान होंगे, किसी राज्यकी अपनी सेना नहीं होगी । "सभी राज्योंका निःशस्त्री-करण कर दिया जायगा ।" [सैन फ्रांसिस्को सम्मेलनके अवसर पर गांधीजीका निवेदन, अप्रैल १९४५] जब तक सब राज्योंका अहिंसामें विश्वास नहीं हो जायगा तब तक व्यवस्था बनाये रखनेके लिए विश्व-पुलिस हो सकती है । परन्तु वह "मानव-दुर्बलताके लिए एक रिआयत होगी, . . . शान्तिकी निशानी नहीं।" [वही] यह आन्तर-राष्ट्रीय सेना भी अधिकांशमें शान्तिसेना जैसी होगी, न कि विनाशकी असीस शक्ति रखनेवाली कोई आधुनिक सेना । गांधीजीकी रायमें प्रमाणित हो चुके अधिकारोंकी

रक्षाके लिए शस्त्रास्त्र अनावश्यक हैं । "प्रमाणित अधिकारोंकी रक्षा असभ्य यानी क्रूर उपायोंके बजाय सही उपायोंसे हो जानी चाहिये ।" [हरिजन, १४ अक्तूबर १९३९, पृ. ३०१]

इस प्रकार इस संदर्भमें किसी विश्वसंघकी सफलताकी अनिवार्य शर्त छोटे-बड़े सब राष्ट्रोंकी समानता और स्वाधीनता होगी । गांधीजीने कहा था: "और उस स्वाधीनताका स्वरूप जिस हद तक सम्बन्धित राष्ट्र अहिंसाको पचा लेंगे उसके अनुरूप होगा ।" [हरिजन, ११ फरवरी १९३९, पृ. ८] इसलिए युद्धमुक्त जगतकी प्राप्तिके लिए संघमें शामिल होनेवाले घटकोंकी अर्थ-व्यवस्था सब प्रकारके शोषणसे मुक्त होनी चाहिये –

उसमें अमीर गरीबोंका, विशिष्ट वर्ग जन-साधारणका, शहर गांवोंका और बलवान तथा उन्नत जातियां दुर्बल या तथाकथित अविकसित जातियोंका शोषण न कर पायें ।

गांधीजीकी दलील यह थी कि संसार जीनेके लिए इतना असुरक्षित स्थान बन गया है, इसका कारण यह है कि जहां बड़ी सत्ताओं सहित सब लोग शान्तिकी और युद्धका उन्मूलन करनेकी बातें करते हैं, वहां वे उन चीजोंको छोड़ देनेके लिए तैयार नहीं होते जिनके लिए युद्ध लड़े जाते हैं । स्पष्ट है कि साम्राज्यवादी शक्तियां "अपनी साम्राज्यवादी योजनाओंको छोड़े" बिना शस्त्रास्त्रोंका परित्याग नहीं कर सकतीं । और इन इरादोंको छोड़ना तब तक सम्भव नहीं "जब तक ये बड़े राष्ट्र आत्म-घातक स्पर्धामें विश्वास रखना और आवश्यकतायें बढ़ाते जाने और उसके लिए अपनी भौतिक सम्पत्ति बढ़ानेकी इच्छा रखना न छोड़ेंगे ।" [हरिजन, १६ मई १९३६, पृ. १०९। १९३१ में गांधीजीने लिखा था : "सिर्फ सैनिक सेवासे इनकार कर देना काफी नहीं है । जब विशेष समय आये तब सैनिक सेवा देनेसे इनकार करना उस बुराईसे लड़नेका सारा समय बीत जानेके बाद इनकार करना हुआ । बीमारी अधिक गहरी है, सैनिक सेवा तो उसका रक्षण मात्र है । आपसे मेरा कहना यह है कि जिनके नाम सैनिक सेवाकी सूचीमें दर्ज नहीं हैं, वे भी उतने ही पापके भागी हैं, यदि वे दूसरी तरह राज्यका समर्थन करतें हैं । . . . प्रत्येक व्यक्ति, वह बूढ़ा हो या जवान, कर चुकाकर राज्यको टिकाये रखनेके पापमें शामिल होता है । इसीलिए महायुद्धके

दिनोंमें मैंने अपने आपसे कहा कि जब तक मैं सेनाके सहारे गेहूं खाता हूं तब तक सिपाही बननेके सिवा अन्य सब कुछ मैं कर रहा हूं । इसलिए मेरे लिए उत्तम बात यही है कि मैं सेनामें भरती होकर गोलीसे मारा जाऊं । नहीं तो हिमालयमें चला जाऊं और प्रकृतिके उगाये हुए फल खाऊं। इसलिए जो लोग सैनिक सेवाको बन्द करना चाहते हैं, उन सबको हर प्रकारका सहयोग वापस ले लेना चाहिये । राज्यको सहारा देनेवाली सारी व्यवस्थाके साथ असहयोग करनेकी अपेक्षा केवल सैनिक सेवासे असहयोग करना बहुत छिछली चीज है ।" – यंग इंडिया, ३१ दिसंबर १९३१, पृ. ४२६] इसलिए पिछले विश्वयुद्धके दौरान गांधीजीने अपने अंग्रेज शान्तिवादी मित्रोंको यह चेतावनी दी थी कि उन्हें "नम्र इंग्लैंडवासी" बनना पड़ेगा और रहन-सहनके उस उच्च स्तरका त्याग करनेको तैयार रहना होगा जिसके वे आदी हो गये हैं; तभी वे विश्व-शान्तिके लिए प्रभावकारी काम कर सकेंगे ।

युद्ध रणके मोर्चों पर शुरू नहीं होते । और न युद्धके वस्तुतः बन्द हो जाने पर शान्ति अपने-आप लौट आती है । युद्धकी जड़ें उन परिस्थितियोंमें होती हैं, जो हमारे आजके समाजमें व्यापक बन गई हैं । इसीलिए, जैसा नॉर्मन थॉमसने अपनी पुस्तक 'दि कॉन्सेन्शियस ओब्जेक्टर इन अमेरिका' में बताया है, युद्धमें भाग लेनेके बारेमें सिद्धान्तवादी विरोधियोंका निषेधात्मक रवैया अपर्याप्त सिद्ध होता है । आजकल आन्तर-राष्ट्रीय तनाव बहुधा राष्ट्रोंके भीतरी सामाजिक तथा आर्थिक तनावोंकी प्रतिक्रिया होते हैं । युद्धका उन्मूलन करनेके लिए हमें इन तनावोंको जड़से मिटाना होगा । इसलिए गांधीजीने कहा था कि ऐसी अहिंसक शोषण-रहित अर्थ-व्यवस्था, जिसमें सबके लिए समानता और सामाजिक न्यायका आश्वासन हो, विश्व-शान्तिके लिए पक्की गारंटी और आक्रमण होने पर देशके लिए उत्तम रक्षा सिद्ध होगी ।

ऐसा देश न तो किसीका शोषण करेगा और न उसे किसीकी तरफसे शोषणका डर रहेगा, इसलिए वह सारे सास्त्रास्त्रोंका त्याग कर देगा और "अपने पड़ोसियोंके साथ अत्यन्त मित्रतापूर्वक रहने" [हरिजन, २० अप्रैल १९४०, पू. ९६] की कोशिश करेगा । वह "किसी विदेशी भूभागका लोभ नहीं करेगा ।" [वही] वह अपने भौतिक तथा नैतिक साधनोंका उपयोग केवल

अपने स्वार्थपूर्ण हेतुओंके लिए नहीं करेगा, बल्कि अपनी सीमा पारकी उन प्रजाओंकी सेवामें भी करेगा, जो पिछड़ी हुई होंगी या और किसी तरहकी तंगी भोगती होंगी । अपनी रक्षाके लिए "वह सारे संसारके सद्भाव पर भरोसा रखेगा ।" [हरिजन, १० फरवरी १९४०, पु. ४४१] इस प्रकार कमजोरसे कमजोर राज्य भी अहिंसाकी कला सीखकर "अपनेको आक्रमणसे सुरक्षित कर लेगा," जब कि "कोई छोटा राज्य, वह कितने ही शक्तिशाली हथियारोंसे सुसज्जित क्यों न हो, शस्त्र-सज्जित राज्योंके बलशाली गुटके बीचमें जीवित नहीं रह सकता । या तो उसे ऐसे गुटके साथ मिल जाना पड़ेगा अथवा उसके किसी सदस्यके संरक्षणके अधीन रहना होगा ।" [हरिजन, ७ अक्तूबर १९३९, पु. २९३]

मान लीजिए कि किसी देश पर सशस्त्र आक्रमण होता है । अहिंसा द्वारा उसका सामना करनेकी गांधीजीने एक कार्य-योजना बताई है । उसे तीन भागोंमें बांटा जा सकता है : आक्रमणसे पहले, आक्रमण-कालमें और आक्रमणके बाद । आक्रमणसे पहले इस योजनाका रूप यह होगा कि आक्रमणकारीका आक्रमण होने तक प्रतीक्षा न करके उस पर पहले ही सद्भाव, सहानुभूति, सेवा तथा प्रेमके स्वार्थरहित कार्योंका "प्रति-आक्रमण" कर दिया जाय । इतिहास-प्रसिद्ध भयंकर पठान योद्धाओंके प्रदेश उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्तके उस पारसे होनेवाले धावोंको रोकनेके लिए गांधीजीने इस पद्धतिके उपयोगकी कैसी योजना बनाई थी, इसका वर्णन मेरी पुस्तक 'ए पिल्ग्रिमेज फॉर पीस' में मिलेगा । छोटे पैमाने पर यह पद्धति पूरी सफलताके साथ तब आजमायी गयी थी जब गांधीजीके साबरमती आश्रमको आश्रमके पड़ोसमें बसी हुई एक जरायमपेशा जातिके लोग तंग करने लगे थे ।

आक्रमण-कालमें कार्य-पद्धति यह होगी कि देशका बच्चा बच्चा मरते दम तक अहिंसक प्रतिरोध करे, आक्रमणकारीके प्रति सम्पूर्ण असहयोग किया जाय और जब भी मौका मिले आक्रमणकारी सेनाके सैनिकोंकी मानवोचित सेवा करनेसे न चूका जाय । जब भारत पर जापानी आक्रमणका खतरा खड़ा हो गया था और ब्रिटिश सरकारने अपनी सेनाएं किसी दूरकी रक्षा-पंक्ति

तक हटा लेनेका निर्णय कर लिया था, जिससे देशके बड़े भाग आक्रमणकारीके लिए खुले हो जाते, तब गांधीजीने इस बारेमें एक विस्तृत कार्य-योजना तैयार की थी । [देखिये परिशिष्ट – क]

यदि पहली दोनों स्थितियोंके लिए बताई गई कारवाई असफल सिद्ध हो जाय और आक्रमणकारी आकर देश पर अधिकार कर ले, तब प्रतिरोधका रूप होगा अहिंसक असहयोग और अन्य सब प्रकारका सत्याग्रह ।

गांधीजीसे एक बार पूछा गया : "अगर कोई आक्रमणकारी अहिंसाके लिए प्रतिज्ञाबद्ध किसी देशकी तटस्थताका भंग करके किसी छोटे पड़ोसी राज्य पर टूट पड़नेकी धमकी दे, तब तटस्थ देश क्या करे?" उन्होंने उत्तर दिया कि वह अपने पड़ोसीकी स्वाधीनताके नाशका निष्क्रिय साक्षी रहनेके बजाय आक्रमणकारीको मार्ग देनेसे इनकार कर देगा, कोई भी साधन-सामग्री उसे नहीं देगा और "उसे अपनी लाशों पर होकर गुजरनेकी" चुनौती देगा । "आप ऐसा कह सकते हैं कि सेना क्रूर बनकर उन्हें कुचलती हुई निकल जायगी । तब मैं कहूंगा कि आप अपना सर्वनाश होने देकर भी अपना कर्तव्य-पालन ही करेंगे । जो सेना निर्दोष स्त्री-पुरुषोंके शबों परसे गुजरनेकी हिम्मत करती है, वह दुबारा ऐसा प्रयोग नहीं कर सकेगी ।" [यंग इंडिया, ३१ दिसम्बर १९३१]

मान लीजिये कि बुरीसे बुरी स्थिति खड़ी हो और मित्र तटस्थ सत्ता या सत्तायें आक्रमणको रोकनेमें समर्थ न हों, तब भी अहिंसाके दो मार्ग खुले रहेंगे । एक होगा : अपने पर आक्रमणकारीको अधिकार तो करने दिया जाय, लेकिन उसके साथ असहयोग किया जाय । दूसरा मार्ग है : आखिरी आदमी तक मृत्युपर्यन्त उसका अहिंसक विरोध किया जाय । "देशके लोग निरस्त्र होकर आक्रमणकारीकी तोपके शिकार होनेके लिए अपने आपको अर्पण कर देंगे। . . . आशाके विपरीत स्त्रियों और पुरुषोंकी अनन्त धाराओंको अपनी इच्छाके सामने झुकनेके बदले मैदानमें मरते देखकर अन्तमें आक्रमणकारीका हृदय और उसकी वीरता पसीज उठेगी ।" [हरिजन, १३ अप्रैल १९४०, पृ. ९०]

शंकाशील लोग यहां यह प्रत्युत्तर दे सकते हैं कि आक्रमणकारी कदाचित् बल-प्रयोग करनेसे "बुद्धिमत्तापूर्वक बचेगा", परन्तु जो कुछ उसे चाहिये सिर्फ उसी पर अधिकार कर लेगा। मान लीजिये कि वह आ गया और उसने राष्ट्रकी खानों, कारखानों और प्राकृतिक सम्पत्तिके सब साधनों पर अधिकार जमा लिया, तो ऐसी परिस्थितिमें अहिंसक प्रतिरोध क्या कर सकेगा? अहिंसाके अपनानेसे केवल इतना ही अंतर पड़ेगा कि आक्रमणकारीको रक्तरंजित युद्ध करके जो कुछ मिलता वह बिना युद्धके ही मिल जायगा । इस पर गांधीजीका उत्तर यह है कि ऐसी सूरतमें तीनमें से कोई एक बात हो सकती है : (१) आक्रमणके शिकार बने हुए लोग अपने देश पर किये जानेवाले अधिकारका अहिंसक विरोध करते हुए सर्वनाशका स्वागत करें । यह उनके लिए एक "भव्य विजय" और आक्रमणकारीके "पतनका आरंभ" होगा । (२) संभव है जबरदस्त शक्तिके सामने वे हिम्मत हार जायं । "यह परिणाम सामान्यतः सब संग्रामोंमें होता है । लेकिन अगर लोग हिम्मत हार जायं, तो भी ऐसा अहिंसाके कारण कभी नहीं होगा ।" (३) आक्रमणकारी नये अधिकृत प्रदेशोंका उपयोग अपनी अधिक जनसंख्याको बसानेमें करे । "इसे भी हिंसक प्रतिरोध करके नहीं रोका जा सकता, क्योंकि हमने मान लिया है कि हिंसक प्रतिरोध किया ही नहीं जायगा । इस प्रकार सभी सम्भव परिस्थितियोंमें अहिंसक प्रतिरोध ही एकमात्र उत्तम उपाय है ।" [हरिजन, २४ दिसम्बर १९३८, पृ. ३९५] इसके सिवा, अहिंसक प्रतिरोधमें केवल वे ही लोग मारे जायंगे "जिन्होंने जरूरत पड़ने पर किसीको मारे बिना और किसीके प्रति द्वेष रखे बिना स्वयं मारे जानेकी तालीम पाई है ।" [हरिजन, २२ जून १९४०, पृ. १७२] अहिंसक शौर्यके ऐसे पराक्रमसे रक्षकोंका नैतिक स्तर कल्पनातीत रूपमें उठ जायगा और मानव-जातिका सुषुप्त अन्त:करण जाग उठेगा । इसके विपरीत, रक्तरंजित युद्धसे कभी किसी प्रश्नका निबटारा नहीं होता और अन्तमें उससे विजित और विजेता दोनोंका पतन होता है ।

१९३८ में जब जापान चीनको रौंद रहा था, तब विदेशोंसे आई हुई एक मंडलीसे बातचीत करते हुए गांधीजीने कहा था: "यदि चीनियोंमें मेरी कल्पनाकी अहिंसा हो, तो जापानके पास विनाशके जो नयेसे नये यन्त्र हैं उनका कोई उपयोग ही न रह जाय । चीनी लोग जापानसे कहेंगे,

'तुम अपने सब यंत्र ले आओ, हम अपनी आधी जनसंख्या तुम्हें सौंपते हैं । परन्तु बाकीके बीस करोड़ आदमी तुम्हारे सामने घुटने नहीं टेकेंगे ।' अगर चीनी लोग ऐसा करें, तो जापान चीनका दास बन जाय ।" [हरिजन, २४ दिसम्बर १९३८, पू. ३९४] परन्तु गांधीजीने यह स्पष्ट कर दिया कि अपनी अहिंसाको सफल बनानेके लिए चीनियोंको जापानियोंसे प्रेम करना होगा – उनके गुणोंको याद करके ही नहीं, बल्कि "उनके सब दुष्कर्मोंके बावजूद ।" [हरिजन, २८ जनवरी १९३९, पृ. ४४२]

यह पूछा जा सकता है कि स्वतन्त्रतासे लाभ ही क्या, यदि उसका उपभोग करनेवाला कोई बाकी न रहे ? गांधीजी इस प्रश्नका उत्तर एक प्रश्न करके देते हैं : "जब सशस्त्र सैनिकोंके संपूर्ण दल गोलियोंकी वर्षामें घुस कर मर जाते हैं तब स्वतन्त्रताका उपभोग कौन करता है ?" वे पूछते हैं, क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं कि सैनिक लड़ता तो है, लेकिन वह जीतके फल भोगनेकी कभी आशा नहीं करता ? "लेकिन अहिंसाके मामलेमें प्रत्येक व्यक्ति यह मानकर चलता दिखाई देता है कि कमसे कम वह स्वयं यदि सफलताका फल भोगनेको जीवित न बचे, तो अहिंसक पद्धतिको असफल मान लेना चाहिये । यह तर्कहीन भी है और अप्रामाणिक भी है । सशस्त्र युद्धकी अपेक्षा सत्याग्रही युद्धमें यह कथन अधिक सच है : 'जीता है वह जो मर गया इन्सानके लिए' ।" [हरिजन, २८ जुलाई १९४०, पृ. २२७]

और यह आपत्ति भी उठाई गई है कि युद्ध तो जब जान-मालके लिए खतरा पैदा हो जाता है तब उनकी रक्षाके लिए लड़े जाते हैं । परन्तु गांधीजीने कहा है कि "जब तक हममें जान-मालको बचानेकी इच्छा बनी हुई है तब तक हमारी अहिंसाको शुद्ध नहीं कहा जा सकता ।" [हरिजन, ८ सितम्बर १९४०, पृ. २७६] क्या इससे अहिंसाके द्वारा जान-मालकी रक्षाका सारा विचार ही निरर्थक नहीं बन जाता ? गांधीजीके पास इसके लिए भी उत्तर था । हथियारोंके युद्धकी तरह अहिंसक युद्धमें भी "सब लोग सेनामें भरती नहीं होंगे । परन्तु जो अहिंसाके द्वारा लाखों-करोड़ोंकी रक्षा करनेको तैयार हैं, उन्हें तो सभी सांसारिक आसक्तियां छोड़नी ही होंगी ।" [वही] यह भी जरूरी नहीं कि राष्ट्रीय पैमाने पर सफलतापूर्वक अहिंसक प्रतिरोध कर सकनेसे पहले

देशके सब लोगोंकी अहिंसामें श्रद्धा होनी ही चाहिये । हथियारोंके युद्धमें प्रत्येक सैनिक युद्ध-विज्ञानका निष्णात नहीं होता और न उसके निष्णात होनेकी जरूरत है । गांधीजीने कहा है कि इसी तरह अहिंसक संग्राममें इतना काफी है कि सेनापतिकी अहिंसामें सजीव श्रद्धा हो और लोगोंकी अपने सेनापतिमें श्रद्धा हो तथा अहिंसाका इतना अनुशासन हो कि वे सेनापतिकी आज्ञाओंका पालन सैनिकोंकी तरह वफादारी और शुद्ध मनसे करें । इसलिए उन्हें अपने आन्दोलनके लिए "अहिंसाके सिद्धान्तमें पूर्ण अथवा अपूर्ण श्रद्धा रखनेवालोंकी जरूरत नहीं थी। इतना काफी था कि लोग अहिंसक कार्रवाईके नियमोंका पालन करें ।" ['गांधीजीज़ कॉरेस्पोण्डेन्स विथ दि गवर्नमेंट : १९४२-४४', अहमदाबाद, १९४५, पृ. १६९]

कुछ भी हो, ऐसा उपाय करनेमें कोई अर्थ नहीं जो युद्ध आरम्भ होनेसे पहले ही किसी राष्ट्रकी अर्थ-व्यवस्थाको नष्ट कर दे – भले ही जीत किसीकी भी क्यों न हो –और शान्तिकालमें भी इस डरसे लोकतांत्रिक स्वतन्त्रताओंको खतरेमें डाल दे कि युद्धसे वे स्वतन्त्रताएं छिन सकती हैं । गांधीजीने १९४० में लिखा था : "जो समाज हिंसाका सामना हिंसासे करनेका विचार पहलेसे ही रख कर उसके लिए प्रबन्ध करता है, वह या तो खतरेकी जिन्दगी बिताता है या बड़े बड़े शहर और रक्षाके लिए शस्त्रागार खड़े करता है । यूरोपकी स्थितिसे यह मान लेना अनुचित नहीं होगा कि वहांके शहर, विशालकाय कारखाने और भीमकाय शस्त्रास्त्र एक-दूसरेसे इतने घनिष्ठ रूपमें सम्बन्धित हैं कि एकके बिना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं रह सकता ।" [हरिजन, १३ जनवरी १९४०, पृ. ४११] युद्धमें जिन-जिन वस्तुओंका नाश होता है उनमें नागरिक स्वतन्त्रताओंका हमेशा पहला नम्बर आता है । फौजी तानाशाहोंके लिए युद्धके खातिर तैयार रहनेकी दलीलसे ज्यादा आसान और कोई दलील नहीं होती । इसी दलीलका सहारा लेकर वे "राष्ट्रीय एकता" के नाम पर निर्विवाद आज्ञा-पालनको तथा युद्धकालीन कार्य-क्षमताके नाम पर राष्ट्रकी जनता पर फौजी प्रकारका सर्वसत्ताधारी तन्त्र लादनेको उचित ठहराते हैं । गांधीजीने हमें यह चेतावनी दी है : "युद्ध-विज्ञान हमें शुद्ध तानाशाहीकी ओर ले जाता है । शुद्ध लोकतन्त्रकी दिशामें तो अहिंसाका विज्ञान ही हमें ले जा सकता है ।" [हरिजन, १५ अक्तूबर १९३८, पृ. २९०] इसीलिए गांधीजीने

कहा है कि लोकतन्त्रोंको या तो सचमुच अहिंसक बन जाना होगा या सर्वसत्ताधारी बन जाना होगा । [हरिजन, १२ नवम्बर १९३८, पृ. ३२८] अगर वे साहसपूर्वक अहिंसक न बनें तो उन्हें मजबूर होकर "फासिस्टों और नाजियोंकी सारी चालें अपनानी होंगी, जिनमें अनिवार्य फौजी भरती और जबरन् लोगोंसे आज्ञा-पालन करानेके अन्य सारे दमनकारी उपाय शामिल हैं ।" [हरिजन, १५ अप्रैल १९३९, पू. ९०]

इसीलिए गांधीजीने कहा है : "अगर मैं अकेला रह जाऊं तो भी डंकेकी चोट मैं अपना यह विश्वास घोषित करूंगा कि भारतके लिए यह बेहतर होगा कि अपनी सीमाओंकी रक्षा करनेके लिए भी वह हिंसाको बिलकुल अस्वीकार कर दे । भारतके लिए शस्त्रास्त्रकी दौड़में भाग लेना आत्महत्या करना होगा ।" [हरिजन, १४ अक्तूबर १९३९, पू. ३०५] २९ नवम्बर, १९४७ को अपने प्रार्थना-प्रवचनमें उन्होंने कहा था कि स्वतन्त्र भारतको बहुत बड़ी स्थायी सेना रखनेकी आवश्यकता नहीं । "स्वेच्छासे सेवाका व्रत लेनेवाले गृह-रक्षक लोगोंके घरोंकी रक्षा कर लेंगे और देशकी रक्षामें योग देंगे ।" निहत्थे भारतको नष्ट करनेके लिए जहरीली गैस या बमवर्षाकी आवश्यकता नहीं होगी । "मैजिनो लाइनके कारण ही सिगफ्रीड लाइनकी और सिगफ्रीडके कारण मैजिनो लाइनकी जरूरत हुई है । . . . अगर भारतके लोग दृढ़तासे 'ना' कहना और उसके अनुसार अमल करना सीख लेते हैं, तो मैं दावेसे कहता हूं कि कोई भी उस पर आक्रमण करना नहीं चाहेगा ।" [वही, पृ. ३०४]

१९४२ में लुई फिशरके साथ सेवाग्राममें बातचीत करते हुए गांधीजीने यह बात उन्हें समझायी थी : इसका अर्थ होगा सत्ताका पूरी तरह विकेन्द्रीकरण । "आप देखते हैं कि आजकल सत्ताका केन्द्र नई दिल्ली या कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े शहरोंमें है । मैं चाहता हूं कि यह सत्ता भारतके सात लाख गांवोंमें बांट दी जाय।" भारत सरकारके इम्पीरियल बैंकमें सुरक्षित रखे जानेवाले धनकी मिसाल देते हुए उन्होंने आगे कहा : "मैं चाहता हूँ कि सात लाख डॉलर . . . निकाल कर सात लाख गांवोंमें बांट दिये जायं । तब प्रत्येक गांवके पास अपना एक डॉलर होगा, जो नष्ट नहीं हो सकता । इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडियामें लगे हुए सात लाख डॉलरोंका जापानी

हवाई- जहाजके एक बमसे नाश किया जा सकता है; जब कि यदि वे डॉलर सात लाख हिस्सेदारोंमें बांट दिये जायं तो उनकी इस सम्पत्तिको कोई छीन नहीं सकता ।" [लुई फिशर, 'ए वीक विथ गांधी', बम्बई, १९४४, पृ. ६४]

गांधीजीकी दलील यह थी कि केन्द्रित अर्थ-व्यवस्थाको पर्याप्त बलके बिना टिकाया और सुरक्षित नहीं रखा जा सकता । परन्तु "सादे घरोंके लिए, जहांसे ले जानेको कुछ होता ही नहीं, किसी पुलिसकी आवश्यकता नहीं होती; धनवानोंके महलोंको डाकेसे बचानेके लिए शक्तिशाली रक्षक चाहिये । यही बात कारखानोंके लिए भी सच है । ग्रामीण दृष्टिसे संगठित भारतको जल, थल और हवाई सेनासे सुसज्जित शहरी भारतकी अपेक्षा आक्रमणका खतरा कम रहेगा ।" [हरिजन, ३० दिसम्बर १९३९, पृ. ३९१]

गांधीजीने कहा है : "इस प्रकार भारतकी भीतरी अर्थ-व्यवस्था आक्रमणसे उसकी रक्षा करनेवाला सबसे मजबूत किला साबित होगी ।" [यंग इंडिया, २ जुलाई १९३१, पृ. १६१] वह किसी भी सत्ताके लिए "लोभपूर्ण आकर्षण" की वस्तु नहीं रहेगा और "महंगे शस्त्रास्त्रका भार वहन किये बिना" [वही] अपनेको सुरक्षित अनुभव करेगा । इतना ही नहीं, भारत इस प्रकार आजादीके लिए संघर्ष करनेवाले संसारके दूसरे देशोंको रास्ता दिखा सकेगा । दुनिया भारतसे किसी "नई और अनोखी" चीजकी आशा रखती है । भारत यदि "वही पुराना घिसा-घिसाया कवच पहन लेगा, जिसे दुनिया आज पहने हुए है, तो दुनियाको उससे कोई लाभ नहीं होगा ।" [हरिजन, १४ अक्तूबर १९३९, पृ. ३०४]

१७

अंग्रेजोंके अधीन भारतको जबरन् निःशस्त्र बनाया गया था । इस कारणसे भारत निर्बल हो गया था । इसलिए क्या भारतको फिरसे सशस्त्र नहीं होना चाहिये और सच्चे अर्थमें अहिंसक बननेसे पहले शस्त्रोंके प्रयोगकी तालीम नहीं लेनी चाहिये ? कुछ लोगोंके इस प्रकार पूछने पर गांधीजीने कहा : "नहीं ।" उन्होंने युद्धको "गुंडागिरीके लिए एक प्रतिष्ठित शब्द" [हरिजन, १५

सितम्बर १९४६, पृ. ३१२] बताया था। जब देशके बहुतेरे लोग (नेताजी बोसकी) भारतीय राष्ट्रीय सेनाके जादूमें आ गये थे, तब उन्होंने चेतावनी दी थी, "भारतीय राष्ट्रीय सेनाके इन्द्रजालने हमको मंत्रमुग्ध कर लिया है।" [हरिजन, २४ फरवरी १९४६, पृ. २०] उन्होंने कहा कि भारतका निःशस्त्र होना अहिंसाके रास्तेमें रुकावट नहीं है। "ब्रिटिश सरकारका भारतको जबरदस्ती नि: शस्त्र करना वास्तवमें एक गंभीर भूल और निर्दय अन्याय था। परन्तु हम इस अन्यायसे भी लाभ उठा सकते हैं।" [हरिजन, १ सितम्बर १९४०, पृ. २६८] गांधीजीकी रायमें शस्त्रास्त्रोंकी तालीम अहिंसक साहसका विकास करनेके लिए सर्वथा अनावश्यक है। सच तो यह है कि "कोई शस्त्र हमारे पास हों भी तो हमें उन्हें फेंक देना होगा।" [वही] उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्तके पठानोंने खान अब्दुलगफ्फार खांकी प्रेरणा और नेतृत्वमें यही किया था। इससे अंग्रेजोंको यह स्वीकार करना पड़ा था कि अहिंसक पठान सशस्त्र पठानसे अधिक खतरनाक है। [देखिये प्यारेलाल, 'ए पिल्ग्रिमेज फॉर पीस', अहमदाबाद, १९५०, पृ. ७३] गांधीजीने कहा है कि अहिंसाकी सिद्धिसे पहले हिंसा सीखना अत्यावश्यक है, ऐसा समझना यह माननेके बराबर होगा कि केवल पापी ही संत हो सकते हैं। मानव-जातिने पहले जो शस्त्रास्त्र कभी देखे थे उनसे कहीं ज्यादा भयंकर शस्त्र अस्तित्वमें आ चुके हैं और दिन-दिन नये नये शस्त्रोंका आविष्कार हो रहा है। वे पूछते हैं : "जिसे सच्चे या काल्पनिक सब तरहके भयको जीतनेकी क्षमता पैदा कर लेनी है, उसे तलवार कौनसे भयसे मुक्त करेगी ? मैंने अभी तक ऐसे किसी मनुष्यके बारेमें नहीं सुना, जिसने तलवार चलाना सीख कर सब तरहका भय छोड़ दिया हो। महावीर और दूसरे लोगोंने अहिंसाको इसलिए आत्मसात् नहीं किया था कि वे शस्त्रोंका उपयोग जानते थे, बल्कि इसलिए किया था कि शस्त्रोंका उपयोग जानते हुए भी उन्होंने सब प्रकारका डर छोड़ दिया था।" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३१९]

इसके सिवा, गांधीजी कहते थे कि, "जिसने हमेशा तलवार पर आधार रखा है, उसके लिए उसे फेंक देना सदा कठिन रहेगा।" [वही] यह सच है कि जान-बूझ कर शस्त्रोंको छोड़ देनेसे "उसे संभवतः यह प्रतीत हो कि उसकी अहिंसा उस मनुष्यसे अधिक चिरस्थायी है, जो

उसका (तलवारका) प्रयोग न जानते हुए भी यह कल्पना कर लेता है कि वह तलवारसे नहीं डरेगा ।" [वही] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सच्चे अर्थमें अहिंसक होनेके लिए किसीके पास पहले शस्त्र होने जरूरी हैं और उन्हें चलानेका ज्ञान भी उसे होना चाहिये । "इस तरहके तर्कसे तो यह भी कहा जा सकता है कि केवल चोर ही ईमानदार हो सकता है, केवल रोगी मनुष्य ही स्वस्थ हो सकता है और केवल व्यभिचारी मनुष्य ही ब्रह्मचारी हो सकता है ।" [वही]

गांधीजीके पास दूसरे काम इतने अधिक थे कि उन कामोंके बीच उन्हें यहां वहां कुछ प्रयत्न करनेके अलावा अपनी कल्पनाकी अहिंसक सेनाके प्रशिक्षण और संगठनका प्रश्न हाथमें लेनेका समय ही नहीं मिला । परन्तु दूसरे विश्वयुद्धके छिड़ने पर प्रान्तोंके कांग्रेसी मंत्रि-मंडलोंके त्यागपत्र देनेके बाद, जब भारतके अनेक भागोंमें कौमी दंगे फूट पड़े थे, वे शान्तिसेनाओंके प्रशिक्षण और संगठनके बारेमें अपने विचारोंकी ठोस विस्तृत रूपरेखा तैयार करने लगे थे । यह चित्र आवश्यक रूपमें इसीलिए अधूरा है कि गांधीजीके पास आधारके लिए कोई पिछला अनुभव नहीं था । परन्तु समय समय पर उन्होंने सत्याग्रहके सैनिकोंके लिए आवश्यक अहिंसक तालीम और तैयारीके कुछ मूलभूत सिद्धान्त प्रतिपादित किये थें । उनका सार यहां देना उपयोगी हो सकता है ।

अहिंसक रक्षाके सफल संगठनके लिए पहली शर्त यह है कि उसकी संभाव्यतामें और मानव-स्वभावमें हमारा विश्वास हो । "मनुष्य प्राय: वैसा ही बन जाता है जैसा वह अपनेको मानता है । यदि मैं अपने मनमें कहता रहूं कि मैं अमुक काम नहीं कर सकता, तो सम्भव है कि मैं अन्तमें सचमुच उसे करनेमें असमर्थ हो जाऊं । इसके विपरीत, यदि मुझे विश्वास हो कि मैं उसे कर सकता हूं, तो मुझे अवश्य उसे करनेका सामर्थ्य प्राप्त हो जायगा, भले ही आरम्भमें वह सामर्थ्य मुझमें न भी रहा हो ।" [हरिजन, १ सितम्बर १९४०, पू. २६८]

कठिनाई यह है कि आम तौर पर जानी हुई प्रक्रियासे अहिंसक प्रक्रिया सर्वथा भिन्न है । भौतिक सृष्टिमें "अन्तिम सीमावाली" * घटनाओंके अध्ययनसे मालूम होता है कि जब अन्तिम

सीमा पार हो जाती है, तो पदार्थोंकी हलचलके साधारण नियम बदल जाते हैं और कभी कभी सर्वथा उलट भी जाते हैं । इसी तरहकी घटना उस समय भी होती है जब हम हिंसक सेनासे अहिंसक सेना बन जाते हैं । हिंसक सेनाके संगठन और तालीम पर लागू होनेवाले बहुत थोड़े नियम अहिंसक सेनाकी तालीम पर लागू होते हैं । वस्तुत: अकसर इससे उलटी ही बात सच होती है । उदाहरणके लिए, हिंसक सेनाके पास केवल दिखावेके लिए ही नहीं परन्तु सफल संहारके लिए शस्त्रास्त्र होंगे । अहिंसक सेनाके लिए ऐसे शस्त्रोंका न केवल कोई उपयोग नहीं होगा, बल्कि वह "तलवारोंको कूट-पीट कर हलोंके फल और भालोंको कूट-पीट कर फसल काटनेके औजार बना लेगी ।" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३१८] हिंसक सेनाके लिए भरती किये जानेवाले रंगरूटोंकी केवल शारीरिक योग्यताकी ही जांच होती है । अहिंसक सेनाके रंगरूट चुननेमें मुख्य वस्तु उनकी मानसिक या आध्यात्मिक योग्यता होगी । यह योग्यता बूढ़े स्त्री-पुरुषों और बच्चोंमें या किसी शारीरिक रोगसे पीड़ित लोगोंमें भी किसी बलवान व्यक्तिके बराबर हो सकती है, इसलिए अहिंसक सेनामें "बूढ़े पुरुष, स्त्रियां, छोटी उमरके बच्चे, अंधे, लंगड़े और कोढ़ी भी हो सकते हैं" और फिर भी "वह जीतनेकी आशा रख सकती है ।" [वही] फिर, "मारनेकी शक्तिका विकास करनेके लिए तालीम चाहिये, जब कि प्राणार्पण करनेकी जिसकी इच्छा है उसमें मरनेकी शक्ति तो होती ही है । १०-१२ वर्षके बच्चेके विषयमें भी पूर्ण सत्याग्रही होनेकी कल्पना की जा सकती है ।" [वही] अथवा इसे दूसरी तरह यों कह सकते हैं : "प्राणार्पण करनेकी कलाका उद्भव स्वभावत: जीवन जीनेकी कलामें से ही होता है ।" [हरिजन, ७ अप्रैल १९४६, पृ. ७४]

इसका यह मतलब नहीं कि सत्याग्रही सेनाके सैनिकोंके लिए शारीरिक योग्यता आवश्यक नहीं होती । गांधीजीने ऐसी चेतावनी दी है कि यदि सत्याग्रही मन और शरीरसे स्वस्थ नहीं हो, तो "वह . . . पूरी निर्भयताका विकास करनेमें असफल हो सकता है ।" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३१८] अहिंसा-पालनमें कुछ कर्तव्य ऐसे रहते हैं, जिनका पालन वे लोग ही कर सकते हैं जिनका शरीर सधा हुआ हो । उदाहरणके लिए, "उसमें दिन-रात एक ही जगह पर

पहरा देनेके लिए खड़ा रहनेकी शक्ति होनी चाहिये; सर्दी, गर्मी और बरसात सहना पड़े तो भी उसे बीमार नहीं होना चाहिये; उसमें खतरेकी जगह पर पहुंच जानेकी तथा आग लगनेके स्थान पर दौड़ जानेकी शक्ति होनी चाहिये और वीरान जंगलोंमें और मौतके स्थानोंमें अकेले घूमनेकी हिम्मत होनी चाहिये; वह शिकायत किये बिना सख्त मार, भूख और उससे भी बुरी बातें सहन कर लेगा और अपने कर्तव्यके स्थान पर अविचल भावसे डटा रहेगा; उसमें दंगेके अभेद्य दिखाई देनेवाले क्षेत्रमें कूद पड़नेकी सूझ-बूझ और क्षमता होगी; उसमें भगवानका नाम लेकर आगसे घिरी हुई इमारतोंकी ऊपरी मंजिल पर रहनेवाले मनुष्योंको बचानेके लिए दौड़ पड़नेकी अभिलाषा और शक्ति होगी; उसमें बाढ़में बहे जा रहे लोगोंको बचानेके लिए नदीमें कूद पड़नेकी या डूबते हुए आदमीको बचानेके लिए कुएंमें कूद जानेकी निर्भयता होगी ।" [वही] यह सूची इच्छानुसार बढ़ाई जा सकती है । "इन सब बातोंका सार यह है कि हमें अपने भीतर खतरे और कष्टमें पड़े हुए लोगोंको बचानेके लिए दौड़ जानेकी और विरोधीके दिये हुए बड़ेसे बड़े कष्ट खुशीसे सह लेनेकी क्षमता पैदा कर लेनी चाहिये ।" [वही] इसके आधार पर सत्याग्रहियोंकी शारीरिक तालीमके नियम आसानीसे तैयार किये जा सकते हैं ।

गांधीजीकी रायमें इस कामके लिए सबसे अच्छी तालीम हठयोगकी कुछ क्रियाओंमें पाई जाती है । "इनसे जो शारीरिक तालीम मिलती है वह और बातोंके अतिरिक्त शारीरिक स्वास्थ्य, बल, स्फूर्ति और सर्दी-गर्मी सहनेकी शक्ति देती है ।" [वही, पृ. ३१८-१९] उन्होंने कहा है : मैं नहीं जानता कि इस विज्ञानके रचयिताको सामूहिक अहिंसाकी कोई कल्पना थी या नहीं । इन क्रियाओंकी तहमें "व्यक्तिगत मोक्षकी इच्छा थी" । उनका उद्देश्य यह था कि "मन पर अधिकार पानेके लिए शरीरको बलिष्ठ और शुद्ध बनाया जाय ।" [वही, पृ. ३१९] हठयोगकी इस प्रणालीमें उपयुक्त सुधार किये जा सकते हैं, ताकि सब धर्मोंके लोगोंको सामूहिक अहिंसाकी तालीम देनेकी जरूरतें पूरी हो सकें, और ऐसे नियम बनाने पड़ सकते हैं जिन्हें अहिंसाको माननेवाले सभी लोग स्वीकार कर सकें ।

शौर्यकी साधना हिंसा और अहिंसा दोनोंके लिए समान रूपसे आवश्यक है । किन्तु एक अन्तर है । हिंसाके साहसका "अर्थ भयसे मुक्ति पाना नहीं, परन्तु भयके कारणका सामना करनेका उपाय ढुंढ़ निकालना है ।" [हरिजन, १ सितम्बर १९४०, पृ. २६८] अहिंसाके पुजारीको "भयसे मुक्त होनेके लिए ऊंचेसे ऊंचे त्यागकी शक्ति" [वही] अपनेमें विकसित करनी पड़ती है । उसे जेलमें जाने, सम्पत्ति छिन जाने और मृत्यु होनेके त्रिविध भयका परित्याग करना होता है । "उसे अपनी जमीन-जायदाद या प्राण चले जानेकी चिन्ता नहीं होती । जिसने सब प्रकारके भयोंको जीत न लिया हो, वह पूर्ण अहिंसाका पालन नहीं कर सकता । अहिंसाके पुजारीको एकमात्र ईश्वरका ही भय होता है ।" [वही] इसलिए उसे अपने भीतर सतत यह भान बढ़ाना पड़ता है कि नाशवान शरीरसे उसके भीतरकी अमर आत्मा सर्वथा भिन्न है और वह शरीरसे स्वतन्त्र होकर भी जीवित रह सकती है और टिक सकती है । यह भान शरीरके प्रति उदासीन रहने और उसे आत्माके अधिकाधिक नियन्त्रणमें रखनेसे बढ़ता है ।

इस प्रकार अहिंसाकी तालीम हिंसाकी तालीमसे सर्वथा विपरीत है । "हिंसाकी आवश्यकता बाहरी चीजोंकी रक्षाके लिए होती है और अहिंसाकी आवश्यकता आत्माकी रक्षाके लिए, अपने सम्मानकी रक्षाके लिए होती है । . . . हिंसकका चिह्न उसके हथियार – भाला, तलवार या बन्दूक – होते हैं । अहिंसककी ढाल ईश्वर है ।" [वही] अहिंसाके सैनिककी तालीम गोली चलाना सीखनेमें नहीं आती । उसे "अपनी समूची तालीम रोगियोंकी सेवा करनेमें, अपने प्राणोंको खतरेमें डालकर खतरेमें पड़े हुए लोगोंको बचानेमें, जिन स्थानोमें चोर-डाकुओंका भय हो वहां पहरा लगानेमें और उनसे यह बुरा काम छुड़वानेके लिए जरूरत हो तो अपने प्राण दे देनेमें मिलेगी।" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३१८]

दोनोंके गणवेश भी अलग अलग होंगे । हिंसाके सिपाहीका गणवेश देखनेवालेको "चौंधिया देनेके लिए" होगा । "अहिंसक मनुष्यका गणवेद सादा, गरीबोंकी पोशाकके अनुरूप और नम्रताका प्रतीक होगा ।" [वही]

हिंसक सेनामें सैनिककी जितनी बड़ी योग्यता और जितना ऊंचा दर्जा होगा, उतना ही बड़ा वेतन उसे मिलेगा। अहिंसक सेनामें सैनिककी योग्यता भौतिक पुरस्कारसे नापी या पुरस्कृत नहीं की जायगी। इसके विपरीत, उसका सेनापति ऐसा मनुष्य होगा जिसकी त्याग, तपस्या और संयमके लिए ख्याति होगी।

इसके सिवा, हिंसक मनुष्य विरोधीको और उसकी शक्तिको नष्ट करनेका ही विचार करता रहेगा। वह ईश्वरसे प्रार्थना करेगा : "राजाको बचाओ, उसके शत्रुओंको बिखेर दो और उनकी दुष्ट चालोंको विफल कर दो।" लाखों अंग्रेज जब ब्रिटिश राष्ट्र-गीत जोरसे गाते हैं तब ऐसा ही करते हैं। "यदि ईश्वर दयाका अवतार है, तो वह संभवत: ऐसी प्रार्थनाको नहीं सुनेगा। परन्तु जो लोग उसे गाते हैं उनके विचारों पर उसका प्रभाव पड़ता है और युद्धके जमानेमें तो इससे उनके द्वेष और क्रोधकी आग भड़क कर चरम सीमा तक पहुंच जाती है।" [वही] दूसरी ओर, अहिंसाके सैनिककी प्रार्थना ईश्वरसे सदा यह होगी कि "हे ईश्वर, कल्पित शत्रुको सद्बुद्धि और आशीर्वाद दे।" अपने लिए उसकी प्रार्थना हमेशा यह होगी कि "उसके भीतर दयाका स्रोत सदा बहता रहे और उसका नैतिक बल हमेशा बढ़ता रहे, जिससे वह निडर होकर मौतका सामना कर सके।" [वही] अहिंसाकी रणनीतिमें विरोधीके संपूर्ण पराजयके लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। सच पूछा जाय तो सच्ची अहिंसाकी कड़ी परीक्षा ही यह है कि संग्रामके अन्तमें "विजेता और विजित" की कोई भावना बाकी नहीं रहती। दोनों पक्ष समझौतेके आनन्दमें भाग लेते हैं और अपने सम्मिलित प्रयत्नके परिणामस्वरूप हुई सत्य और न्यायकी रक्षासे प्रसन्न होते हैं। इसलिए अहिंसक संग्राममें विरोधीकी शक्तिको नष्ट करनेका प्रयत्न नहीं होता, बल्कि उसका हृदय-परिवर्तन करके उसकी शक्तिका उपयोग करनेका प्रयत्न किया जाता है। अत: सत्याग्रहका सैनिक जिस विरोधीसे लड़ रहा है उसे भावी मित्र और साथी समझकर ऐसी कोई बात नहीं करेगा, जिससे उत्तेजित होकर विरोधी कोई अनुचित बात कर बैठे अथवा उसे चोट पहुंचे अथवा उसका वैरभाव गहरा हो जाय। वह सदा उससे समझौता करनेका मार्ग ढूंढ़ेगा और उसके साथ भलाई करनेके लिए खुद होकर भी उसके साथ अच्छा बरताव करेगा।

हिंसक युद्ध जीतनेकी एकमात्र शर्त यह है कि "शत्रुके प्रति क्रोधाग्निको भयंकर रूपमें प्रज्वलित रखा जाय और शत्रुको अधिकसे अधिक उभाड़नेका प्रयत्न किया जाय ।" [वही] "सत्याग्रहका रहस्य अन्यायीको अन्याय करनेका प्रलोभन न देनेमें है । [गांधीजीका उद्धरण, मीराबहन कृत 'ग्लीनिंग्स' में, अहमदाबाद, १९४९, पृ. १६] इससे अहिंसक युद्धमें संधिवार्ता, विज्ञापन और प्रचार करतेकी सारी पद्धति ही बदल जाती है । अहिंसाका सैनिक अपने विरोधीका बुरेसे बुरा पहलू न देखकर सदा उसका उत्तम पक्ष देखनेकी कोशिश करेगा और विरोधीको भी वही बतायेगा – "चारों तरफसे विरोधीके उसी पक्षको प्रकट करनेके लिए काम करेगा . . . उसके दोष उसके सामने प्रगट नहीं करेगा ।" [वही, पृ. १७]

सशस्त्र युद्धकी तरह अहिंसक रणनीतिमें भी सचमुच अनुशासनके लिए स्थान होता है । परन्तु दोनोंमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है । अनुशासन दो प्रकारका होता है –बाहरी और भीतरी । फौजी तालीममें जो अनुशासन सिखाया जाता है, वह पहले प्रकारका होता है । जिस सन्दर्भमें वह सिखाया जाता है उसीमें वह टिकता है । कवायदके मैदानके बाहर सैनिकोंकी शिथिलता और अनुशासनहीनता कोई असाधारण अनुभव नहीं है । भीतरी अनुशासन संयत जीवनका परिणाम होता है । वह हमारा दूसरा स्वभाव बन जाता है और चिरस्थायी होता है ।

सैनिक अनुशासनमें बाहरी सत्ताको मानकर चला जाता है, जिसके पास अनुशासन पर अमल करानेके लिए असरकारक बल होता है । जब अमल करानेवाला तन्त्र टूट जाता है तब यह अनुशासन भी टूट जाता है । अहिंसक युद्धमें प्रत्येक व्यक्ति सैनिक और सेवक होता है । परन्तु संकटके समय प्रत्येक सत्याग्रही सैनिकको स्वयं ही अपना सेनापति और अपना नेता भी बनना पड़ता है । अहिंसक संग्राममें निरे यांत्रिक अनुशासनसे नेतृत्वकी योग्यता नहीं आती । उसके लिए श्रद्धा और समग्र दृष्टिकी जरूरत है । जिस अनुशासनकी जड़ सत्य और अहिंसाकी भावनाके आग्रहपूर्ण पालनमें है, वह अनुशासन अपने आप अहिंसक कार्रवाईकी सुदृढ़ व्यूहरचना कर देता है । इस व्यूह-रचनाको तोड़नेमें अत्याचारीकी संपूर्ण शक्ति भी असफल रहती है। धार्मिक अत्याचारसे सम्बन्ध रखनेवाला ईसाई धर्मका प्रारम्भिक इतिहास इसका प्रमाण देता है ।

गांधीजीके चलाये हुए विविध अहिंसक संग्रामोंसे भी यही सिद्ध होता है । किसी न किसी स्थितिमें पहुंच कर वे सब बहुत-कुछ स्वयं-चालित, स्वयं अपना पथप्रदर्शन करनेवाले, स्वयं-प्रेरित और स्वयं-नियंत्रित संग्राम बन गये । दृढ़ आग्रहसे लड़े जानेवाले प्रत्येक अहिंसक संग्राममें एक स्थिति अन्तमें ऐसी आ सकती है, और सामान्यतः आती ही है, जब बाहरी संगठन मिट जाता है । भीतरी अनुशासन पर आधारित संयोजन और संगठन ही ऐसी चीज है, जो सब आघातोंको सहकर भी टिकी रहती है । टॉल्स्टॉयने संसारकी तुलना ऐसे विशाल मन्दिरसे की थी, जिसमें गुंबदके पार होकर ठीक बीचमें प्रकाश पड़ता है । उन्होंने कहा था: "एकत्र होनेके लिए हमें एक-दूसरेकी तलाशमें नहीं जाना चाहिये, बल्कि हम सबको प्रकाशकी दिशामें जाना चाहिये । तब हम सब तमाम दिशाओंसे आकर एक स्थान पर एकत्र हो जायंगे और हमें ऐसे मनुष्योंका साथ मिल जायगा जिनकी हमने आशा नहीं की थी ।"

सैनिक तालीमके दूसरे अंग, जिनका अहिंसक तालीममें स्थान हो सकता है, ये हैं : संगीत, कवायद, शिविर-जीवन, संकेत-भाषा, गश्त लगाना, प्राथमिक चिकित्सा, संक्रामक रोगोंका नियंत्रण तथा बाढ़, तूफान और भूकम्प आदि दैवी विपत्तियोंसे होनेवाली हानिकी क्षतिपूर्ति करना । इसमें समूह-गान और सामुदायिक प्रार्थना और जोड़ देनी चाहिये । इनके अलावा, अहिंसक सिपाहीको जिन लोगोंमें काम करना है उनकी भाषा पर अधिकार पानेकी रुचि भी अपनेमें पैदा करनी चाहिये ।

अहिंसाके सैनिकके लिए तालीमका उत्तम स्थान दंगा-फसादका क्षेत्र है या वह जगह है जहां गुंडोंने अत्याचार फैला रखा है । "वह मनुष्य अहिंसक नहीं परन्तु कायर है, जो दो आदमियोंको ऊड़ते देखकर ही कांपने लगता है या भाग खड़ा होता है ।" [हरिजन, १ सितम्बर १९४०, पृ. २६८] ऐसा मनुष्य कभी अहिंसाका सैनिक नहीं बन सकेगा । अहिंसक सैनिक ना तो झगड़ेके स्थानसे अपना मुंह मोड़ेगा और न निष्क्रिय बनकर देखता रहेगा । वह भीड़में कूद पड़ेगा और "ऐसे झगड़ोंको रोकनेके लिए अपने प्राण तक दे देगा ।" [वही] शान्ति-सेनाका सदस्य हृदयमें ऐसी अहिंसाका विकास करेगा, "जो भूल करनेवाले गुंडेका भी प्रेमसे आलिंगन करेंगी।"

[हरिजन, १५ सितम्बर १९४०, पृ. २८५] ऐसी वृत्ति "दीर्घ और धैर्यपूर्ण प्रयत्नके बिना विकसित नहीं की जा सकती और वह प्रयत्न शान्तिकालमें किया जाना चाहिये । शान्तिसेनाके भावी सैनिकको अपने पड़ोसके तथाकथित गण्डोंके निकट सम्पर्कमें आना चाहिये और उनसे जान-पहचान बढ़ानी चाहिये । उसे सबको और सबको उसे जानना चाहिये और उसे अपने जीवन और निस्स्वार्थ सेवा द्वारा सबके हृदय जीत लेने चाहिये । उसे किसी भी वर्गको इतना हेय अथवा नीच नहीं मानना चाहिये कि उससे घुला-मिला न जाय । गुण्डे . . . सामाजिक अव्यवस्थाके परिणाम-स्वरूप पैदा होते हैं और समाज उनके अस्तित्वके लिए जिम्मेदार है । दूसरे शब्दोंमें, उन्हें हमारे समाज-शरीरमें उत्पन्न हुई सड़ांधके लक्षण समझना चाहिये । रोगके निवारणके लिए हमें पहले उसका निदान करता चाहिये । फिर उसका इलाज करना तुलनामें आसान काम हो जायगा।" [वही]

गांधीजीके मतानुसार ब्रह्मचर्य अहिंसक सैनिककी तालीमका अत्यावश्यक अंग है । अहिंसक शारीरिक तालीमके सन्दर्भमें उसका विशेष महत्त्व है । "जो अल्पाहार करके और बाह्य उपचारोंके बिना रहना चाहता है और फिर भी शरीर-बल बनाये रखना चाहता है, उसके लिए वीर्यरक्षा आवश्यक है । . . . जो वीर्यकी रक्षा कर सकता है, उसमें सदा नित नया बल बढ़ता रहता है ।" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३१९] परन्तु गांधीजीने चेतावनी दी है कि ब्रह्मचर्यके सारे नियमोंका कठोर पालन किये बिना यह संभव नहीं । "जो इस शक्तिका संचय नियमोंके कठोर पालनके बिना करनेकी आशा रखते हैं, उन्हें उतनी ही सफलता मिलेगी जितनी उन लोगोंको मिल सकती है जो थके बिना प्रवाहके विरुद्ध तैरनेकी आशा रखते हैं । जो शरीरसे संयम रखता है और मनसे पाप करता है, उसकी स्थिति उस व्यक्तिसे बुरी होगी, जो ब्रह्मचर्य-पालनका दावा किये बिना संयमी गृहस्थ-जीवन व्यतीत करता है ।" [वही]

अहिंसक सैनिककी तालीमका दृढ़ आधार ईश्वर-श्रद्धा होती है । गांधीजीने कहा है कि अगर वह आधार न हो, तो प्राप्त की हुई सारी तालीम ऐन समय पर धोखा दे सकती है । "कोई मेरे इस कथनकी हंसी न उड़ाये । . . . मैं इस विचारको केवल उस रूपमें रखनेकी कोशिश कर

रहा हूं जिस रूपमें मैंने सत्याग्रहके शास्त्रको जाना और उसका विकास किया है। सत्याग्रहीका एकमात्र शस्त्र ईश्वर है, फिर उसे आप किसी भी नामसे पुकारिये। उसके बिना सत्याग्रही राक्षसी शस्त्रोंसे सुसज्जित विरोधीके सामने बलहीन सिद्ध होता है। अधिकांश लोग शरीर-बलके सामने दंडवत् प्रणाम करते हैं। परन्तु जो केवल ईश्वरको ही अपने रक्षकके रूपमें स्वीकार करता है, वह दुनियाकी बड़ीसे बड़ी शक्तिके सामने भी नहीं झुकेगा।" [वही]

अहिंसक युद्धमें किसी स्थितिके पैदा होनेसे पहले ही हमेशा विस्तृत योजना नहीं बनाई जा सकती। सत्याग्रहकी तैयारीके लिए अपने ही जीवनकी योजना इस तरह बनानी पड़ती है कि सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे कैसी भी स्थितिका समुचित रूपमें सामना किया जा सके। इसलिए अहिंसक सेनाके सेनापतिको हिंसक सेनाके सेनापतिकी अपेक्षा अधिक जागरूकता और अधिक सूझ-बूझ रखनी पड़ती है।

संक्षेपमें, सत्याग्रही सैनिकको फौलादके शस्त्रास्त्रोंके बजाय आत्माके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित होना पड़ता है। तुलसीकृत रामायणमें विभीषण रामसे पूछते हैं कि सत्याग्रही सेनाको विजयी बनानेवाला सच्चा बल कौनसा है। रामके पास "न तो रथ था, न कवच था और न उनके पैरोंमें जूते ही थे।" तब वे इन सबसे सुसज्जित रावणके विरुद्ध जीतनेकी आशा कैसे रखते हैं? विभीषणके इस प्रश्नका उत्तर राम इस प्रकार देते हैं :

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहिं जय होइ, सो स्यन्दन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल बिबेक दम पर-हित घोरे।
छमा कृपा समता रजू जोरे।।
ईस भजन सारथी सुजाना।

बिरति चर्म सन्तोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा ।
बार बिग्यान कठिन कोदण्डा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना ।
सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद विप्र-गुरु-पूजा ।
एहि सम विजय-उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके ।
जीतन कहं न कतहुं रिपु ताके ।।
महा अजय संसार-रिपु, जीति सकई सो वीर ।
जाके अस रथ होई दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर ।।

(लंकाकांड)

[हे सखा विभीषण, जिससे विजय होती है वह रथ तो दूसरा ही है । शौर्य और धैर्य उस रथके पहिये हैं । सत्य और शील (सदाचार) उसकी मजबूत ध्वजा और पताका हैं । बल, विवेक, दम (इन्द्रियोंका वशमें होना) और परोपकार—ये चार उसके घोड़े हैं, जो क्षमा, दया और समता रूपी डोरीसे रथमें जोड़े हुए हैं । ईश्वरका भजन ही उस योद्धाके रथको चलानेवाला चतुर सारथि है । वैराग्य उसकी ढाल है और सन्तोष उसकी तलवार है । दान उसका फरसा है, बुद्धि उसकी प्रचंड शक्ति है तथा श्रेष्ठ विज्ञान उसका कठिन धनुष है । निर्मल और अचल मन तरकसके समान है । शम (मनका वशमें होना), अहिंसादि यम और शौचादि नियम—ये उसके अनेक बाण हैं । ब्राह्मणों और गुरुका पूजन उसका अभेद्य कवच है । इसके समान विजयका दूसरा कोई उपाय नहीं है । हे मित्र, ऐसा धर्ममय रथ जिसके पास चढ़नेको है, उस योद्धाको कोई शत्रु जीत नहीं सकता । जिसके पास ऐसा शक्तिशाली रथ हो, वह वीर संसार (जन्म-मृत्यु) रूपी महान दुर्जय शत्रुको भी जीत सकता है । हे मित्र, मेरी यह बात ध्यानसे सुनो और मनसे भयको निकाल दो ।]

गांधीजी कहते थे कि इस प्रकार सुसज्जित सच्चे अहिंसक सैनिकोंकी सेना कितनी ही छोटी हो तो भी वह किसी दिन बहुत बड़ी हो सकती है । भगवान अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए निर्बल साधनोंका भी कुशलतासे उपयोग कर लेता है । परन्तु जिस सेनाके पास यह सामग्री नहीं होती, "बह बढ़े या घटे, उसका कोई उपयोग होनेकी कभी संभावना नहीं रहती ।" [हरिजन, २१ अगस्त १९४०, पृ. २१५]

---

* 'क्रिटिकल लिमिट' (अंतिम सीमा) विज्ञानका एक पारिभाषिक शब्द है । जिसे 'क्रिटिकल लिमिट' कहा जाता है उस सीमा पर पहुंचनेके पश्चात् पदार्थके व्यवहारमें एकाएक होनेवाले परिवर्तनको समझानेके लिए इसका उपयोग किया जाता है । उदाहरणके लिए, पानी जैसे जैसे ठंडा होता जाता है वैसे वैसे वह अधिक भारी होता जाता है । उष्णतामान शून्य अंश तक पहुंचता है तब तक यह होता रहता है । इसके बाद एक अंशसे ज्यादा पानीको ठंडा किया जाय तो वह अधिक हलका और तरलके बदले घन बन जाता है । वायुरूप पदार्थोंको एक खास उष्णतामानसे अधिक ठंडा किया जाय तो वे तरल रूप धारण कर लेते हैं और उष्णतामानको ठेठ शून्य अंश तक ले जाया जाय तो वे पात्रके नीचेकी ओर बहनेके बदले ऊपरकी ओर बहने लगते हैं । आवाजकी गतिसे भी अधिक गतिवाले विमान आवाजकी गति पकड़ते हैं तब उनका संचालन उलटा हो जाता है । अर्थात् उसके कर्णको दाईं ओर घुमाया जाय तो विमान बाईं ओर घूमता है और कर्णको बाईं ओर घुमाया जाय तो विमान दाईं ओर घूमता है ।

१८

हेनरी डेविड थोरोके विचार बहुतसी बातोंमें गांधीजीसे मिलते थे । उन्होंने एक समकालीन लेखक एज़लरूरकी ['प्रकृति और यंत्रोंकी शक्तिके द्वारा परिश्रमके बिना सब मनुष्योंके लिए स्वर्गकी सिद्धि । समस्त बुद्धिमान मनुष्योंके लिए उद्बोधन । दो भागोंमें" । -- जे. ए. एज़लर ।] वैज्ञानिक स्वर्ग सम्बन्धी पुस्तककी आलोचना करते हुए कहा था कि पृथ्वी पर स्वर्गका निर्माण करनेके लिए "वायु, ससुद्रकी लहरों, ज्वार और सूर्यतापकी शक्ति" को वशमें करनेकी अपेक्षा एक अधिक शीघ्र उपाय और है; और वह है "प्रामाणिकता और सच्चे आचरणकी शक्ति" के द्वारा

स्वर्ग निर्माण करनेका उपाय । "जो मनुष्य अलौकिक शक्तिसे परिचित है, वह वायु, लहरों, ज्वार और सूर्यतापके घटिया भौतिक देवताओंकी पूजा नहीं करेगा । . . . प्रेम ही वायु, लहरें, ज्वार और सूर्यताप है । . . . प्रेम आगके बिना गर्मी दे सकता है; वह अन्नके बिना भोजन करा सकता है; वह कपड़ोंके बिना शरीरको ढंक सकता है; वह छतके बिना आश्रय दे सकता है; वह ऐसे आंतरिक स्वर्गका निर्माण कर सकता है कि बाहरी स्वर्गकी जरूरत ही न रहे ।" [एच. एस. कैनबी द्वारा संपादित, 'दि वर्क्स ऑफ थोरो', बोस्टन, १९४६, पृ. ७८८]

गांधीजीको काल्पनिक स्वर्गोंके प्रति थोरोसे कम अविश्वास नहीं था । उन्होंने एडवर्ड बेलेन्मीकी पुस्तक 'लुकिंग बैकवर्ड' में बटन दबाकर सब-कुछ प्राप्त करनेके जिस युगका चित्रण किया गया है उसे "दुःस्वप्न" बताया है । इस कल्पनामें कहा गया है कि मनुष्यको जिस किसी शारीरिक सुख-सुविधाकी इच्छा होगी, वह उसे केवल बटन दबा देनेसे ही मिल जायगी । थोरोकी तरह गांधीजीका मत था कि अगर हम अपने मानव-बन्धुओंके साथ अपने नैतिक सम्बन्ध ठीक कर लें, तो इससे किसी भी "यांत्रिक प्रणाली" की अपेक्षा अधिक जल्दी सारी मानव-समस्याएं हल हो जायंगी और पृथ्वी पर उस स्वर्गका निर्माण होगा जिसकी देवताओंको भी ईर्ष्या हो सकती है । मानव-सम्बन्धोंके इस परिवर्तनको साधनेके लिए उन्होंने जिस उपायकी कल्पना की, वह उनका संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त है ।

'न्यू टेस्टामेंट' में पांच रोटियों और दो मछलियोंके चमत्कारकी कहानी है । इसे टॉल्स्टॉयने अपने अनोखे ढंगसे हमें समझाया है । ईसा मसीहने अपना उपदेश-कार्य शुरू किया उसके थोड़े ही समय बाद उनके मुंहसे ज्ञान और सान्त्वनाकी वाणी सुननेके लिए विशाल जन-समूह उनके पीछे पीछे चलने लगा । जब दिन ढलने लगा तो प्रश्न खड़ा हुआ कि इन लोगोंको खाना कैसे खिलाया जाय । ईसाके १२ शिष्योंमें से एकने उनके पास आकर कहा : "इस जन-समूहको आसपासके गांवों और खेतोंमें जानेकी आज्ञा दीजिये, ताकि वे निवास और भोजनकी तलाश कर लें; हम यहां मरुदेशमें हैं ।" ईसाने तुरन्त समझ लिया कि यदि जन-समूह आसपासके खेतों और झोंपड़ोंमें भोजनकी तलाशके लिए फैल गया, तो वह ग्रामीण क्षेत्रका टिड्डियोंकी तरह

सफाया कर देगा; क्योंकि खानेवाले आदमी पांच हजारसे कम नहीं हैं । जो शिष्य ईसाके पास आया था उससे उन्होंने कहा: "इन्हें भोजन देना तुम्हारा कर्तव्य है ।" शिष्यने उत्तर दिया : "दो सौ पेनीकी रोटी उनके लिए इतनी भी काफी नहीं है कि हर आदमीको एक एक टुकड़ा मिल सके ।" तब दूसरा शिष्य – साइमन पीटरका भाई एन्ड्रयू आकर ईसासे कहने लगा : "यहां एक लड़का है जिसके पास पांच जौ की रोटियां और दो छोटी मछलियां हैं । परन्तु उनसे इतने आदमियोंकी जरूरत कैसे पूरी होगी ?" प्रभु समझ गये कि इस लड़केकी तरह अनेक लोग अपनी जरूरतसे ज्यादा भोजन साथ लाये होंगे और दूसरे कुछ लोगोंके पास कुछ भी नहीं होगा । उन्होंने लड़केसे कहा, "तुम्हारे पास जो कुछ है उसे एक टोकरीमें रख दो । दूसरे लोग भी ऐसा ही करें ।" वार्तामें कहा गया है कि जब सारी भोजन-सामग्री एक जगह इकट्ठी हो गई, तो ईसा मसीहने ५०-५० की कतारमें सारे समूहको बैठा दिया और प्रत्येकको उसकी आवश्यकतानुसार भोजन बंटवा दिया । आश्चर्यकी बात है कि न केवल "सबने पेट भर कर खा लिया, बल्कि जब बची हुई सामग्री इकट्ठी की गई तो उससे बारह टोकरियां भर गईं !"

"पांच रोटियों और दो मछलियों" की इस कहानीमें प्रेम या स्वेच्छासे बांटकर खानेके सिद्धान्तका पालन करनेसे जो चमत्कार हुआ, वह गांधीजीकी रायमें आज हमारे लिए बहुत गहरा महत्त्व रखता है । उन्होंने भारतमें अपने अत्यन्त आरम्भके एक भाषणमें कहा था : "मैं यह कहनेका साहस करता हूं कि यह निरपवाद रूपमें प्रकृतिका बुनियादी कानून है कि प्रकृति प्रतिदिन हमारी आवश्यकताओंके लिए काफी उत्पन्न करती है और यदि हम सब अपने लिए जितना काफी हो उतना ही लें और उससे थोड़ा भी अधिक न लें, तो इस संसारमें दरिद्रता नहीं रहेगी ।" मैं किसीकी सम्पत्ति छीनना नहीं चाहता । "ऐसा करके तो मैं अहिंसा-धर्मका भंग करूंगा।... परन्तु ... मैं यह जरूर कहता हूं कि ...जो कुछ हमारे पास सचमुच है उसे रखनेका उस समय तक आपको और मुझे कोई अधिकार नहीं है जब तक इन ... लाखों लोगोंको ज्यादा अच्छा अन्न और ज्यादा अच्छे वस्त्र न मिलें । आपको और मुझे ... अपनी आवश्यकताएं इस तरह घटा लेनी चाहिये और स्वेच्छासे भूखा भी रहता चाहिये, जिससे इन लोगोंको पर्याप्त पोषण,

बीमारीमें सेवा-शुश्रूषा और वस्त्र मिल सकें ।" [१६ फरवरी १९१६ को मद्रासके वाई. एम. सी. ए. में दिया गया गांधीजीका भाषण, 'स्पीचेज़ एंड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी', चौथा संस्करण, पृ. ३८४-८५]

गांधीजी समान वितरणके आदर्शमें विश्वास रखते थे । लेकिन जब हम इस आदर्शको अमलमें लाना शुरू करते हैं तो हमारे सामने, प्रोफेसर हेल्डेनके शब्दोंमें, "मनुष्यकी जन्मजात असमानता" आ जाती है । विभिन्न लोगोंकी आवश्यकताएं विभिन्न होती हैं । इसलिए गांधीजीका कहना था कि समान वितरणका अर्थ यांत्रिक समानता नहीं हो सकता । समान वितरणका सच्चा अर्थ यह है कि "प्रत्येक मनुष्यके पास अपनी सारी स्वाभाविक आवश्यकताएं पूरी करनेके साधन होने चाहिये; उनसे अधिक नहीं । उदाहरणार्थ, यदि किसी आदमीकी पाचन-शक्ति कमजोर है और उसे अपनी रोटीके लिए पावभर आटा ही चाहिये और दूसरेको सेरभर आटा चाहिये, तो दोनोंकी स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि वे अपनी अपनी जरूरतें पूरी कर लें ।" [हरिजन, २५ अगस्त १९४०, पृ. २६०] "सब मनुष्य स्वतंत्र और समान उत्पन्न हुए हैं", यह बात अक्षरश: सत्य नहीं है । यह वचन इसी अर्थमें सत्य है कि सबको समान अवसर पानेका नैतिक अधिकार है । सबकी बुद्धि समान नहीं होती; पेड़के कोई दो पत्ते ठीक एकसे नहीं होते । इसलिए कुछ लोगोंमें दूसरोंसे अधिक कमानेकी योग्यता होना स्वाभाविक है ।

अलबत्ता, "धनियोंका धन छीन कर" असमानताएं मिटा देना संभव है । परन्तु इससे किसान राजाके बराबर नहीं हो जायगा । इससे विभिन्न लोगोंकी बुद्धि और रुचिकी कुदरती असमानतासे निरन्तर पैदा होनेवाली असमानताओंकी समस्या अछूती रह जाती है । इसके सिवा, ज्यों ही हम सनुष्योंको दबाकर समान बनानेकी कोशिश करते हैं त्यों ही वे स्वतन्त्र नहीं रह जाते।

गांधीजी यह नहीं चाहते थे कि जिन्हें भगवानने अधिक अच्छी बुद्धि दी है उन्हें अधिक कमानेसे रोक कर या जिनके पास अधिक सम्पत्ति है उनसे जबरदस्ती सम्पत्ति छीन कर उनकी बुद्धिको कुचल दिया जाय । उनका कहना था कि यदि ऐसे लोग अपनी बुद्धि और अधिकांश

सम्पत्तिका उपयोग अपने लिए न करके धरोहरके रूपमें समाजकी भलाईके लिए करें तो यह काफी है।

> "सबमें एकसी शक्ति नहीं होती। प्रकृतिसे ही ऐसा होना असम्भव है। उदाहरणके लिए, सबकी एकसी ऊंचाई, एकसा रंग या एकसी बुद्धि आदि नहीं हो सकती; इसलिए ... कुछ लोगोंमें अधिक कमानेकी और दूसरोंमें कम कमानेकी योग्यता होगी। बुद्धिशाली लोगोंमें अधिक योग्यता होगी और वे इस कामके लिए अपनी बुद्धिका उपयोग करेंगे। अगर वे अपनी बुद्धिका प्रेमके साथ उपयोग करें, तो वे राज्य (अर्थात् समाज) का काम करेंगे। ऐसे लोग संरक्षक बनकर रहते हैं, अन्य किसी रूपमें नहीं। मैं बुद्धिशाली व्यक्तिको अधिक कमाने दूंगा। मैं उसकी बुद्धिको कुण्ठित नहीं करूंगा। परन्तु उसकी इस बड़ी आयका अधिकांश ठीक उसी तरह राज्यकी भलाईमें खर्च होना चाहिये, जिस तरह पिताके सारे कमाऊ पुत्रोंकी आय परिवारके सम्मिलित कोषमें जमा होती है।" [यंग इंडिया, २६ नवम्बर १९३१, पृ. ३६८]

गांधीजीने अपने "संरक्षकता" के सिद्धान्तका आधार प्राचीन हिन्दू दार्शनिक ग्रंथ 'ईशोपनिषद्' के एक प्रसिद्ध मंत्र पर रखा। वह है :

> 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्।
> त्येन त्यक्तेन भुंजीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम् ॥'

इसका अर्थ यह है : "इस विश्वमें जो कुछ भी है उसमें ईश्वर व्याप्त है। अतः भोगके लिए पहले त्याग करो। किसीके धनका लोभ न करो।" दूसरे शब्दोंमें, सबसे पहले तो प्रत्येक वस्तु ईश्वरार्पण होनी चाहिये और फिर उसमें से अपनी सीमित आवश्यकताके अनुसार अमुक भागका – उससे अधिक नहीं – उपयोग करना चाहिये। परन्तु यह उपयोग अपने स्वार्थपूर्ण भोगके लिए नहीं किन्तु ईश्वरकी सृष्टिकी सेवाके लिए होना चाहिये। तब एक मनुष्य दूसरेकी वस्तुका लोभ नहीं करेगा।

'सबै भूमि गोपालकी' – यह एक पुराना भारतीय वचन है । कोई भी मनुष्य प्रकृतिका एकमात्र उत्तराधिकारी नहीं है । हमारी शरीर-रचना तक हमें उत्तराधिकारमें मिलती है और हमारी शक्तियां बहुत-कुछ सामाजिक उपज हैं और इसलिए हमारे सम्मिलित सामाजिक उत्तराधिकारका एक भाग हैं । इस प्रकार माना जाय तो न केवल हमारी भौतिक सम्पत्ति बल्कि हमारी प्राकृतिक और विकसित शक्तियां, हमारा समय, हमारा भौतिक शरीर और हमारा जीवन भी इस आत्यंतिक अर्थमें हमारे नहीं हैं कि हम अपनी सनकके अनुसार उसका उपयोग या दुरुपयोग करें, बल्कि इस अर्थमें हमारे हैं कि धरोहर समझकर हम उनकी रक्षा करें और प्रभुकी सेवामें, या दूसरे शब्दोंमें कहें तो, समाजकी सेवामें ही उनका उपयोग करें ।

एक बार इंग्लैंडकी एक खानगी सभामें किसी भारतीयने गांधीजीसे पूछा : "हम भारतकी सेवा कैसे कर सकते हैं ?" गांधीजीने उत्तर दिया : "अपनी बुद्धिको रुपये-आने-पाईमें बदलनेके बजाय आप उसे देशकी सेवामें लगाइये । यदि आप डॉक्टर हैं तो भारतमें इतनी बीमारी है कि आपके सारे चिकित्सा-कौशलका उपयोग हो जायगा । यदि आप वकील हैं तो भारतमें मतभेद और झगड़े काफी हैं । झगड़े बढ़ानेके बजाय आप उन्हें मिटाइये और मुकदमेबाजी बन्द कराइये । यदि आप इंजीनियर हैं तो नमूनेके ऐसे घर बनाइये, जो हमारे लोगोंकी हैसियत और जरूरतके अनुरूप हों और साथ ही स्वास्थ्य और ताजी हवासे परिपूर्ण हों । आपकी सीखी हुई कोई भी विद्या ऐसी नहीं है, जिसका भारतमें लाभ न उठाया जा सके ।" जिन भाईने यह प्रश्न पूछा था, वे एक चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट थे । गांधीजीने अपना उत्तर जारी रखते हुए उनसे कहा : "मेरे साथ आप हिन्दुस्तान चलिये । मैं आपको काफी काम दूंगा और आपका मेहनताना भी दूंगा – वह ४ आने रोज होगा, जो सचमुच भारतके करोड़ों लोगोंको मिलनेवाले मेहनतानेसे कहीं अधिक है ।" [यंग इंडिया, ५ नवम्बर १९३१, पृ. ३३४]

गांधीजी अपने इस विचारमें बड़े दृढ़ थे कि यदि स्वाधीन भारतको ऐसा उदाहरण पेश करना है जिससे संसारको ईर्ष्या हो, तो "सारे भंगियों, डॉक्टरों, शिक्षकों, व्यापारियों और दूसरे लोगोंको दिनभरके प्रामाणिक कामका एकसा मेहनताना मिलना चाहिये । सम्भव है कि इस

लक्ष्य तक भारतीय समाज कभी न पहुंच सके । परन्तु प्रत्येक भारतीयका यह कर्तव्य है कि वह अपनी नाव इसी लक्ष्यकी ओर बढ़ाये । तभी भारत सुखी हो सकता है ।" [हरिजन, १६ मार्च १९४७, पृ. ६७]

यह बहुत कठोर बात मालूम होती है । परन्तु आदर्शोंकी बात तो ऐसी ही हो सकती है । गांधीजी अपने आदर्शोंको शिथिल करनेके लिए तैयार नहीं थे । परन्तु एक व्यावहारिक आदर्शवादीकी हैसियतसे उदारता या प्रेमधर्मका पालन करके वे अपने आदर्शोंको सौम्य बनाते थे । वे शक्तिसे अधिक त्याग कभी किसीसे नहीं कराते थे ।

गांधीजीके एक करोड़पति मित्रने अपने परिचयके आरंभमें ही उनसे कहा था : "आपकी आज्ञा हो तो मैं अपनी करोड़ोंकी सम्पत्ति और व्यवसाय छोड़ कर आपका अनुयायी बननेको तैयार हूं ।" गांधीजीने उत्तर दिया : "मैं नहीं चाहता कि तुम अपने करोड़ों रुपये अथवा अपना व्यवसाय छोड़ दो । मैं तो गरीबोंकी सेवाके लिए इन दोनोंका उपयोग करना चाहता हूं ।"

बादमें मैंने गांधीजीसे पूछा : "आपने उनका उत्साह क्यों भंग कर दिया ? वे सच्चे दिलसे कह रहे थे । उनकी उदात्त भावनाको आप प्रोत्साहित कर सकते थे ।"

गांधीजीने उत्तर दिया : "तुम नहीं समझते । अपनी सांसारिक सम्पत्तिका सम्पूर्ण परित्याग करना आसान नहीं होता । इस आदर्शकी पूर्तिके लिए जीवन भर प्रयत्न करनेके बाद मैं दावेसे यह बात कह सकता हूं । घ. को जो कुछ मैं करनेके लिए कहता वह वे खुशीसे कर देते, परन्तु वह त्याग उनके लिए स्वाभाविक न होता । उन्हें भगवानने अनोखी व्यवसाय-बुद्धि दी है । अन्य कोई काम उनके लिए अस्वाभाविक होता और उनकी ईश्वर-दत्त प्रतिभाकी हानिसे देशकी भी हानि होती । व्यवसाय करना अपने आपमें अनैतिक नहीं है । सेवाभावसे स्वधर्मका पालन करके मनुष्य सर्वोच्च स्थिति – मोक्ष – प्राप्त कर सकता है । दूसरेके आचरणका – परधर्मका अनुकरण करके हम कहींके नहीं रहते, भले ही वह हमें अधिक उच्च और उदात्त दिखाई दे ।"

इसलिए गांधीजीके समर्थकोंमें अनेक करोड़पति और बड़े बड़े जमींदार थे, जो कम-ज्यादा मात्रामें उन्हें दान ही नहीं देते थे, बल्कि गरीबोंकी सेवाके लिए अपनी बुद्धि और सद्भावना भी उन्हें अर्पण करते थे । राजाओंने खुशीसे अपनी निरंकुश सत्ता, विशेषाधिकार और राज्यके खजानेसे ली जानेवाली निजी खर्चकी रकम घटाना स्वीकार कर लिया था । यह वर्ग-युद्धके बिना और किसी तरह नहीं हो सकता था; और वर्गयुद्धसे जितनी समस्याएं हल होतीं उनसे अधिक पैदा हो जातीं और उसने उपचारको रोगसे भी बुरा बना दिया होता ।

गांधीजीने कहा था : संरक्षकोंके रूपमें मालिकोंको, उनकी सेवा अथवा समाजके लिए उनकी उपयोगिताको स्वीकार करके, खुदके लिए उचित कमीशन रखने दिया जायगा । संक्रांति-कालमें कमीशनकी उचित दर समाजकी सलाहसे निश्चित कर देनेकी बात उन पर छोड़ी जा सकती है । अमुक मर्यादाओंके भीतर कमीशनकी रकमकी बात बहुत महत्त्वकी नहीं होगी, बशर्ते कि वे इसके पीछे रहे सिद्धान्तको मान लें और सम्पूर्ण स्वामित्व पर आधारित अपने वर्तमान अधिकारोंको छोड़कर संरक्षक बनना स्वीकार करें । समय पाकर जब अधिकांश लोग इस सिद्धान्तको स्वीकार कर लेंगे तब संरक्षकताका देशके कानूनमें समावेश कर दिया जायगा और उसका अमल संरक्षकताके सिद्धान्तके अनुसार राज्यके नियमनमें होगा । इसमें उत्तराधिकार और सम्पत्तिकी विरासतका प्रश्न भी शामिल होगा । सच तो यह है कि राज्यके हस्तक्षेपकी बहुत कम जरूरत रहेगी, क्योंकि समाजका बड़ा भाग उस सिद्धान्तको स्वीकार कर चुका होगा ।

१९

तो क्या संरक्षकता व्यक्तिगत स्वामित्वके उन्मूलनका स्थान लेनेवाली है ? गांधीजी कहते थे, "नहीं ।" यह तो लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए एक साधन है । इतना ही नहीं, उसमें लक्ष्यकी कल्पना भी समायी हुई है ।

सम्पूर्ण अपरिग्रह एक शुद्ध आदर्श है । वह कभी पूरी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता । वस्तुत:, जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, हमारा भौतिक शरीर भी परिग्रह है । तो क्या

असमानताकी बुराइयों पर कोई भी नियंत्रण नहीं रहेगा ? संरक्षकताके सिद्धान्तसे "अवशिष्ट स्वामित्व " (residuary ownership) की इस समस्याका उत्तर मिल जाता है ।

परिग्रह और परिग्रह-वृत्तिमें अन्तर है । परिग्रह मात्रमें बुराई नहीं है, बुराई परिग्रह-वृत्तिमें है । यदि सारे मालिकोंसे सम्पत्ति छीन ली जाय, तो भी सम्पत्तिके परिग्रहकी वृत्ति बनी रहेगी । संघर्षका मूल कारण वही है । संरक्षकताका सिद्धान्त लागू करनेसे उस वृत्तिको समाज-कल्याणका साधन बनाया जा सकता है ।

इसके विपरीत, क्या संरक्षकता केवल कोई बीचके समयकी व्यवस्था है, जिसका व्यक्तिगत स्वामित्वके उन्मूलनके बाद अन्य कोई उपयोग नहीं रह जायगा ? इसका उत्तर भी "नहीं" है । कारण, सम्पत्तिकी वर्तमान असमानताएं मिट जानेके बाद भी विभिन्न लोगोंकी विभिन्न प्रकारकी शक्ति और बुद्धिसे बार बार पैदा होनेवाली असमानताओंकी समस्या तो बनी ही रहेगी । अगर मनुष्यकी असाधारण बुद्धिका समाजके हितमें उपयोग करनेके लिए पोषण नहीं किया गया और उसे धरोहरके रूपमें नहीं माना गया, तो वह पुनः विशेषाधिकार प्राप्त वर्गको पैदा करेगी – चाहे उसका नाम या रूप कुछ भी हो । "अवशिष्ट स्वामित्व" से बार बार पैदा होनेवाली असमानताओंकी समस्याके एकमात्र हलके रूपमें संरक्षकताके सिद्धान्तका चिरस्थायी मूल्य और उपयोग है ।

गांधीजीसे पूछा गया था : "जब संरक्षकताके सिद्धान्त पर अमल करनेसे व्यक्तिगत सम्पत्ति पूरी तरह सार्वजनिक सम्पत्तिमें बदल जायगी, तब क्या उसका स्वामित्व उस राज्यके हाथोंमें चला जायगा जो हिंसाका साधन है ? या ग्राम-पंचायतों और नगरपालिकाओं जैसे स्वेच्छासे बने हुए संघोंको मिल जायगा, जो राज्यके बनाये हुए कानूनोंसे ही अपना अन्तिम अधिकार प्राप्त करेंगे ?"

गांधीजीने उत्तर दिया: "इस प्रश्नमें विचारकी कुछ गड़बड़ है । बदली हुई परिस्थितियोंमें कानूनी स्वामित्व तो संरक्षकका ही रहेगा, न कि राज्यका । राज्यकी जब्तीसे बचनेके लिए ही

संरक्षकताका सिद्धान्त अमलमें आता है । वह मूल स्वामीकी कार्य-कुशलता पर उसका अधिकार स्वीकार करता है और समाज-सेवाके लिए उसका उपयोग करता है । मेरी यह राय भी नहीं है कि राज्यका आधार सदा ही हिंसा पर रहेगा । सिद्धान्तके रूपमें भले ही ऐसा हो, परन्तु ऐसे राज्यकी कल्पना की जा सकती है, जिसका आधार व्यवहारमें अधिकतर अहिंसा पर हो ।" [प्रार्थना-प्रवचन, २ फरवरी १९४७]

"संरक्षकका उत्तराधिकारी कैसे निश्चित किया जायगा ? क्या उसे सिर्फ कोई नाम ही प्रस्तावित करनेका अधिकार होगा और अन्तिम निर्णय राज्यके हाथमें रहेगा ?"

गांधीजीने उत्तर दिया : "पसन्द तो मूल स्वामीकी होनी चाहिये, जो पहला संरक्षक बनेगा; परन्तु अन्तिम निर्णय राज्य करेगा । ऐसी व्यवस्थासे राज्य और व्यक्ति दोनों पर अंकुश रहता है।" [वही]

गांधीजीने समझाया कि इसका अर्थ यह नहीं है कि आवश्यक कानून बनने तक पूंजीपतियोंके संरक्षक बननेका काम पुंजीपतियोंकी इच्छा पर ही छोड़ दिया जायगा । अगर समझानेका उन पर असर न हुआ, तो अहिंसक असहयोगका हथियार काममें लिया जायगा । "परिस्थिति-बल उनसे यह सुधार जबरन् करा लेगा । हां, वे विनाश ही मोल लेना चाहें तो दूसरी बात है । जब पंचायत-राज कायम हो जायगा, तो लोकमत वह काम करेगा जो हिंसा कभी नहीं कर सकती।" [हरिजन, १ जून १९४७, पृ. १७२] उदाहरणार्थ, यदि कोई जमींदार संरक्षकताके सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करेगा, तो खेतीके मजदूर उसकी खेतीका बहिष्कार करेंगे और लोकमत तब तक गद्दार मजदूरोंको बाहरसे नहीं लाने देगा या काश्तकारों अथवा बहिष्कार करनेवाले मजदूरोंके खिलाफ तब तक बलका प्रयोग नहीं करने देगा, जब तक वे पूरी तरह अहिंसक बने रहते हैं । गांधीजीके शब्दोंमें: "मान लीजिये कि कोई भूस्वामी अपने किसानोंका शोषण करता है और उनके कठोर परिश्रमके फलको अपने ही काममें लेकर उन्हें उससे वंचित रखता है । जब वे उसे समझाते हैं तो वह उनकी बात नहीं सुनता और तरह तरहके एतराज

उठाता है । . . . तब किसान या उनके प्रभावशाली समर्थक उसकी पत्नीसे अपील करेंगे कि वह अपने पतिको समझाये । यह भी मान लीजिये कि वह किसीकी नहीं सुनता या उसके स्त्री-बच्चे किसानोंके विरुद्ध एक हो जाते हैं, तब भी किसान दबेंगे नहीं । अगर उनसे जमीन छोड़नेके लिए कहा गया तो वे जमीन छोड़ देंगे, परन्तु वे यह बात स्पष्ट कर देंगे कि जमीन उसकी है जो उसे जोतता है । मालिक खुद तो सारी जमीनको जोत नहीं सकता, इसलिए उसे उनकी उचित मांगोंके सामने झुकना ही पड़ेगा । किन्तु यह हो सकता है कि इन किसानोंकी जगह मालिक दूसरे किसान ले आये । उस स्थितिमें हिंसा किये बिना आन्दोलन तब तक चलेगा, जब तक बदलेमें आनेवाले किसानोंको अपनी भूल महसूस न हो जाय और वे निकाले गये किसानोंके साथ एक न हो जायं ।" [हरिजन, ३१ मार्च १९४६, पृ. ६४]

उद्योगोंके बारेमें भी यही बात लागू होती है । आजकी दुनियामें पाये जानेवाले तनावका एक प्रमुख कारण श्रम और पूंजीके बीचका झगड़ा है । गांधीजीने कहा था कि पूंजीवादी शोषणके विरुद्ध लड़नेमें मजदूरोंको अकसर असफलता मिलती है, इसका कारण यह है कि अपने ही शोषणमें हिस्सेदार बननेसे इनकार करके पूंजीकी शक्तिको बेकार बना देनेके बजाय मजदूर पूंजीको हथियाना चाहते हैं और पूंजीपतिसे भी ज्यादा बुरे पूंजीपति बन जाते हैं । इससे वे स्वयं ही नुकसानमें रहते हैं । पूंजीपति संघर्षके लिए अधिक सुसज्ज, अधिक संगठित और अधिक बलवान होते हैं । उन्हें मजदूरोंमें पूंजीपति बननेके इच्छुक उम्मीदवार मिल जाते हैं और वे मजदूरोंको दबानेके लिए ऐसे लोगोंका उपयोग करते हैं । जिस दिन मजदूर यह समझ लेंगे कि अन्तमें तो तथाकथित मूल्यवान धातु सच्ची पूंजी नहीं, परन्तु उत्पादक, उपयोगी श्रम ही सच्ची पूंजी है और जिस दिन वे अहिंसक असहयोगका हथियार सफलतासे चलाना सीख लेंगे, उसी दिन शोषणके दुर्गका पतन हो जायगा ।

गांधीजीकी कल्पना यह थी कि उद्योग श्रम और पूंजीका सम्मिलित साहस है और उसमें "मालिक" और "मजदूर" दोनों समाजके एकसाथ काम करनेवाले संरक्षक हैं । इसलिए वर्गयुद्धमें फंसने और अपने अपने अधिकारोंकी ही बात सोचनेके बजाय उन्हें समाज-सेवाकी

दृष्टिसे अपने अपने कर्तव्यके पालन पर सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिये । कर्तव्यका अच्छी तरह पालन करनेसे ही अधिकार प्राप्त होते हैं । अगर पूंजीपति या उद्योगपति संरक्षकके नाते अपने कर्तव्यका पालन ठीक ढंगसे नहीं करेंगे, तो मजदूरोंका सहयोगी संरक्षकोंके नाते केवल अधिकार ही नहीं, बल्कि नैतिक कर्तव्य भी होगा कि वे अपना सहयोग शान्तिपूर्वक हटा लें; दूसरे शब्दोंमें, हड़ताल कर दें ।

श्रम और पूंजीके झगड़ोंमें हड़ताल सम्बन्धी गांधीजीकी फिलासकीका आधार परस्पर अधिकारों और कर्तव्योंका सिद्धान्त रहा है । वे मजदूरोंसे कहते थे कि मजदूर पूंजीपतियोंके समान ही उद्योगके मालिक हैं, इसलिए सहयोगी संरक्षकोंके नाते उन्हें उद्योगके हितोंको अपने ही हित समझना चाहिये और मालिकोंके भ्रष्टाचार, अन्याय, अक्षमता और अदूरदर्शी लोभको अपने आक्रमणका लक्ष्य बनाना चाहिये । इससे गांधीजी उद्योगपतियोंमें सद्भाव जाग्रत कर सके और उसे अपनी तरफ मोड़ सके । उनके अहिंसाके आग्रहने उद्योगपतियोंका डर मिटा दिया । वे इस बातको सफल हड़तालकी एक बुनियादी शर्त मानते थे कि हड़तालियोंकी मांगें स्पष्ट, व्यावहारिक और न्यायपूर्ण हों और उनसे समाजकी भलाईको नुकसान न पहुंचे । इस अन्तिम बातसे वे जनताकी सहानुभूति मजदूरोंके पक्षमें प्राप्त कर सके थे ।

हड़तालियों द्वारा अहिंसा-पालनको निश्चित बनाने तथा अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहनेकी शक्ति उनमें बढ़ानेके लिए गांधीजीने यह सिफारिश की कि हड़तालियोंको कई तरहके हाथ-उद्योगोंमें कुशलता प्राप्त कर लेनी चाहिये, ताकि लम्बी हड़तालके दौरान अपने और अपने परिवारके भरण-पोषणके लिए उन्हें हड़तालके कोष पर ही सर्वथा निर्भर न रहना पड़े । [मिल-सजदूरोंके लिए सहायक धंधेका विचार गांधीजीको पहले-पहल १९१८ में अहमदाबादके मिल-मजदूरोंकी २३ दिनकी चिरस्मरणीय हड़तालके दौरान सूझा था । उस समय उन्हें यह बात सूझी थी कि अगर हड़तालको सफल होना है तो मिल-मजदूरोंके पास कोई ऐसा धंधा होना चाहिये जिससे उनका पूरा या आंशिक निर्वाह हो सके । उन्हें दान पर निर्भर नहीं रहना चाहिये । . . . ३ जुलाई १९३७ के 'हरिजन' में लिखते हुए गांधीजीको स्मरण हुआ : "उसी समय मैंनें अपना यह

सुझाव रखा था कि मिल-मजदूरोंको कोई सहायक धंधा सिखाया जाय। परन्तु दूसरी हड़तालके आने तक मेरा यह सुझाव वैसा ही पड़ा रहा। उस वक्त एक तरहकी शुरुआत तो कर दी गई। परन्तु अचानक सहायक धंधे सिखानेके लिए कोई कारगर संगठन खड़ा कर लेना मुश्किल था। अब उस दिशामें (अहमदाबादके) मजदूर-संघकी तरफसे संगठित और व्यवस्थित प्रयत्न किया जा रहा है। मिल-मजदूरोंको सिखाया जा रहा है कि वे ऐसे धंधे चुन लें, जिन्हें वे घर पर फुर्सतमें कर सकते हैं और जिनसे उन्हें बेकारीके समय काफी राहत मिल जाय। ये धंधे हैं : कपासकी ओटाई, सफाई, धुनाई और कताई, बुनाई, सिलाई, साबुन और कागज बनाना, कम्पोजिंग आदि। . . . मजदूरकी बुद्धि उसके प्राणहीन, यांत्रिक धंधेसे कुण्ठित हो जाती है और उसके लिए अपना मानसिक विकास करनेकी गुंजायश नहीं रह जाती। . . . उसका सही ढंग पर संगठन कर दिया जाय, उसकी बुद्धि जाग्रत कर दी जाय, वह तरह-तरहके धंधे सीख ले, तो फिर वह अपना सिर ऊंचा करके चल सकेगा और उसे बेरोजगारीका डर कभी नहीं रहेगा।"] उनकी राय थी कि "कई धन्धोंका कामचलाऊ ज्ञान मजदूर-वर्गके लिए उतना ही महत्व रखता है जितना पूंजीपतिके लिए उसका सोना-चांदी।" [हरिजन, ३ जुलाई १९३७, पृ. १६१] उससे सजदूरको वही शक्ति और किसी भी धन्धेके अनुकूल बननेकी क्षमता मिल जाती है, जो पूंजीपतिको अपनी सम्पत्तिसे मिलती है। हड़तालियोंके समाजोपयोगी श्रम करनेकी तत्परता और योग्यता रखनेसे उनके और जनताके बीच सहानुभूतिका सम्बन्ध पैदा होता है और उनके अहिंसक संगठनका आधार खड़ा होता है। हड़तालके दिनोंमें इससे उनकी जितनी हिम्मत बनी रहती है उतनी और किसी चीजसे नहीं रहती।

क्या "संरक्षकताकी कानूनी कल्पना" से – जैसा एक दोषदर्शी टीकाकारसे कहा था – व्यक्तिगत स्वामित्वकी संस्थाको नवजीवन नहीं मिल जायगा ? पूंजीका एकत्रीकरण वास्तवमें शोषण अर्थात् हिंसाका फल है, इसलिए सीधे ही संपत्तिमात्रको राज्यके स्वामित्वमें क्यों न ले लिया जाय ? एक बार गांधीजीसे यह प्रश्न पूछा गया था। उन्होंने उत्तर दिया था कि मैं इससे तो सहमत हूँ कि वर्तमान रचनामें व्यक्तिके पास पूंजीका एकत्र होना बहुत-कुछ शोषणका अर्थात्

हिंसाका परिणाम है; परन्तु मैं राज्यकी हिंसासे व्यक्तिकी हिंसाको ज्यादा पसन्द करूंगा, क्योंकि दोनोंमें व्यक्तिकी हिंसा मात्रामें कम बुरी है । "राज्य केन्द्रित और संगठित हिंसाका प्रतीक है । व्यक्तिके आत्मा होती है, परन्तु राज्य एक आत्मा-रहित तंत्र है । . . . यह मेरा दृढ़ मत है कि अगर राज्य हिंसासे पूंजीवादको दबायेगा, तो वह खुद हिंसाके पाझमें फंस जायगा और फिर किसी भी समय वह अहिंसाका विकास नहीं कर सकेगा ।" [मॉर्डन रिव्यू, अक्तूबर १९३५ का उद्धरण, निर्मलकुमार बोस कृत 'स्टडीज़ इन गांधीज्म' में, कलकत्ता, १९४७, पृ. २०३-०४] और जहां इस बातके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि लोग संरक्षक बनकर रहे हैं, वहां इस बातका एक भी उदाहरण नहीं है कि "राज्य सचमुच गरीबोंके लिए जिया हो ।" [वही, पृ. २०४] इसलिए "मैं राज्यके हाथोंमें सत्ता केन्द्रित होनेके पक्षमें नहीं हूं, परन्तु संरक्षकताकी भावनाका विस्तार चाहता हूं; क्योंकि मेरी रायमें व्यक्तिगत स्वामित्वकी हिंसा राज्यकी हिंसासे कम हानिकारक है ।" [वही, पृ. २०२-०३] परन्तु यदि अनिवार्य ही हो, तो "मैं राज्यके कमसे कम स्वामित्वका समर्थन करूंगा।"

अधिकाधिक चढ़ते क्रमवाली कर-व्यवस्थाके द्वारा अतिरिक्त सम्पत्ति जबरन् वसूल क्यों न कर ली जाय ? इस पर गांधीजीका उत्तर यह है कि राज्य जरूर धन जबरन् वसूल कर सकता है, परन्तु विशेषाधिकार प्राप्त वर्गकी बुद्धि और सद्भावनाको इस तरह नहीं छीन सकता । इसके विपरीत, संरक्षकता जहां पूंजीवादको कोई प्रश्रय नहीं देती वहां पूंजीपतियोंको अपनी बुद्धिका समाज-सेवाके लिए विकास और उपयोग करनेकी नैतिक स्वतन्त्रता वह देती है और इससे गरीबोंके उद्धारके लिए पूंजीपतियोंका सद्भाव प्राप्त करना संभव हो जाता है । ऐसी कोई चीज नहीं है जो मूलत: अच्छी हो और हिंसाके द्वारा तो प्राप्त की जा सकती हो, परन्तु उतनी ही मात्रामें या उससे अधिक मात्रामें संरक्षकताके सिद्धान्तका प्रयोग करके प्राप्त न की जा सकती हो । इसके अतिरिक्त संरक्षकता हिंसा, यांत्रिक जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके दमनकी बुराइयोंको टाल देती है । यदि उद्योगके बड़े क्षेत्रोंका राष्ट्रीकरण हो जाय और उन्हें राज्यके स्वामित्वमें ले लिया जाय, तो भी उसके साथ साथ संरक्षकताकी प्रणालीके अनुसार चलनेवाले

व्यक्तिगत उद्योगके होनेसे आलस्य, अक्षमता, भ्रष्टाचार, साहसहीनता और नौकरशाही स्वेच्छाचारकी बुराई पर—जो अकसर सरकारी साहसके साथ लगे रहते हैं – अच्छी रोक रहेगी । इस प्रकार केवल संरक्षकता ही इस दुविधासे बचनेका संभव उपाय है : "मनुष्योंको स्वतंत्र कर दो तो वे असमान हो जायंगे; उन्हें समान कर दो तो वे स्वतंत्र नहीं रहेंगे ।"

क्या संरक्षकताके सिद्धान्तका इस बातको उचित सिद्ध करनेके लिए उपयोग चहीं किया जा सकता कि एक राष्ट्र अपनेको दूसरे राष्ट्रका " संरक्षक" बना ले ? इसका उत्तर यह है कि "संरक्षकता" प्रकृतिमें अनिवार्य रूपसे बार-बार पैदा होनेवाली असमानताएं दूर करनेका उपाय है, न कि "संरक्षकता" के साथ खिलवाड़ कर सकनेके लिए कृत्रिम रूपसे असमानताएं उत्पन्न करनेका बहाना । यह तो उसके सच्चे अर्थ और हेतुका ही विपर्यास होगा ।

गांधीजी संरक्षकताके पक्षमें क्यों थे, इसका एक कारण और भी है । वे समाजके नियमनमें राज्यके हस्तक्षेपके अवसर बढ़ानेके प्रबल विरोधी थे । वे "नैतिक स्वतंत्रता" को सबसे अधिक महत्त्व देते थे । वे चाहते थे कि सुधार भीतरसे हो । उन्होंने कहा था : "मुझे राज्यकी शक्तिके बढ़नेसे सबसे ज्यादा डर लगता है, क्योंकि जहां वह प्रत्यक्ष रूपमें कमसे कम शोषण करके भलाई करता है वहां वह मनुष्यके व्यक्तित्वको, जो सारी प्रगतिका आधार है, नष्ट करके मानव-जातिकी अत्यन्त हानि करता है ।" [वही, पृ. २०३-०४]

जुंगने "लोगों द्वारा राज्य कही जानेवाली काल्पनिक वस्तु" की वृद्धिके खतरेका उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है कि राज्य "एक प्रकारका अतिमानव है, जिसके पास अटूट शक्ति और साधन-सम्पन्नता है" और वह जो काम कर सकता है वैसा किसी व्यक्तिसे करनेकी आशा नहीं रखी जा सकती । वे कहते हैं : "यह खतरनाक झुकाव, जो ठेठ समूह-मानस तक ले जानेवाला है, विराट् संख्याओं और शक्तिशाली संस्थाओंके विषयमें रहे इसी भ्रामक विचारसे आरंभ होता है और इन संख्याओं तथा संस्थाओंके समक्ष व्यक्ति बेचारा शून्यवत् बन जाता है । . . . ऐसी प्रत्येक वस्तु जो अमुक मानव आकारसे बाहर चली जाती है, यानी अधिक बड़ा रूप ग्रहण

कर लेती है, वह मनुष्यके अज्ञात मनमें उतनी ही अमानुषिक शक्तियां उत्पन्न कर देती है" और इस प्रकार "सर्वसत्ताधारी दानवों" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेंट्स', लंदन, १९४७, पृ. १७-१८] को उन्मुक्त कर देती है । इसलिए गांधीजी राज्यको जितनी अत्यन्त आवश्यकता हो उससे अधिक सत्ता देनेके विरुद्ध थे और लोगोंको यह सोचनेके लिए प्रोत्साहित भी नहीं करते थे कि उनका उद्धार उनसे बाहर किसी साधनसे हो सकता है । इसके विपरीत, वे लोगोंसे कहते थे कि राज्य लोगोंको वही लौटा देता है जो वह उनसे प्राप्त करता है; वे ही राज्यके इस दानके स्रोत हैं । इसलिए उन्हें अपनी नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी ही चाहिये, क्योंकि उसके बिना आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रतायें अपूर्ण है ।

२०

आगाखां महल, पूनामें १९४२ की हमारी आखिरी नजरबन्दीके दिनोंमें मुझे गांधीजीके साथ उनके संरक्षकताके आदर्शके विविध पहलुओं पर लम्बी चर्चा करनेका अवसर प्राप्त हुआ था । इस विषयमें भी हमारी चर्चा हुई थी कि आजकी दुनियामें उसकी सिद्धि कैसे की जा सकती है । इस सम्बन्धमें एक दिन चर्चाके दौरान उन्होंने कहा : "आज इसे सिद्ध करनेका एकमात्र प्रजातांत्रिक तरीका यह है कि इसके पक्षमें लोकमत तैयार किया जाय ।"

मैंने उनसे पूछा कि आपने पूंजीपति वर्गके सामने संरक्षकताका सिद्धान्त रखा, इसका कारण शायद यह है कि जहां अहिंसा लोगोंसे अनेक त्याग करा सकती है, वहां किसीसे यह आशा रखना उचित नहीं है कि वह सर्वस्वका त्याग कर देगा । "इसलिए आपने पूंजीपति वर्गसे असंभव बात करनेके लिए न कहकर उनके सामने एक उचित और व्यावहारिक विकल्प पेश किया है ।"

गांधीजी : "मैं यह माननेसे इनकार करता हूं कि अहिंसा जितने त्यागका तकाजा कर सकती है या जितना त्याग करवा सकती है, उसकी कोई सीमा होती है । संरक्षकताके सिद्धान्तकी अपनी ही खूबियां हैं ।"

प्यारेलाल : "बेशक, आप यह तो नहीं सुझाना चाहते कि यह परिवर्तन पूंजीपतियोंकी मरजी पर निर्भर करेगा और उनका पूर्ण हृदय-परिवर्तन होने तक हमें प्रतीक्षा करनी चाहिये ? अगर सामाजिक परिवर्तन पूंजी-पतियोंकी मरजीके अनुसार धीमी चालसे और क्रम-क्रमसे हो, तो उसका वह क्रान्तिकारी जोश खतम हो जायेगा, जो भूतकालसे एकदम सम्बन्ध तोड़ लेनेसे पैदा होता है । इसलिए हमारे मार्क्सवादी मित्र इस बात पर जोर देते हैं कि सच्ची सामाजिक क्रान्ति मजदूरोंकी तानाशाहीके जरिये ही की जा सकती है । आपने भी हमें सिखाया है कि राजनीतिमें सुधारवाद क्रान्तिको मार देता है । क्या यह चीज सामाजिक क्रान्तिको भी इसी तरह लागू नहीं होती ? जो भी हो, यदि अहिंसामें विरोधीको उच्चतर सिद्धान्तके खातिर प्राणोंकी आहुति देनेके लिए तैयार करनेकी शक्ति हो — और आपके विचारसे अहिंसा ऐसा कर सकती है — तो अहिंसाकी मददसे हम पूंजीपतियोंसे उनकी विशाल सम्पत्तिका त्याग क्यों नहीं करा सकते ? आप यह तो स्वीकार करते ही हैं न कि धनिकोंकी विशाल सम्पत्ति आज अधिकतर शोषणका ही नतीजा है ? तब आप संरक्षकताको क्यों दाखिल करते हैं ? बहुतेरे लोग ईमानदारीसे यह मानते हैं कि संरक्षकता केवल एक ढोंग ही साबित होगी । या अन्तमें यह मानना होगा कि अहिंसाकी शक्तिकी एक सर्यादा जरूर है ?"

गांधीजी : "शायद तुम्हारे दिमागमें रूसका उदाहरण है । पूंजीपति वर्गकी सम्पत्ति पूरी तरह छीन लेनेसे और उनकी धन-दौलत और जायदादको लोगोंमें बांट देनेसे रूसमें प्रचंड क्रान्तिकारी जोश पैदा हुआ । लेकिन मेरा दावा है कि हमारी क्रान्ति उससे भी बड़ी क्रान्ति सिद्ध होगी । पूंजीपति वर्गने पीढ़ियोंके अनुभव और विशेषज्ञताके जरिये जो व्यापारिक बुद्धि और कार्य-कुशलता प्राप्त की है, उसकी हमें पूरी कदर करनी चाहिये । मेरी संरक्षकताकी योजनामें जनताको केवल पूंजीपतियोंके धनका ही उपयोग करनेको नहीं मिलता, बल्कि उनकी बुद्धि, योग्यता और कार्य-कुशलताका भी उपयोग करनेको मिलता है । जब तक हमें सत्ता नहीं मिलती तब तक हृदय-परिवर्तन ही हमारा अनिवार्य हथियार हो सकता है । जब सत्ता हमारे हाथमें आ जायेगी, तब हृदय-परिवर्तन हमारी पसन्दका हथियार हो जायेगा । कानूनके पहले हृदय-परिवर्तन

होना चाहिये । हृदय-परिवर्तनके बिना कानून निकम्मा साबित होता है । उदाहरणके लिए, सफाईके नियम अमलमें लानेकी सत्ता आज हमारे हाथमें है; लेकिन हम उससे कोई लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि जनता उसके लिए तैयार नहीं है ।"

प्यारेलाल : "आप कहते हैं कि सुधारके पहले हृदय-परिवर्तन होना चाहिये । लेकिन किसका हृदय-परिवर्तन ? अगर आपका मतलब जनताके हृदय-परिवर्तनसे हो, तो वह तो आज भी तैयार है । लेकिन अगर आपका मतलब पूंजीपतियोंके हृदय-परिवर्तनसे हो, तो आपको कयामतके दिन तक ठहरना पड़ेगा ।"

गांधीजी : "मेरा मतलब दोनोंके हृदय-परिवर्तनसे है ।"

मेरे चेहरे पर आश्चर्यका भाव देखकर उन्होंने आगे कहा : " देखो, अगर पूंजीपति स्वेच्छासे संरक्षकताका सिद्धान्त स्वीकार नहीं करेंगे, तो जनमतके दबावसे उन्हें इसे स्वीकार करना होगा । लेकिन उसके लिए अभी जनमत पूरी तरह संगठित नहीं है ।"

थोड़ी देर पहले वे जो कुछ कह चुके थे उसी बात पर फिरसे लौटकर मैंने पूछा : "सत्ताका मतलब आपकी दृष्टिमें क्या है ?"

गांधीजी : "सत्तासे मेरा मतलब है जनताकी वोट देनेकी सत्ता – यह सत्ता इतनी व्यापक होनी चाहिये कि बहुमतकी इच्छाको अमली रूप दिया जा सके ।"

प्यारेलाल : "क्या पार्लियामेन्टरी कार्यक्रमसे आम लोगोंके हाथमें कभी सत्ता आ सकती है ?"

गांधीजी : "केवल पार्लियामेन्टरी कार्यक्रमसे ही यह संभव नहीं होगा । मेरा आधार अंतमें अहिंसक असहयोगकी शक्ति पर है, जिसे मैं पिछले बाईस बरससे लोगोंमें पैदा करने और बढ़ानेकी कोशिश करता रहा हूं ।"

प्यारेलाल : "क्या अहिंसाके जरिये सत्ता पर अधिकार किया जा सकता है ? हमारे समाजवादी मित्र कहते हैं कि एक हद तक अहिंसाकी अनोखी शक्तिका उन्हें विश्वास हो गया है, लेकिन उनकी समझमें यह नहीं आता कि अहिंसा लोगोंको सत्ता पर अधिकार करनेमें कैसे मदद कर सकती है। आपने भी यही बात कही है। समाजवादियोंकी दलील है कि अहिंसा यहीं असमर्थ सिद्ध होती है।"

गांधीजी : "एक तरहसे उनका कहना ठीक है। स्वभावसे ही अहिंसा सत्ता 'छीन' नहीं सकती, न यह उसका उद्देश्य ही हो सकता है। लेकिन **अहिंसा इससे भी अधिक काम कर सकती है;** सरकारी तंत्र पर अधिकार जमाये बिना ही **वह सत्ता पर असरकारक रूपमें नियंत्रण रख सकती है और उसे रास्ता बता सकती है**। यही अहिंसाकी विशेषता है। बेशक, इसमें एक अपवाद है। अगर लोगोंका अहिंसक असहयोग इतना पूर्ण हो कि शासन-तंत्रका काम ही ठप हो जाय या विदेशी हमलेके जोरसे देशका शासन-तंत्र टूट पड़े और रिक्तता पैदा हो जाये, तो जनताके प्रतिनिधि आगे आकर उसे भर देंगे। सैद्धान्तिक दृष्टिसे यह संभव है।"

इससे मुझे वह बात याद आ गई, जो गांधीजीने एक बार मीराबहनसे कही थी : "अहिंसा सत्ताको हथियाती नहीं है। उसका ध्येय सत्ता नहीं है; सत्ता स्वयं उसके पास चली आती है।" [गांधीजीका उद्धरण, मीराबहन कृत 'ग्लीनिंग्स' में, अहमदाबाद, १९४९, पृ. १५]

गांधीजीने अपनी दलील जारी रखते हुए कहा : "इसके अलावा, मैं यह नहीं मानता कि सरकार हिंसाके उपयोगसे ही चलाई जा सकती है।"

प्यारेलाल : "क्या राज्यकी कल्पनामें ही सत्ताका – दण्डसत्ताका – भाव निहित नहीं है ?"

गांधीजी : "हां, है। लेकिन सत्ताका उपयोग लाजिमी तौर पर हिंसक नहीं होना चाहिये। किसी परिवारमें पिताकी सत्ता बच्चों पर होती है। वह बच्चोंको सजा भी कर सकता है, लेकिन हिंसाका प्रयोग करके नहीं। सत्ताका सबसे कारगर अमल वह है, जो लोगोंको कमसे कम परेशान करे। अगर सत्ताका सही ढंगसे उपयोग किया जाये, तो वह फूलकी तरह हलकी मालूम

होनी चाहिये; किसी पर उसका बोझ पड़ना ही नहीं चाहिये । कांग्रेसकी सत्ता लोगोंने खुशीसे स्वीकार की । मुझे कई बार लोगोंने तानाशाहकी निरंकुश सत्ता सौंपी ? । लेकिन हर कोई जानता था कि मेरी सत्ता उनकी ऐच्छिक स्वीकृति पर निर्भर करती थी । वे मुझे किसी भी समय हटा सकते थे और मैं बिना किसी चूंचराके सत्ताके स्थानसे अलग हट जाता । खिलाफत आन्दोलनके दिनोंमें मेरी सत्ता या कांग्रेसकी सत्ता किसीको चुभती नहीं थी । अलीभाई मुझे 'सरकार' कहा करते थे । फिर भी वे मुझे अपनी जेबमें रखते थे । उस समय मेरे बारेमें या कांग्रेसके बारेमें जो बात सच थी, वह सरकारके बारेमें भी सच हो सकती है ।"

मैंने मान लिया कि अहिंसक राज्य या अहिंसक अल्पमतकी तानाशाही – कुछ लोगोंकी नैतिक सत्ता पर आधारित तानाशाही – सिद्धान्तके रूपमें संभव हो सकती है । लेकिन उसके लिए उग्र आत्म-अनुशासन, आत्मत्याग और तपस्याकी जरूरत है । भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें अहिंसक कानून बनानेवालेका या राज्यके अहिंसक अधिपतिका वर्णन है । वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो सारे कौटुम्बिक सम्बन्ध तोड़कर वानप्रस्थी बन गया है, जिस पर डर या पक्षपातका, क्रोध या आसक्तिका कोई असर नहीं पड़ता, जो अपने लिए किसी बातकी लालसा नहीं रखता – न सत्ताकी, न इज्जतकी और न कीर्तिकी । वह नम्रता और आत्मोत्सर्गकी मूर्ति होता है । लगातार यम-नियमका अभ्यास करके वह अपने शरीरको मौसम, थकावट और हर तरहके अभावके सभी संभव कष्टोंको सहन करनेका आदी बना लेता है । लेकिन लेखक प्रश्न करता है कि मान लीजिये उसकी आत्मा इन सबके लिए तैयार हो, परन्तु शरीर निर्बल हो; बुढ़ापे या बीमारीके कारण उसका शरीर इतना कमजोर हो जाये कि वह अपनी तपस्याके कष्टोंको सहन न कर सके, तब क्या हो ? इस काल्पनिक प्रश्नका दृढ़ और निश्चित उत्तर यह दिया गया है : 'ऐसी स्थितिमें अपने निकम्मे बने हुए शरीर पर दया दिखाने और उसका पोषण करनेके बजाय उसे स्वयं अपने हाथों रची हुई चिता पर चढ़कर अपनेको भस्म कर देना चाहिये ।' अन्तमें मैंने कहा : "व्यक्तिगत रूपसे मैं यह मानता हूं कि केवल ऐसा त्यागी व्यक्ति ही अहिंसक तानाशाह बनने लायक है । अगर किसीको इस तपस्याका चित्र भयावना मालूम हो, तो वह रूसियोंको देखे जो

शून्यसे ४० डिग्री नीचेकी सरदीमें शत्रुओंके साथ बहादुरीसे लड़ रहे हैं। तब अहिंसाकी दृष्टिसे हम इससे ज्यादा नरम हलकी आशा क्यों करें ? इसके विपरीत, हमें इससे ज्यादा बड़े त्यागों और कुरबानियोंके लिए तैयार रहना चाहिये।"

गांधीजीने मेरे कथनका समर्थन किया कि अहिंसामें लोगोंको इससे ज्यादा बड़ी कुरबानियोंके लिए तैयार रहना चाहिये, क्योंकि इसमें ध्येय भी ज्यादा ऊंचा होता है। उन्होंने कहा : "उद्धार या मुक्तिका कोई छोटा रास्ता हो ही नहीं सकता।"

मेरी बहन बीचमें ही बोल उठी : "इसका यह अर्थ है कि कोई ईसा, मुहम्मद या बुद्ध ही अहिंसक राज्यका मुखिया हो सकता है।"

गांधीजीने विरोधमें कहा : "यह सही नहीं है। पैगम्बर और महापुरुष एक युगमें एक ही बार पैदा होते हैं। लेकिन अगर एक व्यक्ति भी अहिंसाके आदर्शको पूर्णतः सिद्ध कर ले, तो वह सारे समाजका उद्धार कर देता है। एक बार ईसाने मार्ग दिखा दिया, फिर उनके बारह शिष्य उनकी अनुपस्थितिमें भी उनकाका काम चलाते रहे। विद्युत्-शक्तिके नियमोंका पता लगानेके लिए वैज्ञानिकोंकी कई पीढ़ियोंके अध्यवसाय और प्रतिभाकी जरूरत पड़ी। लेकिन आज साधारण लोग, यहां तक कि बच्चे भी, अपने दैनिक जीवनमें बिजलीकी शक्तिका उपयोग करते हैं। उसी तरह एक बार आदर्श राज्यके अस्तित्वमें आ जानेके बाद उसका शासन चलानेके लिए हमेशा पूर्ण और आदर्श व्यक्तिकी जरूरत नहीं होगी। इसके लिए सबसे पहले समाजमें पूर्ण जागृति होना जरूरी है। बाकी सब अपने-आप होता रहेगा। हमारे देशका ही उदाहरण लें, तो मैंने मजदूरोंके सामने यह सत्य रखा है कि सच्ची पूंजी सोना या चांदी नहीं, बल्कि उनके हाथ-पांवकी मेहनत और उनकी बुद्धि है। एक बार मजदूर-वर्ग इस सत्यको पहचान ले, तो इससे उसमें जो शक्ति पैदा होगी उसके उपयोगके लिए मजदूर-वर्गको मेरी उपस्थितिकी जरूरत नहीं रहेगी।"

गांधीजीने यह कहते हुए अपनी बात पूरी की कि अगर हम केवल लोगोंको उनकी शक्तिका – उनकी अहिंसक असहयोगकी शक्तिका – भान करा सकें, तो फिर संरक्षकताके आदर्शका साकार होना उतना ही निश्चित होगा जितना रातके बाद सुबहका आना ।

२१

जेलसे छूटने पर हम लोगोंने संरक्षकताके प्रश्नको आगाखां महलकी नजरबन्द-छावनीमें जहां छोड़ा था वहांसे फिर उसे हाथमें लिया । आश्रमके दो बुजुर्ग सदस्य श्री किशोरलाल मशरूवाला और श्री नरहरिभाई परीख भी शरीक हो गये । प्रोफेसर दांतवालाने बम्बईसे संरक्षकताका एक सीधासादा और व्यावहारिक फार्मूला तैयार करके भेजा था । वह गांधीजीके सामने रखा गया । उन्होंने उसमें थोड़े फेरबदल किये । गांधीजीका सुधारा हुआ अन्तिम मसौदा इस प्रकार था :

१. संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) एक ऐसा साधन प्रदान करती है, जिससे समाजकी मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था समतावादी व्यवस्थामें बदल जाती है । उसमें पूंजीवादकी तो गुंजाइश नहीं है, मगर वह वर्तमान पूंजीपति वर्गको अपना सुधार करनेका मौका देती है । उसका आधार यह श्रद्धा है कि मानव-स्वभाव ऐसा नहीं है जिसका कभी उद्धार ही न हो सके ।

२. वह संपत्तिके व्यक्तिगत स्वामित्वका कोई अधिकार स्वीकार नहीं करती; हां, उसमें समाज स्वयं अपनी भलाईके लिए किसी हद तक इसकी इजाजत दे सकता है ।

३. उसमें धनके स्वामित्व और उपयोगके कानूनी नियमनकी मनाही नहीं है ।

४. इस प्रकार राज्य द्वारा नियंत्रित संरक्षकतामें कोई व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए या समाजके हितके विरुद्ध संपत्ति पर अधिकार रखने या उसका उपभोग करनेके लिए स्वतंत्र नहीं होगा ।

५. जिस तरह उचित न्यूनतम जीवन-वेतन स्थिर करनेकी बात कही गई है, ठीक उसी तरह यह भी तय कर दिया जाना चाहिये कि वास्तवमें किसी भी व्यक्तिकी ज्यादासे ज्यादा कितनी आमदनी हो। न्यूनतम और अधिकतम आमदनियोंके बीचका फर्क उचित, न्यायपूर्ण और समय समय पर इस प्रकार बदलता रहनेवाला होना चाहिये कि उसका झुकाव इस फर्कको मिटानेकी तरफ हो।

६. गांधीवादी अर्थ-व्यवस्थामें उत्पादनका स्वरूप समाजकी जरूरतोंसे निश्चित होगा, न कि व्यक्तिकी सनक या लालचसे।

इस फार्मूलाको अखबारोंमें भेजनेका निश्चय किया गया। परन्तु पुन-विचारके बाद हमें लगा कि इसके प्रकाशनसे पूर्व श्री घनश्यामदास बिड़लाको दिखा लिया जाय, जो संरक्षकताके सिद्धान्तके अनुकूल थे। अत: फार्मूलेकी एक प्रति उनके पास भेज दी गई। उन्होंने इसका स्वागत किया, परन्तु यह प्रस्ताव रखा कि सारेका सारा प्रयत्न प्रस्तावके प्रकाशनके साथ ही खतम ना हो जाय, इसके लिए पहले वे कुछ साथी पूंजीपतियोंसे बात कर लें, ताकि मसौदेके प्रकाशनके साथ साथ उनकी स्वीकृतिकी घोषणा भी कर दी जाय।

किन्तु बादमें उनकी ओरसे और कोई समाचार नहीं आये। शायद जिन लोगोंसे उन्होंने बात की होगी उनकी ओरसे उन्हें उत्साहवर्धक उत्तर नहीं मिला होगा। परन्तु किसी राष्ट्रकी प्रतिभा और प्राचीन परम्पराके साथ मजबूतीसे जुड़ा हुआ कोई महान विचार कभी मरता नहीं। आज गांधीजीके विचारका पुनर्जन्म हुआ है और विनोबा भावे उसे चमत्कारी सफलताके साथ आगे बढ़ा रहे हैं। उससे यह आशा होती है कि "सम्पूर्ण सामाजिक जागृति" का वह युग आयेगा, जिसकी गांधीजीने पूनाके नजरबन्द- शिविरमें १३ दिसम्बर, १९४२ को भविष्य-वाणी की थी, और वह उस अहिंसक क्रान्तिका अग्रदूत बनेगा जिसके फलितार्थ दूर दूर तक पहुंचते हैं। जमीनके भूखे गरीब मेहनतकशोंके उपयोगके लिए लाखों एकड़ जमीन और हजारों गांव स्वेच्छासे दानमें दिये जा चुके हैं। भूमिदान मांगने और लेनेके मूल सीमित उद्देश्यका विस्तार

करके अब उसमें संरक्षकताके सिद्धान्तके अनुसार अन्य कई प्रकारके दान भी सम्मिलित कर दिये गये हैं — जैसे सम्पत्ति-दान, श्रमदान, बुद्धिदान और अन्तमें गरीबोंकी सेवाके लिए समर्पित जीवन-दान ।

ग्रामवासियोंके सामूहिक निश्चयसे पूरे गांव दानमें दिये जानेकी बात इस आन्दोलनके विकासमें एक महत्त्वपूर्ण घटना है । भूदान स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है । यह लक्ष्यपूर्तिका एक साधन मात्र है । भूदान-क्रान्तिका हार्द इस बातमें नहीं है कि जमीन एक हाथसे दूसरे हाथमें चली जाती है, बल्कि इस बातमें है कि इससे भूमिके पूरे उपयोगकी तथा कृषि-जीवनके समस्त मूल्योंकी रक्षा संभव बनती है । कोई किसान-समुदाय सम्पन्न हो सकता है, परन्तु जब यह समृद्धि सस्ती रासायनिक खादोंका आयात करके – सस्ती इस अर्थमें नहीं कि वे उत्पादन-खर्चसे कम कीमतमें मिली हैं, परन्तु इस अर्थमें कि वे धरती और उस पर बसे हुए प्राणियोंके शोषण द्वारा प्राप्त की गई हैं – अथवा पशुओं तथा मनुष्योंके खाद्य पदार्थोंका आयात करके सिद्ध की गई हो, तो इस प्रकार किसानोंको होनेवाला लाभ कहीं न कहीं जमीनके उपजाऊपनके होनेवाले ह्रासका द्योतक है । जब किसी पूरी तरह आत्म-निर्भर समुदायकी, जो मनुष्यों, पशुओं और फसलोंके लिए पूरी खुराक पैदा कर लेता है, अतिरिक्त पैदावार बेची जा सकती है, तब उससे केवल उत्पादकोंको ही नहीं, परन्तु देशको और सारी दुनियाको भी शुद्ध लाभ होता है । आहारकी स्वयंपूर्णता तभी उचित होती है जब उससे संसार भरके खाद्य-उत्पादनमें वृद्धि हो और वह आहार अधिक अच्छा हो । अगर उससे यह ध्येय पूरा न होता हो तो उसकी व्यवस्थामें कोई न कोई दोष है । मल-मूत्र, खेतके कचरे और हर किस्मके कूड़े-करकटकी कम्पोस्ट खाद बना कर उसका उपयोग किया जाय, तो यह धरतीके पुनरुद्धार और स्वयंपूर्णताके प्रयत्नका प्रारंभ करनेवाला और उसकी गहरी तथा मजबूत बुनियाद डालनेवाला कदम होगा ।

भारतीय गांवोंका पुराने समयसे चला आ रहा दारिद्र्य और पिछड़ापन मुख्यतः उस त्रिविध स्रावके कारण है, जिसका वह दीर्घकालसे शिकार रहा है – अर्थात् कच्चे मालका स्राव, पैसेका स्राव और ग्राम-समुदायके उत्तम सदस्योंके शहरोंमें जा बसनेसे होनेवाला कुशलताका स्राव ।

जब तक यह त्रिविध स्राव जारी रहेगा तब तक गांवोंको उनकी पहलेवाली सम्पन्नता और तेजस्विता फिरसे प्राप्त नहीं हो सकती । जिन जेबोंमें छेद हों उनमें कोई आदमी रुपया नहीं रखता । पहले ये छेद बन्द होने चाहिये ।

कच्चे मालका स्राव सरकारी लगान या शहरोंसे मिलनेवाले माल और सेवाओंकी कीमत चुकानेके कारण होता है । इसलिए ग्रामदानी गांवोंको इसकी पूरी सावधानी रखनी पड़ेगी कि जहां तक संभव हो गांवकी पैदावारसे ही काम चला लिया जाय और शहरी तैयार मालको दूर रखा जाय । पैसेके स्रावको रोकनेके लिए वे ग्रामीण स्वास्थ्य-सेवाओंकी कोई प्रणाली संगठित कर लेंगे । इनमें जोर रोगोंके इलाजके बजाय रोगोंको रोकने पर होगा, आधुनिक औषधियों और शल्य-चिकित्साके चमत्कारी उपायोंके बजाय स्वास्थ्य-सम्बन्धी सही आचरण सिखाने पर होगा । प्राकृतिक चिकित्सा, सरल दवाइयों और जड़ी-बूटियोंसे अधिकांश लोगोंको जितनी डॉक्टरी सहायता चाहिये वह सब मिल जायगी । ये जड़ी-बूटियां गांवमें ही उगानेके लिए लोगोंको प्रोत्साहित किया जायगा । इन स्वास्थ्य-सेवाओंके लिए सेवक गांवोंमें ही भरती किये जायंगे और गांवमें ही उन्हें इनकी तालीम दी जायगी । जिन लोगोंके पास विशेष ज्ञान और कौशल विपुल मात्रामें होगा, वे दोनोंका दान देंगे और उससे लोगोंको तालीम देनेका काम हो जायगा । खर्चीले नये ढंगके साधन-सामग्रीवाले कोई बड़े अस्पताल होना जरूरी नहीं । इतना काफी होगा कि प्रत्येक क्षेत्रमें एक अच्छे साधनोंवाला केन्द्रीय अस्पताल हो, जो गांवोंके स्वास्थ्यकेन्द्रोंकी श्रृंखलासे जुड़ा हो – जहां स्थानीय तालीम पाये हुए सेवक एक अनुभवी घूमते रहनेवाले चिकित्सकके मार्गदर्शन और देखरेखमें अधिकांश सारे रोगियोंका इलाज करेंगे । बुनियादी शिक्षाके आधार पर ग्रामीण विश्वविद्यालय स्थापित किये जायंगे । वहां सैद्धान्तिक विद्याओंके विभागोंके बजाय इन व्यावहारिक विषयोंको सिखानेकी व्यवस्था होगी – खेती, गोपालन, रेशमके कीड़ोंका पालन, मधुमक्खी-पालन, ग्रामका निर्माणकार्य, चमड़ा पकाना, सफाई, ग्रामस्वास्थ्य और ग्राम्य-औषधि, शिक्षण-शास्त्र और समाज-विज्ञान आदि । ग्रामीण पुनर्निर्माणके लिए आवश्यक कार्यकर्ताओंको इन विषयोंकी तालीम दी जायगी ।

सबको काम मिलेगा, जिससे वे अपनी और अपने परिवारकी दवादारूका और अपने बच्चोंकी शिक्षाका खर्च वस्तुके रूपमें या मेहनतके रूपमें चुका सकें। इसके साथ साथ बुढ़ापे, बीमारी आदिके सामूहिक बीमेकी व्यवस्था होगी, जिसके पीछे ग्राम-समुदायके साधनोंका बल होनेसे ऊंची ऊंची नकद तनखाहें देनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

अगर भूदानकी जमीन सबके लिए काफी न हो, तो जो लोग भूमिहीन हैं उन्हें दूसरे प्राकृतिक साधनोंके उद्योगोंमें लगाया जायगा; उदाहरणके लिए, जहां सुविधा हो वहां नमक तैयार कराया जायगा। कुदरत भी एक अकारकी "जमीन" ही है। इन धंधोंके लिए प्राथमिक पूंजी सम्पत्ति-दानसे प्राप्त कर ली जायगी।

इस पद्धतिसे संगठित प्रादेशिक घटक या ग्रामखंडकी सीमामें चावल कूटने, आटा पीसने और तेल निकालनेवाली बिजलीकी मिलोंकी मनाही कर दी जायगी और जो मिलें पहलेसे लगी होंगी उन्हें उठवा दिया जायगा, जिससे ताजे, पूर्ण और शुद्ध खाद्योंके रूपमें मिलनेवाले उनकी जीवन-प्रणालीके बुनियादी लाभसे ग्रामजनोंको वंचित न होना पड़े। इसी प्रकार जब तक प्रत्येक व्यक्तिको दूधके पदार्थ, शाकभाजी और फल काफी मात्रामें न मिलने लगें तब तक गांवमें पैदा की गई इन चीजोंको डिब्बोंमें बन्द करके या दूसरे रूपमें बाहर भेज कर नकद रुपया पैदा करनेका विचार भी नहीं किया जायगा। जब गांवकी जरूरतें निश्चित रूपमें पूरी हो जायेंगी, तभी इन चीजोंकी अतिरिक्त मात्राको ताजे रूपमें, सुखा कर या डिब्बोंमें बन्द करके बाहर भेजनेका विचार किया जायगा।

ऐसे वातावरणमें लोग अपने यहां मिलनेवाली सामग्रीसे स्वयं साफ-सुथरे, हवादार और काफी जगहवाले झोंपड़े बना सकेंगे। उनमें निर्धूम रसोईघर और सावधानीसे तैयार की हुई योजनाके अनुसार फूलों, फलों और तरकारियोंके घरेलू बगीचे होंगे। प्रत्येक घर और गांवके लिए गन्दे पानीकी नालियोंकी उचित व्यवस्था होगी, चौड़ी गलियां और साफ-सुथरी सड़कें होंगी – यह जरूरी नहीं कि वे मोटरके लायक हों – और जहां भीतरी जलमार्ग होंगे वहां उन्हें अच्छी

हालतमें रखा जायगा । परिवहनकी तेज गतिकी अपेक्षा उसका सस्तापन ग्राम-जीवनकी एक बड़ी आवश्यकता होगी ।

जब गांव इस तरह फिरसे नये और सुन्दर बन जायंगे, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रवृत्तिके व्यस्त केन्द्र बन जायंगे और वहां आत्माभिव्यक्ति तथा कलात्मक आनंदके उपभोगका पूरा अवसर मिलेगा – जिससे सब ग्रामवासियोंको स्वस्थ, सुसंस्कृत और सर्वांगीण जीवन अपने लिए और अपने बच्चोंके लिए सुलभ हो जायगा – तब धनप्राप्तिके हेतुका जोर बहुत-कुछ घट जायगा और गांवके उत्तम लोगोंका शहरोंमें जाना या ग्रामजनों द्वारा अपने बच्चोंको शिक्षा या आजीविकाके लिए शहरोंमें मेजना यदि बिलकुल बन्द न होगा तो बहुत कम जरूर हो जायगा ।

जीवन-विज्ञानकी दृष्टिसे सम्पूर्ण और आत्म-निर्भर किसान-समुदायमें उत्पादनका हेतु व्यापार न होकर जीवन-शक्तिका निर्माण होगा । पैसेकी अर्थ-व्यवस्थासे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए आत्म-निर्भर ग्राम-समाज सरकारसे कहेगा कि उसे जमीनका लगान, प्राथमिक न्यायकी दृष्टिसे, पूरी फसलके एक निश्चित भागके रूपमें और दूसरे कर अनाज या मेहनतके रूपमें चुकाने दिये जायं । कोई बुद्धिमान सरकार ऐसे अनुरोध पर सहानुभूतिसे विचार किये बिना न रहेगी, क्योंकि इससे अनाज गांवोंमें जमा किया जा सकेगा और किसी भी कारणसे पैदा होनेवाली अनाजकी कमी पूरी की जा सकेगी । ये स्थानीय अन्न-भंडार अधिकारियोंको ग्रामीण क्षेत्रोंमें कोई भी खर्च करनेकी क्षमता प्रदान करेंगे; इससे उन्हें नकद रकमके भण्डारसे रुपया नहीं लेना पड़ेगा और वह रुपया इस प्रकार बाहरी जरूरतें पूरी करनेके लिए उपलब्ध हो सकेगा ।

अपनी अत्यावश्यक जरूरतोंके मामलेमें आत्म-निर्भरता और पैसेकी अर्थ-व्यवस्थासे मुक्ति प्राप्त करनेके बाद, ये ग्राम-समाज और प्रादेशिक घटक गांवकी भीतरी सुरक्षा बनाये रखनेके लिए सत्याग्रहके सिद्धान्त पर आधारित अपनी ही सुरक्षाकी व्यवस्था करनेके काममें लगेंगे । इस हेतुसे कई गांव मिलकर सारे खण्डके लिए इसी सिद्धान्तके आधार पर सामूहिक

सुरक्षाका कार्य संगठित करेंगे । पंचायती न्याय अहिंसक सामाजिक संगठनका समर्थन पाकर कानूनी अदालतोंमें होनेवाली मुकदमेबाजीकी जगह सफलतापूर्वक ले लेगा और उसे खतम कर देगा ।

इस प्रकार ग्रामदानसे – खासकर जहां दानमें प्राप्त गांवोंका सघन संगठित खण्ड बनता है – गांधीजीकी समय समय पर बतायी हुई सारी पद्धतियोंको आजमानेका मौका मिलता है । इससे मेहनतकश जनता गांवोंमें प्रकृतिकी उदारताका और अपने कठोर परिश्रमका फल अपने पास रख सकती है और उसका उपभोग कर सकती है । स्थापित स्वार्थ कितने ही जमे हुए और ताकतवर क्यों न हों, तो भी जनता उनके संगठनका सामना कर सकती है और प्रादेशिक पैमाने पर अहिंसक, शोषणहीन समतावादी समाजके पूरे चित्रको साकार बना सकती है ।

किसी सघन बड़े प्रदेशको, जहां सामुदायिक जीवन इस ढंग पर संगठित हो गया है, अपने लिए यह दावा करनेका नैतिक आधार मिल जायगा कि उसे कुचलनेवाली ऐसी कर-प्रणालीसे मुक्त किया जाय, जिसका उद्देश्य भारी भरकम खर्चवाले प्रशासनको बनाये रखना है – जिसमें विशेषाधिकार प्राप्त परोपजीवी लोगोंकी संख्या बढ़ती जाती है, [ऑस्टिन फ्रीमैन एक राजनीतिक परोपजीवीकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं: वह एक ऐसा आदमी है जिसके लिए कोई 'जगह' पैदा की जाती है और जो अपने वास्तविक खर्चसे कहीं ज्यादा सम्पत्ति नष्ट करता है। संभव है कि उसका वार्षिक वेतन हजार दो हजारसे ज्यादा न हो और यह साधारण रकम उसका वास्तविक खर्च बताती है । परन्तु उसे यह आय करानेके लिए बड़ी भारी और खर्चीली व्यवस्था खड़ी करनी पड़ती है, महंगे मकान जुटाने पड़ते हैं, जिनमें जगह जगह टेलीफोन, सहायकों और कारकुनोंका बड़ा झुंड नियुक्त करना पड़ता है और कई तरहके दूसरे खर्च करने होते हैं । - सोशियल डिके एण्ड रिजनरेशन, लंदन, १९२१, पृ. २१४] जिसमें शस्त्रास्त्रों और भीमकाय योजनाओंकी आत्मघाती स्पर्धा चलती रहती है, जिसे उत्पादकोंकी अपेक्षा उत्पादनकी ज्यादा चिन्ता होती है और जिसका किसी स्वशासनभोगी, आत्म-निर्भर और आत्म-पोषित समुदायके लिए कोई महत्त्व नहीं हो सकता; क्योंकि उस समाजमें वेतन-रहित अर्थ-व्यवस्थाके

कारण मेहनत करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको जीवनकी सब आवश्यक वस्तुएं "ईश्वरकी दी हुई हवा, धूप और पानी की तरह मुफ्त" मिल जाती हैं और पुलिस, सेना या कानूनी अदालतोंके लिए कोई काम नहीं होता ।

परन्तु यह प्रश्न पूछा जा सकता है: क्या कोई सरकार इसे सहन करेगी ? क्या किसी भी स्थापित सरकारसे यह आशा रखी जा सकती है कि वह अपना ही अंत लानेवाले इस काममें सहयोग देगी ? उत्तर यह है : जरूर सहयोग देगी, यदि शासकोंने लोगोंकी ओरसे और लोगोंके लिए ही सत्ता धारण करने और उसका उपयोग करनेकी प्रतिज्ञा ली है ? थोरोने कहा है : "उस समय तक वास्तवमें स्वतंत्र और जाग्रत राज्यकी स्थापना कभी नहीं होगी जब तक कि राज्य व्यक्तिकी अधिक ऊंची और स्वाधीन सत्ताको, जिसमें से उसकी अपनी सम्पूर्ण सत्ता और अधिकार उसे प्राप्त होता है, नहीं मान लेगा और उसके साथ वैसा ही बरताव नहीं करेगा । मैं अन्तमें ऐसे राज्यकी कल्पनासे अपने मनमें प्रसन्न हो लेता हूं, जो सब मनुष्योंके प्रति न्याय-परायण रह सकता है और व्यक्तिके साथ पड़ोसीकी तरह इज्जतसे पेश आ सकता है; और जो पड़ोसियों तथा मानव-बन्धुओंके प्रति अपने सारे कर्तव्योंका पालन करनेवाले कुछ लोग यदि उससे अलग रहें, उसके अंग न बनें और उसके कामकाजमें हस्तक्षेप न करें, तो इस बातको अपनी सुख-शान्तिके विरुद्ध नहीं मानेगा । जिस राज्यके ऐसे फल होंगे और जो उन्हें पकते ही गिर जाने देगा, वह अपनेसे भी अधिक पूर्ण और गौरवशाली एक ऐसे राज्यके लिए मार्ग तैयार करेगा, जिसकी मैंने कल्पना तो की है, परन्तु जिसे अभी तक कहीं देखा नहीं है ।" [बी. एटकिन्सन द्वारा संपादित, 'वॉल्डन एण्ड अदर राइटिंग्स ऑफ हेनरी डेविड थोरो', न्यूयॉर्क, १९३७, पृ. ६५९]

भारतके गांवोंमें आत्म-निर्भर, स्वशासित, अहिंसक ग्रामीण समाजके इस आदर्शको साकार करनेके लिए गांधीजीने एक विशेष प्रकारके कार्यकर्ताकी कल्पना की थी । वह लगभग सत्याग्रही कार्यकर्ताकी कोटिका होगा, जिसका वर्णन गांधीजीने जरा भिन्न सन्दर्भमें किया है : "वह गरीबसे गरीब ग्रामवासियोंके साथ सेवाके बन्धनमें बंध जायगा । वह अपनेको भंगी, नर्स,

झगड़ोंका निबटारा करनेवाला पंच और गांवके बच्चोंका शिक्षक बना लेगा । छोटे-बड़े, बालक-बूढ़े सभी उसे जानते होंगे; गृहस्थी होकर भी वह संयमी जीवन व्यतीत करता होगा; वह अपने बच्चों और पड़ोसीके बच्चोंमें कोई भेद नहीं करेगा; वह किसी चीजका स्वामी नहीं होगा, परन्तु उसके पास जो भी धन होगा उसे वह दूसरोंके लिए धरोहर समझेगा; और इसलिए उसमें से अपनी अत्यन्त आवश्यक जरूरतें पूरी करने जितना ही खर्च करेगा । उसकी आवश्यकताएं यथासंभव गरीबोंके समान होंगी; वह किसी तरहकी छुआछूत नहीं रखेगा और इसलिए सब जातियों और धर्मोंके लोगोंको उसके पास विश्वासपूर्वक जानेकी प्रेरणा मिलेगी ।" [हरिजन, ४ अगस्त १९४०, पृ. २३५]

साथ ही इस प्रकारका कार्यकर्ता "जब कभी अपनेमें कमी पायेगा तब इस आदर्श तक पहुंचनेका सदा प्रयत्न करेगा; अपनी शिक्षाकी कमी पूरी करेगा और जीवनका एक क्षण भी बरबाद नहीं करेगा । उसका घर मधुमक्खीके छत्तेकी तरह कताईके चारों ओर चलनेवाली प्रवृत्तियोंका व्यस्त केन्द्र होगा । उसका गृहस्थ-जीवन सुव्यवस्थित होगा ।" [वही]

गांधीजीने कहा है कि भले ही शुरूमें वह अकेला ही हो, परन्तु यदि ऐसे कार्यकर्तामें आवश्यक मात्रामें श्रद्धा, बुद्धि, परिश्रम और अध्यवसाय होगा, तो वह "बहुत दिन अकेला नहीं रहेगा । गांव अनजाने ही उसका अनुसरण करेगा । गांववाले उसका अनुसरण करें या न करें, संकटके समय वह अकेले दम उसका सफल सामना करेगा या उस प्रयत्नमें मर जायगा । परन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह कई दूसरे लोगोंको अपने विचारका बना लेगा ।" [वही]

गांधीजी सेवाग्राममें ऐसे एकाकी सत्याग्रही बननेकी महत्त्वाकांक्षा रखते थे । जब उनसे पूछा गया, क्या आप उस गांवके किसी निवासीको अपनी कल्पनाका सत्याग्रही बनानेमें सफल हुए हैं ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे नहीं जानते, परन्तु उन्हें आशा है कि उनमें से कुछ लोग "अज्ञात रूपमें ऐसे सत्याग्रही बन रहे हैं ।" सेवाग्रामको अपने सपनोंका आदर्श गांव बनानेके बारेमें उन्होंने कहा : "मैं जानता हूं कि यह काम उतना ही कठिन है जितना भारतको एक आदर्श

देश बनाना है । . . . परन्तु यदि कोई व्यक्ति एक ही गांवको आदर्श गांव बना सके, तो वह न केवल सारे देशके लिए बल्कि सारी दुनियाके लिए एक नमूना पेश कर देगा । सत्यका साधक इससे बड़ी कोई आकांक्षा नहीं रखेगा । [वही]

ऐसे प्रयत्नमें से कोई ऐसी वस्तु सामने आयेगी, जिसके समान संसारने दूसरी वस्तु आज तक देखी न होगी, जो जीवसृष्टिमें "एक नई पूर्णता या एकरसता उत्पन्न करेगी – उस जीवसृष्टिमें जो इस समय आपसी फूटसे छिन्न-भिन्न और टुकड़े टुकड़े हो गई है ।" [नॉर्थबोर्न, 'लुक टु दि लैण्ड', लंदन, १९४०, पृ. १८९] उसका प्रभाव दूर दूर तक फैलेगा और सम्भव है कि वह राष्ट्रीय सीमाओंके पार अन्य देशों तक चला जाय ।

पांचवा अध्याय: लोकतंत्रको प्रगतिके मार्ग पर लगानेका प्रयत्न

१

जिन्होंने फ्रांसीसी क्रान्तिका कार्काइल रचित इतिहास पढ़ा है, उन्हें वह उल्लेखनीय प्रसंग याद होगा जहां ग्रंथकारने वर्णन किया है कि "छह छह बरस तक दंगा-फसाद और उथल-पुथलका सामना करनेके बाद, बड़े बड़े कष्ट भोगने और साहसके बड़े बड़े कार्य करनेके बाद. . . राजाशाहीके अत्याचारोंके प्रतीकके समान बास्ताई जैसे किलोंको नष्ट करनेके बाद, ब्रन्स्वीकके राजवंशको पराजित करने तथा राजा-महाराजाओंका सामना करनेके बाद" पेरिसके गरीब वर्गके लोगोंको "दो बूंद सिरकेवाली और थोड़ासा प्याजका कचूमर जिन पर फैलाया गया है ऐसी केवल तीन पकाई हुई मछलियां तथा दो कौर जितनी उबाली हुई भाजी खानेको मिलती थी । इसके बाद खाली पेटके गढ़ेको पाससे होकर बहनेवाली सीन नदीके पानीसे पूरना होता था।" ["पॉण्ट ओ चेंज, प्लेस द ग्रीव आदि स्थानों पर मर्सियरने इन गरमीकी रातोंमें मजदूरोंको खाना खाते देखा । एक आदमीकी डबल रोटीकी दैनिक मात्रा डेढ़ औंस ही रह गयी है । . . . यह मात्रा उनकी तेज भूख और बड़े पेटके लिए बहुत कम थी ।" – कार्लाइल, दि फ्रेंच रिवोल्यूशन, भाग - २, पृ. ४२५] डबल रोटीका उनका रेशन घटते घटते रोजका डेढ़ औंस तक पहुंच गया था। फिर भी "भटियारेके यहां उदास चेहरोंवाले गरीब लोगोंकी लम्बी लम्बी कतारें लगी रहती थीं । किसानोंके घर गिरवी रख कर ऋण देनेवालोंकी दुकानें बनते जा रहे थे ।" [वही, पृ. ४१४] क्रांतिके आतंक-राज्यके दिनोंमें भी लोगोंने इससे अधिक कष्ट नहीं सहे थे । फिर भी ठीक उसी समय अमीरोंके अतिशय चमक-दमकवाले आतिथ्य-गृहोंमें तरह तरहकी रंगरेलियां हो रही थीं और पेरिसका धनी वर्ग यह सोच रहा था कि "कौनसी सबसे ज्यादा भव्य पद्धतिसे वह अपनी वेशसज्जा करे ! [वही, पृ. ४०४]

१९४७-४८ के जाड़ोंमें भारतीय संघकी राजधानी दिल्लीमें जिन लोगोंने स्त्री-पुरुषों और बच्चों तकको राशनकी दुकानोंके सामने लम्बी कतारोंमें जगह पानेके लिए झगड़ते देखा है, उन्हें

वह दृश्य कार्लाइल द्वारा वर्णित फ्रांसीसी क्रान्तिके बादके पेरिसकी भटियारेकी दुकानों पर खड़ी कतारोंकी याद जरूर दिलाता होगा ।

परन्तु फ्रांसमें नवयुगका उदय हिंसाके द्वारा हुआ था और क्रान्तिका सम्बन्ध अनुचित उपायोंके साथ होनेके कारण वह क्रान्ति व्यर्थ हो गई थी । "इस प्रकार मनुष्य जिस कुल्हाड़ीसे घृणित काम कर लेते हैं उसे तोड़ डालते हैं, क्योंकि कुल्हाड़ी स्वयं घृणित वस्तु बन जाती है ।" [वही, पृ. ४१६] भारतमें स्वाधीनता अधिकांशमें लोगोंके रक्तहीन संग्रामके द्वारा आई थी । ऐसी स्वाधीनताको उन्हें अपनी वे समस्याएं हल करने योग्य बनाना चाहिये था, जो विदेशी शासनमें हल नहीं हो पाई थीं ।

परन्तु हुआ इसके विपरीत । स्वाधीनताके बाद ये समस्याएं और भी तीव्र हो गईं । भ्रष्टाचारका इतना बोलबाला पहले कभी नहीं रहा । देशका शासन वास्तवमें पहलेके ढंग पर ही चलता रहा और लोगोंकी सरकारने नया मार्ग अपनानेके बजाय उसी पुरानी बदनाम परम्पराको जारी रखा, जिसकी न सिर्फ कांग्रेसियोंने परन्तु सारे राष्ट्रवादियोंने निन्दा की थी । इतना ही नहीं, परम्परागत शासन-प्रणालीकी कुछ निन्दनीय बातोंको इस सरकारने और बढ़ा दिया ।

शासन-तन्त्रमें वही निर्जीवता, लाल फीताशाही और बरबादी चालू रही । जब युद्धोत्तर कालके इंग्लैंड और फ्रांसमें कठोर मितव्ययिताके बजट स्वीकार किये जा रहे थे और तमाम अनावश्यक खर्च काटे जा रहे थे, तब भारतकी संघ-सरकार अपनी नवप्राप्त स्वाधीनताके उत्साहमें इससे उलटी नीति अपना रही थी ।

गांधीजीने पंडित नेहरूको अपने एक पत्रमें लिखा था : "हम अंग्रेजोंकी फिजूलखर्चीको अपना रहे हैं, जिसे हमारा देश बरदाश्त नहीं कर सकता ।" [गांधीजीका पत्र पंडित नेहरूको, १७ जुलाई १९४७] कुछ दिन बाद उन्होंने फिर लिखा : "मुझे लगता है कि वाइसरॉयको किसी सादे मकानमें जाने देना चाहिये और वर्तमान राजप्रासादका उपयोग अधिक उपयोगी कामोंके लिए करना चाहिये ।" [गांधीजीका पत्र पंडित नेहरूको, २८ जुलाई १९४७] पंडित नेहरू इससे सहमत

थे । माउण्टबेटन इसके लिए तैयार थे – उनमें इसका उत्साह भी था । गांधीजीने माउण्टबेटनको लिखा : "क्या मैं बता सकता हूं कि राष्ट्रके अधभूखे करोड़ों ग्रामीणोंके चुने हुए गवर्नर-जनरलके नाते आपने किसी सादे मकानमें जानेकी जो इच्छा प्रकट की है, उसका मेरे मनमें कितना आदर है ? आशा है कि आपकी यह इच्छा पूरी की जा सकेगी ।" [गांधीजीका पत्र लॉर्ड माउंटबेटनको, २८ जुलाई १९४७] परन्तु पंडित नेहरूने उसी दिन लिखे गये अपने पत्रमें गांधीजीको समझाया कि "हम काममें इतने व्यस्त हैं कि उपयुक्त स्थान ढूंढ़ना और राजप्रासादको छोड़कर दूसरे स्थानमें जानेकी व्यवस्था करना कठिन है ।" [पं. नेहरूका पत्र गांधीजीको, २८ जुलाई १९४७] सारा कारण यही नहीं हो सकता था, क्योंकि भारतीय गवर्नर-जनरलके पदारूढ़ होनेके बाद भी न तो उनके निवासमें और न उसके ठाटबाटमें कोई परिवर्तन किया गया । हमें यह भी बताया गया कि विदेशोंके महान राजपुरुष राजभवनमें जो स्तर रखा गया है उसे भी "अपर्याप्त" समझते हैं ।

गांधीजीको इससे निराशा हुई, परन्तु उन्होंने अपनी निराशामें से भी "भलाई" खींच निकाली । उत्तेजनाके उन दिनोंमें, जब दिल्ली कब्रस्तान बन गया था, गवर्नर-जनरलके साथ हुई एक मुलाकातके दौरान गांधीजीको बताया गया कि किस तरह राजभवन दंगा-फसाद और रास्तोंके शोर-गुलसे दूर संकट-समितिकी बैठकों और चर्चाओंके लिए एक शान्त एकान्त स्थान बन गया है । माउण्टबेटनको दी हुई अपनी पहलेवाली सलाहकी याद दिलाते हुए गांधीजीने उनसे कहा : "इसकी परवाह नहीं कि आप छोटे मकानमें क्यों नहीं गये । जब मैं संकट-समितिको इस भवनकी अखण्ड शान्तिमें काम करते देखता हूं तब अपने मनमें कहता हूं : 'शायद ईश्वर हम सबसे अधिक बुद्धिमान है । कारण, यह ठीक ही है कि संकट-समितिकी बैठक ऐसे स्थान पर हो जहां उचित वातावरणमें बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय किये जा सकें' ।" [लॉर्ड माउण्टबेटन प्यारेलालके नाम लिखे एक पत्रमें]

ईश्वरकी बुद्धिमत्ता मनुष्योंकी भूलोंसे भी लाभ उठा लेती है, इसलिए उसके समर्थनमें तो यह सब ठीक हुआ । परन्तु इससे न तो मानवकी कार्य-पद्धतियोंका समर्थन होता है और न जो

चीज मूलतः बुरी है वह अच्छी हो जाती है । गांधीजीकी बेचैनी यह देखकर बढ़ती गई कि जब देशके लाखों लोगोंको अवर्णनीय कष्ट भुगतने पड़ रहे हैं तब शासन पर बिना किसी रोकके अनापशनाप खर्च किया जाता है । उनकी जागरूक दृष्टिसे कोई चीज बचती नहीं थी – विदेशोंमें राजदूतालयोंका खर्च; मंत्रि-मण्डलके मंत्रियोंके निवास-स्थानोंकी सजावट; विदेशोंकी राजधानियोंमें राष्ट्रके प्रति- निधियोंका आचरण, आदि आदि । समय समय पर वे चेतावनियां देते रहते थे । विदेशमें हमारे एक राजदूतको उन्होंने लिखा : "आपके बारेमें मुझे जो बातें मालूम होती हैं उनसे पता चलता है कि आप वैसा जीवन नहीं बिता रहे हैं जैसी भारत आपसे आशा रखता है। क्या यह सच है ?"

१९४७ की गरमियोंमें उन्होंने दिल्लीमें एक मित्रसे कहा था : "मुझे विश्वास है कि यदि हमारे सारे मंत्री स्वेच्छासे सादगीका आदर्श अपना लें, तो वे सारी दुनियाको मंत्रमुग्ध कर देंगे और लोगोंका ऐसा विश्वास प्राप्त कर लेंगे जिसे कोई चीज या आदमी कभी हिला या नष्ट नहीं कर सकेगा । परन्तु इसके बजाय हमारे राज्यपालों और मंत्रियोंको महलों जैसी इमारतें चाहिये, अंग-रक्षकोंकी बड़ी सेना चाहिये और भड़कीली वर्दीवाले खिदमतगार चाहिये । भोजन-समारंभ राज्यपालोंके समारोहोंके अत्यावश्यक अंग माने जाते हैं । यह सब मेरी समझमें नहीं आता । हमारे देशकी प्रतिष्ठाके लिए कौनसी चीज अधिक हानिकारक है – भारतके असंख्य लोगोंके जीवनमें अन्न, वस्त्र और मकानोंका अभाव अथवा हमारे मंत्रियों और राज्यपालोंका अपने आसपासके वातावरणके विपरीत खर्चीले और भारी-भरकम महलोंके बजाय सादे और छोटे-छोटे मकानोंमें सादे ढंगसे रहना ?"

उन्होंने आगे कहा, अगर मेरी चले तो "जिस समय लोगोंको अन्नकी सख्त तंगी मालूम हो रही हो" ऐसे समय राजभवनोंमें भोजन-समारम्भोंकी प्रथाको मैं फौरन् बन्द कर दूं । मैं मंत्रियोंक लिए आरामदेह, छोटे और सादे घरोंकी व्यवस्था कर दूंगा, लेकिन न तो कांग्रेसी राज्यपालोंके लिए और न मन्त्रियोंक लिए – "जो अहिंसाकी नीतिसे बंधे हुए हैं" – कोई शस्त्रधारी अंग-रक्षक

रखूंगा। और अगर इस कारणसे उनमें से कुछ मारे भी जायं तो मैं परवाह नहीं करूंगा।" 'हरिजन' में उन्होंने लिखा :

हिन्दुस्तानी गवर्नर (राज्यपाल) को चाहिये कि वह खुद पूरे संयमका पालन करे और अपने आसपास संयमका वातावरण खड़ा करे। इसके बिना शराबबन्दीके बारेमें सोचा भी नहीं जा सकता।

उसे अपनेमें और अपने आसपास हाथ-कताई और हाथ-बुनाईका वातावरण पैदा करना चाहिये, जो हिन्दुस्तानके करोड़ों मूक लोगोंके साथ उसकी एकताकी प्रकट निद्यानी हो, "मेहनत करके रोटी कमाने" की जरूरतका और संगठित हिंसाके खिलाफ – जिस पर आजका समाज टिका हुआ मालूम होता है – संगठित अहिंसाका जीता-जागता प्रतीक हो।

अगर गवर्नरको भलीभांति काम करना है, तो उसे लोगोंकी निगाहोंसे बचे हुए, और फिर भी सबकी पहुंचके भीतर, छोटेसे मकानमें रहना चाहिये। ब्रिटिश गवर्नर स्वभावसे ही ब्रिटिश ताकतको दिखाता था। उसके लिए और उसके लोगोंके लिए सुरक्षित महल बनाया गया था – ऐसा महल जिसमें वह और उसके साम्राज्यको टिकाये रखनेवाले उसके सेवक रह सकें। हिन्दुस्तानी गवर्नर राजा-नवाबों और दुनियाके राजदूतोंका स्वागत करनेके लिए थोड़ी शान-शौकतवाली इमारतें रख सकते हैं। गवर्नरके मेहमान बननेवाले लोगोंको उसके व्यक्तित्व और आसपासके वातावरणसे "ईवन अन्टु दिस लास्ट" – सबके साथ समान बरताव – की सच्ची शिक्षा मिलनी चाहिये। उसके लिए देशी या विदेशी महंगे फर्नीचरकी जरूरत नहीं। 'सादा जीवन और ऊंचे विचार' उसका आदर्श होना चाहिये। यह आदर्श केवल उसके दरवाजेकी शोभा न बढ़ावे, बल्कि उसके रोजके जीवनमें भी दिखाई दे।

उसके लिए न तो किसी रूपमें छुआछूत हो सकती है और न जाति, धर्म या रंगका भेद। उसे समस्त धर्मोंके उत्तम तत्त्वोंका और पश्चिमी अथवा पूर्वीय सारी उत्तम वस्तुओंका प्रतिनिधि होना चाहिये। हिन्दुस्तानका नागरिक होनेके नाते उसे सारे विश्वका नागरिक होना चाहिये। . . . इसी तरह . . . ईटनके मुख्य अधिकारी अपने भवनमें ब्रिटिश द्वीपोंके लॉर्ड और नवाबोंके पुत्रोंके बीच रहते थे। तब क्या करोड़ों भूखोंके देश हिन्दुस्तानके गवर्नर इतनी सादगीसे नहीं रहेंगे? . . .

हम यह आशा करें कि वे अंग्रेज भी, जिन्हें हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियोंने गवर्नर चुना है और जिन्होंने हिन्दुस्तान और उसके करोड़ों लोगोंकी वफादारीकी शपथ ली है, वही सादा जीवन बितानेकी भरसक कोशिश करेंगे, जिसकी हिन्दुस्तानी गवर्नरसे आशा की जाती है। वे ब्रिटेनके अच्छेसे अच्छे गुणोंका प्रदर्शन करेंगे, जो ब्रिटेन हिन्दुस्तान और सारी दुनियाको दे सकता है। [हरिजन, २४ अगस्त १९४७, पृ. २८९]

कांग्रेसी नेता अपने समयमें योद्धा रहे थे। परन्तु जब वे पदारूढ़ हुए तब उनमें शासन-सम्बन्धी अनुभवकी कमी थी। उनमें तेजस्वी अपवाद भी थे, खासकर चोटीके नेताओंमें, जिन्होंने पहलेकी शासनिक तालीमकी कमीको अपनी प्रतिभा और सूझबूझसे ही पूरा कर लिया। परन्तु सब बातोंको देखते हुए जब उन्होंने सत्ता संभाली तब वे इस कामके लिए नये थे। उनके और अराजकताके बीच एक ही चीज थी और वह थी अंग्रेजोंकी स्थापित की हुई शासन-व्यवस्था। वे अंग्रेजोंकी तालीम पाये हुए कर्मचारियों – सचिवों विभागीय अध्यक्षों आदि – पर बहुत ज्यादा आधार रखकर चलने लगे, और उनके पूरे प्रशंसक बन गये। उनमें से कुछ तो उनके तरीकोंकी नकल भी करने लगे और अपने कलके साथियों – क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं – द्वारा होनेवाली अपने अफसरोंकी किसी भी आलोचनाके प्रति असहिष्णु बन गये। इस तरह दोनोंमें दूरी पैदा हो गई।

ब्रिटिश शासन-प्रणालीको पूर्ववत् जारी रखनेकी यह कीमत भारतको चुकानी पड़ी । इससे संक्रांति-काल शान्तिपूर्वक बीता और देश अस्थायी गड़बड़ीकी असुविधाओंसे, शायद अराजकतासे, बच गया । परन्तु इससे पुरानी शासन-प्रणालीकी पीड़ाका समय बढ़ गया । दूसरा रास्ता यह था कि भूतकालसे बिलकुल नाता तोड़कर शासनकी नीचेसे नई रचना खड़ी की जाती। इसके लिए स्वाधीनताके पहले और पीछे होनेवाले दंगें-फसाद और उथल-पुथलसे दम मारनेकी भी फुरसत नहीं मिली । इसलिए भगीरथ प्रयत्न द्वारा वे इतना ही कर पाये कि अराजकताके तेजीसे बढ़ते हुए ज्वारके सामने अपना सिर उन्होंने ऊंचा रखा, जिसमें उनके और राज्यके जहाजके फंस जानेका खतरा खड़ा हो गया था ।

तेजस्विता, देशभक्ति और सेवा-भावनामें व्यक्तिश: अधिकारीगण किसीसे कम नहीं थे । यह उनका दोष नहीं था कि वे अपने वर्गके अनोखे दृष्टिकोण और स्वभावके प्रतिनिधि थे । उनके और जनताके बीच एक भयंकर खाई मौजूद थी । भारतके करोड़ों ग्रामवासियोंके दृष्टिकोण और जीवन-पद्धतिसे उनका कोई सम्पर्क नहीं था और शायद उसके प्रति सहानुभूति भी नहीं थी । वे नौकरशाहीके पुर्जे थे और उसी रूपमें काम कर सकते थे । केवल शासनके दैनिक कामकाजमें प्रवीण होनेसे वे बुनियादसे लोकतंत्रका निर्माण करनेके अधिकारी नहीं बन सकते थे ।

ब्रिटिश शासनके दीर्धकालीन दमन और नैराश्यपूर्ण इतिहासके बाद भारत सरकारने आरम्भमें ही सरकारी आयोजनकी कमजोरी बढ़ा ली थी । यह कोई उसीकी विशेषता नहीं थी । बड़ी बड़ी योजनाओं और उनकी रूप-रेखाओंकी बाढ़ आ गई – "बटन दबाने" की पद्धतियोंसे सम्पन्नता और सत्ता प्राप्त करनेकी अधीरता बढ़ गई । भद्र लोग और बुद्धि-प्रधान शहरी वर्ग इसके पूरे समर्थक बन गये, क्योंकि इसी वर्गमें से अधिकांश नेता और शासनके अधिकारी निकले थे । इस प्रकारकी आयोजनामें शहरोंमें पल-पुसकर बड़े होनेवाले बुद्धिवादियोंके लिए अदम्य आकर्षण होता है । इससे वे लोग विशेष अधिकारोंको देशप्रेमका नाम दे सकते हैं और शहरी मूल्योंको सन्तुष्ट करनेकी रीतिको तथा जिस छिछली और कृत्रिम रहन-सहनमें वे लोग पले हैं और जो उन पर सवार हो गई है उस रहन-सहनको प्रगतिका नाम दे सकते हैं । गांवोंकी

जनताको स्वेच्छापूर्वक श्रमदान करके संस्कृति और सभ्यताके शहरी स्तर तक उठनेके इसमें खूब मौके मिलेंगे । सार यह कि इसका परिणाम होगा शहरोंका राजनीतिक और सामाजिक प्रभुत्व तथा भद्र लोगोंके लिए सत्ता और बड़े लोभका विषय बने हुए अनुचित लाभ – क्योंकि उन्हींका शासक वर्ग बना है । इसी तरह तो पिछली शताब्दीके अंतिम चरणमें कुछ अंग्रेज नौकरशाह अपनेको "समाजवादी" कहा करते थे और बताते थे कि अंग्रेजोंकी उत्पन्न की हुई भारतकी विशाल सिंचाई और रेल-प्रणाली "व्यावहारिक राजकीय समाजवाद" की विजय है ! उनमें से एकने तो बादमें हेनरी जॉर्ज सोसायटीकी तरफसे प्रकाशित एक पुस्तकमें बदनाम भूमि-करको, जो कड़ी मेहतत पर लगया गया था, "इकहरे कर" के हेनरी जॉजके सिद्धान्तका समर्थन करनेवाला बताया था !

भूतकालमें कांग्रेसने ब्रिटिश हुकूमतकी 'मां-बाप शाही' की निन्दा की थी । उस शासनने लोगोंकी प्रारम्भ-शक्ति नष्ट कर दी थी, उनकी जड़ताको गहरा बना दिया था और अपनी स्थितिमें कुछ भी सुधार करनेके लिए बाहरी सत्ता पर लाचारीसे निर्भर रहनेकी उनकी आदतको बढ़ा दिया था । लेकिन जब कांग्रेसी नेता खुद सरकार बन गये, तब उन्होंने "कल्याण-राज्य" के आकर्षक नामकी आड़में वही रूप धारण कर लिया, जिसकी वे पहले निन्दा कर चुके थे । उनका यह पक्का विश्वास था कि विदेशी शासनमें कुछ भी हुआ हो, परन्तु उनके हाथमें सत्ता आ जाने पर हर बात ठीक हो जायगी । इसके विरुद्ध कुछ भी कहा जाता तो उसे अपने देशभक्ति और सेवाके पिछले इतिहास पर छींटाकशी समझ कर वे नाराज होते थे । गांधीजी इससे बेचेन हो गये । सर्वत्र यह अनुभव हुआ है कि जहां राज्य पर प्रजाका अवलम्बन अधिकाधिक बढ़ता जाता है वहां अनिवार्य परिणाम यह होता है कि लोग "भेड़-बकरीके झुंड बन जाते हैं, वे सदा गडरियेकी तरफ देखते रहते हैं कि वह उन्हें अच्छे चरागाहोंमें ले जायगा; और गडरियेकी लकड़ी जल्दी ही लोहेका डंडा बन जाती है और गडरिये भेड़िये बन जाते हैं ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेंट्स', लंदन, १९४७, पृ. ५३]

मान लें कि कांग्रेसके नेता स्वातंत्र्य-संग्रामकी परम्परामें बड़े हुए थे, इसलिए वे शायद अपने कार्यकालमें या जीवन-कालमें नौकरशाहीकी और केन्द्रीय आयोजनके मूलमें रहे तानाशाही प्रवाहकी कुछ बड़ीसे बड़ी बुराइयोंको रोक सकेंगे । लेकिन इसकी क्या गारंटी है कि उनके उत्तराधिकारी, जो दूसरी ही परम्परामें बड़े हुए होंगे, उस प्रणालीके शिकार नहीं बन जायेंगे जिसके वे अंग थे ? क्या प्रणाली मनुष्यसे सदा ही अधिक शक्तिशाली नहीं सिद्ध होती ? गांधीजी किसी शुभचिन्तक विदेशी नौकरशाहीके मातहत राज्यकी प्रवृत्तियोंका क्षेत्र बढ़ानेका जितना कट्टर विरोध करते थे, उतना ही कट्टर विरोध वे राष्ट्रीय कल्याण-राज्यके मातहत राज्यकी प्रवृत्तियोंका क्षेत्र बढ़ानेका करते थे । उन्होंने लिखा है : "स्वराज्यका मतलब है सरकारी नियंत्रणसे स्वतंत्र रहनेका निरन्तर प्रयत्न – फिर सरकार विदेशी हो या राष्ट्रीय । अगर लोग जीवनकी हर छोटी छोटी बातके नियमनके लिए स्वराज्य-सरकारकी तरफ देखते रहें, तो यह दुःखकी बात होगी ।" [यंग इंडिया, ६ अगस्त १९२५, पृ. २७६] उन्होंने यह भी लिखा था: "जहां शासन विदेशी हाथोंमें होता है वहां लोगोंके पास जो भी चीज आती है वह ऊपरसे आती है और इसलिए वे अधिकाधिक परावलम्बी बनते जाते हैं । जहां उसका व्यापक आधार लोगोंकी इच्छा पर होता है वहां हर चीज नीचेसे ऊपरको जाती है और इसलिए वह टिकती है । वह दीखनेमें सुन्दर और लोगोंका बल बढ़ानेवाली होती है ।" [हरिजन, २ नवम्बर १९४७, पृ. ३९२]

भद्र लोगोंके लिए सम्भव नहीं कि वे ग्रामीण मानसवाले बनकर गांवोंके गरीबसे गरीब निवासियोंकी दृष्टिसे सोचें और योजना बनायें, जब तक कि वे खुद ग्रामजनोंके बीच जाकर न रहें और अपनी जीवन-प्रणाली उनके अनुरूप न बता लें । फ्रांसकी बुर्बों वंशकी राजकुमारी भी इसी कारणसे यह नहीं समझ सकी थी कि रोटीके लिए चिल्लानेवाली पेरिसकी भीड़ने रोटीके बदलेमें मिठाई क्यों नहीं खा ली । जाने-अनजाने अपने वर्गकी दृष्टिसे सोचनेकी आदत हमारे साथ लगी ही रहती है । हमारे आसपासके वातावरणका असर हम पर होता ही है और उससे हमारी मनोवृत्ति निर्माण होती है । गांधीजीने मुद्दतसे अपनेको वर्गमुक्त कर लिया था और बुद्धिवादी शहरी वर्गके "प्रगति" के नामसे प्रतिष्ठा-प्राप्त विशेष अधिकारों और सुविधाओंका परित्याग कर

दिया था । उन्होंने परिश्रमपूर्वक अपने दृष्टिकोण और जीवन-प्रणालीमें ग्रामीण बननेकी कोशिश की थी । यह उनकी विशेषता थी कि जब लॉर्ड लोदियनने, जो बादमें अमरीकामें ब्रिटिश राजदूत बने, १९३७ में गांधीजीसे सुलाकात मांगी तब गांधीजीने उन्हें सेवाग्राम आश्रममें आनेका निमंत्रण दिया, यद्यपि दोनों ही उस समय बम्बईमें थे । बादमें जब उनसे पूछा गया कि मिलनेवाले महाशयको सेवाग्राम तककी लम्बी यात्राका कष्ट क्यों दिया गया, तो उन्होंने उत्तर दिया : "मैं उनसे जिस भाषामें बात करना चाहता था वह बम्बईके बिड़ला-भवनमें रहते हुए मेरी जबान पर नहीं आ सकती थी । इससे भी बड़ी बात यह है कि सेवाग्रामके वातावरणसे दूर रहकर वे मेरी भाषाको समझ भी नहीं पाते ।" कुदरती तौर पर उनके योजना-सम्बन्धी विचार भद्र लोगोंसे भिन्न थे ।

योजनाके दो दृष्टिकोण हैं । एक योजना सत्ता और प्रतिष्ठाके लिए होती है और दूसरी शान्ति और विपुलताके लिए होती है । केन्द्रित योजना, जिसे कभी कभी राष्ट्रीय योजना भी कहते हैं, पहली श्रेणीमें आती है । गांधीजीका भी योजना-सम्बन्धी एक तत्त्वज्ञान था । परन्तु वह योजना नीचेसे लोगों द्वारा अपने जीवनके लिए बताई जानेवाली योजना थी और उसकी पद्धति वही होती थी जिसे लोग उत्तम सानते थे । वह ऐसी योजना नहीं होती थी, जिसे दूसरे लोग उनके लिए उत्तम मानते हों और जिस पर उन्हें अमल करना पड़ता हो । उसमें मुख्य स्थान शहरोंका नहीं परन्तु गांवोंका होता था ।

देशप्रेमकी तरह राष्ट्रवाद शब्दका भी बहुत दुरुपयोग होता है । भूतकालमें इसका उपयोग अकसर सामान्य लोगोंको हानि पहुंचाकर वर्गहित साधनेके लिए किया गया है । गांधीजी देशी और विदेशी हितोंका कोई भेद नहीं मानते थे । उनकी दृष्टिमें यह झूठा भेद था । उनका कहना था कि स्वतंत्र भारतमें "जो हित करोड़ों मूक लोगोंके हितोंके साथ नहीं टकरायेंगे, उन सबका पूरी तरह आदर किया जायगा ।" [यंग इंडिया, १० सितम्बर १९३१, पृ. २५५] दूसरी ओर जिन हितोंका इन करोड़ोंके साथ संघर्ष होगा, उन्हें केवल इसीलिए पवित्र नहीं मान लिया जायगा कि उन पर

"भारतीय" अथवा "राष्ट्रीय" होनेकी छाप लगी होगी । जैसा उन्होंने गोलमेज परिषद् में कहा था, "वह तो . . . अमीर और गरीबके बीचकी लड़ाई होगी ।"

आल्डस हक्सलेने "सायन्स, लिबर्टी एण्ड पीस" नामक अपनी पुस्तकमें आधुनिक राजनीतिक जीवन पर प्रभाव डालनेवाले प्रगतिके सिद्धान्तसे सम्बन्धित श्रद्धाके फलस्वरूप "आधुनिक, अर्ध-वैज्ञानिक तथा ऐहिक स्वरूपमें" पुनर्जीवित हुई प्राचीन कालके यहूदियों तथा ईसाई लोगोंकी सत्ययुग-विषयक कल्पनाका उल्लेख करके कहा है : "एक गौरवशाली नियति मानव-जातिकी प्रतीक्षा कर रही है, एक भावी स्वर्णयुगका उदय होनेवाला है, जिसमें अधिक चतुर युक्तियोंसे अधिक अच्छे और अधिक तेजस्वी मानव-प्राणियोंकी जाति उत्पन्न होगी ।" वे यह भी कहते हैं कि यह बड़ी अर्थपूर्ण बात है कि "सभी आधुनिक तानाशाह, चाहे वे दक्षिणपंथी हों या वामपंथी, स्वर्णमय भविष्यकी ही बात निरन्तर करते हैं" और हर तरहके साधनोंको इसी आधार पर उचित बताते हैं कि वे "उस भव्य लक्ष्यके साधन हैं । परन्तु भविष्यके विषयमें हम सब एक बात अवश्य जानते हैं कि आगे क्या होनेवाला है इससे हम सर्वथा अज्ञान हैं और जो कुछ वास्तवमें होता है वह हमारी आशासे भिन्न ही होता है । इसके फलस्वरूप सुदूर भविष्यमें होनेवाली आनुमानिक घटनाओं पर आधार रखनेवाली श्रद्धा स्वभावत: सदा अत्यंत अवास्तविक ही होनी चाहिये ।" [ऑल्डस हक्सले, 'सायंस, लिबर्टी एण्ड पीस', न्यूयॉर्क, १९४६, पृ. ३२-३३] आज अनेक दशकोंकी दुनियाकी सबसे लम्बी-चौड़ी योजनाओंके बाद भी हम देखते हैं कि रूसके निकिता ऋुश्चेव वहांकी सर्वोपरि पंचायत (सुप्रीम सोवियेट) में यह घोषणा करते हैं कि अभी और पांच-सात वर्षके बाद ही रूसी उद्योग देशकी "जूतों और कपड़ेकी जरूरतोंको पूरा कर सकेंगे" और रूसकी मकानोंकी सख्त तंगीकों मिटानेंमें दस-बारह वर्ष और लगेंगे । [सुप्रीम सोवियटमें ऋुश्चेव का भाषण, नवम्बर १९५७]

आल्डस हक्सलेने कहते हैं : "व्यवहारमें अधिक बड़े और अधिक सुन्दर भविष्यमें विश्वास रखना वर्तमान स्वतन्त्रताका एक अत्यन्त प्रबल शत्रु है ।" [ऑल्डस हक्सले, 'सायंस, लिबर्टी एण्ड पीस', न्यूयॉर्क, १९४६, पृ. ३३] गांधीजीको मुख्यतः भविष्यसे सम्बन्ध रखनेवाली योजनाओं

पर सहज अविश्वास था । वे "कलके मिठाई" के वचनोंको हमेशा "आजकी दाल-रोटी" की तराजूमें तोला करते थे । यह खतरा सदा ही रहता है कि ऊपरसे बनाई हुई योंजनाएं कहीं वर्गोंके विशेषाधिकारोंको बनाये रखनेका बहाना न बन जायं । इस जादूके घेरेमें नये साझेदार शामिल करके विशेषाधिकारोंका घेरा चौड़ा करनेसे विशेषाधिकारोंका उन्मूलन नहीं होता । घनवानोंको न केवल गरीबोंको अपनी सम्पत्तिका हिस्सेदार बनानेके लिए ही तैयार रहना चाहिये, बल्कि जब तक गरीबोंके कष्ट दूर न हों तब तक कष्ट भोगने और जो चीज सबको प्राप्त न हो उसे त्याग देनेके लिए भी तैयार रहना चाहिये । तब आसानीसे यह मानकर आत्म-सन्तोष नहीं कर लिया जायगा कि समाज-रूपी पिरामिडके पायेमें यदि बहुत लोग प्राथमिक सुविधाओंसे वंचित हैं, तो ईश्वर समय पाकर अपने-आप सब ठीक कर देगा, परन्तु इसके कारण "प्रगति" की कूच रोकी नहीं जा सकती । गांधीजीका आग्रह था कि आयोजन लोगोंकी अनुभूत आवश्यकताओंके आधार पर बढ़ना चाहिये और गरीबसे गरीबकी उपेक्षित प्राथमिक आवश्यकताओंसे आरम्भ होना चाहिये । जब तक ये आवश्यकताएं पूरी न हों तब तक अन्य सब चीजें रुकी रहनी चाहिये । जब लोगोंको अधिक अनुभव प्राप्त होगा और उनके साधन बढ़ जायंगे तब उन्हें अधिकार होगा कि चाहें तो दूसरी बड़ी-बड़ी बातें भी वे इसमें शामिल कर लें । ऐसा आयोजन अपने-आप लोगोंके साधनोंके अनुकूल बन जाता है और विकास करते करते अपना खर्च आप बरदाश्त करते हुए प्रजाको सम्पन्नता तक पहुंचा देता है । लोगोंको हर कदम पर मालूम रहता है कि वे क्या क्या करना चाहते हैं या उन्हें क्या क्या बरदाश्त करना होगा । ऐसी योजनामें सारी आशाओंको विफल करनेवाले न तो कोई बड़े संकट होते हैं, और न कल्पनातीत खतरे होते हैं । आर्थिक पुनर्रचनाकी प्रक्रियामें लोगोंका चरित्र-निर्माण करनेमें वह सहायक होती है और चरित्र-निर्माण पर सच्ची राष्ट्रीय सम्पन्नताकी बुनियादें टिक सकती हैं । आत्मोद्धारके प्रयत्नमें शरीक होनेका सीधा परिणाम स्वास्थ्य, शक्ति और बुद्धिके रूपमें आता है । "प्रगति" की कल्पना पर सबसे दुर्बल लोगोंका बलिदान होनेके बजाय ऐसी योजनामें उन्हें उसकी चमक अनुभव होती है । प्रगतिका यह अर्थ नहीं कि गरीबसे गरीब लोगोंको तत्काल तो अनन्त कष्ट और बलिदान सहने पड़ें और बादमें

पार्थिव स्वर्गके सुखोंके उन वचनों पर आधार रखना पड़े जो कभी पूरे हों या न भी हों – जब कि शासक-वर्ग और उसकी हमेशा बढ़ती हुई पिट्ठुओंकी जमात सुरक्षित होकर प्रगतिके फलोंका उपभोग करती रहे ।

गांधीजीने अपनी योजनाका चित्रण यों किया है :

आदर्श भारतीय गांव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिये, जिससे वह सम्पूर्णतया नीरोग रह सके । उसके झोंपड़ों और मकान में काफी प्रकाश और वायु आ जा सके । ये ऐसी चीजोंके बने हों जो पांच मीलकी सीमाके अन्दर उपलब्ध हो सकती हों। हर मकानके आसपास या आगे-पीछे इतना बड़ा आंगन हो, जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग-भाजी लगा सकें और अपने पशुओंको रख सकें । गांवकी गलियोंमें और रास्तों पर जहां तक हो सके धुल न हो । अपनी जरूरतके अनुसार गांवमें कुएं हों, जिनसे गांवके सब आदमी पानी भर सकें । सबके लिए प्रार्थना-घर या मंदिर हों, सार्वजनिक सभा वगैराके लिए एक अलग स्थान हो, गांवकी अपनी गोचर-भूमि हो, सहकारी ढंगकी एक गोशाला हो, ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालाएं हों जिनमें औद्योगिक शिक्षा सर्वप्रधान वस्तु हो और गांवके अपने मामलोंका निबटारा करनेके लिए एक ग्राम-पंचायत भी हो । अपनी जरूरतोंके लिए अनाज, साग-भाजी, फल, खादी वगैरा खुद गांवमें ही पैदा हो । एक आदर्श गांवकी मेरी अपनी यह कल्पना है । . . . अगर गांवके लोगोंमें सहयोग और प्रेमभाव हो, तो . . . **बगेर सरकारी सहायताके खुद ग्रामीण ही अपनी शक्तिके भीतर खर्च करके लगभग ये सारी बातें कर सकते हैं** । अगर सरकारी सहायता भी मिल जाय तब तो ग्रामोंकी इस तरह पुनर्रचना हो सकती है जिसकी कोई सीमा ही नहीं । पर अभी तो मैं यही सोच रहा हूं कि खुद ग्रामवासी अपने बल पर परस्पर सहयोगके साथ और सारे गांवके भलेके लिए हिल-मिलकर मेहनत करें, तो वे क्या क्या कर सकते हैं ? **मुझे तो यह निश्चय हो गया है कि अगर उन्हें उचित सलाह और मार्गदर्शन मिलता रहे, तो गांवकी – मैं व्यक्तियोंकी बात नहीं करता – आय बराबर दूनी हो सकती है । व्यापारिक दृष्टिसे काममें**

आने लायक अखूट साधन-सामग्री हर गांवमें भले ही न हो, पर स्थानीय उपयोग और लाभके लिए तो लगभग हर गांवमें है। परन्तु सबसे बड़ी बदकिस्मती तो यह है कि अपनी दशा सुधारनेके लिए गांवके लोग खुद कुछ नहीं करना चाहते । [हरिजन, ९ जनवरी १९३७, पृ. ३८३] (मोटे टाइप मैंने किये हैं।)

इसके लिए राष्ट्रसेवकोंको योजनाका भिन्न मार्ग और भिन्न दृष्टिकोण अपनाना होगा और भिन्न प्रकारकी तैयारी करनी होगी। "हमें तो उन ग्रामवासियोंके साथ एकाकार हो जाना चाहिये, जो अपनी झुकी हुई पीठ पर जलती धूपको सह कर घोर परिश्रम करते हैं, और देखना चाहिये कि जिस तालाबमें गांववाले नहाते हैं, अपने कपड़े धोते हैं और जिसमें उनके ढोर लोटते और पानी पीते हैं, उसका पानी पीना हम कैसे पसन्द करेंगे। तभी हम आम जनताके सच्चे प्रतिनिधि बनेंगे और वह हमारी हर पुकारका जवाब देगी।" [आर. के. प्रभु द्वारा संपादित 'इंडिया ऑफ माई ड्रीम्स', बम्बई, १९४७, पृ. २५]

गांधीजीने शहरोंके भद्र लोगोंसे कहा है : "अब तक ग्रामीण हजारोंकी संख्यामें इसलिए मर गये कि हम जीवित रहें। अब हमें मरना होगा, ताकि वे लोग जीवित रह सकें। . . . वे लोग अनजाने और अनिच्छासे मरे हैं। उनके मजबूरीसे किये गये त्यागने हमारा पतन किया है। अब यदि हम जान-बूझ कर और स्वेच्छासे मरें, तो हमारी कुर्बानीसे हम स्वयं और हमारा संपूर्ण राष्ट्र ऊंचा उठेगा।" [यंग इंडिया, १७ अप्रैल १९२४, पृ. १३०] "ऐसे सब मामलोंमें स्वर्ण-नियम यह होना चाहिये कि जो चीज लाखों लोगोंको नहीं मिल सकती, उसे लेना हम दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दें।" [यंग इंडिया, २४ जून १९२६, पृ. २२६] "हमें उस समय तक आराम लेने या भरपेट खानेमें शर्म आनी चाहिये, जब तक एक भी स्वस्थ सबल स्त्री या पुरुष काम या भोजनके बिना रहता है।" [यंग इंडिया, ६ अक्तूबर १९२१, पृ. ३१४]

उन्होंने हमें चेतावनी दी है कि यह योग्यता अचानक आकाशसे नहीं बरस पड़ेगी। "पहली चीज तो अपने भीतर यह मनोवृत्ति पैदा करता है कि लाखों लोगोंको वंचित रख कर हमें सम्पत्ति

या सुविधा नहीं चाहिये और दूसरी बात तुरंत करनेकी यह है कि हम इस मनोवृत्तिके अनुसार यथाशीघ्र अपने जीवनको फिरसे व्यवस्थित कर लें।" [यंग इंडिया, २४ जून १९२६, पृ. २२६]

लोगोंकों शुरूमें यह कठिन मालूम हो सकता है। "ग्रामकार्यसे हमें डर लगता है। शहरोंमें पले हुए होनेके कारण हम ग्रामीण जीवन अपनानेमें कठिनाई महसूस करते हैं। हममें से बहुतोंके शरीर उस कठोर जीवनके अनुकूल नहीं बन जाते।" [यंग इंडिया, १७ अप्रैल १९२४, पृ. १३०] परन्तु यह कठिनाई तो हमें "साहसपूर्वक ही नहीं परन्तु बहादुरीके साथ" सहनी होगी, यदि हमारी इच्छा सचमुच जन-साधारणके लिए स्वराज्य स्थापित करनेकी है, न कि एक वर्गकी जगह दूसरे वर्गकी हुकूमत कायम करनेकी। "इसका एकमात्र उपाय यह है कि हम ग्रामजनोंके बीचमें जा बैठें और उनके संरक्षक न बनें, बल्कि अटल श्रद्धा रख कर उनके भंगी, उनके परिचारक, उनके सेवक बन जायं और अपनेको खपा दें। हम धनी लोगोंको भूल जायं। . . . हम गांवका सीधा-सादा कार्य हाथमें लें।" [हरिजन, १६ मई १९३६, पृ. ११२]

इससे उस अर्थमें सत्ता नहीं मिलेगी जिस अर्थमें सामान्यतः यह शब्द समझा जाता है। लेकिन यह भूख, अज्ञान और भूमिके अभावको जल्दीसे जल्दी मिटानेकी आशा दिलाता है और सबके लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता, स्वास्थ्य और समृद्धिकी गारंटी देता है। इसमें नेताओं और सरकारी नौकरोंको लोगोंके स्तर पर उतर कर जीवन जीना होगा और उन्हींके रोजके अनुभवोंकी दृष्टिसे सोचना और योजना बनानी होगी। पहली चीजें पहले करनी होंगी। राष्ट्रीय गौरव और सत्ताके बड़े बड़े स्वप्न प्रतीक्षा कर सकते हैं। इन बड़ी बड़ी बातोंसे आम जनतामें कोई उत्साह पैदा नहीं होता।

जब तक अंग्रेजोंके विरुद्ध आजादीकी लड़ाई चलती थी तब तक कांग्रेसी नेताओंकी दिलचस्पी अहिंसक बलका विकास करनेमें रही। सत्तारूढ़ होनेके बाद इसमें उनकी दिलचस्पी नहीं रही। अब उनके हाथोंमें राज्यका अधिक सुलभ तंत्र आ गया है। यदि शासक जिस मार्ग पर चलना पसन्द करें उसके बारेमें बहुत सावधान न रहें, तो सामान्य लोगोंकी अहिंसक शक्ति दुधारी

तलवार सिद्ध हो सकती है । कांग्रेसी नेता सत्तारूढ़ होनेके बाद अहिंसाकी और गांधीजीकी कल्पनाके रचनात्मक कार्यकी उपेक्षा करने लगे । इन दोनोंमें उन्होंने उसी हद तक रुचि ली जिस हद तक वे जनतासे अपील करने और चुनावोंकी दृष्टिसे महत्त्व रखते थे । लोगोंने इस परिवर्तनको भांप लिया और वे बेचेन हो गये ।

एक पत्र-लेखकने कटुतापूर्वक शिकायत की : "भारतको वर्तमान स्थिति गांधीजीके आदर्शोंके कारण और तदनुसार व्यवहार करनेके कारण प्राप्त हुई है । परन्तु वया यह स्पष्ट नहीं कि हम जिस सीढ़ीके सहारे इतने ऊंचे चढ़े हैं, उसीको तोड़ताड़ कर फेंक रहे हैं ? हिन्दू-मुस्लिम-एकता, हिन्दुस्तानी, खादी, ग्रामोद्योग आज कहां हैं ? क्या उनके बारेमें कोई बात करना ढोंग नहीं है ?" उन्होंने पूछा : क्या कांग्रेसी नेताओंने गांधीजीको एक तरहसे जिन्दा ही नहीं दफना दिया है ?

'क्या जिन्दा दफनाया गया ?' – इस शीर्षकसे लिखिते हुए गांधीजीने 'हरिजन' में इसका उत्तर दिया है : "मैं इस आशासे चिपटा हुआ हूं कि अभी तक मैं जिन्दा दफनाया नहीं गया हूं । यह आशा इस विश्वास पर टिकी हुई है कि सामान्य लोगोंने उनमें (मेरे आदर्शोंमें) श्रद्धा खोई नहीं है । जब यह साबित हो जायगा कि उन्होंने श्रद्धा खो दी है; तब वे खतम हो जायंगें और तब यह कहा जा सकेगा कि मैं जिन्दा दफना दिया गया हूं । **लेकिन जब तक मेरी श्रद्धाकी ज्योति जलती है – और मुझे आशा है कि मैं अकेला रह जाऊं तो भी वह जरूती रहेगी – तब तक मैं कब्रमें भी जिन्दा रहूंगा । इतना ही नहीं, मैं वहींसे बोलता रहुंगा** ।" [हरिजन, १७ अगस्त १९४७, पृ. २८०] (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

भूतकालमें जब कांग्रेसियोंके पास लगभग कुछ भी साधन नहीं थे तब उन्होंने उनकी पूर्ति कर लेनेकी अद्भुत शक्तिका परिचय दिया था । उन्होंने अकाल, बाढ़ और भूकम्पसे पैदा हुई बड़ी बड़ी आपत्तियोंका सफलतासे सामना किया था और रातोंरात अपने वार्षिक अधिवेशनोंके लिए बांस, टट्टे और कपड़ेके नगर बसा दिये थे । अब तो उनके हाथमें संघ-सरकारका सारा तंत्र आ

गया था, परन्तु निराश्रित-समस्याके सामने वे लाचार मालूम होते थे । लाल फीतेसे घिर कर, लोगोंकी शक्तिसे अलग होकर, वे अनन्त सम्मेलन, चर्चायें और योजनायें करते थे और जिस भारी तंत्रको उन्होंने विरासतमें पाया था उसकी भूल-भुलैयामें रास्ता भूल गये थे, जब कि हजारों-लाखों निराश्रित शिविरोंमें भेड़-बकरियोंकी तरह भर दिये गये थे, जिन्हें दान पर जीनेसे घृणा थी और जो केवल स्थिरतासे बस जानेकी सुविधाएं मांगते थे । वे चिल्लाते थे : "हमें औजार दे दो, हम अपना काम कर लेंगे ।" लेकिन उन्हें कोई औजार नहीं मिलते थे । [यह अनुभव केवल भारतका ही विशेष लक्षण नहीं था । अन्यत्र भी राज्य पर निर्भर रहनेकी आदतके कारण लोगोंकी समस्याएं हल होनेमें अनावश्यक विलम्ब होता है । इंग्लैण्डमें पहले विश्वयुद्धके बाद मकानोंकी कमीका उल्लेख करते हुए ऑस्टिन फ्रीमैनने लिखा था : "हमारे अपने पूर्वज क्या करते ? निर्माणका कच्चा माल चारों तरफ पड़ा होता, तो भी क्या वे बेघर रहते ? कभी नहीं । यदि वे अपनी ईंटें खुद न बना सकते, तो लकड़ी, कोयला, डंडे, गारा, पत्थर, मिट्टी या जो भी चीज पड़ोसमें मिल जाती वही काममें ले लेते । वे 'राज्य' को यदि अपने बालोंमें कंघी करनेकी बात कहनेका विचार नहीं कर सकते, तो अपने मकान बांधनेकी बात राज्यसे कहनेका भी उन्हें विचार नहीं आता । परन्तु आधुनिक मनुष्य तो अपनी सारी जरूरतें पूरी करनेके लिए बड़े संगठनों पर निर्भर रहनेका आदी हो गया है और स्वावलम्बनके विचारसे सवर्था अपरिचित है । इसलिए जब औद्योगिक संगठन भंग हो जाता है तब लाचार होकर वह राज्यका मुंह ताकता है ।" – सोशियल डिके एण्ड रिजनरेशन, लंदन, १९२१, पृ. १७२-७३]

गांधीजीने 'हरिजन' में लिखा : "जनता कांग्रेसके प्रति आलोचक वृत्ति प्रकट कर रही है । उसके पास ऐसा करनेका कोई ठीक कारण जरूर होगा और उसके इस रवैयेकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये । कांग्रेस सत्तारूढ़ तो है, परन्तु वर्तमान प्रणालीके दोषोंके कारण कांग्रेस जनताको वह चीज नहीं दे पाती है जो वास्तवमें देशमें उपलब्ध है । इसके फलस्वरूप जनता नाराज है और कांग्रेसको लोगोंमें अप्रिय बनानेके लिए स्वार्थी पार्टियां इस स्थितिका लाभ उठा रही हैं । कांग्रेस ही देशमें शान्ति कायम रख सकती है; यदि एक बार उसका प्रभाव जनता परसे उठ गया —

और यह हो सकता है यदि आजकी स्थितिमें सुधारके कोई आसार नजर नहीं आये और आजकी तरह वह दिन-दिन बिगड़ती ही गई — तो उसके लिए आनेवाले संभव तूफ़ानसे बचना असंभव नहीं तो बहुत कठिन जरूर होगा ।" [हरिजन, २३ नवम्बर १९४७, पृ. ४१९]

उधर कांग्रेस स्वयं राष्ट्रीय संगठनके रूपमें धीमी मौतकी पीड़ामें से गुजर रही थी और एक दलके तंत्रके रूपमें फिरसे जन्म ले रही थी । सामान्य लोग "ऐसी दो दुनियाओंके बीच झूल रहे थे, जिनमें से एक तो मर गई थी और दूसरीमें जन्म लेनेकी शक्ति नहीं थी ।" इसलिए लोग कष्ट पा रहे थे और उनके कष्ट बढ़ते जा रहे थे । स्वाधीनताके बाद पहले स्वातंत्र्य-दिवसके उत्सवके अवसर पर लोगोंके दिलोंमें भरे हुए नैराश्य-भाव को व्यक्त करते हुए गांधीजीने २६ जनवरी, १९४८ को एक लिखित भाषणमें कहा था :

"आज हम किस चीजका उत्सव मनाने बैठे हैं ? हमारा भ्रम गलत साबित हुआ इसका तो नहीं ? मगर अपनी इस आशाका उत्सव मनानेका हमें जरूर हक है कि कालीसे काली घटा अब टल गई है और हम उस रास्ते पर हैं जिस पर चलते हुए तुच्छसे तुच्छ ग्रामवासीकी गुलामीका अंत आयेगा और वह हिन्दुस्तानके शहरोंका दास बन कर नहीं रहेगा, बल्कि गांवोंके विचारपूर्ण परिश्रम द्वारा तैयार हुए मालके विज्ञापन और बिक्रीके लिए शहरके लोगोंका उपयोग करेगा । वह यह सिद्ध करेगा कि वह सचमुच हिन्दुस्तानकी भूमिका खमीर है । इस रास्ते पर आगे जाते हुए अन्तमें सब वर्ग और सब धर्म एक समान होंगे । यह हरगिज न होगा कि बहुसंख्या अल्पसंख्या पर – फिर वह कितनी ही अल्प या तुज्छ क्यों न हो – अपना प्रभुत्व जमाये या उसके प्रति ऊंच-नीच भाव रखे । हमें चाहिये कि इस आशाके फलीभूत होनेमें हम ज्यादा देरी न होने दें, वर्ना लोगोंके दिल खट्टे हो जायंगे ।" [प्रार्थना-प्रवचन, २६ जनवरी १९४८]

गांधीजीके अन्तिम दिन ऐसे हथियार तैयार करनेमें बीत रहे थे, जिनसे इस बढ़ती हुई अंधाधुंधीका सामना किया जा सकता । मालूम होता है उनकी कार्य-योजनाके तीन भाग थे : पहलेका सम्बंध लोकमोर्चेसे था, दूसरेका राजनीतिक मोर्चेसे और तीसरेका अहिंसाके बुनियादी

पहलूसे था । निर्बलोंके हाथोंमें निर्बलोंकी अहिंसा एक हद तक काम कर सकती है । भारतमें उसने वैसा ही किया है । परन्तु जब वह "हमारी दुर्बलताको ढंकनेवाली वस्तु बन जाती है, तब वह हमें कायर बना देती है ।" [हरिजन, २ अप्रैल १९३८, पृ. ६५] कुछ अर्सेसे गांधीजी कहने लगे थे कि निर्बलोंकी अहिंसा शब्द-प्रयोग गलत है, अर्थात् "वह अहिंसा ही नहीं है ।" उसे वीरोंकी अहिंसा अर्थात् सच्ची अहिंसामें बदल देना होगा । तदनुसार उनकी योजनाका पहला भाग यह प्रयत्न हो गया कि रचनात्मक कार्यकर्ताओंको और रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंको नये आधार पर पुनर्संगठित किया जाय, जिससे एक अहिंसक बल उत्पन्न हो; और उसके जोरसे कांग्रेस उस सामाजिक क्रांतिको पूरा कर सके, जिसके लिए भारतकी राजनीतिक स्वाधीनताने मार्ग खोल दिया है । दूसरे भागका रूप यह स्थिर हुआ कि कांग्रेसकी प्रवृत्तियोंको नया स्वरूप दिया जाय और एक नया विधान तैयार किया जाय, जिससे कांग्रेसका जनताकी संस्थाका स्वरूप बना रहे और वह शासकोंके समूहके हाथोंमें एक दलीय तंत्रका रूप न ले ले तथा देशकी राजनीतिका मार्गदर्शन कर सके । तीसरा भाग यह था कि लोकतंत्रको प्रगतिके मार्ग पर अग्रसर करनेकी पूर्वशर्तके रूपमें वीरोंकी अहिंसाकी साधनाके लिए एक प्रेरक शक्ति पैदा की जाय । अनाज, कपड़े वगैराका कंट्रोल (नियंत्रण) उठा देनेकी लड़ाई इस कार्यका माध्यम बन गई ।

२

कंट्रोल महायुद्धकी हानिकारक विरासत थे । अक्तूबर १९४६ में नोआखाली जानेके लिए गांधीजीने दिल्ली छोड़ी उसके बाद मार्च १९४७ में वे पहली बार दिल्ली लौटे । उस समयसे वे सरकारके कांग्रेसी नेताओंको नियंत्रण उठा देनेके लिए समय समय पर समझाते रहे थे । शायद युद्धके समयमें तो कंट्रोल जरूरी थे, क्योंकि ब्रिटिश सरकारको युद्धकी जरूरतें पूरी करनेके लिए बड़ी मात्रामें खाद्य-पदार्थ और दूसरी अत्यावश्यक वस्तुएं अन्यत्र ले जानेकी जरूरत थी, जो देशकी आवश्यकताओंको देखते हुए कठिनाईसे बचाई जा सकती थीं । युद्धके लिए आवश्यक पदार्थोंके उत्पादनको प्रोत्साहन देनेके लिए खाद्यवस्तुओं और अन्य जरूरी वस्तुओंके बहावको जो अस्वाभाविक मोड़ दिया गया उससे तथा देशकी अर्थ-व्यवस्थामें किये गए हस्तक्षेपसे देशमें

अत्यावश्यक जरूरतोंके सम्बंधमें बनावटी कमी पैदा हो गई थी । युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार और अपव्ययने इस संकटको तीव्र बना दिया । वस्तुओंके भाव बढ़ते गये और राशनिंगमें कई स्पष्ट त्रुटियां होने पर भी वह अनिवार्य हो गया ।

परन्तु, जैसा सब जगह अनुभव हुआ है, ये कंट्रोल एक बार शुरू हो जानके बाद फिर जाना ही नहीं जानते और इसलिए युद्धके पाश्चात् भी वे भारतमें बने रहे । १९४७-४८ के वर्षमें वर्षा कम नहीं हुई थी और अन्नकी कोई वास्तविक कमी नहीं थी । परन्तु भावोंके कृत्रिम नियंत्रणके कारण खाद्य-पदार्थोंके उत्पादकों और वितरण-कर्ताओंने खुले बाजारमें मिल सकनेवाले भावोंसे कम भाव पर अपना माल देनेसे इनकार कर दिया ।

उत्पादनके आंकड़ोंसे खेतीकी पैदावारमें गिरावट प्रकट होने लगी । उत्पादनके घटते हुए आंकड़ोंको देख कर आरामकुसियों पर बैठे हुए अंकशास्त्रियोंको चिन्ता हुई और उन्होंने लाल झंडी बता दी । अधिकारियोंने अन्नका राशन १६ औंससे घटा कर १२ औंस कर दिया । घबराहटसे लोग अन्नका संग्रह बढ़ाने लगे । उत्पादनके आंकड़े और भी कम हो गये और इसे राशनमें और भी कटौती करनेके पक्षमें एक दलील समझा गया । यह कुचक्र चल रहा था । अन्नकी बनावटी कमी वास्तविक कमी बनने जा रही थी । उत्पादक कम पैदा करने लगे, अन्न छुपाया जाने लगा, "झूठे" राशन कार्डोंकी संख्या बढ़ी, काला बाजारीका बोलबाला हुआ और नियंत्रण-तंत्र इस स्थितिको रोकनेके बजाय स्वयं इस अंधाधुंधीको बढ़ानेका एक जबरदस्त साधन बन गया । सार्वजनिक नैतिकताके स्तर गिर गये; झूठ, फरेब, छोटी छोटी बातोंमें दमन और रिश्वतखोरी एक राष्ट्रीय समस्या बन गये । बेचारी गृहस्वामिनी भी, जो अब तक भ्रष्टाचारसे अनभिज्ञ थी, उसके अनैतिक प्रभावसे बच नहीं सकी ।

गांधीजीने 'हरिजन' में लिखा : "अनाज और कपड़ेके राशनिंगकी यह पद्धति देशके लिए अत्यन्त हानिकारक है । . . . मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि आज भी देशमें काफी खाद्य-सामग्री है ।

बात इतनी ही है कि ग्रामीण लोग असह्य नियंत्रणके कारण अपना अनाज और दालें छिपा लेनेके लिए विवश हो गये हैं।" [हरिजन, २ नवम्बर १९४७, पृ. ३८९]

सस्ती रोटीकी चिल्लाहटको — मुख्यतः अनुत्पादक औद्योगिक जनसंख्या और नगरवासियोंके लिए — शान्त करनेके खातिर तथा "तंगीवाले प्रदेशों" की जरूरतें पूरी करनेके लिए अधिकारियोंने देशमें अन्न-संग्रहकी एक प्रणाली बना ली थी, जिसके द्वारा वे अतिरिक्त अन्न उत्पन्न करनेवाले प्रदेशोंसे अन्न खींच सकते थे। विदेशोंसे अनाज आयात करके और बिना राशनवाले प्रदेशोंसे अन्न मंगा कर यह कमी पूरी कर ली जाती थी। गांधीजीको यह ज्यादा पसन्द था कि अन्नकी कमीवाले प्रदेश कमीवाले ही दिखाई दें और इस कमीको देशव्यापी संयमके आन्दोलनसे पूरा किया जाय, बजाय इसके कि सारे देशको कृत्रिम रूपमें कमीका क्षेत्र बनाकर और विदेशोंसे अन्नकी भीख मांग कर इस भयंकर सत्य पर पर्दा डाला जाय और झूठे आत्म-संतोषसे मनको शांत किया जाय। अगर हमारे पास युद्धकालमें संचित स्टर्लिंग बचत न होती – जिसमें से औसतन् हर साल १९४७ से १९५० के बीच एकसे सवा अरब रुपये अन्नके आयातके लिए ही निकाले गये थे — तो हमारे देशकी अर्थ-व्यवस्था और विदेशोंमें उसकी साख बिलकुल नष्ट हो जाती।

कंट्रोल (नियंत्रण) के स्थान पर सरकार नियत भाव पर अनाज बेचनेके लिए खुद अपनी ही दुकानें खोल सकती थीं। यह अनाज खुले बाजारमें खरीदा जा सकता था अथवा और कोई उपाय न रहने पर विदेशोंसे भी मंगाया जा सकता था। यह सुझाव बादमें भारत-स्थित अमरीकी राजदूत चेस्टर बाउल्सने भारतीय गणराज्यके राष्ट्रपतिको दिया था। ये सज्जन दूसरे विश्वयुद्धके प्रारंभिक कालमें अमरीकाके भाव-नियंत्रण-तंत्रके व्यवस्थापक रह चुके थे। इससे उपरोक्त कुचक्र टूट जाता और भावोंका नियमन अपने-आप हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं किया गया।

कपड़ेकी समस्या तो अन्नसे भी सादी थी। गांधीजीने समझाया कि सरकार हाथ-कताई और हाथ-बुनाईकी पूरी शक्तिका उपयोग करे, तो संचय करनेवाले, काला बाजार करनेवाले या

मुनाफाखोर लोगोंको देशकी जनताको लूटनेका मौका नहीं मिलेगा। इसकी सफलताका प्रत्यक्ष प्रमाण अंग्रेजोंके खिलाफ लड़ी गई लड़ाईके दिनोंमें मिल चुका था। विदेशी शासकोंने खादीको शत्रुताकी नजरसे देखा था। यह समझमें आने जैसी बात थी। परन्तु लोकप्रिय सरकारके पास ऐसा कोई कारण नहीं हो सकता था। लेकिन गांधीजीको यह देख कर अतिशय आश्चर्य हुआ कि जबसे कांग्रेस सत्तारूढ़ हुई तबसे "कोई भी खादीकी बात नहीं करता; किसीका भी खादीकी संभावनामें विश्वास नहीं दिखाई देता। भारतको कपड़ा पहनानेके लिए उन्हें मिलके कपड़ेके सिवा और कोई विचार ही नहीं आता।" [प्रार्थना-प्रवचन, ६ नवम्बर १९४७]

लोकतंत्र तेज गतिसे एक खर्चीली वस्तु बनता जा रहा था। उसका अर्थ था अधिक मंत्री, अधिक लोक-प्रतिनिधि, अधिक पद, अधिक नियुक्तियां, स्वाधीनताकी "प्रतिष्ठा" के लिए अधिक ठाटबाट। दूसरे शब्दोंमें, उसका मतलब था अधिक और अधिक खर्च। शासनका खर्च एकदम बढ़ गया। सुरक्षा-व्यय भी सेनाओंके विभाजनके परिणाम-स्वरूप भारत और पाकिस्तानके बीच चलनेवाली शस्त्रास्त्रकी स्पर्धाके कारण बढ़ता जा रहा था। राष्ट्रके भाग्यकी योजना करनेवालोंकी दृष्टि अधिक आय पर, कर लगानेके अधिक साधनों पर लगी हुई थी। ये दोनों बड़े उद्योगों और बड़े व्यापार-व्यवसायसे ही मिल सकते थे। वे ही भारतको एक आधुनिक और नया तथा "महान और बलशाली राष्ट्र" बनानेके लिए पर्याप्त सैनिक शक्तिका निर्माण करनेमें सहायक हो सकते थे – अपनी कुटियामें बैठ कर काम करनेवाले गरीब कारीगर इसमें सहायक नहीं हो सकते थे।

गांधीजीने इस विषय पर अपने स्वाभाविक मौनको छोड़ कर 'हरिजन' में लिखा : "आज देशमें कई बातें चल रही हैं; उनमें मेरा जरा भी हिस्सा नहीं है, यह मुझे जोर जोरसे कहना चाहिये। मैं कह चुका हूं कि यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि कांग्रेसने हुकूमत संभाली तबसे उसने अहिंसाको तिलांजलि दे दी है। . . . साफ बात तो यह है कि आज मेरी बातकी कोई कीमत नहीं रही है। मेरी आवाज आज अरण्य-रोदन जैसी हो गई है। . . . खादीको उसकी जड़ अहिंसासे यदि अलग करें, तो उसके लिए थोड़ी जगह जरूर रहती है। परन्तु अहिंसाके प्रतीकके रूपमें उसका

जो गौरव होना चाहिये वह आज नहीं है । राजनीतिमें हिस्सा लेनेवाले जो लोग आज खादी पहनते हैं, वे तो रिवाजकी वजहसे ऐसा करते हैं । आज जय खादीकी नहीं परन्तु मिलके कपड़ेकी है । . . . किसी न किसी तरह यह डर हमारे दिलोंमें घर कर गया है कि देशके करोड़ों लोग अपनी जरूरत पूरी करनेके लिए कातने-बुननेका काम अपने हाथमें नहीं लेंगे । जिसके दिलमें कोई डर समा जाता है वह उस जगह भी डरता है जहां डरका कोई कारण नहीं होता । और डरसे जितने लोग मरते हैं उतने रोगसे या मौतसे नहीं मरते ।" [हरिजन, २ नवम्बर १९४७, पृ. ३८९]

नवम्बर १९४७ में कांग्रेस महासमितिमें दिये गये अपने भाषणके आखिरी हिस्सेमें गांधीजीने कंट्रोलका उल्लेख करके कहा था : "आज देशमें जो भ्रष्टाचार चारों ओर फैला हुआ है, उसके लिए बहुत-कुछ जिम्मेदारी कंट्रोलकी है । अगर आप तुरंत कंट्रोल नहीं हटायेंगे, तो किसी दित पछतायेंगे । इससे लोग आलसी और लाचार बनते हैं ।"

कांग्रेस महासमितिने एक प्रस्ताव द्वारा विविध प्रकारके कंट्रोलोंसे, विशेषतः अन्न और वस्त्र-सम्बंधी कंट्रोलोंसे, साधारण जीवनमें पैदा होनेवाली गड़बड़ी पर भय प्रकट किया और केन्द्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारोंसे अनुरोध किया कि वे कंट्रोल हटानेकी समस्या पर जरूर ध्यान दें ।

नवम्बरके पहले सप्ताहमें, खाद्य और कृषिमंत्री डॉ. राजेन्द्रप्रसादने प्रान्तीय मुख्यमंत्रियों और उनके प्रतिनिधियोंको अन्न-कंट्रोलके प्रश्न पर सलाह देनेके लिए एक बैठक बुलाई थी । उस बैठकके मौके पर प्रार्थना-प्रवचनमें गांधीजीने कहा : "हमारे मंत्री जनताके हैं और जनतामें से हैं। उन्हें इस बातका घमंड नहीं करना चाहिये कि उनका ज्ञान उन अनुभवी लोगोंसे ज्यादा है, जो मंत्रियोंकी कुरसियों पर तो नहीं बैठे हैं, लेकिन जिनका यह पक्का विश्वास है कि कंट्रोल जितनी जल्दी हटें उतना ही देशको लाभ होगा । . . . अगर लोगोंको कानून-कायदेकी रस्सीसे बांध कर ईमानदार रहना सिखाया जायगा, तो हमारी लोकशाही टूट जायगी । लोकशाही विश्वास पर ही कायम रह सकती है । अगर लोग आलस्यके कारण या एक-दूसरेको धोखा देनेके कारण मरते

हैं, तो उनकी उस मौतका स्वागत किया जाय । फिर बचे हुए लोग आलस्य, काहिली और निर्दयतापूर्ण स्वार्थके पापको न दुहरानेका सबक सीख जायंगे ।" [प्रार्थना-प्रवचन, ३ नवम्बर १९४७]

गांधीजीने यह चेतावनी दी थी कि सरकार लोगोंको बच्चोंकी तरह पालनेकी कोशिश कर रही है । जरूरत इस बातकी है कि लोगोंको अपने ही साधनों पर आधार रखने दिया जाय । सिविल सर्विसवाले "एक खास तरहके विशेषज्ञ हैं । वे अपने दफ्तरोंमें बैठ कर काम चलानेके आदी हैं । लाल फीते और मिसलोंके बल पर उनका कार्य संचालित होता है । वे कभी भी किसानोंके सम्पर्कमें नहीं आये हैं । वे किसानोंको जानते ही नहीं हैं ।" [प्रार्थना-प्रवचन, १७ अक्तूबर १९४७] उन्हें किसी न किसी तरह विदेशी राज्यको चालू रखना पड़ता था । और वे थे भी इतने थोड़े कि करोड़ों लोगोंके मुरझाये हुए हृदयोंमें पुन: चेतना पूरनेका काम वे सफलतापूर्वक नहीं कर सकते थे ।

> काश, हमारे लोकप्रिय मंत्री नम्रतापूर्वक उस परिवर्तनको स्वीकार कर लें जो लोगोंमें आ गया है । उनकी (लोगोंकी) आरंभ-शक्तिका कंट्रोलके द्वारा गला नहीं घोंटना चाहिये । उन्हें स्वावलम्बी बनने देना चाहिये । लोकतंत्रका यह नतीजा नहीं होना चाहिये कि वे निःसहाय बन जायं । [वही]
>
> कंट्रोलसे धोखेबाजी बढ़ती है, सत्यका गला घोंटा जाता है, काला बाजार खूब बढ़ता है और चीजोंकी कृत्रिम तंगी बनी रहती है । सबसे बुरी बात तो यह है कि कंट्रोल लोगोंको कमजोर बनाता है, उनके काम करनेके उत्साहको मार देता है । इससे लोग अपनी जरूरतें खुद पूरी करनेकी सीखको भूल जाते हैं, जिसे वे पिछली एक पीढ़ीके अर्सेसे सीखते आये हैं । . . . इस अत्यन्त दुःखद बातसे बढ़ कर अगर कोई दूसरी बात हो सकती है, तो वह है बड़े पैमाने पर चलनेवाला आजका भाई-भाईका कतल . . . और लाखों लोगोंकी पागलपन भरी अदला-बदली । इस अदला-बदलीके कारण लोग बिला वजह

मरते हैं, उन्हें रहनेको ठीक घर नहीं मिलते और खासकर आनेवाले तेज जाड़ेसे बचनेके लिए पहननें-ओढ़नेको कपड़े नहीं मिलते । यह दूसरी बात सचमुच ज्यादा बड़ी दिखाई देती है । लेकिन हम पहली यानी कंट्रोलकी बुराईकी बातको सिर्फ इसीलिए नहीं भुला सकते कि वह इतनी बड़ी नहीं दिखाई देती । [प्रार्थना-प्रवचन, ३ नवम्बर १९४७]

उन्होंने समझाया कि मान लीजिये बुरीसे बुरी परिस्थिति पैदा हुई और कंट्रोल हटा लेनेसे स्थिति और भी खराब हो गई, तो उसे फिरसे लागू करनेमें आपका हाथ कौन पकड़ता है ? किन्तु खुद मुझे तो जरा भी शक नहीं है कि इससे स्थितिमें "बहुत सुधार" होगा। इतना ही नहीं, "लोग खुद अपनी समस्याओंको हल करनेकी कोशिश करने लेगेंगे और आपसमें झगड़नेके लिए उनके पास समय नहीं रहेगा ।" [प्रार्थना-प्रवचन, १७ अक्तूबर १९४७]

संघ-सरकारके मंत्रियोंकी यह आदत हो गई थी कि जो लोग शासनमें नहीं थे उनकी साधारण सलाह पर ध्यान देनेके बजाय वे अपने विशेषज्ञोंके दिये हुए परामर्श पर भरोसा करते थे । गांधीजीने उन्हें चेतावनी दी : आपके अफसरोंके पेश किये हुए आंकड़े कोई इश्वरीय सत्य नहीं हैं । वे न तो निश्चित हैं और न पूरे हैं । साथ ही, आंकड़े झूठ भी बोल सकते हैं ।

क्या उन पंडितोंके शोरमें, जो नियंत्रणकी खूबीके बारेमें सर्वज्ञ होनेका दावा करते हैं, लोगोंकी आवाज डूब ही जायगी ? काश, हमारे मंत्री, जो लोगोंमें से आये हैं और लोगोंके हैं, जनताकी आवाज सुनें और लाल फीतेके नियामकोंकी बात न मानें । क्या वे नहीं जानते कि जब वे विदेशी सरकारसे लड़ते थे तब इस लाल फीतेने उन्हें बेहद नुकसान पहुंचाया था ! ये पंडित उस समय बदलेकी भावना से शासन करते थे । क्या अब भी उन्हें ऐसा ही करना चाहिये ? [वही]

उन्होंने लोकप्रिय मंत्रियोंसे कहा कि वे आंकड़ों और मिसलोंके जंगलसे बाहर निकल कर जनताको समझायें कि वह स्वावलंबी बने । इससे उनका अपना और देशका बड़ेसे बड़ा काभ होगा ।

यह एक गंभीर बुराईकी चुनौती थी । वह प्रत्येक व्यक्तिके जीवन पर असर कर रही थी और उस स्वाधीनताका सार हरण करनेकी धमकी दे रही थी, जिसके लिए लाखों लोग लड़े थे, उन्होंने बड़े बड़े कष्ट उठाये थे और बड़ीसे बड़ी कुर्बानियां की थी । गांधीजीने लोगोंसे कहा कि अगर उनकी पिछले तीस वर्षकी अहिंसा दुर्बलोंकी अहिंसा न होती , तो आज वे जो लाचारी अनुभव कर रहे हैं वह न करते । वे अहिंसक संगठनके द्वारा काला बाजार, संग्रह-वृत्ति, मुनाफाखोरी, भ्रष्टाचार आदिको आसानीसे खतम कर देते ।

कंट्रोल हटानेकी लड़ाई शुरू करके गांधीजीने लोगोंमें फिरसे वीरोंकी अहिंसा उत्पन्न करनेका और सरकारको लोगोंकी अहिंसाके मार्ग पर लानेका दूसरा प्रयत्न आरंभ किया । यदि अहिंसक संगठनके जोरसे वे अपनी छाती पर बैठे हुए दुःस्वप्नसे पिंड छूड़ा सके होते, तो उनको वह भीतरी संयम साधनेकी एक प्रबल प्रेरणा हो सकती थी, जो वीरोंकी अहिंसाका हार्द है और जिसके लिए गांधीजी काफी आकर्षक कार्यक्रम तैयार नहीं कर सके । (देखिये खंड-३, पृष्ठ ४२४)

३

डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादकी कमेटीकी सिफारिशोंके बाद दिसम्बर १९४७ के शुरूमें शक्करका कंट्रोल हटा लिया गया । परिणाम चमत्कारी हुआ । शक्करके भाव तुरंत गिर गये । देखादेखी तौलियोंके दाम भी घट गये, यद्यपि कपड़े परसे कंट्रोल अभी तक हटा नहीं था ।

थोड़े दिन बाद अधिकारियोंने अनाजका कंट्रोल भी क्रमशः हटानेका निश्चय किया । इसका उल्लेख करते हुए गांधीजीने समझाया कि कंट्रोल हटा लेनेका उद्देश्य **एकदम भाव घटाना नहीं परन्तु साधारण जीवन पर वापस लौटना है** । "कंट्रोल हटानेका अर्थ है दूरदर्शिताकी शक्ति सरकारके चंद आदमियोंके बदले राष्ट्रके करोड़ों लोगोंमें उत्पन्न करना ।" [प्रार्थना-प्रवचन, ८ दिसंबर १९४७] हमारी सरकारको अधिक अन्न उपजानेके तरीके लोगोंको अच्छी तरह समझाने

होंगे और इसके लिए कृषि-विभागको यह सीखना होगा कि "बड़े पूंजीवादी उत्पादककी तुलनामें अब तक उपेक्षित छोटे उत्पादककी सेवा कैसे की जाय ।"

गांधीजी 'हरिजन' के स्तंभोंको "कचरे" की खाद बनाने और घरके पिछवाड़े और घरेलू बगीचोंमें तरकारियां उगानेकी सूचनाओंसे भरने लगे । उनकी प्रेरणा और मार्गदर्शनमें मीराबहनने अखिल भारतीय मिश्र खाद सम्मेलनका काम शुरू किया । उस सम्मेलनके परिश्रमके फलस्वरूप खाद्य और कृषि-मंत्रालयमें एक कंपोस्ट-विभाग खोला गया, जिससे मिश्र खाद बनानेके कार्यको प्रोत्साहत दिया जा सके और लोगोंको उसे बनानेकी तालीम दी जा सके ।

ब्रिटिश सरकारकी अन्न-संग्रहकी नीतिमें भाव-नियमनका मेल इस तरह बिठाया जाता था कि जिससे अन्नके भाव मुख्यतः संगठित उद्योग और अनुत्पादक शहरी जनसंख्याके हितमें निश्चित हों । किसान घाटेसे रहता था । छोठा उत्पादक अपनी फसल ज्यादातर अपने ही कामके लिए पैदा करता था । थोड़ासा हिस्सा वह सामान्य उपभोक्ताओंके लिए रख लेता था । कंट्रोलका नतीजा यह हुआ कि उसे अपने अतिरिक्त मालके लिए कम पैसा मिला । इसलिए यही आशा रखी जा सकती थी कि कंट्रोल उठ जाने पर वह मालकी ज्यादा कीमत मांगें और पाये । इससे अनाजके भावोंका बढ़ना अनिवार्य था । गांधीजी कहते थे कि इस पर उपभोकताको शिकायत नहीं होनी चाहिये । सरकारका कर्तव्य है कि वह हर रोज और हर सप्ताह लोगोंके सामने यह बात स्पष्ट करे और यह देखे कि नई व्यवस्थामें भाववृद्धिका पूरा लाभ उत्पादकको मिले । कारखानोंके धनी मालिकों और बीचवालोंको सरकारके साथ गहरा सहयोग रखकर और उसके अधीन रहकर काम करना चाहिये । "उन चंद आदमियोंमें अथवा मंडलोंमें पूरा समन्वय होना चाहिये, जिन्होंने अब तक अपने स्वार्थक लिए गरीबोंका शोषण किया है और आपसमें हानिकारक स्पर्धा करनेमें भी संकोच नहीं रखा है । यह चीज अन्न और वस्त्रके मामलेमें तो खास तौर पर बन्द होनी चाहिये, क्योंकि इनमें सुताफेका हेतु बिलकुल नहीं रहना चाहिये ।" [वही]

इसके बाद गांधीजीने कपड़े और ईंधनका कंट्रोल हटानेकी तरफ अपना ध्यान मोड़ा । विशेषज्ञ फिर अड़ गये । गांधीजीने उनसे बहस की : अगर कंट्रोल उठा लिया जायगा, तो लोग जरूरतसे ज्यादा ईंधनकी लकड़ी खर्च नहीं करेंगे । इसलिए ईंधनकी लकड़ीके मामलेमें कंट्रोल हटा लेनेसे गरीबों पर बुरा असर नहीं पड़ेगा । कपड़ेके विषयमें तो गांधीजीको कोई डर था ही नहीं । हां, अगर खादी, जिसे हमने "स्वतंत्रताकी वर्दी" घोषित किया था, पूरी तरह विस्मृतिके गर्भमें विलीन हो जाय तो बात अलग है ।

> हमारे पास काफी रुई है और काफी हाथ हैं, जो गांवोंमें चरखा और करघा चला सकते हैं । हम आसानीसे अपने लिए कपड़ा तैयार करके पहन सकते हैं । न उसके लिए शोरगुल मचानेकी जरूरत है और न परिवहनके बड़े बड़े साधनोंकी जरूरत है । पुराने शासनमें हमारी रेलोंका पहला काम फौजकी सेवा करना था; दूसरा काम बन्दरगाहों पर रुईकी गांठें ले जाना और विदेशोंसे मंगाया हुआ कपड़ा भीतर ले आना था । जब हमारी केलिको, जिसे खादी कहते हैं, गांवोंमें बनती है और वहीं खपती है तब इस सारे केन्द्रीकरणकी कोई जरूरत नहीं रहती । अपने आलस्य या अज्ञानको या दोनोंको छिपानेके लिए हम अपने गांवोंको बुरा-भला न कहें । [प्रार्थना-प्रवचन, ५ जनवरी १९४८]

अब रह गया पेट्रोलका कंट्रोल । गांधीजीने फौरन ही भांप लिया कि रेल-परिवहनकी कमी असली कठिनाई है । कोयलेकी और माल ढोनेवाले डिब्बोंकी कमी थी । इसका इलाज स्पष्ठ ही मोटर-परिवहन था । परन्तु पेट्रोलके कंट्रोल और मोटर-लारियोंके परवाने देनेकी एकाधिकार-पद्धतिके कारण सड़क-परिवहनमें रुकावट होती थी । इससे पेट्रोलकी परमिटोंका बाकायदा व्यापार चल पड़ा था । एक मोटर-लारीके पेट्रोलके परवाने बेचकर ही उसका मालिक, जिसके पास एक ही रास्तेका परवाना होता था, आसानीसे दस हजार रुपया महीना बना सकता था । अगर पेट्रोलका राशनिंग और एकाधिकार-पद्धति न होती, तो एक मोटर-लारी चला कर कोई तीन सौ रुपये माहवारसे ज्यादा पैसा नहीं कमा सकता था ।

पेट्रोलके राशनिंगके हिमायतियोंने आपत्ति उठायी : भारतके लिए पेट्रोलका कोटा बहुत ही थोड़ा है; संसारमें निकलनेवाले पेट्रोलका एक ही प्रतिशत हमारे हिस्से आता है । इसलिए पेट्रोलका राशनिंग जरूरी है । गांधीजीने उनसे पूछा, "अगर पेट्रोलका हमारा कोटा बहुत थोड़ा है, तो यह क्या बात है कि चोर बाजारमें (पेट्रोल) जितना चाहे उतना मिल जाता है और . . . अनावश्यक आवागमन अबाधित रूपमें होता रहता है ?" [वही] पेट्रोल ऐसी चीज नहीं है, जिसकी सबको जरूरत हो । सरकार अपनी आवश्यकतानुसार काफी पेट्रोल रख सकती है, वह "खुले काले बाजार" [प्रार्थना-प्रवचन, १९ दिसम्बर १९४७] में भी खरीद सकती है ।

गांधीजीने भविष्य-वाणी की कि तेज सड़क-परिवहनसे सामान्य उपभोगकी चीजोंके भाव तुरंत उतर जायंगें । उदाहरणार्थ, गरीबोंके नमकको ही ले लीजिये । नमक-कर उठ चुका है, परन्तु मर्यादित संख्यामें परवाने देनेकी प्रथा आज भी चालू है । इससे नमक पहलेसे भी ज्यादा महंगा हो गया है । कारण कुछ तो परिवहनकी कठिनाई है और कुछ चंद ठेकेदारोंका स्वार्थपूर्ण लोभ है । दोनोंका एक ही उपाय है । आज जब नमक करसे मुक्त है, तो लोगोंको अपना "आलस्य" छोड़ कर जहां संभव हो वहां अपना नमक स्वयं बना लेना चाहिये – जैसा उन्होंने नमक-सत्याग्रहके दिनोंमें किया था । इससे लाखों मनुष्योंक लिए अपनी एक बुनियादी जरूरतसे सम्बंध रखनेवाले सम्मिलित रचनात्मक अहिंसक प्रयत्नमें शरीक होनेका शानदार रास्ता खुल जायगा ।

एक बार फिर जनताके सेवककी अंतर्दृष्टि विशेषज्ञोंके ज्ञानसे ज्यादा विश्वस्त मार्गदर्शक सिद्ध हुई । जनवरी १९४८ के पहले सप्ताह तक चीनी और खांडसारी वगैराके भाव खुले बाजारमें ५० फी सदी घट गये ।

[अनाजके भाव प्रति मन इस प्रकार थे :

	नियंत्रण उठनेसे	जनवरीके	जनवरीके
	पहले	पहले	मध्यमें
		सप्ताहमें	
गेहूं	३५-५०	१८-२०	९
चावल	३०-४५	२५	२०
मक्की	३०-३२	१५-१७	-
चना	३८-४०	१३-१८	-
मूंग	३५-३८	२६	२०

ऊनी और रेशमी कपड़ेके दाम भी आधे हो गये । छिपा हुआ माल बाहर आ गया और बाजार रेशम और ऊनके मालसे भर गया । कंट्रोल उठनेकी संभावनासे सूती कपड़े और सूतके थोक भाव गिरने लगे । अंकशास्त्रियोंके डर झूठे साबित हुए । वे मानव-स्वभावका अनुमान नहीं लगा सके थे । गांधीजीने उन्हें सिखाया : "**लोकतन्त्रमें भीरुताके लिए कोई स्थान नहीं है** । जब जन-साधारण किसी खास चीजको मानते और चाहते हों, तब उनके प्रतिनिधियोंको उनकी मांगको मूर्त रूप देना और उसे व्यावहारिक बनाना ही पड़ता है । **जन-साधारणके अनुकूल और साहसपूर्ण रवैयेसे बड़ी बड़ी लड़ाइयां जीतनेमें भारी मदद मिलती है** ।" [प्रार्थना-प्रवचन, ५ जनवरी १९४८]

कंट्रोल हटानेकी लड़ाईसे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया कि जनताकी समस्याओंके बारेमें सीधा विचार करनेकी गांधीजीकी पद्धतिमें और उन्हें हल करनेवाली जनताकी तात्कालिक शक्तिका आह्वान करनेकी गांधीजीकी कलामें आंतरिक बल था ।

बधाईके तारों और पत्रोंका गांधीजीके पास तांता लग गया । गांधीजीने इस सफलताका श्रेय लेनेसे इनकार कर दिया । उन्होंने कहा कि इसका सच्चा श्रेय जनताको मिलना चाहिये । व्यापारियोंने समझ लिया था कि मैंने जब यह कहा कि कंट्रोल उठना चाहिये तब मैं लाखों

लोगोंकी राय ही जाहिर कर रहा था । मुझे इस बातका विश्वास है कि यदि मेरी कही हुई बातों पर अमल होता, तो "अशोभनीय साम्प्रदायिक उपद्रव" भी बहुत पहले ही भूतकालकी चीज हो जाते । परन्तु इस विषयमें मुझे "गगन-विहारी" कह दिया गया । गांधीजी जानते थे कि इस मामलेमें भी वे सही हैं । उन्होंने पूछा : "क्या मैं कंट्रोल हठाने और दूसरी अनेक बातोंमें तो बराबर सही और व्यावहारिक हो सकता हूं और राष्ट्रके लिए जीवन-मरणके इस मामलेमें अव्यावहारिक हो सकता हूं ?" [प्रार्थना-प्रवचन, २८ दिसम्बर १९४७]

गांधीजीने एक बार लोकतंत्रकी यह व्याख्या की थी कि वह "सबकी भलाई और सेवाके काममें सभी वर्गोंके लोगोंके शारीरिक, आर्थिक और आध्यात्मिक साधनोंको लगा देनेकी कला और विज्ञान है ।" [हरिजन, २७ मई १९३९, पृ. १४३] वे यही कोशिश कर रहे थे कि भारतका लोकतंत्र प्रगतिके पथ पर अग्रसर हो । कंट्रोल हटानेका आन्दोलन उस प्रयत्नका आरम्भ था । उसके लिए मानव-स्वभावमें और जन-साधारणमें निहित शक्तियोंमें विश्वास होना जरूरी था । गांधीजी कहते थे कि यदि सब-कुछ सरकार करे और लोग कुछ न करें, या जो काम वे करना चाहें वह सरकार उन्हें न करने दे, तो यह लोकतन्त्रसे इनकार करना होगा । सरकार अपने नामके योग्य हो तो उसे राष्ट्रको यह दिखा देना चाहिये कि "वह उद्यम किये बिना सरकारकी सहायता ले लेकर किसी भी तरह जिन्दा रहे इसके बजाय अपने ही सामूहिक प्रयत्नके द्वारा जीवनकी बाधाओंका कैसे सामना कर सकता है ।" [प्रार्थना-प्रवचन, ८ दिसम्बर १९४७]

उन्होंने 'हरिजन' में लिखा : "चीजोंके भाव एकदम बढ़ जानेके भूतसे मुझे डर नहीं लगता । अगर हमारे देशमें अनेक भेड़िये हैं और हम उनसे लड़ना नहीं जानते, तो हम उनके ग्रास बननेके ही पात्र होंगे । इसी तरह हम जानेंगे कि विपत्तिका सामना करते हुए हम कैसे टिक सकते हैं । सच्चे लोकतंत्रकी भावना लोग न तो किताबोंसे सीखते हैं और न उस सरकारसे, जो नाममें और वास्तवमें भी लोगोंकी सेवक है । लोकतन्त्रमें कठोर अनुभव सबसे उत्तम शिक्षक है ।" [हरिजन, १८ जनवरी १९४८, पृ. ५१६]

३० जनवरी, १९४८ को गांधीजीने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की । सरकार खुले बाजारकी प्रवृत्ति जैसे सहायक कदम नहीं उठा सकी, जिनसे कंट्रोल हटानेका प्रयोग सफल हो सकता था । मुनाफाखोरी फिर शुरू हो गई, चीजोंके भाव फिर चढ़ गये । अधिकारियोंने कंट्रोल हटानेके पूरे फलितार्थोंको पूरी तरह समझनेका प्रयत्न कभी नहीं किया । घबराहटका पहला चिह्न दिखाई देते ही उन्होंने जल्दीसे प्रयोगको उलट दिया – फिर कंट्रोल लगा दिया । कंट्रोल उठा देनेसे थोड़े समयके लिए भावोंके बढ़नेकी आशा तो थी ही । परन्तु यह अस्थायी परिणाम ही हो सकता था । जब नई व्यवस्थाकी कठिनाइयां दूर कर ली जातीं और उसे इतनी देर आजमा लिया जाता कि उसका कुछ प्रभाव उत्पादन पर पड़ने लगता, तब भावोंके साधारण स्तर पर लौट आनेका भरोसा किया जा सकता था । परन्तु अगले दिसम्बरमें आगामी खरीफकी फसल आने तक भी सरकार ठहरना नहीं चाहती थी । और अक्तूबर १९४८ में कंट्रोल फिर लाद दिया गया ।

अधिकारी संग्रहखोरों और मुनाफाखोरोंके भूतसे भयभीत थे । उन सबको तो वे गोलीसे उड़ा नहीं सकते थे । कोई भी लोकतांत्रिक सरकार उन्हें नहीं उड़ा सकती । गांधीजीने उन्हें वह बात याद दिलाई जिसे वे भूल गये थे अर्थात् उन्हें बताया कि लोगोंका अहिंसक संगठन बीचमें आ सकता है और जहां सरकारी तंत्र कमजोर सिद्ध हो या असफल रहे वहां वह संगठन जिम्मेदारी संभाल सकता है । उन्होंने उद्योगपतियों और व्यापारियों पर पहलेसे ही यह नैतिक दबाव डालना शुरू कर दिया कि वे अपने अदूरदर्शी लोभ पर अंकुश रखें ।

२८ दिसम्बरको हार्डिंग लाइब्रेरी हॉलमें दिल्लीके व्यापारियों और व्यवसायियोंकी एक सभामें भाषण देते हुए गांधीजीने कहा : “कंट्रोलका कारण बेईमानी और मुनाफाखोरीका डर है । व्यापारी कंट्रोल हटवाना चाहते हैं । मैं मान लेता हूं कि वे मुनाफाखोरीके लिए नहीं, परन्तु लोगोंकी सेवाके खातिर ऐसा चाहते हैं । इसलिए उन्हें सोलह आना ईमानदार रहना पड़ेगा । अगर कंट्रोल हटानेके लिए व्यापारियों और मिल-मालिकोंके विभिन्न संघ तथा सामान्य जनता एक-दूसरेके हाथ मजबूत करें, तो वे सिविल सर्विससे अधिक वास्तविक अर्थमें सरकारका बाहुबल बन सकते हैं । किसी न किसी तरह रुपया पैदा कर लेनेमें ही सच्चा व्यापार-वाणिज्य

नहीं है ।" हॉलमें लगे एक सूत्रकी तरफ इशारा करके, जिसमें कहा गया था कि भारत कंट्रोल हटानेसे ही समृद्ध होगा, उन्होंने अन्तमें कहा : "मैं इस सूत्रका हृदयसे समर्थन कर सकता हूं, क्योंकि मुझे व्यापारियोंकी बुनियादी ईमानदारीमें विश्वास है । मुझे आशा है कि आप मेरे इस विश्वासको झुठलायेंगे नहीं ।"

व्यवसायियोंके साथ गांधीजी अपने ही ढंगसे पेश आते थे, जिसमें सरलता और दक्षताका, विश्वास और सावधानीका मेल होता था । पहले जब गांधीजीका सहयोग उन्हें अपने स्वार्थके अनुकूल दिखाई दिया तब कई दल उसे पानेके लिए बहुत उत्सुक रहे । परन्तु जब वे भागनेकी कोशिश करने लगे तो उन्हें पता चल गया कि वह सहयोग उनसे चिपक गया है । व्यापारी जानते थे कि यदि अपना उद्देश्य पूरा करनेके बाद वे अपने हिस्सेका वचन न निभा सके, तो गांधीजी उनके विरूद्ध सत्याग्रह-बलका प्रयोग करनेमें संकोच नहीं करेंगे । इसमें शान्त धरना और बहिष्कार शामिल हो सकते हैं । गांधीजीको यह विश्वास था कि जनताके सभी वर्ग इसमें हृदयसे उनका साथ देंगे । और चूंकि कंट्रोल हठानेके प्रश्न पर जनताकी अहिंसक कार्रवाई लाचारीकी भावनाके कारण नहीं होगी, जैसी कि अंग्रेजोंके विरुद्ध लड़ी गई लड़ाईके समय कुछ अंशमें थी, इसलिए वह "निष्क्रिय प्रतिरोध" के ढंगकी वस्तु न होकर वीरोंकी अहिंसा होगी ।

४

गांधीजी जन्मजात लोकतंत्रवादी थे । वे मानव-इतिहासके सबसे बड़े लोकतंत्रवादी थे, क्योंकि वे मानवतामें ईश्वरके और ईश्वरमें मानवताके दर्शन करते थे । पहली वस्तुके कारण वे उस दुविधासे बच जाते थे, जो मानवतावादियोंको उस समय सताती है जब लोकतंत्र अराजकतामें बदल जाता है; दूसरी वस्तु उन्हें व्यक्तिवादके उस झूठे सिद्धान्तसे बचा लेती थी, जिसके कारण मनुष्य शान्ति और व्यक्तिगत मोक्षकी शोधके लिए एकांत गुफामें जाकर बैठ जाता है ।

लोकतंत्रके सम्बन्धमें दो दृष्टियां हैं। एकमें तो "अधिकतम लोगोंकी भलाई" के लिए सबसे कमजोरको छोड़ दिया जाता है, जैसा आजकल पाश्चात्य लोकतंत्रोंमें किया जाता है। यह हिंसक दृष्टि है। दुसरी अहिंसक दृष्टि है, जिसका आधार सर्वोदयका सिद्धान्त है। गांधीजीने पाश्चात्य लोकतंत्रको – जिस रूपमें आज वह काम करता है – "सौम्य नाजीवाद या फासिस्टवाद" बताया था। "अधिकसे अधिक . . . वह साम्राज्यवादकी नाजी और फासिस्ट वृत्तियोंको छिपानेका आवरण मात्र है।" [हरिजन, १८ मई १९४०, पृ. १२९] इसमें "दुर्बलसे दुर्बलको . . . अन्तिम स्थान मिलता है।" गांधीजी इसे मानव और ईश्वरका अपमान और लोकतंत्रका विपर्यास मानते थे। "संसारमें कोई भी देश आज कमजोरोंको समान दर्जा नहीं देता; केवल उन्हें आश्रित समझता है। . . . लोकतंत्रकी मेरी कल्पना यह है कि उसमें दुर्बलसे दुर्बलको सबलसे सबलके बराबर अवसर मिलने चाहिये।" [वही] "लोगोंके, लोगोंके द्वारा और लोगोंके लिए चलनेवाले शासन" का अर्थ है "शुद्ध अहिंसा" का राज्य। इसका सीधासा कारण यह है कि हिंसक उपाय काममें लेनेका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि "विरोधियोंको दबाकर और नष्ट करके सब प्रकारके विरोधको मिटा दिया जाय। इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खतम हो जाती है।" [हरिजन, २७ मई १९३९, पृ. १४३]

उन्होंने जिस स्वाधीनताकी कल्पना की थी उसमें स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रताके फल छोटेसे छोटेको बड़ेसे बड़े आदमीके बराबर भोगनेको मिलेंगे। अत: उसकी प्राप्तिके उपाय ऐसे होने चाहिये जिनमें बलवानसे बलवानके साथ कमजोरसे कमजोर लोग समान भाग ले सकें। यह अहिंसामें ही संभव है।

एक अमरीकी मित्रको गांधीजीने समझाया था कि भारत सच्चे लोक-तन्त्रका विकास करनेकी चेष्टा कर रहा है, इसीलिए उसने हथियारके रूपमें "चरखे द्वारा व्यक्त होनेवाले सत्याग्रह, ग्रामोद्योग . . . मद्य-निषेध और अहिंसक श्रम-संगठन आदिको अपनाया है।" "इनका अर्थ है सामुदायिक प्रयत्न और सामुदायिक शिक्षा।" इसे गांधीजी "अहिंसक प्रयत्नका स्थायी अंग कहते

थे । इस प्रयत्नने असहयोग और सविनय आज्ञाभंग कहलानेवाला अहिंसक प्रतिरोध करनेकी क्षमता पैदा होती है ।" [हरिजन, १८ मई १९४०, पृ. १२९]

भारतके लाखों-करोड़ों लोगोंको भाईचारेके सामान्य बन्धनमें बांध कर रखने और उनके जीवनकी बुनियादी प्रवृत्तियोंमें अहिंसाको गूंथ देनेके लिए गांधीजीने अपना अठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया था । यह कार्यक्रम जन-साधारणकी मानवतापूर्ण सेवाका कार्यक्रम था । इसे कार्यान्वित करनेके लिए उन्होंने अ. भा. चरखा-संघ, अ. भा. ग्रामोद्योग-संघ जैसे कई संगठन खड़े किये । इस प्रकारकी प्रवृत्ति जब ज्ञानपूर्वक की जाती है तब वह लोगोंके लिए अहिंसक संगठन और अनुशासनका आधार बन जाती है । उसकी बुनियाद बल पर नहीं, किन्तु प्रेम पर होती है । इसे गांधीजीने "रचनात्मक अहिंसा" का नाम दिया था ।

विविध रचनात्मक प्रवृत्तियोंके स्वरूपमें कोई कठोर या अनिवार्य तत्त्व नहीं है । उनमें जब भी चाहें परिवर्तन या कमोबेशी की जा सकती है और सम्बन्धित लोगोंकी बदलनेवाली जरूरतों, प्रकृति और परम्पराके अनुसार तथा सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक पृष्ठभूमिके अनुसार बदलेमें वैसे ही दूसरे रूप अपनाये जा सकते हैं । [इसका प्रयत्न पश्चिमके लिए रिचार्ड बी. ग्रेगने अपनी पुस्तक 'पैसिफिस्ट प्रोग्राम' में किया है] अत्यावश्यक वस्तु एक यही है कि वे "बुनियादी तौर पर अहिंसक" हों और उनसे किसी न किसी तीव्र आवश्यकताकी पूर्ति या स्वीकृत बुराईका निराकरण होता हो । वे अत्यन्त सादे और सार्वत्रिक उपयोगके योग्य अवश्य हों, ताकि बड़ीसे बड़ी संख्यामें लोग – खासकर जन-साधारण – उनमें भाग ले सकें ।

गांधीजीके शब्दोंमें "अहिंसक सेनाके लिए रचनात्मक कार्य वही महत्त्व रखता है, जो महत्त्व संहारक युद्धके लिए खड़ी की गई सेनाके लिए कवायद वगैराका है ।" [यंग इंडिया, ९ जनवरी १९३०, पृ. १३ उन्होंने कहा है : अनुभव यह बताता है कि सीमित अथवा स्थानीय उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिए तो इस तैयारीके बिना भी व्यक्ति या छोटी छोटी मंडलियां सफल अहिंसक कार्रवाई शुरू कर सकती है । परन्तु जीवन-मरणके मामलोंमें, जहां लोगोंके बड़े समूह

सम्मिलित हों, उसके सफल प्रयोगके लिए रचनात्मक कार्यकी तालीम नितान्त आवश्यक है । "लगातार रचनात्मक कार्य करनेसे जो विश्वास पैदा होता है, वह संकटके ससय एक जबरदस्त शक्ति बन जाता है । . . . जिन लोगोंकी ऐसी तैयारी नहीं हो उनमे और जिन नेताओंको वे जानते न हों या जिन पर उनका भरोसा न हो उनके द्वारा किया गया व्यक्तिगत सविनय आज्ञाभंग आन्दोलन बेकार साबित होता है; और सामूहिक सविनय आज्ञाभंग तो असंभव ही होता है ।" [वही]

रचनात्मक कार्यकी विभिन्न संस्थाएं अपने जन्मसे ही बराबर कांग्रेसके साथ सहयोग करती रही हैं । कांग्रेसने अपनी ओरसे, खास तौर पर अंग्रेजोंसे लड़नेमें उनके सहयोगका राजनीतिक महत्त्व होनेके कारण, उसका स्वागत किया था । क्या स्वाधीनताकी प्राप्तिके बाद उन्हें कोई भाग अदा करना था ? गांधीजीने तो कितनी ही बार दोहरा कर यह कहा था कि इसमें उन्हें जरा भी शंका नहीं कि रचन्तात्मक कार्य जितना जरूरी स्वाधीनताकी प्राप्तिक लिए है उतना ही स्वाधीनताको टिकाये रखनेके लिए भी है । जब अहिंसक संग्राम चल रहा था तब उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके साधनके रूपमें रचनात्मक कार्यक्रमके सिद्धान्त और आचरण पर एक पुस्तिका लिखी थी । स्वाधीनताके बाद जब उनके प्रकाशकोंने उसका नया संस्करण निकालना चाहा तो गांधीजीने उनसे कहा कि नये संस्करणके लिए उसे बिलकुल नये ढांचेमें ढालना होगा – शायद उसे दुबारा लिखना होगा और उसकी दलीलें भी यह सिद्ध करनेके लिए दूसरी ही होंगी कि आम जनताकी दृष्टिसे स्वाधीनताका पूरा लाभ उठानेके लिए रचनात्मक कार्यक्रमका उपयोग कैसे किया जाय । परन्तु इससे पहले ही भगवानने उन्हें इस दुनियासे उठा लिया ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका लक्ष्य भारतकी स्वाधीनता प्राप्त करना था । वह लक्ष्य सिद्ध हो गया था । बदली हुई परिस्थितियोंमें उसके उद्देश्यकी नई व्याख्या करने और स्वाधीन भारतमें कांग्रेसके लिए कोई आर्थिक कार्यक्रम तैयार करनेके लिए कांग्रेस महासमितिने अपनी नवम्बर १९४७ की बैठकमें एक 'उद्देश्य तथा आर्थिक कार्यक्रम समिति' नियुक्त की थी ।

दिसम्बर १९४७ के पूर्वार्धमें 'उद्देश्य तथा आर्थिक कार्यक्रम समिति' के कुछ सदस्यों और विविध रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंके प्रतिनिधियोंने मिलकर गांधीजीके साथ कई बार चर्चाएं कीं। इस सम्मेलनमें अहिंसक संग्रामके अनेक कसे हुए योद्धा भी शरीक थे। उनमें से कुछ तो गांधीजीके साथ भारतमें उनके राजनीतिक जीवनके आरम्भसे ही थे। यह उनके साथ गांधीजीका आखिरी मिलन था।

अभी तक अहिंसाका उपयोग विदेशी सरकारका विरोध करनेमें हुआ था। अब समस्या यह थी कि अहिंसक पद्धतिसे सरकार कैसे चलाई जाय। अहिंसाका एक विश्वशक्तिके रूपमें तब तक कोई भविष्य नहीं हो सकता, जब तक यह सिद्ध न किया जाय सके कि जिस स्वाधीनताको हासिल करनेमें वह सहायक हुई थी उसे टिकाये रखने और उसकी रक्षा करनेकी भी उसमें क्षमता है। दूसरे शब्दोंमें, उसमें सत्ताकी राजनीति पर सफल प्रभाव डालनेका सामर्थ्य होना चाहिये। प्रश्न यह था कि अहिंसाका ऐसा उपयोग हो सकता है या नहीं और हो सकता हो तो किस प्रकार ?

रचनात्मक कार्यकर्ताओंके एक महत्त्वपूर्ण वर्गकी यह प्रबल भावना थी कि कांग्रेस जब स्वातंत्र्य-संग्राममें व्यस्त थी तब तो वह रचनात्मक कार्यक्रम और हस्त-उद्योगों तथा गृह-उद्योगों पर आधारित विकेन्द्रित ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाको दृढ़तासे पकड़े रहनेकी वर्षों तक शपथ लेती रही थी, परन्तु सत्तारूढ़ होनेके बाद ऐसे आसार नजर आने लगे हैं कि वह उसे तिलांजलि दे रही है। वे पूछते थे कि जब हमारी सरकार शक्कर और चावलकी मिलें खड़ी करनेकी मंजूरियां दे रही है और शक्कर-उद्योगको संरक्षण प्रदान कर रही है, तब हमारे खांड और हाथकुटे चावल जैसे गांवोंके मालके उपयोगको लोकप्रिय बनानेकी कोशिश करनेसे क्या फायदा ? कांग्रेसके नेता खादी-उत्पादनका विस्तार करनेकी बातें कर रहे हैं, परन्तु प्रान्तीय सरकारें कपड़ेकी मिलें बढ़ा रही हैं। अब जब सरकार हमारी अपनी है, तो जो लोग रचनात्मक कार्यमें श्रद्धा रखते हैं, उनके लिए क्या सही मार्ग यह नहीं है कि वे सरकारमें शामिल हो जायं और अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए अर्थात् अहिंसक समाज-व्यवस्थाके निर्माणके लिए उसका उपयोग करें ? इस प्रकार पांच

वर्षमें वे वह काम कर लेंगे जो गैर-सरकारी सुधारक मंडलके रूपमें सरकारसे बाहर रहकर पचास वर्षमें भी नहीं कर सकेंगे ।

गांधीजीका मत इससे भिन्न था । जिस क्षण अहिंसा सत्ता हाथमें ले लेती है, उसी क्षण वह अपने सच्चे धर्मको छोड़ देती है और दूषित हो जाती है । १९३७ में उन्होंने अहिंसामें सोलह आने विश्वास रखनेवालोंके संगठन – गांधी-सेवा-संघ – के कुछ सदस्योंको विधान-सभाओंमें राजनीतिको शुद्ध करने और उसे हिंसा और भ्रष्टाचारसे मुक्त करनेके लिए भेजा था । "संघने कुछ समयके लिए मेरे मार्गदर्शनमें देशकी राजनीतिमें प्रवेश करने और उसे शुद्ध करनेका प्रयत्न किया, परन्तु मुझे हार माननी पड़ी और अन्तमें संघको ही बन्द कर देना पड़ा ।" उन्होंने कार्यकर्ताओंसे कहा कि यदि आप अपने घरको ठीक कर लें और उस स्तर पर पहुंच जायं जिसकी आपसे आशा रखी जाती है, तो आपका हेतु सिद्ध हो जायगा । तब आप सत्ताका पथप्रदर्शन करेंगे और स्वयं सत्ता ग्रहण किये बिना देशकी राजनीतिको जैसा चाहें वैसा बना सकेंगे ।

आपमें सरकारको अपना पूरा साथ देनेके लिए तैयार करनेकी शक्ति क्यों नहीं है ? दोष रचनात्मक कार्यकर्ताओंका है । रचनात्मक कार्यमें आपकी श्रद्धा तो है, परन्तु वह श्रद्धा इतनी गहरी या ज्ञानपूर्ण नहीं है कि वह आपकी बुद्धिको प्रज्ज्वलित कर सके । इसलिए आपका विकास एकांगी हुआ है । "रचनात्मक कार्यकर्ताओंके विरुद्ध टीका यह की जाती है कि उनके दिमाग जड़ हैं, उनमें कल्पना-शक्ति और बुद्धिशक्तिका अभाव है । आम तौर पर बुद्धि भावनाका अनुगमन करती है । हमारे बुद्धिशाली लोगोंमें रचनात्मक कार्यके प्रति सहानुभूतिका अभाव नहीं है । परन्तु हम उनके दिलोंमें इतने नहीं घुसे हैं कि उनकी बुद्धि हमारा साथ दे । यह है हमारा दिवालियापन।"

फिर गांधीजीने इस असफलताके कारणोंका विश्लेषण किया । कांग्रेसने रचनात्मक कार्यको उसके राजनीतिक मूल्यके लिए अपनाया था । "आजादी-की लड़ाई पूरी हो जाने पर रचनात्मक कार्यमें हमारी दिलचस्पी घट गई । रचनात्मक कार्य कोई रणनीति या युद्धकला तो

है नहीं, जिसे आवश्यकताके अनुसार अपनाया अथवा ठुकराया जा सके । वह तो एक जीवन-प्रणालीका प्रतीक है । उसे हृदय और बुद्धि दोनोंसे अंगीकार करना पड़ता है ।" कांग्रेसको दोष देनेसे कोई फायदा नहीं । कांग्रेसने रचनात्मक कार्यकी विभिन्न संस्थाओंको अपना नाम दिया, उन्हें काम करनेका अधिकार-पत्र दिया, परन्तु रचनात्मक कार्यकर्ता कसौटी पर पूरे नहीं उतरे । "**रचनात्मक कार्यका लक्ष्य बेकारोंको आर्थिक राहत पहुंचाना या गरीबोंको कुछ मजदूरी बांट देना नहीं, परन्तु अहिंसक समाज-व्यवस्था निर्माण करना है** । इसमें हमने बहुत प्रगति नहीं की है । इसके लिए जरूरत है "**एक ऊंचे प्रकारके, अधिक उन्नत कार्यकर्ताकी, जिसे रचनात्मक कार्यकी वैज्ञानिक भूमिकाकी पूरी समझ हो और अहिंसाकी दृष्टिसे उसके गूढ़ार्थोंका भान हो** । सफलता अधिकसे अधिक शुद्धता पर निर्भर रहेगी; अधीरता घातक सिद्ध होगी ।"

उन्होंने कार्यकर्ताओंसे कहा कि इस समय हमारे अधिकांश कार्यकर्ता शहरोंसे लिये जाते हैं । परन्तु आइंदा हमें "ऐसे कार्यकर्ताओंकी सेनाकी अधिकाधिक आवश्यकता होगी, जो खुद गांवके हों, जो ग्रामवासियोंके मनकी बात समझ सके और उन्हींके विचारोंकी दृष्टिसे स्वभावत: सोच सकें ।"

गांधीजीने यह सुझाया कि कार्यकर्ता इस नये कर्तव्यका पालन करनेके लिए तैयार हो सकें, इसके लिए रचनात्मक कार्यकी विभिन्न संस्थाओंका एकीकरण और उनकी प्रवृत्तियोंका समन्वय होना चाहिये । यदि विविध संस्थाएं एकराग होकर संयुक्त रूपसे चुने हुए प्रतिनिधियोंकी देखरेखमें एक होकर काम कर सकें, तो यह आगेकी दिशामें उठाया गया एक बहुत बड़ा कदम होगा । दूसरी ओर, यदि रचनात्मक कार्यकर्ता अपने आपसी सम्बन्धोंमें अहिंसाको प्रकट नहीं कर सके और आपसमें मिलकर काम न कर सके, तो अपने आसपासके लोगों पर वे कोई प्रभाव नहीं डाल सकेंगे ।

विविध संघोंने अब तक एक-दूसरेसे अलग और स्वाधीन रहकर काम किया है । उनके एकसाथ मिल जानेसे व्यवस्था-खर्च घट जायगा । उदाहरणके लिए, चरखा-संघ और ग्रामोद्योग-

संघके अलग अलग गोदाम और बिक्री-भंडार क्यों रहें ? चरखा-संघके तंत्रका दोनोंकी प्रवृत्तियोंको आगे बढ़ानेके लिए क्यों न उपयोग हो ? इसके सिवा, रचनात्मक कार्यकर्ताओंके बालकोंकी शिक्षाका भी प्रश्न है । इसे हिन्दुस्तानी तालीमी संघ क्यों न हाथमें ले ले ? क्या यह तालीमी संघका काम नहीं है ? "यदि हम ऐसी बातोंमें भी सहयोग नहीं करेंगे, तो इससे यह सिद्ध होगा कि हमने यह नहीं समझा है कि सत्य और अहिंसा कैसे काम करते हैं ।"

इस कायापलटका भार गांधीजीने हिन्दुस्तानी तालीमी संघके कन्धों पर रखा । वास्तवमें यह सर्वांगीण दृष्टिवाले शिक्षाकारका कर्तव्य था । जैसा गांधीजी समझते थे, देशके सामने सारी समस्या "प्रौढ़शिक्षाकी समस्या" थी । सम्प्रदायवादकी चुनौती भी थी, जो उस वस्तुके आधारके लिए ही खतरा बन गई थी जिसके लिए हम इतने वर्षों तक लड़े थे । वह वस्तु थी असाम्प्रदायिक राज्य। "इस सम्बन्धमें लोगोंके गलत मानसको सुधारनेकी समस्या वस्तुत: प्रौढ़शिक्षाकी समस्या है और इसलिए वह तालीमी संघका कार्य है ।" तालीमी संघका फर्ज है कि वह इस कामके लिए अपनेको योग्य बनाये । इस दिशामें गांधीजीने पहला कदम यह सुझाया कि संघके प्रत्येक सदस्यको अधिकसे अधिक आत्मशुद्धि कर लेनी चाहिये । इसके कुछ दिन बाद गांधीजीने तालीमी संघके एक प्रमुख सदस्यको जो पत्र लिखा था वह यहां उदाहरणका काम देगा : "वर्षों पहले 'अ' ने मुझे बताया था कि तुम पूरी तरह सच्चे नहीं हो । . . . उन्होंने मुझे यह भी कहा था कि तुम अहंकारसे भी मुक्त नहीं हो । जहां अहंकार है वहां अहिंसा नहीं हो सकती । . . . मुझे जो कुछ बताया गया है वह यदि सच हो, तो जो बड़ा काम तुमने अपने कन्धों पर ले रखा है वह फले-फूलेगा नहीं, या वह अपना नाम सार्थक नहीं करेगा । इससे अतिशय दुखी न होना । यदि इसमें सचाई हो तो खुले दिलसे अपना दोष स्वीकार कर लो और इस अवसरको आगे बढ़नेके लिए साधन बना लो ।" गांधीजीने अपने लाक्षणिक ढंगसे उस पत्रका अन्त यों किया : "हमारे राष्ट्रीय प्रयत्नकी आजकी मंजिलको मैंने प्रौढ़शिक्षाका एक विशाल सर्वांगीण प्रयोग बताया

है । इसमें मेरे सहित हम सब शामिल हैं । क्या मैं बुनियादी शिक्षाके सारे विचारका मुख्य प्रचारक और जन्मदाता नहीं हूं ?"

चर्चाके दौरान डॉ. जाकिर हुसैन बोले : "अगर विविध संघोंका एक समग्र संगठन बन जाता है, तो उसके लिए सत्ताकी राजनीतिसे अलग रहना सम्भव नहीं होगा ।"

गांधीजी : "मैं नहीं चाहता कि रचनात्मक कार्यकर्ताओंका सम्मिलित संगठन किसी भी तरहसे कांग्रेस या सरकारका प्रतियोगी बन जाय । यदि रचनात्मक कार्यकर्ताओंका सम्मिलित संगठन सत्ताकी राजनीतिमें पड़नेकी कोशिश करेगा, तो वह नष्ट हो जायगा । . . . सत्तासे दूर रहकर मतदाताओंकी शुद्ध स्वार्थरहित सेवामें लगे रहेंगे, तो हम उनका पथप्रदर्शन कर सकते हैं और उन पर प्रभाव डाल सकते हैं । इससे हमें सरकारमें जानेकी अपेक्षा कहीं अधिक सच्ची सत्ता मिलेगी । एक स्थिति ऐसी आ सकती है जब लोग कहें कि वे हमें ही चाहते हैं, अन्य किसीका सत्तारूढ़ होना वे पसन्द नहीं करते । उस समय इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है । बहुत सम्भव है कि उस समय मैं जीवित न रहूं । परन्तु जब वह समय आयेगा तब संस्थाके अपने सेवकोंमें से ही कोई ऐसा निकल आयेगा, जो शासनकी बागडोर संभाल लेगा । **उस समय तक भारत एक आदर्श राज्य बन चुकेगा** ।"

डॉ. जाकिर हुसैन : "क्या आदर्श राज्यकी स्थापना करनेके लिए हमें आदर्श मनुष्योंकी जरूरत नहीं होगी ?"

गांधीजी : "हम स्वयं सरकारमें न जाकर अपनी पसन्दके आदमी भेज सकते हैं । आज तो कांग्रेसमें हर आदमी सत्ताके पीछे दौड़ रहा है । हमें सत्ताके भूखोंकी चिल्लाहटमें शरीक न होकर . . . सत्ताकी राजनीति और उसकी छूतसे बिलकुल दूर रहना चाहिये । रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंका उद्देश्य राजनीतिक सत्ताको उत्पन्न करना है, न कि उसे हथियाना । लेकिन अगर हम यह कहें कि राजनीतिक सत्ता प्राप्त हो जानेके बाद वह हमारे परिश्रमके पुरस्कारके रूपमें हमारी होनी चाहिये, तो इससे हमारा पतन होगा ।

"चरखा-संघको ही लीजिये । रचनात्मक कार्यकी सब संस्थाओंमें इसकी सदस्य-संख्या सबसे बड़ी है । फिर भी मैंने उसके सदस्योंको कांग्रेसके सदस्य बनवानेकी कभी कोशिश नहीं की । एक बार मुझे यह सुझाया गया था, परन्तु मैंने उसका विरोध किया था । मैंने पूछा, क्या हम कांग्रेस पर अधिकार करना चाहते हैं ? यह तो आत्महत्या करनेके बराबर होगा । कांग्रेस सेवाके अधिकारसे ही हमारी बन सकती है । वास्तवमें हुआ यह कि आम चुनावोंके समय गांवोंके लोग हमारे पास आकर हमसे सलाह पूछते थे कि वे वोट किसे दें; क्योंकि वे जानते थे कि हम उनके सच्चे सेवक बनकर आये हैं और हमें अपना कोई स्वार्थ नहीं साधना है । आज हमारी अपनी सरकार है । वयस्क मताधिकारमें अगर हम जनताके सच्चे सेवक हैं, तो लोगों पर हमारा इतना असर होना ही चाहिये कि हम जिसे पसन्द करें वही आदमी चुना जाय । राजनीति आजकल भ्रष्ट हो गई है । जो उसमें जाता है वह अपवित्र हो जाता है । हम उससे बिलकुल दूर रहें । इससे हमारा प्रभाव बढ़ेगा । हमारी भीतरी शुद्धता जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक कोई प्रयत्न न करने पर भी लोगों पर हमारा प्रभाव होगा ।

"आप लोग यहां कांग्रेसके रचनात्मक पक्षके रूपमें एकत्र हुए हैं । मैंने जो कुछ आपसे कहा है उसे यदि आपने पचा लिया है, तो इससे आपको हर जगह बुराईको मिटानेका बल मिलना चाहिये । इसके लिए आपको कांग्रेस संगठनमें किसी सत्ताके स्थान पर जानेकी आवश्यकता नहीं । आपका काम जन-साधारणमें है । आपको गांवोंमें नवजीवनका संचार करना है, उन्हें सम्पन्न बनाना है तथा उन्हें अधिक शिक्षा देना और अधिक शक्तिशाली बनाना है ।"

कार्यकर्ताओंने अपनी कठिनाई पेश की : संविधान-सभा भारतीय संघके लिए संविधान तैयार कर रही है । कांग्रेस-जन हमेशा यह कहते रहे हैं कि ग्राम-पंचायत देशकी भावी राज्य-व्यवस्थाकी बुनियाद होनी चाहिये । परन्तु जो संविधान बनाया जा रहा है उसमें ग्राम-पंचायतका नाम तक नहीं है । यदि उसमें गांवको उचित स्थान न मिला, तो उससे देशको क्या लाभ होगा ? क्या रचनात्मक कार्यकर्ताओंको ऐसा होने देना चाहिये ?

गांधीजी : "मैं यह अच्छी तरह जानता हूं । हमें इस सत्यको मान लेना चाहिये कि हम जो संविधान चाहते हैं या जिस समाज-व्यवस्थाके सपने हम देखते हैं, वह आजकी कांग्रेस द्वारा हमें नहीं मिल सकते । इसकी आपको चिन्ता भी नहीं होनी चाहिये । कोई नहीं जानता कि संविधानका अंतिम स्वरूप क्या हो गा। इसलिए मैं आपसे कहता हूं कि संविधान बनानेकी बात उन लोगों पर छोड़िये, जो उसके लिए परिश्रम कर रहे हैं । उसमें परिवर्तन करानेकी चिन्ता न कीजिये । हमारे लिए इतना काफी होना चाहिये कि जो संविधान हमें मिले वह सचमुच रचनात्मक कार्यके मार्गमें बाधक न बने । कुछ भी हो, संविधान बनानेका काम तो चंद महीनोंमें पूरा हो जायगा । उसके बाद क्या ? उस पर अमल कराने और उसे सफल बनानेकी जिम्मेदारी आप पर रहेगी । मान लीजिये कि आपको संविधान तो मनचाहा मिल गया, परन्तु वह काम नहीं करता । पांच वर्षके बाद कोई यह कहेंगे, 'आप अपना खेल खेल चुके, अब हमें मौका दीजिये ।' आपको झुकना ही पड़ेगा । और संभव है वे लोग सत्ता पर अधिकार करने, तानाशाही स्थापित करने और कांग्रेसका गला घोंट देनेका प्रयत्न करें । दूसरी ओर, मान लीजिये कि आप सत्ता तो हाथमें नहीं लेते, परन्तु लोगों पर आपका प्रभाव जम जाता है । तब आप चुनावमें जिसे भी चाहेंगे निर्वाचित करा सकेंगे । इसलिए जब तक मतदाता आपके हाथमें हैं तब तक सरकारके सदस्य बननेकी बातको भूल जाइये । जड़को संभालियें । शुद्धताको एकमात्र कसौटी बना लीजिये । मुट्ठीभर लोगों में भी यह भावना होगी, तो वे सारे वायुमण्डलको बदल देंगे । लोग जल्दी ही फर्कको समझ लेंगे और उसके अनुसार काम करनेमें उन्हें देर नहीं लगेगी । आपका काम भारी और कठिन है । परन्तु उसमें बहुत बड़ी संभावनायें भरी हैं ।"

कार्यकर्ता : "लोग हमारे साथ हैं, परन्तु सरकार हमारे प्रयत्नोंमें बाधक होती है । हम क्या करें ?"

गांधीजी : "अगर लोग आपके साथ हैं, तो सरकारको आपके अनुकूल बनना ही होगा । वह नहीं बनेगी तो हटा दी जायगी और उसकी जगह दूसरी सरकार बिठा दी जायगी ।"

कार्यकर्ता : "परन्तु कांग्रेससे हम यह काम क्यों नहीं करा सकते ?"

गांधीजी : "क्योंकि कांग्रेस-जनोंको रचनात्मक कार्यमें पूरी दिलचस्पी नहीं है । अगर होती तो आज हमारे यहां इकट्ठे होनेकी जरूरत न रहती ।"

कार्यकर्ता : "जब कांग्रेसकी यह मनोवृत्ति है, तो कांग्रेसके विधानमें रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंको स्थान देनेसे क्या लाभ ?"

गांधीजी : "इसलिए कि विधान लोगोंके मानसका निर्माण करता है । संभव है कि अन्तमें हम कांग्रेसियोंसे वे बातें न करा सकें, जिनमें विश्वास रखनेका वे दावा करते हैं । परन्तु यह देखना हमारा कर्तव्य होना चाहिये कि हमारी उपेक्षा या आलस्यके कारण हमारा पक्ष हार न जाय ।"

कार्यकर्ता : "विधान-सभाओंमें मजदूरोंके प्रतिनिधि हैं । विश्वविद्यालयोंके लिए भी विशेष स्थान सुरक्षित रहते हैं । तब कांग्रेस महासमितिमें हमारे कार्योंके आधार पर रचनात्मक कार्यकर्ताओंके प्रतिनिधि क्यों न होने चाहिये ? उस आधार पर चुन लिये जाने पर वे महासमितिके राजनीतिक कार्यमें भी भाग लेंगे ।"

गांधीजी : "नहीं, यह मिश्रण नहीं होना चाहिये । कार्यके आधार पर प्रतिनिधित्व हो यह ठीक है । परन्तु महासमितिके राजनीतिक कार्यमें यदि रचनात्मक कार्यकर्ता फंस जायं, तो वहां इतना अधिक भ्रष्टाचार है कि मुझे उसका डर लगता है । हर आदमी अपनी जेबमें बहुतसे वोट रख कर चलना चाहता है, क्योंकि वोटोंसे सत्ता मिलती है । वयस्क मताधिकारमें किसीको भी, जो योग्य है, वोट देनेका अधिकार है । परन्तु वयस्क मताधिकारको राजनीतिक सत्ता हथियानेका साधन समझना संविधानका दूषित उपयोग करना होगा । इसलिए आपको मेरा सुझाव यह है कि विविध रचनात्मक संस्थाएं एक संस्थाका रूप ले लें और कांग्रेस कार्यसमिति तथा महासमिति उससे अपने प्रतिनिधि भेजनेको कहे, जो रचनात्मक कार्य सम्बंधी नीति निर्धारित करनेमें उसे सलाह और मार्गदर्शन दें । कांग्रेसने हमें अपना नाम और प्रतिष्ठा दी है । बदलेमें उसे हमसे बल और प्रतिष्ठा मिलती है, क्योंकि हम उसके सच्चे सेवकोंके रूपमें लोगोंकी सेवा करते

हैं। कांग्रेसेके साथ रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंका शुद्ध नैतिक सम्बन्ध है। वह किसी भी समय तोड़ा जा सकता है। विशेषज्ञ होनेके नाते हमारा फर्ज है कि हम कांग्रेसको यह सलाह दें कि क्या कार्य करनेकी जरूरत है। अहमदाबाद मजदूर-संघ, चरखा-संघ, गोसेवा-संघ, ग्रामोद्योग-संघ, तालीमी संघ, व्यवसाय-संघ (चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स) आदि अनेक संस्थायें हैं। कांग्रेस उन सबकी प्रतिनिधि होनेका दावा करती है, यद्यपि संगठनकी दृष्टिसे सबका उसके साथ सम्बंध नहीं है। आप सारी जीवंत संस्थाओंको अपने साथ ले लीजिये। अपने भीतरसे सारी गंदगी निकाल कर शुद्ध बन जाइये, सत्ता हथियानेका विचार ही छोड़ दीजिये; तब आप सत्ताका मार्गदर्शन कर सकेंगे और उसे ठीक मार्ग पर रख सकेंगे। इसीमें सामान्य जनताकी मुक्ति है। इसके लिए और कोई मार्ग नहीं है।"

५

एक चीनी आगन्तुकने एक बार गांधीजीसे पूछा : "क्या प्रेमको संगठित किया जा सकता है ?" गांधीजीने उत्तर दिया : "रूढ़ अर्थमें प्रेमका संगठन भले संभव न हो, परन्तु सम्मिलित अहिंसक कार्रवाई करनेमें कोई रुकावट नहीं है। . . . उसकी अपनी एक निराली कार्य-पद्धति है।" [हरिजन, २८ जनवरी १९३९, पृ. ४४३]

गांधीजी सदा कहा करते थे कि "पूर्ण अहिंसाको न तो वाणीकी मदद चाहिये, न लेखनीकी। . . . उसे संगठित बलकी तो आवश्यकता है ही नहीं। जो पुरुष या स्त्री अहिंसासे ओतप्रोत है, उसकी इच्छा मात्रसे सब-कुछ हो जाता है।" [हरिजन, १८ अगस्त १९४०, पृ. २५३]

इससे कुछ लोग, जिनमें गांधीजीके कुछ निकटतम साथी भी थे, पूछने लगे : "क्या अहिंसामें संगठनका कोई स्थान हो सकता है ? क्या दोनों बेमेल चीजें नहीं हैं ? हमारे खयालसे दोनोंमें मेल नहीं बैठ सकता।" गांधीजीका मत उनसे भिन्न था। वे संगठनको सच्ची अहिंसाकी कसौटी मानते थे। उन्होंने कहा : पूर्ण अहिंसाके बारेमें मैंने जो कल्पना बनाई है उसका चित्र मैं अपने लिए तो खींच सकता हूं, परन्तु इसका अनुभव मुझे स्वयं इतना थोड़ा है कि मैं उस पर

आधार रखनेके लिए दूसरोंसे नहीं कह सकता । अहिंसा मेरी दृष्टिसे केवल आध्यात्मिक परम गति – व्यक्तिगत मोक्षका साधन – ही नहीं है, परन्तु प्रवृत्तिका एक साधन भी है, जिसका जन-साधारण सामाजिक और व्यक्तिगत अन्याय दूर करानेके लिए भी उपयोग कर सकते हैं । संगठनका अर्थ है निश्चयोंको प्रभावशाली पृष्ठबल प्रदान करनेकी शक्ति । इसलिए जो अहिंसा सत्य और न्यायकी रक्षाके लिए समाजकी इच्छा पर अमल करानेकी प्रभावशाली शक्ति पैदा नहीं कर सकती, उसकी गांधीजीकी दृष्टिमें बहुत थोड़ी कीमत थी । इसीलिए वे अहिंसक संगठनके रहस्यकी खोजमें थे ।

अहिंसक संगठनके सिद्धान्त हिंसक संगठनके सिद्धान्तोंसे कई बातोंमें भिन्न है । जैसा गांधीजीने कहा है: “भलाईकी शक्तियोंको संगठित करनेकी पद्धति बुराईकी शक्तियोंको संगठित करनेकी पद्धतिसे विपरीत ही होगी । वह पद्धति निश्चित रूपसे क्या है, यह मुझे अभी तक पूरी तरह मालूम नहीं ।” वे प्रयोग ही कर रहे थे कि कालने उन्हें उठा लिया । परन्तु इनमें से कुछ सिद्धान्तोंका अध्ययन सजीव रूपमें गांधीजीकी विविध रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंके स्वरूप, विधान और कार्य-पद्धतिमें किया जा सकता है । उन सबमें कुछ असंगत या परस्पर-विरोधी बातें पाई जाती हैं ।

उदाहरणके लिए, उन सबके पीछे कांग्रेसका बल और स्वीकृति थी, परन्तु वे कांग्रेससे स्वतंत्र रह कर काम करती थीं । कांग्रेसका उन पर कोई अधिकार या नियंत्रण नहीं था । इससे भिन्न या असमान आदर्श रखनेवाले मंडलों और संस्थाओंमें, अपने आदर्शोंके साथ कोई समझौता किये बिना, सहयोग स्थापित करनेकी कठिन समस्या हल हो गई । यह समस्या आदर्शवादियोंके लिए हमेशा एक झूठा भय रहा है । कांग्रेस एक ही तरहके लोगोंका संगठन नहीं है । उसने अहिंसाको नीतिके रूपमें अपनाया है, जिसे वह जब भी चाहे बदल सकती है । उधर रचनात्मक कार्यकी संस्थाएं गांधीजीकी कल्पनाके अनुसार विशुद्ध अहिंसाके सृजनका साधन थीं । इस उदाहरणमें जब तक कांग्रेस विशुद्ध अहिंसाकी नीति पर कायम रही तब तक विविध रचनात्मक

कार्यकी संस्थाओंकी प्रवृत्तियोंसे उसे बल मिला । परन्तु रचनात्मक कार्यकी संस्थाएं कांग्रेसके पचमेल स्वरूपसे या कांग्रेसकी नीतिमें परिवर्तन होनेसे अप्रभावित रहीं ।

इन संस्थाओंकी दूसरी विशेषता यह थी कि यद्यपि इन सबका निश्चित राजनीतिक उद्देश्य था, फिर भी इनकी प्रवृत्तियां बिलकुल अराजनीतिक थीं । राजनीतिको अपनी प्रवृत्तियोंसे सावधानीपूर्वक अलग रख कर और साधन पर अर्थात् लोगोंके अहिंसक संगठन पर ही समूचा ध्यान केन्द्रित करके ये सब विलक्षण राजनीतिक परिणाम पैदा कर सकीं ।

अन्तमें, ये संस्थाएं लोकतंत्रके निर्माणका साधन तो थीं, परन्तु स्वयं इस अर्थमें लोकतांत्रिक नहीं थीं कि उनकी कार्यकारिणी समितियां जनताके मतसे या सदस्योंके मतसे चुनी हुई नहीं थीं । कोई सुधारक या किसी क्षेत्रमें नया मार्ग बनानेवाला व्यक्ति बहुमतके निर्णयों पर चलनेके अर्थमें लोकतांत्रिक नहीं हो सकता । उसका काम मार्ग दिखाना है, शिक्षा देना है । गांधीजीने अपने कार्यकर्ताओंसे कहा था : "यदि आप मेरी सेनाके सैनिक बनें, तो समझ लीजिये कि उस संगठनमें लोकतंत्रकी कोई गुंजाइश नहीं है । सेना एक लोकतांत्रिक संगठनका अंग हो सकती है, परन्तु उसमें लोकतंत्र नहीं है सकता – जैसे कि किसी बैंकके संचालनमें नहीं हो सकता, जैसे हमारी विभिन्न संस्थाओं, अखिल भारत चरखा-संघ, अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ आदिमें नहीं है । किसी भी सेनामें सेनापतिका आदेश ही कानून होता है और उसकी शर्तें ढीली नहीं की जा सकतीं । [हरिजन, ३० मार्च १९४०, पृ. ७०]

हरिजन-सेवक-संघमें एक और विरोथी लक्षण था । यद्यपि वह अस्पृश्यताको जड़-मूलसे मिटा देनेके और हरिजनोंकी दशा सुधारनेके उद्देश्यसे स्थापित किया गया था, फिर भी उसकी कार्यकारिणीमें "सवर्ण" हिन्दुओंको ही लिया गया था । हरिजनोंको उसमें स्थान नहीं मिला था । उस समय इस बातसे बहुत लोग परेशानीमें पड़ गये थे । परन्तु गांधीजी इस प्रश्न पर दृढ़ थे । हरिजन-सेवक-संघका काम किसी विशेषाधिकारका दावा करने या किसी पर कृपा करनेका नहीं था, परन्तु ऋण उतारनेका था । गांधीजीकी कल्पनामें वह "प्रायश्चित्त करनेवालोंका समाज"

था । इस मामलेमें पापी "सवर्ण" हिन्दू थे, इसलिए उन्हींको हरिजनोंकी सेवा करके और "सवर्ण" हिन्दू लोकमतको हिन्दू धर्मके माथेसे अस्पृश्यताका कलंक दूर करनेकी शिक्षा देकर प्रायश्चित्त और पाश्चात्ताप करना था । जब तक अन्याय करनेवाले सच्चा पाश्चात्ताप प्रकट न करें तब तक अस्पृश्यता जड़से नहीं मिटायी जा सकती और पाश्चात्ताप दूसरोंके द्वारा नहीं किया जा सकता – स्वयं ही करना होता है ।

इन संस्थाओंकी कार्य-पद्धतिमें भी ये ही परस्पर-विरोधी तत्त्व प्रकट होते थे । उनके निर्णय बहुमतसे नहीं किये जाते थे, परन्तु पंचायतकी तरह "बड़े परिवारकी प्रणालीके सामान्य संयोजक सिद्धान्त" के आधार पर किये जाते थे । संस्थाके नियम सब संगठनों पर बन्धनकारक थे, परन्तु उनके निर्णयोंके पीछे एकमात्र बल नेताके नैतिक अधिकारका था ।

गांधीजीके व्यक्तित्वमें लोकतांत्रिक और सुधारक दोनों रूपोंका सम्मिश्रण था । प्रायः ये दोनों रूप बदलते रहते थे । जब उन्हें अपने लोकतांत्रिक रूपको सामने लानेकी आवश्यकता होती थी तब वे बहुमतके निर्णयों पर चलना स्वीकार कर लेते थे । इसके विपरीत, जब उन्हें सुधारक या अग्रणीका भाग अदा करना पड़ता था, तब वे या तो अपने आश्रमके द्वारा अथवा सत्याग्रह समिति या किसी कामचलाऊ मंडलके द्वारा काम करते थे, जहां बहुमतका नियम लागू नहीं होता था । कभी कभी उनके ये दोनों प्रकारके कार्य एक-दूसरेके साथ मिल जाते थे । तब वे शुद्ध व्यक्तिगत रूपमें काम करते थे । इसके प्रमुख उदाहरण तब सामने आते थे जब वे जनताके स्वाभिमानकी रक्षाके लिए स्थापित सत्ताके विरुद्ध "एक व्यक्तिका विद्रोह" घोषित करते थे या अपनी "अन्तरात्माकी आवाज" को सुनकर किसी सामाजिक या सरकारी अन्यायके विरोधमें उपवास शुरू कर देते थे ।

कांग्रेसका काम दोहरा था । शान्तिकालमें वह लोकतांत्रिक संस्था रहती थी । "युद्ध" कालमें वह अहिंसक सेना बन जाती थी । इस दूसरी हैसियतमें उसके पास मतदानकी शक्ति नहीं होती थी । उसकी इच्छा जो भी उसका सेनापति होता वह प्रकट करता था । प्रत्येक घटकको

मन, वचन और कर्मसे स्वेच्छापूर्वक उसकी आज्ञाका पालन करना पड़ता था । "हां, मनसे भी, क्योंकि युद्ध अहिंसक है ।" [हरिजन, १८ नवम्बर १९३९, पृ. ३४४]

राष्ट्रीय संकटके समय जब गांधीजीसे किसी सत्याग्रह-युद्धमें लोगोंका नेतृत्व करनेको कहा जाता था, तब वे पूरी सत्ताके साथ अपनेको "सर्व सत्ताधारी" चुनवा लेते थे; या वे मत द्वारा अपनेको राष्ट्रका एकमात्र प्रतिनिधि स्वीकार करा लेते थे, जब उन्हें राष्ट्रकी ओरसे नाजुक समझौता-वार्ता चलानेको कहा जाता था—जैसा कि दूसरी गोलमेज परिषद्के समय हुआ था । परन्तु "सर्वसत्ताधारी" के नाते उनकी सत्ताका एकमात्र आधार उनका नैतिक अधिकार था, इसलिए उनकी "निरंकुशता" का विशुद्ध लोकतंत्रके साथ कोई विरोध नहीं होता था ।

रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंके मामलेमें उनके संविधानके स्वरूप और उनके उद्देश्यके बीच जो प्रकट विरोध दिखाई देता था, उसे गांधीजीने अपने इस आग्रहसे मिटा दिया था कि संस्थायें अपने अपने कोष तो रख सकती हैं, परन्तु उनका पैसा उनके कार्यक्रमोंको कार्यान्वित करनेमें खर्च हो जाना चाहिये । उन्हें पैसा जमा करके नहीं रखना चाहिये, जिससे वे निश्चित निर्धारित आयके बल पर टिक सकें । इससे विवश होकर वे अपनी सेवाके द्वारा ही अपने अस्तित्वकी रक्षा कर सकेंगी । यदि वे अपनी जिम्मेदारी ठीक तरहसे अदा न कर सकेंगी या जनताका विश्वास प्राप्त नहीं कर सकेंगी या प्राप्त किये हुए विश्वासको कायम नहीं रख सकेंगी, तो जनताका समर्थन खतम हो जायगा और या तो उन्हें बन्द हो जाना पड़ेगा या अपने भीतर सुधार करना पड़ेगा । वे एक ही स्थितिमें कभी नहीं रह सकतीं । इससे उनके "अलोकतांत्रिक संविधान" के बावजूद उनके सच्चे लोकतांत्रिक स्वरूपकी रक्षा होनेंमें मदद मिलती थी ।

इनमें से कुछ लक्षण रचनात्मक कार्यकी विविध संस्थाओंके एकीकरणकी चर्चाके दौरान सक्रिय रूपमें प्रकट हुए थे । यह सबकी जानी हुई बात थी कि कुछ संस्थाओंके मुखिया मनमें एकीकरणके बारेमें कुछ दुराव रखते थे । एक सहयोगीने, जो सत्ताकी राजनीतिकी दृष्टिसे सोचते दिखाई दिये, सुझाया कि यह प्रश्न पहले विविध संस्थाओंके साधारण कार्यकर्ताओंके सामने रखा

जाय । फिर वे अपने निर्णय संस्थाओंके मुखियोंके सामने पेश करें । पदाधिकारियोंकी सभामें "जैसा चाहिये वैसा वातावरण" नहीं होगा; उनका दृष्टिकोण "संकीर्ण और आत्मनिष्ठ" होगा । गांधीजीको इसमें खतरेकी गंध आई । इसमें साधारण कार्यकर्ताओंके बहुमतसे बड़े सदस्योंको विवश करनेकी चालाकी दिखाई दी । गांधीजीने फौरन इसे दबा दिया । उन्होंने कार्यकर्ताओंसे कहा : "अहिंसक लोकतंत्र इस तरह काम नहीं करता । सामान्य कक्षाका कार्यकर्ता तो इस चीजको समझेगा भी नहीं । ऐसी चर्चामें उसकी बुद्धि काम नहीं करेगी । पहले संस्थाके आधारभूत लोग एकत्र हो जायं । फिर सबको शक्तिका प्रकाश अनुभव होगा ।"

अन्तमें यह निर्णय हुआ कि एकीकरणके प्रश्नको शान्तिके वातावरणमें दूसरी सभामें हाथमें लिया जाय, जो राजधानीकी राजनीतिक गरमी और उसके कोलाहलसे दूर हो और वह सेवाग्राममें रखी जाय तो ठीक हो ।

गांधीजीका पत्र किशोरलाल मशरूवालाको

२९ जनवरी, १९४८

मैंने यहां साथियोंके समक्ष ३ से १२ फरवरी तक सेवाग्राममें रहनेकी बात रखी है। मेरे वहां आनेका हेतु अलग अलग रचनात्मक कार्यकी संस्थाओंका एकीकरण होगा ।

परन्तु यह हो नहीं सका ।

६

जुंगने आजकलके लोकतंत्रको "सौम्य गृहयुद्धकी सदा बनी रहनेवाली स्थिति" बताया है। हमारी युद्धके लिए प्रवृत्त करनेवाली वृत्तियां जड़से नष्ट नहीं की जा सकतीं । मनोविज्ञानकी दृष्टिसे कहें तो लोकतंत्र एक ऐसा उपाय है, जिससे संघर्ष अपने राष्ट्रीय क्षेत्रक भीतर जारी रखा जा सकता है, यानी जो युद्धके मोर्चेको भीतरकी ओर मोड़ देता है । लोकतंत्रमें "हमारी युद्ध-वृत्तियां भीतरी झगड़ोंका रूप ले कर शांत हो जाती हैं । इन झगड़ोंको 'राजनीतिक जीवन' कहा

जाता है । हम कानून और संविधानकी सीमामें रह कर एक-दूसरेसे लड़ते हैं ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेंट्स', लंदन, १९४७, पृ. १५] लोकतंत्रमें लोग बाहरी संघर्षोंमें पड़ना पसन्द नहीं करते, क्योंकि वे अपना भीतरी झगड़ा बिना किसी रोकटोकके जारी रखनेको आजाद रहना चाहते हैं । उनके "बाहरी शांतिपूर्ण व्यवहार" का यही कारण है । परन्तु इससे हमारे बीचके झगड़े मिट नहीं जाते । "हम आपसके व्यवहारमें शांतिसे कोसों दूर रहते हैं; इसके विपरीत, हम एक-दूसरेसे द्वेष और लड़ाई करते हैं, क्योंकि हम युद्धके मुंहको भीतरकी ओर मोड़ देनेमें सफल हुए हैं ।" [वही, पृ. १५-१६] यह तत्त्वत: एक बड़ी प्रगति है । परन्तु अभी हम अपने लक्ष्यसे बहुत दूर हैं । "अभी हमारे भीतर वासनारूपी शत्रु तो पड़े हैं । हम अपने राजनीतिक संघर्षोंको इन वासनारूपी शात्रुओंसे लड़े जानेवाले युद्धका रूप नहीं दे पाये हैं । . . . प्रत्येक व्यक्ति अपनी छायाको देख सके और जो वास्तवमें लड़ने जैसा एकमात्र युद्ध है उसे व्यक्तिगत मानसिक जीवनमें आरंभ कर सके, तो राष्ट्रीय क्षेत्रमें हमारे हलके स्वरूपवाले युद्धकी स्थितिका भी अंत हो जाय । यह एकमात्र युद्ध हमें अपनी छायाकी सत्ताकी अनन्त एषणाके विरुद्ध लड़ना है । . . . लोग यदि अपनी युद्धकी वासनाको हृदयसे निकाल सकें, तो हमारी समाज-व्यवस्था पूर्ण बन जाय ।" [वही]

इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी जरूरत है । हमारे भीतर हमारे दैवी और आसुरी स्वभावोंके बीच सतत संघर्ष होता रहता है । परन्तु हमारे भीतरके पशुका दमन करनेके लिए जो निरन्तर कठोर प्रयत्न करना पड़ता है वह स्वयं अप्रिय होता है । इसलिए हम बिलकुल अनजाने ही कमसे कम विरोधका मार्ग चुनते हैं और अप्रिय सत्यको अपने जाग्रत मनसे दूर हटा कर अपनी खतरनाक स्थितिसे बचना चाहते हैं । इससे हमारे मनमें दबी हुई शत्रुता ही हमारे पास रह जाती है । वह संग्राममें अपनेको प्रकट नहीं कर पाती, इसलिए वह किसी ऐसी बाह्य वस्तु पर जम जाती है जिसमें वह विशेष लक्षण प्रकट होता है; और फिर वह वस्तु भी हमारी घृणाका पात्र बन जाती है । इस प्रकार युद्ध बुराईके विरुद्ध न चल कर उसकी छायाके विरुद्ध चलता है । जुंग हमें बताते हैं : "जो भी चीज हमारी मानसिक सूचीमें से अदृश्य हो जाती है, वह किसी वैरी पड़ोसीके

रूपमें फिर सामने आ सकती है । वहां वह अनिवार्य रूपमें हमारे रोषको भड़का कर हमें आक्रमणकारी बना सकती है । यह जान लेना निश्चित रूपसे अधिक अच्छा है कि हमारा सबसे बुरा शत्रु हमारे अपने हृदयमें बैठा है ।" [वही, पृ. १६-१७]

गांधीजीने कहा है कि जब हमारे चारों ओर बुराई फैले तब उसका कारण हमें अपने भीतर ही खोजना चाहिये । अपने आसपासके वातावरणके कारण और कर्ता हमीं हैं । जो हमारे भीतर है वही बाहर प्रकट होता है । जैसे हम होते हैं वैसा ही हमारा विश्व बन जाता है । अपने वातावरणको ठीक करनेके लिए हमें आत्म-निरीक्षण करना चाहिये और अपने उत्साहको अपनी ही त्रुटियोंके विरुद्ध धर्मयुद्ध करनेमें लगाना चाहिये । फिर न तो हमें किसीसे द्वेष होगा, न हम किसीका दोष देखेंगे । हम किसी पर प्रभुत्व नहीं जमायेंगे, परन्तु सारी दुनियाके साथ शान्तिसे रहेंगे ।

इस तरह मानें तो लोकतंत्रका प्रश्न आत्म-विजयकी सिद्धिका प्रश्न बन जाता है । अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में गांधीजीने इसीलिए स्वराज्यकी व्याख्या "अपने पर शासन" की है । "स्वराज्यका धात्वर्थ स्वशासन अथवा आत्म-संयम है ।" [यंग इंडिया, २ जुलाई १९३१, पृ. १६२] "हम जो बाहरी स्वतंत्रता . . . प्राप्त करेंगे वह ठीक उसी अनुपातमें होगी जिस अनुपातमें हमने आंतरिक स्वतंत्रताका अपने भीतर किसी समय विकास किया होगा ।" [यंग इंडिया, १ नवम्बर १९२८, पृ. ३६३]

गांधीजी मानते थे कि राजनीतिक स्वशासन चूंकि विशाल संख्याके स्त्री-पुरुषोंके लिए स्वशासन है, इसलिए वह व्यक्तिगत स्वशासनसे अधिक अच्छा नहीं हो सकता और इस कारण वह "ठीक उन्हीं उपायोंसे प्राप्त किया जा सकता है जिनकी व्यक्तिगत स्वशासन या स्वराज्यके लिए आवश्यकता होती है ।" [महादेव देसाई, 'विथ गांधीजी इन सिलोन', मद्रास, १९२८, पृ. ९३] वे अपनेको "दार्शनिक अराजकतावादी" कहते थे । उनकी दृष्टिमें राजनीतिक सत्ता अपने आपमें कोई लक्ष्य नहीं था, परन्तु लोगोंकी दशा सुधारनेका "एक उपाय" था । "राजनीतिक सत्ताका

अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियोंके द्वारा राष्ट्रीय जीवनका नियमन करनेकी क्षमता । यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण बन जाय कि वह अपना नियमन स्वयं कर ले, तो किसी प्रतिनिधित्वकी जरूरत ही न रहे ।" [यंग इंडिया, २ जुलाई १९३१, पृ. १६२]

गांधीजी इस विचारको स्वीकार नहीं करते थे कि राज्य "मानव-संगठनका स्वाभाविक, आवश्यक और अंतिम रूप है" (हेगेल), जिसमें समस्त व्यक्तिगत सदाचार और स्वातंत्र्य विलीन हो जाते हैं और जिसके बाहर न कोई नैतिकता हो सकती है, न स्वतंत्रता हो सकती है और न कोई सामाजिक भलाई हो सकती है; अथवा "बल-प्रयोग करनेमें . . . राज्य सारे नागरिकोंकी स्वतंत्रताको आगे बढ़ाता है" (ग्रीन) । इसके विपरीत, गांधीजी "भूल करनेकी स्वतंत्रता और भूल सुधारनेके कर्तव्यको" [गुजरात राजनीतिक परिषद्में गांधीजीका भाषण, 'स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी', चौथा संस्करण, पृ. ४०८] स्वराज्य या स्वाधीनताकी आत्मा मानते थे और चुनावकी स्वतंत्रताको नैतिक कर्मकी आवश्यक पूर्वशर्त समझते थे । "जब तक हम यंत्रोंकी तरह काम करते हैं तब तक नैतिकताका कोई प्रश्न नहीं उठ सकता । यदि हम किसी कृत्यको नैतिक कहना चाहते हैं, तो वह बुद्धिपूर्वक और कर्तव्य समझ कर किया हुआ होना चाहिये । . . . कोई कृत्य तब तक नैतिक नहीं कहा जा सकता जब तक वह नैतिक हेतुसे प्रेरित न हो ।" [गांधीजी, 'एथिकल रिलीजन', मद्रास, १९२२, पृ. ३९-४०] इसलिए "स्वतंत्र रहकर गलतियां करना उनसे बचनेके लिए गुलामीमें रहनेसे ज्यादा अच्छा" है; इसका सादा कारण यह है कि "जो मनुष्य दबावसे भरा बना रहता है उसका मन सुधर नहीं सकता, वास्तवमें वह अधिक बुरा बनता है । और जब बाहरी दबाव हट जाता है तब उसके सारे दोष और भी जोरके साथ ऊपर आ जाते हैं ।" [हरिजन, २९ सितम्बर १९४६, पृ. ३३३]

इस प्रकार गांधीजीके मतानुसार आदर्श राज्य "व्यवस्थित अराजकता" या "ज्ञानपूर्ण अराजकताकी स्थिति" होगी । 'ऐसे राज्यमें प्रत्येक मनुष्य अपना राजा होगा । वह अपने ऊपर इस ढंगसे शासन करेगा कि अपने पड़ोसियोंके लिए वह कभी बाधा नहीं बनेगा । इसलिए आदर्श

राज्यमें कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होगी, क्योंकि उसमें कोई राज्य नहीं होगा ।" [यंग इंडिया, २ जुलाई १९३१, पृ. १६२]

किन्तु व्यवहारमें यह आदर्श "कभी भी पूरी तरह साकार नहीं होता।" [वही] गांधीजी स्वीकार करते हैं कि "संसारमें कहीं भी सरकारके बिना कोई राज्य नहीं होता ।" [हरिजन, १५ सितम्बर १९४६, पृ. ३०९] परन्तु इससे किसीको चिन्तित होनेकी जरूरत नहीं । "यूक्लिडकी रेखाकी कोई चौड़ाई नहीं होती । परन्तु आज तक कोई वैसी रेखा खींच नहीं सका है और न आगे कभी खींच सकेगा । फिर भी आदर्श रेखाको ध्यानमें रखनेसे ही हमने भूमितिमें प्रगति की है ।" [वही] जो बात यूक्लिडकी रेखाके बारेमें सच है, वही प्रत्येक आदर्शके बारेमें सच है । "मैं मानता हूं कि लोगोंका विशाल बहुमत अहिंसक हो, तो राज्यका शासन अहिंसक आधार पर चलाया जा सकता है ।" [हरिजन, १३ अप्रैल १९४०, पृ. ९०] "यदि हम ऐसे समाजकी स्थापनाके लिए कार्य करते रहें, तो वह धीरे धीरे इस हद तक अस्तित्वमें आ जायगा कि लोग उससे लाभ उठा सकें।" [हरिजन, १५ सितम्बर १९४६, पृ. ३०९] गांधीजीकी यह दृढ़ श्रद्धा थी कि यदि संसारमें कोई एक देश ऐसा है जहां ऐसा समाज अस्तित्वमें आ सकता है तो वह भारत है । कारण "हमारा ही देश ऐसा है जहां कमसे कम इस तरहका प्रयत्न तो किया गया है ।" [वही]

परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे किसी न किसी तरहका राज्य होना ही चाहिये और कोई भी अपने नामको सार्थक करनेवाला राज्य अराजकताका फैलना बरदाश्त नहीं कर सकता, इसलिए गांधीजीने ऐसी सरकारका लक्ष्य हमारे सामने रखा, जो "मुख्यतः अहिंसक सरकार हो" या ऐसी सरकार हो जो "कमसे कम शासन करती है" । वही सरकार आत्म-नियंत्रित राज्य-विहीन समाजके अधिकसे अधिक निकट हो सकती है । "कोई सरकार सर्वथा अहिंसक नहीं बन सकती, क्योंकि वह सब लोगोंका प्रतिनिधित्व करती है । मैं ऐसे स्वर्णयुगकी कल्पना आज नहीं करता । परन्तु अहिंसाकी प्रधानतावाले समाजकी संभावनामें मेरा विश्वास जरूर है । ऐसे समाजका प्रतिनिधित्व करनेवाली सरकार कमसे कम मात्रामें बल-प्रयोग करेगी ।" [हरिजन, ९ मार्च १९४०, पृ. ३१]

अहिंसा पर आधारित समाजमें सरकार किस ढंगकी होगी, इसकी पहलेसे व्याख्या करनेसे गांधीजी जान-बूझ कर इनकार करते थे । वे केवल इतना ही कह सके थे कि "जब समाजका निर्माण विचारपूर्वक अहिंसा-धर्मके अनुसार किया जायगा, तब उसकी रचना जैसी आज है उससे अनेक महत्त्वपूर्ण बातोंमें भिन्न होगी ।" [हरिजन, ११ फरवरी १९३९, पृ. ८] इसे वे अहिंसक राज्यके निर्माणके लिए आवश्यक भी नहीं समझते थे । वे साधनोंको अधिक महत्त्व देते थे । अंतिम लक्ष्यका निर्णय "हमारी व्याख्याओंसे न होकर हमारे कार्यों" [यंग इंडिया, १२ जनवरी १९२८, पृ. १२] से होगा । अगर हम साधनोंकी चिन्ता कर लें तो साध्य अपनी चिन्ता आप कर लेंगे । जहां भी बलका उपाय काममें लिया गया है वहीं साधनोंके तर्कने उनका उपयोग करनेवालोंकी इच्छा और जाग्रत हेतु पर विजय पाई है और उनके द्वारा कल्पित मार्गसे सर्वथा भिन्न मार्ग पर उन्हें चलाया है । नतीजा यह हुआ है कि विलीन होनेके बजाय राज्य इतना अधिक निरंकुश, इतना अधिक निर्मम, इतना अधिक अधिकारवादी और इतना सर्वग्राही हो गया जितना पहले कोई राज्य नहीं था । यदि लोगोंमें अहिंसा और संयमका अभाव रहा, तो शोषण और हिंसा लोकतांत्रिक संविधानके होते हुए भी जारी रहेंगे । इसके विपरीत, यदि लोग जीवनकी अहिंसक जीवन-पद्धतिको अपनायेंगे, तो उनके अहिंसा-पालनके फलस्वरूप अहिंसक राज्यका अपने-आप उदय हो जायगा ।

गांधीजीसे एक बार पूछा गया : क्या राजनीतिमें अहिंसाका उपयोग किया जा सकता है?

उन्होंने उत्तर दिया : "राजनीतिमें उसका उपयोग किया जा सकता है, ठीक उसी तरह जैसे पारिवारिक क्षेत्रमें उसका उपयोग किया जा सकता है । भले ही हम उसके प्रयोगमें पूर्णताकी सीमाको न पहुंचें, परन्तु हम हिंसाके प्रयोगको निश्चित रूपमें अस्वीकार करते हैं और असफलतासे सफलताकी ओर प्रगति करते हैं ।" [हरिजन, २१ जुलाई १९४०, पृ. २११]

उनसे फिर पूछा गया : "क्या आपके विचारसे यह आदर्श सिद्ध किया जा सकेगा ?"

उन्होंने उत्तर दिया: "हां, किया जा सकेगा । यह आदर्श उसी हद तक सिद्ध किया जा सकेगा जिस हद तक अहिंसा सिद्ध की जा सकेगी ।"

प्रश्नकर्ताने अपनी दलील जारी रखी : "आप अहिंसक ढंगसे शासन करेंगे, परन्तु सारे कानूनोंके पीछे तो हिंसा ही रहती है ?"

गांधीजीने उत्तर दिया : "नहीं, सभी कानून हिंसामय नहीं होते । **जो कानून लोग स्वयं अपने पर लाद लेते हैं वे अहिंसा हैं – जितनी हद तक समाजमें अहिंसा चल सकती है उतनी हद तक**। जो समाज पूर्ण अहिंसाके आधार पर संगठित और संचालित होगा, उसमें विशुद्ध अराजकता होगी । . . . अहिंसा पर आधारित लोकतंत्र विशुद्ध अराजकतासे मिलता-जुलता होगा । मेरे विचारसे यूरोपके लोकतंत्र लोकतंत्रका निषेध करते हैं ।" (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

"क्या आप मानते हैं कि प्राचीन कालमें कभी वह अहिंसा या लोकतंत्र सिद्ध हुआ था, जिसकी आप कल्पना करते हैं ?"

"मैं नहीं जानता । परन्तु . . . मेरे मनमें कोई शंका नहीं कि किसी समय हम अधिक बुद्धिमान थे और हमें आजसे अधिक बुद्धिमान बनना है, ताकि हम मानव-स्वभावमें छिपे हुए सौन्दर्योंका पता लगा सकें ।"

इसके कुछ समय बाद बम्बईके भूतपूर्व मुख्यमंत्री बालासाहब खेर अपने सहयोगियोंके एक दलके साथ गांधीजीसे मिलने आये । बम्बई प्रान्तके कुछ भागोंमें साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े थे और सरकारको विवश होकर कुछ स्थानों पर गोली चलानी पड़ी थी । इस दलके सब सदस्य अहिंसामें दृढ़ विश्वास रखनेवाले थे । परन्तु उनकी समझमें नहीं आता था कि गोली-काण्ड टाल कैसे जा सकता था । गांधीजी भी कांग्रेसी मंत्रियोंसे कहते रहते थे कि वे अहिंसक ढंगसे शासन चलायें । उन्होंने गांधीजीसे पूछा : "मान लीजिये कि स्वाधीन भारतमें सरकार आपके हाथमें हो, तो आप अहिंसक पद्धतिसे शासन कैसे चलायेंगे ?" उत्तरमें गांधीजीने समझाया कि आपने जो स्थिति सामने रखी है उसमें अहिंसाके द्वारा राज्य चलानेका सवाल व्यावहारिक रूपमें तभी खड़ा

हो सकता है जब स्वाधीनता अहिंसक उपायोंसे प्राप्त की गयी हो; दूसरे शब्दोंमें, जब अधिकांश देश अहिंसक पद्धतिसे संगठित किया जा चुका हो । तब अहिंसाको माननेवाले लोग बहुमतमें होंगे । उस सूरतमें पुलिस और सेनाकी सहायताके बिना शासन चलाना कठिन नहीं होना चाहिये, क्योंकि समाज-विरोधी तत्त्व उनके नियंत्रणमें पहले ही आ चुके होंगे । "उदाहरणके लिए, यदि सेवाग्राममें सात सौकी आबादीमें पांच-सात गुंडे हों और ये सात सौ लोग अहिंसक ढंगसे संगठित हों, तो ये पांच-सात आदमी या तो बाकी लोगोंके अनुशासनमें रहेंगे या गांव छोड़कर चले जायंगे। परन्तु आप देख रहे हैं कि मैं इस प्रश्नका उत्तर अत्यंत सावधानीसे दे रहा हूं और मेरा सत्य मुझसे यही स्वीकार कराता है कि शायद हम पुलिसके बिना काम नहीं चला सकेंगे ।" [हरिजन, २५ अगस्त १९४०, पृ. २६१-६२]

अगले सप्ताहमें उन्होंने 'हरिजन' में एक लेख लिख कर अहिंसक शासनके इस विचारका और विकास किया । उन्होंने कहा : मैं ऐसे राज्यकी कल्पना तो करता हूं जिसमें पुलिसकी जरूरत नहीं होगी, परन्तु व्यवहारमें मैं यह बात माननेको तैयार हूं कि अहिंसक राज्यमें भी पुलिस आवश्यक हो सकती है । "मैं मानता हूं कि यह मेरी अपूर्ण अहिंसाका चिह्न है । मुझमें जैसे यह घोषणा करनेका साहस है कि हम सेनाके बिना अपना काम चला सकते हैं, वैसे पुलिसके बारेमें घोषणा करनेका साहस नहीं है ।" [हरिजन, १ सितम्बर १९४०, पृ. २६३] परन्तु यह पुलिस "आजकलकी पुलिससे बिलकुल अलग ही तरहकी होगी । उसमें अहिंसाको माननेवाले सिपाही होंगे । वे जनताके स्वामी नहीं, सेवक होंगे । लोग स्वभावसे ही उन्हें हर तरहकी मदद देंगे और आपसके सहयोगसे दिन-प्रतिदिन घटते जानेवाले दंगोंका आसानीसे सामना कर लेंगे । पुलिसके पास किसी न किसी तरहके हथियार तो जरूर होंगे, परन्तु उनका उपयोग करनेका अवसर आया भी तो क्वचित् ही आयेगा । वास्तवमें पुलिसवाले सुधारक माने जायंगे ।" [वही]

इस पुलिसका काम मजदूरोंकी हड़तालोंको दबा देना नहीं होगा, क्योंकि अहिंसक राज्यमें "अहिंसक बहुमतका प्रभाव इतना ज्यादा होगा कि समाजके मुख्य तत्त्व उसका आदर करेंगे" [वही] और इसलिए श्रम तथा पूंजीके बीचके झगड़े क्वचित् ही होंगे । इसी तरह साम्प्रदायिक

दंगोंको दबाने या राजनीतिक विरोधके दमनके लिए भी पुलिसका उपयोग नहीं किया जायगा। उसका मुख्य काम समाज-विरोधी तत्त्वों पर अंकुश रखना होगा।

श्री खेरने यह दलील की कि कांग्रेसी मंत्रियोंके पास कोई अहिंसक बल नहीं है। यदि ५०० गुंडे भी ऊधम मचाने लगें तो वे नाकों दम कर सकते हैं। "पता नहीं आप स्वयं भी उनसे किस तरह निबटते।"

गांधीजीने उत्तर दिया : "ऐसे अवसरों पर मंत्रीगण अपने घरों या ऑफिससे बाहर निकल पड़ें और गुण्डोंके हाथों मर जायं। इसे उन्होंने कभी नहीं आजमाया। हम इस सत्यसे मुंह न मोड़ें कि हममें आवश्यक अहिंसा नहीं है। ... मुझे विश्वास है कि अगर हमने शुद्धतम अहिंसाका पालन किया होता, तो ... कांग्रेस अहिंसा और स्वाधीनताकी दिशामें बहुत प्रगति कर लेती।"

गांधीजी अपने सदाके विनोदी लहजेमें बोले : "अफसोस है कि कोई मेरे हाथमें सरकारकी बागडोर नहीं सौंपता ! नहीं तो मैं दिखा देता कि अहिंसक ढंगसे हुकूमत कैसे चलाई जाती है।" [हरिजन, २५ अगस्त १९४०, पृ. २६२]

बीस वर्ष तक कांग्रेसी नेताओंने यह दावा किया था कि अहिंसामें हमारा विश्वास है। जब १९३७ में सत्तारूढ़ हुए तभीसे गांधीजी उनसे कहते रहते थे कि उन्होंने जो मार्ग प्रशस्त किया है उस पर चलते रह कर वे इतिहासका निर्माण कर सकते हैं। गांधी-सेवा-संघकी एक सभामें उन्होंने एक बार कहा कि युद्धमें भारतके भाग लेनेके प्रश्न पर प्रान्तोंमें कांग्रेसी मंत्रि-मंडलोंके त्यागपत्र दे देनेके बाद कैसे एक कांग्रेसी मंत्रीने उनके पास आकर कहा कि मैंने अहिंसाको जरा भी नहीं छोड़ा था, फिर भी कमसे कम गोली चलाये बिना मेरा काम नहीं चल सका था। जहां तक वह अनिवार्य था, मुझे उसका आसरा लेना पड़ता था। गांधीजीने टिप्पणी की : "यह उन्होंने उस समय कहा होगा। यदि मेरा बस चले तो वे दुबारा ऐसा नहीं कहेंगे।" [हरिजन, ४ नवम्बर १९३९, पृ. ३३२] कांग्रेसी मंत्रियोंको बल-प्रयोगका आश्रय क्यों लेना पड़ता था, इसका कारण यह है कि कांग्रेसके बहुमतका आधार विशुद्ध अहिंसा पर नहीं था। अब फिरसे पद ग्रहण करनेके

पहले उन्हें लोगोंसे स्पष्ट कह देना चाहिये कि वे उन्हें अपने प्रतिनिधि बनाकर तभी भेज सकते हैं, जब वे अहिंसक आधार पर उन्हें सरकार चलाने दें । वे सफल न हों तो कोई बात नहीं । परन्तु असफलताका सम्बन्ध "शासन करनेकी हमारी अयोग्यताके साथ होना चाहिये, न कि बल-प्रयोगसे परहेज रखनेकी हमारी अयोग्यताके साथ ।" [हरिजन, २१ जुलाई १९४०, पृ. २०९] अहिंसाको छोड़ देनेके बजाय उन्हें सत्तासे हट जाना चाहिये और जो बल-प्रयोगकी दुहाई देते हैं उन्हें शासन करने देना चाहिये । तब लोग उनके आसपास एकत्र हो जायंगे और उनके लिए अहिंसक पद्धतिसे शासन करना संभव बनायेंगे ।

परन्तु गांधीजीकी बात अरण्य-रोदन जैसी रही । धीरे धीरे उन्हें इस निर्णय पर पहुंचना पड़ा कि सत्ताके तरीके सत्ताके प्रयोगसे अलग नहीं किये जा सकते । जो भी आदमी सत्ता हाथमें रखेगा वह उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । राज्यको अहिंसाके आदर्शके निकट रखनेका एकमात्र मार्ग यह है कि धीरे धीरे राज्यके कार्यक्रम कर दिये जायं और जनतामें अहिंसक बलका विकास करके बाहरसे राज्य पर असर डाला जाय । दूसरे शब्दोंमें, लोगोंमें जितना अधिक सामाजिक संगठन और स्वयं-स्फूर्त हार्दिक सहयोग होगा, उतना ही राज्य और राज्यके हाथमें रहे बलका प्रयोग कम होगा । भूतकालमें, स्वाधीनतासे पहले, रचनात्मक कार्यकी संस्थाएं कांग्रेसके लिए अहिंसक बलकी स्रोत रही थीं । स्वतंत्र भारत-सरकारके पीछे बलका ऐसा स्रोत क्या होगा ? इस प्रकारका स्रोत बनना कांग्रेसका काम था । संभव है बल पर आधारित सरकारके सदस्य होनेके नाते कांग्रेसी नेता बल-प्रयोगका त्याग करनेमें अपनेको असमर्थ पाते । परन्तु उन्होंने बल-प्रयोगको अपना आदर्श तो निश्चित रूपसे नहीं बनाया था । गांधीजी मानते थे कि उनसे अधिक सुखी कोई न होता, यदि मंत्रीगण अहिंसाके आधार पर सरकारको चला सकते । इसके लिए नये आधार पर कांग्रेसकी पुनर्रचना करनी पड़ती । उसे अपने पर त्यागका कानून लागू करके सत्तासे बाहर रहना पड़ता । स्वाधीनताके बादसे ही गांधीजी कांग्रेसी नेताओंको यह मार्ग अपनानेके लिए आग्रहपूर्वक समझा रहे थे ।

नवम्बर १९४७ में कांग्रेस महासमितिकी बैठकसे कुछ दिन पहले गांधीजीने इस विचारकी चर्चा की कि स्वाधीनताकी प्राप्तिके साथ कांग्रेसका उद्देश्य पूरा हुआ, इसलिए कांग्रेसको अब स्वेच्छापूर्वक अपना विसर्जन कर देना चाहिये । एक पार्टीके नाते कांग्रेसका अस्तित्व खतम हो जानेसे देशके तमाम प्रगतिशील और देशभक्त तत्त्वोंकी शक्ति मुक्त हो जायगी और वह राष्ट्र-निर्माणके महान कार्योंमें लग जायगी । देशमें अनेक प्राणवान कार्यकर्ता हैं जो बहुत-कुछ कर सकते हैं, परन्तु संगठन-सम्बन्धी मतभेदोंके कारण देशको उनकी सेवाओंका पूरा लाभ नहीं मिल रहा है । कांग्रेसी नेताओंको डर था कि उनके पीछे कांग्रेस-तंत्रका बल न रहेगा, तो निर्वाचकों पर उनका प्रभाव नहीं रहेगा और हमारे नवजात लोकतंत्रका भविष्य खतरेमें पड़ जायगा । गांधीजी इसे भीरुताका लक्षण मानते थे, जो किसी राष्ट्र-निर्माताका गुण नहीं हो सकता । एक सहयोगीके साथ हो रही बातचीतके दौरान उन्होंने अपना यह भय प्रकट किया कि कांग्रेसके नेता स्वातंत्र्य-युद्धके आरंभके दिनोंका निर्भीक साहस तथा साहसपूर्वक खतरा उठानेकी आदत खो रहे हैं । "अगर हम अपने मनमें यह मान लें कि स्वराज्य ले लिया गया है इसलिए अब हम आरामसे बैठ सकते हैं, तो हम देशको बड़ेसे बड़ा नुकसान पहुंचायेंगे । यदि हम स्वाधीनताके पहले पांच वर्षोंमें सारे राष्ट्रकी शक्तिको राष्ट्र-निर्माणके कार्यमें न लगा सके, तो हमारे पिछले ३० वर्षोंके संग्रामकी सारी सफलता खतरेमें पड़ जायगी । अब तक तो हमारे लोगोंकी सारी शक्ति अंग्रेजोंसे लड़नेमें लगी हुई थी । अब वह शक्ति राष्ट्रको सम्पन्न और बलशाली बनानेमें लगनी चाहिये, नहीं तो वह हमको नुकसान पहुंचायेगी तथा फूट और आपसी झगड़ेको जन्म देगी ।"

उन्हें कांग्रेसमें पदोंके झगड़ों और बढ़ते हुए भ्रष्टाचारके लिए तथा कांग्रेस हाय कमांडके सदस्योंमें चल रही व्यक्तिगत स्पर्धाके लिए गहरी चिन्ता होती थी । कांग्रेस महासमितिकी बैठकके बाद उन्होंने अपनी यह सलाह फिर दोहराई : "मुझे पक्का विश्वास है कि यहां वहां कुछ सुधार करनेसे कांग्रेसका उद्धार नहीं हो सकता । इससे पीड़ाकी आयु बढ़ेगी ही । कांग्रेसके लिए सबसे अच्छी बात यह होगी कि अधिक खराबी पैदा होनेसे पहले ही वह आत्म-विसर्जन कर ले

। उसके स्वेच्छासे खतम हो जानेसे देशमें जान आ जायगी और उसका राजनीतिक जीवन शुद्ध हो जायगा । परन्तु मैं देखता हूं कि इसमें मैं किसीको अपने विचारसे सहमत नहीं कर सकता ।"

दिसम्बर १९४७ के दूसरे सप्ताहमें आंध्रके एक चोटीके नेताका पत्र आया । उनके त्याग, साहस और ईमानदारीके लिए सबके हृदयोंमें इतना मान था कि असहयोगके प्रारंभिक कालमें लोगोंने उन्हें स्नेहवश "दक्षिणके गांधी" जैसा नाम दे दिया था । उनके पत्रसे हृदयको आघात पहुंचानेवाली स्थिति प्रकट होती थी । कई सत्याग्रह-युद्धोंके इस महारथीने गांधीजीको "उस नैतिक पतनके बारेमें जिसमें कांग्रेस-जन फंस रहे थे" विश्वास करा देनेके लिए लिखा था : "मैं बूढ़ा और अपंग हूं और मेरी टांग टूट गई है । मैं बैसाखीका सहारा लेकर घरकी चारदीवारीके भीतर लंगड़ा कर चल लेता हूं । मुझे अपना कोई स्वार्थ नहीं साधना है ।"

> विधान-सभा और राज्यसभाके कई सदस्य आज इस नीति पर चल रहे हैं कि जो सुवर्ण अवसर हाथमें आ गया है उससे पूरा लाभ उठा लिया जाय । वे अपना प्रभाव डाल कर रुपया बना रहे हैं । वे फौजदारी अदालतोंके न्याय-प्रशासनमें भी बाधा डालते हैं ।... कलेक्टर और दूसरे माल-कर्मचारी इन विधान-सभाइयोंके रोज रोजके हस्तक्षेपके कारण अपने कर्तव्य-पालनमें स्वतंत्रता अनुभव नहीं करते । . . . कोई भी सख्त और ईमानदार अधिकारी अपने स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता । . . . कांग्रेसी क्षेत्रोंके झगड़ों और मंत्रियोंकी कमजोरीके कारण आम लोगोंमें विद्रोहकी वृत्ति पैदा हो रही है । लोग कहने लगे हैं कि ब्रिटिश सरकार इनसे कहीं अच्छी थी और वे कांग्रेसको शाप भी दे रहे हैं ।

इस पत्रको पढ़कर गांधीजीने यह टीका की : "हमारा नैतिक स्तर इतनी तेजीसे गिर रहा है कि अब मेरी समझमें आता है कि भूतकालमें हमारे सत्याग्रही युद्धोंमें सच्चे सारका अभाव क्यों था और वे कमजोरोंका निष्क्रिय प्रतिरोध मात्र क्यों बन गये थे ।" कांग्रेसको बचानेका एकमात्र उपाय यह है कि कांग्रेसका अध्यक्ष ऐसा हो जो बढ़ती हुई गड़बड़ीके बीच दृढ़तासे और

निष्पक्षतासे काम ले । इसके लिए कांग्रेस संगठनको सत्ताकी राजनीतिकी खींचतानसे ऊपर उठना पड़ेगा । नहीं तो वह छिन्नभिन्न हो जायगा । ऐसे दुर्भाग्यका वह शिकार हो, इससे कहीं अच्छा तो यह होगा कि उसे खतम कर दिया जाय । "आंध्रसे आया हुआ आजका पत्र मुझे कांग्रेसके ह्रास और पतनका निश्चित लक्षण मालूम होता है । यदि उसमें कही हुई सब बातें सच हों, तो क्या उससे यह सिद्ध नहीं होता कि हम गुलाम ही रहने लायक हैं ?"

१२ दिसम्बर, १९४७ को अपनी शामकी प्रार्थना-सभामें उन्होंने यह चेतावनी दी : "दूसरे प्रान्तोंके . . . लोग भारतके इस आत्मत्यागी सेवककी वाणीको तौलें । वे ठीक ही कहते हैं कि उनके द्वारा वर्णित भ्रष्टाचारका ठेका आंध्रने ही नहीं लिया है । . . . हम सावधान हो जायं ।"

अगले सप्ताह गांधीजी फिर बोले कि अगर कांग्रेस जैसे बड़े संगठनको भ्रष्टाचार, असत्य और अन्य अशोभनीय दोषोंसे मुक्त नहीं किया जा सका और उसमें स्वार्थ-साधकोंका घुसना रोका नहीं जा सका, तो स्पष्ट है कि उसका नाश निश्चित हो गया है; और अगर वह मिट गया तो मैं एक आंसू भी नहीं गिराऊंगा । "यदि रोगीके भयंकर रोगका इलाज न किया जा सके, तो उसके लिए सबसे अच्छी बात यही हो सकती है कि वह चल बसे ।"

किसी माने हुए मुखियाके इशारे पर चलनेवाले मतदाता-मंडल, झूठी सदस्यता, यंत्रवत् काम करनेवाले बहुमतका जड़ भार, चुनावकी गंदी प्रथायें और स्वार्थ-साधकोंका दंभ आदि बुराइयां कांग्रेसमें मौजूद थीं । जब कांग्रेस सत्तारूढ़ हो गई तो सब कोई उसकी गाड़ीमें सवार होनेको उत्सुक बन गये । गांधीजीने ये सब बातें देखीं तो उनका यह विश्वास और भी गहरा हो गया कि कांग्रेस-संगठनसे भ्रष्टाचारको दूर करनेका इसके सिवा कोई और उपाय नहीं है कि कांग्रेस सत्ताकी राजनीतिसे बाहर हो जाय और जनताके प्रतिनिधियोंके मारफत देशका शासन चलने दे । ये प्रतिनिधि बेशक कांग्रेसके अनुशासनमें रहेंगे । सत्ताकी राजनीतिसे बाहर निकल कर और केवल अहिंसक लोकशक्तिके निर्माण-कार्यमें लग कर ही कांग्रेस लोगोंकी स्वतंत्रताकी संरक्षिका और अभिभाविका बन सकेगी ।

जनवरी १९४८ के अंतिम सप्ताहमें गांधीजी 'लीड काइण्डली लाइट' के लेखक विन्सेन्ट शीनको अहिंसक बलका समर्थन रखनेवाले प्रातिनिधिक लोकतंत्रका अपना सिद्धान्त समझा रहे थे । चर्चाका मुख्य प्रश्न यह था : "जो लोग अहिंसाके आदर्शको मानते हैं वे यदि सरकारसे अलग रहें, तो सरकार बल-प्रयोग द्वारा चलती रहेगी । तब वर्तमान शासन-प्रणालीका कायापलट कैसे किया जायगा ?"

गांधीजीने स्वीकार किया कि बल-प्रयोगके बिना सामान्य परिस्थितियोंमें सरकार चलाना असंभव है । "इसीलिए मैंने कहा है कि जो आदमी हर हालतमें अच्छा रहना और अच्छा काम करना चाहता है, उसे सत्तारूढ़ नहीं होना चाहिये ।"

उनसे पूछा गया : "तो क्या सरकारका सारा काम ही ठप हो जाय ?"

गांधीजीने उत्तर दिया : "नहीं । वह (अहिंसक मनुष्य) उन लोगोंको सरकारमें भेज सकता है, जो उसकी इच्छाका प्रतिनिधित्व करते हों । यदि वह खूद सरकारमें चला जाता है, तो वह अपनेको सत्ताके दूषित प्रभावका शिकार बना लेता है । परन्तु मेरा प्रतिनिधि तो तभी तक मेरा मुख्तार रह सकता है जब तक मैं चाहता हूं । यदि वह प्रलोभनका शिकार हो जाता है, तो उसे वापस बुलाया जा सकता है । मैं अपने आपको तो वापस नहीं बुला सकता । इन सब बातोंके लिए निर्वाचकोंमें बुद्धिकी असाधारण मात्रा होनी चाहिये । आज रचनात्मक कार्यकी लगभग आधी दर्जन संस्थाएं हैं । मैं उन्हें संसदमें नहीं भेजता । मैं चाहता हूं कि वे मतदाताओंको शिक्षा और मार्गदर्शन देकर संसद पर अंकुश रखें ।"

"आपके कहनेका मतलब यही है न कि सत्ता हमेशा ही मनुष्यको भ्रष्ट करती है ?"

"जी हां ।"

उसी दिन 'हरिजन' के लिए लिखे एक लेखमें गांधीजीने लिखा : "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसको . . . जिसने कई अहिंसक लड़ाइयोंके बाद आजादी प्राप्त की है, मरने नहीं दिया जा

सकता । वह केवल राष्ट्रके साथ ही मर सकती है । एक जीवित संस्था या तो जीवित प्राणीकी तरह निरन्तर बढ़ती है या मर जाती है । कांग्रेसने राजनीतिक आजादी तो प्राप्त कर ली है, परन्तु उसे अभी आर्थिक आजादी, सामाजिक आजादी और नैतिक आजादी प्राप्त करनी है । ये आजादियां चूंकि रचनात्मक हैं और भड़कीली नहीं हैं, इसलिए इन्हें प्राप्त करना राजनीतिक आजादी प्राप्त करनेसे कहीं ज्यादा कठिन है । जीवनके सारे ही पहलुओंको अपनेमें समा लेनेवाला रचनात्मक कार्य देशके करोड़ों लोगोंमें से प्रत्येककी शक्तिको जगाता है । कांग्रेसको उसकी आजादीका प्रारंभिक और आवश्यक भाग मिल गया है । लेकिन उसका सबसे कठिन भाग अभी आना बाकी है । प्रजातंत्रीय व्यवस्था स्थापित करनेके अपने कठिन ध्येय तक पहुंचनेमें कांग्रेसने अनिवार्य रूपसे उसमें दलबंदी करनेवाले गन्दे मतदाता-मंडल खड़े कर लिये हैं, जिनसे भ्रष्टाचार और बेईमानी फैली है और ऐसी संस्थायें उत्पन्न हुई हैं जो नामकी लोकप्रिय और प्रजातांत्रिक हैं । इन सब बुराइयोंके घोर जंगलसे बाहर कैसे निकला जाय ?" [हरिजन, १ फरवरी १९४८, पृ. ४]

इसके बाद उन्होंने समझाया कि कांग्रेसके लिए अपने पर आत्मत्यागका सिद्धान्त लागू करना क्यों अत्यावश्यक हो गया है और अपने नये कर्तव्यके लिए वह अपनेको नये सांचेमें कैसे ढाले । अब तक उसका मताधिकार चार आनेकी प्राथमिक सदस्यता पर आधारित रहता था । अब यह काफी नहीं रहा । "कांग्रेसको अपनी विशेष सदस्य-सूची हटा ही देनी चाहिये । . . . उसकी सूचीमें देशकी मतदाता-सूचीमें दर्ज सारे पुरुषों और स्त्रियोंके नाम होने चाहिये । कांग्रेसका काम यह देखना होगा कि कोई बनावटी नाम उसमें न आने पाये और कोई योग्य नाम छूट न जायें । अपने रजिस्टरमें वह राष्ट्रसेवकोंकी एक नामावली रखेगी, जिनमें समय समय पर सौंपे हुए काम करनेवाले कार्यकर्ता होंगे ।"

कांग्रेसको यह नया रूप देनेका एक आवश्यक परिणाम यह होगा कि आकर्षणका केन्द्र शहरोंसे हटकर गांवोंमें चला जायगा । "देशके दुर्भाग्यसे वे (कार्यकर्ता) फिलहाल मुख्यतः नगर-

निवासियोंमें से लिए जायेंगे और उनमें से अधिकांशको भारतके गांवोंमें और गांवोंके लिए काम करना होगा । उनकी भरती अधिकाधिक संख्यामें ग्रामवासियोंमें से ही करनी होगी ।

"इन सेवकोंसे यह अपेक्षा रखी जायगी कि वे अपने अपने क्षेत्रोंमें कानूनके अनुसार रजिस्टरमें दर्ज किये हुए मतदाताओंके बीच कार्य करके उन पर अपना प्रभाव डालें और उनकी सेवा करें । कई व्यक्ति और अनेक पार्टियां इन मतदाताओंको अपने पक्षमें करना चाहेंगी । जो सबसे अच्छे होंगे उन्हींकी इसमें जीत होगी । सिर्फ यही एक रास्ता है जिससे कांग्रेस देशमें तेजीसे गिरती हुई अपनी पहलेकी अनुपम स्थितिको फिरसे प्राप्त कर सकती है । अभी कल तक कांग्रेस अनजाने ही राष्ट्रकी सेविका थी –

खुदाई खिदमतगार थी, भगवानकी सेविका थी । अब वह अपने आपसे और सारी दुनियासे कह दे कि वह केवल भगवानकी सेविका है — न इससे अधिक है, न कम है । **अगर वह सत्ता हथियानेके निरर्थक झगड़ोंमें फंसेगी, तो एक दिन देखेगी कि उसका अस्तित्व मिट गया है** । ईश्वरका उपकार है कि अब वह जनसेवाके क्षेत्रकी एकमात्र स्वामिनी नहीं रही है ।" (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

गांधीजीको आशा थी कि 'हरिजन' में वे इस विषयको फिरसे हाथमें लेंगे और चर्चा करेंगे कि राष्ट्रके सेवकोंको मालिकों – देशके समस्त वयस्क स्त्री-पुरुषों – की दृष्टिमें ऊंचा उठनेके लिए क्या करना होगा । यह तो उनके भाग्यमें नहीं बदा था । परन्तु उन्होंने अपनी इस योजनाके मसौदेमें इस विषय पर और कांग्रेसकी पुनर्रचना पर अपने विचारोंकी रूपरेखा दे दी थी । वह मसौदा विधान-समितिकी सिफारिशों पर आधारित था । वह उन्होंने अपनी इहलीलाके अंतिम दिन तैयार किया था । परन्तु उसे प्रकाशित उनके अवसानके बाद ही किया जा सका । बादमें वह राष्ट्रके लिए उनके 'आखिरी वसीयतनामा' के नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

मसौदेकी प्रस्तावना इस प्रकार थी : "देशका बंटवारा हो जाने पर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा आयोजित साधनोंके जरिये हिन्दुस्तानको आजादी मिल जानेके कारण वर्तमान

स्वरूपमें कांग्रेसका काम अब खतम हो गया है – अर्थात् प्रचारके वाहन और धारासभाकी प्रवृत्ति चलानेवाले तंत्रके नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गई है। शहरों और कस्बोंसे भिन्न अपने सात लाख गांवोंकी दृष्टिसे हिन्दुस्तानको अपनी सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी पाना अभी बाकी है। . . . इन और ऐसे ही दूसरे कारणोंसे अखिल भारत कांग्रेस कमेटी अपने वर्तमान कांग्रेस संगठनको तोड़ने और लोक-सेवक-संघके रूपमें प्रकट होनेका निश्चय करती है।

लोक-सेवक-संघ अखिल भारत चरखा-संघ, अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, हरिजन-सेवक-संघ और गोसेवा-संघ आदि विविध रचनात्मक कार्य करनेवाली संस्थाओंको अपने साथ सम्बद्ध कर लेगा।

संगठनकी रूपरेखा इस प्रकार है : पांच वयस्क पुरुषों या स्त्रियोंकी, जो ग्रामवासी हों या ग्राम-मनोवृत्तिवाले हों, बनी पंचायत एक घटक होगी। ऐसी दो पासकी पंचायतोंका एक कार्यकारी दल होगा, जो आपसमें चुने हुए नेताके अधीन काम करेगा। ऐसी एक सौ पंचायतें हो जायंगी तब पचास पहली श्रेणीके नेता अपनेमें से एक दूसरी श्रेणीका नेता चुन लेंगे। इस बीच पहली श्रेणीके नेता दूसरी श्रेणीके नेताके अधीन काम करेंगे। दो सौ पंचायतोंके समानान्तर समूह तब तक बनते रहेंगे, जब तक सारे भारतको वे अपनेमें न समा लें। बादमें कायम की हुई पंचायतोंका प्रत्येक समूह पहलेकी तरह दूसरी श्रेणीका नेता चुनता रहेगा। दूसरी श्रेणीके तमाम नेता मिल कर सारे भारतके लिए और अलग अलग अपने क्षेत्रोंके लिए काम करेंगे। दूसरी श्रेणीके नेता जब भी जरूरी समझेंगें अपनेमें से एक मुखिया चुन लेंगे, जो चुननेवाले चाहेंगे तब तक सब समूहोंका नियमन और संचालन करेगा। यह सेवक-मंडल अपना अधिकार या सत्ता केवल उस सेवाके बल पर प्राप्त करेगा, जो वह "अपने मालिक – संपूर्ण भारतकी स्वेच्छासे और ज्ञानपूर्वक करेगा।"

योजनाके इस मसौदेमें पहले प्रत्येक कार्यकर्ताक लिए आवश्यक योग्यताएं निश्चित कर दी गई हैं। योग्यतायें इस प्रकार हैं : वह हमेशा खादीपहनेगा, सब प्रकारके व्यसनों और बुराइयोंसे

मुक्त रहेगा, अगर हिन्दू हो तो छुआछूतसे दूर रहेगा, सब धर्मोंके लिए समान आदरके सिद्धान्तमें विश्वास रखनेवाला होगा और जाति, धर्म या लिंगके भेदके बिना सबके लिए समान अवसर और समान प्रतिष्ठाके आदर्शमें विश्वास रखनेवाला होगा । इसके बाद मसौदेमें कार्यकर्ताओंके कार्योंका ब्योरा दिया गया है । इनका सम्बंध ज्यादातर गांवोंकी प्राथमिक सेवा और शिक्षासे है । इस सेवा और शिक्षाके पीछे विशेष दृष्टि ग्रामवासियोंको अपनी प्राथमिक आवश्यकताओंके बारेमें स्थानीय तथा प्रादेशिक आधार पर स्वयंपूर्ण और स्वावलंबी बनानेकी – जिसमें स्वावलंबनके अहिंसक पहलू पर विशेष जोर रहे – तथा ऐसी समझदारीसे उनका मार्गदर्शन करनेकी थी कि वे अपने मताधिकारका बुद्धिमानीसे सही उपयोग कर सकें ।

"आखिरी वसीयतनामा" की प्रस्तावनाके अंतिम अंशमें असैनिक और सैनिक सत्ताके बीच वर्चस्वकी होनेवाली कशमकशका उल्लेख है । "लोकतांत्रिक लक्ष्यकी ओर भारतकी प्रगतिमें सैनिक सत्ता पर असैनिक (मुल्की) सत्ताका वर्चस्व स्थापित करनेकी लड़ाई होना अनिवार्य है । (इसलिए) उसे (कांग्रेसको) राजनीतिक दलों और साम्प्रदायिक संस्थाओंके साथकी हानिकारक प्रतियोगितासे बचाना ही चाहिये ।"

अत्यन्त प्राचीन कालसे भारतमें अहिंसाकी अखंड और अटूट परम्परा चली आई है । परन्तु उसके प्राचीन इतिहासमें किसी भी समय सारे देशमें सक्रिय रूपमें सम्पूर्ण अहिंसाका पालन नहीं हुआ । फिर भी गांधीजीकी यह अमिट श्रद्धा थी कि मानव-जातिको अहिंसाका संदेश देना तो भारतके ही भाग्यमें लिखा है । "दुनियाके तमाम देशोंमें केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जो अहिंसाकी कला सीख सकता है । . . . यदि आज भी परीक्षा की जाय तो शायद हजारों स्त्री-पुरुष ऐसे मिलेंगे, जो अपने आततायियोंके प्रति द्वेष रखे बिना खुशीसे प्राण दे देंगे ।" [हरिजन, १४ अक्तूबर १९३९, पृ. ३०४] उन्होंने कहा, भले ही इस आशाके पूर्ण होनेमें कई युग बीत जायं, परन्तु जहां तक मैं सोच सकता हूं, "इस मिशनको पूरा करनेमें कोई और देश भारतसे आगे नहीं निकलेगा" । [हरिजन, १२ अक्तूबर १९३५, पृ. २७६] यदि भारत तलवारके सिद्धान्तको अपनायेगा, तो वह मेरे हृदयका गौरव नहीं रहेगा । "भारत जिस घड़ी तलवारका सिद्धान्त मान

लेगा, वह मेरी परीक्षाकी घड़ी होगी । मुझे आशा है कि मैं परीक्षामें फेल नहीं होऊंगा । मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओंको नहीं जानता । यदि उसमें मेरी सजीव श्रद्धा है, तो वह मेरे भारतके प्रेमको भी लांघकर आगे बढ़ जायगा । मेरा जीवन अहिंसा-धर्मके द्वारा भारतकी सेवाके लिए समर्पित है ।" [यंग इंडिया, ११ अगस्त १९२०, पृ. ४]

ऐसा मालूम होता था कि अन्तमें परीक्षाका समय आ पहुंचा है । जो लोग अहिंसाकी पद्धतिमें विश्वास रखते थे, उनका फर्ज था कि "अहिंसाकी ज्योति जलती रखनेके लिए" अपनी श्रद्धाको फिरसे दृढ़तापूर्वक दोहराते । यदि घोर अंधकारके बीच कुछ लोग भी अपनी आत्माके प्रति सच्चे रहते, तो सब कुछ ठीक हो जाता । गांधीजी पहले कह चुके थे कि "कुछ आदमियोंके सत्यका महत्त्व होगा । लाखोंका असत्य वैसे ही उड़ जायगा, जैसे हवाके झोंकेमें धानके छिलके उड़ जाते हैं ।" [यंग इंडिया, २० मई १९२६, पृ. १८४] वे यह नहीं मानते थे कि जो चीज स्वाधीनता-संग्रामके दौरान प्राप्त नहीं की जा सकी वह सदा ही अप्राप्य रहेगी । "इसके विपरीत, आज अहिंसाकी सर्वोपरि शक्तिका प्रत्यक्ष प्रमाण देनेके लिए सच्चा अवसर है । यह सच है कि हमारे लोगोंको विश्व-व्यापी शस्त्रीकरणके भंवरमें फंसा दिया गया है । अगर चंद आदमी भी उसके बाहर रह सकें तो वीरोंकी अहिंसाकी मिसाल पेश करना और भारतके प्रथम सेवकोंका बिरुद प्राप्त करना उनका विशेषाधिकार होगा । इसका प्रमाण केवल बुद्धिसे नहीं दिया जा सकता । इसलिए जब तक उसे अनुभवसे सिद्ध नहीं किया जाय तब तक उसे श्रद्धासे स्वीकार करना होगा ।"

और यह उनकी मृत्युके दो दिन बाद 'हरिजन' में प्रकाशित हुआ था ।

छठा अध्याय: प्रभुकी गोदमें

जीते संकटोंको जो, ईश्वरी आहार दूं उसे;
भक्षणार्थ वह सभी, छिपा जो गुप्त स्थानमें ।
रेवेलेशन, २ : १७

१

जब दिसम्बर १९४७ के मध्यमें में फिरसे गांधीजीके साथ हुआ तब मैंने उन्हें सबसे ज्यादा दु:खी पाया । राजधानीके वैभव-विलास तथा ठाट-बाटके बीच अनेक प्रेमल मित्रोंसे घिरे होने पर भी और उनका नाम सबकी जबान पर होनेके बावजूद गांधीजी आध्यात्मिक दृष्टिसे अपनी आसपासकी परिस्थितियोंसे और लगभग अपने सभी साथियोंसे अलग पड़ गये थे । ये साथी अब सरकारमें सत्ता और प्रतिष्ठाके पदों पर विराजमान थे । गांधीजीके साथियोंमें से एकमात्र खान अब्दुल गफ्फार खां ही अहिंसा-धर्म पर अटल निष्ठासे डटे हुए थे; और उन्हें कांग्रेसके देशका विभाजन स्वीकार करनेके निर्णयने पाकिस्तानका नागरिक बना दिया था । कुछ सप्ताह पूर्व गांधीजीने पिछली रातमें एक पत्र इस प्रकार लिखवाया था: “इस आलीशान भवनमें मैं प्रेमी मित्रोंसे घिरा हुआ हूं, परन्तु मेरे भीतर शान्ति नहीं है । . . . दिल्ली पर सारा दारमदार है । हममें जो अशुद्धता आ गई है, उसे दूर करनेकी कोशिश मैं कर रहा हूं । इस प्रयत्नमें अपनी विफलताका साक्षी बननेकी मेरी इच्छा नहीं है । मैंने १२५ वर्ष तक जीनेकी अभिलाषा छोड़ दी है ।”

सत्तारूढ़ कांग्रेसी नेताओंके मतभेद और जूनागढ़की घटनाओंके परिणामके विचारोंमें ही गांधीजी डूबे रहते थे । जिस ढंगसे जूनागढ़का प्रश्न हल किया गया, उससे वे बहुत प्रसन्न नहीं हुए थे । यह उनका मार्ग नहीं था । काश्मीरके मामलेमें भी यद्यपि उन्होंने लड़नेवालोंके साहसकी और हमलेकी बाढ़को रोकनेके लिए काश्मीरके सभी वर्गों द्वारा दिखाई गई ध्येयकी एकता तथा मेलजोलकी प्रशंसा की, फिर भी वे मानते थे कि सुवर्ण अवसरका लाभ नहीं उठाया गया । दुनिया जिसे अधिकार समझती है उसके अनुसार भारत सरकारको काश्मीरमें अपनी सेना भेजनेका

पूरा अधिकार था और तत्कालीन परिस्थितियोंमें उसने काश्मीरकी रक्षाके लिए सेना भेज कर ठीक ही किया, क्योंकि महाराजाने उससे ऐसा अनुरोध किया था और नेशनल कान्फरेन्सने उसका समर्थन किया था। परन्तु यह भी गांधीजीका मार्ग नहीं था। वे तो चाहते थे कि आक्रमणसे मातृभूमिकी अहिंसक रक्षा करनेके कार्यमें सारा भारत काश्मीरके रक्षकोंके साथ खड़ा हो। उनके विचारसे पाकिस्तानी आक्रमण इतना अकारण था और रक्षकोंके पक्षमें न्याय इतना स्पष्ट था कि यदि काश्मीरके लोग आखीर तक आक्रमणका अहिंसक प्रतिकार करते, तो सारा संसार उनकी तारीफ करता और उनके साथ हमदर्दी दिखाता। दिसम्बरके अन्तिम दिनोंमें लॉर्ड माउण्टबेटनसे मिलने जाते समय एक बार गांधीजीने मुझसे कहा : "मैं स्वयं काश्मीर जाना चाहूंगा। मुझे विश्वास है कि काश्मीरी लोग मेरे रास्ते पर चलें, तो जीत उनकी होगी।" एक आह भरकर उन्होंने यह भी कहा : "काश, दिल्लीकी स्थिति मुझे जानेकी इजाजत दे सकती।"

जबसे सुहरावर्दीने कलकत्तेमें अपना भाग्य गांधीजीके साथ जोड़ लिया था तबसे उन्होंने एक खास पार्ट अदा करनेकी जिम्मेदारी ली थी। इसके लिए उन्हें तैयार करनेका गांधीजीका प्रयत्न जारी रहा। गांधीजीने आशा रखी थी कि सुहरावर्दी भारतीय मुसलमानोंको तमाम गैर-कानूनी हथियार सरकारके हाथमें सौंप देनेके लिए राजी कर लेंगे। गांधीजीका खयाल था कि चूंकी शहीद भारतीय संघके एक निष्ठावान नागरिक होनेका दावा करते हैं और जिन्नाके भूतपूर्व साथी और पाकिस्तानके सच्चे मित्र हैं, इसलिए भारत और पाकिस्तानके प्रति उनका यह फर्ज है कि वे भारत और पाकिस्तान संबंधी सत्यको एक निष्पक्ष साक्षीके रूपमें साहस तथा विश्वासके साथ घोषित करें; और यदि उन्हें मालूम हो जाय कि वे जिन्नाकी तरफसे अल्पसंख्यकोंको न्यायपूर्ण व्यवहारका आश्वासन नहीं दिलवा सकते, तो अल्पसंख्यकों सम्बंधी पाकिस्तानकी नीतिकी वे निन्दा करें और असंदिग्ध शब्दोंमें उससे अपना सम्बन्ध तोड़ लें। इसके अलावा, शहीदकी नेकनीयती साबित करनेके लिए गांधीजीने यह भी सुझाया कि वे अपनी जानको खतरेमें डाल कर भी दिल्लीके किसी हिन्दू मुहल्लेमें जाकर रहें, जैसा कलकत्तेमें दोनोंने एकसाथ

किया था, और हिन्दू तथा मुस्लिम निराश्रितोंकी निःस्वार्थ सेवा करके सबका विश्वास सम्पादन करें । सुहरावर्दी वचन तो हर बातका देते थे, परन्तु हमेशाकी तरह करते कुछ भी नहीं थे ।

निराश्रितोंके झुंडके झुंड गांधीजीके निवास-स्थान पर हर समय आते रहते थे । वे सब निराश, क्रुद्ध और संतप्त होते थे और कभी कभी पागलोंकी तरह चिल्लाते थे । दोनों भागोंके विशाल मानव-समाजोंके भयंकर दुख-दर्द और उनके फलस्वरूप चारों ओर दिखाई पड़नेवाली मानव-आत्माकी कठोरता, अध:पतन तथा पशुता गांधीजीको घुनकी तरह खाये जा रही थी । एक बार जब रातको मेह बरस रहा था, गांधीजी ३.३० बजे प्रात:कालीन प्रार्थनाके लिए उठकर कहने लगे : "हम तो इस आलीशान महलमें रहते हैं और गरम रजाइयां ओढ़कर आरामसे सोते हैं, जब कि बेचारे घरबारसे वंचित निराश्रितों और उनके छोटे छोटे बच्चोंको निराश्रितोंके शिविरोंमें कड़ाकेकी ठंड और मेहमें ठिठुरना पड़ रहा होगा ।" उनका कोई कसूर न होने पर भी वे विभाजनका मूल्य चुका रहे हैं; यह एक ऐसा निर्णय है जो उनके नेताओंने किया था और जिसके परिणामोंकी न तो पहलेसे वे कल्पना कर पाये थे और न उनके लिए कोई उपाय ही सोच पाये थे । निराश्रितोंके साथ मौखिक सहानुभूति सभी दिखाते हैं । परन्तु सहानुभूतिकी कोरी बातें सुननेमें थोथी ही नहीं, निर्दय भी प्रतीत होती हैं; क्योंकि वे लोग तो कष्ठ भुगत रहे हैं, जब कि सहानुभूति दिखानेवालोंको सभी सांसारिक सुख प्राप्त हैं । एक दिन गांधीजीने कहा : "मुझे क्या हक है कि मैं इस महलमें रहूं या अपनी जरूरतसे ज्यादा एक इंच जगह भी काममें लूं, जब कि मेरे लाखों देशवासी जीवनकी प्राथमिक सुविधाओंसे भी वंचित हैं ?" और उन्होंने सुझाया कि यह एक ऐसा प्रश्न है, जो प्रत्येक राष्ट्रीय नेताको और बंगलेमें रहनेवालेको इस संकटके समय अपने हृदयसे पूछना चाहिये और उसीके अनुसार चलना चाहिये । फिर तो उन लोगोंको अपने कष्ट-सहनमें भी गर्वका अनुभव होगा और काटनेवाले जाड़ेका कुछ कष्ट कम हो जायगा । परन्तु सच पूछा जाय तो सबको अपनी अपनी चिन्ता है; किसीको मेरी बात सुननेकी भी फुरसत नहीं है । इसलिए मेरा यह कथन अरण्य-रोदन जैसा है ।

कुछ समय बाद बिड़ला-भवनके पासवाला एक बंगला, जिसमें कुछ निराश्रित ठहरे हुए थे, सरकारी कामके लिए ले लेनेका प्रस्ताव आया । निराश्रितोंने इसके बारेमें गांधीजीसे शिकायत की । गांधीजीने पुनर्वास मंत्रालयको सलाह दी कि निराश्रितोंको वहांसे हटाया न जाय । मंत्रालयने अपनी कार्रवाईको उचित सिद्ध करनेकी कोशिश की । इस पर गांधीजीने उत्तर दिया : "तो आप पहले मुझे निकालकर बिड़ला-भवन पर क्यों नहीं अधिकार कर लेते ? मंत्रीगण अपने अपने बड़े बड़े बंगले राज्यको सौंपकर उनमें अपनी जरूरतकी जगह पर ही अधिकार क्यों नहीं रखते?" गांधीजीके हस्तक्षेपके फलस्वरूप निराश्रितोंको किसीने नहीं छेड़ा । परन्तु गांधीजीको इससे पूरा सन्तोष नहीं हुआ । उन्होंने पूछा : "सरकार इस प्रकार कब तक काम चला सकेगी और केवल मुझे प्रसन्न करनेके लिए कुछ बातें करती रहेगी ?"

अपनी आदतके अनुसार इन बाहरी बातोंका कारण अपने अंतरमें खोजते हुए उन्होंने आगे कहा : "सत्य और अहिंसाकी मेरी कल्पना और आचरणमें कोई न कोई सूक्ष्म दोष होना चाहिये, जिसका यह परिणाम है । मैंने कमजोरोंकी अहिंसाको भूलसे सच्ची अहिंसा समझ लिया, जो वस्तुतः अहिंसा थी ही नहीं । शायद ईश्वरने जान-बूझ कर मुझे अंधा बना दिया । परन्तु यह कहनेका गलत तरीका है । मुझे यों कहना चाहिये कि मैं अंधा था; मैं देख नहीं सका । ईश्वरकी अपार दया है कि उसने सब-कुछ समाप्त होनेसे पहले ही मुझे जगा दिया और अपनी भूल मैंने समय रहते समझ ली । अब तो मेरी यही प्रार्थना है कि वह मुझे समय आने पर बहादुरीसे मृत्युका सामना करनेकी शक्ति दे ।"

उनकी भीतरी पीड़ा जितनी गहरी होती गई उतना ही उनका आत्म-निरीक्षणका प्रकाश, जो वे अपने पर और दूसरों पर डाल रहे थे, अधिकाधिक तीव्र होता गया । भद्रवर्गकी जो महिलायें निराश्रित शिविरोंमें काम करने जाती थीं, उनकी तड़क-भड़क और आडंबर गांधीजीको खटकता था । उनमें से एकको उलाहना देते हुए वे बोले : "शिविरोंके निराश्रित कैसे आपका विश्वास या आदर कर सकते हैं, जब कि आप रेशमी साड़ियां पहने इन्द्रकी परियां बन कर उनमें जाती हैं ? . . . आपमें से केवल आधी दर्जन ही वहां जायं तो मैं चिन्ता नहीं करूंगा । अगर आपमें भीतरी

और बाहरी सादगी, सचाई और शुद्धता है, तो आपका काम फूले-फलेगा । आप अपने विशाल बंगलोंमें पेट भरकर बढ़िया नाश्ता करनेके बाद हाथोंमें 'वेनिटी बैग' लटकाती हुई कीमती मोटरोंसे उतरती हैं, जब कि जिनकी सेवा करने आप जाती हैं उन्हें दो जोड़े कपड़े न होनेके कारण स्नानकी भी सुविधा नहीं मिलती । . . . आजकल समाज-सेवा करना भी दुनियामें आगे बढ़नेका एक साधन बन गया है । इसलिए बड़े घरोंके कई लोगोंने यह लाभदायक शौक अपना लिया है । इसके अपवाद अवश्य हैं, परन्तु वे क्वचित् ही मिलते हैं । मुझे ऐसी सेविकाएं चाहिये, जो स्वावलम्बन, सादगी और श्रमके गौरवका उदाहरण लोगोंके सामने प्रस्तुत करें ।"

गांधीजीको यह देख कर भी दुःख होता था कि विविध रचनात्मक संस्थाओंके संचालकोंमें भी अपनी अपनी संस्थाओंकी प्रवृत्तियोंका समन्वय करनेकी दृष्टिसे एक होनेकी बहुत कम वृत्ति थी । उन्होंने कहा : यदि रचनात्मक कार्यकर्ता भी आपसमें एकता नहीं कर सकते, तो हिन्दुओं और मुसलमानोंसे मैं एकताकी आशा कैसे रख सकता हूं ? जो कार्यकर्ता यह शिकायत करते थे कि सरकार रचनात्मक संस्थाओंको काफी आर्थिक सहायता नहीं दे रही है, उन्हें गांधीजीने उत्तर दिया : आपको सरकारसे कोई आशा नहीं रखनी चाहिये; उस पर निर्भर तो रहना ही नहीं चाहिये । सरकारको आगे-पीछे यह समझना ही होगा कि रचनात्मक कार्यक्रमको पूरी तरह कार्यान्वित किये बिना न तो देशका उद्धार हो सकता है और न लोगोंकी तात्कालिक समस्याएं हल हो सकती हैं । "आज तो अपनी नवप्राप्त स्वाधीनतासे हमारा सिर फिर गया है । हमारे दिलों पर पश्चिमकी वैज्ञानिक प्रगति और 'फैलती हुई अर्थ-व्यवस्था' की चकाचौंधका जादू छाया हुआ है । सत्ताधारियोंके सामने हमारे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवनकी वास्तविकताओंका स्पष्ट चित्र है, ऐसा दिखाई नहीं देता । परन्तु जैसे जैसे हमें अनुभव प्राप्त होता जायगा वैसे वैसे हम यह समझते जायंगे कि अगर हम अपने देशको स्वावलंबी और आत्म-निर्भर बनाना चाहते हैं, तो यह काम ग्रामोद्योगोंके द्वारा ही हो सकता है । यदि हम अपने देशकी सांस्कृतिक उन्नति चाहते हैं, तो वह हिन्दुस्तानीको राष्ट्रभाषाका उचित स्थान देनेसे ही हो सकती है ।" यदि रचनात्मक कार्यकर्ता यह समझते हैं कि कांग्रेस सरकारके सत्तारूढ़ होने पर उनकी

जिम्मेदारी खतम हो गई और सब बातोंकी जिम्मेदारी सरकारकी हो गई और यदि सरकार उसे लेनेसे इनकार कर दे, तो आपके लिए निराशाके सिवा कुछ भी नहीं रह जायगा । यह आपकी बड़ी भूल होगी । इसके विपरीत आपकी परीक्षाका समय तो यही है । अगर आपमें धीरज, लगन और श्रद्धा है, तो भविष्य आपके हाथमें है । दिसम्बरके अंतिम सप्ताहमें लिखे गये एक पत्रमें गांधीजीने लिखा : "खादीके मामलेमें ढिलाई करनेसे काम नहीं चलेगा । इसमें हम जितने असावधान रहेंगे उतने ही हम असफल सिद्ध होंगे । . . . मेरा पक्का विश्वास है कि चरखेके कमजोर सूत द्वारा पैदा की गई शक्तिसे ही हम यहां तक पहुंचे हैं । अगर चरखा चलानेमें हमने अधिक परिश्रमशीलताका परिचय दिया होता, तो हमारी आज जैसी हालत न हुई होती । . . . मैं एक बार फिर दोहरा देता हूं कि यदि स्वाधीन भारतके ४० करोड़ लोगोंके जीवनको स्वस्थ और बलवान बनाना है, तो हमें रचनात्मक कार्यमें लग जाना पड़ेगा; नहीं तो हमारा कहीं भी ठिकाना नहीं लगेगा ।"

कुछ समय बाद कांग्रेस-अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसादके साथ बातचीत करते हुए गांधीजीने कहा : "कांग्रेसके भवनकी एकके बाद दूसरी ईंट ढीली होकर गिर रही है । कांग्रेस निस्तेज हो गई है । हमें या तो अपने सामने वे वचन रखने चाहिये जो हमने देशके लोगोंको दिये हैं और उनका भलीभांति पालन करना चाहिये या साफ शब्दोंमें स्वीकार कर लेना चाहिये कि हमने जो कुछ पहले कहा था वह केवल आलंकारिक भाषा ही थी; व्यावहारिक प्रशासनमें उसका कोई स्थान नहीं हो सकता ।"

गांधीजी अपने बारेमें अधिकाधिक कठोर बनते गये और उन्होंने अपने आसपासके सब लोगोंको यह महसूस करा दिया कि उनको भी ऐसा ही करना पड़ेगा । सख्त सर्दीके कारण उनकी मंडलीके कई सदस्य बीमार पड़ गये, परन्तु वे स्थिर और अविचल रहे । उनकी राय थी कि हमारी बीमारीका कारण मौसमकी तब्दीलियां नहीं, परन्तु रामनामका अभ्यास न करना है । "ऋतुएं मनुष्यकी भलाईके लिए बनाई गई हैं । प्रकृति जो कुछ करती है वह सारी सृष्टिके भलेके लिए करती है । परन्तु हम यह नहीं समझ पाते, इसलिए प्रकृतिको दोष देते हैं ।" अपने लिए तो

गांधीजी कड़ाकेकी सर्दीमें भी सुबह मुंह-हाथ धोनेके लिए ठंडे पानीके उपयोगका ही आग्रह रखते थे। एक दिन प्रात:कालकी प्रार्थनाके बाद जब वे काम करने बैठे तो उनका हाथ ठंडके मारे कांप रहा था। अपने कमरेकी फर्स पर काममें लिये हुए लिफाफोंका एक ढेर देख कर उन्होंने कैंची हाथमें ली और लिफाफोंको काट-काट कर लिखनेके छोटे पुरजोंका रूप देना शुरू कर दिया। जब कोई बोला कि आप कांप रहे हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया कि इसका कारण ठंड नहीं है। "प्राकृतिक ठंड शरीरके लिए लाभदायक होती है। वह स्फूर्ति देती है। मेरे शरीरमें कंपकंपी हमारे जन-साधारणकी दरिद्रता और विपन्नताके कारण होती है। यह कब दूर होगी ? परन्तु इस सुखकर भवनमें आरामसे बैठ कर तुम उसकी कल्पना नहीं कर सकते। . . . अगर तुम्हें पता होता कि लिखनेके कागजके अभावमें गरीबोंकी नजरमें कागजके इन टुकड़ोंकी क्या कीमत है, तो तुमने इन्हें रद्दी कागज समझ कर यहां इस तरह पड़े न रहने दिया होता।"

लगभग अलौकिक संकल्प-बलसे गांधीजी इस सारे वातावरणके बीच अपना संतुलन और अपना विनोद कायम रख सके थे। जो भी उनके पास आता उसे गांधीजी जागरूकता, शांति, मधुरता, उल्लास और सद्भावनाके प्रत्यक्ष अवतार मालूम होते थे। ऐसा लगता था कि गांधीजीकी पहुंच शक्ति, आशावाद, आनंद और शांतिके किसी गुप्त भंडार तक थी, जिसका बाह्य परिस्थितियोंसे कोई सम्बन्ध नहीं था और जिसका अनुभव गांधीजी अपने संपर्कमें आनेवाले हर व्यक्तिको कराते थे। पंडित नेहरू, मौलाना आजाद, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद और सरदार पटेल – सभी अनुभवी सिपाही और महारथी योद्धा थे – रोज गांधीजीके पास आते थे। अकसर वे गंभीर चिन्तामग्न मुख, मुद्रा और कार्यभारसे झुके हुए सिर लेकर आते थे। परन्तु उनके पहुंचनेके कुछ ही क्षण बाद गांधीजीका कमरा उनकी खिलखिलाहटसे गूंज उठता था और जब वे जाते थे तो हलका दिल और खिला हुआ प्रसन्न चेहरा लेकर जाते थे। मानो वे अपनी सारी चिन्ताएं और झंझटें उस बूढ़ेके पास छोड़ कर चले जाते थे – जो कभी बूढ़ा न होनेवाला और सदा युवा बना रहनेवाला था और जिसकी आत्मा वयके बढ़नेके साथ साथ युवा होती जाती थी। जब एक चीनी मुलाकातीने गांधीजीसे पूछा : "रोज-रोज लगनेवाले आघातों और निराशाओंके बीच आपको

कौनसी चीज टिकाये रखती है ?" तो उन्होंने उत्तर दिया : "चारों ओर फैली हुई क्रूरता और हैवानियतके बीच भी अपनी शांति और प्रसन्नताको बनाये रखनेकी क्षमताको मैंने अपनी समस्त साधनाकी कसौटी और लक्ष्य बनाया है। ईश्वरमें मेरी श्रद्धा मेरी जिजीविषाको टिकाये रखती है, ताकि मैं पीड़ित मानव-जातिकी सेवा करके प्रभुकी सेवा कर सकूं।"

परन्तु गांधीजीके भीतरके ज्ञानतन्तु इतने तने और खिंचे हुए रहते थे कि लगभग टूटनेकी स्थिति खड़ी हो गई थी। उन्हें दूसरोंकी शुद्धिके लिए जिस शक्ति और शुद्धिकी आवश्यकता थी, उसकी कीमत चुकानेके लिए उन्हें सतत आत्माकी अग्नि-परीक्षा करनी पड़ती थी। कई बार वे अपने चिड़चिड़ेपनकी शिकायत करते थे और उसे दबानेके लिए उन्हें संघर्ष करना पड़ता था। एक वाक्य उनके मुंहमें सदा बना रहता था : "देखते नहीं, मैं अपनी चिता पर बैठा हूं ?" कभी कभी जब उन्हें कोई अंतिम चेतावनी किसीको देनेकी इच्छा होती, तो वे कहते थे : "तुम्हें मालूम होना चाहिये कि एक मुर्दा तुमसे यह कह रहा है।" वे कहते थे : मैं अक्षरश: यह प्रार्थना कर रहा हूं कि ईश्वर मुझे अपने भीतर समा ले और मुझे उस पीड़ा और यातनासे मुक्त कर दे जिसका रूप मेरे जीवनने ले लिया है। कभी कभी वे अपने आपसे पूछते थे : क्या मैं अपने साथियों और देश पर एक भार नहीं बन गया हूं; क्या मैं उस नये युगमें, जो मेरे चारों ओर आकार ग्रहण कर रहा है और जिसे आकार देनेमें मेरा सबसे अधिक हाथ रहा है, पुराना और अयोग्य नहीं साबित हो रहा हूं ? एक दिन कांग्रेस कार्यसमितिके एक सदस्यसे उन्होंने कहा : "जिस अच्छी नावने हमें बन्दरगाह तक पहुंचाया, उसे हम अब छोड़ रहे हैं। एक समय था जब कोई विश्वास नहीं करता था कि भारत अहिंसासे स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है। परन्तु अब जब स्वाधीनता सचमूच आ गई है तब हम अहिंसाको तिलांजलि देते दिखाई दे रहे हैं। ... यदि अब भारतके लिए अहिंसाका कोई उपयोग नहीं रह गया हो, तो क्या उसके लिए मेरा कोई उपयोग हो सकता है ? मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं होगा, यदि उस सारे सम्मानके बावजूद, जो राष्ट्रीय नेता मेरा करते हैं, वे मुझसे किसी दिन कह दें : 'इस बूढ़ेकी बात हमने बहुत रखी; अब वह हमें अपना काम क्यों नहीं करने देता ?' "

प्रकृति इस तरहकी स्थितिको लम्बे समय तक सहन नहीं करती । या तो वातावरण बदल जाता है या जो उसके अयोग्य होता है वह नहीं रहता । हमारे लिए विधाताने इनमें से कौनसी चीज रख छोड़ी होगी ? पार्थिव शरीर इस तनावको कब तक बरदाश्त कर सकेगा ? ये प्रश्न मेरे मनको सताते रहते थे जब मैं रोज-रोज गांधीजीके निस्तेज, विवर्ण चेहरे पर उदासी छाई देखता था । उस पर कुछ ऐसी भीतरी वेदना प्रकट होती थी, जिसे देखकर मुझे डर लगता था ।

२

अखण्ड भारतकी लड़ाई आखिरी मोर्चे पर हारी गई । परन्तु गांधीजीके लिए वह पीछेके मोर्चे पर, आगेके मोर्चे पर और चारों तरफके मोर्चे पर फिरसे शुरू हो गई थी । उन्होंने यह आशा कभी नहीं छोड़ी कि यदि भारतीय संघ अपने आदर्शके प्रति सच्चा रहा, तो देशके राजनीतिक विभाजनके बावजूद भारतके दोनों भागोंकी जीवंत एकता सिद्ध की जा सकती है । परन्तु विभाजनके बादके उत्पातोंसे पैदा हुए कष्टों और तनावोंके कारण अब उस आशाके चूर चूर होनेका खतरा पैदा हो गया था । बंटवारेके फलस्वरूप भारतीय संघमें लगभग चार करोड़ मुसलमान रह गये थे । मुस्लिम लीगके प्रचारके प्रभावमें आकर उनमें से अधिकांशने भारतके बंटवारेकी सक्रिय अथवा निष्क्रिय हिमायत की थी । उसके बाद मुस्लिम लीगके चोटीके नेता देश छोड़कर पाकिस्तान चले गये थे और अपने साधारण सहधर्मियोंको मंझधारमें छोड़ गये थे । मुसलमानोंका यह जन-समुदाय एक किकर्तव्य-विमूढ़, नेताविहीन जन-समुदाय था, जिसकी कोई स्पष्ट और निश्चित नीति अथवा लक्ष्य नहीं था । उनकी भावनात्मक निष्ठा अब भी लीगके प्रति थी । परन्तु समान नागरिकोंके रूपमें भारतीय संघमें उनके अस्तित्वकी अनिवार्य शर्त यह थी कि भारतीय संघके प्रति उनकी वफादारी असंदिग्ध हो । पूर्व पाकिस्तानके हिन्दुओंको भी यही बात लागू होती थी । उनके नेताओंने बंगालके विभाजनके लिए उनका समर्थन प्राप्त करनेके बाद पश्चिम बंगालमें अपने लिए आरामकी जगहें प्राप्त कर ली थीं और उन्हें मंझधारमें छोड़ दिया था । परन्तु एक अन्तर था । जैसे भारतीय संघमें रहे हुए मुसलमानोंका पक्ष लेनेवाले गांधीजी और पंडित नेहरू थे, वैसे पाकिस्तानमें वहांके हिन्दुओंका पक्ष लेनेवाला कोई नहीं था । जिन्होंने

भी विभाजनके पक्षमें मत दिया था, वे सभी उसकी कीमत चुका रहे थे – भारतीय मुसलमान तथा पाकिस्तानके हिन्दू और सिक्ख ही नहीं, परन्तु दोनों ओरके निराश्रित भी। वे सब दुःखी थे, उनका भ्रम मिट गया था, उनमें कटुता आ गई थी। उड़ीसाकी विधानसभामें मुस्लिम लीग दलके नेताने कहा : "भारतीय संघके मुसलमानोंको अब अनुभव होता है कि पाकिस्तानके आन्दोलनका समर्थन करके उन्होंने गंभीर भूल की है। पाकिस्तानके प्रवर्तक हम अल्पसंख्यकोंको दिये गये वचनोंको भूल गये और अतिशय हर्षमें आकर ऐसे काम कर बैठे, जिनसे पाकिस्तानके गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकोंके लिए मुसलमान बहुसंख्यकोंकी तरफसे खतरा पैदा हो गया।" [लतीफुर्रहमानका अखबारी वक्तव्य, २५ सितम्बर १९४७]

सतही शान्तिके नीचे घोर सन्देह बना रहा। दोनों ओरकी दुर्दम शंकाओंका अच्छी तरह सामना करके उनका समाधान खोजनेके बजाय उन्हें दबाया ज्यादा गया। पाकिस्तान्के नेताओंके उद्गारोंसे, भारतीय संघके प्रति उनके अतिशयोक्तिपूर्ण और द्वेषपूर्ण प्रचारसे तथा भारतीय मुसलमानोंके हितके संरक्षक बननेकी मौखिक बातोंसे भारतीय मुसलमानोंको कोई फायदा नहीं हुआ, बल्कि हिन्दुओंका डर अनावश्यक रूपमें गहरा हो गया और गड़बड़ ज्यादा बढ़ गई। भारतीय मुसलमानोंको प्रोत्साहन दिया गया कि वे सहायताके लिए पाकिस्तानकी ओर देखें। उन्हें यह सलाह नहीं दी गई कि वे अपने गैर-मुस्लिम पड़ोसियोंकी सद्भावना प्राप्त करें और जिस देशके नागरिक होनेका उनका दावा है उसके साथ तादात्म्य स्थापित करके अपने विरुद्ध बढ़ी हुई भावनाओंको अपने आचरणसे दूर करें। सरदार पटेल तो पक्के यथार्थवादी थे। उन्होंने यह चेतावनी दी : "मैं साफ कहनेमें विश्वास रखता हूं। ... मैं भारतीय मुसलमानोंसे स्पष्ट कहता हूं कि ... इस नाजुक अवसर पर आपका यह कर्तव्य है कि आप हमारे साथ एक ही नावमें बैठकर साथ ही डूबें या साथ ही तैरें। ... आप दो घोड़ोंकी सवारी नहीं कर सकते। ... आप कोई एक घोड़ा, जो भी आपको उत्तम मालूम हो, चुन लीजिये।" [सरदार पटेलका लखनऊमें भाषण, ६ जनवरी १९४८] मुसलमानोंके अधिक समझदार वर्गने इस बातको समझ लिया। भारतकी संविधान-सभामें मुस्लिम लीग दलके नेता खलीकुज्जमाको सीमा पारके अपने कल तकके

साथियोंसे कहना पड़ा कि वे अपना काम करें और भारतीय मुसलमानोंको उनके अपने हाल पर छोड़ दें । [भारतकी संविधान-सभामें मुस्लिम लीग दलके नेता चौधरी खलीकुज्जमांने १६ सितम्बर १९४७ के एक वक्तव्यमें कहा : "पश्चिम पंजाब मुस्लिम लीग कौंसिलकी कार्रवाई पढ़ कर मुझे आश्चर्य हुआ । उसमें मलिक फीरोज खां नूनने पाकिस्तानके हर नौजवानको फौजी तालीम देनेके एक प्रस्तावका समर्थन किया, क्योंकि उन्हें डर है कि पाकिस्तानके दुश्मनोंकी तरफसे उस पर आक्रमण होनेकी शंका है । मलिक साहब भूल जाते हैं कि भारतके बहुसंख्यक समुदायका भी एक वर्ग ऐसा है, जो भारतके विरुद्ध पाकिस्तानके शत्रुतापूर्ण इरादोंका प्रचार करके संदेह और अविश्वासके बीज बोनेके काममें लगा हुगा है । . . . पश्चिम पंजाब मुस्लिम लीग कौंसिलके लिए बेहतर होगा कि वह सरकारको पुनर्वासका ज्यादा जरूरी काम निबटानेके लिए छोड़ दे और उसका ध्यान ऐसे नाजुक सवालोंकी तरफ न बंटाये, जो दोनों सरकारोंके लिए गम्भीर पेचीदगियां पैदा किये बिना और अल्पसंख्यक समुदायोंको दलगत राजनीतिके दांव पर लगाये बिना नहीं रहेंगे । असलमें लीग कौंसिलको उस प्रशंसनीय रुख पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिये था, जो महात्मा गांधीने अपनाया है । गांधीजी अल्पसंख्यकोंको सलाह दे रहे हैं कि वे अपने-अपने घरोंको लौट जायं और सम्बन्धित बहुसंख्यक समुदाय उन्हें रक्षा और सुरक्षितताका आश्वासन दें । ऐसा करनेके लिए बहुतसी बातें भूलनी पड़ेंगी और बहुतसी बातोंके लिए क्षमा करनी होगी । परन्तु ऐसा किया जाय या न किया जाय, महात्मा गांधीने तो सच्ची बात कही है और सही आवाज निकाली है ।"] उड़ीसाकी विधान-सभामें मुस्लिम लीग दलके नेताने भारतीय मुसलमानोंसे अपील की : "अब हमें दो राष्ट्रोंवाले सिद्धान्तको भूल कर भारतीय संघके प्रति वफादार रहना चाहिये, क्योंकि पाकिस्तानियोंकी चिकनी-चुपड़ी बातोंके बावजूद वे हमारी सलामतीके लिए कुछ नहीं कर सकते; और अपनी रक्षाके लिए हमारा उनकी तरफ देखना बेकार होगा ।" [लतीफुर्रहमानका अखबारी वक्तव्य, २५ सितम्बर १९४७]

परन्तु मुसलमानोंके लीग-समर्थक वर्गके अधिकांश लोग जब सक्रिय रूपमें बेवफा नहीं होते थे तब भी वे खिन्न और उदासीन तो रहते ही थे । उनमें से कुछने तो खुल्लमखुल्ला यह शेखी

बघारनेका अविवेक दिखाया कि अभी तो हम चुप रह कर अपना समय बिता रहे हैं, परन्तु हमारा मौका जरूर आयेगा । इन सब बातोंसे युद्धप्रिय हिन्दुओंको उत्पातका अच्छा मौका मिलता था । इसका सबसे गंभीर परिणाम यह हुआ कि हिन्दू मध्यम वर्गमें और सरकारी नौकरियोंमें भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके लोग घुस गये । हिन्दू कांग्रेसियोंके एक वर्गकी गुप्त सहानुभूति भी इस संस्थाको प्राप्त होने लगी ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक सम्प्रदायवादी, फौजी ढंगका, फासिस्ट संगठन था । उसका संचालन महाराष्ट्र करता था । उसके मुख्य स्थान लगभग महाराष्ट्रियोंके ही हाथमें थे । हिन्दू राज्यकी स्थापना उनका घोषित लक्ष्य था । उन्होंने यह नारा अपना लिया था : "मुसलमान भारतसे निकल जाओ ।" उस समय वे बहुत सक्रिय नहीं थे, कमसे कम प्रकट रूपमें तो नहीं ही थे । परन्तु भीतर ही भीतर ये इशारे हो रहे थे कि वे पश्चिम पाकिस्तानके तमाम हिन्दुओं और सिक्खोंके आ जानेकी ही प्रतीक्षामें हैं । पाकिस्तानने जो कुछ किया है उसका पूरा बदला भारतके मुसलमानोंसे वे तब लेंगे ।

गांधीजीने इस करुण घटनाका जीवित साक्षी न बननेका निश्चय कर लिया था । मुसलमान भारतीय संघमें अब अल्पमतमें थे । भारतीय संघके समान नागरिकोंकी हैसियतसे उन्हें अपने भविष्यके बारेमें असुरक्षितता क्यों महसूस होनी चाहिये ? उन्हें भी बहुतसी बातोंका जवाब देना था और उन्हें सुधार लेना था । परन्तु बहुसंख्यक समुदायवालोंका कर्तव्य यह था कि वे बड़ा दिल रखकर पुरानी बातें भूल जाते और क्षमा कर देते । गांधीजीको यह देख कर दु:ख होता था कि भारतका कोई भी नागरिक डर कर रहे और सीधा सिर करके न चक सके । वे दबे हुए लोगोंके हितकी सदा रक्षा करनेवाले और पीड़ितोंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेवाले थे । इसलिए भारतीय मुसलमानोंमें वे साहस भरने लगे । वे कहते थे कि भारतीय मुसलमानोंकी हमें सहायता करनी चाहिये, ताकि वे अपने आपको फिरसे संगठित कर सकें, बंटी हुई वफादारीके कलंकसे मुक्त हो सकें और अपनी साख, प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मानको पुनः प्राप्त कर सकें । इसके फलस्वरूप वे हर तरहसे देशके अन्य नागरिकोंकी बराबरीमें खड़े रह कर उचित रूपमें स्वतंत्र

भारतके नागरिक होनेका गर्व ले सकेंगे । यदि मैं यह सब करनेमें सफल हुआ तो मैं अपने भीतर वह बल अनुभव करूंगा, जिसके आधार पर मैं पाकिस्तानको भलाईकी दौड़में भारतका साथ देनेके लिए निमंत्रित कर सकूं ।

दिसम्बर १९४७ में मुस्लिम लीग कौंसिलने कराचीके अपने दो दिनके अधिवेशनमें मुस्लिम लीगके दो अलग अलग संगठन रखनेका निर्णय किया । निर्णयमें कहा गया कि एक पाकिस्तानके लिए होगा, जिसके गैर-मुसलमान सदस्य नहीं होंगे । दूसरा भारतीय संघके लिए होगा । उत्तरप्रदेश (भारत) के प्रतिनिधियोंने भारतीय संघमें मुस्लिम लीगके बने रहनेका विरोध किया था । परन्तु पश्चिम पंजाब (पाकिस्तान) का दल उसके बने रहनेके पक्षमें था और जिन्नाने उसके विचारका समर्थन किया ।

मुस्लिम लीग कौंसिलके निर्णयके फलस्वरूप मुसलमानोंके दो संमेलन भारतमें दिसम्बरके अन्तिम सप्ताहमें हुए । राष्ट्रीय मुसलमान लखनऊमें इकट्ठे हुए और मुस्लिम लीगी मद्रासमें । इन सम्मेलनोंके पहले कुछ मुसलमान मित्रोंने गांधीजीके पास आ कर उनसे पूछा : "हम इन सम्मेलनोंमें जायं या न जायं ?" गांधीजीने उनसे कहा : आपको बुलाया जाय तो आप दोनों सम्मेलनोंमें जायं और अपने विचार हर सभामें निडर होकर स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करें । अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें उन्होंने कहा : यह सच है कि भारतमें मुसलमान अपनेको अल्पमतमें पाते हैं और पाकिस्तानके उनके मुस्लिम भाई भारतमें उनकी रक्षा नहीं कर सकते । परन्तु मैं पिछले ३० वर्षोंसे भारतकी जनताके सामने अहिंसाकी जो पद्धति रखता आया हूं उसका यदि वे अनुसरण करें, तो इस स्थितिसे उन्हें "कोई हानि नहीं होगी" । परन्तु इस तथ्यको समझ सकनेके लिए उनका अहिंसामें श्रद्धा रखना जरूरी नहीं कि कोई अल्पसंख्यक समुदाय कितना ही छोटा क्यों न हो, उसे अपने सम्मानकी और अपने प्रियजनों और परिजनोंकी रक्षाके बारेमें कभी सचमुच डरनेकी जरूरत नहीं :

मनुष्यकी रचना ही ऐसी की गई है कि यदि वह अपने प्रभुको समझ ले और यह जान ले कि वह उसी प्रभुकी प्रतिमूर्ति है, तो उसके अपने सिवा संसारकी कोई भी शक्ति उससे उसका आत्म-सम्मान नहीं छीन सकती। जब मैं ट्रांसवालकी शक्तिशाली सरकारसे लड़ रहा था तब जोहानिसबर्गके एक प्रिय अंग्रेज मित्रने मुझसे कहा कि उन्होंने सदा अल्पसंख्यकोंका साथ दिया है, क्योंकि वे शायद ही कभी भूल करते हैं; और यदि करते हैं तो उन्हें आसानीसे समझा कर सुधारा जा सकता है। इसके विपरीत बहुसंख्यकोंको नहीं सुधारा जा सकता, क्योंकि उन्हें ताकतका नशा होता है। उन मित्रने एक महान सत्य मुझसे कहा था। . . . भारतीय संघके मुसलमानोंको पूर्व और पश्चिमके मुस्लिम बहुमतके कारण मिथ्याभिमान था। किन्तु अब उनके दिमाग पर से वह बोझ उतर गया है। यदि वे अल्पमतमें होनेके गुणको पहचानेंगे, तो उन्हें मालूम होगा कि वे इस्लामकी उत्तम बातोंको अपने जीवनमें प्रकट कर सकते हैं। क्या वे इस बातकों याद रखेंगे कि इस्लामने अपना उत्तम योगदान मक्कामें पैगम्बरके शासन-कालमें किया और ईसाइयतका पतन सम्राट कान्स्टैण्टाइनके समयसे शुरू हुआ। [प्रार्थना-प्रवचन, २२ दिसम्बर १९४७]

दिसम्बरके तीसरे सप्ताहमें दो प्रमुख मुस्लिम लीगी गांधीजीके पास आये और उनसे कहने लगे कि भारतीय मुसलमान कांग्रेसमें शरीक होनेको उत्सुक हैं। कांग्रेसमें शरीक होनेकी उनकी उत्सुकताके दावेसे गांधीजीको अपमानका अनुभव हुआ, क्योंकि गांधीजी जानते थे और वे लोग भी जानते थे कि कांग्रेसमें उनके प्रति विरोधकी प्रबल भावना है और वहां उनका हृदयसे स्वागत नहीं किया जायगा। गांधीजीने उनसे कहा : "मुझे यह प्रतिस्पर्धा पसन्द नहीं है। मुसलमानोंको कांग्रेसमें शरीक होनेका अधिकार तो है, परन्तु मैं यह अधिक पसन्द करूंगा कि वे तब तक प्रतीक्षा करें जब तक कांग्रेस खुले दिलसे उनका स्वागत करनेको तैयार न हो। आज यह ऊष्मा कांग्रेसमें उनके लिए नहीं है। ऐसी हालतमें अभी मेरी तरह बाहर रह कर ही कांग्रेसकी सेवा करना उनके लिए उत्तम होगा।" शामकी प्रार्थना-सभामें उन्होंने कहा :

मेरा सदस्य रहे बिना भी (कांग्रेस पर) जो प्रभाव है उसका कारण यह है कि मैंने १९१५ में दक्षिण अफ्रीकासे लौटनेके बाद आज तक वफादारीके साथ उसकी सेवा की है । अबसे प्रत्येक मुसलमान भी ऐसा ही कर सकता है । तब उसे पता लगेगा कि उसकी सेवाओंकी भी उतनी ही कदर होगी जितनी मेरी सेवाओंकी होती है । आज हरएक मुसलमानको लीगी और इसलिए कांग्रेसका शत्रु मान लिया जाता है । दुर्भाग्यवश लीगकी शिक्षा ही ऐसी रही है ।

अब शत्रुताके लिए जरा भी कारण नहीं है । चार महीनेका समय साम्प्रदायिक विषसे मुक्त होनेके लिए बहुत थोड़ा है । . . . इसलिए मैं मुस्लिम अल्पसंख्यकोंसे जोर दे कर कहूंगा कि वे जहरीले वातावरणसे ऊपर उठें और अपने आदर्श आचरण द्वारा यह सिद्ध कर दें कि भारतीय संघमें सम्मानपूर्ण जीवन बितानेका एकमात्र मार्ग यह है कि वे मनमें कोई चोरी और दुराव-छिपाव न रखकर भारतके पूर्ण नागरिक बन जायं । तभी उनके प्रति बनी रहनेवाली अविचारपूर्ण दुर्भावना दूर होगी । [वही]

रही बात मुस्लिम लीगकी । उसके बारेमें उनकी साफ राय थी कि अन्य गैर-मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओंकी तरह वह अब राजनीतिक संगठनके रूपमें नहीं रह सकती । "ऐसी संस्थायें अपने अपने धर्मकी उत्तम बातोंकी खोज करने और तदनुसार जीवन बितानेके उद्देश्यसे आंतरिक धार्मिक सुधार करनेवाली धार्मिक संस्थाओंके रूपमें काम कर सकती हैं ।" [वही] फिर तो ये संस्थाएं वातावरणको सब तरहके विषसे मुक्त कर देंगी और अच्छा काम करनेमें एक-दूसरेसे होड़ लगायेंगी । "उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा कांग्रेसके जरिये ही पूरी हो सकती है, चाहे वे कांग्रेसमें हों या न हों ।" [वही]

एक और मुसलमान मित्र आये और गांधीजीसे कहने लगे : अब मैं भारतकी राष्ट्रभाषाके रूपमें हिन्दीका "पक्का हिमायती" बन गया हूं और "अपने मित्रोंसे इसे जल्दीसे जल्दी सीख लेनेको कह रहा हूं ।" गांधीजीने उन पर एक दुःखभरी तीखी नजर डाल कर कहा : अवश्य ही

प्रत्येक मुसलमानको हिन्दी सीखना चाहिये, जैसे प्रत्येक हिन्दूको उर्दू या यों कहिये कि अधिकसे अधिक भारतीय भाषाएं सीखनी चाहिये । मैं खुद तो राष्ट्र-भाषाके लिए हिन्दुस्तानीकी हिमायत करूंगा, चाहे संविधान-सभा दूसरा निर्णय करे और चाहे इस हिमायतमें मैं बिलकुल अकेला ही रह जाऊं । परन्तु चापलूसीके तौर पर हिन्दीको जो श्रद्धांजलि अभी दी गई है वह बिलकुल असामयिक है । उससे मुझे गहरी वेदना हुई है ।

जैसा पहले कहा जा चुका है, विभाजनकी योजनामें विभाजित प्रान्तोंके सरकारी नौकरोंको और केन्द्रीय सरकारके कर्मचारियोंको यह विकल्प दिया गया था कि वे चाहें तो भारतीय संघमें काम करें या चाहें तो पाकिस्तानमें काम करें । इसका परिणाम यह हुआ कि कुल मिलाकर मुसलमानोंने पाकिस्तानको पसन्द किया और हिन्दुओंने भारतको । परन्तु मुख्यतः डाक और रेल विभागके कुछ मुसलमानोंने, जो पहले "प्रचारके खातिर" पाकिस्तानको पसन्द कर चुके थे, अपने निश्चय पर पुनर्विचार करनेका अवसर चाहा । कुछ और मुसलमानोंने यह शिकायत की कि उन्हें अपने पदोंसे शायद इस आधार पर मुक्त कर दिया गया है कि उन पर हिन्दू-विरोधी भावनाएं रखनेका सन्देह था । गांधीजीने उन्हें कहा : मेरी सहानुभूति तो आपके साथ है, परन्तु आपके लिए सही रास्ता यही है कि इस "क्षम्य सन्देह" पर आप गुस्सा न करें, भले ही व्यक्तिगत उदाहरणोंमें वह अनुचित ही हो । "जब तक साम्प्रदायिक विषका व्यापक और हानिकारक प्रभाव मिट नहीं जाता, तब तक मेरे खयालसे मुसलमानोंके लिए सरकारी नौकरियोंको लक्ष्य न बनाना ही आवश्यक और प्रतिष्ठाकी बात होगी । सत्ता सच्ची सेवासे आती है । उसके प्राप्त हो जाने पर अकसर मनुष्यका पतन होता है ।" [प्रार्थना-प्रवचन, २९ दिसम्बर १९४७]

इस प्रकार एक बुद्धिमान मित्र और मार्गदर्शककी तरह गांधीजी भारतीय मुसलमानोंमें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व फिरसे पैदा करनेका कोई अवसर हाथसे जाने नहीं देते थे; साथ ही उनकी भूलें भी उन्हें समझाते थे, जिन्हें उनको सुधारना था और जिनके परिणाम भुगतना उनके लिए अनिवार्य था ।

३

दंगोंके दौरान राजधानीकी अनेक मस्जिदोंको हानि पहुंची थी और निराश्रितोंने उन पर अधिकार जमा लिया था । कुछको उन्होंने मन्दिर बना दिया था और उनमें मूर्तियां स्थापित कर दी थीं । गांधीजीको भी ऐसी एक मस्जिद राजधानीके केन्द्रमें कनाट सर्कसमें दिखाई गई थी । परन्तु जब उन्होंने इसकी ओर सरदार पटेलका ध्यान दिलाया, तो यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि सरदारको विश्वास नहीं हो रहा था । उनके अफसरोंने उन्हें कुछ और ही रिपोर्ट दी थी ।

नवम्बरके आरंभमें गांधीजीने सरदार पटेलको एक पत्रमें ऐसी घोषणा करनेकी बात सुझाई कि मस्जिदोंकी पवित्रताको यदि नष्ट किया गया तो उसे सहन नहीं किया जायगा और यदि उन्हें कोई नुकसान पहुंचा हो तो सरकार उनकी मरम्मत करायेगी । दो दिन बाद दिल्ली प्रशासनकी तरफसे एक विज्ञप्ति जारी की गई, जिसमें गैर-मुस्लिमोंको सूचित किया गया कि सात दिनके भीतर तमाम मस्जिदें खाली कर दी जायं, अन्यथा पुलिस वहां रहनेवालोंको जबरन् बाहर निकाल देगी । जिन मस्जिदोंको हानि पहुंची थी उनकी मरम्मत करानेका भी सरकारने निर्णय किया ।

यहां तक तो ठीक ही हुआ । परन्तु गांधीजीन कहा कि जब तक हिन्दू स्वयं मस्जिदोंसे मूर्तियां नहीं हटा लेंगे और मस्जिदोंकी मरम्मत नहीं करेंगे तब तक मुझे सन्तोष नहीं होगा । पूजाके स्थानोंको फौज या पुलिसकी शक्तिका उपयोग करके पहले जैसा कर देना निरा मजाक है – उसे क्षति-पूर्ति नहीं कहा जा सकता ।

मुसलमानोंने सरदार पटेल और उनके अफसरोंके विरुद्ध गंभीर आरोप लगाये थे । उनका यह आक्षेप था कि ये लोग मुसलमानोंकी दुकानोंकी लूट पर आंखें बन्द कर लेते हैं । वे कार्रवाई करनेका बहाना करते हैं, लेकिन असलमें निराश्रितोंकी भीड़से बड़ी संख्यामें आनेको कहते हैं, ताकि बादमें पुलिस यह कह सके कि "भारी तादाद" के सामने वह लाचार हो गई थी । गांधीजीने उनके प्रवक्ताओं और मंत्रि-मंडलके तीन मुख्य सदस्योंकी एक बैठक बुलवाई, ताकि उनकी

उपस्थितिमें सारे मामलेकी चर्चा कर ली जाय । यह बैठक २५ दिसम्बरको दूसरी बार बुलवाई गई । उस समय दिल्ली पुलिसका उच्चाधिकारी भी उपस्थित था । उसके परिणामसे गांधीजीको बहुत सन्तोष नहीं हुआ । दिल्लीकी पुलिस और सेनाके काफी लोगोंके घर पश्चिम पंजाब और सीमाप्रान्तमें थे और ये दोनों अब पाकिस्तानके अंग थे । कुछको संकट-कालीन उपायके तौर पर निराश्रितोंमें से भरती किया गया था । इस कदमका औचित्य शंकास्पद था । उनमें से बहुतोंके प्रियजन और परिजत मारे गये थे । कइयोंके रिश्तेदारोंको, उपद्रवोंके दौरान मौतसे भी बुरे अपसान सहने पड़े थे । वे अब निराधार और विपन्न हो कर उसके लिए भार बन गये थे और उनके घर छोटे छोटे निराश्रित शिविर जैसे हो गये थे । इन घरोंका वातावरण अच्छा नहीं था । वातावरणमें मुसलमानोंके खिलाफ गहरा रोष और कटुता भरी हुई थी । पुरुषोंसे भी स्त्रियां कुदरती तौर पर अधिक विक्षुब्ध और क्रुद्ध थीं । पुलिसवाले खुल्लम-खुल्ला तो सरकारकी आज्ञाओंका उल्लंघन नहीं करते थे । परन्तु बहुत बार उन लोगोंकी कर्तव्य और अनुशासनकी भावना पर उनकी गहरी व्यक्तिगत दुर्भावना हावी हो जाती थी ।

प्रशासनका कार्य इन्हीं लोगोंके द्वारा चलाना पड़ता था । सरदार पटेल बहुत संतप्त थे; वे बीमार भी बहुत थे । उनके पास जो तंत्र था उसे एक खास ढंग पर ही चलाया जा सकता था । उन्हें अपने अफसरों पर भरोसा करना पड़ता था । वे ही उनके आंख-कान थे । उनकी वफादारी पर बहुत ज्यादा जोर डाल कर वे उसे खोनेकी स्थितिमें नहीं थे; और न वे उस कठिन समयमें उनकी हिम्मत ही टूटने देना चाहते थे । गांधीजीकी स्थिति बड़ी विषम हो गई थी । वे सरकारमें नहीं थे । घटना-चक्र इतनी तेजीसे घूम रहा था कि उन्हें साधारण ढंगसे काम करनेके लिए अकसर समय ही नहीं मिलता था । जिन जरूरी और तात्कालिक समस्याओंमें विलम्बकी गुंजाइश नहीं थी, उन्हें हल करनेके लिए गांधीजीको अकसर अपने प्रार्थना-प्रवचनोंके माध्यमका आश्रय लेना पड़ता था । जनताके लिए तथा सभी सम्बंधित लोगोंके लिए ये प्रवचन गैर-सरकारी दैनिक आदेश बन गये थे । साथ ही, गांधीजी ऐसी कोई बात नहीं करना चाहते थे, जो दीखनेमें भी अनधिकार चेष्टा या हस्तक्षेप जैसी लगे । उनकी स्थिति बहुत नाजुक थी । सबके ज्ञानतंतु तने

हुए रहते थे । गांधीजीको बहुत ही सावधान रहना पड़ता था । एक अवसर पर उन्होंने सरदारको लिखा : "(दिल्लीके डेप्यूटी कमिश्नर) रणधावासे मिलनेके बाद मुझे महसूस हुआ कि मैं उन्हें सीधा ही लिखूं तो आपका समय बच जायगा । क्या यह ठीक होगा ?" [गांधीजीका पत्र सरदार पटेलको, २९ नवम्बर १९४७]

१९४२ में जब लड़ाईके दबावसे सरकार बहुत घबरा गई थी तब मीराबहनने ब्रिटिश सैनिक अधिकारियोंसे बड़े उपयोगी सम्पर्क स्थापित कर लिये थे । उन्होंने गांधीजीसे पूछा : दिल्लीकी स्थितिको सुधारनेके लिए मैं वैसा ही कुछ करूं तो ? गांधीजीने जो उत्तर दिया वह बड़ा अर्थपूर्ण था : "अब पुराना जमाना नहीं रहा । अब तो चक्रोंके भीतर चक्र हैं । इन फौजी लोगोंसे मिलकर तुम कुछ भी उपयोगी सेवा नहीं कर सकतीं । सिर्फ उनके मित्रतापूर्ण चेहरे भर देख सकती हो । वे तुम्हारा हार्दिक स्वागत करेंगे, परन्तु तुम्हें दूसरा कुछ नहीं देंगे ।" [गांधीजीका उद्धरण मीराबहन कृत 'ग्लीनिंग्स' में, अहमदाबाद, १९४९, पृ. २६]

गांधीजीने एक प्रार्थना-सभामें कहा : "लोग मुझसे बहुत आशा रखते हैं, परन्तु उन्हें समझ लेना चाहिये कि मैं सरकार नहीं चला रहा हूं ।" जो लोग सरकार चला रहे हैं वे मेरे मित्र हैं, परन्तु मैं नहीं चाहता कि कोई केवल मित्रताके कारण या मेरे प्रति रहे आदर-भावके कारण मेरी सलाहको मानें । उन्हें जंचे तो ही मेरी सलाह उन्हें माननी चाहिये । यदि मंत्रीगण, उनके सचिव और नीचेके कर्मचारी – जिनमें पुलिसवाले शामिल हैं – मेरी सुनें, तो बात कुछ और ही हो जाय । परन्तु यह तो हो नहीं सकता । मंत्रियोंको अंग्रेज शासकोंसे उत्तराधिकारमें पुराना तंत्र मिला है, जिसका वे अच्छेसे अच्छा उपयोग कर रहे हैं । [प्रार्थना-प्रवचन, ७ जनवरी १९४८]

मुसलमानोंके घरों पर अधिकार जमानेके प्रयत्न जारी रहे । बार-बार पुलिसको अश्रुगैसका उपयोग करना पड़ता था । ३ जनवरी, १९४८ को एक निराश्रित दलने कुछ खाली पड़े हुए मुस्लिम घरोंमें अनधिकार प्रवेश करनेकी कोशिश की । उन्होंने पुलिसकी कार्रवाईसे बचनेके लिए अपनी औरतों और बच्चोंको आगे कर दिया । गांधीजीने इसे "स्त्रीत्वका घोर अपमान" कहा । तीन दिन

बाद वे बोले : मैं जानता हूं कि दिल्लीकी कड़ाकेकी ठंडीमें खुलेमें सोना कठिन है । जब पानी बरसता है तब तम्बुओंमें पूरी रक्षा नहीं होती । परन्तु मुसलमानोंको जिस तरह दबाकर निकाला जा रहा है, उसमें कुटिलता और अभद्रता दोनों हैं । अगर आप मुस्लिम घरोंको अपना खास निशाना न बनाते, तो मैं घरोंके लिए आपकी पुकारको समझ सकता था । आप बिड़ला-भवनमें आकर मुझे और उसके मालिकोंको बाहर निकाल कर उस पर अधिकार जमा सकते थे । "यह शराफत तो नहीं होती, लेकिन खुला व्यवहार जरूर होता ।" आपको अधिकारियोंने दूसरी जगह देना चाही तो भी आप मुसलमानोंके घरोंमें ही रहनेका आग्रह करते हैं । इससे साफ जाहिर होता है कि आप जरूरतके कारण ऐसा नहीं करते, परन्तु आप मुसलमानोंको दिल्लीसे निकाल देना चाहते हैं । अगर आम लोगोंकी यह इच्छा हो, तो इस तरहकी चालबाजियोंसे मुसलमानोंको भगानेके बनिस्बत उनसे यहांसे चले जानेको कह देना कहीं अच्छा है ।

मंत्रि-मंडलके भीतर भी खींचतान थी, तनाव था । पंडित नेहरू और सरदार पटेलके स्वभावोंमें तो सदासे अन्तर रहा ही था और विभिन्न प्रश्नोंके बारेमें उनके अपने अपने दृष्टिकोणमें भी भेद था । सरदारको पंडित नेहरूके लिए व्यक्तिगत रूपमें और उनके दिल और दिमागके अनुपम गुणोंके लिए बड़ेसे बड़ा आदर था । परन्तु उन्हें शिकायत थी कि उनके मुखियाने बुरे सलाहकारोंको अपने आसपास जमा कर रखा है, उन्हें उन पर (सरदार पर) काफी विश्वास नहीं है और वे कल्पनाओं और सिद्धान्तोंमें फंस गये हैं, जिससे उनके नेक इरादे विफल हो जाते हैं । उधर पंडित नेहरूको सरदारके विभिन्न प्रश्नोंको हल करनेके ढंगसे असंतोष था, यद्यपि उनके हृदयमें सरदारकी विचक्षण व्यवहार-दक्षता, प्रशासनिक प्रतिभा, चालना-शक्ति और योद्धा जैसे अद्वितीय गुणोंके लिए बड़ा आदर था । पंडित नेहरू कभी कभी एक तरफ अपनी जिम्सेदारियों और विश्वासोंके कारण और दूसरी तरफ अपने साथीके लौह-संकल्पके कारण असमंजसमें पड़ जाते थे । कई प्रश्नों पर गांधीजीके दृष्टिकोणसे सरदार और पंडित नेहरू दोनोंका विरोध रहता था। परन्तु गांधीजीके बिना दोनोंका काम नहीं चलता था और गांधीजी इस निर्णय पर पहुंचे थे कि देशको सरकारमें दोनोंकी ही सेवाओंकी जरूरत है । अपने मतभेदोंके बावजूद दोनोंने

स्वातंत्र्य-संग्रामकी लगभग तीस वर्षकी लम्बी अवधिमें अनुशासनबद्ध सिपाहियों तथा वफादार मित्रों और साथियोंके नाते आपसमें सहयोग किया था । पिछले मतभेदोंके बावजूद दोनोंके स्नेह और आदरमें कोई फर्क नहीं पड़ा था । परन्तु स्वाधीनता मिलनेके बादसे ये मतभेद अधिकाधिक व्यावहारिक रूप ग्रहण करने लगे थे और उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों पर भी प्रभाव डालने लगे थे। उदाहरणके लिए, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघको लीजिये । सरदार पटेलकी नजरमें वे "देशभक्त थे, यद्यपि गुमराह थे ।" उनके साथ सरदारका झगड़ा यह नहीं था कि वे धर्मान्ध सम्प्रदायवादी हैं, जिन्होंने मुसलमानोंके बारेमें ईंटका जवाब पत्थरसे देनेका मन्त्र अपना लिया था, बल्कि यह था कि कानूनको अपने हाथमें लेकर वे "सरकारको कमजोर कर रहे हैं", जब कि "परिस्थितिकी मांग यह है कि उन्हें सरकारके हाथ मजबूत करने चाहिये ।" [लखनऊमें सरदार पटेलका भाषण, ६ जनवरी १९४८] सरदार चाहते थे कि कांग्रेस-जन "अपने प्रेमसे" उन्हें सही मार्ग पर लायें । सरदार ऐसे लोगोंसे नाराज थे, जो यह मानते थे कि कानून भंग करनेवाले दूसरे लोगोंकी तरह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघको भी कठोर उपायोंसे दबा देना चाहिये । अपने एक भाषणमें उन्होंने कहा: "कांग्रेसमें कुछ सत्ताधारी लोग यह मानते हैं कि अपनी सत्ताके बलसे वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघको कुचल देंगे । आप बलसे काम लेकर किसी संगठनको कुचल नहीं सकते । . . . आखिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघवाले चोर और डाकू तो नहीं हैं । वे देशभक्त हैं, जिन्हें अपने देशसे प्रेम है; केवल उनकी विचारधारा गलत दिशामें मुड़ी हुई है ।" [वही] ये उद्गार दुर्भाग्यपूर्ण थे । क्या हेतु देशभक्तिपूर्ण होनेसे ऐसे कृत्य उचित ठहराये जा सकते हैं, जो अपने आपमें जघन्य हों ? जाहिर है कि सरदार पहलेसे यह नहीं देख सके कि इस नरमीका देशको शीघ्र ही क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा । बादमें जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघने अपना असली रूप प्रगट किया, तो सरदार उद्विग्न हो गये । उन्होंने तुरन्त कार्रवाई की – परन्तु दुर्भाग्यवश वह बहुत देरसे हुई ।

अपने मंत्रि-मण्डलके साथियोंके प्रति प्रधानमंत्रीके अधिकारों और कार्योंकी मर्यादाएं निश्चित करनेका काम स्पष्ट रूपसे नहीं किया गया था । क्या प्रधानमन्त्रीका "समन्वयकारक तथा निरीक्षक" के नाते कोई विशेष कार्य था, जिसमें अन्य सब मंत्रालयोंका समावेश हो जाता

था ? यदि था तो अन्य मंत्रालयोंके कार्यमें हस्तक्षेप किये बिना यह कार्य कैसे किया जा सकता था ? इसका पंडित नेहरू और सरदार पटेलके आपसी सम्बन्धों पर विशेष रूपमें प्रभाव पड़ता था । यह समस्या असामान्य बिलकुल नहीं थी । वह शासनकी मंत्रिमंडलीय प्रणालीमें स्वभावत: रहती ही है । मंत्रि-मंडलके दो शक्तिशाली साथियोंमें नीति-सम्बन्धी तीव्र मतभेद आम तौर पर इस प्रकार मिटता है कि उनमें से एक रह जाता है और दूसरा उससे बाहर निकल जाता है, यदि मतभेद और किसी तरह दूर न हो सके । परन्तु गांधीजीकी अहिंसाने भारतीय राजनीतिमें एक नया मानदण्ड दाखिल कर दिया था । उन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि स्वयं सत्तारूढ़ न होकर भी सत्ताका मार्गदर्शन किया जा सकता है । पंडित नेहरू और सरदार पटेल दोनों अपने अपने अधिकारसे इतने महान थे कि देशमें अपनी स्थितिके लिए उन्हें पदके आधारकी जरूरत नहीं थी । एक-दूसरेको निकालनेके बजाय दोनों ही एक-दूसरेके पक्षमें मंत्रि-मंडलसे बाहर निकल जानेको तैयार थे, ताकि सरकारका काम संघर्षके बिना चल सके । और दोनोंने ही इस आशयके पत्र गांधीजीको लिख भेजे थे ।

दुर्भाग्यसे दोनों ओर ऐसे पक्षपातियों और खुशामदियोंकी कमी नहीं थी, जो इन मतभेदोंको उमाड़ते थे और कुछ अधिकारियोंको तो अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए इन मतभेदोंका दुरुपयोग करनेमें भी संकोच नहीं था । विदेशी संवाददाताओंके एक वर्गको इन मतभेदोंका विज्ञापन करनेमें खास मजा आता था । इन मतभेदोंको वे भारतीय मंत्रि-मंडलकी "फूट" बताकर अपने वर्णनको तरह तरहके मनगढ़न्त अनुमानों, परिणामों और भविष्य-वाणियोंसे सजाकर प्रकट करते थे । इसमें उनकी अभिलाषा ही विचारोंकी जननी होती थी ।

गांधीजीको भय था कि कांग्रेसी नेताओंके बीच बढ़नेवाली इस खाईका पाकिस्तान दुरुपयोग करेगा । ऐसा दिखाई देता था कि पाकिस्तान मंत्रि-मंडलकी फूट पर आधार रखकर अपने समयकी प्रतीक्षा कर रहा था । गांधीजीके लिए व्यक्तिगत रूपमें इससे भी अधिक दुःखद बात यह थी कि इन झगड़ोंमें गवर्नर-जनरलको घसीटा जा रहा था । एक कांग्रेसी साथीके सामने गांधीजी कह उठे: "माउण्टबेटनके इरादे कितने ही नेक क्यों न हों, फिर भी हमें अपने घरेलू

झगड़ोंमें उन्हें ऐसी दिलचस्पी क्यों लेने देना चाहिये?" इसमें एक मनुष्यकी हैसियतसे माउण्टबेटन पर कोई लांछन नहीं था । गांधीजीको उन पर पूरा भरोसा था । परन्तु भारतके लिए यह बात अपमान- जनक थी । गांधीजी अपने ही ढंगसे इन मतभेदोंको दूर करनेका प्रयत्न कर रहे थे; और दोनों पक्षोंको जैसा वे जानते थे उससे उन्हें अन्तिम परिणामके बारेमें जरा भी शक नहीं था । जवाहरलालजी और सरदार पटेल दोनों पक्के देशभक्त थे । दोनोंमें से कोई भी स्वार्थसाधक नहीं था; और वे केवल मातृभूमिकी सेवा करनेके लिए ही जीवित थे । दिल्लीमें फिरसे गांधीजीके साथ मेरे जुड़ जानेके बाद एक दिन वे मुझसे बोले : "सरदार, पंडित नेहरू और माउण्टबेटन तीनों अपना अपना काम संपूर्ण कुशलतासे कर रहे हैं । तीनोंके हेतु अत्यन्त शुद्ध और तीनोंका एकमात्र उद्देश्य अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार भारतकी सेवा करना है । मैं अपने ढंगसे अपना काम कर रहा हूं और अन्तमें इसीकी जीत होगी । मेरे मार्गके सिवा भारतके उद्धारका अन्य कोई मार्ग नहीं है । कमसे कम माउण्टबेटनने इस बातको समझ लिया है ।"

४

कुछ समयसे काश्मीरका प्रश्न प्रतिदिन अधिकाधिक गंभीर होता जा रहा था । महाराजासे उनकी निरंकुश सत्ता छीन लेनेका सवाल अभी तक अधरमें लटका हुआ था । दिसम्बर १९४७ के अन्तिम सप्ताहमें राजधानीकी एक मुलाकातके दौरान शेख अब्दुल्लासे गांधीजीने पूछा : "क्या विभाजनके बादके उत्पातोंमें काश्मीर राज्यकी सेनाके आचरणके बारेमें जो कुछ कहा जाता है वह सच है ?" शेख अब्दुल्लाने स्वीकार किया : "दुर्भाग्यवश सच है ।" गांधीजी उबल पड़े : "तब आप अपनी घरोहरके प्रति विश्वासघात किये बिना महाराजाके अधिकार कम करनेके प्रश्न पर कमजोरी दिखानेकी हिम्मत कैसे कर सकते हैं ?" पंडित नेहरूको शेख अब्दुल्लामें अपार विश्वास था, परन्तु सरदार पटेलको उनके विषयमें शंकाएं थीं । गांधीजीका यह आग्रह था कि महाराजाको निरंकुश सत्ता छोड़ देनी चाहिये, परन्तु अपने स्वभावके अनुसार उन्होंने शेख अब्दुल्लाको सरदारका भय बता दिया और कहा कि उसे दूर करना आपका फर्ज है, क्योंकि सीधे रास्तेसे आप जरा भी हटेंगे लो आपका पतन हो जायगा ।

गांधीजीने काश्मीरके सवालको घासके ढेरमें जलती दियासलाईके समान बताया। "आप कभी नहीं कह सकते कि वह कब भड़क उठेगा और सब कुछ स्वाहा कर देगा।" उनका आग्रह था कि भारतीय संघको अपना घर ठीक करना चाहिये और आकाश टूट पड़े तो भी विशुद्ध न्याय ही करना चाहिये। बम्बईके एक पारसी मित्र और भारतीय वायुसेनाके एक अधिकारीके साथ हुई बातचीतमें उन्होंने अपना हृदय खोला और लगभग पौन घंटे तक गहरी उत्तेजनामें बिड़ला-भवनके अपने कमरेमें टहलते हुए मनका गुबार निकाला। उन्होंने कहा : काश्मीरकी क्या बात है, मैं तो सारे देशी राज्योंके संघसे निकल जानेकी भी परवाह नहीं करूंगा, यदि उसे अपने पास रखनेके लिए उन सिद्धान्तोंका बलिदान करना पड़े, जिनका भारतीय संघ समर्थक रहा है। वे सिद्धान्त हैं : अल्पसंख्यकोंके साथ पूर्ण न्याय तथा समान व्यवहार और भय अथवा पक्षपातके बिना अपराधियोंको दण्ड। भारतका आकार भले कम हो जाय, परन्तु यदि उसकी आत्मा शुद्ध रहे, तो वह वीरोंकी अहिंसाका पोषक हो सकता है, संसारका नैतिक नेतृत्व ग्रहण कर सकता है और पीड़ित तथा शोषित जातियोंको आशा और मुक्तिका सन्देश दे सकता है। इसके विपरीत, भारी भरकम किन्तु आत्मा-रहित भारत पश्चिमके सैनिक पद्धतिवाले राज्योंका घटिया अनुकरण ही होगा और उनके आक्रमणके सामने खड़ा रहनेमें सर्वथा असमर्थ होगा। यदि भारत काश्मीरके महाराजाके अधिकार कम नहीं करेगा, तो भारतकी ख्याति पर सारे मुस्लिम जगतमें बट्टा लग जायगा। गांधीजीने अपनी चेतावनी जारी रखते हुए कहा – जिसका सार उन्होंने कुछ समय बाद अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें दोहराया : आपको यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि मुस्लिम समुदाय संख्यामें विशाल है और सारी दुनियामें फैला हुआ है। भारत सारे संसारके साथ मित्रताका समर्थक है। वह मुसलमानोंकी सद्भावना और मित्रताके प्रति लापरवाह कैसे रह सकता है? मैं कोई भविष्य-वक्ता नहीं हूं, परन्तु यह जाननेके लिए पूर्वबोधकी विशिष्ट प्रतिभाका होना जरूरी नहीं कि यदि किसी भी कारणसे भारतके हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरेके मित्र नहीं बन पाये, तो सारा मुस्लिम संसार भारतका शत्रु बन जायगा और भारत तथा पाकिस्तान दोनों अपने लड़ाई-झगड़ेके फलस्वरूप फिरसे विदेशी हुकूमतके शिकार हो जायंगे।

काश्मीरके प्रश्न पर भारत और पाकिस्तानके बीच तनाव लगभग टूटनेकी हद तक पहुंच गया था और जनवरी १९४८ के पहले हफ्तेमें आकाश पर युद्धके बादल मंडराने लगे थे । गांधीजीने एक साथीको पत्रमें लिखा : "यहां की स्थिति ज्यादासे ज्यादा खतरनाक है । लॉर्ड माउण्टबेटन काश्मीरके मामलेमें भरसक कोशिश कर रहे हैं ।" परन्तु और कहीं कुछ भी हो जाय, बिहार और बंगालको तो साम्प्रदायिक आगसे दूर ही रहना होगा । यदि वहां कोई उत्पात हुआ, तो उन्हें मेरी लाश ही मिलेगी ।

भारत और पाकिस्तानके बीच युद्धकी सम्भावनाका जिक्र करके राजकुमारी अमृतकौरसे उन्होंने कहा : "कमसे कम मैं तो यह देखनेको जिन्दा नहीं रहूंगा । क्या हमारी स्वाधीनताका अन्त भाइयोंकी ऐसी हत्यामें ही होगा ?"

दोनों देशोंमें युद्ध छिड़ जानेकी सूरतमें गवर्नर-जनरलकी हैसियतसे साउण्टबेटनकी स्थिति क्या होगी, इसके बारेमें बेचैनीसे कुछ अनुमान लगाया जा रहा था । उस समयके उत्तेजित वायुमण्डलमें कुछ लोगोंको काश्मीरकी विकट परिस्थितिमें अंग्रेजोंका छिपा हाथ दिखाई देता था । ऐसी वाहियात बातोंकी कड़ी निन्दा करते हुए गांधीजीने डॉ. राजेन्द्रप्रसादसे कहा : मैं तो नहीं मानता कि काश्मीरकी घटनाओंमें ब्रिटिश सरकारका प्रत्यक्ष हाथ हो सकता है । मुझे माउण्टबेटनकी ईमानदारीमें पूरी श्रद्धा है । मुझे विश्वास है कि जब तक वे गवर्नर-जनरल हैं तब तक अपने देशके किसी बुरे कार्यका वे समर्थन नहीं करेंगे ।

काश्मीरके झगड़ेको घरका प्रश्न समझ कर उसे आपसमें सुलझानेके बदले संयुक्त राष्ट्रसंघमें ले जानेके भारतीय संघके निर्णयको गांधीजी नापसन्द करते थे; और अपनी इस नापसन्दगीको उन्होंने कभी छिपाया नहीं । परन्तु जो लोग इस प्रश्नको अपनी बुद्धिके अनुसार निबटानेमें लगे हुए थे, उनमें गांधीजी बुद्धिभेद उत्पन्न करना नहीं चाहते थे । अत: जब संयुक्त राष्ट्रसंघके भारतीय प्रतिनिधि गोपालस्वामी अय्यंगर काश्मीरकी चर्चामें भारतके पक्षका प्रतिनिधित्व करनेके लिए अमेरिका जानेसे पहले गांधीजीसे मिलने आये, तो गांधीजीने उनसे

कहा : "आपको यह जरूर समझ लेना चाहिये कि मेरा और आपका रास्ता अलग है । इसलिए आपको या तो मेरे रास्ते पर चलनेका निश्चय करके इस प्रश्नको सीधी बातचीतके द्वारा निबटा लेना चाहिये । इसके लिए हममें से किसीको जिसे आप पसन्द करें, बीचमें डाला जा सकता है या जरूरी हो तो एशियाके किसी देशकी मदद की जा सकती है । अन्यथा आपको स्पष्ट और खुले रूपमें कोई स्वतन्त्र मार्ग अपना लेना चाहिये ।"

बीतनेवाला वर्ष गांधीजीके लिए घोर अन्धकारमें ही समाप्त हुआ । उसमें प्रकाशकी किरण एकमात्र उनकी अपनी श्रद्धा ही थी । दिसम्बरके तीसरे सप्ताहमें उनका एक पत्र इस प्रकार था : "संभव है, आपके कथनानुसार देश स्वाधीनताका उल्लास अनुभव कर रहा हो । परन्तु जो लोग मुझसे मिलने आते हैं उनके चेहरों पर मुझे यह उल्लास दिखाई नहीं देता । संभव है कि मुझमें उल्लास नहीं है इसलिए पीलियेके रोगीकी तरह मुझे सबके मुंह पर वही व्यथा दीखती हो जो मेरे भीतर है । . . . इसलिए मैं कहता हूं कि सब अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार अपना कर्तव्य पूरा करें । फिर सब ठीक हो जायगा ।" और उन्होंने गीताका वह श्लोक उद्धृत किया, जिसमें कहा गया है : "आत्मा ही आत्माका परम मित्र है और आत्मा ही आत्माका घोर शत्रु है ।" (आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु: आत्मैव रिपुरात्मन: ।)

अपने आसपासकी स्थितिका हिंसाब लगाकर उन्होंने एक और पत्रमें लिखा : "अंग्रेजोंके विरुद्ध लड़ी गई लड़ाईमें हम यह महसूस किया करते थे कि यह लड़ाई सख्त है, लेकिन आज मैं देखता हूं कि हमारे सामने जो लड़ाई है उसकी तुलनामें वह लड़ाई बच्चोंका खेल थी । उस समय हम अंग्रेजोंको कोसनेमें अतिशयोक्ति कर सकते थे –तिलका ताड़ भी बना सकते थे । परन्तु आजकी बात क्या कहें, जब हम अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी मार रहे हैं ? हम कर्तव्यकी चुनौतीके सामने पीठ दिखा रहे हैं । जब तक हम आत्मशुद्धि नहीं कर लेंगे तब तक हमारे देशमें 'सुराज्य' की स्थापना नहीं हो सकती । परन्तु हमारे आत्मशुद्धि करनेसे पहले ही स्वाधीनता हमारे द्वार पर आकर खड़ी हो गई । इसी कारण आज हमारी यह दशा है ।"

एक रात राजकुमारी अमृतकौर कुछ अंग्रेज मित्रोंको गांधीजीसे मिलाने लाईं। बातचीतके दौरान गांधीजीने आगंतुकोंसे कहा : "इस अपूर्ण जगतमें कोई मानव-प्राणी अथवा धार्मिक संस्था पूर्ण नहीं है। धार्मिक संस्थाएं युगकी और तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियोंकी चुनौतीका उत्तर होती हैं। आज हम ईसाकी पूजा करते हैं, परन्तु शरीरधारी ईसाको हमने सूली पर चढ़ा दिया था। पैगम्बरोंको पत्थरोंसे मारना और बादमें उनकी स्मृतिमें गिरजाघर खड़े करना प्रत्येक युगमें संसारकी परिपाटी रही है। पुराने जमानेके लोग अपनी सफाईमें यह दलील दे सकते थे कि हम नहीं जानते थे कि हम क्या कर रहे हैं। परन्तु आजके हम लोग ऐसी कोई सफाई नहीं दे सकते। और, जैसा कनफ्यूशियसका एक वचन है, "सही बातको जानकर भी उसे न करना कायरता है।" उन्होंने आगे कहा, सिद्धान्तके रूपमें सम्पूर्ण धर्म सम्भव है। परन्तु मानव-जातिको अभी तक ऐसा धर्म मिला नहीं है। "इसी तरह कोई आदमी यह दावा नहीं कर सकता कि उसने ईश्वरको देखा है। पिछले साठ वर्षोंसे मेरी आकांक्षा और साधनाका यही लक्ष्य रहा है। मैं यह दावा तो नहीं कर सकता कि मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हो गई है, परन्तु मुझे लगता है कि मैं प्रतिदिन उसके निकट पहुंच रहा हूं और मेरे लिए यह काफी है।"

कुछ दिन बाद गांधीजीने कहा : "जब मेरा वह लक्ष्य सिद्ध हो जायगा तब मेरी अहिंसाका प्रकाश सर्वत्र व्याप्त हो जायगा।"

गांधीजीको नववर्षकी बधाई देने जो लोग आये, उनमे एक यात्री स्यामका भी था। उसने गांधीजीकी प्रशंसा की कि आपके परिश्रमसे भारतको स्वाधीनता मिली है। इससे सभी देशोंमें स्वतंत्रताकी आकांक्षा तीव्र हो गई है। गांधीजीने इस प्रशंसाको अस्वीकार करते हुए उत्तर दिया: भारतने जो चीज प्राप्त की है वह मेरी नजरमें स्वाधीनता बिलकुल नहीं है। "आज हर आदमी राजधानीमें आजादीसे घूम-फिर नहीं सकता। हिन्दुस्तानी अपने हिन्दुस्तानी भाईसे डरता है। इसे आप स्वाधीनता कहेंगे ?"

दूसरे दिन उन्होंने एक पत्रमें लिखा : "आज मनुष्य मनुष्यसे डरता है, पड़ोसी पड़ोसीका अविश्वास करता है। . . . स्वाधीन भारतकी राजधानी मुर्दोंकी नगरी जैसी दिखाई देती है। . . . कितने आश्चर्यकी बात है कि जिस देशने अहिंसाके द्वारा स्वाधीनता प्राप्त की, उसकी शान्ति हिंसाके संरक्षणमें ही सुरक्षित मानी जाती है ! ! !"

एक और पत्रमें उन्होंने लिखा : "शायद आप समझते होंगे कि दिल्लीमें शान्ति है। यह केवल ऊपरी शान्ति है, परन्तु लोगोंके दिलोंमें शान्ति नहीं है। शस्त्रबल ही उत्पातको नियंत्रणमें रख रहा है। मैं अन्तरात्माकी आवाजके आदेशकी प्रतीक्षा कर रहा हूं।"

स्नान करते करते वे बोले : "इस बार अग्नि-परीक्षा और भी कठोर होनेवाली है। . . . मैंने अन्तरात्माकी आवाजको सुन सकनेके लिए अपने कान लगा रखे हैं और उसके आदेशकी मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं।"

४ जनवरीको दिल्लीके मौलाना लोग सदाकी भांति गांधीजीसे मिलने आये। उस समय वे सुबहका भोजन कर रहे थे। उन्होंने गांधीजीसे कहा : "हम भयंकर स्थितिमें हैं। हमें आपके सिवा और किसीका सहारा नहीं रह गया है। हम अब पुलिस पर आधार नहीं रख सकते।" गांधीजीने उनके साथ गहरी सहानुभूति प्रकट की और कहा : पुलिस भ्रष्ठ हो गई है, यह दुःखकी बात है। मैं तो आपकी लड़ाई लड़ ही रहा हूं। परन्तु राष्ट्रवादी मुसलमानोंको भी अपना पार्ट अदा करना पड़ेगा। यदि वे भारतीय मुसलमानोंको सारी उत्तेजनाओंके बावजूद सही रास्ते पर रखनेमें अपने प्रभावका उपयोग करें, तो हिन्दू और सिक्ख समय पाकर जरूर सही रास्ते पर चलने लगेंगे। अब पाकिस्तान भारतको युद्धकी धमकियां दे रहा है। आपको अच्छी तरह सोचना होगा कि इस संकटमें आपका कर्तव्य क्या है। अगर आपका खयाल हो कि जो कुछ पाकिस्तान कर रहा है वह ठीक है, तब तो और कुछ कहनेको रह ही नहीं जाता। लेकिन अगर पाकिस्तान गलती कर रहा है, तो आपको अपना मतभेद खुले तौर पर साफ और निश्चित शब्दोंमें प्रकट करना चाहिये।

कुछ दिन बाद सिन्धकी एक प्रतिष्ठित महिला कार्यकर्त्री, जो गांधीजीकी एक बहुत प्रिय सहयोगिनी रही हैं, आईं । उन्होंने सिन्धकी घटनाओंका अत्यंत दुःखद वर्णन किया । गांधीजीने इतनी ही टिप्पणी की : मैं कितना सुखी होता यदि मुझसे ये सब बातें कहनेके लिए तुम्हारे यहां आनेके बजाय कोई मुझे यह समाचार देता कि तुम सिन्धी बहनोंकी इज्जत बचानेमें मारी गईं ! गांधीजीने एक पत्रमें लिखा : "सिन्धके समाचारोंसे मैं बेचैन हो गया हूं । मैं सिन्ध आनेको उत्सुक हूं । लेकिन वहां क्या मुंह लेकर आऊं ? जब अपना ही घर जल रहा हो तब दूसरी जगह आग बुझानेको दौड़नेका मतलब है आगके फैलनेमें सहायक होना । ऐसी हालतमें दूसरी जगहकी आगसे लड़नेका उत्तम उपाय यह है कि अपने ही घरकी आगको बुझाकर उसे फैलनेसे रोका जाय ।"

एक और पत्रमें उन्होंने लिखा : "मैं भट्ठीमें पड़ा हुआ हूं । चारों ओर आग धधक रही है । हम मानवताको पैरों तले कुचल रहे हैं ।"

गांधीजीके पास ऐसे पत्रोंका ढेर लग गया था, जिनका उत्तर वे दे नहीं पाये थे । इससे वे चिन्तित थे । इसलिए उन्होंने प्रातःकालीन प्रार्थनाके बाद कुछ मिनटकी झपकी लेना बन्द कर दिया । अपने एक पत्रमें उन्होंने लिखा : "एकमात्र यह समय ऐसा है जब मैं पत्रोंका जवाब दे सकता हूं । दिन भर तो आनेवालोंका लगातार तांता ही बंधा रहता है और एक क्षणका भी समय खाली नहीं रहता । मैं अब भी नहीं जानता कि मेरा अगला कदम क्या होगा । . . . मैं अंधेरेमें प्रकाशकी खोज कर रहा हूं । अभी मुझे उसकी धुंधली-सी किरणें ही दिखाई देती हैं । जब मैं उज्ज्वल प्रकाशके दर्शन करूंगा तब दिल्लीकी दोस्ती सचमुच दिली हो जायगी ।"

इसी तरह जब गांधीजी नहानेके टबमें लेटे रहते तब किसीसे हजामत बनवा लेते थे और उतने समय तक नींद ले लेते थे । यह नींद भी उन्होंने छोड़ दी । खुद दाढ़ी पर उस्तरा फेरते फेरते अपने सेवकको पत्रोंके जवाब लिखवाने लगे । अपने नहानेके टबमें से लिखवाया हुआ उनका

एक पत्र यों था : "मुझे दीवालिया ही समझ लीजिये । भीतर भीतर आग जल रही है । वह किसी भी समय दावानलका रूप ले सकती है ।"

एक और पत्रमें उन्होंने लिखा : "स्वाधीन भारतकी राजधानीकी शांतिकी रक्षा सेना कर रही है और मैं शहरके मध्यमें रहकर इसका साक्षी बनता हूं । . . . अहिंसामें विश्वास रखनेवाले लोग शस्त्रबल पर आधार रख रहे हैं । कैसी विडम्बना है ! मेरे जैसे अहिंसाके पुजारीकी यह कैसी अग्नि-परीक्षा है ! इसमें ईश्वरकी इच्छाका क्या रहस्य छिपा होगा ?"

परन्तु जब उन्हें यह सुझाया गया कि अब उनके कुछ विश्राम लेनेका समय आ गया है, तो उन्होंने इस सुझावको यह कहकर अस्वीकार कर दिया : मुझे विश्रामकी नहीं, मुक्तिकी जरूरत है । "मैं कार्यभारसे नहीं दब रहा हूं । परन्तु मैं देखता हूं कि लोग आकर एक बार मुझसे एक बात कहते हैं, दूसरी बार दूसरी कहते हैं । वे अपनी बात पर डटे नहीं रह सकते । मेरे सामने वे एक बात कहते हैं । परन्तु बिड़ला-भवनके फाटकसे बाहर होते ही सोचने लगते हैं कि 'क', 'ख' और 'ग' की कृपा प्राप्त करनेके लिए उनके सामने हम क्या कहेंगे ।"

इस प्रकार बाहरसे गांधीजीके आसपासकी स्थिति रोज-रोज बिगड़ती जा रही थी, फिर भी यह देखा गया कि कुछ दिनसे उनमें एक सूक्ष्म परिवर्तन हो रहा है । कभी कभी ऐसा संकेत मिलता था कि अन्धकारके बादल फटनेवाले हैं । १० जनवरीको गांधीजीके मित्र दिल्लीके मौलाना लोग उनसे मिलने आये, तो गांधीजीने उनसे कहा : "आपने काफी इंतजार किया है । एक सप्ताह और धीरज रखिये और देखिये कि क्या होता है ।"

५

भारत और पाकिस्तानके बीच तनाव बढ़नेके अनेक कारणोंमें अब एक कारण और जुड़ गया । वह था अखण्ड भारतकी शेष नकद रकममें पाकिस्तानके हिस्सेका सवाल । कुल ३७५ करोड़ रुपयेकी शेष नकद रकममें से २० करोड़ रुपये पाकिस्तानको सत्ता-हस्तान्तरणके दिन चुका दिये गये । यह अदायगी कामचलाऊ थी और उसमें पाकिस्तानको दी जानेवाली बाकी

रकमके अन्तिम निर्णयके समय परिवर्तन किया जा सकता था । नवम्बरके अन्तिम सप्ताहमें दोनों देशोंके प्रतिनिधियोंके अनेक सम्मेलनोंके बाद यह रकम ५५ करोड़ रुपये निश्चित हुई । उस समय आक्रमणकारी काश्मीर पर जोरोंसे आक्रमण कर रहे थे । इसके अलावा और भी कई प्रश्न थे, जिनमें से कुछका सम्बन्ध भारत और पाकिस्तानके आर्थिक समझौतोंसे था । उनमें कुल मिलाकर भारतका पलड़ा बहुत भारी था । इन प्रश्नों पर पाकिस्तान अब भी आगा-पीछा कर रहा था । वार्ताओंके दौरान भारत सरकारने यह स्पष्ट कर दिया कि वह इस समझौतेको तब तक अन्तिम नहीं मानेगी जब तक बाकीके सारे प्रश्नों पर समझौता नहीं हो जायगा; और तब तक कोई अदायगी नहीं की जायगी जब तक काश्मीरका प्रश्न हल नहीं हो जायगा । पाकिस्तानके प्रतिनिधियोंने वार्ताओंके दौरान प्रश्नके इस भागको चालाकीसे टाल दिया और भारतीय प्रतिनिधियोंने उनके मौनको सम्मतिका लक्षण समझ लिया । परन्तु ज्यों ही आर्थिक भागसे सम्बन्धित समझौता लेखबद्ध हो गया, त्यों ही उन्होंने इसे दूसरे प्रश्नोंसे अलग करना शुरू कर दिया । साथ ही, काश्मीरके बारेमें उनका रवैया सख्त हो गया । नतीजा यह हुआ कि भारत सरकारने इस रकमकी अदायगी रोक दी । पाकिस्तानके वित्त-मंत्रीने इसे "आक्रमणका कार्य" [गुलाम मोहम्मदका वक्तव्य, ८ जनवरी १९४८] बताया । इस निराधार आरोपके विरुद्ध भारत सरकारके पास बहुत उचित बचाव था । उसने शेष नकद रकममें पाकिस्तानके हिस्से – ५५ करोड़ रुपये – को एक स्पष्ट शर्तके मातहत स्वीकार किया था । इसके अलावा, वह काश्मीरकी भूमि पर भारतीय संघके विरुद्ध लड़े जा रहे अघोषित युद्धमें प्रयोग करनेके लिए पाकिस्तानको युद्ध-सामग्री मुहैया करनेके लिए तैयार नहीं थी । पंडित नेहरूने एक सार्वजनिक वक्तव्यमें भारतीय संघकी स्थिति इस तरह समझाई : "ऐसी परिस्थितिमें कोई राज्य दूसरे पक्षकी जमा रकम जब्त कर लेता है । हमने उस अर्थमें कोई रकम जब्त नहीं की है । हमने इतना ही कहा है कि इस समझौतेको हम स्वीकार तो करते हैं, परन्तु सब प्रश्नोंका निबटारा होने पर ही हम उसका पूरी तरह अमल करेंगे ।" [पत्रकार-सम्मेलनमें पं. नेहरूका वक्तव्य, २ जनवरी १९४८]

६ जनवरी, १९४८ को गांधीजीने इस प्रश्नकी चर्चा लॉर्ड माउण्टबेटनसे की और भारत सरकारके निर्णय पर उनकी स्पष्ट राय मांगी । माउण्टबेटनने कहा : जिस शेष नकद रकमका पाकिस्तान दावा करता है उसका भुगतान यदि रोक लिया गया, तो यह भारतीय संघकी सरकारका "पहला अपयशपूर्ण कार्य होगा ।" इससे गांधीजी भयंकर विचार-मंथनमें पड़ गये । उन्हें भारतीय संघके निर्णयके कानूनी दृष्टिसे उचित होनेमें कोई शंका नहीं थी । वे यह आग्रह भी नहीं कर सकते थे कि संघ-सरकार उस बातसे बाहर जाय, जिसकी कानूनके अक्षर आज्ञा या अनुमति देते थे । फिर भी उन्हें लगा कि अनुकूलता और शक्तिकी पूजाका प्रभुत्व स्वीकार करनेवाली दुनियामें भारत – जिसने मुख्यतः अहिंसक अर्थात् नैतिक उपायसे अपनी स्वाधीनता प्राप्त करके इतिहासका निर्माण किया है – इस संकटमें अपनी उस उच्चतम प्राचीन परम्पराके अनुसार आचरण न करे, जो दूसरोंके लिए उज्ज्वल प्रकाश-स्तंभका काम देगी, तो वह एक करुण घटना होगी । उन्होंने सोचा कि इसके लिए उन्हें समग्र परिस्थितिको बदलना होगा और एक ऐसी नयी नैतिक हवा पैदा करनी होगी, जिससे भारत सरकारके लिए कानूनके निरे अक्षरोंसे परे जाना संभव हो सके ।

११ जनवरीको दिल्लीके कुछ मौलाना गांधीजीसे मिलने आये । वे राष्ट्रवादी मुसलमान थे और भारतसे बाहर जानेसे इनकार कर चुके थे । भारतको वे गर्वपूर्वक अपनी मातृभूमि मानते थे। बुरेसे बुरे समयमें भी वे बड़े आग्रह और हिम्मतके साथ दिल्लीमें ठहरे रहे थे । परन्तु अब उन्होंने गांधीजीसे शिकायत की कि उनका धीरज लगभग समाप्त हो गया है । उनमें से एकने गांधीजीसे कहा : "आप मुसलमानोंसे इन असह्य कष्टोंको सहन करनेकी कब तक आशा रखेंगे? अगर कांग्रेस उनकी रक्षाकी गारंटी नहीं दे सकती, तो उसे साफ-साफ ऐसा कह देना चाहिये । तब मुसलमान हिन्दुस्तानसे चले जायंगे और कमसे कम रोजमर्राके अपमानों और जिस्मानी हिंसाकी संभावनासे तो बच जायेंगे । जहां तक हमारा अपना सम्बन्ध है, हम पाकिस्तान भी नहीं जा सकते, क्योंकि राष्ट्रवादी मुसलमान होनेके नाते हमने पाकिस्तान बननेका विरोध किया है । उधर हिन्दू हमें राजधानीमें रहने नहीं देंगे । इसलिए हम भारतीय संघमें भी नहीं ठहर सकते ।

अगर आप यहां हमारी सुरक्षा और आत्म-सम्मानकी गारंटी नहीं दे सकते, तो हमारे लिए यात्राका प्रबंध करके आप हमें इंग्लैण्ड क्यों नहीं भेज देते ?"

गांधीजीने उन्हें डांटते हुए जवाब दिया : "आप अपनेको राष्ट्रवादी मुसलमान कहते हैं और फिर भी ऐसी बातें करते हैं?" परन्तु गांधीजीके हृदयमें फौलादी कांटा घुस गया था । इसने दिल्लीकी स्थितिको गांधीजीके लिए असह्य बना दिया । एक मित्रसे उन्होंने कहा : "दिल्ली धीरे-धीरे हमारे हाथसे निकल रही है । अगर दिल्ली गई तो हिन्दुस्तान गया और उसीके साथ विश्वशान्तिकी अन्तिम आशा भी गई समझिये ।"

शामको अपनी प्रार्थना-सभामें उन्होंने मौलानाओंसे हुई अपनी बातचीतका उल्लेख किया। उन्होंने कहा : धर्म प्रत्येक व्यक्तिका अपना निजी मामला है । समय बहुत खराब है । पाकिस्तानके मुसलमान पागल हो गये हैं । अधिकांश हिन्दुओं और सिक्खोंको उन्होंने बाहर निकाल दिया है । अगर भारतीय संघके हिन्दू भी ऐसा ही करेंगे, तो इससे उन्हींका नाश होगा ।

१२ जनवरीको तीसरे पहर गांधीजी हमेशाकी तरह बिड़ला-भवनके विशाल मैदानमें बैठकर धूप ले रहे थे । उस दिन सोमवार – उनका साप्ताहिक मौन-दिवस था, इसलिए वे अपना प्रार्थना-प्रवचन लिख रहे थे । मेरी बहनने गांधीजीका लिखा एकके बाद दूसरा परचा पढ़ा, जिसका अनुवाद करके उसे प्रार्थना-सभामें सुनाना था । पढ़ कर वह स्तब्ध रह गई । वह यह खबर लेकर मेरे पास दौड़ी आई – गांधीजीने निश्चय किया है कि अगर दिल्लीका पागलपन बन्द नहीं हुआ, तो वे आमरण उपवास करेंगे।

अपने कलकत्तेके उपवासके बाद गांधीजी दिल्ली लौटे उसी समयसे वे प्रतिक्षण अपने आपसे यह पूछते रहे थे कि जो कुछ दिल्लीमें हो रहा है उसके सामने उनका क्या कर्तव्य है । उनके पास उन मुसलमानोंके लिए कोई जवाब नहीं था, जो रोज-रोज और हर सप्ताह अपने दुख-दर्दकी कहानियां लेकर उनके पास आते थे । वे सिन्ध और पश्चिम पंजाबके अल्पसंख्यकोंकी सहायताके लिए जानेको उत्सुक थे; और सीमाप्रान्तमें जाकर खान बन्धुओं तथा उनके खुदाई

खिदमतगारोंसे मिलनेके लिए भी वे अधीर हो रहे थे, क्योंकि इन लोगोंके प्रति, खास तौर पर विभाजनके बाद, गांधीजी अपनी विशेष जिम्मेदारी महसूस करते थे। उनके साथ निजी स्नेहका और अहिंसामें समान श्रद्धाका बन्धन तो था ही। परन्तु गांधीजी क्या मुंह या आत्म-विश्वास लेकर वहां जाते, जब वे दिल्लीके मुसलमानोंको ही पूरी रक्षाकी गारंटी नहीं दे सकते थे? अधिकारियोंसे वे अधिक कुछ करा नहीं सकते थे और जो कुछ करनेमें वे सफल हुए थे उससे गांधीजीको सन्तोष नहीं था। शायद तत्कालीन परिस्थितियोंमें अधिक कुछ कर सकनेकी अधिकारियोंकी स्थिति नहीं थी। गांधीजी स्वयंको असहाय और लाचार महसूस कर रहे थे और नैतिक चुनौतीके सामने अपनी इस लाचारीको वे बरदाश्त नहीं कर पाते थे। उनकी व्यथा और वेदनाकी गहराईमें से ही उपवासका निश्चय निकला। उसमें दलीलकी गुंजाइश नहीं थी। दो घंटे पहले ही सरदार पटेल और पंडित नेहरू उनके साथ थे। उन्हें गांधीजीने इस बातका जरासा भी संकेत नहीं दिया कि उनके भीतर क्या चल रहा है।

इस निर्णयका लिखित वक्तव्य शामकी प्रार्थना-सभामें पढ़ कर सुनाया गया। उसमें कहा गया कि उपवास दूसरे दिन दोपहरके भोजनके बाद शुरू होगा। समयकी कोई मर्यादा नहीं होगी। उपवासके दिनोंमें गांधीजी सिर्फ नमकवाला या बिना नमकका पानी और खट्टे नीबूका रस लेंगे। उपवास तभी टूटेगा जब उन्हें यह विश्वास हो जायगा कि "किसी बाहरी दबावके बिना कर्तव्य-परायणताकी भावना जाग्रत होनेसे तमाम समुदायोंके हृदय फिरसे एक हो गये हैं।"

वक्तव्य इस प्रकार था :

> उपवास या तो हम स्वास्थ्य-सम्बंधी नियमोंके अनुसार तंदुरुस्तीके लिए करते हैं अथवा कोई अन्याय किया गया हो और करनेवालेको वैसा अनुभव हुआ हो तो उसके प्रायश्चित्तके रूपमें हम उपवास करते हैं। इन उपवासोंमें उपवासीका अहिंसामें विश्वास होना जरूरी नहीं है। परन्तु एक उपवास ऐसा होता है, जिसे करनेके लिए कभी कभी अहिंसाका पुजारी विवश हो जाता है, जब उसे समाज द्वारा किये गये किसी अन्यायका

विरोध करना पड़ता है । यह उपवास वह तब करता है जब अहिंसाके पुजारीके नाते उसके पास और कोई उपाय नहीं रह जाता । मेरे लिए ऐसा ही अवसर इस समय उपस्थित हुआ है ।

जब ९ सितम्बर, १९४७ को मैं कलकत्तेसे दिल्ली लौटा था, तो जिन्दादिल दिल्ली मुझे मुर्दोंकी नगरी दिखाई दी थी । मैंने तुरंत समझ लिया कि मुझे अब दिल्लीमें ही रह कर "करना या मरना" होगा । मुस्तैदीके साथ की गई फौज और पुलिसकी कार्रवाईसे ऊपरी शान्ति दिल्लीमें हो गई है । परन्तु लोगोंके दिलोंमें तुफान भरा है वह किसी भी दिन फूट सकता है । इसे मैं "करने" की प्रतिज्ञाका पालन नहीं मानता । यह पालन ही मुझे अपने अतुलनीय मित्र मृत्युसे अलग रख सकता है । . . .

मैं कभी अपनेको निरुपाय महसूस करना पसन्द नहीं करता । सत्याग्रहीको कभी ऐसा महसूस करना भी नहीं चाहिये । . . . कुछ दिनसे अपनी कापुरुषता मुझे खाये जा रही है । उपवास आरंभ करते ही वह तुरंत दूर हो जायगी । मैं इस बात पर पिछले तीन दिनसे विचार करता रहा हूं । अन्तिम निर्णय मुझे अचानक सूझ गया; और अब मैं सुखी हूं । कोई भी मनुष्य, यदि वह शुद्ध है तो, अपने जीवनसे अधिक मूल्यवान वस्तु और क्या दे सकता है ? मैं आशा और प्रार्थना करता हूं कि मुझमें इतनी शुद्धता हो कि अपने इस उपवासको मैं उचित सिद्ध कर सकूं ।

गांधीजीने सबसे अनुरोध किया कि वे उनके इस प्रयत्नको आशीर्वाद दें और उनके लिए तथा उनके साथ ईश्वरसे प्रार्थना करें । प्रश्न "भारतकी गिरती हुई प्रतिष्ठा और एशिया तथा विश्वके हृदय परसे मिटती हुई उसकी प्रभुताको फिरसे प्राप्त करनेका था ।" वक्तव्यमें आगे कहा गया था :

मैं यह माननेका साहस करता हूं कि भारतकी आत्मा यदि नष्ट हो गई, तो इस पीड़ित, तूफानोंसे विचलित और भूखी दुनियाके लिए कोई आशा नहीं रहेगी । कोई मित्र

या शत्रु – यदि कोई हो तो – मुझसे नाराज न हो । ऐसे मित्र भी हैं जो मानवके मनको बदलनेके लिए उपवासके उपायमें विश्वास नहीं रखते । वे मुझे सहन कर लें और मुझे भी कार्यकी वही स्वतंत्रता दें जो वे अपने लिए चाहते हैं । ईश्वरको अपना परम और एकमात्र सलाहकार मान कर मुझे लगा कि और किसी सलाहकारसे इस विषयमें सलाह लिये बिना ही मुझे यह निर्णय कर लेना चाहिये । अगर मैंने कोई भूल की हो और उसका मुझे पता लग जाय, तो मुझे सार्वजनिक रूपमें उसकी घोषणा करनेमें और अपना गलत कदम वापस लेनेमें जरा भी संकोच नहीं होगा । मुझे ऐसी किसी गलतीकी प्रतीति होनेकी संभावना दिखाई नहीं देती । . . . मेरा अनुरोध है कि मुझसे कोई बहस न की जाय और इस कदमका अनिवार्य रूपमें समर्थन किया जाय । यदि सारे भारतकी ओरसे या कमसे कम दिल्लीकी ओरसे इसका अनुकूल उत्तर मिला, तो इस उपवासका शीघ्र अंत हो सकता है ।

लेकिन मेरा उपवास जल्दी समाप्त हो या देरसे या कभी भी समाप्त न हो, जिसे संकट कहा जा सकता है उससे निबटनेमें कोई नरमी न दिखाई जाय । . . . कर्तव्यकी भांति शुद्ध उपवासका पुरस्कार भी उपवास स्वयं होता है । मैं उपवाससे होनेवाले परिणामके लिए उपवास आरंभ नहीं कर रहा हूं । मैं इसलिए उपवास कर रहा हूं कि मुझे करना ही चाहिये । इसलिए मैं सबसे अनुरोध करता हूं कि वे उपवासके हेतुकी परीक्षा अनासक्त भावसे करें; और अगर मुझे मरना ही हो, तो शान्तिसे मरने दें । मृत्युसे मुझे निश्चित शांति मिलेगी । मैं भारत, हिन्दू धर्म, सिक्ख धर्म और इस्लामके नाशका निःसहाय साक्षी बनूं, इसकी अपेक्षा मृत्यु मेरे लिए एक भव्य मुक्ति सिद्ध होगी । यदि पाकिस्तान संसारके विविध धर्मोंको माननेवाले लोगोंके समान दरजेकी और जान-मालकी सुरक्षाकी गारंटी नहीं देगा और भारत उसकी नकल करेगा, तो दोनोंका नाश निश्चित है । उस स्थितिमें इस्लाम भारत और पाकिस्तानमें ही मरेगा, परन्तु संसारमें नहीं मरेगा । लेकिन हिन्दू धर्म और सिक्ख धर्मके लिए तो भारतसे बाहर कोई स्थान ही नहीं है ।

इस वक्तव्यके अंतमें एक प्रार्थना और एक अपील थी : "जो लोग मुझसे मतभेद रखते हैं वे मेरा कितना ही कड़ा विरोध करें, तो भी मैं उनका सम्मान करूंगा । मेरे उपवाससे अन्तरात्मामें जागृति आनी चाहिये, उसमें जड़ता नहीं आनी चाहिये । जरा सोचिये, प्यारे भारतमें कितनी सड़ांध आ गई है । तब आपको यह सोच कर हर्ष होगा कि उसका एक विनीत पुत्र तो ऐसा है, जिसमें यह सुखद कदम उठाने जितनी शक्ति और संभवत: शुद्धता है । अगर ये दोनों चीजें उसमें नहीं हैं, तो वह पृथ्वीका भार है । वह जितना जल्दी विलीन होकर भारतीय वायुमण्डलका भार उतार दे उतना ही उसके लिए और सबके लिए अच्छा है ।

गांधीजीसे एक प्रश्न किया गया : "जब कोई असाधारण घटना नहीं हुई" तब आपने उपवास करनेका निश्चय क्यों किया ? उन्होंने उत्तर दिया : "तिल तिल करके मरना" एकाएक होनेवाली मृत्युसे कहीं बुरा है । "जब तक सूक्ष्म अदृश्य उपायोंसे एक-एक मुसलमान दिल्लीसे निकाल न दिया जाता तब तक प्रतीक्षा करना मेरे लिए मुर्खता होती ।" [प्रार्थना-प्रवचन, १५ जनवरी १९४८] क्या सुहरावर्दी आजादीके साथ दिल्लीमें घूम-फिर सकते हैं ? नहीं । "मैं उनसे प्रार्थना-सभाओंमें अपने साथ चलनेको नहीं कह सकता, क्योंकि मुझे भय रहता है कि कोई उनका अपमान न कर दे । . . . ये सब बातें मिटें तो ही मेरी आत्माको शान्ति मिल सकती है ।" [प्रार्थना-प्रवचन, १३ जनवरी १९४८]

प्रार्थना-सभाके बाद ज्यों ही गांधीजीका साप्ताहिक मौन समाप्त हुआ, गांधीजी लॉर्ड माउण्टबेटनसे मिलने गये और एक घंटे बाद साढ़े सात बजे वहांसे लौटे । लॉर्ड माउण्टबेटनको गांधीजीका यह निर्णय मंजूर करनेमें कोई मुश्किल नहीं हुई । उन्हें इसमें जरा भी शक नहीं था कि उपवासका नतीजा अच्छा ही निकलेगा । यदि उपवासके परिणाम-स्वरूप भारतकी स्थिति ठीक हो जाय, तो उसके बाद पाकिस्तानमें अपने आप सुधार हो जायगा ।

गांधीजीके सबसे छोटे पुत्र देवदासने भी उनसे अपना गंभीर निर्णय बदलवानेका प्रयत्न किया, लेकिन अब काफी देर हो चुकी थी । अन्य सब लोगोंकी तरह देवदासको इस बातका

कोई संकेत नहीं मिल पाया था कि क्या होनेवाला है । उन्हें गांधीजीके उपवासका पता निर्णयकी घोषणा हो जानेके बाद ही लगा । दूसरे दिन उन्होंने अपने पिताको एक पत्र भेजा, जो उन्होंने रातको देरमें लिखा था । पत्र यों था : "आपके उपवासके विरुद्ध मेरी मुख्य चिन्ता और मेरा तर्क यह है कि आप अंतमें अधीरताके वश हो गये, जब कि आपका मिशन है ही ऐसा जिसमें अनन्त धैर्यकी आवश्यकता है । आपको इसकी कल्पना नहीं है कि अपने धैर्यपूर्ण परिश्रमसे आपने कितनी बड़ी सफलता प्राप्त की है । आपके परिश्रमसे लाखों आदमी मृत्युसे बचे हैं और दूसरे लाखों आदमी बच सकते हैं । . . . आप जीवित रह कर जो काम कर सकते हैं, वह मर कर नहीं कर सकते । इसलिए मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूं कि मेरी विनती पर ध्यान दीजिये और उपवास करनेका अपना निश्चय छोड़ दीजिये ।"

इस पत्रका गांधीजीने जो उत्तर दिया, वह श्रद्धाके एक महाकाव्यके रूपमें अमर रहेगा । गांधीजी इस बातसे सहमत नहीं हुए कि उपवासका उनका निश्चय उतावलीमें किया गया था । उन्होंने लिखा : "जहां तक मेरे वक्तव्यके मसौदेका सम्बन्ध है, बेशक वह जल्दीमें बनाया गया था । परन्तु इस बिजलीकी गतिवाली शीघ्रताके पीछे मेरा चार दिनका विचार-मंथन और प्रार्थना थी । इसलिए मेरी भाषामें या किसी भी जानकारकी भाषामें उसे 'उतावलीवाला' निश्चय नहीं कहा जा सकता । ऐसे किसी वक्तव्यमें भाषामें सुधार करने यानी भाषाको मांजनेकी हमेशा ही गुंजाइश रहती है । इसलिए तुम्हारे सुझाये हुए शाब्दिक सुधार मैंने तुरन्त उसमें कर दिये । उपवासके औचित्यके बारेमें तुमसे या दूसरे किसीसे सलाह-मशविरा करना मुझे जरूरी नहीं लगा । फिर भी मैंने तुम सबकी बात सुनी, यह मेरे धीरज और नम्रताकी निशानी है । . . . तुम्हारी मुख्य चिन्ता और तुम्हारी दलील सब बिलकुल व्यर्थ है । . . . बेशक, तुम मेरे मित्र हो और वह भी बहुत ऊंची कोटिके मित्र । लेकिन मेरे पुत्र तुम कभी मिट नहीं सकते । तुम्हारी चिन्ता स्वाभाविक है और मैं उसकी कदर करता हूं । परन्तु तुम्हारी दलील अधीरताका और छिछले विचारोंका प्रदर्शन करती है । . . . अपने इस कदमको मैं धैर्यकी पराकाष्ठा मानता हूं । जो धैर्य अपने उद्देश्यकी ही हत्या करता है, वह धैर्य माना जायगा या मुर्खता ? मेरे दिल्ली आनेके बाद जो परिणाम आये

हैं, उनके लिए मैं कोई श्रेय नहीं ले सकता । यदि लूं तो वह मेरा मोह ही माना जायगा । कोई मनुष्य निश्चयके साथ यह कैसे कह सकता है कि इतने आदमी उसके प्रयत्न या और किसीके प्रयत्नसे बचे ? केवल ईश्वर ही ऐसा कर सकता है । जिसने सितम्बरके आरंभसे आज तक इतना धीरज रखा उसने एकाएक धीरज खो दिया, यह कहनेमें निरा अज्ञान नहीं तो दूसरा क्या है ?

"मानव-प्रयत्नकी दृष्टिसे जब मैं सारे प्रयत्न करके हार गया और अत्यन्त लाचार हो गया, तभी मैंने अपना सिर ईश्वरकी गोदमें रखा । यही मेरे उपवासका भीतरी अर्थ और महत्त्व है । जिसे मैंने भक्तिका सर्वोच्च महाकाव्य कहा है, उस 'गजेन्द्र-मोक्ष' को तुम पढ़ो और उस पर विचार करो। ['गजेन्द्र-मोक्ष' की कथा प्राचीन हिन्दू धर्मग्रन्थ 'भागवत' में आती है । दो भाई हा-हा और हू-हूको पूर्वजन्ममें एक-दूसरेसे शत्रुता रखनेके कारण किसी ऋषिने शाप दिया था, जिसके फलस्वरूप दूसरे जन्ममें एक भाई गज और दूसरा ग्राहके रूपमें उत्पन्न हुआ था । गज जब नदीमें पानी पीने घुसा, तो ग्राहने उसे पकड़ लिया और घसीट कर मंझधारमें ले गया । जब सूंढ़का सिरा ही पानीके ऊपर रह गया तब गज ग्राहके बलके सामने लड़ते-लड़ते हार गया । उसने ग्रहसे लड़ना बंद करके अपनी पूरी शक्तिके साथ उद्धारके लिए ईश्वरसे प्रार्थना की और अपने आत्म-समर्पणके चिह्नके रूपमें डूबती हुई सूंढकी नोक पर रख कर कमलका एक फूल प्रभुको अर्पण किया । उसी क्षण प्रभु गजको बचानेके लिए आये और ग्राहके मुंहसे उसका उद्धार कर दिया । दोनों भाइयोंने प्रेमधर्मके विरुद्ध जो पाप किया था उसका फल जब उन्हें मिल गया तब फिरसे उन्हें अपना मूल स्वरूप प्राप्त हो गया और उनके हृदयोंमें प्रेमकी ज्योति पुनः प्रज्वलित हो गई । इस कथासे यह शिक्षा मिलती है कि सच्ची परीक्षाके समय हमारा व्यक्तिगत पराक्रम काम नहीं आता । उद्धार तमी होता है जब हम अपनी संपूर्ण शून्यताका अनुभव करके अपने बल पर आधार रखना छोड़ देते हैं और असहायोंके सहायक परमात्माकी सहायताके लिए पूर्ण नम्रतासे प्रार्थना करते हैं ।] तभी शायद तुम मेरे उपवासकी कीमत कर सकोगे । तुम्हारे पत्रका अंतिम वाक्य तुम्हारे प्रेमका सुन्दर प्रतीक है । परन्तु उस प्रेमका मूल अज्ञान अथवा मोह है । यह मोह सार्वजनिक है, केवल इसीलिए वह ज्ञानका स्थान नहीं ले सकता । जब तक हमने सारी

आसक्तिका त्याग नहीं किया है और जन्म तथा मृत्युको एक ही मानना नहीं सीखा है, तब तक यह कहना आकाश-कुसुम जैसा निरर्थक है कि जीवित रह कर ही अमुक कार्य किया जा सकता है। 'जिओ तब तक सिओ' यह एक सुन्दर कहावत है। परन्तु इसमें इतनी बात छिपी हुई है कि निष्काम भावसे सीना यानी काम करना चाहिये। अब शायद तुम समझ जाओगे कि तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करने जैसी नहीं है। इसलिए जिस रामने उपवास कराया है उस रामको ही यदि उपवास छुड़ाना होगा तो वह छुड़ायेगा। इस बीच मैं, तुम और दूसरे सब यह मानें और समझें कि राम मारेगा तो भी श्रेय है और राम जिलायेगा तो भी श्रेय है। मुझे तो एक ही प्रार्थना करनी है : 'हे राम, उपवासके समय मेरे मनको सबल बनाये रखना, जिससे मैं जीनेके लोभसे उपवास जल्दी न छोड़ दूं।"

उपवास १३ जनवरीको ११-५५ बजे गांधीजीके प्रिय भजन 'बैष्णवजन' के साथ आरंभ हुआ। सुशीला (नय्यर) ने 'व्हेन आई सर्वे दि वॉन्ड्रस क्रॉस' भी गाया। उसके बाद रामधुन हुई। थोड़ेसे घनिष्ठ मित्र और बिड़ला-परिवारके लोग ही उपस्थित थे। ये सब संयोगवद एकत्र हो गये थे।

उपवास आरंभ करनेके साथ ही गांधीजी कोलाहलसे शान्तिमें चले गये। जिन्होंने उन्हें सितम्बरमें लाशोंकी नगरीमें लौटनेके बाद ध्यानसे देखा था, उन्होंने इस बातका प्रमाण दिया कि गांधीजी इतने प्रसन्न और चिन्ता-मुक्त कभी नहीं दिखाई दिये जितने उपवास आरंभ होनेके तुरंत बाद दिखाई दिये।

पहले गांधीजीका यह रिवाज रहा था कि उपवास आरंभ कर देनेके बाद वे सब साथियोंको अपने अपने कार्यस्थल पर लौट जानेको कह देते थे। परन्तु मैं इस नतीजे पर पहुंचा था, खासकर सितम्बर १९४७ में गांधीजीके कलकत्ता-उपवासके अनुभवके बाद, कि मैं अपने नोआखालीके कार्यकी दृष्टिसे भी ऐसे संकटमें उनके साथ रहकर अधिक उपयोगी हो सकता हूं। मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि अपना उपवास आरंभ करते ही उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर कहा : "मैं चाहता

हूं कि तुम यहीं रहो और मेरे उपवासके दिनोंमें 'हरिजन' की देखभाल करो ।" मेरे 'हरिजन' के लिए लिखना बंद कर देनेके बाद भी 'हरिजन' के सम्पादकके रूपमें मेरा नाम प्रकाशित होता रहा था; लिखना बंद करनेका कारण यह था कि गांधीजीने अपनेको और हम सबको भी उन तमाम प्रवृत्तियोंस हटा लिया था, जिनका सीधा सम्बंध हमारे नोआखालीके मिशनसे नहीं था । मैंने गांधीजीसे कहा: मैं तो पहले ही ठहरनेका निश्चय कर चुका हूं; मुझे सत्याग्रह करना पड़े तो भी नहीं जाऊंगा । इस पर वे मुस्कराये और सिर हिलाकर उन्होंने स्वीकृति दे दी । मैं ठहर गया । बादकी घटनाओंको देखते हुए मैं इसे ईश्वरकी दया ही मानता हूं, जो पात्रता या अपात्रताका विचार न करके सबको अपनी अपनी श्रद्धाके अनुसार मिलती है ।

गांधीजी जब अपने एक उपवासके दिनोंमें अपने मुसलमान साथी अली भाइयोंके घर पर ठहरे हुए थे, तब उन्होंने गांधीजीसे पूछा था : क्या यह अपने साथियोंकी तरफ रही "वफादारीका भंग" नहीं है कि उनसे सलाह लिये बिना ही आप इक्कीस दिनका उपवास शुरू कर दें? गांधीजीने समयानुकूल उत्तर दिया : "क्या हम सबने ईश्वरके प्रति वफादारीकी सौगंध नहीं ली है ? तब मैं ईश्वरके साथ अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए किसीके प्रति बेवफाईका गुनहगार कैसे हो सकता हूं?" इस बार मित्रोंने अधिक बुद्धिमानी दिखाई । न तो सरदार पटेलने और न पंडित नेहरूने गांधीजीको समझानेकी कोशिश की, यद्यपि सरदार बहुत उद्विग्न थे । वे बातोंके बनिस्बत कार्यमें अधिक विश्वास रखते थे, इसलिए उन्होंने कहला भेजा कि गांधीजी जो भी चाहेंगे वही मैं करूंगा । उत्तरमें गांधीजीने सुझाया कि सबसे पहले नकद रकमसे सम्बन्धित पाकिस्तानके हिस्सेका सवाल निबटाना चाहिये ।

उपवास आरंभ होनेके थोड़े समय बाद ही एक बहन गांधीजीसे मार्गदर्शन लेने आई । उसे गांधीजीने कहा : "बहादुरीके काम ही हमारा जीवनमंत्र होना चाहिये, व्यर्थका रोना-पीटना नहीं।" एक सिक्ख मित्रने पूछा : आप किसे अपने उपवासके लिए जिम्मेदार मानते हैं ? गांधीजीने उत्तर दिया: मैं किसी व्यक्ति अथवा कौमको खास तौर पर दोषी नहीं मानता । परंतु मेरी यह राय जरूर है कि यदि हिन्दू और सिक्ख मुसलमानोंको दिल्लीसे निकाल देनेका आग्रह करेंगे, तो वे भारतके

प्रति और अपने ही धर्मके प्रति विश्वासघात करेंगे । मेरा "उपवास पूरी तरहसे आंतरिक" है । वह खास तौर पर किसीके विरुद्ध नहीं है, फिर भी सबकी अन्तरात्मासे अपील करनेके लिए है । कोई उससे बाहर नहीं है, "पाकिस्तानकी बहुसंख्यक कौम भी नहीं । यदि सारे वर्ग या उनमें से एक भी वर्ग पूरी तरह अनुकूल उत्तर दे, तो मैं जानता हूं कि एक चमत्कार सिद्ध हो जायगा । उदाहरणार्थ, सिक्ख यदि एक होकर मेरी अपीलका जवाब दें, तो मुझे पूरा सन्तोष हो जायगा । तब मैं पंजाब जाकर उनके बीच रहूंगा । मैं जानता हूं सिक्ख बहादुर लोग हैं । वे वीरोंकी अहिंसाका उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, जिससे सबका मार्ग प्रकाशित हो जायगा ।"

१६ जनवरीके अपने एक पत्रमें गांधीजीने अपने उपवासको "मेरा सबसे बड़ा उपवास" बताते हुए मीराबहनको लिखा : "यह उपवास अन्तमें ऐसा सिद्ध होगा या नहीं, इसकी चिन्ता न तो तुम्हें होनी चाहिये, न मुझे । हमें चिन्ता केवल कर्मकी होनी चाहिये, ना कि कर्मफलकी ।"

एक मुसलमान मित्रने "हम मुसलमानोंके खातिर" उपवास छोड़ देनेकी गांधीजीसे विनती की । उन्होंने दलील दी :" आप ही हमारी एकमात्र आशा और सहारा हैं । मुसलमान निर्दोष नहीं हैं । क्या हिन्दुओं और सिक्खोंने भी अवर्णनीय कष्ट नहीं सहे हैं ?" गांधीजीने उत्तर दिया : "यह मुझे मालूम है । यही कारण है कि मैं उपवास कर रहा हूं । अगर इस परीक्षाकी घड़ीमें मैं अपने धर्म और उनकी आशाओंके अनुसार आचरण न कर सका, तो जैसे सलोनापन छोड़ देने पर नमक निकम्मा हो जाता है वैसे ही मैं भी हिन्दु-मुसलमान दोनोंके लिए अविश्वसनीय और निकम्मा हो जाऊंगा ।"

काश्मीरके प्रधानमंत्री शेख अब्दुल्ला और उपप्रधानमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद दिल्ली आये हुए थे । औरोंकी तरह उन्होंने भी गांधीजीसे अनुरोध किया कि "काश्मीरके खातिर ही" उपवास छोड़ दें । "काश्मीरको आपकी पहलेसे भी आज कहीं ज्यादा जरूरत है ।" उन्होंने कहा कि हम तब तक काश्मीर नहीं लौटेंगे, जब तक आप हमारी प्रार्थना स्वीकार नहीं करेंगे । गांधीजीने उनसे कहा : मेरे उपवासके हेतुमें काश्मीरका भी समावेश होता है ।

मौलाना आजादको गांधीजीके मानसका सदासे विलक्षण ज्ञान रहा था । वे बीचमें पड़ कर बोले : "हम दीवारसे सिर पीट लें तो भी गांधीजीका एक बार किया हुआ निश्चय नहीं टूटेगा । इनसे ज्यादा बहस करनेसे इनकी पीड़ा और बढ़ेगी । हमें अब सिर्फ यही सोचना चाहिये कि जिन शर्तों पर गांधीजी उपवास छोड़ देनेको राजी हों उन्हें पूरा करनेके लिए हम क्या कर सकते हैं ।" बस, वे सब इस समस्याको रचनात्मक ढंगसे हल करनेके काममें लग गये ।

इसके बाद हिन्दू और सिक्ख शरणार्थियोंका एक शिष्ट-मण्डल आया । गांधीजीने उनसे कहा : मेरा उपवास छुड़वाना आपके हाथमें है । "दिलोंकी पूरी सफाई होनी चाहिये । आपको मुझे यह आश्वासन देना होगा कि सारे भारतमें भी आग लग जाय, तो भी दिल्ली सुरक्षित रहेगी । अगर आप इस समय मेरी बात पर ध्यान नहीं देंगे, तो बादमें आप सबको रोना पड़ेगा और हाथ मल मलकर पछताना पड़ेगा ।"

जिस दिन गांधीजीने उपवास शुरू किया उसी दिन राजभवनमें होनेवाले एक स्वागत-समारोह में सम्मिल्तित होनेके लिए लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटनकी तरफसे हममें से कुछ लोगोंको निमंत्रण मिला था । हममें से किसीकी जानेकी इच्छा नहीं थी । मैंने गांधीजीसे पूछा कि क्या हम न जानेके लिए क्षमा मांग लें ? परन्तु उन्होंने आग्रह किया: जिन जिनको बुलाया गया है, वे सब अपना कर्तव्य समझ कर जायें । उन्होंने मुझसे कहा : "कदाचित् माउण्टबेटन तुमसे मेरे उपवासकी चर्चा करना चाहेंगे । उनकी प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष जान लेना अच्छा रहेगा । कुछ भी हो, तुम यह रिपोर्ट तो दे ही सकोगे कि समारोहमें शराब परोसी गई या नहीं !" गांधीजीकी आशाके अनुसार माउण्टबेटनने हमारे पार्टीमें मिलते ही उपवासके विषय पर बात छेड़ दी । मेरे साथ मेरी बहन सुशीला और ब्रजकृष्ण चांदीवाला भी थे । माउण्डबेटनने कहा : "गांधीजीके उपवास पर मुझे एक ही आलोचना करनी है । उन्हें पहले पंडित नेहरूसे उपवासकी चर्चा कर लेनी चाहिये थी ।"

उस दिन अखबारोंमें एक आघात पहुंचानेवाली खबर छपी थी । उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्तसे हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंको लेकर आ रही ट्रेन पर पश्चिम पंजाबमें गुजरात नामक रेलवे स्टेशन पर हमला किया गया था । बहुतसे मुसाफिरोंकी हत्या कर दी गई और स्त्रियोंको भगा लिया गया था । इसका उल्लेख करके माउण्टबेटन बोले : "इससे गांधीजीका कार्य और कठिन बन जाता है । परन्तु उनकी विजय इसके कारण और भी महान होगी ।"

मुझ पर उनके जन्मजात साहस और शौर्यपूर्ण कल्पनाका फिर प्रभाव पड़ा । जब मैंने गांधीजीको उनके ये उद्गार सुनाये, तो उन्हें हर्ष हुआ । वे बोले : "मैंने कई बार नहीं कहा है कि कोई योद्धा ही अहिंसाकी शक्तिको पहचान सकता है ?" और उन्होंने गुजराती कवि प्रीतमकी यह प्रसिद्ध पंक्ति दोहरा दी : "हरिनो मारग छे शूरानो, नहीं कायरनुं काम जोने" (हरिका मार्ग शूरोंका मार्ग है; उस पर कायर नहीं चल सकते) ।

शामकी प्रार्थना-सभामें गांधीजीने घोषणा की: मैं अपना उपवास तभी तोड़ूंगा जब दिल्लीकी परिस्थितियां ऐसी हो जायंगी कि पुलिस और सेनाको हटा लेनेसे शांतिको कोई खतरा न पहुंचे । पुलिस भले रह सकती है, परन्तु केवल समाज-विरोधी तत्त्वोंसे निबटनेके लिए, साम्प्रदायिक शान्ति स्थापित करनेके लिए नहीं ।

कुछ लोगोंने शिकायत की थी कि महात्माजीको सिर्फ मुसलमानोंसे ही सहानुभूति है और उन्हींके खातिर उन्होंने यह उपवास किया है । गांधीजीने उत्तर दिया : एक अर्थमें उनका यह कहना सही है । मैंने जीवन भर अल्पसंख्यकों और जरूरतमंदोंकी हिमायत की है, जैसा कि सभीको करना चाहिये । पाकिस्तान बननेका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय संघके मुसलमान अपना गर्व और आत्म-विश्वास खो बैठे हैं । मुसलमानोंकी इस स्थितिसे मुझे गहरा दु:ख होता है । किसी राज्यमें प्रजाके किसी वर्गमें आत्म-विश्वास न रहे, तो उस राज्यकी जड़ें कमजोर हो जाती हैं । मेरा उपवास इस अर्थमें मुसलमानोंके भी खिलाफ है कि इससे उनमें अपने हिन्दू और सिक्ख भाइयोंके सामने सीधे खड़े होनेकी ताकत आनी चाहिये । इसलिए मेरे उपवासकी दृष्टिसे

मुसलमानोंको हिन्दुओं और सिक्खोंसे कम प्रयत्न नहीं करना होगा । मैं चाहता हूं कि इस उपवासके फलस्वरूप सबके हृदयोंकी पूरी पूरी सफाई हो जाय । लोगोंको अपने हृदयोंसे शौतानको निकाल कर फिरसे वहां ईश्वरको स्थापित करना चाहिये । इससे कम कुछ हो तो मैं उपवास नहीं तोड़ सकता । सच्ची शांति स्थापित होनेमें कितना समय लगता है, इसकी कोई परवाह नहीं । किसीको भी ऐसी कोई बात कहनी या करनी नहीं चाहिये, जिसकी वजहसे मुझे समयसे पहले अपना उपवास छोड़ देनेका प्रलोभन हो । उद्देश्य मेरे प्राणोंको बचानेका न होकर भारत और उसकी प्रतिष्ठाको बचानेका होना चाहिये ।

यद्यपि गांधीजी एकांतिक अर्थमें देशके किसी भागके नहीं रह गये थे, फिर भी उनका अपना प्रान्त गुजरात उनके हृदय पर राज्य करता रहा । एक श्रेष्ठ गुजराती होनेके नाते गांधीजीका गुजरातियों पर विशेष अधिकार था । गांधीजीने अपनी उत्तम वस्तु उन्हें दी थी, इसलिए गुजरातियोंको गुजरातके उत्तम गुण प्रकट करने चाहिये थे और अपनी उत्तमसे उत्तम वस्तु मातृभूमिको भेंट करनी चाहिये थी । क्या लगभग तीस वर्ष पहले गुजरातने नेतृत्व धारण करके देशको असहयोगके मार्ग पर और अन्तमें स्वाधीनताके युगमें प्रवृत्त नहीं किया था ? गांधीजी पर इस समय जो सबसे बड़ा संकट आया था, उसमें उनके विचारोंका गुजरातके नर-नारियोंकी ओर जाना स्वाभाविक था । उपवासके दूसरे दिन उन्होंने एक खुले पत्रके रूपमें "गुजरातके लोगोंके नाम" एक सन्देश भेजा । यद्यपि वह मुख्यतः गुजरातियोंके नाम था, फिर भी उसके पीछे हेतु यही था कि उनके द्वारा भारतके लोगोंसे बात की जाय :

> मेरे उपवासका दूसरा दिन शुरू हुआ है, यद्यपि उसे आरंभ हुए अभी चौबीस घंटे पूरे नहीं हुए हैं । इस सप्ताहके 'हरिजन' के लिए डाक भेजनेका यह आखरी दिन है, इसलिए मैं दो शब्द अपने गुजराती भाई-बहनोंसे कहना चाहता हूं ।
>
> इस उपवासको मैं साधारण नहीं मानता । खूब गहरा विचार करनेके बाद मैंने यह उपवास शुरू किया है । फिर भी विचार इसका प्रेरक नहीं है, परन्तु विचारका स्वामी राम

अथवा कहो कि रहमान इसका प्रेरक है। इस उपवासके पीछे न तो किसी प्रकारका क्रोध है और न जरासी भी उतावली है । लेकिन सभी बातोंका एक अवसर होता है । उस अवसरको चूक जानेके बाद कोई काम किया जाय तो उससे कुछ लाभ नहीं होता। ...

दिल्ली हिन्दुस्तानकी राजधानी है। अगर हम मनसे हिन्दुस्तानके दो विभाग न मानें अर्थात् हिन्दुओं और मुसलमानोंको हम दो अलग राष्ट्र न मानें, तो हिन्दुस्तानका जो नकशा आज तक हम जानते आये हैं उसमें बताये हिन्दुस्तानकी राजधानी दिल्ली आज नहीं बनी है। वैसे दिल्ली सदा ही रही है। हस्तिनापुर भी वही थी, इन्द्रप्रस्थ भी वही थी। दोनों नगरोंके खंडहर आज भी वहां बिखरे पड़े हैं। यह दिल्ली हिन्दुस्तानका हृदय है। इस पर कन्याकुमारीसे लेकर काश्मीर तक और कराचीसे लेकर आसामके डिब्रूगढ़ तकके भूभागमें बसनेवाले तथा इस विशाल राष्ट्रको अपने सेवाभाव और प्रेमभावसे अपना बनानेवाले समस्त हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों, पारसियों और यहूदियोंका समान अधिकार है। कोई यह नहीं कह सकता कि इसमें बहुसंख्थक कौमके लिए ही स्थान है और अल्पसंख्यक कौमकी यहां अवगणना और अपमान होता है। जो कोई हिन्दुस्तानका शुद्धतम सेवक है, उसका इस पर बड़ेसे बड़ा अधिकार है । इसलिए दिल्लीसे मुसलमानोंको निकालना चाहनेवाला आदमी दिल्लीका पहले नंबरका दुश्मन है और इसलिए वह हिन्दुस्तानका भी पहले नंबरका दुश्मन है। इस कुअवसरके पास हम तेजीसे पहुंच रहे हैं । इस संकटको टालनेमें प्रत्येक हिन्दुस्तानीको हाथ बंटाना चाहिये।

यह कैसे किया जाय ? अगर हम हिन्दुस्तानमें पंचायत राज कायम करना चाहते हैं, लोकतंत्रकी स्थापनाका प्रयत्न करना चाहते हैं, तो हम छोटेसे छोटे हिन्दुस्तानीको भी बड़ेसे बड़े हिन्दुस्तानी जितना ही हिन्दुस्तानका राजा मानेंगे । इसके लिए प्रत्येक हिन्दुस्तानीको शुद्ध होना चाहिये – न हो तो उसे शुद्ध बनना चाहिये। जैसे उसे शुद्ध होना चाहिये वैसे ही समझदार भी होना चाहिये। इसलिए वह जातिभेद अथवा वर्गभेदको नहीं

मानेगा । वह सबको अपने समान मानेगा और दूसरोंको अपने प्रेमपाशमें बांधेगा । उसकी दृष्टिमें कोई अछूत नहीं होगा । वह मजदूरको और धनी मालिकको बराबर समझेगा । इसलिए वह करोड़ों मजदूरोंकी तरह पसीनेकी रोटी कमाना जानेगा और कलम तथा कुदालीको समान मानेगा । इस शुभ अवसरको निकट लानेके लिए वह स्वयं भंगी बन जायगा । सयाना और समझदार होनेकी वजहसे वह अफीम या शराबको तो कभी छुएगा भी नहीं । वह स्वभावसे ही स्वदेशी-व्रतका पालन करेगा । अपनी पत्नी न हो ऐसी प्रत्येक स्त्रीको वह उमरके अनुसार अपनी माता, बहन या पुत्रीके समान मानेंगा । वह किसी स्त्री पर कुदृष्टि नहीं डालेगा । समय आने पर वह स्वयं मरेगा, लेकिन दूसरेको कभी नहीं मारेगा। . . . ऐसा हिन्दुस्तानी यह नहीं पूछेगा कि इस प्रयत्नमें मुझे क्या भाग लेना चाहिये । [हरिजन, १८ जनवरी १९४८, पृ. ५१७]

जब दिनमें दिल्लीके मौलाना लोग गांधीजीसे मिलने आये, तो गांधीजीने इन शब्दोंसे उनका स्वागत किया, "अब तो आपको सन्तोष है न ?" फिर जिस मौलानाने तीन दिन पहले उनसे कहा था कि हमें संघ-सरकार द्वारा इंग्लैण्ड भिजवा दीजिये, उसकी तरफ मुड़ कर गांधीजी बोले : "उस वक्त मेरे पास देनेके लिए कोई जवाब नहीं था । अब मैं आपका सामना कर सकता हूं । क्या आपके लिए इंग्लैण्डकी यात्राका बन्दोबस्त करनेके लिए सरकारसे कहूं ? मैं उससे कहूंगा : ये बेवफा मुसलमान हैं, जो भारतको छोड़कर चले जाना चाहते हैं । इन्हें जो सुविधा चाहिये दे दो ।"

मौलानाने कहा : मेरी बातसे आपको ठेस पहुंची हो, तो मुझे बड़ा अफसोस है । गांधीजीने शहरी विनोदके लहजेमें उत्तर दिया : "यह तो उस अंग्रेजके जैसी बात हुई जो आपको ठोकर मारता है और साथ ही यह भी कहता है, 'माफी चाहता हूं' !" फिर गंभीर होकर बोले : "क्या इंग्लैण्ड भेजनेकी बात कहनेके लिए आपको शर्म महसूस नहीं होती ? और फिर आपने तो यह भी कह दिया कि अंग्रेजी राज्यकी गुलामी भारतीय संघकी स्वाधीनतासे कहीं अच्छी है । आप तो देशभक्त और राष्ट्रवादी होनेका दम भरते हैं । आप भला ऐसे शब्द कहनेका साहस कैसे कर

सकते हैं ? आपको अपने दिल साफ करने होंगे और पूरे अर्थमें सच्चा बनना सीखना पड़ेगा । नहीं तो भारत आपको बहुत दिन बरदाश्त नहीं करेगा और मैं भी आपकी सहायता नहीं कर सकूंगा।"

शामकी प्रार्थना-सभामें गांधीजी गुजरात स्टेशन पर निराश्रितोंकी गाड़ी पर हुए क्रूर हमलेके बारेमें और कराचीमें हिन्दुओं और सिक्खोंकी संपत्तिकी व्यवस्थित लूटके विषयमें बोले। उनके सारे भाषणमें विश्वास और बलका नया स्वर सुनाई देता था । "ऐसी बातोंको संघ कब तक सहन कर सकता है ? अपने उपवासके बावजूद मैं कब तक हिन्दुओं और सिक्खोंके धीरज पर भरोसा रुख सकता हूं ? पाकिस्तानवालोंको अपनी ये हरकतें बन्द करनी होंगी । उन्हें यह प्रण करना होगा कि जब तक हिन्दू और सिक्ख पाकिस्तान लौट कर वहां सुरक्षित नहीं रह सकेंगे तब तक वे चैन नहीं लेंगे ।"

इसके बाद उन्होंने एक उज्ज्वल चित्र खींचते हुए कहा कि यदि हिन्दुस्तानमें चारों तरफ आत्मशुद्धिकी लहर दौड़ जाय तो क्या क्या होगा । "तो पाकिस्तान पाक बन जायगा । वह एक ऐसा राज्य बन जायगा, जिसमें पुराने दोष और बुराइयोंको लोग भूल जायंगे । पुराने भेदभाव दफना दिये जायंगे । एक अदनासे अदना आदमी भी पाकिस्तानमें वही इज्जत पायेगा जो कायदे आजम जिन्ना पायेंगे और उसके जान-माल उसी तरह सुरक्षित रहेंगे जैसे कायदे आजम जिन्नाके । ऐसा पाकिस्तान कभी मर नहीं सकता । **केवल तभी, उसके पहले नहीं, मुझे इस बातका अफसोस होगा कि मैंने पाकिस्तानको कभी एक "पाप" कहा । मुझे डर है कि आज तो मुझे जोरोंसे यह कहना ही होगा कि पाकिस्तान एक 'पाप' है** । मैं उस पाकिस्तानको कागज पर नहीं, पाकिस्तानके वक्ताओंके भाषणोंमें नहीं, बल्कि हरएक पाकिस्तानी मुसलमानके रोजके जीवनमें देखनेके लिए जिन्दा रहना चाहता हूं । जब ऐसा होगा तब यूनियनके रहनेवाले यह भूल जायंगे कि कभी पाकिस्तान और यूनियनके बीच दुश्मनी थी । और अगर मैं भूल नहीं करता, तो भारतीय संघ तब गर्वके साथ पाकिस्तानकी नकल करेगा । अगर उस समय तक मैं जिन्दा रहा, तो मैं यूनियनवालोंसे कहूंगा कि वे भलाई करनेमें पाकिस्तानसे आगे बढ़ जायं । उपवास तो एक बाजी

है; और वह इसी बातके लिए है कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान भलाई करनेमें एक-दूसरेका मुकाबला करें।" गांधीजीने यह बात स्वीकार की कि हिन्दुस्तानके लिए यह शर्मकी बात है कि यूनियनमें ऐसे कुछ लोग हैं, जिन्होंने "निस्संकोच पाकिस्तानकी बुरी बातोंकी नकल की।"

जब मैं नौजवान था और राजनीतिके बारेमें कुछ नहीं जानता था, तभीसे मैं हिन्दू, मुसलमान वगैराके हृदयोंकी एकताका सपना देखता आया हूं। मेरे जीवनके संध्याकालमें अपने उस स्वप्नको पूरा होते देख कर मैं छोटे बच्चेकी तरह नाचूंगा। . . . ऐसे स्वप्नकी सिद्धिके लिए कौन अपना जीवन कुरबान करना पसंद नहीं करेगा ? तभी हमें सच्चा स्वराज्य मिलेगा। तब तक कानूनकी नजरसे और भूगोलकी नजरसे हम भले ही दो राज्य रहें, लेकिन अपने रोजके जीवनमें हम दो राज्य नहीं होंगे। हमारे दिल एक होंगे। यह दृश्य मेरे लिए और आपके लिए भी इतना भव्य है कि वह सच्चा नहीं हो सकता। तो भी एक मशहुर चित्रकारके एक मशहूर चित्रमें बताये गये बच्चेकी तरह मुझे तब तक आनन्द नहीं होगा जब तक मैं उसे प्राप्त न कर लूंगा। . . . मुझे याद है कि जब मैं १८९६ में दिल्लीका किला देखने गया था तब मैंने उसके एक दरवाजे पर यह शेर पढ़ा था : "अगर कहीं जन्नत है तो यहां है, यहां है, यहां है।" वह किला अपनी सारी भव्यताके बावजूद मेरे लिए जन्नत नहीं था। लेकिन मुझे निहायत खुशी होगी, अगर पाकिस्तान इस लायक बने कि उसके हर दरवाजे पर यह शेर लिखा जा सके।

ऐसे जन्नतमें, चाहे वह पाकिस्तानमें हो या यूनियनमें, न कोई गरीब होगा, न भिखारी; न कोई ऊंचा होगा, न नीचा; न कोई करोड़पति होगा, न आधा भूखा नौकर; न शराब होगी, न दूसरी कोई नशीली चीज। सब लोग अपने आप खुशीसे और गर्वसे अपनी रोटी कमानेके लिए मेहनत-मजदूरी करेंगे। वहां स्त्रियोंकी वही इज्जत होगी जो पुरुषोंकी; और स्त्रियों और पुरुषोंकी अस्मत और पवित्रताकी रक्षा की जायगी। वहां अस्पृश्यता नहीं होगी; सब धर्म समान होंगे। वहां सब कोई समानता, भाईचारे और पवित्रताके आदर्शको प्राप्त करनेके लिए जीतोड़ प्रयत्न करेंगे।

मैं आशा रखता हूं कि जो लोग यह सब सुनेंगे या पढ़ेंगे, वे इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे कि जीवन देनेवाले सूर्य देवताकी धूपमें पड़े पड़े मैं इस काल्पनिक आनंदकी लहरमें बह गया । जो शंकाशील हैं उन्हें मैं विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मैं यह जरा भी नहीं चाहता कि मेरा उपवास जल्दी छूटे । अगर मेरे जैसे मुर्खके खयाली सब्जबाग कभी फलित न हों और मेरा उपवास कभी न टूटे, तो भी मुझे परवाह नहीं है । मुझमें जहां तक जरूरी हो इन्तजार करनेका धीरज है । लेकिन मुझे बचानेके लिए ही अगर लोग कुछ करेंगे, तो मुझे दुःख होगा । मेरा दावा है कि यह उपवास ईश्वरकी प्रेरणासे शुरू हुआ है, और जब ईश्वर चाहेगा तभी वह छूटेगा । ईश्वरकी इच्छाको न तो आज तक कोई टाल सका है, न आगे कभी टाल सकेगा ।

६

उपवास शुरू होनेके चौबीस घंटेके भीतर भारतीय संघके मंत्रि-मंडलकी बैठक बिड़ला-भवनके मैदानमें गांधीजीकी उपवास-शय्याके आसपास हुई, ताकि बाकी नकद रकममें पाकिस्तानके हिस्सेके प्रश्न पर फिरसे विचार किया जाय । परन्तु इससे वे लोग और भी नाराज हुए, जो पहले ही गांधीजीसे इसलिए नाराज थे कि उन्हें वे मुसलमानोंका पक्षपाती मानते थे । उनमें से जनूनी लोगोंकी टोली गांधीजीकी मृत्युका षड्यंत्र रचने लगी ।

रातको पश्चिम पंजाबसे आये हुए कुछ सिक्खोंने बिड़ला-भवनके सामने प्रदर्शन किया और “खूनके बदले खून”, “हम बदला चाहते हैं”, “गांधीको मरने दो” के नारे लगाये । पंडित नेहरू गांधीजीसे मिलनेके बाद बिड़ला-भवनसे जानेके लिए अपनी गाड़ीमें बैठे ही थे कि शोरगुल सुनकर वे गाड़ीसे उतर पड़े और बाहरकी ओर झपटे । वे गरज कर बोले : “किसकी हिम्मत है यह चिल्लानेकी कि ‘गांधीको मरने दो’ ? वह मेरे सामने ये शब्द दोहरानेका साहस करे । उसे पहले मुझे मारना होगा ।” प्रदर्शनकारी इधर-उधर भाग गये ।

गांधीजी अपने अंधेरे कमरेमें बिस्तर पर लेटे हुए थे । बाहरका शोर-गुल सुनकर उन्होंने पूछा : "लोग क्या चिल्ला रहे हैं ?"

"वे चिल्ला रहे हैं : 'गांधीको मरने दो' ।"

"कितने हैं वे ?"

"बहुत नहीं ।"

आह भर कर गांधीजी रामनाम लेने लगे ।

कोई बोला : "बापू, आप अपने कलकत्तेवाले उपवासके समय तो बड़े प्रसन्न थे और हम लोगोंसे मजाक भी करते थे । लेकिन अब आप बहुत गंभीर दिखाई देते हैं ।" गांधीजीने कहा : "हां, कलकत्तेमें काम बहुत आसान था । यहां बहुत कठिन है । प्रश्नको पेचीदा बनानेके लिए वहां निराश्रितोंकी कोई समस्या नहीं थी ।"

गांधीजीके उपवासके समाचारोंसे सभी वर्गोंमें गहरा हृदय-मंथन शुरू हो गया था । भारतके ही नहीं, पाकिस्तानके भी नेता अपने आपसे पूछने लगे : गांधीजीको इतना तेज कदम किसलिए उठाना पड़ा है ? हम एक-दूसरेकी निरर्थक निन्दा करके अपने धर्मकी कुसेवा तो नहीं कर रहे हैं और अपने अपने देशोंको आत्महत्याकी ओर तो नहीं धकेल रहे हैं? इससे डगमगानेवाले लोग स्थिर हो गये और उन लोगोंको साहस और बल मिल गया जो आलस्य अथवा भीरुताके कारण अब तक अनिर्णयात्मक स्थितिमें पड़े रहते थे और निर्भय होकर खुल्लमखुल्ला अपने सहधर्मियोंके दुष्कृत्योंकी निन्दा नहीं कर पाये थे । यह बात विशेषत: भारतीय मुसलमानों पर लागू होती थी ।

सारे भारतके ही नहीं, बाहरके मुस्लिम नेताओं और मुस्लिम संगठनोंकी तरफसे भी सहानुभूति और समर्थनके सन्देशोंका तांता लग गया । हैदराबादके निजाम तथा रामपुर और भोपालके नवाबोंके तार आये । बम्बई प्रान्तीय मुस्लिम लीगके अध्यक्षने अपने एक वक्तव्यमें

गांधीजीके उपवासको "हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खोंके लिए . . . हिन्दू धर्म, इस्लाम तथा सिक्ख धर्मको बचानेके लिए एक चुनौती बताया ।" उन्होंने "हमारे देश और धर्म" के खातिर शान्तिकी पुनर्स्थापनामें भरसक योग देनेकी सबसे अपील की । इस्लामिक प्रेस, लंदनके संचालकका संदेश यों था: "भाई-भाईके कत्लकी लड़ाईमें कूद पड़नेसे भारत और पाकिस्तानको बचानेके लिए उठाये गये आपके इस महत्त्वपूर्ण कदमकी सारी दुनियाके लोग कदर करते हैं । मैं अल्लाहसे प्रार्थना करता हूं कि आपको नेताओं और लोगोंके मानस बदलनेमें सफलता मिले। खुदा आपको लंबी उमर बख्शे ।" जामिया मिलिया, दिल्लीके मुखिया डॉ. जाकिर हुसैनने, जो पंजाबके दंगोंमें मार कर खतम कर दिये जानेसे बाल-बाल बचे थे, लिखा :

> हमें कोई शक नहीं कि उच्चतम विवेक आपका मार्गदर्शन करता है और आपने अपनी जनताको हृदय-शुद्धिकी प्रेरणा देनेका बिलकुल सही मौका चुना है । ईश्वरने आपको ऐसा साहस और ऐसा विश्वास दिया है जो बेकार साबित नहीं होता और ऐसी श्रद्धा दी है जिसे प्रतिकूल परिस्थिति हिला नहीं सकती । ईश्वर आपके साथ है; आपको अवश्य ही सफलता मिलेगी । हम सचमुच इस शर्मके मारे मरे जाते हैं कि आजाद भारतके पास आपको देनेके लिए कड़वाहट और कष्ठके सिवा कुछ नहीं हैं । . . . खुदा आपको बचाये, ताकि आप हमें उस ऊंचे दर्जेकी आजादीकी तरफ आगे बढ़ाते रहें, जिसके लिए आप साधना करते रहे हैं और जिसके लिए हमारी सारी मुर्खता और बुरे कामोंके बावजूद आप हमें योग्य समझते हैं । अगर कोई चीज हमारा कायापलट कर सकती है तो आपकी यह श्रद्धा ही कर सकती है कि अन्तमें हमारे भीतरके ऊंचेसे ऊंचे गुण प्रकट होकर अपना काम जरूर करेंगे ।

बरेलीके एक मुसलमान मौलवी द्वारा अपने अनुयायियोंके नाम निकाला गया फतवा विशेष महत्त्वका था : "पाकिस्तान या हिन्दुस्तानमें मुसलमानोंका आपसे बड़ा कोई दोस्त नहीं है। . . . हालके कराची और गुजरात (पाकिस्तान) के जुल्मों, बेगुनाह औरतों और बच्चोंके कत्ल, जबरत् धर्म बदलने और औरतोंको भगा ले जानेकी घटनाओं पर आपके साथ मेरा दिल भी खूब

रोता है । ये अल्लाहके सामने किये गये ऐसे गुनाह हैं, जिनकी कोई माफी नहीं । पाकिस्तान सरकार यह जान ले । अल्लाहके खलकके खिलाफ किये जानेवाले ऐसे भयंकर गुनाहोंकी बुनियाद पर इस्लामी राज्य कभी कायम हो ही नहीं सकता । मैं पाकिस्तानके अपने अनुयायियोंको हुक्म देता हूं और पाकिस्तानके मुसलमानों व सरकारसे अपील करता हूं कि वे इस्लामसे कोई सम्बन्ध न रखनेवाले इन शर्मनाक बुरे कामोंको बन्द करें और अपनी इन बुरी करतूतों पर तहेदिलसे पछतायें । मेरे अनुयायियों और हिन्दुस्तानके मुसलमानोंको मेरा यह हुक्म है . . . (कि) वे आखिर तक आपके और संघकी सरकारके वफादार रहें . . . और ऐसी कार्रवाईके खिलाफ आम लोगोंमें नफरत पैदा करनेके लिए पाकिस्तानके अपने हममजहबोंके बुरे कामोंकी बेलाग और जोरदार शब्दोंमें निन्दा करें । . . . मुसलमानोंके लिए यह समझनेका समय आ गया है कि संघके लिए उनकी सच्ची वफादारी और उनके नेताओंका आत्म-विश्वास ही एकमात्र ऐसा संरक्षण है जो उन्हें बचा सकता है । पाकिस्तानकी तरफ रहनुमाई और सहायताके लिए देखते रहनेकी छिपी इच्छा उनका नाश कर देगी । मेहरबानी करके अपना उपवास तोड़ दीजिये और हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तानको बरबादी, आफत और मौतसे बचाइये ।"

अगस्त १९४६ के भयंकर कलकत्ता हत्याकाण्डके समयसे ही गांधीजी मुसलमानोंसे कहते आ रहे थे कि अगर वे अपने सहधर्मियोंकी ज्यादतियोंकी साहसपूर्वक निन्दा करनेके बजाय तटस्थ बनें रहे और उनकी ज्यादतियोंके शिकार बने हुए लोगोंके साथ अपनी जानको खतरेमें डालकर भी एक कतारमें खड़े न हुए अथवा ऐसे अत्याचार करनेवालोंके साथ गुप्त सहानुभूति रखते रहे, तो — पाकिस्तान हो या न हो — जिन लोगोंके साथ उनमें से अधिकांशको रहना होगा उनके कोप-भाजन बने बिना वे नहीं रहेंगे । परन्तु गांधीजीकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया । इसका दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारतीय मुसलमानोंके लिए अपने कियेका फल भोगनेका वक्त आ गया । गांधीजीका उपवास शुरू होने पर मौलानाओंका जो दल उन्हें अपना फैसला बदल देनेका अनुरोध करनेके लिए आया था उससे उन्होंने कहा : अगर गुजरातके स्टेशन पर रेलमें हिन्दू और सिक्ख निराश्रितोंके हालके कत्लेआम जैसी घटनाएं बेरोक होती रहीं,

तो "दस गांधी भी भारतीय मुसलमानोंको नहीं बचा सकेंगे ।" इसलिए बरेलीके मौलवीका वक्तव्य एक ऐसे परिवर्तनका शुभ चिह्न था, जो उपवासके पहलेकी गांधीजीकी तमाम कोशिशें भी नहीं करा सकी थीं । अपने सायंकालीन प्रार्थना-प्रवचनमें गांधीजीने इस अपीलके साथ अपने कुछ खरे शब्द जोड़ कर उसका समर्थन किया । उन्होंने चेतावनी दी : "यदि पाकिस्तानका मुस्लिम बहुसंख्यक समुदाय शरीफ नर-नारियोंकी तरह पेश नहीं आयेगा, तो संघके मुसलमानोंके प्राण बचाना असंभव होगा ।" [प्रार्थना-प्रवचन, १५ जनवरी १९४८]

गांधीजीके उपवासका पाकिस्तानमें जो प्रभाव पड़ा उसकी आशा किसीको भी नहीं थी । एक क्षणमें विभाजनसे पहलेका मुस्लिम लीगका दुश्मन नम्बर एक "सबसे बड़ा दोस्त" और उनकी गहरी चिन्ताका विषय बन गया । इसका पहला संकेत अथक परिश्रम करनेवाली मृदुला साराभाईके एक तारसे मिला । वे भगाई हुई औरतोंको बचाने और वापस लानेके पवित्र कार्यमें लगी हुई थीं । लाहौरसे उनका गांधीजीके नाम भेजा तार इस प्रकार था : "यहां सभी लोग जानना चाहते हैं कि गांधीजीके प्राण बचानेके लिए वे क्या कर सकते हैं ।" पाकिस्तान और भारत दोनोंमें प्रार्थनाएं की गई – सार्वजनिक प्रार्थनाएं, निजी प्रार्थनाएं, मुसलमान स्त्रियों द्वारा पर्देके एकान्तमें की गई प्रार्थनाएं – कि भगवान गांधीजीको बचा ले ।

पाकिस्तान सरकारके कष्ट-निवारण और पुनर्वास-मंत्री तथा मुस्लिम लीगकी "सीधी कार्रवाई" (देखिये खंड - १, पृष्ठ ३६२) के एक प्रमुख हिमायती राजा गजनफरअली खानने एक अखबारी मुलाकातमें ऐसी घोषणा की : "हालके महीनोंमें भारत और पाकिस्तान दोनोंमें जो भयंकर नैतिक पतन सामने आया है उसका कोई कड़ा उपाय होना बहुत जरूरी था और महात्मा गांधीने इन परिस्थितियोंके खिलाफ उग्र रूपमें अपना विरोध प्रकट किया है । . . . अगर यही हालत रही तो हमारी मुश्किलसे हासिल की हुई आजादीका बहुत बुरा अन्त होगा ।"

पश्चिम पंजाब (पाकिस्तान) की विधान-सभाके प्रांगणमें सदस्योंने अपने भाषणोंके दौरान गांधीजीके उपवासका भावपूर्ण उल्लेख किया । "चंगेजखां और हलाकूको मात करने" की

ख्याति पाये हुए मलिक फीरोज खां नून (देखिये खंड - १, पृष्ठ ३२६) ने कहा : "धर्मके संस्थापकोंको छोड़कर संसारके किसी देशने महात्मा गांधीसे बड़ा आदमी पैदा नहीं किया ।" वित्त-मंत्री मियां मुमताज खां दौलतानाने कहा : "हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य उन भावनाओंकी कदर करना है, जो महात्मा गांधीके उपवाससे मुसलमानोंके लिए प्रकट होती हैं । इससे जाहिर होता है कि भारतमें कमसे कम एक आदमी तो ऐसा है, जो हिन्दू-मुस्लिम-एकताके लिए अपनी जान तक कुर्बान करनेको तैयार है ।...मैं इस सदनके प्रांगणसे महात्मा गांधीको यह विश्वास दिलाता हूं कि अल्पसंख्यकोंकी रक्षाके लिए उनकी जो भावनाएं हैं उनमें हम पूरी तरह उनके साथ है ।" मुख्यमंत्री ममदोतके खानने अपनी ओरसे और अपने साथियोंकी ओरसे बोलते हुए "एक पवित्र कार्यको आगे बढ़ानेके लिए महात्मा गांधीके महान कदमकी गहरी प्रशंसा और सच्ची कदर की, साथ ही गहरी चिन्ताकी भावना भी" व्यक्त की और यह भी कहा कि "गांधीजीकी कीमती जिन्दगीको बचानेके लिए मदद करनेमें यह प्रान्त कोई प्रयत्न उठा नहीं रखेगा ।"

*

अपने उपवासके तीसरे दिन (१५ जनवरी) गांधीजीको स्पष्ट रूपसे कमजोरी मालूम हुई और स्नानघरमें उन्हें कुर्सी पर ले जाना पड़ा । शामको तीन डॉक्टरोंके हस्ताक्षरसे एक डॉक्टरी विज्ञप्ति निकाली गई, जिसमें कहा गया : "स्वाभाविक रूपमें गांधीजीका वजन घट रहा है, दुर्बलता बढ़ गई है । आवाज कमजोर है । पेशाबमें एसीटोन तत्त्वके अंश नजर आये हैं ।" विज्ञप्तिमें यह समझाया गया कि इसका अर्थ यह है कि उपवासके परिणाम-स्वरूप शरीरके तंतुओंका बिखरना आरंभ हो गया है तथा रक्तनलियोंमें जहरीले तत्त्व भरने लगे हैं । जिसे डॉक्टरी भाषामें "खतरेका क्षेत्र" कहते हैं, उसमें गांधीजी प्रवेश कर चुके थे । एक चौंका देनेवाला लक्षण यह था कि वे गरम पानी तो अब भी खूब पी लेते थे, पर वह बाहर नहीं निकलता था; क्योंकि वे लेते ६८ औंस पानी थे, जब कि निकलता सिर्फ २८ औंस ही था । दूसरे शब्दोंमें, उनका गुर्दा काम नहीं कर रहा था । इसके बावजूद वे अपने उपवासके बारेमें मजाक कर लेते थे । मीराबहनके एक पत्रमें उन्होंने लिखा :

मैं अपना खाना उसी तरह खा रहा हूं, जैसे कोई भी निर्धारित आहारवाला उपवासी खा सकता है । तुम्हें आघात नहीं लगना चाहिये । यह आहार है ८ औंस गरम पानी, जो कठिनाईसे घूंट घूंट लिया जाता है । यह पानी उपवासी लेता तो है जहर मानकर, परन्तु वह जानता है कि परिणाममें यह पानी अमृत सिद्ध होगा । जब भी मैं पानी पीता हूं, मुझमें ताजगी आ जाती है । आश्चर्यकी बात है कि इस बार विषके स्वादवाले किन्तु अमृतमय फलवाले इस आहारकी लगभग आठ खुराक मैं ले लेता हूं । फिर भी मैं उपवास करनेका दावा करता हूं और विश्वासी लोग इसे मान लेते हैं ! कैसी अजीब दुनिया है !

पत्रके अन्तमें लिखा था : "मैं उपवास कर रहा हूं, इसलिए तुम भागकर यहां न आ जाना । मैंने इसे यज्ञ कहा है । इसका तकाजा है कि जो जहां है वह वहीं रहकर अपना कर्तव्य पालन करे । अगर काफी लोग ऐसा करेंगे, तो मैं जरूर इस अग्नि-परीक्षामें से जीवित निकल आऊंगा । ईश्वर पर भरोसा रखो और जहां हो वहीं रहो ।"

शामको गांधीजी इतने दुर्बल हो गये थे कि चलकर प्रार्थना-भूमि तक नहीं जा सकते थे । इसलिए उनके कमरेमें ध्वनि-प्रसारक यंत्र लाया गया और उनके बिस्तरके पास रख दिया गया, ताकि वे जहां थे वहींसे सीधे उस पर बोल सकें । प्रार्थनाके बाद उनके दर्शनोंके लिए शोर मचा । इसलिए उनका पलंग बरामदेमें लाया गया, जहांसे बाहरके लोग उन्हें देख सकते थे । जब भीड़ पूज्य भावसे चुपचाप कतार बनाकर उनके कमरेके सामनेसे गुजर रही थी तब इतनी निस्तब्धता थी कि सुईके गिरनेकी आवाज भी सुनाई दे जाय । गांधीजी अपने पलंग पर लेटे थे, सफेद ऊनी शाल उसके शरीर पर लिपटी थी । हाथ जोड़कर वे सबको नमस्कार कर रहे थे । उनका सुख उदास और म्लान था, जिस पर झुरियां और रेखाएं दिखाई देती थीं; परन्तु वह शान्त और स्थिर था ।

ज्यों ही लोग पहले आघातसे संभले, उन्होंने जाग्रत होकर अपनी जिम्मेदारीको पूरी तरह समझा; वे सच्चा हृदय-परिवर्तन लानेके लिए सर्वांगीण प्रचार-कार्य संगठित करनेमें लग गये ।

हिन्दुओं और मुसलमानोंके बहुतसे शिष्ट-मण्डल और दूसरी मंडलियां आईं और उन्होंने गांधीजीको विश्वास दिलाया कि अब हम साम्प्रदायिक मेल-मिलाप करानेके लिए अपने आपको समर्पित कर देंगे । सीमाप्रान्तके निराश्रितोंके एक शिष्ट-मंडलने गांधीजीसे कहा : यद्यपि हमने भयंकर कष्ट सहे हैं, फिर भी हम मुसलमानोंके प्रति कोई दुर्भाव नहीं रखेंगे और उनके लिए अच्छे मित्र और पड़ोसी बननेकी भरसक कोशिश करेंगे । कोई दस हजार आदमियों – हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खों – के एक समुदायको सम्बोधित करते हुए पंडित नेहरूने कहा : "महात्मा गांधीके प्राण चले गये तो भारतकी आत्मा चली जायगी, क्योंकि वे भारतकी आध्यात्मिक शक्तिके जीवंत प्रतीक हैं ।...एक पैगम्बरकी तरह उन्होंने समझ लिया है कि अगर साम्प्रदायिक लड़ाईको तुरन्त नहीं रोका गया, तो हमारी स्वतन्त्रताका अन्त हो जायगा ।" सिक्ख स्वयंसेवकोंका एक जुलूस साम्प्रदायिक मेलजोलके नारे लगाते हुए और राष्ट्रपिताके खातिर शान्ति कायम रखनेकी लोगोंसे अपील करते हुए शहरके मुख्य मार्गों पर घूमा ।

अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें गांधीजीने ऐसी बात कही थी कि भारतके दोनों भागोंमें जो घटनाएं हुईं उनकी ज्यादातर जिम्मेदारी मुस्लिम लीग पर है । इसके विरोधमें गांधीजीके एक निकटके मित्र श्वैब कुरेशीका पत्र आया । परन्तु गांधीजीको लगा कि अब उन्हें खरी-खरी कहनेका और लाभदायक सलाह देनेका अधिकार प्राप्त हो गया है, भले वह तमाम मुसलमानों और पाकिस्तानको भी कितनी ही अरुचिकर क्यों न लगे । उन्हें विश्वास था कि किसीको उनकी खरी बातोंसे कोई गलतफहमी नहीं होगी । उन्होंने मुझसे कहा : श्वैब को लिख दो कि वर्तमान स्थितिके लिए मुस्लिम लीगकी जिम्मेदारीके बारेमें मैंने जो कुछ कहा है उसका मुझे पश्चात्ताप नहीं है : "पूरी ईमानदारी बरतूं तो मैं मुस्लिम लीगको इस जिम्मेदारीसे मुक्त नहीं कर सकता । इस संकटके समय मुझे न तो चिकनी-चुपड़ी बातें करनी चाहिये और न दूसरोंको बुरी लगनेवाली बातें छिपानी चाहिये । यह भी लिखो कि जो मेरे स्वभावके इस पहलूकी कदर नहीं कर सकते, वे मेरे उपवासकी सफल समाप्तिकी प्रार्थनामें शरीक नहीं हो सकते । मित्रताका यह विशेष

अधिकार है कि वह कानोंको बुरी लगने पर भी सच्ची बात कहे और यह आशा रखे कि सच्ची मित्रता सारे आघातोंके बाद भी बनी रहेगी ।"

जो लोग सरदार पटेलकी निन्दा करनेके लिए गांधीजीके उपवासका दुरुपयोग करनेका प्रयत्न कर रहे थे, उनसे भी गांधीजीने साफ साफ बातें कहीं । गृहमंत्रीकी हैसियतसे सरदार पटेल मुसलमानोंके एक बड़े समुदायमें अप्रिय हो गये थे । कुछ तो उन्हें मुसलमानों और पाकिस्तानका शत्रु तक कहते थे । इससे बड़ा झूठ और क्या हो सकता था ? बेशक, सरदार देशकी सुरक्षाको प्रथम स्थान देते थे । इस विषयमें वे कोई खतरा उठानेको तैयार नहीं थे । परन्तु उनकी यह भी पक्की राय थी कि जो मुसलमान भारतमें रहना पसन्द कर लें और उसे अपना घर समझें, उनके साथ उचित और न्यायपूर्ण व्यवहार होना चाहिये । सही बात यह थी कि वे न तो सूक्ष्म तत्त्वज्ञानकी बहुत परवाह करते थे और न औपचारिक धर्मकी । वे तो नमूनेके व्यावहारिक किसान थे और उनका दिल इतना बड़ा था कि किसीके प्रति भी वे शत्रुताका भाव रख ही नहीं सकते थे । लेकिन वे चालबाजी और घोखाधड़ीके बहुत खिलाफ थे और जो लोग धर्मकी आड़में स्वार्थ साधना चाहते थे उनको वे माफ नहीं करते थे । गांधीजीकी तरह वे मूर्खों या हठ-धर्मियोंको खुशीसे बरदाश्त नहीं करते थे । प्रशासकके नाते वे कोई बात भूलते कभी नहीं थे, यद्यपि वे क्षमा करनेको सदा तैयार रहते थे, अगर अपराधीको सच्चा पछतावा हो और वह भावी सद्व्यवहारकी पक्की गारंटी दे । वे कसकर मारते थे और सीधा वार करते थे । लेकिन थे वे सच्चे खिलाड़ी । चुगलखोरों, झूठा रोना रोनेवालों और शिकायत करनेवालोंके लिए उनके पास तिरस्कारके सिवा दूसरा कुछ नहीं था । जो लोग अपने ही खेलमें पिट जाते थे वे बादमें गांधीजीके पास जाकर जब शहीदोंकी मासूमियत दिखाते थे और अतिशयोक्तिपूर्ण भाषामें ऐसे सिद्धान्तोंकी दुहाई देते थे, जिन पर खुद कभी अमल करनेकी परवाह नहीं करते थे, तो सरदार उन्हें अपने व्यंग्यबाणोंसे छेद देते थे । इससे कभी कभी महात्माजीके उदास और वेदनापूर्ण मुख-मंडल पर भी "परेशानी भरी मुस्कराहट फैल जाती थी । नीतिके मामलोंमें अवश्य ही सरदार और गांधीजीके बीच मतभेद बढ़ रहा था । फिर भी गांधीजीके लिए जितना व्यक्तिगत स्नेह और आदर सरदारके मनमें था

उससे अधिक शायद ही और किसीके मनमें रहा हो । एक समय वे गांधीजीकी "हां में हां मिलानेवाले" माने जाते थे । अब वह बात नहीं रही थी । नई दिल्लीके राजनीतिक निन्दाके बाजारमें एक द्वेषपूर्ण कानाफूसी यह चलने लगी थी कि गांधीजीके उपवासका उद्देश्य सरदारका हृदय-परिवर्तन करना है और वह एक तरहसे गृह-मंत्रालयकी नीतिकी निन्दा करता है । अभी तक गांधीजीने सरदारके विरुद्ध किये जानेवाले प्रचारको दिलमें दबे हुए दर्दसे सुन लिया था । किन्तु उपवासने उन्हें अपने पर लगाये हुए इस संयमसे मुक्त कर दिया । अपनी चापलूसी या स्तुतिको – यदि वह दूसरोंको, खास कर विरोधियोंको, हानि पहुंचाकर की जाती तो – वे सहन नहीं कर सकते थे । कुछ अखबारवालोंके प्रश्नोंके लिखित उत्तर देते हुए गांधीजीने सरदारके निन्दकोंसे कहा : यह आपकी भूल है कि एक तरफ आप सरदारको अलग करके उन्हें बलिदानका बकरा बना रहे हैं और दूसरी ओर पंडित नेहरूकी और मेरी अकारण प्रशंसा कर रहे हैं । न तो मेरे लिए और न पंडित नेहरूके लिए इस प्रशंसाका कोई उपयोग है । "मैं सरदारको जानता हूं । सरदारके बात करनेके ढंगमें एक तरहका अक्खड़पन है, जिससे कभी कभी लोगोंका दिल दुख जाता है । वैसे सारदारका इरादा किसीको दुःखी करनेका नहीं होता । लेकिन जो लोग उन्हें जानते हैं, वे इसी कारणसे उन्हें जल्दी पसन्द करने लगते हैं ।" हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर और कई अन्य प्रश्नों पर सरदारका तरीका और दृष्टिकोण मुझसे और पंडित नेहरूसे भिन्न है । परन्तु उसे "मुस्लिम-विरोधी" कहना सत्यका विपर्यास है । सरदारका हृदय इतना विशाल है कि उसमें सबके लिए स्थान है ।

गांधीजीने आगे कहा : मैं मुक्त भावसे स्वीकार करता हूं कि सरदार अब मेरी "हां में हां मिलानेवाले" नहीं रहे । वे इतने "शक्तिशाली और मनके मजबूत" हैं कि किसीकी हां में हां मिला ही नहीं सकते । जब सरदार स्वयंको ऐसा मानने देते थे उस समय इसका कारण यह था कि मैं जो कुछ कहता था वह अन्तर्प्रेरणासे ही उन्हें अपील करता था । "वे अपने क्षेत्रमें महान थे और अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटीका प्रशासन चलानेमें उन्होंने बड़ी योग्यता दिखाई थी; फिर भी वे इतने नम्र थे कि उन्होंने अपनी राजनीतिक तालीम मेरे मातहत शुरू की; इसके पीछे कारण –

जैसा कि उन्होंने मुझे समझाया था – यह था कि वे उस राजनीतिको नहीं अपना सकते थे, जो भारतमें मेरे सार्वजनिक जीवनका आरम्भ करते समय प्रचलित थी ।जब सत्ता उनके गलेमें आ पड़ी तब उन्होंने देखा कि अहिंसाकी जिस पद्धतिका वे अब तक सफलतासे प्रयोग करते रहे थे उसका आगे वे प्रयोग नहीं कर सकते । मुझे स्वयं तो यह पता लग गया है कि जिसे मैंने और मेरे साथके लोगोंने अहिंसा कहा था वह सच्ची अहिंसा नहीं थी, बल्कि निष्क्रिय प्रतिरोधके नामसे पुकारी जानेवाली उसकी कमजोर नकल थी । **स्वभावतः निष्क्रिय प्रतिरोध किसी शासकके लिए किसी कामकी चीज नहीं हो सकता** । कोई कमजोर शासक क्या किसी प्रजाका प्रतिनिधित्व कर सकता है ? वह अपने उन स्वामियोंको भी नीचे गिरायेगा, जिन्होंने फिलहाल अपनेको उसके विश्वास पर छोड़ दिया है । मैं जानता हूं कि सरदार कभी भी अपने विश्वासके साथ घात नहीं कर सकते, अथवा उसका मूल्य घटा नहीं सकते ।" [वही] गांधीजीने आगे कहा :

> मैं नहीं समझता कि मेरे वक्तव्यकी इस पृष्ठभूमिको जाननेके बाद कोई यह कहनेका साहस करेगा कि मेरा उपवास गृह-मंत्रालयकी नीतिकी निन्दा करनेवाला है । अगर कोई ऐसा व्यक्ति है, तो उसे मैं इतना ही कह सकता हूं कि वह ऐसा करके नीचे गिरेगा और नुकसान उठायेगा । . . . जैसा कि मैं साफ शब्दोंमें कह चुका हूं, मेरा उपवास बेशक संघके मुस्लिम अल्पसंख्यकोंके पक्षमें है और इसलिए अवश्य ही संघके हिन्दुओं और सिक्खों तथा पाकिस्तानके मुसलमानोंके विरुद्ध है । वह जैसे संघके मुसलमान अल्पसंख्यकोंके पक्षमें है वैसे ही पाकिस्तानके अल्पसंख्यकोंके पक्षमें भी है ।
>
> मैं जो विचार पहले ही समझा चुका हूं उसका यह बेढंगा-सा सार है । मैं यह आशा नहीं रख सकता कि एक बहुत ही अपूर्ण और दुर्बल प्राणीके उपवासमें – मैं सचमुच अपनेको ऐसा ही प्राणी मानता हूं – इतनी शक्ति होगी कि वह दोनों ओरके अल्पसंख्यकोंकी तमाम खतरोंसे रक्षा कर ले । उपवास सबके लिए आत्मशुद्धिकी एक प्रक्रिया है । इस कदमकी शुद्धताके विरुद्ध कोई आक्षेप करना बेजा होगा ।"

सरदारने ऐसा कहा बताया गया था कि मुस्लिम लीगी एक दिनमें संघके मित्र नहीं बन सकते। इसे उनके मुस्लिम-विरोधी विचारोंके प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया गया। इसका खास तौर पर उल्लेख करके गांधीजीने कहा कि अधिकांश हिन्दुओंका यही विचार है। अब मुस्लिम लीगी मित्रोंको चाहिये कि "वे केवल घोषणाओंसे नहीं, परन्तु अपने आचरणसे सरदारके इस कथनको गलत साबित कर दें।"

गांधीजीका उपवास ठीक संयुक्त राष्ट्रसंघकी सुरक्षा परिषद्की उस बैठकके समय ही आरम्भ हुआ, जिसमें काश्मीरके प्रश्नकी चर्चा होनेवाली थी। गांधीजीसे पूछा गया : क्या आपके उपवासकी वजहसे गुजरात स्टेशन पर निराश्रितोंको ले जानेवाली ट्रेनमें हुए हत्याकांड पर तथा कराचीके उन दंगों पर – जिनमें बड़ी संख्यामें सिक्खोंको मौतके घाट उतार दिया गया था – पर्दा नहीं पड़ जायगा ? उनसे कहा गया कि पाकिस्तानके प्रतिनिधि अपनी ख्यातिको खो देंगे, अगर वे संयुक्त राष्ट्रसंघकी नजरोंमें भारतके मामलेको खराब करनेके इस अवसरका उपयोग नहीं करेंगे ! गांधीजीने उत्तर दिया : मैंने इस संभावनाका अपने मनमें विचार कर लिया है, परन्तु ऐसे विचार मुझे सत्यके मार्गसे विचलित नहीं कर सकते। मेरे उपवासका हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघको भी अपने दायरेमें शामिल करने और शुद्ध करनेका है। मेरे इस उपवासका प्रभाव-क्षेत्र विश्वव्यापी होगा। "भारतसे बाहरकी सत्ताओं और उनकी जनताको मैं जितना जानता हूं उसके आधार पर दावेके साथ कहता हूं कि उपवासने सब पर अच्छा ही प्रभाव उत्पन्न किया है। जो विदेशी लोग भारतकी घटनाओं पर रागद्वेष-रहित होकर विचार कर सकते हैं, वे उपवासके उद्देश्यको विकृत रूप नहीं दे सकते। . . . संयुक्त राष्ट्रसंघ जानता है कि मेरे उपवाससे उसे उचित निर्णय करनेमें और दोनों नव-निर्मित राज्योंको मार्गदर्शन देनेमें सहायता मिलती है।" [वही]

गांधीजीके उपवासके तीसरे दिन भारत सरकारने एक विज्ञप्तिमें यह घोषणा की कि हमने पाकिस्तानको ५५ करोड़ रुपयेकी राशि तुरन्त चुका देनेका निश्चय किया है। उसने पहले जो रवैया अपनाया था उसे "कानूनी और दूसरे कारणोंसे" ठीक बताते हुए पाकिस्तान सरकारकी इस सम्बन्धकी दलीलोंको चुनौती दी और उन्हें असत्य बताया। विज्ञप्तिमें यह भी कहा गया :

राष्ट्रपिताके उपवास पर जो विश्वव्यापी चिन्ता प्रकट की गई है, उसमें भारत सरकार भी अपना स्वर मिलाती है । उन्हींकी तरह सरकारने भी उस दुर्भावना, पूर्वग्रह तथा सन्देहको मिटानेके उपाय और साधन उत्सुकतासे ढूंढ़े हैं, जिनकी वजहसे भारत और पाकिस्तानके सम्बन्ध विषाक्त हुए हैं । गांधीजीको जो उद्देश्य प्रिय है उसमें हर संभव तरीकेसे सहायक होनेकी तीव्र इच्छासे प्रेरित होकर सरकारने राष्ट्रकी आत्माके भौतिक कष्टको दूर करनेके आन्दोलनमें ठोस और उल्लेखनीय योग देनेकी कोशिश की है; ऐसा करके वह राष्ट्रके मानसको वर्तमान उत्पात, कटुता और सन्देहसे मोड़ कर रचनात्मक और सर्जनात्मक प्रयत्नमें लगाना चाहती है । सरकार यथासंभव, राष्ट्रहितको हानि पहुंचाये बिना, भारत और पाकिस्तानके बीच संघर्ष पैदा करनेवाले हर कारणको दूर करनेके लिए उत्सुक है ।

संघ-सरकारके निश्चयको "अनोखा कार्य" बताते हुए एक लिखित वक्तव्यमें, जो दूसरे दिन शामकी प्रार्थना-सभामें पढ़कर सुनाया गया था, गांधीजीने कहा : "भारत सरकारके निश्चयसे पाकिस्तान सरकारकी परीक्षा हो जायगी । इससे न केवल काश्मीरके प्रश्नका, बल्कि दोनों राज्योंके तमाम मतभेदोंका भी आपसमें सम्मानपूर्ण निबटारा हो जाना चाहिये । आजकी दुश्मनीकी जगह दोस्तीको ले लेनी चाहिये ।"

गांधीजीने आगे कहा : "किसी जिम्मेदार हुकूमतके लिए सोच-समझ कर किये हुए अपने किसी निर्णयको बदलना आसान नहीं होता । लेकिन तो भी हमारी हुकूमतने, जो हर मानोंमें जिम्मेदार हुकूमत है, उतने ही सोच-विचारके बाद अपने निश्चित निर्णयको शीघ्रतासे बदल डाला है । . . . मैं जानता हूं कि दुनियाके सब राष्ट्र भी यह कहेंगे कि ऐसा महान कार्य हमारी हुकूमतके जैसी उदार दिलवाली हुकूमत ही कर सकती है । इसमें मुसलमानोंको संतुष्ट करनेकी कोई बात नहीं है । यह तो अपने आपको सन्तुष्ट करनेकी बात है । कोई भी हुकूमत, जो विशाल जनताकी प्रतिनिधि है, बेसमझ जनतासे सिर्फ तालियां पिटवानेके लिए ही ऐसा कोई कदम नहीं उठा सकती । जहां चारों तरफ पागलपन फैला हुआ है वहां आपके बड़ेसे बड़े नेताओंको बहादुरीसे

अपना दिमाग ठंडा रखकर उस जहाजको टूटने और डूबनेसे क्या नहीं बचाना चाहिये, जिसे वे चला रहे हैं ?"

हमारी हुकूमतने यह कदम क्यों उठाया ? "इसका कारण मेरा उपवास है । इस उपवाससे उसका सारा दृष्टिकोण, उसकी सारी विचारधारा ही बदल गई है । उपवासके बिना कानून उससे करवाता उतना ही वह करती, उसके बाहर जानेवाली नहीं थी । . . . अंग्रेजीमें एक घरेलू कहावत है, जो सदियोंसे इंग्लैण्डमें चली आई है । उसमें कहा गया है कि जहां सामान्य कानून काम नहीं देता वहां न्यायदृष्टि हमारी मदद करती है । बहुत समय नहीं हुआ जब कानून और न्यायके अमलके लिए वहां अलग अलग अदालतें हुआ करती थीं । इस भूमिकासे देखा जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तानकी हुकूमतने जो कार्य किया है वह हर दृष्टिसे उत्तम न्यायका कार्य है ।

"मुझसे कहा गया है कि संघकी हुकूमतके महान कार्यको देखकर अब तो मैं अपना उपवास छोड़ दूं । काश, मैं अपने दिलको ऐसा करनेके लिए समझा सकता ! मैं जानता हूं कि जो डॉक्टर स्वेच्छासे काफी त्याग करके मेरी देखभाल कर रहे हैं, उनकी चिन्ता जैसे जैसे मेरा उपवास लम्बा होता जाता है वैसे वैसे बढ़ती जाती है । मेरा गुर्दा ठीक तरहसे काम नहीं करता । उन्हें इस बातका डर नहीं है कि मैं आज ही मर जाऊंगा । लेकिन उपवास लम्बा चला तो उन्हें डर है कि मेरे शरीरकी मशीनको स्थायी नुकसान पहुंचेगा । लेकिन डॉक्टर लोग कितने ही होशियार क्यों न हों, मैंने उनकी सलाहसे उपवास शुरू नहीं किया है । मेरा एकमात्र रहनुमा और मेरा स्वामी ईश्वर रहा है । वह कभी गलती नहीं करता और वह सर्व-शक्तिमान है । . . . अगर उसे मेरे इस कमजोर शरीरसे कुछ और काम लेना होगा, तो डॉक्टर कुछ भी क्यों न कहें, वह मुझे बचा लेगा । मैं ईश्वरके हाथोंमें हूं । . . . लेकिन मुझे यह जरूर लगता है कि अगर देशके लिए मेरा कुछ भी उपयोग है, तो डॉक्टरोंकी इस चेतावनीके फलस्वरूप लोगोंको तेजीसे साथ मिलकर काम करना चाहिये । इतनी मेहनतसे आजादी हासिल करनेके बाद हमें बहादुर तो होना ही चाहिये ।

बहादुर लोग उन पर भी विश्वास करते हैं, जिन पर उन्हें दुश्मनीका शक होता है । बहादुर लोग अविश्वासको अपनी शानके खिलाफ समझते हैं ।"

यह बहादुरीकी बात उन लोगोंके डरको दूर करनेके लिए कही गई थी, जो पाकिस्तानको ५५ करोड़ रुपयेकी रकम देनेके विरुद्ध थे । उन्हें यह आशंका थी कि इस रकमका उपयोग पाकिस्तान काश्मीर पर किये गये आक्रमणको मजबूत बनानेमें करेगा । यह सच था कि पाकिस्तानके पास उस समय खजानेमें पैसा नहीं था और ५५ करोड़की रकम कुछ समय तो भी काश्मीरका युद्ध चलानेके लिए युद्ध-सामग्री प्राप्त करनेमें पाकिस्तानकी मदद कर सकती थी । लेकिन गांधीजीको पूरा विश्वास था कि कुल मिलाकर अन्तमें हिन्दुस्तानको लाभ ही होगा । दो दिन बाद एक मित्रसे बातचीत करते हुए उन्होंने कहा : "यही एक ऐसी बात है, जिसका पाकिस्तान दुरुपयोग कर सकता है । परन्तु यूनियत सरकारका यह निर्णय हिन्दुस्तानकी प्रतिष्ठाको दुनियामें सबसे ज्यादा बढ़ा देगा ।"

गांधीजीने १५ जनवरीके अपने प्रार्थना-प्रवचनके अन्तमें यह घोषणा की कि अगर दिल्लीके हिन्दू, मुसलमान और सिक्खोंमें दिलोंकी ऐसी एकता स्थापित हो जाय कि " हिन्दुस्तान और पाकिस्तानके बाकी हिस्सोंमें आग भड़क उठे तो भी दिल्ली शान्त रहे", तो मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी । मेरे उपवासका अच्छेसे अच्छा जवाब यही होगा कि "दोनों उपनिवेशोंमें ऐसी मित्रता पैदा हो जाय कि हर धर्मके लोग दोनों ओर बिना किसी खतरेके आ जा सकें और रह सकें । आत्मशुद्धिके लिए इतना तो कमसे कम होना ही चाहिये । . . . हिन्दुस्तान और पाकिस्तानके लिए दिल्ली पर बहुत ज्यादा बोझ डालना ठीक न होगा । यूनियनके रहनेवाले भी आखिर तो इन्सान ही हैं । हमारी हुकूमतने लोगोंके नामसे एक बड़ा उदार कदम उठाया है और उसे उठाते समय उसकी कीमतका खयाल तक नहीं किया है । पाकिस्तान इसका क्या जवाब देगा ? इरादा हो तो रास्ते अनेक हैं । लेकिन क्या उसका इरादा है ?"

सारी आशंकाओंके बावजूद उस शामको जब गांधीजीने बिस्तर पर लेटे लेटे माइक्रोफोन पर प्रार्थना-सभाके लोगोंको मौखिक सन्देश दिया तब पिछले दिनसे उनकी आवाजमें ज्यादा शक्ति थी। उन्होंने कहा : "इसका मतलब तो यही किया जाय कि ईश्वरकी बड़ी कृपा है। पहले जब कभी मैंने उपवास किया था तब चौथे दिन मुझमें इतनी शक्ति नहीं रहती थी। मेरी उम्मीद तो यह है कि अगर आप सब लोग आत्मशुद्धिका यज्ञ करते रहेंगे, तो बोलनेकी मेरी शक्ति शायद अन्त तक बनी रहेगी। मैं इतना तो कहूंगा कि मुझे उपवास छोड़नेकी कोई जल्दी नहीं है। मैं परम शांतिका अनुभव करता हूं। मैं यह नहीं चाहता कि कोई अधूरा काम करे और मुझे सुना दे कि सब कुछ ठीक हो गया है। जब तक इर्दगिर्दमें, सारे हिन्दुस्तान और सारे पाकिस्तानमें शांति नहीं होगी तब तक मुझे जीनेमें कोई दिलचस्पी नहीं रहेगी।"

७

पाकिस्तानके हिस्सेकी नकद बाकी रकम उसे अदा कर देनेके बारेमें मंत्रि-मण्डलका फैसला रद्द करनेकी बात सरदारके लिए असह्य सिद्ध हुई। उच्चतर नीतिसे सम्बन्धित बातोंमें वे मंत्रि-मंडलके अपने साथियोंसे भिन्न मत रखनेके लिए मजबूर हो जाते थे। वे यह जानते भी थे कि कई प्रश्नों पर उनका दृष्टिकोण गांधीजीके दृष्टिकोणसे नहीं मिलता था, फिर भी गांधीजीने अन्यायपूर्ण आक्रमणोंके खिलाफ सदा बहादुरीसे उनका साथ दिया था। गांधीजीको उनकी रक्षा करनी पड़े, इससे सरदारके गर्वको चोट लगती थी। वे जानते थे कि गांधीजी कभी किसीसे उसके अन्त:करणके विरुद्ध काम करनेको नहीं कहते। परन्तु वे यह भी जानते थे कि उनके कई निर्णायोंसे गांधीजीको गहरा दुःख हुआ है। इस बातका विचार उनके मनको अतिशय व्यथित कर देता था। उस लौहपुरुषने एकमात्र वही निर्णय किया, जो एक अनुशासनबद्ध सिपाही, एक वफादार साथी और अपने दायित्वके प्रति निष्ठा रखनेवाला – जिस रूपमें अपने दायित्वको उसने समझा है – गृहमंत्री कर सकता था। १६ जनवरीको एक जरूरी कामसे सरदारको सौराष्ट्र जाना था। गांधीजीका आग्रह था कि वे जरूर जायें। जानेसे पहले उन्होंने गांधीजीको एक पत्र लिखा :

मुझे आज सुबह ७ बजे काठियावाड़के लिए रवाना होना है । आपके उपवासके मौके पर मुझे जाना पड़ रहा है, इससे मुझे असह्य पीड़ा हो रही है । परन्तु कठोर कर्तव्यके सामने दूसरा कोई चारा नहीं है ।

कलकी आपकी पीड़ाको देखकर मैं बेचैन हो उठा हूं । उससे मैं गहरे विचारमें पड़ गया हूं । कामका भार इतना बढ़ गया है कि मैं उसके नीचे कुचला जा रहा हूं । अब मैं समझ गया हूं कि इस तरह काम करते रहनेसे न तो मेरा कल्याण होगा, न देशका कल्याण होगा । इससे हानि भी हो सकती है ।

जवाहर पर मुझसे भी अधिक कामका भार है । उनका हृदय अतिशय पीड़ा भोग रहा है । संभव है कि उमरके कारण मेरी बुद्धि काम न करती हो और एक साथीके नाते उनके साथ खड़े रहनेकी क्षमता मैं न रखता होऊं और उनका बोझ हलका न कर पाता होऊं । मौलाना (आजाद) भी मेरे कामसे नाखुश हैं और आपको बार बार मेरे बचावके लिए लड़ना पड़ता है । यह भी मेरे लिए असह्य है ।

ऐसी दशामें शायद मेरे लिए और देशके लिए भी अच्छा होगा कि आप मुझे जाने दें । मैं जो कुछ कर रहा हूं उससे भिन्न कुछ मैं नहीं कर सकता । और अगर ऐसा करके मैं अपने जीवनभरके साथियोंके लिए भार और आपके लिए दुःखका कारण बन जाऊं और फिर भी अपने पदसे चिपका रहूं, तो उसका अर्थ यह होगा – कमसे कम मुझे तो यही अनुभव होगा – कि मैं सत्ताकी वासनासे अंधा हो गया हूं और इसलिए सत्ता छोड़नेको तैयार नहीं हूं । आपको इस असहनीय स्थितिसे मुझे जल्दी ही मुक्त कर देना चाहिये ।

मैं जानता हूं कि आपके उपवासके समय बहस नहीं की जा सकती है । परन्तु मैं आपका उपवास छुड़ानेमें भी यदि सहायक नहीं हो सकता, तो मैं समझ नहीं पाता कि दूसरा मेरे लिए करनेको क्या रह जाता है । इसलिए मैं हृदयसे विनती करता हूं कि आप

अपना उपवास छोड़ दें और इस प्रश्नको जल्दी हल करा दें। संभव है, इससे उन कारणोंको दूर करनेमें भी मदद मिले, जिनसे आपको उपवास करनेकी प्रेरणा हुई है।

सौराष्ट्रसे बम्बई लौटने पर सरदारने एक सार्वजनिक भाषणमें अपने हृदयके उद्गार इस प्रकार प्रकट किये : "जब हमने स्वाधीनता प्राप्त की उस समय हमारी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई, लेकिन बादकी घटनाओंसे वह बहुत घट गई है। यदि स्वाधीनता प्राप्त करके भी गांधीजीको सच्ची हिन्दू-मुस्लिम-एकता सिद्ध करनेके लिए उपवास करना पड़े, तब तो यह हमारे लिए बड़ी शर्मकी बात है। आपने अभी अभी लोगोंको यह चिल्लाते हुए सुना है कि मुसलमानोंको भारतसे हटा देना चाहिये। जो लोग ऐसा कहते हैं वे क्रोधसे पागल हो गये हैं। किसी क्रोधोन्मत्त व्यक्तिसे पागल भी अच्छा होता है। पागलका इलाज तो शायद हो भी जाय, परन्तु दूसरेका ? वे यह नहीं समझते कि मुट्ठीभर मुसलमानोंको बाहर निकाल देनेसे उनका कोई लाभ नहीं होगा। मैं तो साफ कहनेवाला आदमी हूं। मैं हिन्दू-मुसलमान दोनोंसे कड़वी बातें कहता हूं। . . . कुछ मुसलमानोंने गांधीजीके पास जाकर मेरे लखनऊके भाषणके बारेमें शिकायत की। उसमें मैंने उनकी टीका करते हुए कहा था कि उन्होंने काश्मीरके बारेमें पाकिस्तानके रवैयेकी निन्दा नहीं की। . . . गांधीजीको मजबूर हो कर मेरा बचाव करना पड़ा इससे मुझे पीड़ा हुई, क्योंकि . . . मैं कोई कमजोर आदमी नहीं हूं, जिसका बचाव दूसरोंको करना पड़े।" [बंबईमें सरदार पटेलका भाषण, १६ जनवरी १९४८]

गांधीजीने लोगोंसे कहा : यदि आप सरदारके बम्बईवाले भाषणको ध्यानसे पढ़ें तो आप समझ लेंगे कि सरदार, पंडित नेहरू और मेरे बीच "दृष्टिकोणका कोई अन्तर" नहीं है। [प्रार्थना-प्रवचन, २० जनवरी १९४८] हम सब एक ही लक्ष्यके लिए काम कर रहे हैं। हममें से कोई भी मुसलमानोंका दुश्मन नहीं है।

*

उपवासके चौथे दिन जो लोग गांधीजीसे मिलने आये, उनमें गांधीजीके पुराने मित्र दिल्लीके कई मौलाना भी थे । उन्होंने खबर दी कि शहरकी हालतमें "उल्लेखनीय सुधार" हो गया है और उसके आधार पर उन्होंने दुबारा गांधीजीसे उपवास छोड़ देनेकी विनती की । अतिशयोक्ति उनका बड़ा दोष था । गांधीजीको उनका यह दोष देखकर कई बार गहरी पीड़ा हुई थी । इससे उनकी और भारतीय मुसलमानोंकी बरबादी हो सकती थी । परन्तु पहले जब वे मौलाना मित्रोंकी अतिशयोक्तिसे दुःखी हुए थे तब गांधीजीका हृदय उनके प्रति कठोर बननेके लिए तैयार नहीं था । लेकिन जब उन्होंने देखा कि मेरे विषयमें चिन्ता व्यक्त करनेमें भी ये मित्र उसी दुर्बलताका परिचय दे रहे हैं, तो इसका तुरन्त लाभ उठाकर गांधीजीने उन्हें अत्यावश्यक पाठ पढ़ाया । गांधीजीने उन्हें चेतावनी दी : आपको खूब सावधानी रखनी चाहिये और एक एक शब्द तौलकर बोलना चाहिये । सबसे बड़ी बात यह है कि आप मुझे खुश करनेको कुछ न कहें और झूठी दया दिखा कर मुझसे अपना निश्चय छुड़वानेको न फुसलायें ।

इस प्रकार गांधीजीके उपवाससे उनकी एकके बाद दूसरी बड़ी रुकावटें दूर हो रही थीं, फिर भी वे ऐसा मानते थे कि इतना काफी नहीं है । इसलिए जब थोड़े समय बाद कुछ हिन्दू और सिक्ख निराश्रित उनसे मिलने आये और उनके बाद पंडित नेहरू आये और दोनोंने गांधीजीको यह खबर सुनायी कि शहरकी स्थिति तेजीसे सुधर रही है, तो गांधीजीने उन्हें कहा : बहुत जल्दी न कीजिये । "मैं अचानक नहीं मर जाऊंगा । आप जो कुछ करें उसमें सचाई होनी चाहिये । मैं ठोस काम चाहता हूं ।

डॉक्टर लोग घबरा रहे थे । गांधीजीका वजन, जो उपवासके पहले दो दिनोंमें औसतन् करीब २ पौंड रोजाना घट रहा था, अब १०७ पौंड पर आकर ठहर गया था । उनके शरीरमें पानी भर गया था, क्योंकि उनका गुर्दा काम नहीं कर रहा था । इसका अर्थ था पहलेसे ही कमजोर बने हुए दिल पर अधिकाधिक तनाव पड़ना ।

उपवासका अंत करनेसे गांधीजीके लगातार इनकार करनेके कारण सभी लोग पूछने लगे कि किस विशेष परीक्षासे उन्हें सन्तोष होगा । उसी समय कराचीसे एक तार आया । जिन मुस्लिम निराश्रितोंको दिल्लीसे बाहर निकाल दिया गया था उन्होंने पूछा : क्या अब हम दिल्ली वापस आ कर अपने असली घरोंमें फिरसे बस सकते हैं ? ज्यों ही गांधीजीने तार पढ़ा त्यों ही वे बोले : "यही वह परीक्षा है जिससे मुझे संतोष होगा ।" मैं तुरंत वह तार लेकर शहरके तमाम हिन्दू और सिक्ख निराश्रित शिविरोंका चक्कर लगाने निकल पड़ा । मैंने उनमें रहनेवाले निराश्रितोंको समझाया कि गांधीजीसे उनका उपवास छुड़ानेके लिए उन्हें क्या करना होगा । रात होते होते १००० निराश्रितोंने इस घोषणा पर हस्ताक्षर कर दिये थे कि भले ही उन्हें खुद अपने परिवारोंके साथ निराश्रित शिविरोंमें दिल्लीकी ठिठुरानेवाली सर्दी बरदाश्त करनी पड़े, फिर भी मुसलमान वापस आकर अपने असली घरोंमें बसें तो वे उनका स्वागत करेंगे । कुछ निराश्रितोंने, जो मुसलमानोंके घरोंमें बस गये थे, कहा कि लौट कर आनेवाले मकान-मालिकोंके लिए वे मकान खाली कर देंगे : "आपके उपवासने दुनियाभरके मानवोंके हृदयोंको हिला दिया है । जिस पवित्र उद्देश्यके लिए आपने उपवास किया है वह हमें भी प्रिय है और आपकी चिन्ता हमारी भी चिन्ता है । . . . हम अपनी ओरसे आपको पूरा विश्वास दिलाते हैं कि हम शान्ति, सद्भावना और साम्प्रदायिक मेलजोलके लिए काम करेंगे । . . . हम आपको पूर्ण विश्वास दिलाते हैं कि कराची या पाकिस्तानके किसी भागसे दिल्लीमें अपने घरोंको लौटनेवाले मुसलमानोंका हम स्वागत करेंगे । हम भारतको मुसलमानोंका भी वैसा ही घर बनानेका प्रयत्न करेंगे जैसा कि वह हिन्दुओं, सिक्खों और देशके अन्य समुदायोंका है । कृपा करके भारतको वेदनासे बचानेके लिए आप अपना उपवास तोड़ दीजिये ।"

गांधीजीके उपवासके पांचवें दिन दिल्लीमें आशावादकी स्पष्ट भावना दिखाई पड़ती थी । ऐसी आशा रखी गई थी कि पाकिस्तानके साथ हुए वित्तीय समझौते पर अमल करनेके भारत सरकारके निर्णयसे ऐसी परिस्थितियां पैदा होंगी, जिनसे गांधीजीके उपवासका जल्दी अंत हो जायगा । यह आशा उस समय और भी बलवती हो गई जब दिल्ली प्रशासनने घोषणा की कि

एक सप्ताहके भीतर दिल्लीके प्रत्येक गैर-मुस्लिम निराश्रितको किसी न किसी प्रकारका आश्रय दे दिया जायगा । पंडित नेहरू और केन्द्रीय मंत्रि-मंडलके कुछ मंत्रियोंने अपने लिए आवश्यक स्थान रख कर अपने अपने सरकारी निवास-स्थान बेघर बने हुए निराश्रितोंके लिए खोल दिये ।

फिर तो, जैसा इसके पहले अकसर हो चुका था, वातावरण तेजीसे बदलने लगा । सारी दिल्लीमें भावनाओंका उबाल आ गया । नगरके विभिन्न भागोंमें अनेक जुलूस एकताके नारे लगाते और महात्माजीके दीर्घ जीवनके लिए प्रार्थना करते हुए घूमने लगे । महाराजा पटियाला आये और गांधीजीसे बोले कि मैंने सिक्खोंके तमाम समूहों और वर्गोंसे कहलवा भेजा है कि वे दिल्लीमें शान्तिपूर्ण परिस्थिति पैदा करें । साम्प्रदायिक उपद्रवोंमें पटियाला अपराधोंका एक केन्द्र रहा था । परन्तु महाराजाने इसका खण्डन करते हुए अपनी निर्दोषता प्रकट की और कहा कि मेरे पास मुसलमानोंको अपने राज्यसे निकालनेकी इच्छा रखनेका कोई कारण नहीं है, न राज्यमें जो कुछ हुआ उसके लिए मैं किसी तरह जिम्मेदार हूं । यह दावा कमजोर ही था, परन्तु गांधीजी अपराधीको प्रायश्चित्त का एक और अवसर देनेके लिए सदा तैयार रहते थे । मालेर कोटलाके नवाब भी अपने पुत्रसहित गांधीजीसे मिलने आये । उन्होंने गांधीजीको बताया कि किस प्रकार दंगोंके दौरान जब उनकी रियासतके कुछ मुसलमान निराश्रित स्थानीय सिक्खोंको धमकियां देने लगे तब उन्होंने यह एलान कर दिया था कि एक भी हिन्दू या सिक्खको सताया गया, तो उसके बदलेमें दस मुसलमान गोलीसे उड़ा दिये जायंगे । “उसके बाद राज्यमें एक भी दुर्घटना नहीं

हुई ।” उन्होंने कहा कि उनके एक पूर्वजने सम्राट औरंगजेबका उस समय साहसपूर्वक सामना किया जब उसने एक सिक्ख गुरुके पुत्रोंको मार डालनेका इरादा जाहिर किया । उस समयसे सिक्खोंने मालेर कोटलाके मुसलमानोंको और वहांके मुसलमानोंने सिक्खोंको हर जगह पनाह दी थी । इसके फलस्वरूप, विभाजनके बाद हुए साम्प्रदायिक उत्पातोंके दौरान मालेर कोटला सिक्खों और हिन्दुओंके लिए शरण-स्थान बन गया । इसी तरह यह भी रिपोर्ट थी कि जब पंजाबमें कहीं भी सफर करनेवाले मुसलमान यह साबित कर देते कि वे मालेर कोटलाके हैं, तो सिक्ख

उनकी रक्षा करते थे । जब गांधीजीने यह सुना तो बोल उठे: "तो भारतके लिए मेरा स्वप्न मालेर कोटलामें सत्य सिद्ध हुआ ।"

गांधीजी सदा कहा करते थे कि कोई सत्य कितना ही कठोर क्यों न हो, वह लोगोंकी भावनाओंको जरा भी दुखाये बिना कहा जा सकता है, यदि उस सत्य-कथनके पीछे विशुद्ध प्रेमेके सिवा दूसरा कुछ न हो । जो भी दिन बीतता था वह गांधीजीकी इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण देता था । १७ जनवरीकी शामको अपने प्रार्थना-प्रवचनमें उन्होंने कहा : हर तरफसे आनेवाले तारोंकी संख्या बढ़ती जा रही है । पाकिस्तानसे भी बड़ी संख्यामें तार आये हैं । जहां तक तारोंका सम्बन्ध है, वे अच्छे हैं । परन्तु जो लोग पाकिस्तानके भाग्यका निर्माण कर रहे हैं उनके मित्र और हितेषीके नाते उनसे यह कहना मेरा धर्म है कि अगर उनकी अन्तरात्मा जाग्रत नहीं हुई और वे उन गलत कामोंको समझने और स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हुए जिनके लिए पाकिस्तान जिम्मेदार है, तो वे पाकिस्तानको स्थायी नहीं बना सकेंगे । मैंने तो विभाजनको निश्चित वस्तु मान लिया है और कह दिया है कि सारा भारत पाकिस्तान बन जाय तो भी मुझे परवाह नहीं होगी, यदि वह 'यथा नाम तथा गुण:' के अनुसार पाक लोगोंकी भूमि बन जाय । मेरा आशय यह नहीं कि मुझे भारतका विभाजन पसन्द है या "मैं दोनोंकी स्वेच्छापूर्ण एकता और अखंडता नहीं चाहता; परन्तु मैं इस विचारको दूर करना और उसका विरोध करना चाहता हूं कि पाकिस्तानको हथियारोंके जोर पर पुनः भारतके साथ मिलाया जाय । मुझे आशा है कि इसे ऐसे समय गलतीसे फूटका स्वर नहीं माना जायगा, जब मैं सचमुच मृत्युशय्या पर पड़ा हुं । मैं आशा रखता हूं कि तमाम पाकिस्तानी यह समझ लेंगे कि यदि मैं दुर्बलतावश और उनका जी दुखानेके डरसे उन तक अपनी सच्ची भावनाको न पहुंचाऊं, तो मैं उनके प्रति और अपने प्रति झूठा साबित हूंगा । अगर मेरी भूल हो तो . . . मुझे बताई जाय; बतानेके बाद अगर अपनी गलतीका मुझे विश्वास हो गया, तो मैं वचन देता हूं कि जो कुछ यहां मैंने कहा है उसे मैं वापस ले लूंगा । जहां तक मैं जानता हूं, इस बात पर किसीको शंका नहीं हो सकती ।"

उन्होंने यही चेतावनी भारतीय संघके लोगोंको भी दी : कोई भी काम उपवासके दबावमें आकर नहीं करना चाहिये । मैंने पहले देखा है कि जो चीज किसी उपवासके दबावसे की जाती है, वह उपवास समाप्त होनेके बाद खतम हो जाती है । "आध्यात्मिक उपवाससे . . . हृदयोंकी शुद्धि होती है । यह शुद्धि प्रामाणिक हो तो जिस कारणसे वह होती है उस कारणके न रहने पर भी वह बनी रहती है । . . . उसका अंत केवल मृत्युके साथ ही होता है । . . . राजा-महाराजा या हिन्दू-सिक्ख अथवा और कोई यदि मेरी दृष्टिमें इस पवित्र अवसर पर मेरा उपवास छूड़ानेके लिए मुझे गुमराह करेंगे, तो वे न तो अपनी सेवा करेंगे और न भारतकी सेवा करेंगे । वे जान लें कि जब मैं आत्माके लिए उपवास करता हूं तब मुझे जो सुख मिलता है वह और किसी अवसर पर नहीं मिलता । इस उपवाससे मुझे जो उदात्त सुख मिला है वह आज तक कभी नहीं मिला । जो आदमी ईमानदारीसे यह दावा नहीं कर सकता कि अपनी जीवन-यात्रामें उसने सोच-समझ कर शैतानकी तरफसे मुंह मोड़ कर भगवानकी ओर कर लिया है, उसे मेरी इस सुखद स्थितिको भंग नहीं करना चाहिये ।"

कुशल और अनुभवी पत्रकार तथा 'दि स्टेट्समैन' के सम्पादक आर्थर मूर इस बारेमें सदा ही शंकालु रहे थे कि सामाजिक समस्याएं हल करनेके लिए उपवासका उपाय उचित है या नहीं। परन्तु अगस्त १९४७ के गांधीजीके कलकत्तेवाले उपवासके समयसे उनके विचारोंमें परिवर्तन हो रहा था । जब उन्होंने सुना कि गांधीजीने राजधानीमें साम्प्रदायिक शान्तिके लिए उपवास करनेका निश्चय किया है, तो उन्होंने भी सहानुभूतिमें उपवास शुरू कर दिया । उन्होंने एक पत्रमें गांधीजीको लिखा :

> मैं उन लोगोंमें से नहीं हूं, जो आपका उपवासका निर्णय बदलवाना चाहेंगे । मुझे तो विश्वास है कि आप बिलकुल सही हैं । यदि आजका द्वेषभाव बना रहा, तो कोई चमत्कार ही दोनों राज्योंको अधिक भयंकर विपत्तियोंसे बचा सकता है । आपने कलकत्तेमें बहुत काम किया । परन्तु यहां दिल्लीमें उससे कहीं अधिक काम करनेकी जरूरत है । एकमात्र आप ही सबकी आशा हैं । . . . मुझे लगता है कि जो लोग आपके

उपवासको पसन्द करते हैं और उससे सहानुभूति रखते हैं, वे सहानुभूतिमें उपवास करके आपको सहायता और शक्ति पहुंचा सकते हैं। इस कारण मैंने भी मंगलवारसे या जबसे आपने उपवास शुरू किया है तबसे पानीके सिवा किसी आहार या मदिराको नहीं चखा है। और मुझे यह आशा है कि जब तक आपका उपवास चलेगा तब तक मेरा भी चलेगा। . . . कल रातको मैं पूर्वनिश्चित एक भोजमें गया था; परन्तु केवल बातचीतमें ही मैंने भाग लिया। मेरा खयाल है कि इस बार आप अनेकोंका हृदय-परिवर्तन कर देंगे। विश्वास रखिये कि मेरी प्रार्थनायें आपके साथ हैं।

गांधीजी इस पत्रको पढ़ कर गद्गद हो गये। उन्होंने उत्तर लिखवाया : "वे मानते हैं कि आप इधर-उधर घूम कर तथा लोगोंसे मिल-जुल कर और उन पर अपना प्रभाव डालकर ज्यादा अच्छा काम करेंगे। इसलिए उनका अनुरोध है कि आप उपवास छोड़ दें। हां, उसके पीछे कोई प्रबल आध्यात्मिक प्रेरणा हो तो दूसरी बात है। . . . आध्यात्मिक उपवास वह होता है, जिसमें कोई आंतरिक प्रेरणा हो . . . और जिसमें मनुष्य सजीव ईश्वरमें विश्वास रखता है – पुराने सनातन ढंगसे नहीं, परन्तु अपने ही विशिष्ट ढंगसे। गांधीजी दृढ़तासे यह मानते हैं कि दुनियामें बहुत थोड़ोंका ऐसा विश्वास होता है।"

गांधीजीकी मृत्युके बाद आर्थर मूरने लिखा था : "अब मेरी समझमें आता है कि गांधीजीने अहिंसा शब्दमें प्रेमका जो तत्त्व शामिल किया है, उसका मूल्य मैंने बिलकुल कम माना था और उसका उद्गम मानव-जातिके प्रति गांधीजीका अपना गहरा प्रेम था, जो ऐसे किसी भी कार्यसे कहीं बढ़ा-चढ़ा था जो कि मैं कर सकता था।" [थॉट, दिल्ली, १६ जुलाई १९४९, पृ. १३]

१७ जनवरीको शाम होते होते गांधीजीको मतली शुरू हो गई और उनके सिरका भारीपन बढ़ गया। तीसरे पहरसे बेचैनी बढ़ने लगी। सेवा करनेवाले डॉक्टरोंमें से एकने गांधीजीसे कहा : आप जो पानी पीते हैं उसमें केवल दो औंस नारंगीका रस और मिला लें, तो मुझे सन्तोष हो जायगा। गांधीजीने उत्तर दिया : उस सूरतमें मुझे अपना उपवास "कमसे कम २१ दिनका" कर

देना पड़ेगा और वह उस दिनसे शुरू होगा जिस दिनसे में नारंगीका रस लूंगा । इसी तरह जब गुर्दोंको काम करने लायक बनानेके लिए उन पर सींगी लगानेकी क्रिया करनेकी बात सुझाई गई तब गांधीजीने उत्तर दिया : "मैं आपके स्नेहकी कदर करता हूं, परन्तु मुझे मरना ही हो तो मर जाने दीजिये ।"

एक सेवकने पूछा : "परन्तु क्या यह क्रिया भी एक तरहकी सेंक नहीं है ? और सेंककी तो आपने प्राकृतिक चिकित्सामें मनाही नहीं की है ।"

गांधीजीने उत्तर दिया : "हम इसी तरह अपने निश्चयोंसे फिसलते हैं । अब तो मेरी प्राकृतिक चिकित्सा केवल रामनाम ही है ।" और सींगी लगानेके बजाय उन्होंने अपने एक साथीसे तुल्सीदासका एक भक्तिरस-पूर्ण भजन गवाया; बादमें गीताके बारहवें अध्यायका पाठ सुना । पंडित नेहरू अपने सामने गांधीजीके कष्ट-पीड़ित शरीरको देखकर अधिक सहन नहीं कर सके । उन्होंने अपना मुंह जल्दीसे घुमा कर आंखोंके आंसू पोंछ लिये ।

सम्पूर्ण उपवासमें "मनुष्य सिर्फ रोटीसे ही नहीं जीता" वाली उक्ति अक्षरश: सत्य मालूम होती है । गांधीजीके लम्बे उपवासोंमें एक आश्चर्यकी बात यह होती थी कि उपवासके समय उनमें अद्भुत मानसिक बल और शक्ति प्रकट होती थी । उपवासकी प्रगतिके साथ उनका मन अधिक तेज और जागरूक होता जाता था, अंत:प्रेरणायें तीव्रतर होती जाती थीं, अन्तर्दृष्टि अधिक गहरी होती जाती थी तथा उनकी आत्मा अधिक कोमल, तीव्र और क्षमा तथा दयासे पूर्ण हो जाती थी। जनवरी १९४८ में गांधीजीके उपवासके पांचवें दिन उनकी दिनचर्या इस प्रकार थी : प्रात:कालकी प्रार्थना सदाकी भांति ३-३० बजे । रिचर्ड सिमॉण्ड्सको पत्र लिखवाया, जिन्हें कुछ ही सप्ताह पूर्व बिड़ला-भवनमें गांधीजीने मोतीझरेके बीमारके रूपमें रखा था और उनकी सेवा-शुश्रूषा की थी । दैनिक बंगाली लेखनके पश्चात् सुबहके अखबार और आनेवाले पत्र तथा तार सुने । डॉक्टरोंने परीक्षा की और बादमें १०-३० बजे तक मालिश और स्नान । स्नानके टबमें लेटे लेटे मुझे नकद बाकी रकमके पाकिस्तानके हिस्सेकी अदायगीके बारेमें भारत सरकारके निर्णय पर अपना

वक्तव्य लिखवाया । १०-३० बजे और दोपहरके बीच आनेवाले सात मुलाकातियोंसे मिले । इनमें तीन रियासतोंके राजा भी थे । १२-३० और ३-३५ के बीच आराम और प्राकृतिक चिकित्साकी विभिन्न क्रियाएं । फिर दस मुलाकातियोंसे गंभीर वार्ताएं । इनमें पंडित नेहरू, मौलाना आजाद और दिल्लीके चार मौलाना भी थे । शामकी प्रार्थनाके बाद गांधीजी लोगोंकी बड़ी भीड़से मिले । मिलनेवालोंमें एक महाराजा, एक मुख्यमंत्री और भारतीय संघके केन्द्रीय मंत्रि-मंडलके लगभग आधे दर्जन मंत्री भी थे ।

गांधीजीके उपवासके पांचवें दिन निकाले गये डॉक्टरोंके बुलेटिनमें यह गंभीर चेतावनी दी गई थी : "हमारी रायमें उपवासको जारी रहने देना अत्यंत अवांछनीय होगा । इसलिए जनताको बता देना हमारा फर्ज है कि . . . वह ऐसी परिस्थितियां तुरन्त उत्पन्न करे, जिससे उपवासका अविलंब अंत आये ।

परन्तु इन सब बातोंके होते हुए भी जब शामको गवर्नर-जनरलसे सम्बन्धित सारी परम्पराको तोड़ कर लॉर्ड माउण्टबेटन अपनी पत्नी सहित गांधीजीसे मिलने आये, तो वे इस चुटकीके साथ उनका स्वागत करनेको तैयार थे: "मुहम्मदको पहाड़के पास लानेके लिए मेरे उपवासकी जरूरत थी !" माउण्टबेटनने बादमें समझाया कि मेरे लिए यह भेंट व्यक्तिगत भेंटसे अधिक थी । एक मित्रके स्वास्थ्यकी स्वाभाविक चिन्ताके सिवा मैं संसारको – और महात्माजीको भी – यह बता देनेके लिए उत्सुक था कि मैं उनके उपवासके उद्देश्यसे सहमत हूं ।

उसी शामको शहरके एक शान्तिदलके सामने भाषण देते हुए मौलाना आजादने सभाको यह सूचना दी : मैं तीसरे पहर गांधीजीसे मिला था और उनसे कहा था कि आपने लोगोंका "हृदय-परिवर्तन" करनेके लिए उपवास किया है, परन्तु यह अन्दाजा लगाना कठिन है कि कब लोगोंका वांछित हृदय-परिवर्तन हो गया है। इसलिए क्या आप हमें वे निश्चित शर्तें नहीं बता सकते, जिनका पालन होने पर आप अपना उपवास छोड़ देंगे? इस पर गांधीजीने मुझे सात शर्तें बताई हैं । जब सारे दल इन शर्तों पर हस्ताक्षर कर देंगे तब उपवास समाप्त कर दिया जायगा । गांधीजीने यह

भी कहा है कि ये आश्वासन ऐसे जिम्मेदार लोगोंकी तरफसे मिलने चाहिये, जो उनके उच्चित पालनका विश्वास दिला सकें। लेकिन मैं चेतावनी देता हूं कि "उन्हें कोई झूठा आश्वासन हरगिज न दिया जाय। सत्यके उस फरिश्तेको हमें सिर्फ सच्चा आश्वासन ही देना चाहिये। उनके प्राण बचानेके लिए भी हमें झूठे बहाने नहीं गढ़ने चाहिये। उन्होंने हमसे जो कुछ करनेको कहा है उसे यदि हम पूरा कर सकें, तो ही उनके पास जाकर हम उपवास छोड़नेकी विनती उनसे कर सकते हैं; नहीं तो उन्हें ईश्वरके हाथोंमें छोड़ देना ही बेहतर होगा।"

पुरानी दिल्लीका सागभाजी और फलोंका बाजार सब्जीमंडी अत्यंत उपद्रव-ग्रस्त भागोंमें से एक था। वहां मुसलमानोंका आर्थिक बहिष्कार कर दिया गया था। अब सब्जीमंडीके गैर-मुस्लिम दुकानदारोंने आकर गांधीजीसे कह दिया कि आर्थिक बहिष्कार उठा लिया गया है और मुसलमान आजादीसे अपनी दुकानों पर आ सकते हैं।

आम लोगोंकी चिन्ताकी निशानीके तौर पर उस दिन शहरमें सारा कारबार बन्द रखा गया और मुसलमानों, हिन्दुओं और सिक्खोंने हजारोंकी संख्यामें बाहर निकल कर मिले-जुले जुलूस निकाले। उनमें से एक जुलूसमें कोई एक लाख आदमी होंगे; वह एक मीलसे ज्यादा लम्बा था। वे सब बिड़ला-भवन पर आये और वहां आकर बिखर गये। परन्तु कुछ जुलूस प्रार्थना-सभाके समाप्त होनेके बाद पहुंचे। उन्हें बिड़ला-भवनके मैदानमें प्रवेश करने दिया गया; इसके बाद उन्हें प्रार्थना-भूमि पर इकट्ठा होनेको कहा गया, जहां पंडित नेहरूने उनसे कहा : पिछले बीस वर्षसे हमारा देश महात्मा गांधीकी सलाह और मार्गदर्शनके अनुसार चलता रहा है। बेशक, हमने उन सिद्धान्तोंका पालन किया है, परन्तु कुछ समयसे स्वयं कांग्रेसके भीतर भी ये सिद्धान्त इतने प्रमुख नहीं रहे। फूटकी वृत्ति दिखाई देती है। "पिछले चन्द महीनोंमें कभी कभी मुझे यह शंका हुई है कि प्रगति और उदात्त तत्त्वज्ञान पर आधारित स्वतंत्र भारतकी कल्पना इस प्रकार साकार हो सकेगी या नहीं, जिससे भारत एशियामें और शेष संसारमें प्रमुख स्थान प्राप्त कर सके। महात्मा गांधीके उपवासका हेतु हमारी भीतरी शक्तिका निर्माण करना है, जिससे हम सही रास्ते पर चल सकें।

दूसरे दिन दिल्लीके होटलोंके कार्यकर्ताओंके संघने एक जुलूस तीसरे पहरको निकालनेका निश्चय किया । इसके परिणाम-स्वरूप गांधीजीके उपवासके छठे दिन अर्थात् १८ जनवरीको तमाम होठल और ढाबे बन्द रहे ।

कांग्रेसके अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसादकी अध्यक्षतामें एक केन्द्रीय शान्ति-समिति बनाई गई, जिसमें तमाम समुदायोंके १३० प्रतिनिधि थे । समितिकी बैठक १७ जनवरीकी शामको डॉ. राजेन्द्रप्रसादके निवास-स्थान पर हुई । उसने एक प्रस्ताव पास करके गांधीजीको विश्वास दिलाया कि वह "सब समुदायोंके बीच शान्ति, मेलजोल और भाईचारेकी भावना पैदा करने और कायम रखनेकी" भरसक कोशिश करेगी । कुछ हिन्दू संगठनोंके प्रतिनिधि, जो उग्र साम्प्रदायिक राग-द्वेषके लिए मशहूर थे, इस सभामें उपस्थित नहीं हुए । उनकी अनुपस्थितिमें उनके मित्रोंने उनकी ओरसे गारंटी दी । मुझे यह जरा सन्देहकी बात मालूम हुई । परन्तु कुछ सदस्योंका विचार था कि परिस्थितियां तेजीसे बदल रही हैं, इसलिए अब अनुपस्थित लोगोंके हस्ताक्षरोंकी प्रतीक्षा न करके गांधीजीको समझानेका प्रयत्न किया जाय कि वे समितिके प्रस्तावके आधार पर अपना उपवास समाप्त कर दें । मैं इसके खतरेको अच्छी तरह जानता था, क्योंकि एक ही दिन पूर्व वे पाकिस्तानको ५५ करोड़ रुपयेकी रकम देनेके भारत सरकारके निर्णयके बारेमें अपना वक्तव्य लिखवा कर स्नानके टबसे बाहर निकले तब मेरे हाथोंमें बेहोश हो गये थे । परन्तु मुझे निश्चित रूपसे मालूम था कि गांधीजी दूसरोंकी ओरसे किये गये हस्ताक्षरोंको भयंकर त्रुटि समझेंगे, इसलिए मैंने चेतावनी देना जरूरी माना । मैंने समितिको बताया कि इस पर गांधीजीकी क्या प्रतिक्रिया हो सकती है । डॉ. राजेन्द्रप्रसाद मुझसे सहमत थे । अन्तमें यह फैसला हुआ कि दूसरे दिन सुबह तक ठहरा जाय और तब तक दूत भेज कर अनुपस्थित सदस्योंसे सम्पर्क स्थापित कर लिया जाय ।

जब मैं रातको साढ़े नौ बजे शान्ति-समितिकी रिपोर्ट लेकर बिड़ला-भवन लौटा, तो सबके चेहरे गंभीर थे । गांधीजी गहरी नींदमें सो रहे थे । मालूम होता था कि शामके पिछले भागमें उनकी तबीयत बहुत खराब रही और बिस्तरे पर होते हुए भी उन्होंने तन्द्रामें बिस्तरे पर ले जानेकी बात

कही थी । डॉक्टरोंको पेशाबके कष्ट पर काबू न पा सकनेके कारण बहुत चिन्ता हो रही थी । मैंने हलके हलके गांधीजीको जगानेके लिए कई आवाजें दीं । लेकिन कोई उत्तर नहीं मिला । अन्तमें मैंने धीरेसे उन्हें हिलाया । वे जागे और जो समाचार मैंने उन्हें सुनाये उनको बड़े ध्यानसे सुनते रहे । कुल मिला कर उन्हें सन्तोष हुआ । परन्तु जैसा मैंने पहले ही समझ लिया था, उन्होंने इस बातका आग्रह किया कि अनुपस्थित लोगोंके हस्ताक्षर कराये जायं । फिर उन्होंने जोर देकर कहा कि कोई चीज जल्दीमें न की जाय । पत्थरका दिल भी पिघल जाय तभी मैं अपना उपवास छोडूंगा । अगर परिणामको स्थायी बनाना है, तो उसकी बुनियाद बहुत ठोस होनी चाहिये । उन्होंने चेतावनी दी कि मुझे दिया गया वचन यदि भंग किया गया, तो उसका दण्ड यही होगा कि मैं बिना किसी शर्तके आमरण अनशन करके अपने प्राण दे दूंगा ।

रातको वे अच्छी तरह सोये और दूसरे दिन सुबह प्रार्थनाके लिए सदाकी भांति ३-३० बजे जागे । थोड़ासा गरम पानी पीनेके बाद उन्होंने पत्र लिखवाना शुरू किया । जब डॉक्टर उनकी परीक्षा करनेके लिए आये तब उन्होंने पेटके दर्दकी शिकायत की । जब पंडित नेहरूने उनका वजन लिया तो वह फिर १०७ पौंड ही निकला । यह बुरा लक्षण था ।

१८ जनवरीकी सुबह फिर शान्ति-समितिकी बैठक हुई । उसमें पहली रातके गैर-हाजिर लोग भी मौजूद थे । शहरके सभी महत्त्वपूर्ण समूहों और संस्थाओंके प्रतिनिधि भी थे । उनमें करोल बाग, सब्जीमंडी और पहाड़ गंजके तीन अत्यंत पीड़ित भागोंके निराश्रितोंके प्रतिनिधि भी थे । उन सबने गांधीजीकी लगाई हुई शर्तें स्वीकार कीं और निम्नलिखित प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किये :

> हम घोषणा करना चाहते हैं कि यह हमारी हार्दिक इच्छा है कि हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और दूसरे सब धर्मोंको माननेवाले लोग फिरसे आपसमें मिलकर भाई-भाईकी तरह दिल्लीमें रहें । हम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम मुसलसानोंकी जान, माल और धर्मकी रक्षा करेंगे और जिस तरहकी घटनायें यहां पहले हुई हैं उन्हें फिरसे नहीं होने देंगे ।

(१) हम गांधीजीको यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि ख्वाजा कुतुबुद्दीनके उर्सका मेला जिस तरह पहले हुआ करता था वैसे ही अब भी होगा ।

(२) जिस तरह मुसलमान दिल्लीके सभी मोहल्लोंमें और खास करके सब्जीमंडी, करोल बाग और पहाड़गंजमें पहले आया-जाया करते थे वैसे ही फिरसे वे बेखटके और बेखतरे आ जा सकेंगे ।

(३) जिन मसजिदोंको मुसलमान छोड़ गये हैं और जो अब हिन्दुओं और सिक्खोंके कब्जेमें हैं, वे मुसलमानोंको लौटा दी जायंगी । सरकारने जिन स्थानोंको खास तौर पर मुसलमानोंके लिए रख छोड़ा है, उन पर जबरन् कब्जा करनेकी कोशिश नहीं की जायगी।

(४) जो मुसलमान दिल्लीसे बाहर चले गये हैं वे अगर वापस आना चाहें, तो हमारी ओरसे उनके लौटनेका विरोध नहीं होगा और वे पहलेकी तरह ही अपना कारोबार कर सकेंगे । हम यह विश्वास दिलाते हैं कि ये सब बातें हम अपनी कोशिशसे पूरी करेंगे और इसके लिए पुलिस या सेनाकी मदद नहीं लेंगे ।

महात्माजीसे हमारा अनुरोध है कि वे हमारी बातों पर विश्वास करके अपना उपवास छोड़ दें और जिस तरह आज तक वे देशका मार्गदर्शन करते रहे हैं वैसा ही करते रहें ।

जब हस्ताक्षर कराये जा रहे थे उस समय बिड़ला-भवनसे फोन पर खबर आई कि गांधीजीकी हालत अचानक ज्यादा खराब हो गई है । इस पर डॉ. राजेन्द्रप्रसाद समितिके कुछ सदस्योंके साथ जल्दीसे बिड़ला-भवन पहुंचे, ताकि शान्ति-समितिके सदस्यों द्वारा स्वीकृत शर्तें गांधीजीको पहले ही समझा दी जायं । सब सदस्योंके वहां एकत्रित होनेमें तो कुछ समय लगता और इधर गांधीजीकी तबीयतकी दृष्टिसे एक एक मिनटका महत्त्व था ।

जब सारे सदस्य बिड़ला-भवन पहुंच गये तो गांधीजीका कमरा खचाखच भर गया । सभामें पंडित नेहरू, मौलाना आजाद, पाकिस्तानके उच्चायुक्त जाहिद हुसैन तथा दिल्लीके

मुसलमानों, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिन्दू महासभा और विभिन्न सिक्ख संस्थाओंके प्रतिनिधि थे। दिल्ली प्रशासनके प्रतिनिधियोंके नाते चीफ कमिश्नर तथा डिप्टी कमिश्नर थे ।

डॉ. राजेन्द्रप्रसादने बताया कि किस प्रकार हम लोगोंने पिछली रातको पूरी चर्चाके बाद इस घोषणा पर वहीं और उसी समय हस्ताक्षर करनेका निश्चय कर लिया था । परन्तु कुछ संस्थाओंके प्रतिनिधि उस सभामें उपस्थित नहीं थे इसलिए हमने सोचा कि जब तक बाकी सदस्योंके हस्ताक्षर न करा लिये जायं तब तक ठहरें । बादमें यह काम हो गया । आज सुबहकी मीटिंगमें जिन्हें पहले दिन कुछ शंकाएं रह गई थीं उन्हें भी यह विश्वास हो गया कि अब हम अपनी जिम्मेदारीको पूरी तरह समझ कर गांधीजीसे उपवास तोड़नेका अनुरोध कर सकते हैं । इस प्रतिज्ञाको कार्यान्वित करानेके लिए कुछ समितियां बना देनेका निश्चय किया गया । डॉ. राजेन्द्रप्रसादने कहा कि सम्मिल्ति रूपमें और पृथक् पृथक् जो गारंटियां दी गई हैं उन्हें देखते हुए हम सबको आशा है कि अब आप अपना उपवास तोड़ देंगे । एक सदस्यने वर्णन किया कि किस तरह आज प्रातःकाल १५० मुसलमानोंके एक जुलूसको सब्जीमंडी ले जाया गया और वहां हिन्दुओंने फल और जलपानसे उनका स्वागत किया ।

उत्तरमें गांधीजीने कहा : मैंने जो मांगा था वह सब आपने मुझे दे दिया । लेकिन अगर आपके शब्दोंका यह अर्थ हो कि आप अपनेको सिर्फ दिल्लीकी साम्प्रदायिक शान्तिके लिए ही जिम्मेदार मानते हैं और दूसरे स्थानोंकी घटनाओंसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं तो आपकी गारंटी किसी कामकी नहीं; मैं यह समझूंगा, और आप भी किसी दिन समझेंगे, कि उपवास छोड़ देना मेरी बड़ी भारी भूल थी । आपको अपनी प्रतिज्ञाके गूढ़ार्थ स्पष्ट रूपमें समझ लेने चाहिये । आपने दिल्लीमें जो सफलता प्राप्त की है उसे सारे भारतमें प्राप्त करना है । अगर दिल्लीकी परिस्थितियां सुधर गईं, तो पाकिस्तानकी परिस्थितियां भी सुधर जायंगी ।

गांधीजीने आगे कहा, यदि मुझे बादमें पता चलता कि मुझे धोखा दिया गया है अथवा मैंने उपवास समयसे पहले तोड़कर अपने आपको घोखा दिया है, तो मैं दूसरा उपवास कर दूंगा ।

इसलिए आपको बहुत ही सावधान होकर पूरी सचाईसे काम करता चाहिये । मुसलमानोंके जो प्रतिनिधि गांधीजीसे बार बार मिलते रहे थे उन्हें बुलाकर उन्होंने पूछा : क्या आपको इतमीनान हो गया है कि दिल्लीके हालात अब इतने सुधर गये हैं कि मेरा उपवास तोड़ना उचित होगा?

फिर खास तौर पर मुसलमानोंसे कुछ शब्द कहते हुए गांधीजीने पूछा : क्या इस सन्देहके लिए कोई कारण है कि मुसलमान भारतको अपना देशा नहीं मानते? मुझे आशा है कि यह सन्देह निराधार है । इसी प्रकार यदि कोई हिन्दू मुसलमानोंको ऐसे यवन अथवा असुर समझते हों, जो ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकते, तो वे ईश्वरकी निन्दाके घोर अपराधी हैं । आपने जिस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये हैं, उसमें ऐसी भावनाके लिए कोई स्थान नहीं हो सकता ।

इसके बाद गांधीजीने एक पुस्तकका जिक्र किया, जो एक मुस्लिम मित्रने उन्हें पटनामें भेंट की थी । उस पुस्तकमें यह लिखा था कि कुरानके अनुसार काफिर अर्थात् हिन्दू जहरीले सांपोंसे भी बुरे हैं, जिनका सफाया ही कर देना ठीक है । गांधीजीने कहा कि मेरा यह विश्वास है कि कोई ईश्वरभीरु मुसलमान इस सिद्धान्तको नहीं मान सकता ।

अन्तमें गांधीजी बोले : अगर आप अपनी प्रतिज्ञाके गूढ़ार्थोंको पूरी तरह स्वीकार करते हैं, तो आपको मुझे दिल्लीसे मुक्त कर देना चाहिये, ताकि मैं पाकिस्तान जानेके लिए स्वतंत्र हो जाऊं । मेरी अनुपस्थितिमें आपको पाकिस्तानसे आनेवाले उन निराश्रितोंका स्वागत करना चाहिये, जो अपने घरोंको लौटना चाहें ।

गांधीजीके बाद मौलाना आजाद बोले । उन्होंने कहा : गांधीजीने जिस पुस्तकका हवाला दिया है उसमें कही गई बातको चुनौती दिये बिना मैं नहीं रह सकता, क्योंकि उसका सम्बन्ध इस्लामकी शिक्षासे है । मुझे उस पुस्तकको इस्लामका अपमान करनेवाली कहनेमें कोई संकोच नहीं । उसके बाद दिल्लीके मुसलमानोंका एक प्रतिनिधि बोला । उसने स्पष्ट शब्दोंमें इस आरोपका खण्डन किया कि भारतीय मुसलमान भारतको अपना देश नहीं समझत – जिसके प्रति उनकी पूर्ण और अविभाजित वफादारी होनी चाहिये – बल्कि उसे सिर्फ एक पनाहकी जगह

मानते हैं, जहां परिस्थितियोंसे विवश होकर उन्हें अपने हितकी दृष्टिसे रहना पड़ता है । हमें भारतके प्रति अपनी वफादारी दोहरानेके लिए कहा जाय, इसे हम अपने राष्ट्रवादका अपमान समझते हैं । यदि भारत पर हमला हुआ, तो हमारा एक एक आदमी उसकी रक्षाके लिए जान कुर्बान कर देगा । मैं तो इससे भी आगे बढ़ कर अपने सहधर्मियोंसे कहुंगा कि जो ऐसा करनेको तैयार न हों, उन्हें भारत छोड़कर पाकिस्तान चले जाना चाहिये । गांधीजीके उपवाससे दिल्लीमें जो परिवर्तन हुआ था उसका वर्णन करते हुए वक्ताने कहा : हमें सन्तोष है कि परिस्थितियां तेजीसे बदल रही हैं और अब प्रवाह साम्प्रदायिक मेलजोल और शान्तिकी दिशामें बह रहा है, जब कि पहले कटुता और द्वेषका बोलबाला था । जनताके प्रतिनिधियों द्वारा दिये हुए आश्वासनका प्रशासनने समर्थन कर दिया है, इसलिए हमारे पास यह माननेके लिए पूरे कारण हैं कि उस पर अमल किया जायगा । हां, कुछ समय इसमें लग सकता है । मैं गांधीजीसे उपवास तोड़नेके लिए की गई डॉ. राजेन्द्रप्रसादकी अपीलमें शरीक हूं ।

इसके बाद पाकिस्तानके उच्चायुक्तने इस अपीलको दोहराया और उनके बाद हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा सिक्खोंके प्रतिनिधियोंने और दिल्ली प्रशासनके प्रतिनिधिने उसका समर्थन किया । इसके बाद १८ जनवरी, १९४८ को १२-४५ बजे गांधीजीने मौलाना आजादके हाथसे एक गिलास नारंगीका रस (८ औंस रसमें १ औंस ग्लूकोस) लेकर अपना उपवास तोड़ा । पंडिता नेहरूकी आंखोंमें आंसू भर आये थे ।

सभाका विसर्जन हुआ, परन्तु पंडित नेहरू ठहर गये । तभी उन्होंने गांधीजीके सामने यह रहस्य प्रकट किया कि वे पिछले तीन दिनसे उपवास कर रहे थे । इसे उन्होंने अपने घरवालोंसे भी गुप्त रखा था । गांधीजी गद्गद हो गये । ज्यों ही पंडित नेहरू गये, गांधीजीने उनके लिए एक छोटासा पत्र लिखा और उन्हें रूबरू देनेके लिए मुझे सौंप दिया । पत्रमें लिखा था :

चि. जवाहरलाल,

उपवास छोड़ो । . . . बहुत वर्ष जीओ और हिन्दके जवाहर बने रहो ।

१८-१-१९४८ बापूके आशीर्वाद

इन सब बातोंके बीच गांधीजीको आर्थर मूरकी याद आई । उन्होंने मेरी बहनसे कहा: "मूरको तुरन्त फोन करो कि मैंने अपना उपवास तोड़ दिया है और अब उन्हें भी तोड़ देना चाहिये । उन्हें उचित ढंगसे उपवास तोड़नेकी सूचनायें दे दो । कदाचित् यह उनका पहला उपवास हो और उन्हें उपवास तोड़नेका सही तरीका मालूम न हो ।" लेकिन फोनसे सम्पर्क स्थापित करने पर आर्थर मूरने उत्तर दिया : थोड़ी देर पहले ये शुभ समाचार पाकर मैं आपकी सूचनासे पहले ही एक प्याला कॉफी और एक सिगार पीकर अपना उपवास तोड़ चुकौ हूं !

८

दिनके बाकी हिस्सेमें उत्साहवर्द्धक समाचार आते रहे । यह खबर मिली कि दिल्लीके दो लाखसे अधिक नागरिकोंने फिरसे पूर्ण साम्प्रदायिक मेल-मिलाप स्थापित करनेकी गांधीजीकी इच्छाके उत्तरमें एक शान्ति-प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किये हैं । प्रतिज्ञापत्र इस प्रकार था :

> हम दिल्लीके हिन्दू, सिक्ख, ईसाई और दूसरे नागरिक शपथ-पूर्वक अपने इस विश्वासकी घोषणा करते हैं कि भारतीय संघके मुस्लिम नागरिकोंको दिल्लीमें शान्ति, सुरक्षा और स्वाभिमानके साथ रहनेकी और भारतीय संघकी भलाई तथा कल्याणके लिए कार्य करनेकी वही स्वतन्त्रता होनी चाहिये जो हम सबको है ।
>
> हम दृढ़ संकल्पके साथ यह प्रतिज्ञा करते हैं कि दिल्लीमें सारे समुदायोंका आपसी मेल-मिलाप बढ़ाने और उनमें सुरक्षाकी भावना पैदा करनेकी व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपोंमें हम भरसक कोशिश करेंगे, ताकि सब धर्मोंको माननेवाले भारतीय नागरिक भारतीय संघके उच्चतर कल्याणके लिए हमारी नवार्जित स्वतन्त्रताको टिकाये रखनेके लिए दिल्लीमें साथ रहकर कार्य कर सकें ।

कई निराश्रित-शिविरोंमें निराश्रितोंने गांधीजीके साथ उपवास शुरू कर दिया था । उनका कहना था कि गांधीजी उपवास तोड़ेंगे उसके बाद ही हम अपना उपवास तोड़ेंगे । १८ जनवरीको

दोपहरके समय लगभग १०० पर्देवाली मुस्लिम स्त्रियां बिड़ला-भवनमें आईं । यद्यपि डॉक्टरोंने मुलाकातोंकी मनाही कर दी थी, फिर भी गांधीजीने उन्हें अपने सामने लानेके लिए कहा । स्त्रियोंने कहा : "हम पिछले पांच दिनसे अपने घरोंमें उपवास और प्रार्थना कर रही थीं कि ईश्वर आपको बचा ले ।" गांधीजीने उनसे कहा : "आप अपने पिताओं और भाइयोंके सामने पर्दा नहीं करतीं, फिर मेरे सामने क्यों करती हैं ?" एकदम सबका पर्दा उठ गया । बादमें गांधीजी बोले: "पर्दा मेरे सामने पहली ही बार अदृश्य नहीं हुआ है । इससे सिद्ध होता है कि सच्चा प्रेम क्या कुछ कर सकता है ।"

मुस्लिम बहनोंके जाते ही गांधीजीने मुझे बुलाकर कहा : "जाहिद हुसैनके पास जाओ और उनसे पूछो कि क्या वे लोग मेरा पाकिस्तान जाना पसन्द करेंगे ?" जाहिद हुसैनने गांधीजीके उपवासकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । वे बोले : मेरी पत्नी गांधीजीकी बड़ी प्रशंसक है । उसने उनकी रचनाओंके उर्दू अनुवाद पढ़े हैं । मेरे पास गांधीजीके स्वास्थ्यकी पूछताछके लिए कराचीसे रोज टेलीफोन आते हैं । "आप नहीं जानते कि कुर्बानीके उनके इस आखिरी कार्यसे पाकिस्तानके लोगोंके दिलों पर कितना गहरा असर हुआ है ।" लेकिन जब मैंने उनसे पूछा कि क्या इसका मतलब यह है कि पाकिस्तान सरकार गांधीजीका पाकिस्तान जाना अब पसन्द करेगी, तो उनका मुंह उतर गया और उन्होंने धीरेसे कहा : "नहीं, अभी नहीं । परन्तु मुझे आशा है कि जल्दी ही हालात काफी सुधर जायंगे ।" पाकिस्तान सरकारको भारतके अधिकारियोंके आचरणसे बहुत सन्तोष नहीं है । शिमलाके उच्च न्यायालयमें अब भी मुसलमानोंको वकालत नहीं करने दी जाती, वगैरा वगैरा । जब मैंने पाकिस्तानके उच्चायुक्तके साथ हुई अपनी बातचीतकी रिपोर्ट गांधीजीको सुनाई तो गहरा निःश्वास लेकर वे बोले : "अब मुझे १२५ वर्षकी आयु पूरी करनेकी बहुत कम संभावना दिखाई देती है ।"

शामको अपने बिस्तरसे लगभग २० मिनट तक ध्वनि-प्रसारण यंत्र पर बोलते हुए गांधीजीने कहा : आजका दिन मेरे लिए तो मंगल-दिन है ही, आप सबके लिए भी मंगल-दिन माना जायगा । आज गुरु गोविन्दसिंहकी जन्मतिथि है । उसी शुभ तिथि पर मैं आप लोगोंकी

दयासे उपवास छोड़ सका हूं। शहीद सुहरावर्दी साहबके बारेमें अभी भी हमारे मनमें कई शंकायें हैं। वे दूर होनी चाहिये। हम बीती बातोंको भूल जायं। आज हम सीखें कि कोई भी इन्सान हो, कैसा भी हो, उसके साथ हमें दोस्तान ढंगसे काम करना है। हम किसीके साथ किसी भी हालतमें दुश्मनी नहीं करेंगे, दोस्ती ही करेंगे। मेरी नजरमें आज तक हम शैतानकी ओर जाते थे। आजसे मैं आशा करता हूं कि हम ईश्वरकी ओर जाना शुरू करते हैं। लेकिन हम तय करें कि एक बार हमने अपना मुंह ईश्वरकी ओर घुमाया, तो फिर उसे ईश्वरकी ओरसे हम कभी नहीं हटायेंगे। ऐसा होगा तो भारतीय संघ दुनियाको विश्वशांतिका मार्ग दिखायेगा। मैं चाहूंगा कि हिन्दू और सिक्ख कुरानका अध्ययन करें और उसका अर्थ समझें, जैसे वे भगवद्गीता और ग्रन्थसाहबका अध्ययन करते हैं और उनका अर्थ समझते हैं। मैं चाहूंगा कि मुस्लिस भाई-बहन भी गीता पढ़ें, ग्रन्थसाहब पढ़ें और उनका अर्थ समझें। जैसे हम अपने धर्मको मानते हैं वैसे दूसरोंके धर्मको भी मानें। अगर पत्थरमें ईश्वरको मानना गलत है, तो उसे गीता, ग्रन्थसाहब या कुरानमें मानना सही कैसे हो सकता है ? क्या यह भी बुतपरस्ती नहीं है? आदर और सहिष्णुताकी भावनाको बढ़ाकर हम सब धर्मोंसे सीख सकते हैं।

मुझे तब तक परम शान्ति नहीं मिलेगी जब तक यहांके निराश्रित, जो पाकिस्तानसे दुःखी होकर आये हैं, पाकिस्तानमें अपने घरोंको सम्मान और प्रतिष्ठासे न लौट सकें और जो मुसलमान हमारे डरसे और मार-पीटके कारण यहांसे भागे हैं वे लौटकर यहां आरामसे न रह सकें।

> मैंने सत्यके नाम पर यह उपवास शुरू किया था, जिसका जाना-पहचाना नाम ईश्वर है। जीते-जागते सत्यके बिना ईश्वर कहीं नहीं है। ईश्वरके नाम पर हम झूठ बोले हैं, हमने बेरहमीसे लोगोंकी हत्यायें की हैं और इसकी भी परवाह नहीं की कि वे अपराधी हैं या निर्दोष, मर्द हैं या औरतें, बच्चे हैं या बूढ़े। ... मैं नहीं जानता कि किसीने ये काम सत्यके नाम पर किये हों। उसी नामका उच्चारण करते हुए मैंने अपना उपवास तोड़ा है। ...

पाकिस्तानसे और भारतीय संघसे तार पर तार आये हैं, जिनमें मुझसे उपवास छोड़नेकी अपील की गई है । मैं इन सब मित्रोंकी सलाहका विरोध नहीं कर सका । मैं उनकी इस प्रतिज्ञा पर अविश्वास नहीं कर सका कि हर हालतमें हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों, पारसियों और यहूदियोंमें पूरी पूरी दोस्ती रहेगी – ऐसी दोस्ती जो कभी न टूटेगी । उस दोस्तीको तोड़नेका मतलब होगा राष्ट्रको तोड़ना, राष्ट्रको खतम करना ।

अगर आजका दिया हुआ पवित्र वचन पूरा हो जाय, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैं चौगुनी शक्तिसे भगवानसे प्रार्थना करूंगा कि मैं अपनी पूरी जिन्दगी जी सकूं और जीवनके अन्तिम क्षण तक मानव-समाजकी सेवा कर सकूं । . . .

दिल्लीके नागरिकोंके साथ हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघकी सद्भावनासे मेरी प्रतिज्ञाके शब्दोंका तो आशासे जल्दी पालन हो गया है । . . . हजारों लोगोंकी ओरसे मुझे लिखित रूपमें दिली दोस्तीके वचन मिल रहे हैं । . . . क्या इस बातका इससे अच्छा कोई प्रमाण हो सकता है कि मेरे इस उपवासमें भगवानका हाथ था ? लेकिन मेरी प्रतिज्ञाके शब्दोंके पालनके बाद उसकी आत्मा भी है, जिसके पालनके बिना शब्दोंका पालन बेकार हो जाता है । प्रतिज्ञाकी आत्मा है यूनियन और पाकिस्तानके हिन्दू, सिक्ख और मुसलमानोंमें सच्ची दोस्ती । . . . पाकिस्तानसे बहुतसे सन्देश आये हैं । उनमें से एकमें भी इस बातका विरोध नहीं किया गया है । भगवानने, जो सत्य है, इन छह दिनोंमें जैसे प्रकट रूपमें हमें रास्ता दिखाया है वैसे ही आगे भी वह हमें रास्ता दिखाये !

प्रार्थना-सभाके बाद गांधीजीके दर्शनके लिए शोर मचा । उस समय जोरोंकी वर्षा हो रही थी । बिड़ला-भवनकी अतिथिशाला स्त्रियोंसे खचाखच भरी थी । वहां उन्होंने शरण ले ली थी । उनमें से अनेकोंकी गोदमें छोटे बच्चे थे । वे सब शीतकालकी बर्षासे भीग गये थे और उन्हें गरमी पहुंचानेके लिए गांधीजीके काम आनेवाले बिजलीके यंत्रोंका उपयोग किया जा रहा था । उन्होंने कहा : जब तक हमें गांधीजीके दर्शन नहीं होंगे, हम नहीं जायंगी । उनकी सुविधाके लिए

गांधीजीको एक कुर्सी पर बरामदेमें ले जाया गया और कुर्सीको इतना ऊंचा उठा दिया गया कि बारिशसे भीगी हुई भीड़ उन्हें देख ले ।

गांधीजीका यह महान आध्यात्मिक साहस सफलतापूर्वक समाप्त हुआ । उसीके साथ अवर्णनीय शान्तिका वह आनन्द भी खतम हुआ, जो दूसरोंके कष्ट-निवारणार्थ सहर्ष कष्ट सहनेसे मिलता है ।

गांधीजीका पत्र राजाजीको

२१ जनवरी, १९४८

शान्तिसे निकलकर मैंने तूफानमें प्रवेश किया है । ईश्वरकी कृपासे मैंने दोनोंका समान तटस्थतासे सामना करना सीख लिया है ।

*

गांधीजीका उपवास एक चिह्न और शकुन भी था । उपवासके दिनोंमें और बादमें संसारके समस्त भागोंसे सहानुभूति और बधाईके तारों और सन्देशोंकी जो बाढ़ आयी वह अद्भुत थी । इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात यह थी कि एशिया और अफ्रीकाके अनेक देशोंमें इस उपवाससे उत्साह, कृतज्ञता और गर्वकी बाढ़ आ गई थी । ऐसा मालूम होता था मानो इस प्रतीकात्मक कार्यसे पूर्वने अपनी आत्माको फिरसे पहचाना था और उस त्रिकालाबाधित सन्देशका रहस्योद्घाटन हुआ था, जो जगतको आत्म-विनाशसे बचा सकता था । वह सन्देश आत्माका था, जो स्वयंको खोकर ही स्वयंको पाती है ।

काहिराके एक सन्देशमें कहा गया था : “आपने इस सप्ताहमें दुनियाके सामने आत्मत्यागका जो उच्च नैतिक उदाहरण प्रस्तुत किया, उससे अरब जगतके हम लोग अत्यन्त उपकृत और सम्मानित अनुभव करते हैं । ... यह बधाई आपको भेजते हुए ... मैं लाखों अरबोंकी भावनाओंको व्यक्त कर रहा हूं और ईश्वरसे प्रार्थना करता हूं कि वह आप जैसे पूर्वके उदात्त पुत्रकी

रक्षा करे, जो विभिन्न समुदायोंकी शान्ति, धार्मिक सहिष्णुता और भ्रातृभावके लिए अपना जीवन समर्पित कर रहा है ।"

इंडोनेशियाके उपाध्यक्ष मुहम्मद हाटाके एक समुद्री तारमें भारतीय स्वतन्त्रताकी प्राप्तिमें भारतीय जनताके लिए प्राप्त गांधीजीके नेतृत्वको "हमारे लिए प्रकाश-स्तम्भ" बताते हुए यह स्वीकार किया गया कि "हमारे अपने स्वतन्त्रता-संग्राममें हमें बहुत-कुछ प्रेरणा इसीसे मिली थी।" तारमें आगे कहा गया : "आपने जिस अनोखे ढंगसे भारतीय जनताके लिए स्वतंत्रता प्राप्त की, उसने जगतको नया प्रकाश दिखाया है । वह सम्पूर्ण एशियाके लिए स्वाधीनताका प्रभात सिद्ध होगा । . . . यद्यपि मानवके मनने भारतकी महान प्रजाके बीच संकीर्ण दीवारें खड़ी कर दी हैं, फिर भी हमें पूरी आशा है कि इस प्राचीन उपमहाद्वीपके लोग अपने संकट-कालमें फिरसे आपके आसपास एकत्र हो जायंगे । इस संकटको हम संपूर्ण एशियाके लिए संकट मानते हैं । भारतकी शान्ति और प्रगति एशियाकी शान्ति और प्रगति सिद्ध होनेवाली है ।"

चीनी गणतंत्रके 'एक्ज़ामिनेशन युआन' के अध्यक्ष ताई चि-ताओने समुद्री तार भेजा: "उनका (गांधीजीका) व्यक्तित्व मानव-जातिके मार्गको प्रकाशित करनेवाले उज्ज्वल प्रकाशके समान है । चीनी प्रजा . . . गांधीजीकी सारी बातोंका हृदयसे समर्थन करती है ।"

मानव-जातिके अथक सेवक और जातिवादके विरुद्ध लड़े जानेवाले संग्राममें पद-दलित जातियोंके समर्थक रेवरेन्ड माइकेल स्कॉटका न्यूयार्कसे भेजा हुआ सन्देश अत्यन्त हृदयस्पर्शी था : "मानव-जातिके भविष्यके खातिर आपका बलिदान उन सबके लिए एक चुनौती है जो शान्तिके समर्थक हैं और उन लोगोंको परेशानीमें डालता है जिनकी दुष्ट चालबाजियां सर्वत्र मानव-जातिके लिए खतरा बनी हुई हैं । भारत भूतकालके जिन दुष्परिणामोंको भुगत रहा है उन पर सत्याग्रह विजयी सिद्ध होगा और आपकी अजेय आत्मा मानव-जातिको सदा प्रेरणा देती रहेगी ।" इस सन्देशमें हस्ताक्षर इस तरह किये गये थे : "आपका कृतज्ञ शिष्य माइकेल ।"

लन्दनके 'टाइम्स' ने यह टिप्पणी की : "गांधीजीका साहसपूर्ण आदर्शवाद जितना इस बार स्पष्ट रूपमें सफल सिद्ध हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था ।"

'मान्चेस्टर गार्डियन' ने लिखा : "इस दुर्बल बूढ़ेके साहस और अध्यात्मबलके लिए भारत यदि आभारी हो, तो वह सकारण ही है । वह सन्तोंमें राजनीतिज्ञ हो सकता है, परन्तु राजनीतिज्ञोंमें वह उतना ही सन्त भी है ।"

उदार दैनिक 'न्यूज क्रॉनिकल' ने अपने साधारण प्रमुख लेखोंके स्थान पर गांधीजीके उन लेखोंके लम्बे उद्धरण दिये, जो उन्होंने १९२४ में अपने २१ दिनके उपवासके बाद लिखे थे । इन उद्धरणोंका शीर्षक दिया गया था : "एक ७७ वर्षके कमजोर बूढ़ेकी रहस्यपूर्ण शक्तिने दुनियाको हिला दिया है और उसे नई आशासे अनुप्राणित किया है ।" इस अखबारने लिखा : "महात्मा गांधीके उपवासकी सफलतासे एक ऐसी शक्तिका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, जो अणुबमसे भी बड़ी शक्ति सिद्ध हो सकती है और जिसे पश्चिमको ईर्ष्या तथा आशासे देखना चाहिये । भारत और पाकिस्तानमें वैर और क्रोध तेजीसे बढ़ रहा था, उस समय लोग अपने अपने रास्तों पर ही इस उपवासके कारण रोक दिये गये हैं । . . . पश्चिमी यूरोप और अमरीकामें यह बहुत समयसे स्वीकार कर लिया गया है कि मि. गांधीके हाथमें एक ऐसी शक्ति है, जिसके सामने कोई भौतिक अस्त्र काम नहीं दे सकते; गांधी मनुष्यको उन वस्तुओंके विरुद्ध सक्रिय बना रहे हैं, जो मनुष्यकी बनाई हुई हैं, और अन्तमें मनुष्य अपनी सृष्टिसे सदा ही बड़ा सिद्ध होगा ।

'वाशिंग्टन पोस्ट' ने 'नेतृत्वकी शिक्षा' शीर्षकके अन्तर्गत एक सम्पादकीय लेखमें यह टिप्पणी की :

> ऐसे युगमें जब मनुष्योंका प्रभाव लगभग पूरी तरह उन सेनाओंके आकारसे नापा जाता है जो वे जमा कर सकते हैं या धनके उस भंडारसे नापा जाता है जिसका वे उपयोग कर सकते हैं, नैतिक अथवा अध्यात्मिक नेतृत्व लगभग विलक्षण अथवा अव्यवहार्य कल्पना मालूम होती है । . . . गांधीने जैसा पहले कई अवसरों पर किया था उसी तरह

एक बार फिर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दे दिया है कि सांसारिक मामलोंमें आध्यात्मिक या नैतिक नेतृत्वकी कितनी शक्ति होती है। ... पाश्चात्य संस्कृतिके दृष्टिकोणसे आध्यात्मिक समाधानकी पद्धति उस लड़ाई-झगड़ेसे भी विचित्र मालूम होती है, जिसके कारण यह पद्धति अपनायी गयी थी। यहां भी और यूरोपमें भी नैतिक प्रभाव डालनेके उपायके रूपमें ... भूख-हड़तालका उपयोग किया गया है। ... परन्तु खास तौर पर दबावसे स्वीकृति प्राप्त करनेमें यह उपाय कारगर साबित नहीं हुआ। ... गांधीका उपवास समय पर टूट गया और उनके प्राण बच गये, यह जानकर पश्चिमी और पूर्वी दोनों भूभागोंमें चेनकी जो लहर दौड़ गई है, उससे यह अनुमान होता है कि जगतने उन्हें कितना ऊंचा महात्मा स्वीकार कर लिया है। पूर्वकी तरह पश्चिममें भी गांधी जैसे किसी आध्यात्मिक और नैतिक बलके दृढ़तापूर्वक आगे आनेकी जरूरत है – ऐसी कोई नैतिक प्रेरणा उन आवेगोंको नियंत्रणमें रखनेके लिए जरूरी है, जो मानवोंको भाई-भाईकी लड़ाईकी दिशामें ले जानेवाले मार्ग पर तेजीसे आगे बढ़ा रहे हैं।

भारतमें उपवासका चमत्कारी परिणाम क्यों हुआ, इसका अनुमान लगाते हुए इस अखबारने यहां तक कहनेका साहस किया कि इसका कारण शायद यह था कि "जिन गांधीने इतनी बार अंग्रेजोंसे अपने लोगोंके लिए रिआयतें ऐंठनेके लिए उपवासका आश्रय लिया था, वे उसी ढंगसे काम कर रहे थे जिसका आदर करना उन्होंने अपने लोगोंको सिखाया था – शायद एकमात्र यही ढंग भारतके लोगोंके लिए कोई अर्थ रख सकता था।"

परन्तु वास्तविक कारण बिलकुल वही नहीं था, जो लेखकने समझ लिया मालूम होता है। अहिंसाकी शक्ति उतनी ही होती है जितनी, चाहने पर, मनुष्यमें हिंसाका उपयोग करनेकी क्षमता होती है। सामान्यत: गांधीजीके सभी उपवासोंकी और विशेषत: इस अन्तिम उपवासकी चमत्कारिक सफलताका कारण यह नहीं था कि वे निःशस्त्र जनतासे अपील करनेके लिए किये गये थे – जिसके लिए तत्कालीन परिस्थितियोंमें अन्य किसी प्रकारकी प्रेरणाका कोई अर्थ नहीं हो सकता था; बल्कि इन उपवासोंकी सफलताका कारण यह था कि (१) एक ऐसा पुरुष अपने

उपवासोंके द्वारा भारतीय जनतासे अपील करता था, जिसने यह समझ लिया था कि आत्माकी शक्ति शस्त्रोंकी शक्तिसे अथवा अन्य किसी शक्तिसे अधिक प्रबल है; (२) कि उस पुरुषने जान-बूझ कर आत्म-पीड़नका मार्ग चुननेका निश्चय किया था, जब कि वह चाहता तो अपने तात्कालिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिए समस्त राज्यतंत्रकी ताकतका उपयोग कर सकता था; (३) कि दूसरोंके लिए स्वीकार किया हुआ कष्ट-सहन उसने ऐसे लोगोंके लिए स्वीकार किया था, जो उसके प्रति और उसकी प्रियतम वस्तुओंके प्रति द्वेष फैलानेमें सबसे आगे रहे थे; और (४) यह कि उसके पीछे वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण था, जो सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमात्माके साथ एकराग हो जानेसे उत्पन्न होता है,-- यहां तक कि प्रभुसे अलग रहनेकी उसकी इच्छा ही विलीन हो गई थी । अपने उपवासके पांचवें दिन गांधीजी एक बहुत प्रिय मित्रके साथ घनिष्ठ वार्तालाप करते हुए बोले : “एक बातमें यह उपवास मेरे पहलेके सारे उपवासोंसे भिन्न है – छह महीने पहले कलकत्तेमें किये गये उपवाससे भी भिन्न है । कलकत्तेके उपवासके समय भी मेरा उसे जारी रखनेका दृढ़ निश्चय तो कभी नहीं डिगा था, परन्तु इस बारेमें मैं उदासीन नहीं था कि उपवासका अन्त कब होगा । इस बार बात दूसरी ही है । इसकी सफल समाप्ति मुझे अच्छी लगेगी – मुझे उपवासके खातिर उपवास करनेका शौक नहीं है – परन्तु यह उत्सुकता या अधीरता मुझे नहीं है कि यह कब समाप्त होगा । उदाहरणार्थ, इस बार जब कोई मेरे पास आता है तो मुझे यह जाननेकी जरा भी उत्सुकता नहीं होती कि वह कोई ऐसे समाचार लाया है या नहीं जिससे मैं अपना यह उपवास तोड़ सकूं । मैंने अपनेको ईश्वरके हाथमें पूरी तरह समर्पित कर दिया है; और मुझे इस समर्पणमें आनन्द आता है, भले ही मैं किसी भी स्थितिमें क्यों न होऊं ।”

अन्तमें, गांधीजीके उपवास भारतमें लाखों लोगोंके हृदयोंको स्पर्श करते थे – इसलिए नहीं कि पूर्वमें मानव-जाति दूसरे भागोंसे कुछ भिन्न थी, बल्कि इसलिए कि सतत साधनाके द्वारा गांधीजीने उन लाखों लोगोंके साथ ऐसा सम्पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लिया था, उनके सुख-दुःखको इतना अधिक अपना बना लिया था कि जब गांधीजीको कोई कष्ट होता तो उनके साथ

साथ उन लाखों लोगोंको भी कष्ट होता था । डॉ. झिम्मरने सारी चीजको दुर्लभ अन्तर्दृष्टिके साथ ऐसी भाषामें संक्षेपमें रख दिया है, जिसे भविष्य-वाणी ही कहा जा सकता है :

> दार्शनिक, अव्यावहारिक भारत ... अपनी राजनीतिक स्वतंत्रताको टिकाये रखनेमें बुरी तरह असफल रहा है, परन्तु वह इस विचारका सदा ही समर्थक रहा है कि ज्ञान शक्तिका रूप ले सकता है, . . . यदि वह ज्ञान मनुष्यके सम्पूर्ण व्यक्तित्वमें व्याप्त हो, उसका रूपान्तर कर दे, उस पर नियंत्रण रखे और उसको एक विशिष्ट सांचेमें ढाल दे । ज्ञानीको तत्त्वज्ञानका पुस्तकालय नहीं बनना है, . . . मानव-वाणीसे युक्त विश्वकोष नहीं बनना है । स्वयं विचारको उसके भीतर जीवनका, अभिन्न अंगका, आत्माका, कर्म-कौशलका रूप ले लेना है । और फिर जितनी उच्च ज्ञानीकी सिद्धि होगी उतनी ही महान उसकी शक्ति होगी । महात्मा गांधीके जादूको ... हमें इसी प्रकार ... समझना है । उनकी आध्यात्मिक उच्चता उन्हें दी गई 'महात्मा' की पदवीमें व्यक्त और सम्मानित होती है; "जिनके व्यक्तित्वका सारतत्त्व महान है", "जिनमें व्यक्तिगत तथा वैयक्तिके जीवनसे ऊपर उठा हुआ दैवी सारतत्त्व, जो सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त है और ईश्वरकी चैतन्ययुक्त क्रपा (आत्मन्) के रूपमें मानव-हृदयमें निवास करता है, इतना उदात्त हो गया है कि वह अतिशय महत्त्वपूर्ण (महत्) बन गया है ।" अध्यात्म पुरुषने उनके भीतर अहंकारके सारे लक्षणोंको, व्यक्तिगत जीवनकी समस्त मर्यादाओंको, सामान्य मनुष्यत्वसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे ही मर्यादा लगानेवाले और बन्धनमें बांधनेवाले गुणों तथा प्रवृत्तियोंको तथा शुभ-अशुभ, इस जन्मके अथवा पूर्वजन्मके, अहंकार-प्रेरित समस्त कर्मोंके अवशिष्ट चिह्नोंको भी निगल लिया है और उनका अन्त कर दिया है । व्यक्तित्वके ऐसे चिह्न सांसारिक व्यवहारोंके बारेमें मनुष्यके दृष्टिकोणको पक्षपाती और विकृत बता देते हैं और दिव्य सत्य तक उसकी पहुंच नहीं होने देते । परन्तु महात्मा ऐसे मनुष्य हैं जिनका जीवन ज्ञानके कारण मूलत: बदल गया है; और ऐसे महात्माकी शक्तिका चमत्कार हम आगे भी

देख सकेंगे । [झीमर, 'फिलॉसफीज़ ऑफ इंडिया', लंदन, १९५१, पृ. ६५-६६; १९४२ में दिये गये एक भाषणसे]

यह स्थिति किसी निश्चित सूत्रके यांत्रिक अभ्याससे प्राप्त नहीं हो सकती । वह समस्त जीवनकी समर्पित साधना, आत्म-संयम और धैर्यपूर्ण ईश्वर-उपासनासे प्राप्त होती है । मनुष्यको अपने भीतर इसका विकास करना पड़ता है ।

गांधीजीने उपवास छोड़ा उसके दूसरे दिन उन्होंने एक चेतावनीकी बात कही : "यह जमाना सोचे-विचारे बिना दूसरोंकी नकल करनेका जमाना है । इसलिए मेरी चेतावनी यह है कि इतने ही थोड़े समयमें ऐसे ही परिणामकी आशा रखकर कोई ऐसा उपवास करे तो वह मूर्खताका काम होगा । ऐसा करनेवाले व्यक्तिको घोर निराशा होगी और वह उपवास जैसी एक प्राचीन और अमोघ पद्धतिको बदनाम करेगा । उपवासके लिए दो कठोर शर्तें जरूरी हैं – ईश्वरमें जीती-जागती श्रद्धा और प्रभुके सुनिश्चित आदेशका अनुभव । एक और शर्त भी जोड़नेका लोभ मुझे होता है; परन्तु वह अनावश्यक है । **भीतरसे ईश्वरकी सुनिश्चित आज्ञा पानेके लिए उस उद्देश्यका सही, सामयिक और उचित होना जरूरी है, जिसके लिए उपवास किया जाता है** । इसका अर्थ यह है कि पहलेसे लम्बी पूर्व-तैयारीकी आवश्यकता होती है । इसलिए कोई बिना सोचे-विचारे ऐसा उपवास न करे ।" [प्रार्थना-प्रवचन, १९ जनवरी १९४८] (मोटे टाइप मैंने किये हैं ।)

९

उपवासका गांधीजीके जीवन-दर्शनमें एक केन्द्रीय स्थान था । उपवासको वे सत्याग्रहका अभिन्न अंग मानते थे । वे उपवासको कितना महत्त्व देते थे, इसका अन्दाज इस बातसे लगता है कि अपने जीवनमें उन्होंने विविध अवधियोंके सत्रह उपवास किये । उनमें सबसे लम्बा तीन सप्ताहका था । इनके सिवा, आंशिक उपवास भी उन्होंने किये थे । इनमें से एक दक्षिण अफ्रीकामें हुआ था, जब वे साढ़े चार महीने तक रोज एक ही बार अल्पाहार पर रहे थे । एक और उपवास, जिसने उन्हें लगभग मौतके द्वार पर पहुंचा दिया था, १९४६ में नोआखालीमें किया गया था । इस

अवसर पर उन्होंने अपने पोषणको प्रतिदिन ६०० कैलोरी तक घटा दिया था — और वह भी केवल फलोंके रस और ग्लूकोसके रूपमें ।

गांधीजीने उपवासकी शक्तिका बार-बार प्रत्यक्ष प्रमाण दिया था । वे इसे सत्याग्रहके शास्त्रागारका सबसे प्रबल अस्त्र कहते थे । उनके प्रयोगोंसे यह भी सिद्ध होता था, जैसा कि १९३८ के राजकोटके दुर्भाग्यपूर्ण उपवासमें हुआ, कि किस प्रकार उपवासके प्रयोगमें जरासी भूल भी उसकी सफलताके लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकती है । [१९३९ में राजकोट रियासतके ठाकुर साहबने प्रजाके लिए लोकप्रिय लोकतांत्रिक सुधारोंकी घोषणा करनेके बाद अपने मुख्यमंत्री दरबार वीरावालाकी सलाहसे वचन-भंग कर दिया । इस पर गांधीजीने लम्बी विफल वार्ताओंके बाद ठाकुर साहबसे उनके पवित्र वचनका पालन करानेके लिए आमरण अनशन घोषित कर दिया । लेकिन अपने उपवासके चौथे दिन उन्होंने भारतके तत्कालीन वाइसरॉय लॉर्ड लिनलिथिगोको इस मामलेमें हस्तक्षेप करनेके लिए तार दे दिया । वाइसरॉयके हस्तक्षेपके परिणाम-स्वरूप दरबारने पंच द्वारा झगड़ेका फैसला कराना मंजूर कर लिया । भारतके तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश सर मॉरिस ग्वायरने दरबारके विरुद्ध और गांधीजीके पक्षमें निर्णय दिया । परन्तु दरबार सब संबंधित पक्षोंसे अधिक चतुर निकले और कुछ दोषोंसे फायदा उठा कर उन्होंने एक तरहसे इस निर्णयको मटियामेट कर दिया । गहरे आत्म-निरीक्षणके बाद गांधीजी इस नतीजे पर पहुंचे कि उनके उपवासमें एक दोष था; क्योंकि एक तरफ वे दरबारका हृदय-परिवर्तन करानेके लिए दूसरोंके खातिर कष्ट उठा रहे थे, जब कि दूसरी ओर दरबार पर दबाव डालनेके लिए उन्होंने वाइसरॉयसे अपील की थी । इससे उनका अहिंसाका प्रयोग दूषित हो गया । यदि दरबार केवल गांधीजीके उपवासके परिणाम-स्वरूप ही पंच-निर्णय करानेके लिए तैयार हो जाते, तो बादमें वे अपनी जिम्मेदारीसे बचनेकी कोशिश न करते । गांधीजीको जब अपनी भूलका पता लगा तो उन्होंने अपनी विजयका फल छोड़ देनेका निश्चय कर लिया । तदनुसार उन्होंने वाइसरॉयको लिख कर न्यायाधीशका निर्णय अस्वीकार कर दिया और इसकी सूचना दरबारको भी कर दी] इस शस्त्रके बारेमें लोगोंमें बड़ी गलतफहमी फैली हुई है और

इसका बहुत दुरुपयोग होता है । इसलिए यहां उसके आधारकी, कार्यविधिकी और उसके प्रयोगके नियमोंकी, गांधीजीके प्रतिपादनके अनुसार, जांच कर लेना उचित होगा ।

संसारके तमाम बड़े बड़े धर्मोंका इतिहास प्रार्थना और प्रायश्चित्तके लिए उपवास करनेके दृष्टान्तोंसे भरा पड़ा है । इस प्रकार बुद्धने उपवास किया था, मुहम्मदने किया था और ईसा मसीहने भी किया था । जोनाहके तीसरे अध्यायमें सारी प्रजाकी तरफसे प्रायश्चित्त और प्रार्थनाके रुपमें किये गये आमरण अनशनका एक भव्य वर्णन है । पैगम्बरने भविष्य-वाणी की थी कि उनके प्रवेश करनेके चालीसवें दिन महान नगर निनेवाका नाश हो जायगा :

> इसलिए निनेवाके लोगोंने ईश्वर पर विश्वास किया और एक उपवास घोषित कर दिया; और बड़ेसे बड़े तथा छोटेसे छोटेने टाटके कपड़े पहन लिये । कारण निनेवाके राजाको आदेश मिला और वह अपने सिंहासनसे उठ गया; और उसने अपनी पोशाक उतार कर टाटके कपड़े पहन लिये और भस्म लगाकर बैठ गया । और उसने घोषणा करवा दी और सारे निनेवा शहरमें राजा तथा उमरावोंका यह आदेश प्रकाशित करवा दिया : 'मनुष्य या पशु – गाय-भैंस या भेड़-बकरी – कोई भी कुछ न चखें; वे न तो कुछ खायें, न पियें । परन्तु इन्सान और हैवान टाटके वस्त्रोंसे अपनेको ढंक लें और ईश्वरके आगे जोरकी पुकार करें; सभी अपनी बुराइयोंसे और अपने हाथोंसे होनेवाली हिंसासे मुंह मोड़ लें । कौन कह सकता है कि ईश्वर अपना रुख बदल कर यदि पछताये और अपने भयंकर क्रोधसे विमुख हो जाय, तो हम सर्वनाशके शिकार न भी हों ?' और ईश्वरने उनके काम देखे कि वे बुराईसे अपना मुंह मोड़ रहे हैं; और ईश्वरको उस बुराईके लिए पछतावा हुआ जो उसने कहा था कि वह उनके प्रति करेगा; और ईश्वरने वह बुराई नहीं की ।

आत्मशुद्धिके लिए उपवास करनेके अतिरिक्त हम जिन्हें अपने प्रियजन मानते हैं उनके दोषोंके प्रायश्चित्त स्वरूप तथा उन्हें दण्ड देने और उनसे पश्चात्ताप करानेके लिए भी हम उपवास

कर सकते हैं । अन्यायीके या समाजके अन्त:करणसे अपील करके अन्याय या शिकायत दूर करवानेके लिए भी उपवासका प्रयोग किया जा सकता है ।

तपके रूपमें उपवासका उपयोग शरीर पर आत्माका प्रभुत्व स्थापित करनेके लिए किया जाता है । दुतियाभरमें इन्द्रिय-दमनको आध्यात्मिक प्रगतिकी आवश्यक शर्त माना गया है । गांधीजीने कहा है : "मेरा अपना यह दृढ़ विश्वास है कि आप इन्द्रियोंका जितना दमन करते हैं उतना ही आपका आत्मबल बढ़ता है ।" [यंग इंडिया, २३ अक्तूबर १९२४, पृ. ३५४]

हम सबमें शरीरके लिए एक कमजोरी होती है । जिसे गांधीजी "पूरा खानेवालों" की जाति कहते थे उसी जातिके हम हैं । "माता-पिताकी तालीमसे हम पेटू बन जाते हैं ।" [मीराबहन द्वारा संपादित, 'बापूज लेटर्स टु मीरा', अहमदाबाद, १९४९, पृ. २४२] हम भूल जाते हैं कि भोजन जीभके स्वादके लिए नहीं बनाया गया है, परन्तु ईश्वरकी सृष्टिकी सेवाके लिए "शरीरको अपने दासके रूपमें टिकाये रखनेके लिए बनाया गया है ।" [वही] स्वादके लिए खाना न शरीरके लिए अच्छा है और न मन या आत्माके लिए । गांधीजी तो यहां तक कहते थे कि पूरा भोजन "ईश्वर और मनुष्य दोनोंके प्रति अपराध है – मनुष्यके प्रति इसलिए कि पूरा भोजन करनेवाले अपने पड़ोसियोंसे उनका हिस्सा छीनते हैं । ईश्वरकी अर्थ-व्यवस्थामें इतने ही आहारकी गुंजाइश है कि रोज दवाकी मात्रामें सबको भोजन मिल जाय । . . . इसलिए अमुक समयके बाद पूरा उपवास और प्रतिदिन आंशिक उपवास करना जरूरी है ।" [वही] "सच्चे उपवाससे शरीर, मन और आत्मा स्वच्छ होते हैं । उससे इन्द्रियोंका दमन होता है और उतनी ही हद तक आत्मा मुक्त होती है ।" [यंग इंडिया, २४ मार्च १९२०] इस प्रकार प्रार्थनाके लिए उपवास करना "शुद्धिकी अत्यन्त शक्तिशाली प्रक्रिया" [वही] है ।

सत्याग्रहके संदर्भमें उपवासके स्वरूपको अधिकसे अधिक व्यापक रखना होता है । "शरीरके उपवासके साथ सारी ज्ञानेन्द्रियों" और कर्मेन्द्रियोंका भी उपवास करना होता है ।" [मीराबहन द्वारा संपादित, 'बापूज लेटर्स टु मीरा', अहमदाबाद, १९४९, पृ. २४१] उदाहरणार्थ, यदि

उपवासी अपने मनको इधर-उधर भटकने दे या अशुद्ध विचारोंका सेवन करने दे, तो वह सच्चे उपवासकी विडम्बना ही होगी। "इस प्रकारका उच्छृंखल उपवास उपवासीका पतन ही करता है।" [यंग इंडिया, २४ मार्च १९२०]

इस प्रकार भूखों मरनेके लिए भूखों मरनेमें कोई पुण्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, "इन्द्रियोंका दमन उस समय जरूरी है जब इन्द्रियां हमारे खिलाफ विद्रोह करें; इन्द्रियोंका दमन उस समय पाप है जब इन्द्रियां हमारे वशमें हों और सेवाका साधन बन सकें।" [हरिजन, २ नवम्बर १९३५, पृ. २९९] उपवासका अत्यंत व्यापक अर्थ करते हुए गांधीजीने कहा है: "उपवासके बिना कोई प्रार्थना नहीं होती, भले ही उपवास कितना ही अल्प क्यों न हो।" [हरिजन, ८ जुलाई १९३३, पृ. ४] इस्लामके पैगम्बरका भी कथन है कि भरे पेट प्रार्थना नहीं हो सकती; भरा पेट आदमीको "सख्त-दिल" बना देता है। इसके विपरीत, जो उपवास प्रार्थनाका अविभाज्य अंग नहीं है वह निरी शरीर-यातना है, जिससे किसीका कोई लाभ नहीं होता।" [मीराबहन कृत 'ग्लीनिंग्स' में गांधीजीका उद्धरण, अहमदाबाद, १९४९, पृ. ९]

उपवास प्रार्थनाको मूर्तरूप प्रदान करता है। "सम्पूर्ण उपवास सम्पूर्ण और सच्चा आत्म-विलोपन है। वह सच्चीसे सच्ची प्रार्थना है।" [हरिजन, १५ अप्रैल १९३३, पृ. ४] गांधीजीने कहा है : यह जो कहा गया है कि "हे प्रभो, मेरे प्राण ले लो और उन्हें सदा, एकमात्र, पूरी तरह अपने लिए ही रखो," सो केवल मौखिक या आलुकारिक बात ही नहीं है। "इसमें मनमें जरा भी संकोच या दुराव-छिपाव न रखकर तथा बेपरवाह होकर खुशीसे स्वार्पण करना होता है। आहार या जल भी न लेना तो आरंभ-मात्र है, समर्पणका अल्पतम भाग है।" [वही] "प्रार्थनामें पूरी तरह विलीन हो जानेका अर्थ है उस समय तक समस्त शारीरिक प्रवृत्तियोंका बन्द हो जाना जब तक कि प्रार्थना हमारे संपूर्ण व्यक्तित्व पर पूरी तरह अधिकार न कर ले और हम तमाम शारीरिक क्रियाओंसे ऊपर उठकर उनसे पूरी तरह अनासक्त न हो जायें। यह स्थिति निरन्तर स्वेच्छापूर्ण इन्द्रिय-दमनसे ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार सभी उपवास, यदि वे आध्यात्मिक कृत्य हैं,

तीव्र प्रार्थना अथवा उसकी तैयारी हैं । वह आत्माकी परम दिव्य तत्त्व परमात्मामें लीन हो जानेकी उत्कण्ठा है ।" [हरिजन, ८ जुलाई १९३३, पृ. ४]

इस प्रकार उपवासमें जो शक्ति आती है वह अनशनकी शारीरिक क्रियासे नहीं, किन्तु उसके पीछे रहे आध्यात्मिक तत्त्वसे आती है । "निरा शरीरका उपवास कोई अर्थ नहीं रखता, यदि उसके पीछे मनुष्यका संकल्प-बल न हो । वह आंतरिक उपवासकी हार्दिक स्वीकृति होना चाहिये, उसमें सत्यको – और केवल सत्यको ही प्रकट करनेकी अदम्य लालसा होनी चाहिये ।" [हरिजन, ६ मई १९३३, पृ. १] इसलिए यदि "कभी कभी उपवास और प्रार्थना उपयोगी सिद्ध होते दिखाई न दें, तो उसका कारण यह नहीं है कि वे निरर्थक हैं, बल्कि यह है कि उनके पीछे सच्ची भावना नहीं है ।" [यंग इंडिया, २४ मार्च १९२०]

एक बार गांधीजीने लिखा था : "मेरा धर्म मुझे सिखाता है कि जब ऐसा कोई दुःख आ पड़े जो दूर न किया जा सके, तब मनुष्यको उपवास और प्रार्थना करनी चाहिये ।" [यंग इंडिया, २५ सितम्बर १९२४, पृ. ३१९] भारत और दक्षिण अफ्रीका दोनों देशोंमें मैंने यह अनुभव किया है कि जब राग-द्वेष, दुराग्रह, क्रोध, अहंकार, जड़ता या नितान्त मुर्खताकी दीवारका सामना करना पड़े, उस समय दूसरोंके लिए स्वयं कष्ट-सहन करनेके समान अन्य कोई उपाय नहीं होता । "जहां रागद्वेष दीर्घ कालीन हों वहां केवल बुद्धिको अपील करनेसे ही काम नहीं चलता । . . . बुद्धिको कष्ट-सहन द्वारा बल पहुंचाना पड़ता है ।" [यंग इंडिया, १९ मार्च १९२५, पृ. ९५] कष्ट-सहन "समझकी आंखें" खोल देता है और हमारी -प्रामाणिकता तथा अहिंसा पर प्रमाणभूतताकी अंतिम मुहर लगा देता है । उससे "शिथिल अन्तःकरण जितने जाग्रत होते हैं और प्रेमपूर्ण हृदय जितने सक्रिय बनते हैं," [पोलाक, ब्रेल्सफोर्ड और पेथिक-लॉरेन्स, 'महात्मा गांधी', लंदन, १९४९, पृ. १९९] उतने और किसी चीजसे नहीं होते । जब सच्चे उपवासका सदुपयोग किया जाता है तब उससे "एक ऐसी शान्त अदृश्य शक्ति उत्पन्न होती है, जो आवश्यक बल और शुद्धता होने पर सारी मानव-जातिमें फैल सकती है ।" [मीराबहन कृत 'ग्लीनिंग्स' में गांधीजीका उद्धरण, अहमदाबाद, १९४९, पृ. ९]

गांधीजीने उपवासका तर्कसंगत स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है : "जिन्हें मानव-परिस्थितियोंमें और वातावरणमें बुनियादी परिवर्तन करता होता है, वे समाजमें उत्तेजना पैदा किये बिना यह काम नहीं कर सकते । इसके दो ही उपाय हैं – हिंसा और अहिंसा । उपवासके द्वारा स्वयं कष्ट सह कर डाला गया अहिंसक दबाव . . . जिनके विरुद्ध इस दबावका उपयोग किया जाता है उनकी नैतिक भावनाको स्पर्श करता है और उसे मजबूत बनाता है ।" [पोलाक, ब्रेल्सफोर्ड और पेथिक-लॉरेन्स, 'महात्मा गांधी', लंदन, १९४९, पृ. १९९] जन-मानसको प्रभावित करनेके साधनके रूपमें उपवासकी शक्ति इस बातमें निहित रहती है कि जहां निरी मौखिक अपीलोंसे जन-मानस सदा ही प्रभावित नहीं होता, वहां जन-साधारण "हृदयकी वाणीको अवश्य समझते हैं और सर्वथा निःस्वार्थ उपवास हृदयकी वाणी ही होता है । [चन्द्रशंकर शुक्ल द्वारा संपादित 'कन्वर्सेशन्स ऑफ गांधीजी', बंबई, १९४९, पृ. १२७]

सच्चा उपवास न तो कभी "यांत्रिक प्रयत्न होना चाहिये और न निरा अनुकरण होना चाहिये । वह हमारी आत्माकी गहराईसे उत्पन्न होना चाहिये ।" [हरिजन, १८ मार्च १९३९, पृ. ५६] और "ईश्वरमें सजीव श्रद्धा" हुए बिना उसका कोई उपयोग नहीं होता । [वही] इसलिए जिसमें आंतरिक शक्ति न हो उसे "उपवासका स्वप्नमें भी विचार नहीं करना चाहिये, सफलताकी आसक्तिसे तो कभी भी इसका विचार नहीं करना चाहिये ।" [हरिजन, २१ अप्रैल १९४६, पृ. ९३] परन्तु यदि सत्याग्रही एक बार दृढ़ विश्वासके साथ उपवास आरंभ कर दे तो उसे अपने निश्चय पर अटल रहना चाहिये और इस बातकी परवाह नहीं करनी चाहिये कि उसके इस कार्यके सफल होनेकी कोई संभावना है या नहीं है । "जो फलकी आशासे उपवास करता है वह सामान्यत: असफल रहता है और यदि प्रकट रूपमें वह असफल न हो तो भी एक सच्चे उपवासमें जो आनन्द होता है वह तो उसे बिलकुल नहीं मिलता ।" [वही]

कहना नहीं होगा कि इस शस्त्रका विरलतम अवसरों पर ही उपयोग किया जा सकता है। "पूर्व-तैयारी और पर्याप्त विचार किये बिना जो भूख-हड़तालें की जाती हैं" [हरिजन, १८ मार्च १९३९, पृ. ५६] उनसे उनके उद्देश्यको हानि ही पहुंच सकती है और "यदि यह प्रक्रिया बार-बार

दोहराई जाय तो इन भूख-हड़तालोंमें जो थोड़ी-बहुत क्षमता रही होगी वह भी खतम हो जायगी और वे हास्या-स्पद बन जायंगी ।" [वही]

क्या आमरण उपवास दबावका ही एक रूप नहीं है ? क्या इससे बुद्धिका दमन नहीं होता और वह भावुकताके अधीन नहीं बना दी जाती ? क्या आमरण उपवाससे विरोधीको उस बात पर झुकनेके लिए मजबूर नहीं किया जाता, जिस पर वह अन्य उपायसे झुकनेको तैयार नहीं होगा ?

गांधीजी इनका उत्तर जोरदार 'नहीं' में देते हैं । प्रेम विवश करता है; वह दबाता नहीं । इसी तरह सत्य भी विवश करता है और न्याय भी विवश करता है, यदि हम यह मानते हैं कि न्याय एक बल है, जैसा कि वह निर्विवाद रूपमें है । परन्तु प्रेम, सत्य या न्यायके नैतिक दबावके अभिभूत कर लेनेवाले प्रभावको मामूली अर्थमें समझा जानेवाला दबाव नहीं कहा जा सकता । शुद्ध-हृदय व्यक्तियों द्वारा दूसरोंके खातिर किये जानेवाले कष्ट-सहनसे उन्हें दोषमुक्त करनेका उपाय नया नहीं है । वह उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं धर्म है । सत्याग्रह बुद्धिका दमन नहीं करता, परन्तु राग-द्वेष, घृणा, क्रोध और दूसरे हेय विकारों पर बुद्धिका प्रभुत्व स्थापित करता है । दूसरे शब्दोंमें, यदि विरोधाभासकी भाषामें बोलें तो, वह बुद्धिको गुलाम न बना कर स्वतंत्र होनेके लिए "विवश" कर देता है । वह आपसके अविश्वास और सन्देहके उस कोहरेको हटा देता है, जो सत्यके प्रकाशको ढंक कर मनुष्यको मनुष्यसे अलग कर देता है । वह बुद्धिकी अपील पर सचाई और उत्कटताकी आखिरी मुहर लगाकर उसे महत्त्व और व्यापकता प्रदान करता है ।

गांधीजी स्वीकार करते हैं कि इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उपवास "सचमुच दबाव डालनेवाले" भी हो सकते हैं । परन्तु यह तभी होता है जब कोई मनुष्य "किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यकी पूर्तिके लिए" [हरिजन, ९ सितम्बर १९३३, पृ. ५] उपवास करता है । वे पूछते हैं : क्या विरोधीको "उदात्त भावनाओंसे युक्त मानना और उपवासके द्वारा उनका आवाहन करना" [गांधीजीका पत्र सर रेजिनाल्ड मैक्सवेलको, २१ जुलाई १९४३; 'गांधीजीज़ कॉरस्पॉन्डेन्स विथ

दि गवर्नमेंट: १९४२-४४', अहमदाबाद, १९५७, पृ. ६३] दबाव है ? और "जब कोई व्यक्ति अपने साथ हुए अन्यायको रोकनेके लिए अपने शरीरको कष्ट देता है" [गांधीजीका पत्र लॉर्ड हर्बर्ट सैम्युअलको, १५ मई १९४३; 'गांधीजीज़ कॉरस्पॉन्डेन्स विथ दि गवर्नमेंट: १९४२-४४', अहमदाबाद, १९५७, पृ. ८१] तब उसे धमकी क्यों मानना चाहिये ? दबावका अर्थ तो यह है कि "किसी ऐसे व्यक्तिके विरुद्ध . . . हानिकारक बलका प्रयोग किया जाय, जिससे बलप्रयोग करनेवाला व्यक्ति अपनी कोई वांछित वस्तु प्राप्त करनेकी आशा रखे ।" [हरिजन, ९ सितम्बर १९३३, पृ. ५] आत्म-कष्ट-सहनके बलको "उसी श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता, जिसमें ऐसे पक्षको दिये जानेवाले कष्टके बलको रखा जाता है जिसे प्रभावित किया जाता है । किसी मित्रकी भूल संदेहसे परे हो और मैं उसके अन्तः-करणको जगानेके लिए उपवास करूं, तो शब्दके सामान्य अर्थमें मैं उसे दबा नहीं रहा हूं ।" [वही] इसलिए यह तो संभव है कि अन्य किसी शक्तिशाली शस्त्रकी तरह उपवासका भी दुरुपयोग किया जा सकता है, परन्तु गांधीजी मानते थे कि "सत्याग्रहके शस्त्रागारके एक बड़े शस्त्रके रूपमें उपवासको इसीलिए नहीं छोड़ा जा सकता कि उसका दुरुपयोग हो सकता है ।" [वही]

उपवास एक उग्र शस्त्र है । "उसका अपना ही एक विज्ञान है ।" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३२२] गांधीजीने कहा था, जहां तक मुझे मालूम है, इसका पूर्ण ज्ञान किसीको भी नहीं है । इसलिए इसका अवैज्ञानिक प्रयोग "उपवासीको तो हानि पहुंचाये बिना रह ही नहीं सकता; परन्तु ऐसा प्रयोग जिस ध्येयके लिए उपवास किया जाता है उसे भी हानि पहुंचा सकता है ।" [वही]

गांधीजीने कुछ नियम बना दिये हैं, जिनका सत्याग्रहके लिए उपवास करते समय पालन होना ही चाहिये । उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण नियम ये हैं :

१. उपवास केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसका "उस व्यक्तिके साथ सम्बंध हो जिसके विरुद्ध उपवास किया जाय । इस दूसरे व्यक्तिका उस उद्देश्यके साथ प्रत्यक्ष सम्बंध होना चाहिये, जिसके लिए उपवास किया जाता है । [वही]

२. उपवासमें यह मान कर चलना होता है कि जो व्यक्ति उपवास करता है उसका उन लोगोंके प्रेम और आदर पर अधिकार जम चुका है, जिनके लिए उपवास किया जाता है । जो लोग उपवास करनेवालेको अपना दुश्मन मानते हैं, उनके लिए उपवास नहीं किया जा सकता । गांधीजीने एक बार कहा था : उदाहरणके लिए, मैं जनरल डायरके खिलाफ उपवास नहीं कर सकता, "जो न केवल मुझसे प्रेम नहीं करता, बल्कि अपनेको मेरा शत्रु मानता है ।" [यंग इंडिया, १ मई १९२४, पृ. १४५] मान लीजिये कि कोई सरकार अन्याय करती है और जब हम सविनय अवज्ञा करते हैं तो वह हमें गिरफ्तार करना पसंद नहीं करती । ऐसी सूरतमें हम उपवास करके बदला नहीं ले सकते । "आप उसकी (अत्याचारीकी) आज्ञाको न मान कर उसके दण्डको आमंत्रित करते हैं, परन्तु जब वह दण्ड न देकर आपके लिए उसकी आज्ञाके भंगको असंभव बना देता है तब आप दण्ड देनेके लिए उसे मजबूर करनेको अपने पर दण्ड नहीं लगा सकते ।" [वही] ऐसे उदाहरणमें उपवास "एक प्रकारसे उसके प्रति हिंसा हो जाती है ।" [वही]

३. सत्याग्रहका आश्रय "व्यक्तिगत लाभके लिए नहीं, परन्तु केवल दूसरोंकी भलाईके लिए ही" [यंग इंडिया, ३० सितम्बर १९२६, पृ. ३४२] लिया जा सकता है । शुद्ध उपवासमें "स्वार्थ-परायणता, क्रोध, अश्रद्धा अथवा अधैर्य" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३२२] के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता । उपवासका आश्रय "किसी प्रेमीके विरुद्ध ही और वह भी अधिकार ऐंठनेके लिए नहीं, परन्तु उसे सुधारनेके लिए" [यंग इंडिया, १ मई १९२४, पृ. १४५] उचित माना जायगा; उदाहरणके लिए, जब कोई पुत्र अपने शराबी पिताके लिए उपवास करता है; जब कोई उपवास किसी स्वार्थ-साधनके लिए अथवा किसी अनुचित हेतुकी सिद्धिके लिए किया जाता है, तो वह "आतंक और धौंस" ['यंग इंडिया; में गांधीजीने लिखा : "यदि रुपया वसूल करनेकी दृष्टिसे उपवासको प्रोत्साहन दिया जाय, तो ऐसे बेशुमार बदमाश निकल आयेंगे जो लोगोंसे

रुपया ऐंठनेके लिए इस साधनका आश्रय लेंगे । . . . सत्याग्रहकी जीत इसमें है कि सत्यका आग्रह रखते हुए मृत्युका सामना किया जाय । सत्याग्रही सत्याग्रहके उद्देश्यकी पूर्तिके प्रति सदा अनासक्त रहता है । रुपया वसूल करनेकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति अनासक्त नहीं हो सकता । इसलिए मेरा स्पष्ट मत है कि व्यक्तिगत लाभके लिए उपवास करना धमकानेसे जरा भी कम नहीं है और वह अज्ञानका परिणाम है ।" – यंग इंडिया, ३० सितम्बर १९२६, पृ. ३४२] बन जाता है । उदाहरणके लिए, किसी व्यक्तिसे रुपया ऐंठने अथवा कर्ज वसूल करनेके लिए किया जानेवाला उपवास ऐसा ही होगा । और चूंकि स्वार्थपूर्ण और निःस्वार्थ उपवासके बीचकी विभाजक रेखा अकसर बहुत सूक्ष्म होती है, इसलिए गांधीजी इस बात पर जोर देते थे कि जो व्यक्ति किसी उपवासके लक्ष्यको स्वार्थपूर्ण अथवा अन्य किसी प्रकारसे हेय समझता है, उसका कर्तव्य है कि "ऐसे उपवासके सामने झुकनेसे दृढ़तापूर्वक इनकार कर दे, भले इसके फलस्वरूप उपवासी व्यक्तिकी मृत्यु ही क्यों न हो जाय ।" [हरिजन, ९ सितम्बर १९३३, पृ. ५] यदि लोग उन उपवासोंकी, जो उनकी रायमें अनुचित उद्देश्यसे किये जाते हैं, उपेक्षा करनेकी आदत डाल लें, तो ऐसे उपवास "दबाव और अनुचित प्रभावके दोषसे मुक्त हो जायंगे ।" [वही]

४. उपवास "सत्याग्रहीका अन्तिम शस्त्र है । [तेंदुलकर और अन्य लोगों द्वारा सम्पादित, 'गांधीजी : हिज़ लाइफ एण्ड वर्क', बम्बई, १९४४, पृ. ३६९] इसलिए अन्तिम आश्रयके रूपमें ही उसका उपयोग करना चाहिये, जब भीतरसे स्पष्ट पुकार उठे और "जब न्यायप्राप्तिके अन्य सब उपाय आजमाये जा चुके हों और बैकार साबित हो चुके हों ।" [हरिजन, २१ अप्रैल १९४६, पृ. ९३] उपवास प्रत्येक व्यक्तिके लिए और हर अवसरके लिए नहीं होता । इसका अधिकार आलसी, शठ, अविवेकी या असंयमी व्यक्तिको नहीं होता; इसका अधिकार उसीको होता है जिसने विविध यम-नियमोंका पालन करके अपनेको उसके लिए पूर्णतः योग्य बना लिया है और जिस ध्येयके लिए वह कष्ट-सहन करनेको तैयार हुआ है उसके लिए कठोर परिश्रम करके अपनी सचाई और लगन साबित कर चुका है ।

५. श्रद्धाके बिना किये जानेवाले उपवासके विनाशकारी परिणाम हो सकते हैं। "सत्य और अहिंसाके अलावा सत्याग्रहीको यह विश्वास होना चाहिये कि ईश्वर उसे आवश्यक बल देगा और यदि उपवासमें जरासी भी अशुद्धता होगी तो वह तुरंत उपवास छोड़ देनेमें संकोच नहीं करेगा । अनन्त धैर्य, दृढ़ निश्चय, एक ध्येयके प्रति निष्ठा, पूर्ण शान्ति और अक्रोध तो आवश्यक रूपमें होने ही चाहिये।" [हरिजन, १३ अक्तूबर १९४०, पृ. ३२२] परन्तु किसी व्यक्तिके लिए इन सब गुणोंका एकदमसे विकास कर लेना असंभव है । इसलिए गांधीजी कहते थे कि "जिसने अहिंसाके नियमों पर चलनेका व्रत नहीं लिया हो, उसे सत्याग्रही उपवास नहीं करना चाहिये।" [वही]

६. उपवासका उद्देश्य स्पष्ट, निश्चित, समझमें आने लायक और संभव होना चाहिये । उपवासीको उसके साथ तादात्म्य साध लेना चाहिये ।

७. आध्यात्मिक साहसमें सौदेबाजीकी गुंजाइश नहीं हो सकती । इसलिए सत्याग्रहमें "अल्पतम अधिकतम भी होता है।" क्रोध, हठ या अभिमानके कारण अथवा अल्पतम शर्तें पूरी हो जानेके बाद सफलताके नशेमें उपवासको लम्बाना उसकी सफलताके लिए उतना ही हानिकारक हो सकता है, जितना कमजोरीसे या निर्णय-शक्ति अथवा समझके अभावसे उसको समयसे पहले छोड़ देना हो सकता है। (देखिये खण्ड-२, पृ. २१३-१४)

८. सत्याग्रहके रूपमें उपवास करनेकी योग्यताओंमें उपवासके समय अपनी शक्ति और शारीरिक तथा मानसिक क्षमताको टिकाये रखनेके नियमोंका ज्ञान भी शामिल है। [उपवासके लिए गांधीजीने ये नियम बताये थे : (१) आरम्भसे ही अपनी शारीरिक और मानसिक दोनों तरहकी शक्तिकी रक्षा करो। (२) उपवासके समय आहारका विचार करना बिलकुल छोड़ दो। (३) सोडे और नमकके साथ या उनके बिना ठंडा पानी जितना पी सको पीओ। परन्तु एक बारमें पानीकी थोड़ी मात्रा लो। (पानीको उबाल कर और छान कर ठंडा कर लेना चाहिये।) नमक और सोडेसे डरो मत, क्योंकि स्वाभाविक स्थितिमें अधिकांश पानीमें ये दोनों क्षार होते हैं। (४) रोज गरम

पानीमें भिगोये तौलियेसे शरीरको पोंछो। (५) उपवासके दिनोंमें दस्तके लिए नियमित एनिमा लो। तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि रोज कितना मल निकलता है। (६) खुली हवामें अधिकसे अधिक सोओ। (७) प्रातः- कालकी धूपका सेवन करो। सूर्यस्नान और वायुस्नान उतना ही शुद्धिकारक है जितना जलस्नान। (८) उपवासके सिवा और किसी भी बातका विचार न करो। (९) उपवास किसी भी हेतुसे क्यों न किया गया हो, इस बहुमूल्य समयमें अपने सर्जनहार प्रभुका विचार करो और उसके साथ तथा उसकी दूसरी सृष्टिके साथ अपने संबंधका विचार करो। इससे तुम्हें ऐसी-ऐसी बातोंका पता लगेगा, जिनकी तुमने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की होगी। - तेन्दुलकर तथा अन्य लोगों द्वारा सम्पादित, 'गांधीजी: हिज़ लाइफ एण्ड वर्क', बम्बई, १९४४, पृ. ३७१] गांधीजी कहते थे कि ईश्वर और उसका कानून एक ही है, इसलिए शरीरकी आवश्यक देखभाल और रक्षा-सम्बंधी प्राकृतिक नियमोंका ज्ञान और पालन ईश्वरकी भावनासे परिपूर्ण मनुष्यका स्वभाव बन जाना चाहिये।

९. उपवासकी शर्तें प्रत्येक व्यक्तिके स्वभाव और शारीरिक स्थितिके अनुसार, उपवासके उद्देश्यके अनुसार, बदलनेवाली परिस्थितियोंके अनुसार या उपवासके दिनोंमें उत्पन्न होनेवाली अनपेक्षित परिस्थितियोंके अनुसार बदल सकती हैं। उदाहरणार्थ, गांधीजी अपने उपवासोंमें सामान्यतः सोडा-बाइकार्ब और नमकके साथ या इनके बिना पानी लेते थे। परन्तु खास तौर पर उपवासके समय सादे पानीके प्रति जो अरुचि उन्हें दक्षिण अफ्रीकाके चौदह दिनके उपवासके बाद पैदा हो गई थी, उसके कारण वे पानीको पीने लायक बनानेके लिए कभी-कभी उसमें खट्टे या मीठे नीबूका रस मिला लेते थे। १९२४ में हिन्दू-मुस्लिम एकताके लिए किये गये अपने इक्कीस दिनके उपवासमें जब बहुत चौंकानेवाले लक्षण दिखाई दिये, तब वे ग्लूकोसका एनीमा लगवाने लगे। उन्होंने समझाया कि उपवास मैंने प्रायश्चित्त करनेके लिए किया था, न कि अपना प्राणान्त करनेके लिए। और चूंकि बह अनिश्चित अवधिके लिए था और "कमसे कम" २५१ दिन तक उसे जारी रखनेका मैंने व्रत लिया था, और "आवश्यक होने पर" उस अवधिसे अधिक भी उपवास लम्बाया जा सकता था, इसलिए एनीमामें ग्लूकोस मिला देनेसे उपवासके फलस्वरूप

होनेवाली संभाव्य मृत्युके अंतिम खतरेमें अथवा इस प्रकारके उपवासके फलस्वरूप होनेवाले आत्मिक कष्टमें कोई फर्क नहीं पड़ता ।

१०. उपवास "सत्यकी प्रार्थनापूर्ण खोजका तर्कसंगत परिणाम" है । इसलिए सत्याग्रही अपने उपवासके अपेक्षित परिणाम न निकलने पर न तो निराशाका अनुभव करेगा और न वह अपने सत्याग्रहको असफल मानेगा । वह "बहरे ईश्वरसे उत्तर पाने" की कोशिशमें "चुपचाप और वीरतापूर्वक" मिट जानेमें सन्तोष मानेगा और ईश्वर तथा अहिंसामें उसकी श्रद्धा जरा भी कम नहीं होगी । जैसा गांधीजी प्राय: कहते थे : "ईश्वर हमारी प्रार्थनाका उत्तर सदा उसी तरह नहीं देता जिस तरह हम चाहते हैं । उसके लिए जीवन और मृत्यु एक ही हैं और इस बातसे भला कौन इनकार कर सकता है कि संसारमें जो भी पवित्र और अच्छा है वह सब इसलिए टिका रहता है कि हजारों अज्ञात वीरों और वीरांगताओंने उसके लिए मूक भावसे अपने प्राण न्योछावर किये हैं ?" [तेन्दुलकर तथा अन्य लोगों द्वारा सम्पादित, 'गांधीजी: हिज़ लाइफ एण्ड वर्क', बम्बई, १९४४, पृ. ३६८]

गांधीजीके उपवास "अन्तरात्माकी आवाज" को मानकर किये गये थे । सब कुछ कहने और करनेके बाद यह पूछा जा सकता है कि उपवास जितना "ज्ञान" के कारण हो सकता है उतना ही "भ्रम" के कारण भी क्या नहीं हो सकता ? गांधीजी चेतावनी देते हैं कि यह बिलकुल संभव है और इसके बारेमें जितनी सावधानी रखी जाय उतनी ही थोड़ी है ।

"अन्तरात्माकी आवाज" क्या है ? वह "सत्यरूपी ईश्वर" की आवाज है; वह निर्मल बुद्धि, अंतर्ज्ञान और अन्तःकरणका नाद है । उसकी फुसफुसाहट सुनाई तो प्रत्येक हृदयमें देती है, परन्तु हर मनुष्यमें उसे सुननेकी शक्ति नहीं होती । इस शक्तिको प्राप्त करनेके लिए कुछ नियम बताये गये हैं । "जो लोग सत्यरूपी ईश्वरकी खोज व्यक्तिगत रूपमें करते है उन्हें कई व्रतोंका पालन करना होता है, उदाहरणार्थ, सत्यका व्रत, ब्रह्मचर्यका व्रत – क्योंकि सत्य और ईश्वरके प्रेममें दूसरे किसीको हिस्सेदार नहीं बनाया जा सकता – अहिंसा, दरिद्रता और अपरिग्रहका व्रत

। जब तक आप ये पांच व्रत नहीं लेते तब तक आप यह प्रयोग आरंभ ही नहीं कर सकते ।" [यंग इंडिया, ३१ दिसम्बर १९३१, पृ. ४२८]

गांधीजी कहते थे कि मैं वे नियम तो बता सकता हूं जिनका पालन अंतर्नादको सही रूपमें सुननेके लिए आवश्यक है, परन्तु फिर भी सत्य मेरे हाथ नहीं लगा है । [हरिजन, ७ अक्तूबर १९३९, पृ. २९९] तब सत्य और असत्यके बीच भेद करनेका क्या तरीका है ? दुर्भाग्यवश कोई नहीं । "केवल परिणामसे ही यह जाना जा सकता है । ईश्वर ईश्वर नहीं रहेगा, यदि वह अपने प्राणियोंके द्वारा स्वयंको प्रमाणका विषय बनने दे । परन्तु वह स्वेच्छासे बने हुए अपने दासको भयंकर अग्नि-परीक्षाओंमें से गुजरनेकी शक्ति अवश्य देता है ।" [हरिजन, ६ मई १९३३, पृ. ४] अपने लिए तो मैं इतना ही दावा करता हूं कि "आत्मशुद्धि प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करके" मैंने " 'मंद शान्त भीतरी आवाज' को सही और स्पष्ट रूपमें सुन सकनेकी थोड़ीसी शक्ति" [प्यारेलाल, 'एपिक फास्ट', अहमदाबाद, १९३२, पृ. ३४] प्राप्त कर ली है ।

'अन्तर्नाद' को सुनना स्वयं एक विशिष्ट अनुभव है । "अन्तर्नादका शब्दोंमें वर्णन नहीं किया जा सकता ।" [दि डायरी ऑफ महादेव देसाई, भाग - १, अहमदाबाद, १९५३, पृ. २७५] अन्तिम परीक्षामें वह स्वयं ही अपनी मुहर और अपना प्रमाण है । "कभी-कभी हमें . . . अनुभव होता है कि हम भीतरसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं ।" [वही] "हमारे जीवनमें ऐसे क्षण आते हैं जब हमारे लिए बाहरके प्रमाणकी जरूरत नहीं होती । हमारे भीतरकी धीमी आवाज हमसे कहती है : 'तुम सही रास्ते पर हो; दायें या बायें न मुड़ो; सीधे और तंग रास्ते पर चलते रहो' ।" [हिंगोरानी द्वारा सम्पादित 'गॉड इज़ ट्रुथ' में गांधीजीका उद्धरण, बम्बई, १९५७, पृ. ३३] जीवनमें ऐसे क्षण आते हैं जब "हमें कम करना ही चाहिये, भले ही हमारे साथ हमारे उत्तम मित्र भी न चल सकें" [यंग इंडिया, ४ अगस्त १९२०, पृ. ३] और सारी दुनियाका भी हमें विरोध करना पड़े । यदि किसी मनुष्यने "सचमुच" ईश्वरकी आवाज सुन ली है, तो वह "पीछे नहीं हट सकता, जैसे तैरना सीखकर उसे भुलाया नहीं जा सकता ।" [हरिजन, ७ अक्तूबर १९३९, पृ. २९९]

चूंकि ईश्वर निराकार है, इसलिए उसकी आवाजको सुनना दुनियवी आवाजको सुननेसे बिलकुल भिन्न वस्तु है। किन्तु गांधीजीने एक अवसरका सजीव वर्णन किया है, जब उन्होंने ऐसी एक "आवाज" निश्चित रूपसे सुनी थी। १९३२ में वे जेलखानेमें थे। यरवडाके ऐतिहासिक उपवासके अन्तमें उन्होंने अस्पृश्यताको जड़से मिटा देनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी। उस उपवासके परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश मंत्रि-मंडलको अपना वह निर्णय बदल देना पड़ा था, जो उसने भारत सरकारके लिए तैयार हो रहे १९३५ वाले शासन-विधानमें हरिजनोंके लिए पृथक् निर्वाचन-पद्धति दाखिल करनेके बारेमें लिया था। गांधीजीको एकमात्र हरिजन-कार्यके लिए प्रकाशित होनेवाले 'हरिजन' साप्ताहिकको जेलसे सम्पादित करनेकी इजाजत दी गई थी। बादमें वह इजाजत सरकारने वापस ले ली। इससे गांधीजीके सामने हिन्दूधर्मके माथेसे अस्पृश्यताका कलंक मिटा देनेके बारेमें हरिजनोंको उन्होंने जो शपथपूर्ण वचन दिया था, उसे पूरा न कर सकनेकी संभावना खड़ी हो गई। "मेरे भीतर कुछ दिनसे तूफान मच रहा था। मैं उससे लड़ रहा था। 'हरिजन-दिवस' की पहली शामको भीतरकी आवाज आग्रहपूर्वक कहने लगी 'तुम यह करते क्यों नहीं ?' मैंने उसका विरोध किया। परन्तु मेरा विरोध व्यर्थ हुआ।" [हरिजन, ६ मई १९३३, पृ. १] वे लिखते हैं : "मैंने कोई आकार नहीं देखा। मैंने कभी कोशिश ही नहीं की, क्योंकि मैंने ईश्वरको सदा निराकार माना है। परन्तु जो कुछ मैंने सुना वह एक आवाज जैसी थी, जो दूरकी होते हुए भी विलकुल निकट थी। वह उतनी ही असंदिग्ध थी जितनी मुझसे निश्चित रूपमें बोलती हुई कोई मानवीय आवाज हो सकती है; और उसे रोका नहीं जा सकता था। जब मैंने वह आवाज सुनी उस समय मैं कोई सपना नहीं देख रहा था। आवाज सुननेसे पहले मेरे भीतर भयंकर संघर्ष हुआ। अचानक मुझे यह आवाज सुनाई दी। मैंने सुना और मुझे निश्चय हो गया कि यह भीतरकी आवाज ही है। मेरे भीतरका संघर्ष बन्द हो गया। मैं शान्त हो गया। तदनुसार मेरा निश्चय हो गया, उपवासकी तारीख और घड़ी निश्चित कर दी गई। मुझ पर हर्ष छा गया। यह रातके ११ और १२ बजेके बीचकी बात है। मुझे ताजगी महसूस हुई और मैं वह लेख लिखने लगा, जो पाठकोंने देखा ही होगा।" [हरिजन, ८ जुलाई १९३३, पृ. ४]

उसी अनुभवका गांधीजीके ही द्वारा किया गया यह दूसरा वर्णन है : "पिछली रातको सोनेसे पहले मुझे कोई कल्पना ही नहीं थी कि दूसरे दिन सुबह में २१ दिनके उपवासकी घोषणा करने जा रहा हूं। परन्तु मध्यरात्रिमें एक आवाजने मुझे जगाकर कहा : "तू उपवास कर। मैंने पूछा : 'कितने दिनका ?' उत्तर मिला : '२१ दिनका।' अब मैं आपको बता दूं कि मेरा मन इसके लिए तैयार नहीं था, उपवासकी ओर मेरा झुकाव नहीं था। परन्तु यह बात मेरे सामने उतने ही स्पष्ट रूपमें आई जितनी और कोई बात आ सकती थी।" [हरिजन, १४ मई १९३८, पृ. ११०]

किन्तु दूसरे ऐसे भी अवसर आये जब ऐसी कोई आवाज नहीं सुनी गई। "१९३० के दांडीसे सम्बन्धित नमक-कूचको लीजिये। मुझे जरा भी कल्पना नहीं थी कि नमक-कानूनका भंग कैसे किया जायगा। . . . मित्र लोग नाराज हो रहे थे; वे नहीं जानते थे कि मैं क्या करूंगा। और मैं उन्हें कुछ बता नहीं सकता था, क्योंकि मैं स्वयं ही उसके बारेमें कुछ नहीं जानता था। परन्तु एक क्षणमें सब कुछ हो गया और, जैसा आप जानते हैं, उसने देशको एक कोनेसे दूसरे कोने तक हिला दिया।" [वही]

एक और अवसर वह था जब गांधीजीने ६ अप्रैल, १९१९ को दमनकारी रौलट कानूनके विरोधमें "उपवास और प्रार्थना" का एक अखिल भारतीय दिवस घोषित किया। उस दिन भारतने सविनय अवज्ञाके युगमें प्रवेश किया। "आखिरी दिन तक मैं ६ अप्रैल, १९१९ को उपवास और प्रार्थनाके दिवसके रूपमें घोषित करनेके बारेमें कुछ भी नहीं जानता था। परन्तु मुझे उसका सपना आया – १९३२ की तरह कोई आवाज या दर्शन नहीं था – और मुझे इतना ही महसूस हुआ कि यही किया जाना चाहिये। प्रात:काल ही मैंने . . . देशके सामने इसकी घोषणा कर दी। फिर तो आप जानते ही हैं कि जनताने हृदयसे इसका कैसा अद्भुत उत्तर दिया।" [वही]

इन सब अवसरों पर जो बात समान थी वह यह है कि गांधीजीको प्रेरणा बुद्धिसे नहीं परन्तु अंतर्ज्ञानसे मिली। उन्होंने लिखा है : जब मैंने "अन्तर्नाद" को पहचानना सीखा वह समय १९०६ के आसपासका है। "उसे आप मेरी प्रार्थनाका समय कह सकते हैं।" [दि डायरी ऑफ

महादेव देसाई, भाग - १, अहमदाबाद, १९५३, पृ. २७५] परन्तु तब भी वह "ईश्वरकी इच्छाके विशेष प्रकटीकरण" अथवा एकाएक होनेवाले असामान्य अनुभवके रूपमें नहीं आया ।

बादमें गांधीजीने यह प्रमाणित किया कि "जैसे जैसे समय बीतता गया . . . वैसे वैसे यह आवाज अधिकाधिक स्पष्ट सुनाई देने लगी ।" [हरिजन, ६ मई १९३३, पृ. ४] . . . परन्तु जहां सत्यके एक विनम्र साधकके नाते वे इस संभावनाको कभी नजरअन्दाज नहीं करते थे कि यह आवाज सुननेमें उन्हें भ्रम या धोखा हो सकता है, वहां वे पूरी दृढ़तासे यह कहते थे कि मेरे अंतर्ज्ञानने "मुझे एक बार भी धोखा नहीं दिया ।" [हिंगोरानी द्वारा सम्पादित 'गॉड इज़ ट्रुथ' में गांधीजीका उद्धरण, बम्बई, १९५७, पृ. ४१]

जनवरी १९४८ में गांधीजीका दिल्लीवाला उपवास छूटा उसके बादके सप्ताहमें विन्सेन्ट शीअनने उनसे पूछा : यह क्या बात है कि आपको तो यह विश्वास है कि आपसे "भीतरकी आवाज" ही बात करती है, जब कि भीतरकी आवाज सुननेवाले दूसरोंको इस बातका विश्वास नहीं होता ?

गांधीजीने उत्तर दिया : तर्क तो सभी इसके खिलाफ थे, परन्तु "जो नियम सभी तर्कोंसे ऊपर है उसने तर्कके विरुद्ध इस उपवासका आदेश दिया ।" जब ऐसा होता है तब मैं निश्चित रूपसे यह मानता हूं कि यह "मेरे भीतरके जीवित नियम" का आदेश है, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता ।

गांधीजीके मुलाकातीने फिर पूछा : "क्या यह निश्चितता समर्पणसे पहले होती है ?" दूसरे शब्दोंमें अन्तर्नादके प्रति आपके समर्पणकी जड़ क्या यह निश्चितता है कि वह ईश्वरकी आवाज है? इसका उत्तर गांधीजीने यह दिया : "नहीं, समर्पण पहले होता है और निश्चितता बादमें आती है।" जब मैं सत्यरूपी ईश्वरके आगे पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता हूं और अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं रखता, दूसरे शब्दोंमें जब मैं "शून्य" बन जाता हूं, तभी मुझे यह निश्चय होता है कि जो आवाज मैं सुनता हूं वह "बढ़े हुए अहं" की प्रतिध्वनि नहीं, परन्तु ईश्वरकी आवाज है ।

इसलिए गांधीजी कहते थे : सारी मर्यादाओंके होते हुए भी "आमरण अनशन" द्वारा किये जानेवाले सत्याग्रहका बहुत दुरुपयोग नहीं हो सकता । "यह प्रक्रिया इतनी यातनापूर्ण है कि साधारण मानव तो उसको सहन करनेके विचारसे ही कांप उठता है ?" [प्यारेलाल, 'एपिक फास्ट', अहमदाबाद, १९३२, पृ. १४०] इसका भी बहुत खतरा नहीं कि यह लोकप्रिय हो जायगा या कोई बिना विचारे इसमें कूद पड़ेगा या बहुत समय तक इसे आग्रहपूर्वक जारी रखेगा । रही बात दंभकी, तो दुर्भाग्यवश उसका कोई उपाय नहीं । "परन्तु बहुत लोग किसी सद्गुणके विषयमें दंभका आचरण करेंगे ऐसे भयसे उसे दबा नहीं देना चाहिये ।" [हिंगोरानी द्वारा सम्पादित 'गॉड इज़ ट्रुथ' में गांधीजीका उद्धरण, बम्बई, १९५७, पृ. ३५] और किसी भी हालतमें कुछ धोखेबाजों या आत्म-वंचनामें फंसे हुए व्यक्तियोंकी कुमार्गगामी प्रवृत्तियोंसे बहुत हानि नहीं हो सकती । "दुनियाको हमेशा बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता ।" इसलिए दबाव डालनेके तमाम उपायोमें उपवास ही "ऐसा उपाय है जो कमसे कम हानि करता है ।"

सातवां अध्याय: पूर्णाहुति

मनुष्य अपने मानव-बन्धुओंके लिए अपने जीवनकी
आहुति दे इससे अधिक प्रेम मनुष्यमें नहीं हो सकता ।

सेण्ट जॉन, १५: २६

१

एक बार फिर युद्धपोतने युद्धकी कार्रवाई शुरू कर दी और वह ध्वजको झुकाये या दूषित किये बिना विजयी बन कर सामने आया । परन्तु उसके पेटेको इस बार बुरी तरह नुकसान पहुंचा था । कुछ दिन बाद आश्रमके एक निकटके साथीको अपने पत्रमें गांधीजीने लिखा: "मुझमें शक्ति फिरसे ठीक-ठीक आ रही है, परन्तु गुर्दे और लीवरको इस बार हानि पहुंची है । मेरी रायमें यह मेरी श्रद्धा और रामनामके मेरे अभ्यासमें दोषको बताता है ।" [गांधीजीका पत्र किशोरलाल मशरूवालाको, २९ जनवरी १९४८]

गुर्देकी हानि कुछ तो कलकत्तेवाले उपवासका परिणाम थी । परन्तु पहले भी कई बार गांधीजी ऐसे अनुभवोंमें से बाहर निकले थे और डॉक्टरीकी पाठ्य-पुस्तकोंके सिद्धान्तोंको उन्होंने गलत सिद्ध कर दिया था । अपनी नियमित आदतों, संयत जीवन, आत्मानुशासन, अनासक्ति और संतुलनके कारण उनके शरीरमें जल्दी ही क्षतिपूर्ति कर लेनेकी काफी क्षमता अब भी बाकी थी; उनके शरीरकी अच्छी रक्षा हुई थी, वह पुष्ट था और लचकीला था; उनकी विभिन्न शक्तियां और इन्द्रियां ज्योंकी त्यों थीं और उत्तम काम करती थीं । नींद पर उनका पूरा काबू था । गांधीजी कहा करते थे : "जब नींद पर मेरा काबू नहीं रहेगा, तब मैं खतम हो जाऊंगा । वह केवल शारीरिक ह्रासका ही चिह्न नहीं होगा, चैतन्यके ह्रासका भी चिह्न होगा । सारा ह्रास चैतन्यसे आरंभ होता है, फिर उसका प्रभाव शरीर पर होता है और अन्तमें आसपासके वातावरण पर ।" स्मरण-शक्ति कभी-कभी धोखा देती दिखाई देती थी, परंतु मस्तिष्क उस्तरेकी धारकी तरह तीक्ष्ण, शक्तिशाली और जाग्रत था; उनकी निर्णय-शक्ति अद्भुत रूपमें निश्चित थी और अंतर्ज्ञानकी शक्तियां पहलेसे

अधिक अचूक बन गई थीं। इतनी उमरमें भी वे आश्चर्यजनक मात्रामें शारीरिक और स्थिर बैठकसे एकाग्र मानसिक कार्य कर सकते थे। उनकी आध्यात्मिक शक्तियां चरम सीमा पर पहुंच गई थीं। देश-विदेशमें उनकी प्रतिष्ठा जितनी ऊंची आज थी उतनी पहले कभी नहीं थी।

अब गांधीजी क्या करेंगे ? क्या पाकिस्तान जाकर वहां भी कलकत्ते और दिल्लीका-सा चमत्कार दिखायेंगे ? उन्होंने कुछ ऐसी बात भी कही थी कि यदि दिल्लीमें मुझे सफलता मिल गई, तो मैं काश्मीर जाकर देखूंगा कि मेरी कल्पनाकी अहिंसा वहां क्या कर सकती है।

अहिंसा द्वारा स्वाधीनता प्राप्त कर लेनेके कारण अपने अधिकारोंके लिए लड़नेवाली एशिया और अफ्रीकाकी समूची प्रजाओंका ध्यान भारत पर केन्द्रित हो गया था। ऐसा दिखाई देता था कि वह समय आ पहुंचा है, जिसका गांधीजीने दस महीने पूर्व एशियन रिलेशन्स कान्फरेन्समें जिक्र किया था, जब जाग्रत और संयुक्त एशिया पूर्वका कालातीत सन्देश संसारको फिरसे सुनायेगा। उपवाससे कुछ समय पहले कुछ चीनी यात्रियोंसे गांधीजीने कहा था: "यदि एशिया प्रकाश नहीं दे सका, तो संसारका भविष्य अंधकारमय है। समस्त एशियाई देशोंमें हृदयोंकी पूरी एकता होनी चाहिये।" यदि एशिया अपना मूल आधार छोड़कर पश्चिमकी पद्धतिको अपना लेगा, तो सभ्यताके भविष्य और जगतकी क्रान्तिके लिए यह हानिकारक सिद्ध होगा।

क्या गांधीजी अपना ध्यान अब इस व्यापक प्रश्नकी ओर लगायेंगे ? इसका दारमदार इस बात पर था कि स्वाधीन भारत कैसा व्यवहार करता है। गांधीजी हमेशा कहा करते थे कि मेरी शिक्षा भारतमें सफल होगी तो ही उसे संसारके सामने प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्होंने भारतमें लोकतंत्रको अभी अभी गतिमान करना शुरू किया था। परन्तु यह लोकतंत्र वह नहीं था, जो पश्चिममें प्रचलित है। यह उनकी कल्पनाका सच्चा लोकतंत्र था, जिसमें "निर्बलसे निर्बल भी बलवानसे बलवानके बराबर होता है।"

नियंत्रण (कंट्रोल) हटवानेकी लड़ाई अभी आधी ही जीती गई थी । नियंत्रणका तंत्र एक भीमकाय स्थापित स्वार्थ बन चुका था । एक बार गांधीजीने कहा था : मैं "शहरों द्वारा उत्पादकोंकी लूट बंद करानेके लिए", आम लोगोंको स्वतंत्र भारतके नागरिकोंके नाते उनके अधिकार और कर्तव्य सिखानेके लिए और राष्ट्रीय नेताओंसे यह कहनेके लिए कि स्वातंत्र्य-युगके दिनोंमें उन्होंने जनताको जो वचन दिये हैं उन्हें वे पूरा करें, समस्त भारतकी यात्रा करना चाहता हूं । वे इस आवश्यकता पर भी जोर देते रहे थे कि युवकोंको संगठित करके उन्हें नये कामकी जिम्मेदारी उठानेके लिए उसी तरह तैयार किया जाय "जैसे असहयोग आन्दोलनके प्रारंभमें हमने उन्हें आजादीकी लड़ाईमें शरीक होनेका निमंत्रण दिया था ।" उन्होंने इशारा किया था कि यह उनकी स्वाधीनताके बादकी प्रवृत्तियोंमें से एक हो सकती है । स्वाधीनताके बाद भारतवर्ष जिस मार्ग पर चल रहा था उससे वे बड़े दुःखी हो गये थे । भारतके स्वाधीन होनेके कुछ समय बाद उनकी मंडलीके एक सदस्यने उनसे पूछा : "भारत तो स्वतन्त्र हो गया । अब आप कौनसा कार्य हाथमें लेंगे ?" उन्होंने उत्तर दिया : "देशकी राजनीतिको सुधारने और शुद्ध करनेका कार्य ।" १९३० में उन्होंने लिखा था : "मैं जानता हूं कि यदि मैं स्वाधीनता-संग्रामके बाद जीवित रहा, तो शायद मुझे अपने ही देशवासियोंसे अहिंसक लड़ाइयां लड़नी पड़ें और वे उतनी ही उग्र हो सकती हैं जितनी उम्र मैं आज लड़ रहा हूं ।" अपने जीवनके संध्याकालमें भी गांधीजीमें एक और संग्राम छेड़नेकी पूरी क्षमता थी । साधारण मनुष्योंके लिए संग्राम किसी उद्देश्य-पूर्तिका साधन मात्र होता है । गांधीजीके लिए वह साधन और साध्य दोनों होता था । अत्यन्त तपे हुए योद्धा भी कभी कभी थकावट और पैरोंका दर्द अनुभव कर सकते हैं; जीतके बाद अपने यशके बल पर आराम लेनेकी इच्छा रख सकते हैं; परन्तु गांधीजीके बारेमें यह बात नहीं थी । उनके लिए जीवन एक अनन्त द्वंद्व था, सतत खोजका विषय था । हमारे परिचित लोगोंमें से केवल गांधीजी ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जो हमें सदा यह अनुभव कराते थे कि "उत्तम कार्य अभी होना बाकी है ।" मौजूदा मामलेमें उनके जीवनका "उत्तम कार्य" इस प्रकार सिद्ध होनेवाला था, जिसकी किसीने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की थी ।

उपवास टूटनेके दो दिन बाद २० जनवरी, १९४८ को जब गांधीजी अपना प्रार्थना-प्रवचन कर रहे थे, एक जोरका विस्फोट हुआ । प्रार्थना-सभामें इससे हलकीसी हलचल हुई । एक जोशीली आवाजमें, जो आकाश-वाणीके टेप रेकार्डमें धमाकेके साथ आज भी सुनी जा सकती है, गांधीजीने सभाको घबराने पर फटकारा : "अगर हम इस तरह न-कुछ-सी बात पर घबरा जायंगे, तो सचमुच कुछ हो जाने पर तो हमारा क्या हाल होगा ? . . . सुनो ! सुनो ! सब लोग सुनो कि . . . कुछ नहीं हुआ है । . . ." (थोड़ी-सी दु:खपूर्ण हंसी और मौन) थोड़ी देर बाद फिरसे शान्ति हो गई । बादको पता चला कि जहां गांधीजी बैठे थे वहांसे लगभग ७५ फुट दूर एक बम फटा था और उससे दीवारका एक हिस्सा गिर गया था । आक्रमण करनेवाला था लगभग २५ वर्षका मदनलाल पहवा नामक एक नौजवान, जो पश्चिम पंजाबका एक निराश्रित था । उसे गिरफ्तार करके हथकड़ियां पहना दी गई थीं । तलाशी लेने पर उसके पास एक हथगोला पाया गया । अपने किये पर उसे कोई पश्चात्ताप हो रहा हो, ऐसा नहीं लगता था ।

गांधीजीके बच जाने पर हर तरफसे बधाइयां आने लगीं । परन्तु घनश्यामदास बिड़लाका नौकर हरिराम, जो बिड़ला-भवनमें गांधीजीकी सेवा किया करता था (देखिये खण्ड-२, पृ. १९३), जन-साधारणके विचारोंको प्रकट करते हुए बोला कि ये सब बातें अप्रस्तुत हैं । महात्माजी तो स्वयं ईश्वरके अवतार हैं, उन्हें कोई कैसे मार सकता है ! किसीको इस घटना पर विश्वास ही नहीं होता था ।

दूसरे दिन गांधीजीने अपनी प्रार्थना-सभामें समझाया : जब मैंने विस्फोटकी आवाज सुनी तो मैंने समझा कि सेनावाले अपनी दैनिक चांदमारीका अभ्यास कर रहे हैं । प्रार्थनाके बाद तक मैं यह नहीं समझ पाया था कि वह बमका विस्फोट था और बम मुझे मारनेके लिए फोड़ा गया था । यह मुझे मालूम होता तो मेरा व्यवहार कैसा होता, यह कौन कह सकता है ? इसलिए मैं प्रशंसाका पात्र नहीं हूं । प्रमाण-पत्रका अधिकारी मैं तभी होऊंगा जब ऐसे विस्फोटसे घायल होकर गिरने पर भी मेरे चेहरे पर मुस्कुराहट हो और आक्रमणकारीके प्रति मेरे मनमें कोई दुर्भावना न हो । जिस गुमराह नौजवानने यह बम फेंका है, उसके प्रति कोई दिलमें तिरस्कार या

रोष अथवा क्रोध न रखें । कदाचित् यह नवयुवक मुझे हिन्दू धर्मका शत्रु मानता है और स्वयंको मुझे हटा देनेके लिए ईश्वरका भेजा हुआ साधन मानता है । कोई भी मनुष्य इतना पूर्ण नहीं है कि वह स्वयंको उचित रूपमें पापियोंको दण्ड देनेके लिए ईश्वर द्वारा चुना हुआ साधन मान सके – जैसा कि मेरे मामलेमें इस युवकने समझ लिया दीखता है । यह भी जरूरी नहीं है कि जो आदमी हमसे मतभेद रखता हो वह बुरा ही हो । आपको उस युवक पर दया करनी चाहिये और अपने अपने हृदयोंको टटोलना चाहिये । यदि मेरे प्राण बचानेके लिए शान्ति बनाये रखनेकी प्रतिज्ञा करने पर भी आपके मनमें अभी तक मेरे उपवासके प्रति रोष हो, तो दोष आपका है, न कि उस युवकका जिसने बम फेंका है । इसके विपरीत, यदि आपने सच्चे हृदयसे प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किये हैं, तो इस नौजवानके जैसे लोग भी अन्तमें आपके विचारके बन जायंगे । मैं पुलिससे अपराधीको छोड़ देनेके लिए नहीं कह सकता । “मैं ऐसा भी कर देता, अगर अपराधीने यह अनुभव कर लिया होता कि उसने अपने इस कार्यसे हिन्दू धर्म, इस्लाम, भारत और समस्त संसारकी कुसेवा की है, और सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप किया होता ।” मौजूदा स्थितिमें मेरा कोई हस्तक्षेप अधिकारियोंको परेशानीमें ही डालता और कानून तथा व्यवस्थाकी रक्षाका उनका कार्य – जो पहले ही कठिन है – और भी कठिन हो जाता । मैं पुलिससे अपील करता हूं कि वह इस नौजवानको तंग न करे । पुलिसको चाहिये कि उसका दिल जीत कर वह उसे सही विचार और सही कार्य करनेवाला बना ले । श्रोताओंके लिए यह सीख है कि भविष्यमें वे प्रार्थना जारी रखनेकी सामर्थ्य प्राप्त करें, “भले एक नहीं, ऐसे कितने ही बम फटें या गोलियां भी बरसें ।” जो लोग इस युवकके समर्थक हैं उनसे अपना गलत रास्ता छोड़ देनेकी मै अपील करता हूं । हिन्दू धर्मको बचानेका यह मार्ग नहीं है ।

गांधीजीको बताया गया कि उनके एक साथी कार्यकर्ताने प्रश्न किया था : जब मामला अदालतके विचाराधीन है तब गांधीजीने बमके विस्फोटको अपनी जान लेनेका प्रयत्न कहकर अदालती कार्रवाई और फैसलेमें क्या बाधा नहीं डाली है ? सारा मामला अन्तमें एक गैर-जिम्मेदार

नौजवानके हाथका निर्दोष खेल भी साबित हो सकता है । गांधीजी हंसे और बोल उठे : "मूर्ख ! तुम देखते नहीं कि इसके पीछे एक भयंकर और व्यापक षड्यन्त्र है ?"

बादमें जब इस षड्यन्त्रका पता चला तो मालूम हुआ कि बिड़ला-भवनका बम-विस्फोट तो उसका एग भाग ही था और इस षड्यन्त्रके पीछे पूनाके 'हिन्दू राष्ट्र' के सम्पादक नाथूराम विनायक गोडसे (देखिये खण्ड-१, पृ. ११४) का और उसके व्यवस्थापक नारायण डी. आप्टेका दिमाग काम कर रहा था । बादमें अलग अलग मंजिलों पर उनके साथ शरीक हुए दिगम्बर डी. बाड़गे जो पूनामें हथियारोंकी दुकान चलाता था; नाथूराम गोडसेका भाई गोपाल गोडसे; करकरे, मदनलाल और कुछ दूसरे लोग । मदनलालके सिवा सभी व्यक्ति महाराष्ट्रीय थे और हिन्दू महासभा अथवा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सदस्य थे ।

महाराष्ट्रमें सैनिक ढंगके उग्र हिन्दू राष्ट्रवादकी एक प्रबल परम्परा रही है । वह अत्यन्त एकांगी और कठोर प्रकारकी ब्राह्मण कट्टरताका गढ़ है । आत्म-समर्पण, देशभक्ति, त्याग और वैराग्यमें उसने ऐसे आदर्श व्यक्ति पैदा किये, जिनका सानी मिलना मुश्किल है । परन्तु उसके आदर्शवादके साथ प्रायः विषम प्रकारका व्यवहारवाद और जीवन तथा राजनीतिका द्वेषपूर्ण दृष्टिकोण मिला रहा है, जो गांधीजीके दृष्टिकोणसे बिलकुल विपरीत था । इस दृष्टिकोणके कुछ समर्थकोंको किसी न किसी तरह, सर्वथा अकारण, ऐसा लगने लगा कि गांधीजीके तत्त्वज्ञानके उत्थानसे महाराष्ट्रके महान नेता स्वर्गीय लोकमान्य तिलककी स्मृति तथा उनके जीवन-कालमें महाराष्ट्रको देशकी राजनीतिमें प्राप्त हुआ वर्चस्व लुप्त हो रहा है । वे गांधीजीके राजनीतिक नेतृत्व और अहिंसाके आन्दोलनके प्रति प्रबल विरोध और निराशाकी भावना रखते थे; और उनकी यह भावना एक-चौथाई शताब्दीसे भी अधिक काल तक गांधीजीके विरुद्ध निन्दाकी मुहिमके रूपमें प्रकट होती रही । इसके बावजूद, महाराष्ट्रमें दिनोंदिन बढ़नेवाला एक वर्ग गांधीजीके झंडेके नीचे आता गया, इस कारण वे और भी नाराज हुए और उनकी निराशाकी भावना और भी गहरी हो गई । इसी वर्गने पूनामें १९३४ में गांधीजी पर बम फेंकनेका प्रयत्न किया था । उस समय गांधीजी अपने अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलनमें लगे हुए थे । इस बार उनकी

योजना कहीं अधिक व्यवस्थित और पूर्ण थी । इस योजनामें ऐसी ऐसी बातें भी शामिल थीं – नौजवानोंके मानसको उनके भावी कार्यके खातिर तैयार करनेके लिए उन्हें जो शिक्षा दी जाती उसके अंगस्वरूप गांधीजीके अलावा पंडित नेहरू और दूसरे कांग्रेसी नेताओंके चित्र जूतोंमें रखे जाते और उन्हें ही चांदमारीमें पिस्तौलका निशाना भी बनाया जाता, इत्यादि ।

दिल्लीमें गांधीजीके शान्ति-मिशनसे क्रोधित होकर इस गुटने उन्हें खतम कर देनेका निश्चय कर लिया । गांधीजीके उपवाससे और उसके बाद भारत सरकार द्वारा पाकिसतानको ५५ करोड़ रुपये दे दिये जानेसे ये लोग और भी क्रुद्ध हो गये । इससे भी बड़ी बात यह हुई कि काश्मीरसे हिन्दू नारियोंके प्रति किये जानेवाले अकल्पनीय अपराधोंकी कहानियां और अत्याचारोंके किस्से बराबर आते रहे । जान-बूझकर गढ़े हुए प्रचार द्वारा लोक-भावनाको व्यवस्थित ढंगसे उभाड़ा गया । एक दिन नौजवानोंका एक अत्यन्त उत्तेजित दल बिड़ला-भवनमें आया । उसके साथ एक चित्र भी था । उसमें काश्मीरकी हिन्दू स्त्रियोंको नंगी करके शहरमें उनका जुलूस निकाला जाता दिखाया गया था । यह चित्र स्पष्ट ही बनावटी था । परन्तु ऐसी बातोंसे लोगोंकी भावनायें खतरनाक हद तक भड़क उठती थीं । दुर्भाग्यवश पाकिस्तानकी हिमायतसे हमलावरोंने काश्मीरमें जो कुछ किया, वह तो किसी भी आविष्कारसे ज्यादा बुरा था । पाकिस्तानको दी गई ५५ करोड़की रकमका उपयोग काश्मीरमें भारतके खिलाफ लड़ी जा रही पाकिस्तानकी लड़ाईमें होनेकी पूरी संभावनाने आगमें घी डालनेका काम किया । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सीधे प्रोत्साहन, निर्देशन और नियन्त्रणमें एक विशाल संगठनका जाल बिछ गया था । उसका उद्देश्य यह था कि देशके विभाजनसे पूर्व और उसके पश्चात् – जब बड़ी संख्यामें लोगोंने अपना दिमाग पूरी तरह खो दिया था और कुछ समयके लिए तो मानवके रूपमें वे राक्षस ही बन गये थे – पाशविकता और प्रति-पाशविकता, प्रतिशोध और उत्तरमें लिये जानेवाले प्रतिशोधके क्रूर युद्धके एक अंगके रूपमें मुसलमानोंके खिलाफ मारकाटकी योजना तैयार करके उस पर अमल किया जाय । उसकी प्रवृत्तियोंमें शस्त्रास्त्र एकत्र करके लोगोंमें बांटना भी शामिल था । इससे देशमें नाजायज हथियारोंका जबर्दस्त व्यापार फैल गया था । नतीजा यह

हुआ कि हथियारोंकी बढ़ती हुई मांगसे लाभ उठानेके लिए देशभरमें बड़े-छोटे समूहों (एजेन्सियों) की एक विशाल शृंखला खड़ी हो गई थी । इससे लोगोंको देशप्रेम प्रकट करनेके साथ-साथ आर्थिक लाभ भी होता था ।

अपने वतनसे उखड़े हुए विराट् मानव-समुदायका देशकी सीमा पर जो सागर उमड़ रहा था वह अपने कष्ट-सहनके कारण निराश-हताश, अत्यन्त परेशान और विकृत बुद्धिवाला हो रहा था । उसमें इन संगठनोंको अपना अमानुषिक आन्दोलन चलानेवाले एजेन्ट तैयार करनेकी उर्वर भूमि मिल गई । इन्हींमें से एक मदनलाल पहवा था, जिसने प्रार्थना-भूमि पर बमका विस्फोट किया था । उसने इस आरोपित कारण पर कि उसे दूसरी कोई रहनेकी जगह नहीं मिल सकी, दिल्लीमें एक मस्जिद पर नाजायज कब्जा कर लिया था । जब पुलिसने ऐसी तमाम मस्जिदोंको खाली कराना शुरू किया, तो वह नाराज हो गया । पूनाके निकट अहमदनगरमें जब वह एक साथी षड्यन्त्रकारीकी दुकान पर सहायकका काम करता था, तब उसने एक कांग्रेसी वक्ता पर एक सार्वजनिक सभामें हमला करके नाम पैदा किया था । यह वक्ता साम्प्रदायिक एकता पर भाषण कर रहा था ।

१० जनवरी, १९४८ को नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टेने हथियारोंकी दुकानके माल्कि बाड़गेसे कहा कि वह उन्हें दो बारूदवाले पलीते, दो रिवाल्वर और पांच हथगोले दिलवा दे । बाड़गेने कहा कि उसके पास रिवाल्वर नहीं हैं । इस पर उससे कहा गया कि वह बारूदवाले पलीते और हथगोले बम्बईमें दे दे, जहां उसे दोनोंकी कीमत चुका दी जायगी ।

नाथूराम गोडसेने अपने दो जीवन-बीमों पर – एक पर १३ जनवरीको आप्टेकी पत्नीके पक्षमें और दूसरे पर १४ जनवरीको अपने भाई गोपाल गोडसेकी पत्नीके पक्षमें नामांकन करा लिया । इन दोनों पर आप्टेने साक्षीके नाते अपने हस्ताक्षर किये थे ।

बाड़गे अपने नौकर शंकर किस्तैयाके साथ १४ जनवरीको हथियार सौंपने बम्बई आया । यहां दोनों आप्टे और गोडसेसे मिले और दो बारूदवाले पलीते तथा पांच हथगोले उनके सुपुर्द कर

दिये । फिर वे सब दीक्षित महाराजके घर गये । ये बम्बईके पुष्टिमार्गी वैष्णव सम्प्रदायके धर्मगुरु दादा महाराजके छोटे भाई थे । दीक्षित और दादा हैदराबादमें रजाकारोंके आतंकवादी आन्दोलनके विरुद्ध संग्राममें उपयोग करनेके लिए शस्त्रास्त्र और विस्फोटक पदार्थोंका व्यापार करते थे । इस "सामग्री" वाले थैलेको दीक्षित महाराजके घर भूलेश्वर (बम्बई) में छोड़ कर वे सब हिन्दू महासभाके कार्यालयमें लौट आये ।

१५ जनवरीको आप्टेने बनावटी नामोंसे अपने और नाथूराम गोडसेके लिए बम्बईसे दिल्लीके लिए १७ जनवरीके दो विमानी टिकिट खरीदे । उसी दिन आप्टे, नाथूराम गोडसे, बाड़गे, करकरे और मदनलाल दीक्षित महाराजके घर गये । जो थैला पहले दिन रखा गया था उसे मंगवाकर देखा गया और एक छोटीसी युद्ध-परिषद् की गई । फिर करकरे और मदनलालको आप्टेने इस "सामग्री" के साथ उसी रात गाड़ीसे दिल्ली चले जानेके लिए कहा । आप्टेने दीक्षित महाराजसे कहा कि हम किसी महत्त्वपूर्ण कार्य पर जा रहे हैं और उसके लिए हमें एक-दो रिवाल्वर चाहिये । दीक्षित महाराजने कहा कि उनके पास कोई रिवाल्वर नहीं है । उनके पास एक पिस्तौल थी, परन्तु उसे देनेके लिए वे तैयार नहीं थे । आप्टेने दीक्षित महाराज पर दबाव डाला कि वे किसी भी तरह उसके लिए एक रिवाल्वर जुटा दें ।

दीक्षित महाराजके घरसे बाहर आकर आप्टेने बाड़गेसे पूछा : तुम हमारे साथ दिल्ली चलनेको तैयार हो ? बाड़गे सहमत हो गया । आप्टेने यह भी कहा बताया जाता है कि हिन्दू महासभाके नेता वी. डी. सावरकरने मुझे बताया कि यह निश्चय कर लिया गया है कि गांधीजी, पंडित नेहरू और सुहरावर्दीको खतम कर दिया जाय और यह काम हमें सौंपा गया है ।

बाड़गेके कथनानुसार १७ जनवरीको नाथूराम गोडसे सावरकरके अंतिम दर्शन करनेके लिए बम्बई गया । बाड़गे और शंकर बाहर रहे और नाथूराम तथा आप्टे भीतर गये । बाहर निकलकर आप्टेने बाड़गेसे कहा कि सावरकरने हमें कहा है : "यशस्वी होऊन या" – "सफल होकर लौटना ।" आप्टेने यह भी कहा बताते हैं : "तात्यारावांनी असे भविष्य केले आहे की

गांधीजींची शंभर वर्षे भरली, आता आपले काम निश्चित होणार यात काही संशय नाही" – "तात्याराव सावरकरने यह भविष्य-वाणी की है कि अब गांधीजीके सौ वर्ष पूरे हो गये हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा काम निश्चित रूपसे सफल होगा ।"

१७ तारीखको दोपहरके समय गोडसे और आप्टे फिर दीक्षित महाराजके पास गये और उनसे रिवाल्वर मांगा । दीक्षित महाराजने पिस्तौल तो बताई, परन्तु पहले रुपया लिये बिना देनेसे इनकार कर दिया । आप्टेने कहा : आपने मुझे रिवाल्वर देनेका वादा किया था, इसलिए यह पिस्तौल आपको मुझे दे देनी चाहिये । किन्तु दीक्षित महाराज इनकार ही करते रहे ।

इसके बाद गोडसे और आप्टे बनावटी नाम रखकर हवाई जहाजसे दिल्ली गये । सान्ताक्रूज (बम्बई) के हवाई अड्डे पर आप्टेने बाड़गेको तीन सौ रुपये दिये और उसे रेलसे दिल्ली पहुंचनेको कहा । दिल्ली पहुंचने पर गोडसे और आप्टे क्रमश: एस. देशपांडे और एम. देशपांडेके बनावटी नामोंसे कनाट सर्कसके मरीना होटलमें ठहरे । मदनलाल और करकरे, जो योजनानुसार १५ तारीखकी रातको रेलसे दिल्लीके लिए रवाना हुए थे, १७ जनवरीको दिल्ली पहुंचे । वे शरीफ होटलमें ठहरे, जहां करकरेने झूठा नाम बताया । बाड़गे और शंकर १९ जनवरीको दिल्ली पहुंचे और हिन्दू महासभा भवनमें गये, जहां वे उसी कमरेमें ठहरे जिसमें मदनलाल और गोपाल गोडसे पहलेसे ठहरे हुए थे ।

२० जनवरीको प्रात:काल आप्टेने बाड़गे और शंकरसे अपने साथ बिड़ला-भवन चलनेको कहा । वे बिड़ला-भवनके मुख्य द्वार पर उतरे । यहां चौकीदारने उन्हें रोक दिया । उन्होंने चौकीदारसे कहा कि वे "सेक्रेटरी" से मिलना चाहते हैं और उसे अन्दर भेजनेके लिए एक पत्र दिया । इसी बीच एक आदमी बिड़ला-भवनसे बाहर आया । आप्टेने बाड़गेको इशारेसे कहा कि वह सुहरावर्दी है । फिर वे बिड़ला-भवनके पीछेकी तरफ गये । आप्टेने बाड़गेको वह स्थान बताया जहां गांधीजी शामकी प्रार्थना करते थे और जिस मंडपमें गांधीजी प्रार्थना-सभाके समय बैठा करते थे उसके पीछेकी दीवारमें लगी पत्थरकी जालियोंके सूराखोंको नापा । उसने बाड़गेसे कहा

कि इस सूराखमें से रिवाल्वर चलाया जा सकता है या बिड़ला-भवनके पीछेवाले नौकरोंके कमरेसे हथगोला फ़ेंका जा सकता है । उसने बाड़गेको वह जगह भी बताई जहां प्रार्थना-सभामें एकत्रित लोगोंका ध्यान बंटानेके लिए बारूदी पलीतेका विस्फोट किया जा सकता था ।

हिन्दू महासभा भवनमें लौटनेके बाद आप्टे, गोपाल गोडसे, बाड़गे और शंकर एक पिस्तौलको आजमानेके लिए हिन्दू महासभा भवनके पीछेवाले जंगलकी तरफ गये । यह कोई दिनके ग्यारह बजेकी बात है । केन्द्रीय निर्माण-विभागका फॉरेस्ट-गार्ड मेहरसिंह अन्य दो पहरेदारोंके साथ गश्त लगा रहा था । हिन्दू महासभा भवनके पीछे कोई तीन फर्लांग पर उनके पास पहुंचकर उसने आप्टे वगैरासे पूछा : यहां क्यों घूम रहे हो ? उन्होंने उत्तर दिया : हम यात्री हैं और घूमने निकले हैं । बादमें वे सब मरीना होटलके ४० नम्बरके कमरेमें आ गये । वहां नाथूराम गोडसे बिस्तर पर लेटा हुआ था । उन्होंने बारूदी पलीतों और हथगोलोंको तैयार किया और वह "सामग्री" आपसमें बांट ली । उनकी योजना यह थी कि ज्यों ही नाथूराम गोडसे और आप्टे प्रार्थनाके दौरान संकेत दें त्यों ही मदनलाल बारूदी पलीता फोड़े और बाड़गे पीछेवाली खिड़कीकी जालीमें से गांधीजी पर हथगोला फेंके । विस्फोटोंके बाद सभामें जो गड़बड़ी मचेगी उसका लाभ उठाकर वे लोग भाग जायंगे ।

तदनुसार लगभग ४ बजे शामको उन्होंने कनाट सर्कसमें रीगल सिनेमाके पासवाले टैक्सीके अड्डेसे एक टैक्सी ली । पहले वे हिन्दू महासभा भवन गये और वहांसे बिड़ला-भवन पहुंचे। टैक्सीको प्रार्थना-भूमिके पीछे बिड़ला-भवनके पिछवाड़े ले गये । संयोगवश प्रार्थना-भूमिके पीछे बिड़ला-भवनकी मोटरें साफ करनेवाला छोटूराम अपने कमरेके सामने बैठा हुआ था । षड्यंत्रकारियोंकी मंडलीमें से एक आदमी उसके पास जाकर बोला : "मैं तुम्हारे कमरेकी जालीमें से प्रार्थनामें बैठे हुए गांधीजीका "फोटो लेना" चाहता हूं । उसे कुछ रुपयेका लालच भी दिया । परन्तु छोटूरामने उसे अपने कमरेके भीतर नहीं जाने दिया ।

इस कारण षड्यंत्रकारियोंकी योजनामें फेरबदल करना पड़ा । उन्होंने प्रार्थना-सभामें भीड़के साथ मिल जानेका निर्णय किया । मदनलालके बारूदी पलीता लगानेके बाद मचनेवाली गड़बड़ीमें वे मंचकी तरफ झपटेंगे और बाड़गे गांधीजी पर हथगोला फेंकेगा । परन्तु अन्तिम क्षणमें बाड़गे हिम्मत हार गया । नतीजा यह हुआ कि जब मदनलालने बारूदी पलीतेका विस्फोट किया तो उसने देखा कि आगेकी योजना पर कोई अमल नहीं हुआ । इस पर दूसरे षड्यंत्रकारी जल्दीसे टैक्सीकी तरफ चल दिये और मदनलालके लिए ठहरनेके बजाय उन्होंने ड्राइवरको चलनेका आदेश दिया । ड्राइवरने गाड़ी चला दी और उन्हें कनाट सर्कसमें छोड़ दिया ।

मदनलाल भाग कर बच नहीं सका । एक गरीब अपढ़ स्त्री सुलोचनादेवीने उसे कोई चीज दियासलाईसे जलाते देखा था और बमसे लगे हुए पलीतेसे चिनगारियां निकलती देखी थीं । विस्फोटके बाद जो लोग वहां इकट्ठे हो गये थे उन्हें इस स्त्रीने बताया कि उसी आदमीने वहां बम रखा था और उसे सुलगाया था । मदनलालको पकड़कर पुलिसके हवाले कर दिया गया ।

हिन्दू महासभा भवन लौटकर बाड़गेने शंकरसे कहा कि दोनों हथगोले भवनके पीछे फेंक दे । फिर वे पूना चले गये । नाथूराम गोडसे और आप्टे उसी शाम कानपुरके लिए रवाना हो गये । करकरे और गोपाल गोडसे रातको फ्रंटियर हिन्दू होटलमें ठहर गये और दूसरे दिन दिल्लीसे चले गये ।

कानपुरसे आप्टे और नाथूराम गोडसे २३ जनवरीको बम्बई पहुंचे । बनावटी नाम रखकर दोनों आर्य पथिक आश्रममें साथ साथ ठहरे । वहांसे वे २५ जनवरीको एलफिन्स्टन होटलके बराबरवाले मकानमें चले गये और २७ जनवरीको दिल्ली जानेवाले विमानमें दो जगहें सुरक्षित करा लीं । वे हर बार झूठे नामोंसे ही व्यवहार करते रहे ।

२६ जनवरीको सुबह नाथूराम गोडसे और आप्टे दीक्षित महाराजके पास गये और उन्हें रिवाल्वरके लिए फिर दबाने लगे । उन्होंने कहा कि दिल्लीसे आगे रिवाल्वरके बिना सफर करना खतरनाक है । किन्तु दीक्षित महाराज बड़े घाघ थे । उन्होंने गोडसे और आप्टेको उनकी पहलेवाली

बात याद दिलाई कि तुमने तो लगभग तीस हजार रुपयेके शस्त्रास्त्र जमा कर लिये थे और तुम काश्मीर जा रहे थे, क्योंकि वहां कबायली आक्रमणकारियोंके खिलाफ इस्तेमाल करनेके लिए हथियारोंके भण्डारकी जरूरत थी । दीक्षितने उनसे पूछा : काश्मीरसे तुम इतनी जल्दी कैसे लौट सके ? उन्होंने उत्तर दिया : हमने आधी "सामग्री" तो दिल्लीसे आगे भेज दी और बाकी आधी भेजनेका प्रबन्ध करनेके लिए लौट आये हैं । परन्तु दीक्षित महाराजने कहा : मैं रिवाल्वरके मामलेमें तुम्हारी मदद नहीं कर सकता । उन्होंने फिर आग्रह किया : आप शाम तक हमें रिवाल्वर जरूर जुटा दीजिये । उन्होंने दीक्षित महाराजको अपने पासका एक रिवाल्वर दिखाया और कहा कि हमें एक और चाहिये । परन्तु दीक्षित महाराजने उनकी सहायता नहीं की ।

२७ जनवरीको नाथूराम गोडसे और आप्टे विमानसे दिल्ली चले गये । वहांसे वे ग्वालियर गये और डॉक्टर परचुरेके यहां ठहरे, जिसके पास एक पिस्तौल था । यहां वे गंगाधर एस. दंडवतेसे भी मिले और उससे अपने लिए एक पिस्तौलका बन्दोबस्त करनेको कहा । दण्डवतेने डॉ. परचुरेसे कहा कि वे अपना ही पिस्तौल उनके हवाले कर दें । परन्तु डॉ. परचुरेने टका-सा जवाब देकर कहा : मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि तुम्हें अपना पिस्तौल दे दूं, जो बादमें पुलिसकी जांचमें मेरा सिद्ध हो । इस पर दंडवतेने दोनोंको वचन दिया कि शामसे पहले-पहले वह उनके लिए एक रिवाल्वर जुटा देगा । वह जगदीशप्रसाद गोयल नामक व्यक्तिकि पास गया और उससे कहा : मुझे एक पिस्तौलकी जरूरत है । क्या तुम अपना पिस्तौल पांच सौ रूपयेमें मुझे बेच सकते हो ? जगदीशप्रसाद फौरन् राजी हो गया और सात कारतूसोंके साथ अपना पिस्तौल उसके हवाले कर दिया । गोडसे और आप्टे पिस्तौल लेकर दिल्ली लौट आये । वे दिल्ली रेल्वे स्टेशन पर रिटायरिंग रूममें ठहरे । ३० जनवरीको सुबह रिटायरिंग रूममें ठहरनेका मामूली समय पूरा हो गया, तो स्टेशनके अधिकारियोंने उनसे कमरा खाली करनेको कहा । इस पर उन्होंने अपना बिस्तर रिटायरिंग रूमसे हटा लिया और पहले दर्जेके पुरुषोंवाले प्रतीक्षालयमें चले गये ।

२

२० जनवरी, १९४८ को बिड़ला-भवनमें बम-विस्फोट होनेके बाद बम्बईके रामनारायण रुइया कॉलेजके प्राध्यापक जगदीशचन्द्र जैनने बम्बईके मुख्यमंत्री श्री बी. जी. खेरसे सम्पर्क स्थापित किया और उन्हें सूचना दी: "मैं मदनलालको जरूरतमन्द निराश्रित समझकर कई प्रकारकी सहायता देता रहा हूं। उससे मुझे मालूम हुआ है कि गांधीजीकी हत्याके लिए कोई षड्यन्त्र रचा जा रहा है।" उन्होंने श्री बी. जी. खेरको कुछ षड्यन्त्रकारियोंके नाम और कुछ दूसरी ब्यौरेकी बातें भी बताईं। बम्बई सरकारने यह जानकारी सरदार पटेल तक पहुंचा दी, क्योंकि सरदार संघ-सरकारके गृहमन्त्री थे। गांधीजीको भी इस षड्यन्त्रकी सूचना कर दी गई।

बम्बईसे मिली हुई जानकारीके आधार पर सरदार पटेलने चाहा कि सुरक्षाका प्रबन्ध कड़ा कर दिया जाय और गांधीजीसे उन्होंने कहा : मैं चाहता हूं कि पुलिस आपकी प्रार्थना-सभाओंमें आनेवाले हर आदमीकी तलाशी ले। परन्तु गांधीजीने इसे बिलकुल मंजूर नहीं किया और न यह बात ही स्वीकार की कि पुलिस प्रार्थना-सभामें मौजूद रहे। उन्होंने कहा: मेरी श्रद्धा मुझे प्रार्थनाके समय किसी मानव-रक्षाके अधीन रहनेकी अनुमति नहीं देती, जब कि मैंने एकमात्र ईश्वरकी ही रक्षाके अधीन अपनेको कर दिया है। अगर मैं अपनी रक्षाके लिए बताये हुए आपके किसी प्रस्तावको मान लूं, तो ईश्वरमें मेरी श्रद्धाका दावा निरा मजाक बन कर रह जायगा। गांधीजीको टससे मस न होते देखकर सरदार पटेलने विधाताकी इच्छा पर सब कुछ छोड़कर मान लिया कि जो होना है सो होगा। लेकिन एक बातका आश्चर्य जरूर होता है कि अधिकारियोंके पास निश्चित और ठोस जानकारी होने पर भी वे षड्यन्त्रकारियोंको गिरफ्तार करके उनकी योजनाको विफल क्यों नहीं बना सके। यह असफलता इस बातकी सूचक थी कि सड़ांध सरकारी सेवाओंकी अनेक शाखाओंमें कहां तक फैल चुकी थी और स्वयं पुलिस भी उससे मुक्त नहीं थी। सच तो यह है कि बादमें यह बात जाहिर हुई कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघका जाल सरकारी विभागोंमें भी फैल गया था और कई पुलिस अधिकारी भी – केवल साधारण सिपाही ही नहीं – राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघकी प्रवृत्तियोंमें लगे हुए लोगोंको अपनी सहानुभूति ही नहीं, परन्तु सक्रिय

सहायता भी प्रदान करते थे । बमके विस्फोटसे पहले भी दिल्लीके कुछ निराश्रित-शिविरोंके बारेमें यह ज्ञात हो चुका था कि वहां गांधीजीकी और उन कांग्रेसी नेताओंकी हत्या कर देनेकी गरमा-गरम बातें चलती थीं, जिनके बारेमें यह प्रसिद्ध था कि वे साम्प्रदायिक विचारधाराके विरुद्ध हैं । गांधीजीकी हत्याके बाद सरदार पटेलको एक नौजवानका पत्र मिला था । उसके अपने बयानके मुताबिक उसे फुसलाकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघमें भरती कर लिया गया था, लेकिन बादमें उसका भ्रम दूर हो गया था । उस पत्रमें बताया गया था कि किस प्रकार कुछ स्थानों पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सदस्योंको पहलेसे ही सूचना कर दी गई थी कि "शुभ समाचार" सुननेके लिए वे निश्चित शुक्रवारके दिन अपने रेडियो लगाकर रखें । समाचार सुननेके बाद दिल्ली सहित कई स्थानों पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके क्षेत्रोंमें मिठाइयां बांटी गईं । जब बादमें सरकारके हुक्मसे इस संस्था पर पाबन्दी लगाई गई, तो एक देशी राज्यके उच्च पुलिसअधिकारीने संचालकोंको कहला भेजा कि शोक-प्रदर्शनके लिए "तेरह दित तक" अपना कार्यालय बन्द करके वे बिखर जायं, परन्तु संस्थाको तोड़ें नहीं । यह सड़ांध इतनी मायाविनी और व्यापक हो गई थी कि परम बलिदान (पूर्णाहुति) ही उसे रोक सकता या मिटा सकता था ।

*

उपवासके बाद गांधीजी आरामसे, किसी विशेष घटनाके बिना, शक्ति-संग्रह करते रहे । २२ जनवरीको वे पहले-पहल प्रार्थना-सभामें चलकर जा सके । उन्होंने उन विविध समस्याओंका तांता फिरसे जोड़नेमें देर नहीं लगाई, जिन्हें उन्होंने उपवास आरम्भ करनेसे पहले हाथमें ले रखा था । वे समस्याएं थीं : कई हजार भगाई हुई औरतोंको दोनों देशोंमें फिरसे प्राप्त करना, सिन्धमें हिन्दू आबादीके साथ किया जानेवाला व्यवहार और जो लोग भारत आना चाहते थे उनका निष्क्रमण । बहावलपुर रियासतसे भी समाचार आये थे कि वहां बहुतसे गैर-मुसलमान भारत चले आनेके लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं । नवाबने गांधीजीको एक पत्र लिखा, जिसमें उच्च भावनाएं और गांधीजीके प्रति आदरका भाव भरा हुआ था । नवाबका यह कहना था कि गैर-मुस्लिम लोग जहां हैं वहां बिलकुल अच्छे हैं, "महज साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवाले लोग" उनकी शान्तिमें बाधा

डाल रहे हैं । परन्तु गांधीजी बेचैन हो गये । स्वतंत्र साधनोंसे उनके पास जो खबरें पहुंची थीं वे इससे विपरीत थीं । उन्होंने अपने भरोसेके दो कार्यकर्ताओंको वहां भेजकर वस्तुस्थिति जाननी चाही ।

गांधीजीका पत्र बहावलपुरके नवाबको

२३ जनवरी, १९४८

ताजे समाचार ये हैं कि लगभग ५०० आदमी ठंड लग जानेसे और भूखके मारे मर गये हैं और ११०० बीमार पड़ गये हैं । . . . इसलिए मैंने आपकी रियासतमें फ्रेण्ड्स सर्विस यूनिटके श्री लेस्ली क्रॉसको और उनकी सहायताके लिए डॉ. सुशीला नय्यरको भेजनेका निर्णय किया है । . . . सुशीला उस समयसे मेरी देखरेखमें आ गई थी जब वह बच्ची थी; तबसे वह मेरे साथ ही रही है और अब दूसरी बातोंके अलावा वह मुस्लिम निराश्रितोंकी सेवा कर रही है । . . . ये दोनों आपके राज्यमें इस आशासे आ रहे हैं कि आपसे मिलें और उन गैर-मुसलमानों – हिन्दुओं और सिक्खों – से मिलें, जिनसे मिलनेकी अनुमति इन्हें दी जाय, और मुझे आंखों देखा हाल बता सकें । . . .

यदि मैं स्वयं यह प्रमाणित कर सकूं कि आपकी रियासतमें दरअसल वैसी सुखद परिस्थितियां हैं जैसी कि आपके पत्रमें बताई गई हैं और आपकी रियासतसे आनेवाले निराश्रितोंको यह सलाह दे सकूं कि वे अपने जान-माल, सम्मान और धर्मकी रक्षाके बारेमें पूरा भरोसा रखकर अपने घरोंको वापस जा सकते हैं, तो इससे बड़ी आनन्दकी बात मेरे लिए दूसरी नहीं होगी । मैं आपके इस विचारसे सहमत नहीं हूं कि ये लोग रियासतको बदनाम करनेके लिए कोई षड्यन्त्र करके चले आये हैं । अगर आपको यह भरोसा न हो कि ये दुःखी निराश्रित अपने घरोंको लौट कर अपने अपने पुराने धन्धे फिरसे शुरू कर सकते हैं, तो मैं जानता हूं कि आपको ऐसा कहनेमें संकोच नहीं होगा; और उस सूरतमें मैं यह सुझाऊंगा कि आप, कमसे कम फिलहाल, अपने तमाम हिन्दू और सिक्ख

प्रजाजनोंको – जिनमें हरिजन भी शामिल हैं – सशस्त्र रक्षादलके साथ भारतीय संघमें भिजवा दें। मुख्य विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या रियासतके मुसलमानों और मुस्लिम निराश्रितों पर मेरे हालके उपवासका इतना शुद्धिकारक प्रभाव पड़ा है कि वे अपने हिन्दू और सिक्ख भाई-बहनोंका फिरसे स्वागत करनेके लिए तैयार हो जायंगे।

इस बीच दो पारसी मित्र पाकिस्तानके अधिकारियोंसे लम्बी बातचीत करके १९ जनवरीको कराचीसे लौट आये थे। वे अपने ही मनसे दोनों देशोंमें शान्ति और सद्भाव स्थापित करनेके उपाय ढूंढ़ रहे थे। पाकिस्तानके वित्तमंत्री गुलाम मुहम्मदके साथ उन्होंने जिस प्रस्तावकी चर्चा की थी और जिसे वे अपने साथ लाये थे, वह यह था कि गांधीजी और जिन्ना परस्पर मिलें और काश्मीर सहित दोनों देशोंके सारे महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका निबटारा कर दें और जरूरत हो तो इसके लिए किसी पंचकी सहायता लें। इसके लिए दोनों देशोंके मंत्रि-मंडल इन्हें आवश्यक अधिकार दें। जिन्ना खुद तो इस प्रस्तावके विरुद्ध दिखाई नहीं दिये, परन्तु उन्होंने अपने वित्तमंत्रीसे कहा कि कराचीमें उपस्थित मंत्रि-मंडलके दूसरे सदस्यों और प्रधानमन्त्री लियाकतअली खांसे, जो उस समय पेशावरमें थे, सलाह कर लें; क्योंकि उनके अपने शब्दोंमें वे "शुद्ध वैधानिक" मार्गसे ही काम करना चाहते हैं।

दूसरी वार्ताके दौरान इस प्रस्ताव पर फिर चर्चा की गई। उसमें वित्तमंत्रीके सिवा पाकिस्तानी मंत्रि-मंडलके तीन अन्य सदस्योंने भी भाग लिया। अन्तमें जो फार्मूला तय हुआ वह यह था कि दोनों देशोंके प्रधान-मन्त्री काश्मीर-सहित सारे प्रश्नोंका निबटारा करें; दोनों देशोंमें हुए दंगोंकी जिम्मेदारीका निर्णय किया जाय; अल्पसंख्यकोंके जान-माल, सम्मान, संस्कृति और गौरवकी रक्षाकी सामान्य व्यवस्था सोची जाय; अथवा ऐसे दूसरे किसी प्रश्नकी चर्चा करें जो दोनों देशोंके अच्छे सम्बन्धों पर प्रभाव डालता हो और जिसकी चर्चा करना दोनों प्रधानमंत्री ठीक समझें। मतभेद हो तो गांधीजी और जिन्ना बीचमें आयें और जो भी निर्णय वे कर दें उसे दोनों देशोंके प्रधान-मंत्री स्वीकार करें और अमलमें लायें। किन्तु गुलाम मुहम्मदकी इच्छा थी कि "मतभेद होने पर आगेकी कार्रवाई दोनों प्रधानमन्त्रियों पर छोड़ी जाय।" अन्तमें यह प्रस्ताव रखा

गया कि यदि सारा फार्मूला दोनों पक्षोंको स्वीकार हो, तो संयुक्त राष्ट्रसंघसे कहा जाय कि वह फिलहाल उन चर्चाओंको मुलतवी रखे, जो वहां भारतके प्रस्तुत किये हुए मामलों पर हो रही हैं ।

यह बहुत ही भयंकर और निराशाजनक परिणाम था । परन्तु गांधीजी पहले इससे भी अधिक प्रतिकूल परिस्थितियोंमें बहुत बार काम कर चुके थे और हतोत्साह नहीं हुए थे । कराचीवाले पारसी मित्रोंने यह दलील दी : अगर आप पाकिस्तान जायंगे तो इससे वहांके अल्पसंख्यक समुदायमें हिम्मत आ जायगी । गांधीजीका भी यह खयाल था कि भारतीय संघमें अल्पसंख्यक समुदायके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करनेके बाद अब मुझे वही काम पाकिस्तानके अल्पसंख्यक समुदायके लिए करना चाहिये, क्योंकि इसके लिए मेरा रास्ता अब साफ हो गया है । दिल्लीके मुसलमानोंने इस विचार पर जोर दिया कि अगर भारतीय संघके हिन्दुओंको मालूम हो कि गांधीजी पाकिस्तानके अल्पसंख्यक समुदायकी सहायता करने वहां जा रहे हैं, तो उससे दिल्लीमें आरम्भ किये गये शान्ति-प्रयत्नको सफर बनानेमें प्रोत्साहन मिलेगा ।

पक्ष-विपक्षकी विविध बातों पर विचार करनेके बाद अन्तमें गांधीजीने दोनों पारसी मित्रोंसे कह दिया : अगर पाकिस्तानके अधिकारी मुझे बुलायेंगे, तो मैं वहां जाऊंगा । सिन्ध मैं वहांके मुख्यमंत्रीके निमन्त्रण पर जाऊंगा, क्योंकि वे चाहते हैं कि मैं वहां जाऊं । पहले मैं कराची जाऊंगा, फिर सीमाप्रान्त जाऊंगा । खानबन्धुओं और खुदाई खिदमतगारोंसे मिलनेके बाद अन्तमें मैं लाहौर जाऊंगा । मेरे भीतरसे कोई सतत कह रहा है कि यदि मैं पाकिस्तान जाऊं और वहांके सामान्य मुसलमानोंको अपने चेहरेमें, अपनी आंखोंमें तथा अपने संपूर्ण व्यक्तित्वमें वह प्रेम देखने दूं, जो हिन्दू-मुसलमानका भेद नहीं करता और जिसके कारण मैंने भारतीय संघको मुसलमानोंके लिए सुरक्षित स्थान बनानेके खातिर अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी, तो इससे वहांके मुसलमानोंको अपनी अलगावकी वृत्तिकी भूल और उसकी व्यर्थताकी प्रतीति हो जायगी; और ईश्वर चाहेगा तो वह कलकत्ता और दिल्लीने जैसा चमत्कार देखा वैसा एक और चमत्कार दिखानेके लिए मेरा उपयोग कर सकता है । पाकिस्तानका एक मुस्लिम नेता आया और उसने

गांधीजीसे कहा : मैं तो उस नजारेके इन्तजारमें हूं जब हिन्दुओं और सिक्खोंका ५० मील लम्बा जुलूस पाकिस्तान लौटेगा और गांधीजी उसके आगे चल रहे होंगे । गांधीजीके विषयमें ऐसी सम्भावनाको अस्वीकार तो किसी हालतमें नहीं किया जा सकता था । वह उनकी सबसे बड़ी सिद्धि सिद्ध हो सकती थी; और जैसे उनके द्वारा किये हुए प्रत्येक पहले "चमत्कार" से बादका "चमत्कार" अधिक बढ़ा-चढ़ा होता था, उसी तरह यह चमत्कार पहलेवाले सब चमत्कारोंसे बढ़ा-चढ़ा होता । इसी उद्देश्यकी दिशामें वे दृढ़ आग्रहसे काम कर रहे थे । वह उद्देश्य था : विस्थापित भारतीय मुसलमानोंको उनके असली घरोंमें वापस पहुंचा कर उन्हें फिरसे बसा देना । फिर तो इतिहासका प्रवाह – कमसे कम जहां तक भारतका संबंध है – कुछ और ही होता । और कौन कह सकता है कि उसके क्या परिणाम होते ? इस सम्भावनाके विचारसे गांधीजीका हृदय उल्लसित और रोमांचित हो उठता था ।

बजाज-घरानेके लोग इस बातके लिए बड़े उत्सुक थे कि गांधीजी अपने "पांचवें पुत्र" सेठ जमनालाल बजाजके आगामी श्राद्ध-दिवस पर वर्धामें रहें । सेवाग्राम आश्रममें भी गांधीजी लम्बे समयसे जा नहीं पाये थे । २५ जनवरीको तीसरे पहर उन्होंने इस प्रश्नकी चर्चा दिल्लीके मुसलमान नेताओंसे की । उन्होंने कहा : हम कल २६ जनवरीको शहरके मुसलमान मोहल्लोंमें जायंगे, वहांकी हालतकी जांच करेंगे और फिर आपको बतायेंगे । गांधीजीने उन्हें विश्वास दिलाते हुए कहा, यद्यपि मैं सेवाग्राम जा सका तो मुझे बड़ा सन्तोष होगा, फिर भी मैं आपकी अनुमतिके बिना वहां नहीं जाऊंगा । आपको यह नहीं लगना चाहिये कि मैं आपको बीचमें ही छोड़ कर चला गया ।

गांधीजी चार भाषाओंमें 'हरिजन' साप्ताहिक निकाल रहे थे – अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी और उर्दू । इन पत्रोंको चलानेमें उन्होंने हमेशा अपने समक्ष यह सिद्धान्त रखा था कि आर्थिक सहायता, विज्ञापन आदिके रूपमें कृत्रिम सहारोंकी मदद लिये बिना इनका खर्च निकलना चाहिये । पर्याप्त सार्वजनिक समर्थन न मिलना इस बातका द्योतक होगा कि ये पत्र किसी अनुभूत आवश्यकताकी पूर्ति नहीं कर रहे हैं । 'हरिजन' के उर्दू संस्करणकी बिक्री बराबर घट रही थी ।

गांधीजीने इसे इस बातका चिह्न माना कि हिन्दू इस संस्करणके प्रकाशनका विरोध करते हैं । उन्होंने 'हरिजन' में लिखा : "अगर मैं इससे लाभ ना उठाऊं तो भूखे ठहरूंगा । जो लोग क्रोधवश उर्दू लिपिका बहिष्कार करते हैं, वे संघके मुसलमानोंका अकारण अपमान करते हैं – जो बहुतसे हिन्दुओंकी दृष्टिमें अपने ही देशमें पराये बन गये हैं । यह तो पाकिस्तानके बुरे ढंगकी नकल करना ही हुआ, और वह भी वैरभावसे । मैं भारतके प्रत्येक निवासीसे कहूंगा कि वह मेरी तरह पाकिस्तानकी बुराईका अनुकरण करनेसे दृढ़तापूर्वक इनकार कर दे ।" [हरिजन, १८ जनवरी १९४८, पृ. ५१६] अपने मुसलमान दोस्तोंको गांधीजीकी सलाह यह थी कि यदि वे 'हरिजन' के उर्दू संस्करणको जारी रखवाना चाहते हैं, तो उन्हें उसके ग्राहक बनना चाहिये और नागरी लिपि भी सीख लेनी चाहिये । इससे उनकी बौद्धिक पूंजी बढ़ेगी और उनके तथा भारतीय संघके गैर-मुस्लिम भाइयोंके बीचकी खाई पटेगी ।

*

जनवरी १९४८ का अंतिम सप्ताह गांधीजीके जीवनका अन्तिम सप्ताह था । वह गांधीजीके महत्वपूर्ण उद्‌गारोंसे परिपूर्ण था । उनमें से एकमें उन्होंने, आखिरी बार, उस शान-शौकतके लिए हमारे उन्मादकी निन्दा की, जिसके हम अपनी नव-अर्जित स्वाधीनताके नशेमें शिकार हो गये हैं । उन्होंने कहा : जब कांग्रेस सत्तारूढ़ नहीं थी तब उसने लोगोंके सामने सेवा, त्याग और सादगीका आदर्श रखा था । उन दिनों एक लाख रुपया भी एकत्र करना कठिन था । आज कांग्रेस सरकारके हाथमें करोड़ों रुपये हैं और वह जितना चाहे उतना धन एकत्र कर सकती है । मैं पूछता हूं कि क्या कांग्रेस यह धन ऐसा मानकर खर्च करेगी कि भारतमें विदेशी राज्य हट कर स्वदेशी राज्यकी स्थापना हुई ही नहीं है ? "कुछ लोगोंका यह विचार दिखाई देता है कि भारतके नेताओं और राजदूतोंको ऐसी शानसे रहना और खर्च करना चाहिये, जो उनके स्वाधीन दरजेके योग्य हो और तड़क-भड़कमें उन्हें स्वाधीन अमरीका और इंग्लेण्डकी बराबरी करनी चाहिये । वे समझते हैं कि विदेशोंमें भारतकी जान बनाये रखनेके लिए ऐसा खर्च करना जरूरी है । मैं ऐसा नहीं मानता । स्वाधीनताका वही अर्थ नहीं है जो तड़क-भड़क या शान-शौकतका है

। हमें उतने ही पैर पसारने चाहिये जितनी लम्बी हमारी रजाई हो । अपनी दरिद्रताको छिपाना ठीक नहीं । भारतका दर्जा संसारमें उसकी नैतिक श्रेष्ठता पर निर्भर करेगा, जो उसे अपने निष्क्रिय प्रतिरोधके कारण प्राप्त हुई है । इसमें अभी तक भारतका कोई प्रतिद्वन्द्वी खड़ा नहीं हुआ है । दूसरे देशोंको, चाहे वे छोटे हों या बड़े, अपने शस्त्रास्त्र और सैनिक पराक्रम पर गर्व है । वही उनकी पूंजी है । भारतके पास केवल उसकी नैतिक पूंजी है, जो खर्च करनेसे बढ़ती है । और किसी शर्त पर कांग्रेसका यह दावा कायम नहीं रहेगा कि जब वह सत्तारूढ़ होगी तब आजके जीवन-मूल्योंमें क्रान्ति कर देगी ।" लोग मंत्रियोंकी आलोचना करते हैं कि वे बड़ी बड़ी तनखाहें लेते हैं और कृत्रिम ब्रिटिश स्तरको कम करके उसे स्वाभाविक भारतीय स्तर पर नहीं ले आते । "कांग्रेसियों और दूसरे लोगोंके लिए वे सत्तासे बाहर रह कर जितना कमाते थे उससे कहीं ऊंचे वेतनकी आशा रखना एक फैशन हो गया है । जो व्यक्ति १५० रुपये मासिकमें काम चला लेता था वह ७०० रुपये मांगने और उसकी आशा रखनेमें संकोच नहीं करता, "मानो जब तक वे ऊंचा वेतन नहीं मांगेंगे और सिविल सर्विसके अधिकारियोंका-सा रहन-सहन बनाकर वैसी ही पोशाक नहीं पहनेंगे तब तक उनका सम्मान नहीं किया जायगा ।" यह भारतकी सेवाका सच्चा मार्ग नहीं है । हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि किसी मनुष्यका मूल्य उसकी कमाई पर निर्भर नहीं करता । आत्मशुद्धिकी प्रक्रिया, जिसमें सबको शरीक होना चाहिये, सही विचार और सही आचारकी मांग करती है । [प्रार्थना-प्रवचन, २२ जनवरी १९४८]

प्राचीन कालके पैगम्बरोंकी तरह गांधीजीने भारतवासियोंको याद दिलाया कि नैतिक नियमोंके अमलसे कोई राष्ट्र बच नहीं सकता । एक पत्र-लेखकने गांधीजीको लिखा था : यदि आपके उपवासके फलस्वरूप आपकी मृत्यु हो जाती, तो सारा देश गृहयुद्धकी आगमें जल कर भस्मीभूत हो जाता । गांधीजीने कहा : मैंने अपने मनमें यह भयंकर संभावना भी सोच ली थी । यादवोंने कृष्ण भगवानकी मृत्युसे पहले एक-दुसरेका संहार कर दिया था । "यदि देशके लोग यादवोंकी तरह आलसी और दुष्ट हो जाते और ईश्वर देखता कि सर्वनाशके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं रह गया है, तो शायद वह मेरे जैसे साधारण व्यक्तिको भी ऐसी महा विपत्तिका साधन

बना लेता।" परन्तु उपवासके दौरान मैंने जो कुछ देखा उससे मुझे बल मिला है और मनमें ऐसी आशा जगी है कि भारतके भाग्यमें ऐसा आत्म-विनाश नहीं लिखा है।

अपने एक और भाषणमें लोकतंत्रकी बढ़ती हुई पीड़ाका उल्लेख करते हुए गांधीजीने कहा : प्रान्तोंके भाषावार पुनर्विभाजनका प्रश्न कांग्रेसके सामने है। सांस्कृतिक स्वायत्तता कांग्रेसका मूल मंत्र रहा है। परन्तु इसमें यह खतरा है कि सत्ताके फल हथियानेके लिए स्थानीय राजनीतिक नेता इसका दुरुपयोग करेंगे। कांग्रेसकी कल्पनाके अनुसार भारतकी स्वाधीनताका अधिकार-पत्र ग्राम-स्वशासन पर आधारित है। परन्तु गांवोंको "केन्द्रसे उसी तरह जीवन-शक्ति प्राप्त होनी चाहिये, जिस तरह केन्द्रको सारी सत्ता और सारा अधिकार गांवोंसे प्राप्त होता है।" यदि प्रान्तोंके भाषावार विभाजनके सिद्धान्तका उपयोग संकीर्ण प्रान्तीयता बढ़ानेके लिए किया जायगा, तो वह घातक सिद्ध होगा। "पुनर्विभाजनका हेतु सांस्कृतिक विकास है। उसे भारतकी अंगभूत एकताके विरुद्ध क्रियाशील नहीं होना चाहिये। स्वशासनका अर्थ छिन्नभिन्नता नहीं है और न होना चाहिए।... अन्यथा भारतीय स्वाधीनताका कोई अर्थ ही नहीं रहेगा।" एक पुराने कांग्रेसी गांधीजीसे मिलने आये थे। वे बहुत समय तक कांग्रेसमें महत्त्वपूर्ण पद पर रहे थे। उनके जानेके बाद गांधीजी बोले : मुझे यह देखकर गहरा दुःख हुआ कि वे भी उस प्रान्तीयतासे मुक्त नहीं है, जो क्षेत्रीय निष्ठाको देशप्रेमसे ऊंचा स्थान देती है।

२६ जनवरी, १९४८ को स्वाधीनताके बाद पहला स्वाधीनता-दिवस आया (देखिये पृष्ठ ३०१-०२)। उसने गांधीजीके मनमें फिर यह सवाल पैदा कर दिया : क्या यही वह स्वाधीनता है, जिसका सपना मैंने और कांग्रेसने देखा था? उन्होंने कहा : "आज २६ जनवरी- स्वतंत्रता-दिवस है। जब तक हमारी आजादीकी लड़ाई जारी थी और आजादी हमारे हाथमें नहीं आई थी, तब तक इसका उत्सव मनाना जरूर कोई अर्थ रखता था। किन्तु अब आजादी हमारे हाथमें आ गई है और हमने इसका स्वाद चख लिया है, तो हमें लगता है कि आजादीका हमारा स्वप्न एक भ्रम ही था, जो कि अब गलत सिद्ध हुआ है। कमसे कम मुझे तो ऐसा ही लगा है।"

२७ जनवरीको प्रात:काल गांधीजी मेहरौलीके सालाना उर्समें जानेके लिए रवाना हुए। मेहरौली दिल्लीके दक्षिणमें सात मिल पर ग्रामीण वातावरणके बीच स्थित है। वह इतिहासमें पृथ्वीराजकी प्राचीन राजधानीके रूपमें प्रसिद्ध है। वहां ख्वाजा सैयद कुतुबुद्दीन बख्तियारकी दरगाह शरीफ है। यह धर्मस्थान पवित्रतामें जग-विख्यात ख्वाजा मोहयुद्दीत चिश्तीकी अजमेर वाली दरगाहसे दूसरे नम्बर पर आता है। दंगोंके दौरान यहां कुछ राक्षसी कृत्य हुए थे। हर साल यहां एक बड़ा धार्मिक मेला लगा करता था, जिसमें भारत भरसे न सिर्फ मुसलमान बल्कि हिन्दू भी आते थे – सुफी पंथमें धार्मिक सहिष्णुताकी ऐसी परम्परा और उदारता है। अशान्त परिस्थितियोंके कारण डर था कि शायद इस वर्ष उसका मेला न लगे। परन्तु गांधीजीने मेलेकी बातको अपना उपवास तोड़नेकी एक शर्त बनाया था और सब दलोंने उसे पूरा करनेकी प्रतिज्ञा की थी। दिल्ली प्रशासनने दरगाहके अहातेमें और उसके आसपास सफाई करा दी थी और दरगाहमें जो टूटफूट हुई थी उसकी यथाशक्ति मरम्मत भी करा दी थी। दरगाहमें जानेवालोंको ले जाने और लानेके लिए एक विशेष बस सर्विसका प्रबन्ध कर दिया गया था। सनातनी हिन्दू और लड़वैया सिक्ख दोनों मुसलमानोंके साथ भाईचारा बढ़ानेमें एक-दूसरेसे होड़ लगा रहे थे। उन्होंने मुसलमानोंका फूलोंसे स्वागत किया और उनके लिए मुफ्त चायकी दुकानें खोल दीं। समाजसेवाके कार्योंमें हिन्दू स्वयंसेवकोंको मुसलमान स्वयंसेवकोंके साथ कंधेसे कंधा मिलाते हुए देख कर बड़ी खुशी होती थी। कुछ दिन पहले किसीको कल्पना नहीं हो सकती थी कि एक मुस्लिम त्यौहार मनानेके लिए दिल्लीके हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खोंकी भ्रातृभावसे भरी ऐसी विशाल भीड़ जमा होगी। सबसे अधिक आनंद और आश्चर्यकी बात तो यह थी कि इस भीड़में सैकड़ों हिन्दू और सिक्ख स्त्रियां भी मौजूद थीं। इस वायुमंडलसे हिन्दू-मुस्लिस-एकताके अच्छेसे अच्छे दिनोंकी याद आती थी।

गांधीजीके साथ मेलेमें उनकी मंडलीकी तीन स्त्रियां भी गई थीं। आम तौर पर स्त्रियोंको दरगाहमें एक खास हदसे आगे नहीं जाने दिया जाता, क्योंकि मुस्लिम धर्मस्थानोंके अति पावन स्थानमें स्त्रियोंको जाने देना इस्लामी परम्पराके विरुद्ध है। गांधीजीने दरगाहके रक्षकोंसे कहा

कि मेरी मण्डलीकी स्त्रियां वहीं रुक जायंगी जहां इस्लामी रिवाजके मुताबिक उन्हें रुक जाना चाहिये । उन्हें मैं ऐसे किसी भी व्यक्तिकी रक्षामें छोड़ दूंगा, जिसे आप नियुक्त करेंगे । परन्तु मैं बहुत खुश होऊंगा, अगर आप किसी मुसलमानको उनका रक्षक चुनें । किन्तु जो मुसलमान मित्र गांधीजीको वहांसे ले गये थे उन्होंने कहा, इन्हें छोड़ जानेकी जरूरत नहीं । हम इन्हें "औरतें नहीं, पर महात्माजीकी बेटियां" समझते हैं । इस पर सारी मंडली दरगाहके भीतर ले जाई गई । मिठाइयोंसे भरी हुई एक तश्तरी गांधीजीको भेंट की गई । मिठाई उन्होंने अपने आसपासके लोगोंमें बांट दी । मुसलमानोंमें से एकने अनुरोध किया कि गांधीजीकी मंडलीकी महिलाएं मुस्लिम प्रार्थना फातिहाकी आयतें गायें, जैसे वे रोज शामकी प्रार्थना-सभामें गाती हैं । उन्होंने खुशीसे फातिहा गाया ।

जब गांधीजीने दरगाहके सुन्दर संगमरमरकी जाली पर विध्वंसके निशान देखे, तो वे गहरा निःश्वास छोड़ कर बोले : "मुझे डर है कि पाकिस्तानके हिन्दू और सिक्ख धर्मस्थानोंको भी ऐसी ही हानि पहुंची होगी ।" अखबारोंमें ऐसी खबर छपी थी कि पाकिस्तान सरकारके वक्तव्यके अनुसार पेशावरके पाराचिनार निराश्रित-शिविरमें कबायली इलाकेसे आकर हमलावरोंने १३० निर्दोष हिन्दुओं और सिक्खोंकी हत्या कर दी है । यह डर था कि वास्तविक हताहतोंकी संख्या इससे बहुत अधिक होगी । फिर भी इससे उत्तेजित होकर राजधानीमें कोई हिंसाकाण्ड नहीं हुआ। जब गांधीजी दरगाहसे निकले तो बोले : "मुझे यह कहना पड़ेगा कि मेरे अहिंसक साहसके आवाहनका उत्तर सिक्खोंकी तरफसे मेरी आशासे कहीं अधिक अच्छा मिलता है ।"

दरगाहमें अपने भाषणके दौरान पाराचिनारकी घटनाका जिक्र करते हुए गांधीजीने कहा: "मैं तो चाहता हूं कि आप यह प्रण कर लें कि आप फिर कभी शैतानकी बात नहीं सुनेंगे और भाईचारे और शांतिका मार्ग नहीं छोड़ेंगे ।" इस समाचारसे मुझे आघात पहुंचा है, परन्तु ऐसी घटनाओंसे भी आपको अपने दिलोंमें बदलेकी भावनाको फिरसे नहीं जागने देना चाहिये । इसे आपको अपनी श्रद्धाकी एक कसौटी समझना चाहिये । आपको अपने-आपसे और सभी संबंधित लोगोंसे कहना चाहिये कि हम खूनके बदलेमें खून लेनेके लिए नहीं तुले हुए हैं, परन्तु हत्यारेके

साथ भी हम प्रेमसे मिलेंगे । यदि दिल्लीके लोग अपने हृदयोंको पूरी तरह शुद्ध कर लें और शुद्ध रखें, तो दिल्ली भारतकी समस्याको हल कर सकती है । इसके विपरीत, जो बात आपके मनमें नहीं है उसे अगर आप मेरे जैसे बूढ़ेका जीवन बढ़ानेके लिए ही करेंगे, तो आप वास्तवमें मेरी मौत जल्दी लायेंगे, भले ही आप भ्रममें रहकर यह मानते रहें कि आप मेरे प्राण बचा रहे हैं ।

काश्मीर-प्रश्नके सम्बन्धमें संयुक्त राष्ट्रसंघकी सुरक्षा-परिषद् जिस ढंगसे काम कर रही थी, उससे गांधीजीको बड़ी निराशा हुई । भारतकी शिकायत पर विचार करके आक्रमणको हटवानेके बजाय ऐसी स्थिति उत्पन्न की जा रही थी, जिसमें काश्मीरके भविष्यका निर्णय करनेवाला जनमत लेनेसे पहले भारतको काश्मीरसे अपनी सेना हटा लेनेको कहा जाय । वह एक ऐसी संस्था बन गई लगती थी जिसमें खूब सदस्य भर लिये गये हों और जहां झूठ और अपलापका बोलबाला हो । दरगाहसे लौटते हुए रास्तेमें गांधीजी बोले : "आज तो वह संस्था पंडित नेहरूको अपराधीके कटघरेमें रखनेका प्रयत्न कर रही है । यदि हम अत्यंत सावधान नहीं रहे, तो अपना नाम कलंकित करके हम वहांसे निकलेंगे ।"

दिल्लीकी साम्प्रदायिक परिस्थितिमें सुधार करनेके बारेमें जो आश्वासन मिल रहे थे उन्हें ध्यानमें रखते हुए गांधीजीने अपनी एक प्रार्थना-सभामें सुझाया था कि एक कदम आगे बढ़ानेके तौर पर प्रार्थना-सभामें आनेवाले प्रत्येक हिन्दू और सिक्खको अपने साथ कमसे कम एक मुसलमानको लाना चाहिये । जब शामकी प्रार्थना-सभामें उन्होंने पूछा कि सभामें मुसलमान कितने हैं, तो केवल एक हाथ उठा । इससे उन्हें बड़ी निराशा हुई ।

जब गांधीजी प्रार्थनासे लौटे उस समय अमरीकी ग्रन्थकार विन्सेण्ट शीअन अपनी पहली मुलाकातके लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । मुलाकात दूसरे दिन भी जारी रही । उन्होंने साधन और साध्यके तथा गीतामें प्रतिपादित कर्मफल-त्यागके तत्त्वज्ञानकी चर्चा की । गांधीजीका मत था कि यद्यपि गीताका सारा तर्क धर्मयुद्धको उचित ठहरानेके लिए किया गया है, फिर भी उस तर्कको सांसारिक स्तर पर लागू किया जाय, तो यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि भौतिक युद्ध

उचित है, बल्कि यह निकलता है कि भौतिक युद्ध गलत और व्यर्थ है । बल-प्रयोगके विषयमें गांधीजीका विरोध इसलिए नहीं था कि बलका प्रयोग अन्यायपूर्ण युद्धके समर्थनमें भी किया जा सकता है; उनका विरोध बुनियादी था । "मैं नहीं जानता कि तत्त्वतः श्रेयस्कर क्या है । इसलिए मैं परिणामोंसे वास्ता नहीं रखता । मैं साधनकी ही चिन्ता रखूं तो काफी है ।" उदाहरणार्थ, प्राकृतिक चिकित्साका समर्थक होनेके नाते मेरा सल्फावाली दवाइयों (सल्फा ड्रग्स) में विश्वास नहीं है । मान लीजिये कि मुझे मोतीझरा हो जाय । तो क्या मुझे अपनी मान्यता छोड़ कर ऐसी दवाइयां ले कर अपना इलाज करानेकी कोशिश करनी चाहिये ? "मुझे मालूम नहीं कि मेरे लिए या मानव-समाजके लिए ये दवाइयां काममें लेकर चंगा हो जाना अच्छा है या नहीं । इसलिए मैं ये दवाइयां लेनेसे इनकार करता हूं । . . . यदि कभी-कभी भलाईका परिणाम बुराईमें आता दिखाई दे, तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि जिन साधनोंका उपयोग किया गया है वे कदाचित् गलत थे ।" मेरे तत्त्वज्ञानमें साधन और साध्य पर्यायवाचक शब्द हैं । "अच्छे कर्मका अच्छा फल प्राप्त करना हो, तो उसके पीछे शुद्ध साधन होने चाहिये ।"

इसके बाद गांधीजीके मुलाकातीने पूछा : चूंकि जो लोग शासन करते हैं उन्हें "कर्मकी सत्यता" की अपेक्षा "कर्मके फलों" की चिन्ता अधिक होती है, इसलिए आपके तत्त्वज्ञानके अनुसार समाजमें सुशासन होगा ही कैसे, अगर अहिंसा और सत्कर्ममें विश्वास रखनेवाले लोग सरकारसे दूर रहेंगे? उत्तरमें गांधीजीने उन्हें अहिंसक बल द्वारा समर्थित प्रातिनिधिक लोकतंत्रका अपना सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे समझाया (देखिये पृष्ठ ३१९-२१) । आगे उनसे पूछा गया: क्या इसके लिए इतने लम्बे और ऊंचे दर्जेके अनुशासनकी आवश्यकता नहीं होगी, जिसकी आशा साधारण लोगोंसे नहीं रखी जा सकती ? इसका उत्तर उन्होंने दिया: "नहीं ।" ऐसा सोचनेका कारण लोगोंकी जड़ता है । "जो चीजें मेरे विचारसे मानव-जातिके लिए वस्तुतः बहुत महत्त्वकी नहीं हैं, उनके अध्ययनको जरूरतसे ज्यादा महत्त्व दिया जा रहा है और शाश्वत वस्तुओंकी उपेक्षा की जा रही है । उदाहरणके लिए, इस बातको लीजिये कि पृथ्वीसे सूर्य कितनी दूर है अथवा पृथ्वी गोल है या नहीं । जीवन-सम्बंधी नियमोंका पता लगानेके लिए जो अनुशासन आवश्यक है वह कम

महत्त्वकी चीज नहीं है, फिर भी हम कहते हैं कि वह अनुशासन इतना श्रमसाध्य है कि इनेगिने लोग ही उसे सिद्ध कर सकते हैं । उदाहरणार्थ, हम कई प्रकारकी चोरी करते हैं – किसी भी प्रकार की चोरी न करनेके लिए कुछ मानसिक संतुलन, कुछ ध्यान आवश्यक होता है । मैंने अपना समय कोरे अध्ययनमें न लगा कर उन वस्तुओंके आचरणमें लगाया है जो कामकी हैं ।" इससे सार यह निकलता है कि यदि लोग सही दृष्टिकोण और मूल्योंकी सही समझ पैदा कर लें, तो अहिंसक समाज-व्यवस्थाकी स्थापना करना इतना कठिन नहीं होगा ।

शीअनका यह प्रश्न भी था : क्या आणविक शक्तिका दुरुपयोग हमारी पृथ्वीके लिए खतरा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दृश्य विश्व नाशवान है ? गांधीजीने उत्तर दिया : सब कुछ संभव है। उसमें "दृश्य वस्तुओं का नाश भी शामिल है । . . . फिर तो पीछे रह जानेवाले यदि कोई होंगे तो वे कहेंगे, 'कैसा विलक्षण दृश्य है ! ' " मुझे बहुत सन्देह है कि अणुयुगके आगमनसे मान्व-समस्याओं पर कोई बुनियादी असर पड़ेगा । "उन लोगोंका दावा है कि एक ही अणुबमसे सारा युद्धक्रम बदल गया है और युद्धका अन्त बहुत निकट आ गया है । फिर भी अभी दिल्ली दूर है । क्या अणुबमके प्रयोगसे जापानियोंकी आत्मा पर विजय प्राप्त हो गई ? न तो हुई, और न हो सकती है । इसके लिए हिटलरकी पद्धतिसे काम करना होगा । लेकिन वह किस हेतुके लिए ? अन्तमें जीत तो हिटलरवादकी ही होगी न ?"

इसके बाद उन्होंने पिछले युद्धके विषयमें बातें कीं । गांधीजीके मुलाकातीकी दलील यह थी कि सारी गीता धर्मयुद्धके पक्षमें एक तर्क है । पिछला युद्ध "पवित्र उद्देश्यका ही युद्ध" था, फिर भी उसका परिणाम यह हुआ है कि हिंसाका विश्वमें पहलेसे अधिक बोलबाला है । जहां तक पिछले युद्धके परिणामसे सम्बंध था, गांधीजी इससे सहमत थे । हम भारतवासी भी उसके बादके परिणामोंसे नहीं बच सके । "देखिये, भारत क्या कर रहा है । देखिये, काश्मीरमें क्या हो रहा है ? मैं इससे इनकार नहीं कर सकता कि यह मेरी मौन सम्मतिसे हो रहा है । वे मेरी सलाह नहीं मानते, मेरी बात नहीं सुनते । फिर भी यदि वे इस चीजसे ऊब गये हों, तो मैं आज ही उन्हें रास्ता बता सकता हूं । और देखिये, संयुक्त राष्ट्रसंघ कैसा प्रदर्शन कर रहा है । फिर भी मुझमें श्रद्धा है ।

अगर मैं बहुत दिन जीता रहा . . . तो उन्हें सब चीजोंकी व्यर्थता समझमें आ जायगी और वे मेरे मार्ग पर आ जायंगे ।"

गांधीजीने कहा : परन्तु मैं इस बातसे सहमत नहीं हूं कि गीताका उद्देश्य अथवा सारा तर्क धर्मयुद्धके पक्षमें है । यद्यपि गीताका तर्क भौतिक युद्धके वातावरणमें प्रस्तुत हुआ था, फिर भी उसमें जिस "धर्मयुद्ध" का उल्लेख है वह हमारे भीतर भलाई और बुराईके बीच निरन्तर होनेवाला द्वन्द्व है । कमसे कम एक प्रमाण ऐसा है जो मेरे अर्थका समर्थन करता है । गीतामें न तो हिंसाका निरूपण है और न अहिंसाका, उसमें तो निस्स्वार्थ कर्मका सन्देश है । उसका अर्थ है सही साधनसे सही कर्म अनासक्त वृत्तिसे किया जाय और कर्मफलको ईश्वर पर छोड़ दिया जाय ।

२९ जनवरीको तीसरे पहर बन्नूके कुछ शरणार्थी गांधीजीसे मिलने बिड़ला-भवनमें आये । ये गांधीजीके उपवाससे पहले गुजरात स्टेशन पर रेलमें हुए हत्याकांडसे बचे हुए लोग थे । उनमें से एकने गांधीजीसे कहा : "अब आप आराम क्यों नहीं करते ? आप हमें काफी हानि पहुंचा चुके हैं । आपने हमें बिलकुल बरबाद कर दिया है । अब तो आपको हमें छोड़ कर हिमालयमें चले जाना चाहिये ।"

गांधीजी : "मैं किसीके कहनेसे निवृत्ति नहीं ले सकता। मैंने तो अपनेको पूरी तरह ईश्वरके आदेश पर ही छोड़ रखा है ।"

वह आदमी बोलता ही रहा : "हमारे द्वारा ईश्वर ही आपसे बोल रहा है । हमारे दुःखका पार नहीं है ।"

गांधीजी : "मेरा दुःख आपसे कम नहीं है ।"

शामकी प्रार्थना-सभामें इस घटनाका उल्लेख करते हुए गांधीजी बोले : मैं आप लोगोंको छोड़ कर पहाड़ोंकी शान्तिका आनन्द लेनेके लिए नहीं भाग सकता । लेकिन अगर आप सब हिमालय चलें, तो आपका सेवक बन कर मैं भी आपके साथ-साथ चलूंगा ।

२९ जनवरीका सारा दिन मुलाकातोंसे भरा रहा। शामको गांधीजी बिलकुल थक गये थे। कांग्रेस कार्यसमितिके लिए कांग्रेस-विधानका जो मसौदा तैयार करनेकी जिम्मेदारी उन्होंने ली थी, उसकी ओर इशारा करके उन्होंने आभासे कहा : "मेरा सिर चकरा रहा है, फिर भी मुझे इसे पूरा करना ही होगा।" फिर उन्होंने यह कहा : "मुझे भय है कि आज मुझे देर तक जागना होगा।"

सवा नौ बजे वे सोनेके लिए उठे। बिस्तर पर लेटनेके बाद वे आम तौर पर अपनी सेवामें रहनेवालोंको अपने थके हुए अंगों पर मालिश करने देते थे – अपने सुखके लिए नहीं परन्तु उनके संतोषके लिए। इससे दिन भरके भारी कार्यक्रमके बाद हल्की-सी चिन्ता-निवारक बातचीतका मौका भी उन्हें मिल जाता था। कभी-कभी वे मजाक भी कर लेते थे। लेकिन ये मजाक कभी अर्थशून्य नहीं होते थे। चलते समय अपने हाथ लड़कियोंके कन्धों पर रखनेकी आदतका जिक्र करते हुए वे बोले : "मैं लड़कियोंको अपनी 'बैसाखी' बनने देता हूं, किन्तु सच पूछा जाय तो मैंने किसी बातके लिए किसी पर निर्भर न रहनेकी आदत बना ली है। लड़कियां मुझे अपना पिता समझ कर मेरे पास आती हैं। मुझे यह अच्छा लगता है, लेकिन व्यक्तिगत रूपमें मेरे लिए इसका कोई अर्थ नहीं है।"

सेवाग्राम आश्रममें रहनेवाली एक महिला गांधीजीसे मिलने आई थी। उसके दुर्बल स्वास्थ्यको देखकर गांधीजीने उसे उलाहना दिया : इससे मालूम होता है कि रामनामने तुम्हारे हृदयमें पूरी तरह प्रवेश नहीं किया है। "परन्तु इसके लिए श्रद्धाकी जरूरत है।" इससे उनके मनमें एक बार फिर यह उत्कंठा पैदा हुई कि एक सम्पूर्ण कार्यके द्वारा उस श्रद्धाका प्रत्यक्ष प्रमाण संसारको दिया जाय, जो उनके भीतर ओतप्रोत थी और जिसे प्रकट करनेके लिए उन्होंने जीवन-भर संघर्ष किया था। एक और आश्रमवासीसे वे बोले : "मुझे कोलाहलके बीच शान्तिकी, अन्धकारके बीच प्रकाशकी और निराशाके बीच आशाकी खोज करनी पड़ेगी।"

राजनीतिक स्थिति पर नजर डालते हुए वे सोचने लगे कि जिन कांग्रेसियोंने आजादीके खातिर घोर परिश्रम किया था और बड़े-बड़े बलिदान दिये थे और जिन पर अब स्वाधीनताका

भार आ गया है, वे पद और सत्ताके लोभमें क्यों फंस रहे हैं ? "यह चीज हमें कहां ले जायगी ? यह कब तक रहेगी ? क्या ऐसा करके हम जगतमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये रख सकेंगे ? मैं कहां खड़ा हूं ? इस बेचैनीके बीच अबाधित शान्ति प्राप्त करनेके लिए मुझे क्या करना पड़ेगा ?" और फिर अपार दुःखके स्वरमें उन्होंने इलाहाबादके प्रसिद्ध उर्दू कवि नज़ीरकी ये सुपरिचित पंक्तियां सुना दीं :

"है बहारे बाग दुनिया चन्द रोज़
देख लो इसका तमाशा चन्द रोज़ ।"

थोड़ी ही देरमें उन्हें खांसीका तेज दौरा हुआ । जब उसे कम करनेके लिए उन्हें पेनिसिलीनकी गोलियां चूसनेको कहा गया, तो उन्होंने अंतिम बार रामनामकी शक्तिसे ही अच्छा होनेका अपना निश्चय दोहराया । उनका एक सेवक उनके सिरमें तेल मल रहा था । उससे उन्होंने कहा : "यदि मैं लम्बे समयकी बीमारीसे अथवा किसी फोड़े-फुंसीसे भी मरूं, तो लोगोंको नाराज करनेका खतरा उठा कर भी संसारके सामने यह घोषणा करना तुम्हारा धर्म होगा कि जैसा ईश्वर-परायण मनुष्य होनेका मैं दावा करता था वैसा सचमुच मैं था नहीं । अगर तुम ऐसा करोगे तो मेरी आत्माको शान्ति मिलेगी । यह भी याद रखो कि अगर कोई आदमी गोली मार कर मेरे प्राण ले ले, जैसे किसीने उस दिन बमसे मेरे प्राण लेनेकी कोशिश की थी, और मैं कराहे बिना उस गोलीका सामना करूं और रामनाम लेते हुए मेरे प्राण निकल जायं, तो ही मेरा दावा सच्चा साबित होगा ।"

३

३० जनवरी, १९४८ के विधि-निर्मित दिन गांधीजी सदाकी भांति प्रातः ३-३० बजे जाग गये। उनकी मंडलीमें से एक साथी प्रार्थनाके लिए नहीं उठा । इसका उन्हें दुःख हुआ। अपने साथीकी इस तुच्छ-सी भूलका कारण उन्होंने अपनी ही किसी त्रुटिको माना । प्रातःकालीन

प्रार्थनाके बाद वे अपनी गद्दी पर बैठ कर कांग्रेसके पुनर्संगठन पर अपने उस नोटका मसौदा पूरा करने लगे, जो वे पिछली रात पूरा नहीं कर पाये थे ।

उपवासके बाद वे अभी तक कमजोरी महसूस कर रहे थे । पौने पांच बजे उन्होंने अपने नियमानुसार गरम पानी, शहद और नीबूका रस लिया और एक घंटे बाद १६ औंस नारंगीका रस लिया । फिर वे एक झपकी लेनेके लिए लेट गये । थोड़ी देर बाद वे जाग गये और उन्होंने अपने पत्र-व्यवहारकी फाइल मंगवाई । उसमें उन्होंने एक गुजराती पत्र ढूंढ़ा, जो उन्होंने किशोरलाल मशरूवालाको पहले दिन लिखा था । वह किसी प्रकार उनकी फाइलमें भूलसे इधर-उधर रख दिया गया था और डाकमें नहीं पड़ा था । थोड़ी खोजके बाद वह मिल गया । उन्होंने उसे डाकमें डालनेके लिए दे दिया । पत्र इस प्रकार था :

२९ जनवरी, १९४८

चि. किशोरलाल,

यह पत्र लिखनेके लिए मैं सुबहकी प्रार्थनाके बादका समय काममें ले रहा हूं । शंकरन्‌जीकी लड़कीकी मृत्युका समाचार मुझे देकर तुमने अच्छा किया । मैंने उन्हें पत्र लिखा है । मेरे सेवाग्राम आनेकी योजना अभी अनिश्चित है । यदि दिल्लीमें मेरा काम पूरा हो जाता, तो अपनी प्रतिज्ञा (करने या मरनेकी) पूरी करनेके लिए मेरा यहां रहना आवश्यक न होता । परन्तु इसका निर्णय करना तो यहांके साथियोंका काम है । शायद कल इसका फैसला हो जायगा । . . .

बापूके आशीर्वाद

श्री शंकरन्‌को यह शोकपत्र भेजा गया था : “किशोरलालने मुझे तुम्हारी पुत्री सुलोचनाके अवसानकी खबर दी । . . . मैं तुम्हें क्या लिख सकता हूं ? तुम्हें क्या सान्त्वना दे सकता हूं ? मृत्यु हमारा सच्चा मित्र है । दुःख हमें अपने अज्ञानसे ही होता है । सुलोचनाकी आत्मा तो कल भी थी, आज भी है और कल भी रहेगी । हां, शरीर तो मरेगा ही । सुलोचना अपने दोष साथ ले कर और

अपने गुण पीछे छोड़ कर गई है । उसका स्मरण तुम्हें अपने कर्तव्य-पालनमें अधिक जागरूक बनाये ।"

गांधीजीकी तबीयत सुबहकी सैरके लिए निकलने जितनी अच्छी नहीं थी । इसलिए वे थोड़ी देर कमरेके भीतर ही इधर-उधर टहलते रहे । अपनी खांसीको शान्त करनेके लिए वे पिसे हुए लौंगके साथ ताड़गुड़की गोलियां लिया करते थे । लौंगका चूर्ण खतम हो गया था । इसलिए मनु उनके साथ टहलनेमें शरीक होनेके बजाय थोड़ासा चूर्ण तैयार करने बैठ गई । उसने गांधीजीसे कहा : "अभी आ कर साथ हो जाती हूं । नहीं तो रातको जरूरत पड़ने पर जरासा भी चूर्ण नहीं रहेगा ।" गांधीजीको यह पसन्द नहीं था कि कोई अपना तात्कालिक कर्तव्य छोड़ कर आगेकी चिन्ता करे और अनिश्चित भविष्यका प्रबंध करे । उन्होंने मनुसे कहा : "कौन जानता है रात पड़नेसे पहले क्या होगा अथवा मैं जीता भी रहूंगा या नहीं ?" यह भी कहा :"अगर रातको मैं जीवित रह गया, तो तुम आसानीसे चूर्ण तैयार कर सकती हो ।"

रोजके समय पर मालिशके लिए अतिथि-गृहके मेरे कमरेसे गुजरते हुए उन्होंने मुझे कांग्रेसके नये विधानका मसौदा दिया – वह राष्ट्रके नाम उनका आखिरी वसीयतनामा था – और मुझसे कहा : "इसे सावधानीसे पढ़ लो और कोई बात रह गई हो तो उसे जोड़ देना । मैंने इसे भारी तनावमें तैयार किया है ।"

मालिशके बाद गांधीजीने मुझसे पूछा: "क्या तुमने मसौदेको दोहरा लिया?" और नोआखालीके मेरे अनुभवों तथा प्रयोगोंके प्रकाशमें मुझसे एक नोट इस विषय पर तैयार करनेको कहा कि मद्रासमें अन्न-संकटके खतरेका सामना कैसे किया जाय । वे बोले : "खाद्य-मंत्राक्य घबरा रहा है, परन्तु मेरी राय यह है कि अगर लोग अपने साधनोंका अच्छी तरह और किफायतसे उपयोग करना सीख लें, तो मद्रास जैसे प्रान्तको – जहां प्रकृतिकी कृपासे नारियल और ताड़की, मूंगफली और केलेकी इतनी बहुतायत है और इतने प्रकारके कन्द और मूल मौजूद हैं –भिक्षापात्र

लेकर घूमनेकी जरूरत न पड़े।" [यह बादमें 'कुछ सहायक सुझाव' शीर्षकसे २२ फरवरी १९४८ के 'हरिजन' में प्रकाशित हुआ था]

फिर उन्होंने स्नान किया। स्नान करके निकलने पर वे बहुत ताजे दिखाई दिये। पिछली रातकी उनकी थकान गायब हो गई थी और वे अपनी सदाकी उज्ज्वल प्रसन्नतासे परिपूर्ण थे। उन्होंने आश्रमकी लड़कियोंको उनके कमजोर स्वास्थ्यके लिए उलाहना दिया। जब किसीने उनको बताया कि सेवाग्राम आश्रमवासिनी एक बहन, जो उस दिन चली जानेवाली थी, किसी सवारीके न होनेसे गाड़ी चूक गई, तो वे बोले : "वह स्टेशन पर पैदल क्यों नहीं चली गई ?" यह बात वैसे ही नहीं कह दी गई थी। वे प्रत्येक व्यक्तिसे आशा रखते थे कि वह सिपाहीकी तरह प्रत्येक विशेष स्थितिका सामना उपलब्ध साधनोंसे ही करे। वे जिसे भी कोई काम सौंपते थे उसे बराबर यह सूचना करते रहते थे : "इसमें भूल न हो।" सुविधाओंके अभावका या अमल करनेकी कठिनाईका बहाना वे कभी नहीं मानते थे। दांडीके ऐतिहासिक नमक-कूचसे दो वर्ष पूर्व दक्षिण भारतके अपने एक दौरेमें जब एक बार मोटरोंका पेट्रोल खतम हो गया, तो गांधीजी निश्चित समय पर जरूरी कागजात लेकर १३ मील दूरके निकटतम रेलवे-स्टेशनके लिए पैदल चल देनेको तैयार हो गये थे।

इसके बाद उनका वजन लिया गया तो वह १०९ पौण्ड निकला। बंगला लिखनेका अपना दैनिक अभ्यास पूरा करनेके बाद उन्होंने ९-३० बजे सुबहका खाना खाया। उसमें उबला हुआ साग, १२ औंस बकरीका दूध, चार पके टमाटर, चार संतरे, कच्ची गाजरोंका रस और अदरख, खट्टे नीबू तथा घृतकुमारीका काढ़ा था। खाते-खाते उन्होंने वे परिवर्धन और परिवर्तन पढ़ लिये, जो मैंने कांग्रेस-विधानके मसौदेकी प्रत्येक धारामें किये थे, और पंचायतके नेताओंकी संख्यामें मूल मसौदेकी गणना-संबंधी एक भूल सुधार दी।

पिछले दिन उन्होंने मुझे डॉ. राजेन्द्रप्रसादके पास उनके कुशल-समाचार पूछनेको भेजा था और डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जीके पास भी मुझे एक संदेशके साथ भेजा था। मुकर्जी उस समय

केन्द्रीय मंत्रि-मंडलके मंत्री थे । संदेशमें एक हिन्दू महासभाई कार्यकर्ताकी प्रवृत्तियोंकी ओर उनका ध्यान दिलाया गया था, जो लोगोंको कुछ कांग्रेसी नेताओंकी हत्याके लिए उकसानेवाले अत्यंत जहरीले भाषण दे रहा था । क्या हिन्दू महासभाके नेताकी हैसियतसे डॉ. मुकर्जी अपने अधिकारका उपयोग करके ऐसे उग्र भाषणोंको रोक नहीं सकते ? डॉ. मुकर्जीका उत्तर पंगु और असन्तोषजनक था । मालुम होता है उन्होंने ऐसे गैर-जिम्मेदार भाषणों और प्रवृत्तियोंसे पैदा होनेवाले खतरेकी गंभीरताको बहुत कम आंका और यह नहीं सोचा कि थोड़े ही समयमें उनकी कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी । जब मैंने डॉ. मुकर्जीका जवाब गांधीजीको सुनाया, तो उनके माथे पर बल पड़ गये ।

उसके बाद मैंने गांधीजीको नोआखालीके ताजे समाचार सुनाये, जो मुझे डॉ. मुकर्जीसे मिले थे । इस पर नोआखालीकी चर्चा छिड़ गई । पिछले दिन मैंने गांधीजीसे पूछा था : काश्मीरके प्रश्न पर दोनों देशोंमें युद्धकी सम्भावना हो, तो नोआखालीमें काम कर रहे हम लोगोंसे आप क्या करनेकी आशा रखेंगे ? नोआखालीके हिन्दू-निवासी बहुत पहले ही भारत चले आते, यदि उन्हें हमारी बात पर भरोसा न होता और वहां हमारी उपस्थितिसे उनमें विश्वासकी भावना न रहती । मान लीजिये कि हम सबको युद्धबन्दी बनाकर नजरबन्द छावनियोंमें रख दिया जाय, तो उनका क्या हाल होगा जिन्होंने हम पर विश्वास किया है ? क्या औरतोंको बेइज्जतीका खतरा उठानेके लिए छोड़ दिया जाय ? क्या ऐसी परिस्थितिमें समय रहते उनके योजना-बद्ध निष्क्रमणके लिए काम करना बेहतर न होगा – खासकर इसलिए कि पाकिस्तान अब विदेशी प्रदेश है ? उत्तरमें उन्होंने लिखा : “मैंने जो कुछ कहा वह तुम्हारे दिल और दिमागको जंचता हो, तो जब तक तुम आजाद हो तब तक लोगोंको अपनी रक्षा आप करना सिखाते रहो । अगर अहिंसाका मिशन पूरा करते-करते तुम्हारी मृत्यु आ जाय, तो उसका आलिंगन करना । अगर वे लोग तुम्हें जेलमें डाल दें, तो आमरण अनशन करना । जिनमें यह क्षमता हो वे नोआखालीमें डटे रहें और स्त्रियोंके साथ होनेवाले किसी भी व्यवहारसे विचलित न होकर मौतका सामना करें । कायरोंकी तरह पीठ तो हरगिज नहीं दिखानी चाहिये ।”

मैंने अपनी कठिनाई फिर उनके सामने रखी : "नजरबन्द छावनीमें हम तो सुरक्षित रहेंगे। तब हम स्त्रियोंको भाग्यके भरोसे कैसे छोड़ सकते हैं ?" उनका दृढ़ उत्तर था : मौतसे तो बचा नहीं जा सकता । जैसे कार्यकर्ताओंको "करने या मरने" के लिए तैयार होना पड़ता है, वैसे ही उन्हें लोगोंको और स्त्रियोंको भी "करने या मरने" के लिए तैयार करना पड़ेगा । दोनों ही खतरेसे भाग नहीं सकते । "क्या सशस्त्र युद्धमें कभी-कभी पूरेके पूरे बटालियनोंका सफाया नहीं हो जाता ? इसके सिवा, जो लोग छावनियोंके भीतर होंगे उनमें यदि आमरण अनशनकी क्षमता होगी, तो वे बाहरकी घटनाओंके निःसहाय साक्षी नहीं रहेंगे । बाहर रहकर भी वे इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते । सम्भव है, इस प्रकार अन्तमें बहुत थोड़े कार्यकर्ता रह जायं । परन्तु दुर्बलोंको बलवान बनानेका दूसरा कोई उपाय नहीं है ।"

नोआखालीमें मैं रचनात्मक अहिंसाके कुछ प्रयोग करता रहा था । उनमें से कुछको मैंने गांधीजीकी आज्ञासे 'हरिजन' में लेखबद्ध किया था । उनका जिक्र करते हुए वे बोले : "मैं स्वयं ये सब बातें करनेके लिए कितना उत्सुक रहा हूं ! जरूरत इस बातकी है कि हम मौतका डर छोड़ कर जिनकी सेवा करें, उनके हृदयको जीत कर उनका स्नेह प्राप्त करें । तुमने यह काम किया है । प्रेमके साथ तुमने ज्ञान और परिश्रमको जोड़ दिया है । दूसरोंको भूल जाओ । अगर एक आदमी – उदाहरणार्थ केवल तुम ही – अपना कर्तव्य पूरी तरह और अच्छी तरह अदा करे, तो दूसरे सब उसमें आ जाते हैं । मैंने तुम्हें बता दिया कि मुझे तुम्हारी यहां जरूरत है । मुझसे दूर रहकर तुमने और मैंने बहुत-कुछ खोया है । ऐसी बहुतसी बातें हैं जो मैं दुनियाको देना चाहता था, परन्तु नहीं दे सका; क्योंकि मैं तुम्हें नोआखालीमें छोड़ आया था । फिर भी मुझे लगता है कि सब बातोंको देखते हुए हानिके बजाय लाभ ही अधिक हुआ है । तुम नोआखालीमें जो कुछ कर रहे हो, वह मेरी दृष्टिसे अधिक मूल्यवान है ।"

मैंने गांधीजीसे पूछा : अगर नोआखालीके अधिकारी स्थानीय बदमाशों और उनके बदनाम सरगनोंके खिलाफ कोई कार्रवाई न करें, तो हमें क्या करना चाहिये ? उन्होंने कहा : इसका मार्ग यह है कि हम सरगनोंसे साहस और श्रद्धाके साथ मिलें और मनमें जरा भी कटुता या क्रोध न

रख कर उनके बुरे काम उन्हें समझा दें । “उनके साथ बात करनेमें कोई कमजोरी नहीं दिखानी चाहिये या इधर-उधरकी बातें नहीं होनी चाहिये । मुंह देखी कहनेकी नीति अपनानेसे काम नहीं चलेगा । यदि तुम्हारे हृदयमें प्रेमके सिवा कुछ नहीं है, तो तुम्हारी बात उन्हें जंच जायगी । ‘क’ के मामलेमें मैंने ऐसा ही किया था । अब वह आदमी बदल गया है । अपराधियोंको अपना अपराध साफ-साफ स्वीकार करना चाहिये, तभी सच्ची मित्रता हो सकती है ।” इसके बाद उन्होंने अपनी प्रस्तावित पाकिस्तान-यात्राकी योजनाकी रूपरेखा मेरे सामने रखी और कहा : “तुम नोआखाली जा सकते हो और वहांकी जिम्मेदारियोंसे मुक्त होकर समय पर लौट सकते हो, ताकि मेरे साथ पाकिस्तान चल सको ।” मैंने उनसे कहा: तब तो मुझे नोआखालीके लिए आज ही रवाना हो जाना चाहिये । उन्होंने कहा : “नहीं, तुम मेरे वर्धाके लिए रवाना होनेके बाद ही जा सकते हो । इसका अर्थ यह है कि शायद २ फरवरीको जा सकते हो ।” यह भी मुझे जरा असाधारण-सी बात लगी । वे कभी किसीसे अपने कर्तव्यके स्थान पर विलम्बसे लौटने की बात नहीं कहते थे ।

साढ़े दस बजे वे आराम करनेके लिए अपनी खटिया पर लेट गये और नींद आनेसे पहले अपना दैनिक बंगला पाठ तैयार करते रहे । जब के जागे तो उन्होंने सुधीर घोषको देखा, जो हाल ही में हैदराबादसे लौटे थे । सुधीरने और बातोंके साथ-साथ लंदन ‘टाइम्स’ की एक कतरन और एक अंग्रेज मित्रके पत्रके कुछ अंश गांधीजीको पढ़कर सुनाये, जिनसे प्रकट होता था कि किस प्रकार कुछ लोग सरदार पटेल और पंडित नेहरूके मतभेदोंसे लाभ उठाकर उन्हें बढ़ानेके लिए सतत प्रचार कर रहे थे – एक ओर वे सरदारको सम्प्रदायवादी बताकर उनकी निन्दा कर रहे थे और दूसरी ओर पंडित नेहरूकी प्रशंसाका ढोंग रच रहे थे । गांधीजी बोले : मैं इससे अच्छी तरह परिचित हूं । इसकी चर्चा मैं अपने एक प्रार्थना-प्रवचनमें पहले कर चुका हूं । मैं सोच रहा हूं कि इस विषयमें और क्या किया जाय ।

तीसरे पहर किसी जरूरी कामसे मैं शहर जानेवाला ही था कि दिल्लीके मौलाना लोग आ पहुंचे । उनके साथ अपने सेवाग्राम और पाकिस्तानकी सोची हुई मुलाकातकी चर्चा करते हुए गांधीजीने उनसे कहा : यदि मैं प्रस्तावित तारीखको सेवाग्राम नहीं जाता हूं, तो मेरी सारी योजनाएं

गड़बड़ा जायंगी । मौलाना बोले : हस अपने लिए आपको रोकना नहीं चाहते, क्योंकि हम जानते हैं कि आप जहां भी होंगे वहां हमारे लिए काम करते रहेंगे । इस बीच हम जानकर आपको बता सकेंगे कि आपके उपवासके फलस्वरूप जो वचन दिये गये हैं, उनका कैसा पालन हो रहा है । हमें आशा है कि आप १४ फरवरी तक दिल्ली लौट सकेंगे । गांधीजीने उत्तर दिया : "मुझे १४ तारीख तक यहां लौट आनेकी आशा जरूर है । परन्तु विधाताकी और कुछ इच्छा हुई तो बात दूसरी है । परन्तु मुझे यह भरोसा नहीं कि मैं परसों भी दिल्ली छोड़ सकूंगा । सब कुछ ईश्वरके हाथमें है ।"

यह पूछने पर कि आपके सेवाग्राम पहुंचनेकी तारीखकी सूचनाका तार भेज दिया जाय, उन्होंने कहा: "तार पर रुपया बरबाद क्यों किया जाय ? मैं अपने प्रार्थना-प्रवचनमें तारीखकी घोषणा कर दूंगा । वे लोग तार पहुंचनेसे भी पहले सेवाग्राममें अखबारोंमें देख लेंगे ।"

दोपहरको डेढ़ बजे उन्होंने पेट पर मिट्टीकी पट्टी रखबाई । धूप तेज थी । इसलिए उन्होंने मुंह पर छाया करनेके लिए नोआखालीके किसानोंवाला बांसका टोप सिर पर रख लिया । एक पत्रकारने उनसे पूछा : क्या यह सच है कि आप १ फरवरीको सेवाग्राम जानेवाले हैं ? गांधीजीने पूछा : "ऐसा कौन कहता है ?" पत्रकारने उत्तर दिया : "अखबारोंमें खबर है ।" गांधीजी बोले : "हां, अखबारोंने घोषणा की है कि गांधी पहली तारीखको जा रहा है । लेकिन मैं नहीं जानता वह गांधी कौन है ।"

मिट्टीकी पट्टी उतर जाने पर मुलाकातें फिर शुरू हो गईं । गांधीजीसे मिलने आनेवालोंमें सीलोनके डॉ. डी-सिल्वा और उनकी पुत्री भी थीं । लड़कीने उनके हस्ताक्षर लिये । शायद गांधीजीने अपने जीवनमें अन्तिम हस्ताक्षर यही दिये थे । उसके बाद एक फ्रांसीसी फोटोग्राफर आया और उसने गांधीजीको एक चित्रावली भेंट की । उसके बाद दूसरी मुलाकातें हुईं । मैं शहर गया उस समय 'लाइफ' पत्रिकाकी मार्गरिट बर्क-व्हाइट गांधीजीसे भेंट कर ही रही थीं ।

४ बजे मुलाकातें खतम हुईं। इसके बाद गांधीजी सरदार पटेलके साथ अपने कमरेमें चले गये और कातते-कातते उनसे एक घंटेसे अधिक बातचीत करते रहे। सरदारके साथ उनकी पुत्री भी आई थी। गांधीजीने सरदारसे कहा : यद्यपि पहले मैंने अपना यह विचार प्रकट किया था कि दोनोंमें से एक अर्थात् आप या जवाहरलाल मंत्रि-मंडलसे हट जायं, लेकिन अब मैं निश्चित रूपसे इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि दोनोंका वहां रहना अपरिहार्य है। आप दोनोंकी जरा-सी भी फूट इस स्थितिमें विनाशकारी सिद्ध होगी। मैं इस विषय पर शामकी प्रार्थना-सभामें भी बोलूंगा। पंडित नेहरू प्रार्थनाके बाद मुझसे मिलेंगे तब उनसे भी इस प्रश्नकी चर्चा करूंगा। जरूरत हुई तो सेवाग्राम जाना मैं स्थगित कर दूंगा और तब तक दिल्ली नहीं छोडूंगा जब तक आप दोनोंके बीचकी दरार अन्तिम रूपसे मिट नहीं जायगी।

सरदारके लिए यह गांधीजीका अन्तिम आदेश बन गया। पंडित नेहरूके साथ उनका दृष्टिभेद बादमें भी बना रहा, परन्तु दोनोंको मिलाकर रखनेवाला वफादारीका बन्धन अटूट हो गया। गांधीजीकी मृत्युके बाद एक बार मुझे सरदारके पास गांधीजीके सौंपे हुए मुसलमानोंके कुछ मामलोंमें न्यायप्राप्तिके लिए जानेका अवसर मिला। सरदारने खुले दिलसे सहायता की और कुछ लोगोंको राहत दिलवाई। कुछ और मामलोंमें उन्होंने मुझे पंडित नेहरूके पास जानेको कहा। मैंने पंडित नेहरूको थोड़ा आवेशपूर्ण पत्र लिखा और मसौदा सरदारको दिखाया। वे बोले : "बहुत अच्छा, भेज दो।" मैं सरदारके कमरेसे निकला ही था कि पंडित नेहरू अन्दर आये। उनका चेहरा पीला, चिन्तित और कई रातोंके जागरणसे निस्तेज दिखाई दिया। मैं इस विचारको बरदाश्त नहीं कर सका कि उन पर जो भार पड़ रहा था उसे और बढ़ाऊं। मैंने सहज बोचसे अपना तैयार किया हुआ मसौदा रद्द कर दिया। ज्यों ही पंडित नेहरू गये, सरदार उसी कमरेमें चले आये जहां मैं था। उन्होंने पूछा : "तुमने जवाहरलालको वह पत्र भेज दिया ?" मैंने उत्तर दिया : "नहीं।" "अच्छा, तो उसे न भेजो। तुमने देखा, जब वे अन्दर आये तो उनका चेहरा कैसा था ? बे चिन्ताके भारसे बुरी तरह दबे हुए हैं।..." मैने उन्हें दिखाया कि मसौदे पर लाल पेंसिलसे "रद्द किया" लिखा है। वे निश्चनत होकर लौट गये।

सरदार और पंडित नेहरूके बीच विचारधाराका संघर्ष गांधीजीके निधनके पश्चात् भी चलता रहा, परन्तु वस्तुस्थितिके गंभीर बनानेवाले प्रभावसे तथा देशके कल्याणके लिए दोनोंकी संपूर्ण निस्स्वार्थ निष्ठाने – जिसके लिए दोनों प्रतिज्ञा-बद्ध थे – व्यवहारमें दोनोंकी कार्य-पद्धतिको लगभग एकसा बना दिया। जहां तक मुझे मालुम है, अपने साथीके प्रति रही बुनियादी वफादारीमें सरदारकी ओरसे रत्ती भर भी फर्क नहीं आया। और पंडित नेहरू समयके नरम बनानेवाले प्रभावके साथ, ज्यों-ज्यों उन पर प्रशासनकी चिन्ताएं और बोझ बढ़ते गये त्यों-त्यों सरदारके अद्वितीय गुणोंकी कदर करने लगे। ढाई वर्ष बाद और अपने निधनसे तीन ही महीने पहले गांधीजीकी जन्मगांठके एक आयोजनमें २ अक्तूबर, १९५० को सरदार पटेलने इन्दौरके अपने एक स्मरणीय भाषणमें कहा : "हमारे नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं। बापूने अपने जीवन-कालमें उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और उसकी घोषणा कर दी। बापूके तमाम सिपाहियोंका धर्म है कि वे बापूके आदेशका पालन करें। जो उस आदेशको हृदयपूर्वक उसी भावनासे स्वीकार नहीं करता, वह ईश्वरके सामने पापी सिद्ध होगा। मैं बेवफा सिपाही नहीं हूं। मैं जिस स्थान पर हूं उसका मुझे कोई खयाल नहीं है। मैं इतना ही जानता हूं कि जहां बापूने मुझे रखा था वहीं अब भी मैं हूं।"

*

हां, तो सरदारके साथ गांधीजीकी बातचीत होती रही। साढ़े चार बजे आभा गांधीजीका शामका खाना लाई। वह लगभग सुबहके जैसा ही था।

प्रार्थनाका समय निकट आ रहा था। परन्तु सरदारकी बातें अभी तक समाप्त नहीं हुई थीं। बेचारी आभा घबरा रही थी, क्योंकि वह जानती थी कि गांधीजी समयकी पाबन्दीको कितना महत्त्व देते हैं – खास तौर पर प्रार्थनाके समयके बारेमें। परन्तु बीचमें बोलनेकी उसकी हिम्मत नहीं हुई। अन्तमें उससे रहा नहीं गया और उसने गांधीजीकी घड़ी उठाकर उनका ध्यान खींचनेके लिए उनके सामने रख दी। परन्तु इससे भी कुछ न हुआ। उसकी परेशानीको देखकर सरदारकी

पुत्रीने कुशलतापूर्वक हस्तक्षेप किया । गांधीजीने प्रार्थना-भूमि पर जानेकी तैयारी करनेके लिए उठते हुए सरदारसे कहा : "अब मुझे तेजीसे भाग जाना होगा ।" रास्तेमें उनकी एक सेविकाने उन्हें बताया कि काठियावाड़के दो कार्यकर्ता मुलाकातका समय मांग रहे हैं । गांधीजीने जवाब दिया : "उनसे कह दो कि प्रार्थनाके बाद आ जायं । मैं जीवित रहा तो उस समय उनसे मिलूंगा ।"

फिर वे प्रार्थना-भूमिकी दिशामें चले । उनके दोनों हाथ आभा और मनुके कंधों पर थे और वे उनके साथ हंसते और विनोद करते आगे बढ़ रहे थे । आभाने तीसरे पहर उन्हें कच्ची गाजर पीस कर खिलायी थी । उसका जिक्र करते हुए उन्होंने उसे उलाहना दिया : "तो मुझे तू पशुओंका आहार खिला रही है !"

आभाने उत्तर दिया : "बा (कस्तूरबा गांधी) इसे घोड़ोंकी खुराक कहती थीं !"

गांधीजीने जोड़ा : "यह कितनी बड़ी बात है कि जिसे कोई छूना भी नहीं चाहेगा, उसीको में स्वाद लेकर खाता हूं !"

आभाने विनोद किया : "बापू, आपकी घड़ी उपेक्षित अनुभव कर रही होगी । आप तो उसकी ओर देखते भी नहीं ।"

उन्होंने व्यंग्य किया : "क्यों देखूं, जब तुम लोग मेरे समयकी रक्षक हो ?"

आभाने कहा: "लेकिन आप तो समय-रक्षकोंकी तरफ भी नहीं देखते ?" गांधीजी हंस दिये ।

जब वे उस चबूतरेकी सीढ़ियों पर चढ़ गये जहां प्रार्थना होती थी, बोले : "मुझे दस मिनटकी देर हो गई । देरसे आनेमें मुझे घृणा होती है । मैं ठीक पांच बजे प्रार्थनामें उपस्थित रहना पसन्द करता हूं ।"

यहां बातचीत एकाएक बन्द हो गई, क्योंकि गांधीजी और उनकी "बैसाखियों" के बीच यह मौन समझौता था कि ज्यों ही वे प्रार्थना-भूमिमें प्रवेश करें, सारे मजाक और बातचीत बन्द हो जानी चाहिये – प्रार्थनाके सिवा और कोई विचार मनमें नहीं रहने चाहिये ।

भीड़ने हटकर गांधीजीके जाने और मंच तक पहुंचनेके लिए रास्ता दे दिया । जब गांधीजीने भीड़के अभिवादनका उत्तर देनेके लिए दोनों लड़कियोंके कंधों परसे अपने हाथ हटाये, उसी समय कोई आदमी दाहिनी ओरसे भीड़को चीरता हुआ आगे आया । मनुने उसका हाथ पकड़ कर उसे रोकना चाहा, परन्तु उसने मनुको जोरसे झटक दिया और प्रणामकी मुद्रामें हाथ जोड़कर गांधीजीके सामने झुकते हुए अपने सात कारतूसवाले पिस्तौलसे एकके बाद एक तीन गोलियां चलाईं । उसने वार इतने निकटसे किया था कि चलाई हुई गोलियोंमें से एक बादमें गांधीजीके कपड़ोंकी तहोंमें पाई गई । पहली गोली पेटमें दायीं तरफ नाभिसे ढाई इंच ऊपर और मध्यरेखाकी दाहिनी ओर साढ़े तीन इंच पर लगी । दूसरी गोली मध्यरेखासे एक इंच दायीं ओर सातवीं पसलीके नीचे लगी और तीसरी गोली स्तनाग्रसे एक इंच ऊपर और मध्यरेखासे चार इंच दूर वक्षकी बायीं ओर लगी । पहली और दूसरी गोलियां पीठको पार करके बाहर निकल गईं । तीसरी फेफड़ेमें जाकर बैठ गई । पहली गोली लगने पर गांधीजीका जो पैर उठ रहा था वह नीचे हो गया । दूसरी और तीसरी गोलियां चलीं तब तक गांधीजी पैरों पर खड़े ही थे । इसके बाद वे जमीन पर लुढ़क गये । उनके मुंहसे निकले अन्तिम शब्द थे "राम ! रोम !" [प्रत्यक्षदशियोंसे मैंने उस समय जो अत्यन्त सावधानी और परिश्रम-पूर्वक जांच की थी, उसके आधार पर मुझे विश्वास हो गया है कि गांधीजीके मुंहसे मूर्च्छित होते समय जो अन्तिम शब्द निकले थे वे 'हे राम!' नहीं परन्तु 'राम राम' थे – वह कोई आह्वान नहीं था, परन्तु सामान्य नामस्मरण था । 'हे राम !' तो वे शब्द थे जो हमने १९४३ में गांधीजीके २१ दिनके उपवासके समय पूनाकी नजरबन्दी-छावनीमें गांधीजीके आसनके सामने लिखकर लटकाये थे । गांधीजीके मुंहसे निकले यथार्थ शब्द 'राम राम' थे । उनके बजाय 'हे राम' कर देना जनताकी ऐसी ही भूलोंका एक और उदाहरण है, जो अम्बरके टुकड़ोंमें घुनकी तरह लग कर इतिहासमें चिरकालके लिए अंकित हो जाती हैं]

गांधीजीका चेहरा राख जैसा भूरा हो गया । सफेद कपड़ों पर लाल धब्बा फैलता हुआ नजर आया । जो हाथ सभाको नमस्कार करनेके लिए उठे थे वे धीरे-धीरे नीचे आ गये और एक बांह आभाके कन्धेके स्वाभाविक स्थान पर गिरी । ढीला और कमजोर शरीर धीरे धीरे लुढ़क गया । तभी हक्कीबक्की बनी हुई लड़कियोंको पता चला कि क्या हो गया है ।

शहरसे लौटते समय मैं अपने मकानसे पांच बरसकी अपनी भतीजीको साथ ले आया था । वह गांधीजीकी लाड़ली थी और उस दिन शामको मेरे साथ बिड़ला-भवन आनेका हठ कर रही थी । जब हम बिड़ला-भवन पहुंचे तो कोई सरदार पटेलकी गाड़ी मंगवानेकी बात कह रहा था । इसका मतलब मैंने यह लगाया कि गांधीजी प्रार्थना-सभामें जानेके लिए अपनी जगहसे उठ गये होंगे और हमें जल्दी करना चाहिये । मैंने बच्चीसे जूते उतार कर मेरे पीछे-पीछे चले आनेको कहा और मैं सीधा प्रार्थना-भूमिकी ओर बढ़ा । मैं प्रार्थना-भूमिके मार्गके खंभोंकी कतार तक पहुंचा ही था कि गांधीजीके एक सहायक बी. पी. चंदवानी सामनेकी तरफसे दौड़े-दौड़े आये । वे चिल्लाये: "फौरन डॉक्टरको फोन कीजिये । बापू गोलीसे मार दिये गये हैं !"

मैं तो दुःस्वप्नकी अवस्थामें पत्थरकी मूर्ति बनकर खड़ा रह गया । अगर बापू "गोलीसे मार दिये गये," तो फिर टेलीफोन किसलिए किया जाय ? मैंने यंत्रकी तरह किसीसे डॉक्टरको फोन करनेके लिए कह दिया ।

सभी स्तब्ध हो गये । मेरी बहनकी सहेली, लेडी हार्डिंग मेडिकल कॉलेजकी स्नातिकाने, जो गांधीजीके पीछे-पीछे आई थी, उनका सिर हलके-से अपनी गोंदमें रख लिया । उस समय गांधीजीका शरीर उसके सामने फैला कांप रहा था और आंखें आधी बन्द थीं । हत्यारे नाथूराम गोडसेको बिड़ला-भवनके माली रघुने पकड़ लिया था और थोड़ीसी गुत्थम-गुत्थाके बाद दूसरोंकी सहायतासे काबूमें कर लिया था ।

निश्चल, शिथिल शरीरको मित्र लोग अन्दर ले गये । धीरेसे उन्होंने उसे उस गद्दी पर लिटा दिया, जिस पर बैठकर गांधीजी काम किया करते थे । परन्तु कुछ भी किया जा सके, उससे

पहले उनके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे । उन्हें अन्दर लानेके बाद एक चम्मच शहद और गरम पानी मुंहमें डाला गया, पर वह भीतर उतरा नहीं । मृत्यु तत्काल हुई दीखती थी । दूसरे दिन शवकी जांचसे पता चला : "मृत्यु . . . आघात और पिस्तौलसे चलाई गई गोलियोंके . . . घावोंके . . . कारण हुए भीतरी रक्तस्त्रावसे हुई थी ।

मेरी बहन सुशीला अभी तक बहावलपुरसे लौटी नहीं थी । डॉ. बी. पी. भार्गव गांधीजीके शवको भीतर लानेके बाद जल्दी ही पहुंच गये थे और सुशीलाकी आकस्मिक दवाइयोंकी पेटीमें जल्दी-जल्दी 'एड्रेनेलिन' खोज रहे थे । मैंने उनसे कहा : कष्ट न कीजिये । गांधीजीने हमसे कह दिया था कि उनके प्राण बचानेके लिए भी निषिद्ध औषधियां उनके शरीरमें न पहुंचाई जायं । जैसे-जैसे आयु बीतती गई वैसे-वैसे उनका झुकाव रामनाम पर आधार रखनेकी ओर बढ़ता गया और उसीको वे अपने और दूसरोंके लिए सब रोगोंकी रामबाण दवा मानते गये । उस दिन उपवासके दौरान ही तो उन्होंने विज्ञानकी मर्यादाओंके बारेमें तर्क करते हुए कहा था : "गीता जिसका उल्लेख करती है उस 'एकांशेन स्थितो जगत्' का इसके सिवा और क्या अर्थ हो सकता है कि वह एक ऐसा धारण करनेवाला तत्त्व है जिस पर सारी सृष्टि निर्भर करती है ?" अपने यजमान घनश्यामदास बिड़लासे उन्होंने रामनाममें अपनी श्रद्धाकी बात करते हुए गहरे नि:श्वासके साथ कहा था : "अगर मैं अपने जीवनमें इस श्रद्धाको चरितार्थ नहीं कर सका, तो मेरी मृत्युके साथ ही वह समाप्त हो जायगी ।" हुआ यह कि 'एड्रेनेलिन' जरूरी दवाइयोंकी पेटीमें नहीं था । नोआखालीमें सुशीलाने गांधीजीके लिए एक शीशी खास तौर पर मंगाकर रखी थी । परन्तु मालूम होता है जब गांधीजी वहांसे बिहार गये, तो उसे अपने साथ नहीं ले गये । इसकी उन्हें चिन्ता ही नहीं थी।

गांधीजीके साथियोंमें सबसे पहले बिड़ला-भवन पहुंचनेवाले सरदार पटेल थे । वे उनके पास बैठ गये, नाड़ी देखी और माना कि अब भी धीमी-धीमी चल रही है । डॉ. भार्गवने नाड़ी देखी, बादमें आंखोंके कोयोंकी परीक्षा की और धीरेसे बोले : "मरेको दस मिनट हो गये हैं ।" डॉ. जीवराज मेहता डॉ. भार्गवके चेहरे पर टकटकी लगाये सामने ही खड़े थे । उन्होंने वेदनासे सिर

हिला दिया । आभा और मनु फूट-फूट कर रोने लगीं, परन्तु थोड़ी ही देरमें संभलकर रामनाम लेने लगीं । महात्माजीके निर्जीव शरीरके पास सरदार पटेल अपना उदास चेहरा लिये पत्थर बनकर बैठे थे । इसके बाद पंडित नेहरू आये और गांधीजीके कपड़ोंमें सिर डालकर बच्चोंकी तरह सिसकने लगे । सरदार पटेलने सान्त्वना देते हुए स्नेहपूर्वक उनकी पीठ पर हाथ फेरा । फिर गांधीजीके सबसे छोटे लड़के देवदास आये और धीरेसे बापूके हाथ अपने हाथोंमें लेकर फूट-फूट कर रोने लगे । बादमें मौलाना आजाद, जयरामदास, राजकुमारी अमृतकौर, आचार्य कृपलानी और कन्हैयालाल मुंशी आये । लॉर्ड माउन्टबेटन उसी दिन वायुयान द्वारा मद्राससे आये थे । वे लेडी माउन्टबेटनको वहांके अपने काम पूरे करनेके लिए पीछे छोड़ आये थे । वे बिड़ला-भवन पहुंचे तब बाहर इतनी भीड़ थी कि वे बड़ी मुश्किल अन्दर आ सके ।

ज्यों ही वे फाटकमें घुसे, उनके चारों ओर भीड़ इकट्ठी हो गई । एक गरम-मिजाज न्वयुवक जोरसे बोला : " जिसने गांधीजीकी हत्या की, वह मुसलमान था ।"

माउन्टबेटनने अपनी विलक्षण सूझसे उसकी बातको बीचमें ही काट कर कहा : "मुर्ख, सब कोई जानते हैं कि वह हिन्दू था ।"

उत्तेजित हो रही भीड़ पर इस बातका शान्तिकारक प्रभाव हुआ । माउन्टबेटनके स्टाफके एक सदस्यने, जो उनके साथ था, उनसे पूछा : "आप कैसे जानते हैं कि वह हिन्दू था?" माउन्टबेटनने उत्तर दिया : "जरूर वह हिन्दू ही होगा; क्योंकि अगर वह मुसलमान है, तो हमारा सत्यानाश हो जायगा ।"

सब कोई स्तब्ध थे । सरदार पटेल वेदनाके भारसे दबे-दबे अनुभव कर रहे थे । उन्होंने बादमें मुझसे कहा : "दूसरे लोग रो लेते हैं और आंसुओंसे अपना दुःख कम कर लेते हैं । मैं ऐसा नहीं कर सकता । परन्तु मेरे दिमागका कचूमर निकला जा रहा है ।"

पासके हलकी रोशनीवाले कमरेमें पं. नेहरू एक कुर्सी पर बैठे हुए गहरी चिन्तामें डूबे हुए थे कि दूसरे दिनकी श्मशान-यात्रा और दाह-संस्कारका प्रबन्ध कैसे किया जाय । बादमें उन्होंने

मुझे बताया : "अचानक मैंने मनमें कहा, चलूं और बापूकी सलाह लूं ! फिर मैं समझ गया । हमारा दिमाग अपनी सारी मुश्किलें बापूके पास ले जानेका इतना आदी हो गया है ।"

एक क्षणकी भी देर किये बिना तपे हुए योद्धा माउन्टबेटनने परिवारके बड़े आदमीकी तरह सारी स्थितिका भार अपने ऊपर ले लिया । अपने मित्रके शवके पाससे उठकर वे सीधे पं. नेहरूके पास गये, इशारेसे सरदार पटेलको भी उन्होंने अपने पास बुला लिया और कहा : "गांधीजीका अन्तिम अनुरोध मुझसे यह था कि मैं आप दोनोंको निकट लाकर आपसमें मित्र बनाये रखनेकी भरसक कोशिश करूं।" अपने समान शोककी छायामें दोनोंको किसी बाह्य प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं थी । दोनोंने अपने सिर हिला दिये और चुपचाप एक-दूसरेका आलिंगन किया । रातको माउन्टबेटनके अनुरोध पर दोनोंने आकाश-वाणीसे भाषण भी किया ।

एक सुझाव यह दिया गया कि गांधीजीके शरीरको मसालेमें रख कर कमसे कम कुछ दिन तक दर्शनके लिए रखा जाय । लेकिन मैं जानता था कि मृत्युके बाद गांधीजी शरीरकी पूजा करनेके कट्टर विरोधी थे । इसलिए मैंने हस्तक्षेप करना अपना पवित्र कर्तव्य समझा । मैंने डॉ. जीवराज मेहताके कानमें कहा : "लेकिन यह तो बापूकी इच्छाके विरुद्ध होगा ।" डॉ. मेहताने मुझसे कहा : "तब तो आपको यह बात इन लोगोंको बतानी चाहिये ।" यह कहकर उन्होंने मुझे आगे धकेल दिया । मैंने लॉर्ड माउन्टबेटनको संबोधन करके कहा, "मान्यवर, आपको यह बता देना मेरा कर्तव्य है कि शवको मसालेमें रखनेका रिवाज गांधीजीको बहुत नापसन्द था और उन्होंने मुझे खास तौर पर यह स्थायी आदेश दे रखा था कि उनका शरीर वहीं जला दिया जाय जहां उनकी मृत्यु हो ।" डॉ. जीवराज मेहता और जयरामदास दौलतरामने मेरा समर्थन किया ।

माउन्टबेटनने कहा : "अगर गांधीजी पूरी आयु जीकर सम्मानके साथ साधारण मृत्यु पाते, तो यह बात बिलकुल ठीक होती । परन्तु विशेष परिस्थितिको देखते हुए क्या आप नहीं मानते...?" इतना कहकर वे रुक गये और हाथ फैला कर उन्होंने प्रश्नका संकेत किया ।

मैंने उत्तर दिया : "गांधीजीने मुझसे कहा था कि मरने पर भी मैं तुम्हें उलाहना दूंगा, यदि इस मामलेमें तुम अपने कर्तव्यसे चूके ।"

माउन्टबेटनने कहा: "तो उनकी इच्छाका आदर किया जायगा।" और इस प्रकार गांधीजीके शवको मसालेमें रखनेका विचार छोड़ दिया गया ।

रातके बाकी हिस्सेमें गांधीजीकी मंडलीके लोग गीताका मधुर पाठ करते रहे और कुछ सिक्ख मित्र, जो कि वहां मौजूद थे, सुखमनी साहब (सिक्ख धर्मग्रंथ) का पाठ करते रहे । इससे कमरेकी निस्तब्धता भरती रही और बाहर उमड़ती हुई भीड़ दर्शनका आग्रह करती रही । जिस कमरेमें शव रखा हुआ था उसके तमाम दरवाजों और खिड़कियों पर कांचसे सटी हुई भीनी शोकपूर्ण आंखें और शोकमय चेहरे दिखाई देते थे । कुछ लोग अपनी मुट्ठियोंसे कांचकी चौखटको खटखटाते थे । उनकी सिसकियां पैरोंकी खड़खड़ाहटके साथ मिलनेसे और बाहर इधर-उधर असंख्य जन-समूहके निश्वासके कारण ऐसी शोकपूर्ण स्वर-लहरी उठती और गिरती थी, जैसे तूफानी समुद्रका दूरस्थ क्रन्दन सुनाई दे रहा हो । कभी-कभी दरवाजों पर दबाव इतना बढ़ जाता था कि कांचके टुकड़े-टुकड़े उड़ जानेका और दरवाजे खुल कर सारी भीड़के कमरेमें घुस आनेका डर पैदा होता था । कुछ देर चिंतापूर्ण परामर्शके बाद मृत दारीरको छत पर ले जा कर दर्शनोंके लिए एक झरोखेमें दिया गया; तेज रोशनीसे गांधीजीका शान्त मुख और भी तेजस्वी हो गया ।

इन सब बातोंके बीच मैंने अपनी मांको अचानक अपने सामने खड़ा पाया । जब मैं अपनी छोटीसी भतीजीको लेकर चला आया था तब वे नई दिल्लीकी दुकानोंमें खरीदी करने चली गई थीं । किसीने उन्हें गांधीजीकी मृत्युकी खबर दे दी । देवदास गांधीके घरसे एक गाड़ी उन्हें बिड़ला-भवन ले आई । उन्होंने पूछा : "बच्ची कहां है ?" मैं बता नहीं सका । भयंकर आघातके कारण मैं बच्चीको पूरी तरह भूल गया था । वह बाहर रह गई थी । शोकसे उन्मत्त भीड़को चीर कर मैंने कई बार उसे देखनेके लिए बाहर जानेकी कोशिश की, लेकिन सफलता नहीं मिली । थोड़ी देर

बाद बिड़ला-भवतका एक नौकर उसे भीतर लाया । उसने अपार भीड़के बीच रो रही उस बालिकाको पहचान लिया । अगर समय पर उसकी सहायता न मिली होती, तो शायद बच्ची भीड़में कुचल जाती ।

मेरी मां बीमार थीं । मुझे लगा कि इस उम्रमें – वे ७० वर्षकी हो चुकी थीं और उनकी आंखोंमें प्रारम्भिक मोतियाबिन्द था - उन पर बिड़ला-भवनके शोकपूर्ण रात्रि-जागरणका तथा दूसरे दिन थकानेवाली शमशान-यात्रामें चलनेका बोझ नहीं पड़ने देना चाहिये । उन पर जितना ध्यान देना जरूरी है उतना मैं दे नहीं सकूंगा और दूसरे लोग भी उतने ही कार्यव्यस्त होंगे । इसलिए मैंने उन्हें उस बच्चीके साथ घर भेज दिया । मेरे दिलमें बहुत पीड़ा हुई जब बादमें उन्होंने रोते-रोते कहा कि कैसे दूसरे दिन साहस करके वे बिलकुल अकेली उस विशाल जन-समूहमें गांधीजीके अंतिम दर्शन करनेके लिए निकल पड़ी थीं, परन्तु जब श्मशान-यात्रा सामनेसे निकली तो वे अपनी कमजोर नजरके कारण उसे देख न सकी थीं । गांधीजीने अपने ही ढंगसे उन पर अपने आदर और स्नेहकी वर्षा की थी । गांधीजी जानते थे कि मेरी मांको वैधव्य-कालमें हम दोनों भाई-बहनकी देखभालकी जरूरत थी, फिर भी उन्होंने हम दोनोंको गांधीजीके हाथोंमें सौंप दिया था । समयके साथ साथ गांधीजीके प्रति उनकी भक्ति बढ़ती गई थी । उन्होंने बादमें शिकायत की : “तुमने मेरे साथ यह निर्दयसे निर्दय अन्याय किया है ।” जबसे मैं उन्हें और घरको छोड़ कर गांधीजीके साथ हुआ था तबसे उनका दिल तोड़नेवाली मेरी सारी बातोंको वे भूल गई थीं । लेकिन इस बातके लिए उन्होंने मुझे कभी क्षमा नहीं किया । मैंने भी अपने आपको इसके लिए कभी क्षमा नहीं किया ।

रातको आकाश-वाणी पर पं. नेहरूकी आवाज सुनी गई : “मित्रो . . . हमारे जीवनकी ज्योति चली गयी और सर्वत्र अंधकार ही अन्धकार छा गया है । मैं नहीं जानता कि आपसे क्या कहूं और कैसे कहूं । हमारे प्यारे नेता, जिन्हें हम बापू कहते थे, हमारे राष्ट्रपिता अब नहीं रहे ।... जैसे हम उन्हें अनेक वर्षोंसे देखते आ रहे हैं, वैसे फिर नहीं देख पायेंगे । हम उनसे सलाह करने और सान्त्वना प्राप्त करनेके लिए दौड़ कर उनके पास नहीं जा पायेंगे । मैंने कहा कि प्रकाश चला

गया है, लेकिन मेरा कहना गलत था; क्योंकि जो ज्योति इस देशमें प्रगटी और जली, वह साधारण ज्योति नहीं थी । जिस ज्योतिने इतने वर्षों तक इस देशको प्रकाशित रखा है, वह अनेक वर्षों तक आगे भी इस देशको प्रकाशित करेगी; वह ज्योति हजार वर्षके बाद भी इस देशमें दिखाई देगी । दुनिया उसे देखेगी और असंख्य हृदयोंको वह सान्त्वना देगी । कारण, वह ज्योति जीते-जागते सत्यका प्रतीक थी । वह शाश्वत पुरुष अपने शाश्वत सत्यके साथ हमारे बीच था, हमें सत्पथकी याद दिलाता था, हमें भूलोंसे बचाता था और इस प्राचीन देशको स्वाधीनताका मार्ग दिखाता था।"

ब्राह्म-मुहर्तमें शवको नहा कर उस पर चन्दन लगाया गया । फिर उसे कमरेके बीचमें लिटा कर फूलोंसे ढंक दिया गया । विदेशोंके राजदूत सुबह आये और गांधीजीके पैरोंमें मालायें चढ़ा कर उन्होंने दिवंगत आत्माके प्रति अपनी शान्त श्रद्धांजलि अर्पित की।

जब मैंने गांधीजीके शांत उदास मुंहको एक टक देखा – जिस पर अनंत शांति, क्षमा तथा दयाका भाव अंकित था – तो गांधीजीके साथके अपने उस समयसे, जब मैं कॉलेजसे ताजा निकल कर उज्ज्वल और अदम्य स्वप्नों तथा आशायें लेकर उनके चरणोंमें आकर बैठा था, स्थापित हुए २८ वर्षके घनिष्ठ और अखण्ड सम्बन्धकी असंख्य स्मृतियां मानस-पटल पर उभर आईं । ये सब वर्ष कितने अधिक घटनापूर्ण थे !

जो घटना हुई थी उसके अर्थ पर मैंने विचार किया । मैं चालित हो गया । फिर धीरे-धीरे पहेली हल होने लगी । उस दिन जब गांधीजीने मुझसे एक व्यक्तिके भी अपना कर्तव्य अच्छी तरह और पूरी तरह अदा करनेके बारेमें कहा था तब मुझे आश्चर्य हुआ था कि उनके कहनेका ठीक अर्थ क्या हो सकता है । उनकी मृत्युने इसका उत्तर दे दिया । पहले जब वे उपवास करते थे तब हमसे देखते रहने और प्रार्थना करनेके लिए कहा करते थे । वे कहते थे : "जब तक पिता मौजूद रहता है तब तक बच्चोंको खेलते ही रहना चाहिये । जब मैं चला जाऊंगा तब वे वही बातें करेंगे जो मैं आज कर रहा हूं ।" गांधीजीकी मृत्युने वह मार्ग बता दिया था जिस पर हममें से

बहुतोंको चलना चाहिये, यदि हमें वह आग बुझानी हो जिसके समस्त देशमें फैल जानेका खतरा खड़ा हो गया था और प्राप्त हुई स्वाधीनता उन्हीं लोगोंको भोगनी हो जिनके लिए गांधीजीने उसे प्राप्त किया था ।

शवको फिर ऊपर ले जाकर अपार भीड़को अन्तिम दर्शनका मौका देनेके लिए झरोखेमें रखा गया । साढ़े ग्यारह बजे सुबह अरथी बिड़ला-भवनसे बाहर निकाल कर फौजी गाड़ी पर रखी गई, जिसे झंडों और फूलोंसे सजाया गया था । श्मशान-यात्रा शुरू होनेवाली ही थी कि अचानक फाटकके पास हलचल-सी हुई । उसी समय भीड़ छठ गई और उसने रास्ता दे दिया । सुशीला लाहौरसे आ पहुंची थी । यह सोच कर वह बेचैन थी कि अंतिम समयमें वह गांधीजीके पास नहीं रही; परन्तु इस बातके लिए वह विधाताके प्रति कृतज्ञ थी कि गांधीजीके अंतिम दर्शनके लिए वह समय पर पहुंच गई थी । सरदार पटेलने उसे मदद देकर फौजी गाड़ी पर चढ़ाया।

वह बहावलपुरका अपना मिशन पूरा करके दिल्ली लौटते हुए ३० जनवरीको मुलतान (पश्चिम पंजाब) में रुकी थी । वहांके डिप्टी कमिश्नरकी पत्नीने उसे चाय पर बुलाया था । उसने पूछा: "गांधीजी हमारे यहां कब आ रहे हैं ?" कुछ मिनटके बाद ही एक और महिला बहुत घबराई हुई कमरेके भीतर आकर चिल्लाई : "दुनियाका क्या होने जा रहा है ? कहते हैं कि गांधीजीको गोली मार दी गई है !"

बादमें सुशीलाने बताया : "मैं पीली पड़ गई और थर-थर कांपने लगी । अपने मनमें बोली, 'नहीं, नहीं, यह अफवाह ही होगी' ।"

डिप्टी कमिश्नर बोले : "हम दिल्ली टेलीफोन करके पता लगा लेंगे ।" परन्तु सुशीला पता लगाना नहीं चाहती थी । वह आशाके अंतिम धागेसे चिपटी रहना चाहती थी । बापूका घाव शायद गंभीर नहीं होगा । उसने उत्तर दिया: "आप कष्ट न करें । मुझे तुरंत लाहौर चल देना चाहिये । मैं जल्दीसे जल्दी दिल्ली पहुंच जाना चाहती हूं ।"

डिप्टी कमिश्नरने उसे लाहौर ले जानेके लिए अपनी मोटर दे दी । वे बड़े खतरनाक दिन थे । डिप्टी कमिश्नरने उसे सशस्त्र रक्षक-दलके साथ भेजनेका आग्रह रखा । हर खिड़कीसे एक संगीन निकली हुई थी । रास्तेमें कई बार गाड़ी रोकी गई । परन्तु सरकारी सत्ता मार्ग साफ करती गई । चांदनी रात थी । सुशीला हृदयसे प्रार्थना कर रही थी कि महात्माजीका घाव घातक सिद्ध न हो ।

रातभर चल कर कार ६ बजे सुबह लाहौर पहुंची । एक महिला मित्र सहानुभूति प्रकट करने आई । उसके रंगढंगसे सुशीला डर गई । थोड़ी देर बाद पंडित नेहरूकी जानी-पहचानी आवाज आकाश-वाणी पर सुनाई दी । पहले दिन रातको दिया हुआ उनका रेडियो-भाषण सब जगहसे दोहराया जा रहा था । उसके बाद निराशामें आशा रखनेकी कोई गुंजाइश नहीं रही । सुशीला स्तब्ध हो गई । विमानके रवाना होनेमें युगों जैसी देर मालूम हुई ।

उसी विमानमें उसके साथ पश्चिम पंजाबके एक मुस्लिम नेता मियां इफ्तेखारुद्दीन भी थे । वे भावाभिभूत होकर गांधीजीके अंतिम दर्शनोंके लिए दिल्ली दौड़ आये थे । जब वे विमानसे उतरे तो मियां साहबने भरे हुए गलेसे सुशीलाको कहा, “प्यारी बहन, जिस आदमीने पिस्तौलका घोड़ा दबाया, वह बापूका हत्यारा नहीं है । हममें से वे सब उनकी हत्याके लिए जिम्मेदार हैं, जिन्होंने किसी समय उनकी बात पर शक किया और अपने दिलोंमें हिंसा और साम्प्रदायिकताकी भावना रखी ।

सुशीला अन्त समयमें गांधीजीके पास न रह सकनेके लिए अब भी उद्विग्न थी । उसने उस दिन शामको गहरी वेदनासे कहा: “यह सजा किस लिए भगवानने मुझे दी ?” देवदासने उसे सान्त्वना दी : “यह सजा नहीं; यह तो तुम्हारे लिए गर्व और सौभाग्यकी बात है कि तुम बापूके अन्तिम आदेशका पालन कर रही थीं । तुम हम सबसे ज्यादा भाग्यशाली हो ।”

रक्षा-मंत्रालयने श्मशान-यात्राके प्रबंधका सारा दायित्व ले लिया था । जिम्मेदारी इतनी बड़ी थी कि किसी सेवासंस्था द्वारा उसका पूरा किया जाना शक्तिसे बाहर माना गया । सारे शहरमें उथल-पुथल मची हुई थी; ऐसी अशांतिकी संभावना थी, जिससे देश भरमें हिंसाके फूट

पड़नेका अंदेशा था । यह एक भयंकर स्थिति थी । सेनावालोंने रातभरमें फौजी गाड़ीको अरथीका रूप दे दिया था । उसके बीचमें उठे हुए मंच पर शवको रखा गया था । शवको सफेद, हरे और केसरिया रंगके राष्ट्रीय झंडेसे ढंक दिया गया था, जो फूलों और फूलमालोंओंके ढेरमें आधा दब गया था । अरथीकी दायीं ओर गांधीजीके तीसरे पुत्र रामदास बैठे, बायीं ओर सरदार पटेल और सामनेकी तरफ देवदास गांधी बैठे । गांधीजीके "परिवार" के दूसरे लोग और नेतागण बारी-बारीसे अरथीके पास गाड़ी पर बैठते रहे या रामधुन गानेवाली मंडलीके पीछे-पीछे चलते रहे ।

स्थलसेना, जलसेना और वायुसेनाके दो सौ सैनिकोंका एक दल चार मजबूत रस्सोंसे गाड़ीको खींच रहा था । गाड़ीका इंजन पूरी यात्रामें बन्द रखा गया था । चार हजार सैनिक, एक हजार वायु-सैनिक, एक हजार पुलिस और एक सौ जलसेनाके सैनिक अरथीके आगे-पीछे चल रहे थे । गवर्नर-जनरलके अंग-रक्षक दलके भालेवाले घुड़सवार सफेद झंडियां फहराते हुए आगे आगे चल रहे थे । रास्ते पर सैनिकों, पुलिसके जवानों और बख्तरबन्द मोटरोंने भीड़को काबूमें रखनेमें मदद दी ।

सारा जुलूस इंच-इंच करके बहुत धीमी गतिसे शोकपूर्ण मौनके साथ आगे बढ़ रहा था । बीच-बीचमें 'महात्मा गांधीजीकी जय' के नारोंकी गूंज सुनाई देती थी । एक घंटेके बाद जुलूस युद्ध-स्मारकके गुम्बद तक पहुंचा । लोग आसपास भरे हुए पानीको पार करके पंचम जार्जकी मूर्तिके नीचेकी जगह पर पहुंच गये थे । वे पत्थरकी छतरीको संभालनेवाले खंभों पर लटक गये थ । डेढ़ सौ फुट ऊंचे युद्ध-स्मारककी चोटी पर, रोशनी और तारके खंभों पर और रास्तेके दोनों तरफके पेड़ोंकी टहनियों पर भी लोग बैठे दिखाई देते थे, ताकि शवयात्रा नीचेसे गुजरे तो उसे अच्छी तरह देख सकें । सारे केन्द्रीय मैदानमें आदमी ही आदमी दिखाई देते थे, जो दूरसे देखने पर लगभग स्थिर-से जान पड़ते थे। जब जुलूस हार्डिंग मार्गसे नीचे उतर कर दिल्ली दरवाजेके पास पहुंच रहा था उस समय कई बार वायुसेनाके तीन विमानोंने फूलोंकी वर्षा की ।

तीसरे पहर ४-२० बजे जुलूस यमुनाके निकट राजघाटकी श्मशान-भूमि पर पहुंचा । वहां लोग सुबहसे ही इकट्ठे होने लगे थे । जहां तक दृष्टि पहुंचती थी, श्मशान-भूमिके चारों ओरका सारा प्रदेश शोक-संतप्त मुख-मंडलोंका एक समुद्र-सा दिखाई देता था । अरथीके चारों ओर जो घेरा बनाया गया था उसे तोड़ कर लोग भीतर घुसते गये और सेनाके सैनिक उन्हें हटानेके लिए जद्दोजहद करते रहे । घुड़सवारोंने बड़ी मुश्किलसे उन्हें अरथी पर टूट पड़नेसे रोका । कई बच्चे मूर्छित हो गये । सरदार पटेल, पंडित नेहरू और श्रीमती माउन्टबेटन कुछ बच्चोंको सुरक्षित स्थान पर ले जाते देखे गये ।

अन्तमें अरथी सैनिक गाड़ीसे उतारी गई और एक ऊंचे चबूतरे पर रख दी गई, जो चिताके पास ही अन्तिम संस्कारके लिए बनाया गया था । साढ़े चार बजे शव चिता पर रखा गया । दाह-संस्कारके लिए १५ मन चन्दन, ४ मन घी, २ मन धूप, १ मन नारियल और १५ सेर कपूर एकत्र किया गया था । मृत शरीरके चरणोंमें फूलमालाएं और गजरे अर्पित किये गये । राजधानीके राजदूतोंमें बुजुर्ग चीनी राजदूतने सबसे पहले यह भेंट अर्पेण की । इसके बाद जिस भारतीय राष्ट्रीय झंडेसे अरथी ढंकी हुई थी वह हटा दिया गया । देवदास गांधीने अपने पिताके पवित्र गंगाजलसे अभिषिंचित शरीर पर चन्दनकी लकड़ियां रखीं । वैदिक मंत्रोंके पाठके साथ चितामें आग उनके बड़े भाई रामदास गांधीने लगाई ।

जब दाह-संस्कार हो रहा था उस समय लॉर्ड और लेडी माउन्टबेटन अपनी दोनों पुत्रियोंके साथ अन्य लोगोंके बीच जमीन पर बैठे थे । बहुतसे “पुराने नेता” सिसकते देखे गये थे । सरदार पटेल मूर्तिवत् बैठे थे । उनका हाथ एक सिसकती हुई लड़कीके सिर पर रखा हुआ था ।

पौने पांच बजे । धीरे धीरे आगकी लपटें लकड़ियोंमें फैलने लगीं, तब अरथीके पासका जन-समूह एक मिनिटके मौन द्वारा राष्ट्रपिताको अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पण करनेके लिए उठा । उधर सूर्यास्त हो रहा था, इधर आगकी लाल लाल लपटें आकाशसे बातें कर रही थीं । विशाल जन-समूहमें एक बुलन्द नारा गूंजा : “महात्मा गांधी अमर हो गये !” महात्माजीके पार्थिव शरीरको

अग्निदेवने स्वाहा कर लिया और वह अंतिम संस्कार इस वैदिक प्रार्थनाकी सिद्धिका प्रतीक बन गया :

"असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।"

धूपकी सुगन्धने सारे वायुमंडलको सुवासित कर दिया । शीघ्र ही अग्निकी तीव्रता इतनी भयंकर हो उठी कि सामनेकी कतारोमें बैठे हुए लोग वहां बैठ न सके । ६ बजे तक महात्माजीके अवशेष पूरी तरह जल कर भस्मीभूत हो गये ।

सूर्यास्तके साथ साथ भीड़ छंटने लगी । जब हम लौटे तो बिड़ला-भवन अन्धकारमें डूबा हुआ था । गांधीजीके कमरेमें रोशनी नहीं थी । आज वहां श्मशानकी-सी शांति थी, जब कि कल तक गांधीजीके वहां होनेसे वह कमरा संसारके ध्यानका केन्द्र बना हुआ था । मेरे मनमें फिर यह प्रश्न खड़ा हुआ : गांधीजी सदा यह कहते थे कि अहिंसा जगतमें सबसे अधिक सक्रिय शक्ति है, जो सारी बाधाओंको जीत लेती है और जिसके सामने सारा द्वेष, सारी घृणा मिट जाती है । तो फिर वे, जो अहिंसाकी जीवंत मूर्ति थे, हत्यारेकी गोलियोंका शिकार क्यों हुए ? इस रहस्यने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया था । परन्तु जब भीतरी तूफान शांत हुआ तब इस प्रश्नका सीधा और स्पष्ट उत्तर मुझे मिल गया ।

यदि गांधीजी अपनी चमत्कारिक सफलताओंके ठीक बाद मरे होते, तो भी इस प्रश्नका उत्तर बाकी ही रहता : "क्या न्याय और शक्ति समान और एक-दूसरेका स्थान लेनेवाले शब्द हैं? यदि सत्याग्रह सर्वविजयी शक्ति हो – जैसी कि निःसंदेह वह हैं –तो हमें यह समझनेसे कौन रोकता है कि जहां भी सफलता है वहां न्याय है ? और क्या इससे अनजाने मनुष्यकी यह धारणा नहीं बन सकती कि शक्ति ही न्याय है और क्या मनुष्य सफलतापूर्ण शक्तिको ही ईश्वर नहीं मान लेगा ? यह बड़ा खतरनाक सिद्धान्त है, क्योंकि जब हम इतिहासकी घटनाओं और प्रक्रियाओंको

संपूर्ण रूपमें न देख कर देश-कालकी सीमित परिधिके भीतर देखते हैं, तो दुनियामें शक्ति अकसर जीतती दिखाई देती है और सत्य तथा न्यायकी हार होती दिखाई देती है ।

गांधीजीने अपने अन्तके द्वारा हमारे लिए इस प्रश्नचिह्नको मिटा दिया । "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" – हमारे कर्म हमारे हैं, उनके फल हमारे हाथमें नहीं हैं । मनुष्य सदा ही घटना-चक्र पर नियंत्रण नहीं रख सकता और समस्त मानव-प्रयत्नोंके बावजूद किसी ना किसी समय जीवनमें विपरीत बातें हो सकती हैं । इसका कारण है "अदृश्य शक्ति" का कार्य । "दैवं चैवात्र पंचमम्" – किसी कार्यकी सफलतामें देव पंचम तथा निर्धारक तत्त्व होता है । परन्तु सत्याग्रही इसमें से बुराईको सदा बाहर निकाल कर विषको अमृत बना सकता है – और वह इस तरह कि सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उसके प्रति सही प्रतिक्रिया प्रकट करके वह जीवनकी दुर्घटनाओंसे उनका डंक दूर कर दे तथा मृत्युकी विजयको निष्फल बना दे ।

अपने जीवन-कार्यकी पराकाष्ठाके समय गांधीजीने मानो अपनी आजीवन सेवाके पुरस्कारके रूपमें हत्यारेकी गोलियोंसे भेंट की । उस समय उनके हृदयमें हत्यारेके प्रति कोई दुर्भावना या क्रोध नहीं था; इसके विपरीत चेतनाके अंतिम क्षण तक वे हत्यारेके लिए प्रार्थना करते रहे और रामनाम लेते रहे । इस प्रकार गांधीजीने एक करुण घटनाको विजय और उत्कृष्ट सिद्धिमें बदल दिया और उसके द्वारा सत्याग्रहके केन्द्रीय सत्यका ऐसा साक्षात्कार करा दिया, जो और किसी तरह सम्भव नहीं था । उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि सत्याग्रह पराजयको भी विजयकी एक सीढ़ी बना लेता है, आत्म-समर्पणके द्वारा विजय प्राप्त करता है और पराजयके बावजूद तथा कभी कभी पराजयके द्वारा विजय प्राप्त करता है; वह विफल होना तो जानता ही नहीं । जिस साम्प्रदायिक एकताकी स्थापनाके लिए गांधीजीने जीवन भर घोर परिश्रम किया था, वह उनके जीवन-कालमें तो उन्हें पराभूत करती रही – यहां तक कि प्रतिदिन बढ़नेवाला एक वर्ग उसके आधारके विषयमें ही शंका करने लगा था । परन्तु गांधीजीकी मृत्युने एक ही झटकेमें सदाके लिए इस प्रश्नको विवादके क्षेत्रसे बाहर कर दिया ।

यह घटना इस प्रश्नका भी उत्तर देती है : "क्या उन्हें अहिंसाकी उस शक्तिका रहस्य प्राप्त हो गया था, जिसके लिए उन्होंने कहा था कि वह समस्त संसारको व्याप्त कर सकती है ?" उन्होंने घोषणा की थी कि एक अकेला शान्त विचार भी सारे संसारको व्याप्त कर सकता है, परन्तु उन्होंने यह भी कहा था कि कोई भी शरीरधारी मनुष्य इस विचारको वाणी अथवा कर्ममें पूरी तरह व्यक्त करनेमें सफल नहीं हुआ । विचारको वाणी अथवा कर्ममें प्रकट करनेका प्रयत्न ही विचारको मर्यादित कर देता है ।" [हरिजन, २ जून १९४६, पृ. १६८] इसलिए कुछ समयसे वे कहने लगे थे कि यदि मैं अपने पीछे अहिंसाका एक सम्पूर्ण उदाहरण भी छोड़ जाऊं, तो मुझे पूर्ण सन्तोष होगा कि मैंने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया । इस लोकसे प्रयाण करनेकी अपनी रीतिमें अपनी महत्त्वाकांक्षाके एक संपूर्ण कर्मको पूर्ण आकार देकर गांधीजीने यह दिखा दिया कि अहिंसामें सुप्त रूपमें रही संपूर्ण शक्तिको कैसे मुक्त किया जा सकता है और जब उसे मुक्त किया जाता है तब वह क्या क्या सिद्ध कर सकती है ।

ऐसा मनुष्य कभी मरता नहीं । "वह जीवित रहता है, जाग्रत रहता है – मरती है मृत्यु, वह नहीं मरता ।"

जीता है नित्य वह
और जागता भी वही है,
होती है मुत्यु मृत्युकी ही,
ऐसा व्यक्ति कभी भी मरता नहीं !
प्रत्येक व्यक्तिको –
स्वकर्म अथवा राजमुकुट,
जो भी न्यायोचित होता है,
दे देता है विधाता तौलकर ।
फिर जो अपनाता है
विश्व-जीवनको, छोड़कर स्व-जीवन,

ऐसा व्यक्ति कभी भी मरता नहीं !

जो वहन करता है भार

इस बोझिल जगतका,

और सहर्ष झेलता है उसे

मर्त्य होकर भी,

ऐसा व्यक्ति कभी भी मरता नहीं !

जोर उस पर मृत्युका चलता नहीं,

अनुशासित होता नही

वह शासनोंसे,

चिरंतनतामें विचरता जो सदा,

ऐसा व्यक्ति कभी भी मरता नहीं !

खोजने पर –

प्रथम तो मिलता ही नहीं वह,

किन्तु जब वह दीखता –

तो चमचमाता है मुकुट

उस मृत्युंजयीके शीश पर ।

और वह देता दिखाई –

स्मरण-श्रृंगोंकी ऊंचाई पर

संसार-स्त्रोतोंकी रवानी में,

हर कहीं, यहां तक कि

जन-जनकी आंखोंके पानी में !

जीवन-प्रकाशसे अनुप्राणित

प्रत्येक बीती बातमें या चीजमें,

देगा दिखाई वह, हर कहीं ।
मृत्यु होगी मृत्युकी ही,
अमर होकर रहेगा वह,
क्योंकि ऐसा व्यक्ति कभी भी मरता नहीं !

४

१४ घंटे तक चिता जलती रही और भस्मके ठंडी होनेके लिए उसे दूसरे २७ घंटे तक वैसा ही पड़ा रहने दिया गया । उसके बाद अधजली अस्थियों, जिन्हें फूल कहते हैं, और भस्मको इकट्ठा कर लिया गया और सामान्य विधिके बाद एक कलशमें रख दिया गया । इस तांबेके कलशकी फूलमालाओं और गजरोंसे सजा कर बिड़ला-भवन ले जाया गया और अस्थि-विसर्जनके दिन तक वहीं रखा गया । शामको राजघाट पर प्रार्थना हुई । उसमें भाग लेनेवालोंमें अलीगढ़के कट्टर राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता और गांधीजीके प्रिय मित्र ख्वाजा अब्दुल मजीद भी थे (देखिये खण्ड-३, पृ. १२८-२९) । उन्होंने कुरानकी ये आयतें पढीं :

> ऐ ईमानवालो, धीरज और सहनशीलताके साथ खुदाकी मदद मांगो और जो खुदाकी खिदमतमें मारे गये हैं उन्हें मरे हुए मत समझो । भले ही तुम समझ न सको, लेकिन वे जिन्दा हैं । . . . नियत समय पर खुदाकी इजाजतके बिना किसीके लिए मरना संभव नहीं है ।

भस्म-संग्रह और उसके विसर्जनके बीचका १० दिनका समय सबके लिए प्रार्थनापूर्ण आत्म-निरीक्षणका काल था । गांधीजी हमसे कहा करते थे : “मेरे चले जानेके बाद कोई भी एक व्यक्ति मेरा पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा । परन्तु मेरा थोड़ा थोड़ा अंश तुममें से अनेकोंमें रहेगा । यदि तुममें से प्रत्येक व्यक्ति ध्येयको प्रथम और स्वयंको अंतिम स्थान देगा, तो मेरे रिक्त स्थानकी बहुत-कुछ पूर्ति हो जायगी ।”

लगभग ऐसा लगता है कि कुछ समयसे गांधीजी अंतर्ज्ञानसे ही अपने आसपासके लोगोंको इसके लिए तैयार कर रहे थे। अवसानसे कुछ समय पहले एक बहुत निकटके साथीके पुत्रने उन्हें लिख कर पूछा था : क्या स्वाधीनताके बाद भी खादीको पकड़े रहना जरूरी है ? गांधीजीके एक सेवकने यह पत्र पढ़ कर सुनाया और उत्तरके लिए उनकी सूचना मांगी, तो गांधीजी बोले : "उसे लिख दो कि आज भी यदि यह प्रश्न करना उसे जरूरी लगता है, तो उसे खादीको बिलकुल छोड़ देना चाहिये। भीतरसे विश्वास न हो तो खादीसे चिपटे रहनेसे क्या लाभ ? सबको अपने धर्मका पालन करना चाहिये और अपनी अन्तरात्मासे मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिये, न कि दूसरोंके कहने पर चलना चाहिये। परन्तु इस नियमका एक अपवाद है। जो मनुष्य किसीको गुरु मान लेता है, उसके लिए गुरुका वचन ही कानून होता है।"

परन्तु, बापू, क्या आप हम सबके लिए गुरुके स्थान पर नहीं हैं ?" उनके सहायकने पूछा।

गांधीजीने उत्तर दिया : "उस स्थितिमें तो तर्ककी आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये। मेरे शब्दका तर्ककी सहायताके बिना सीधा असर होना चाहिये।"

इसके बाद गांधीजी आराम करनेके लिए लेट गये। परन्तु जो कुछ वे कह रहे थे, वह उनके दिमागमें घूमता रहा। थोड़ी देरके बाद उन्होंने अपनी आंखें खोलीं और अपनी बातको जारी रखते हुए धीमी आवाजमें कहा : "तुम्हें एकलव्यकी कथा याद है ?"

महाभारतकी कथाके अनुसार एकलव्य नीची जातिका एक गरीब लड़का था। उसकी नीची जातिके कारण कौरव और पाण्डव राजकुमारोंको युद्ध-विद्या सिखानेवाले प्रसिद्ध गुरु द्रोणाचार्यने उसे बाणविद्या सिखानेसे इनकार कर दिया। वह अविचलित बना रहकर जंगलमें लौट गया और द्रोणाचार्यको अपना गुरु मान कर उनकी मिट्टीकी मूर्ति सामने रख कर बाणविद्याका अभ्यास करने लगा। थोड़े समय बाद जब शस्त्रस्पर्धा हुई तो एकलव्यने भी भेष बदल कर उसमें भाग लिया और बाणविद्याके करतब दिखलानेमें द्रोणाचार्यके समस्त राजकुमार शिष्योंसे वह आगे बढ़ गया ! इनमें द्रोणाचार्यका प्रिय शिष्य अर्जुन भी था। इस कथासे यह शिक्षा

मिलती है कि गुरुमें श्रद्धा रखनेसे जो प्रेरणा मिलती है वह गुरुकी दी हुई किसी भी मौखिक शिक्षाकी अपेक्षा अधिक कीमती तालीम होती है ।

उन कठिन दिनोंमें जब भारतीय स्वाधीनताकी नाव तूफानी समुद्रमें डगमगा रही थी, अकसर यह बात सुनी जाती थी : "यदि गांधीजी एक दिनके लिए भी हमें मार्ग दिखाने और सलाह देनेके लिए आ सकें, तो हम क्या कुछ नहीं दे सकते ?" यह बिलकुल स्वाभाविक था । परन्तु कभी कभी हमें आश्चर्य होता था ।

क्या हम वाकई चाहते हैं कि मृतात्मा
हमारे निकट कुछ और रहे ?
तो –
क्या कोई ऐसी अधमता है
जिसे हम छिपाते हैं ?
या कोई आन्तरिक क्षुद्रता
जिससे हम डरते हैं ?
तो फिर
कितने साफ दिल और दिमागवाला
तथा
कितने पवित्र और महान प्रेमसे युक्त
होगा वह मनुष्य
जिसके विचारोंका तादात्म्य
घड़ीभरके लिए भी
उस मृतात्माके साथ हो सके !

गांधीजी हम सबसे भारपूर्वक कहा करते थे : मैं शरीरसे तुम्हारे बीच सदा नहीं रहूंगा, परन्तु जिनके हृदयमें वह श्रद्धा और उत्कंठा होगी, उन सबके निकट मैं सदैव रहूंगा। यह प्रेरणा प्रत्येककी श्रद्धा और साधनाके अनुसार होगी।

बहुतसे मित्र चाहते थे कि बुद्धके पवित्र अवशेषोंकी तरह गांधीजीकी अस्थियोंका कुछ भाग सुरक्षित करके किसी सार्वजनिक स्थानमें रखा जाय। उनके कुछ अत्यन्त निकटके साथी चाहते थे कि निशानीके तौर पर गांधीजीके कुछ अवशेष उनके पास रहने दिये जायं। लेकिन चूंकि गांधीजी इस विषयमें बार-बार आदेश दे चुके थे, इसलिए निर्णय किया गया कि उनकी स्पष्ट इच्छाके विरुद्ध कोई काम न होने दिया जाय। अपने परिवारके सदस्य तो वे बहुत पहलेसे नहीं रहे थे। किसी व्यक्तिका खूनके सम्बन्धके कारण अथवा अन्य किसी निजी संबंधके कारण उन पर कोई विशेष अधिकार नहीं था। घर उनका था ही नहीं अथवा यों कह लीजिये कि सारा संसार ही उनका घर था और समग्र मानव-जाति उनका परिवार थी। जो चीज छोटेसे छोटे आदमीको नहीं मिल सकती थी, उसे गांधीजी निकम्मी समझते थे और रखने लायक नहीं मानते थे। उन्होंने अपने जीवनके संपूर्ण दर्शनका सार एक वाक्यमें दे दिया है : "मैं उस ईश्वरके सिवा और किसी ईश्वरको नहीं जानता, जो करोड़ों मूक लोगोंके हृदयोंमें निवास करता है। ... और मैं इन करोड़ोंकी सेवाके द्वारा ही सत्यरूपी परमेश्वरकी पूजा करता हूं।" [हरिजन, ३ मार्च १९३९, पृ. ३४] उन्होंने यह भी कहा है : "मेरा ईश्वरकी आत्यंतिक एकतामें और इसलिए मानव-जातिकी एकतामें पूरा विश्वास है। हमारे अनेक शरीर हों तो क्या ? आत्मा तो हमारी एक ही है। किरणोंकी वक्रताके कारण सूर्यकी किरणें अनेक दिखाई देती हैं। परन्तु उनका स्रोत तो एक ही है। इसलिए मैं दुष्टतम मनुष्यसे भी अपनेको अलग नहीं रख सकता और न मैं सज्जनतम मनुष्यके तादात्म्यसे वंचित रहना चाहता हूं।" [यंग इंडिया, २५ सितम्बर १९२४, पृ. ३१३]

हमारे सामने उनका यह जीवन-दर्शन होनेके कारण हमको लगा कि वे अपनी भस्मको किसी बहुमूल्य स्मारकके नीचे रखना पसन्द नहीं करेंगे। वे सारे विश्वके थे और समस्त सृष्टिके साथ तादात्म्य साधनेकी उनकी आकांक्षा थी। इसलिए उनके शारीरिक अवशेषोंके योग्य संरक्षक

पंचतत्त्व ही हो सकते हैं। और भारतके जलाशयों और महान नदियोंके वक्षस्थलसे अधिक अच्छा उनका अन्तिम विश्राम-स्थान और कौनसा हो सकता है ? इसलिए अस्थि-विसर्जनके मुख्य संस्कारके लिए पवित्र त्रिवेणीको ही चुना गया, जहां कस्तूरबाकी अस्थियां भी विसर्जित की गई थीं। त्रिवेणीके पुरातन प्रवाहमें करोड़ों अज्ञात भारतीयोंकी अस्थियां प्रवाहित की गई थीं, जिनके सुख-दुःखको ही गांधीजीने अपना सुख-दुःख माना था और जिनके सामूहिक जीवनमें, समुद्रमें बिन्दुकी तरह, विलीन हो जानेकी गांधीजीकी महत्त्वाकांक्षा थी।

रेल्वे-अधिकारियोंने महात्माजीके लिए अन्तिम बार विशेष ट्रेन चलाई – इस बार यह ट्रेन उनकी भस्मके लिए थी। एक डिब्बेके बीचमें ऊंचे मंच पर भस्मका कलश रखा गया था। उस पर फूल चढ़ाये गये थे। मित्र और अनुयायी बारी-बारीसे मंत्र और प्रार्थना बोलते थे। सारी यात्रामें छोटे-बड़े सभी रेल्वे-स्टेशनों पर अपार भीड़ थी। इस गाड़ीको देखने भरके लिए कुछ लोग दूर-दुरसे पैदल चल कर आये थे। वे शोकमग्न और उदास खड़े थे। उनकी आंखोंसे आंसू बह रहे थे। उनमें से कुछ लोग २४ घंटेसे अधिक समयसे इसी तरह वहां खड़े थे। कभी कभी कोई पीड़ासे भरी चीत्कार करके गांधीजीका नाम लेता लेता रेलके डिब्बेसे अपना सिर पीट लेता था।

ज्यों ज्यों दिन चढ़ता गया, भीड़ रेल्वे-स्टेशनोंके बीचमें भी रेलमार्गके दोनों ओर कतार बांधे खड़ी दिखाई देने लगी। इस दृश्यको देखकर अब्राहम लिंकनकी वाशिंग्टनसे स्प्रिंगफील्ड (इलीनॉइस) तककी स्मशान-यात्रा याद आती थी। फर्क इतना ही था कि लिंकनके शरीरकी तरह महात्माजीको "घर" नहीं ले जाया जा रहा था। उनकी भस्म गंगाकी गोदमें विसर्जित करनेके लिए ले जाई जा रही थी – जो सबकी पवित्र माता है और राजा तथा रंक, पापी तथा सन्त सबको समान बना देनेवाली है। लिंकनकी "एकाकी ट्रेन" के ७ डिब्बोंकी तरह इस गाड़ीके डिब्बों पर काला रंग नहीं पोला गया था। हिन्दू धर्ममें मृत्युको जीवनका अन्त और शोकका अवसर नहीं माना जाता, परन्तु हृदय-मन्थनका अवसर माना जाता है। दिवंगत आत्मा परमात्मामें विलीन होनेके पूर्व अपनी साधना पूर्ण करनेके लिए इस संसारमें आई थी – उस समुद्र-बिन्दुके समान जो लौट कर पुन: समुद्रमें मिल जाता है और समुद्रकी शक्ति तथा भव्यताका सहभागी बनता है।

इलाहाबादसे ६० मील दूर रसूलाबादका एक छोटासा स्टेशन पड़ता है । वहां गाड़ीको रोक कर रात भरके लिए एक तरफ खड़ा कर दिया गया । दूसरे दिन सुबह ठीक ९ बजे वह इलाहाबाद स्टेशन पर पहुंची । वहां अपार भीड़ थी । भस्मपात्रको स्टेशनसे बाहर एक सजी हुई ट्रक पर रखा गया । स्टेशनसे नदी-तट तक असंख्य मानव ट्रकके पीछे-पीछे गये । मार्गमें वह कुछ मिनटोंके लिए एक गिरजेके सामने रुका, क्योंकि वहां महात्माजीका प्रिय अंग्रेजी भजन "Lead Kindly Light, Lead Thou Me On" सामूहिक रूपमें गाया जा रहा था । नदी-तट पर भस्मपात्रको पुष्प-सज्जित ट्रकसे उतार कर एक बतखके आकारकी नौका पर रख दिया गया। अन्य लोगोंके साथ उस नौका पर पं. नेहरू और सरदार पटेल, सरोजिती नायडू और उनकी पुत्री, मौलाना आजाद और गोविन्दवल्लभ पन्त तथा महात्माजीके दो पुत्र रामदास और देवदास थे । यह जल और थल दोनों पर चलनेवाला यान धाराके बीचमें सीधा वहां पहुंच गया जहां गंगाकी शुभ्र धारा यमुनाके नील प्रवाहसे मिलती है । थोड़ी दूर तक दोनों नदियां साथ-साथ बहती हैं और एक-दूसरेमें मिलती नहीं हैं, इसलिए अलग अलग आसानीसे पहचानी जा सकती हैं । यहीं पर बारहवें दिन महात्माजीके नश्वर शरीरके अवशेषोंका गंगा, यमुना और सरस्वतीके संगम पर पवित्र जलमें विसर्जन कर दिया गया । इन तीनों नदियोंके नाम अनन्त कालसे भारतीय इतिहासमें ताने-बानेकी तरह गुंथे हुए हैं । जब वैदिक मंत्रोंक साथ भस्म-कलश नदीके प्रशान्त वक्षस्थल पर खाली किया गया तब कोई ३० लाख आदमियोंने नटी-तट परसे इस संस्कारको देखा । गांधीजी "निशाके अन्धकारको पार करके" मृत्युसे अमरत्वमें प्रवेश कर गये । नदीने स्वयंको समुद्रमें मिला दिया । महात्मा 'महत्' में विलीन हो गये ।

'वही' एक शाश्वत है
परिवर्तन और गतिशीलताके बीच ।
दिव्य आभाएं निरंतर चमकती हैं स्वर्गकी,
धराकी धूसरित परछाइयां होतीं तिरोहित ।
और –

जीवनका सलोना सप्तवर्णी

कांचका गुम्बद

शाश्वतकी उज्ज्वल ज्योतिको तभी तक

म्लान रखता है,

मृत्यु आ जब तक नहीं

शतखण्ड कर देती उसे ।

आठवां अध्याय : उपसंहार

१

गांधीजीके अवसानसे दुनियाके सब वर्गोंमें और आम लोगोंमें व्यापक शोक, गमगीनी और व्यक्तिगत आघातका जैसा भाव उत्पन्न हुआ वैसा शायद ही अन्य किसी व्यक्तिके अवसानसे उत्पन्न हुआ होगा । हमारे लिए अब दुनियामें कुछ बाकी नहीं रहा, ऐसी भावनासे भारतमें कुछ लोग गांधीजीके अवसानके आघातसे मर गये और कुछ लोगोंने आत्महत्याका प्रयास किया । दुनियाके सभी भागोंसे सहानुभूति, समवेदना तथा प्रशंसाके संदेशोंकी वर्षा हुई । इंग्लैण्डके राजा और रानी, प्रेसिडेन्ट ट्रुमैन, श्रीमती रूज़वेल्ट, पोप पायस, कैन्टरबरीके आर्च-बिशप, दलाई लामा, फ्रांसके राष्ट्रपति तथा विभिन्न राज्योंके प्रमुख शासकों और बड़े बड़े अधिकारियों द्वारा भेजे हुए संदेश आये । संयुक्त राष्ट्रसंघकी सुरक्षा-समितिने महात्मा गांधीको अंजलि अर्पण करनेके लिए अपनी कार्रवाई बीचमें ही रोक दी । संयुक्त राष्ट्रसंघ स्थित इंग्लैंण्डके प्रतिनिधि फिलिप नोएल-बेकरने "गरीबसे गरीब, सबसे निचले वर्गके लोगों तथा अत्यन्त अभागे लोगोंके मित्र" के रूपमें गांधीजीका उल्लेख करके कहा : "उनकी सबसे महान सिद्धियां तो अभी आगे हमारे सामने आनेवाली हैं ।"

संयुक्त राष्ट्रसंघका ध्वज आधा झुकाया गया ।

इस महान संकटके तीन दिन बाद पं. नेहरूने भारतकी संविधान-सभामें कहा : "महापुरुषोंके कांसे और संगमरमरके स्मारक खड़े किये गये हैं, परन्तु दिव्य शक्ति धारण करनेवाला यह महापुरुष . . . लाखों-करोड़ों लोगोंके हृदयोंमें निवास करता है और अनंत काल तक निवास करता रहेगा । . . . आनेवाले युगोंमें, हमारे युगसे शताब्दियों और शायद सहस्राब्दियों बाद लोग इस पीढ़ीके बारेमें सोचेंगे, जिसमें ईश्वरका यह दूत इस पृथ्वी पर विचरण करता था।"

नोबेल पुरस्कार प्राप्त करनेवाली सुप्रसिद्ध लेखिका पर्ल बकने महात्माके अवसानको "दूसरा क्रूसारोहण" कहा था ।

जापान स्थित मित्रराष्ट्रोंके सर्वोच्च सेनापति जनरल डग्लस मेकार्थर द्वारा दी हुई अंजलि विशेष अर्थसूचक है – सबसे अधिक इसलिए कि वह एक व्यवसायी सैनिक योद्धा द्वारा दी गई है । गांधीजीको "अपने जमानेसे बहुत ही आगे" जीनेवाला एक पैगम्बर बता कर उन्होंने कहा : "संस्कृतिके विकासमें – यदि इस संस्कृति और सभ्यताको जीवित रहना है – सब लोगोंको गांधीकी इस मान्यताको अंतमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि झगड़ेवाले प्रश्नोंको पशुबलके सामुदायिक उपयोग द्वारा हल करनेकी प्रक्रिया बुनियादी तौर पर केवल गलत ही नहीं है, बल्कि उसके अपने ही भीतर आत्म-विनाशके बीज भी मौजूद हैं ।"

गांधीजीके अवसानसे उत्पन्न हुए संसार-व्यापी प्रत्याघातका अभूतपूर्व लक्षण यह था कि जो लोग गांधीजीसे कभी मिले नहीं थे या जिन्होंने गांधीजीको कभी देखा नहीं था ऐसे लोगोंने भी सारी दुनियामें वियोगका दुःख अनुभव किया था । फ्रांसके लियो ब्लूमने कहा : "गांधीको मैंने कभी देखा नहीं था । . . . उनकी भाषा मैं नहीं जानता, उनके देशमें मैंने कभी पैर नहीं रखा, फिर भी मैं ऐसी वेदना और शोक अनुभव करता हूं, जैसे मैंने अपना कोई अत्यन्त निकटका प्रियजन खो दिया हो । इस असाधारण पुरुषके अवसानसे सारा जगत शोक-सागरमें डूब गया है ।"

अपने अधिकारोंके लिए लड़नेवाले समस्त राष्ट्र और जातियां इस बातको सहज भावसे स्वीकार करती थीं कि गांधीजी हमारे ध्येयके प्रबल समर्थक थे और हमारी आाकांक्षाओंके प्रतीक थे । जोसेफ मिटकेल, जॉर्ज पाडमोर तथा रिचर्ड हार्ड आदि हबशी नेताओंने कहा : "स्वतंत्रताके खातिर लड़ रहे अफ्रीकन लोगोंके लिए गांधीजीका जीवन-कार्य सदा ध्रुवतारक तथा प्रेरणा-रूप बना रहेगा ।" अमेरिकन हबशी स्त्रियोंका नेतृत्व करनेवाली श्रीमती मेरी बेथुनने कहा : "ऊष्मा प्रदान करनेवाली महान ज्योति बुझ गई है । . . . उनकी आत्मा आकाशके तारोंको छूनेकी तथा बंदूकों, संगीनों या रक्तपातके बिना संसारको जीतनेकी उत्कट आकांक्षा रखती थी । हम

धरतीकी मातायें जेट विमानोंकी गर्जना, अणुबमके विस्फोटों तथा जंतुयुद्धकी अज्ञात भयंकरताओंसे कांप रही है; महात्माका सूर्य जहां अपना सम्पूर्ण प्रकाश फैला रहा है उस पूर्वकी तरफ हमें आशाभरी नजरोंसे देखना चाहिये ।"

'दि न्यूयार्क टाइम्स' ने लिखा : "गांधी अपने पीछे विरासतके रूपमें अपनी आध्यात्मिक शक्ति छोड़ गये हैं, जो यथासमय आधुनिक शस्त्रास्त्रों पर तथा हिंसाके क्रूर सिद्धान्त पर विजय प्राप्त करेगी ।"

न्यूयार्कके 'पीएम' नामक पत्रमें अल्बर्ट ड्यूशने लिखा : "गांधीके अवसानके सम्बन्धमें इस प्रकार भक्तिभावपूर्ण प्रतिक्रिया प्रकट करनेवाले संसारके लिए अभी भी कुछ आशा बाकी रही है ।"

२

आजकी दुनियाके लिए गांधीजीका क्या सन्देश है और आज हमारे सामने जो सब प्रश्नोंका एक प्रश्न है उसके सम्बन्धमें उस सन्देशका क्या महत्त्व या औचित्य है ?

आज संसार एक महान विपत्तिके किनारे घबड़ाया-सा खड़ा है । विज्ञानने मानवके हाथोंमें कुदरतकी शक्तियों पर लगभग असीम नियंत्रण दे दिया है । परन्तु विज्ञानने मनुष्यको अपने पर संयम रखना नहीं सिखाया है । मानव-स्वभावमें सुधार करनेका कोई आसान रास्ता अभी तक नहीं मिलता है । द्वेष और भय, वासना और लोभ, परिग्रह-वृत्ति, क्रोध और अहंकारके जो मूलभूत आवेग हमारी संस्कृति और सभ्यताकी पतली तहके नीचे छिपे रहते हैं, उनके उन्मूलनका कार्य सदाकी भांति आज भी एक धीमा, कष्टसाध्य और भगीरथ कार्य बना हुआ है । बुराईके पंख लग गये हैं, परन्तु भलाईकी चाल वही केंचुए जैसी आज भी है ।

मानवका यह असंतुलित विकास हमारे सारे भविष्यको खतरेमें डाल रहा है । अणुबम और हाइड्रोजन बमके आविष्कारने इतिहासमें पहली बार मानवके असंयत मस्तिष्कके द्वारा समस्त

प्राणियोंके और हमारी पृथ्वीके भी विनाशको संभव बना दिया है । जैसा जुंगने कहा है, यह वैसा ही है जैसे छह वर्षके छोटेसे बालकको उसके जन्मदिनकी भेंटोंमें बारूदका गोला दे दिया गया हो । वे पूछते है : "बच्चेको हम उस गोलेसे कैसे बचा सकते हैं, जिसे उसके हाथसे कोई नहीं छीन सकता ? मानवताकी सद्भावनाको ऐसी चुनौती पहले कभी नहीं दी गई थी । . . . अब तो जीवन और मरणका प्रश्न खड़ा हो गया है ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेंट्स', लन्दन, १९४७, पृ. ९०]

इस खतरेका सामना कैसे किया जा सकता है ? क्या कोई शक्ति ऐसी है जो सत्ता पर नियंत्रण रख सके और फिर भी जो "सैनिक शक्तिकी तरह – आज तो आक्रमणकारियोंका सामना करनेके लिए हमारे पास एक यही शक्ति है" – अपने-आपको विफल नहीं बनाये ? अगर ऐसी कोई शक्ति हो तो उसका स्वरूप क्या है; उसे कैसे जाग्रत किया जा सकता है और उपयोगमें लाया जा सकता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका या तो स्फिक्सकी पहेलीकी तरह सभ्यताको कोई उत्तर खोजना होगा, नहीं तो उसे नष्ट हो जाना पड़ेगा । जुंग चेतावनी देते हैं : "वह समय आ पहुंचा है, बहुत निकट आ गया है, जब समय मानवको अपना दिमाग बुनियादी चीजोंकी तरफ मोड़ देना चाहिये ।" [वही]

अणुबम पशुबलकी चरम सीमा है । परन्तु जैसा गांधीजीने बताया था, "मृत्यु बरसानेवाले बमके पीछे उसे चलानेवाले मनुष्यका हाथ है और उसके भी पीछे मानव-हृदय है जो उस हाथको गति देता है ।" [हरिजन, २४ दिसम्बर १९३८, पृ. ३९४] इस प्रकार सभ्यताकी रक्षाके लिए और शायद मानव-जातिकी रक्षाके लिए भी अन्तिम युद्ध मनुष्यके मानसमें लड़ना होगा, क्योंकि "आखिरमें तो वही समस्त प्रवृत्तिका मूल स्रोत है और इसलिए जो भी चीज मनुष्यकी इच्छासे होती है उसका जन्मस्थान है ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेंट्स', लन्दन, १९४७, पृ. १७] यदि हम उस व्यक्तिके मानसका नियंत्रण कर सकें जो अणुशक्तिका उपयोग करता है, तो उस राक्षसी शक्तिका नियंत्रण हमारे हाथमें आ जाता है जिसे मुक्त करनेकी मनुष्यका तेज गतिसे दौड़नेवाला विज्ञान धमकी दे रहा है ।

विज्ञानने हमें कार्य-कारणके नियमके अनुसार सोचनेकी शिक्षा दी है, परन्तु किसी न किसी तरह हमारी यह सोचनेकी वृत्ति होती है कि कार्य-कारणका नियम भौतिक जगत पर तो लागू होता है, परन्तु अध्यात्म-जगतकी घटनाएं इसके कार्यक्षेत्रसे बाहर हैं । यह तर्कहीन और विज्ञानके आधारभूत गुहीत सत्योंके साथ असंगत है, क्योंकि विज्ञान एक ऐसे सर्वग्राही अन्तिम सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है, जो मानव-अनुभवके भीतर आनेवाली घटनाओंके सारे विस्तारका अर्थ बतायेगा और समझायेगा । "विज्ञान एकताकी शोधके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।" [रोमां रोलां कृत 'प्रॉफेट्स ऑफ दि न्यू इंडिया' में स्वामी विवेकानन्दका उद्धरण, न्यूयॉर्क, १९३०, पृ. ५२६] "एकता . . . वह आवश्यक मान्यता है, जिस पर विज्ञानकी समस्त रचनाओंका आधार रहता है ।" [वही, पृ. ५२६]

सत्य एक और अखंड है । इसलिए इस नियमके दो वर्ग नहीं हो सकते – एक जड़ जगतको लागू होनेवाला और दूसरा चेतन जगतको लागू होनेवाला । एक ही नियम अविभाज्य सम्पूर्णके दोनों गोलार्द्धों पर लागू होना चाहिये ।

व्हिटियरने कहा है : "कुदरत प्रतीकों और चिह्नोंकी वाणीमें बोलती है ।" महान विद्वान और दार्शनिक रोमां रोलां आग्रहपूर्वक कहते हैं कि "आंतरिक और बाह्य सृष्टिके नियम एकसे ही हो सकते हैं । यदि एक सृष्टिके नियमोंको जाननेमें आप भलीभांति सफल हो जायं, तो दूसरी सृष्टिके जो नियम आप जान पाये होंगे या भविष्यमें जानेंगे उनका (पूर्वदर्शन नहीं तो भी) समर्थन तो सम्भवत: आपको मिल जायगा ।" [वही, पृ. ६४१] उन्होंने प्रसिद्ध वनस्पति-शास्त्री जगदीशचन्द्र बोसका प्रमाण दिया है कि पौधोंके साथ कोई प्रयोग आरम्भ करनेसे पहले उन्हें अपने मनमें उनकी प्रतिक्रियाओंका आभास मिल जाता था । यही प्रमाण अन्य बड़े वैज्ञानिकों और प्रयोगकर्ताओंने – उदाहरणके लिए, लियोनार्डो डि विन्सी, वॉलेस और फैरेडेनें दिया है । कवियों और कलाकारोंके विषयमें तो यह और भी ज्यादा सच है । यदि कुदरतमें "गुप्त लिपि" की तरह ऐसे शाश्वत नियम छिपे हुए न होते, जिनके अनुसार जड़ और चेतन दोनों चलते हैं, यदि भौतिक नियमोंके अनुरूप ही आध्यात्मिक जगतमें भी नियम न होते, तो यह बात सम्भव नहीं

होती । भारतके प्राचीन ऋषियोंने 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की घोषणा की थी । इसलिए जो एकमें है वह दूसरेमें भी जरूर होगा ।

आइन्स्टीनने परिमाण (मास) और कार्यशक्ति (एनर्जी) का परस्पर सम्बन्ध बतानेवाला अपना प्रसिद्ध समीकरण हमें दिया है, जिसमें बताया गया है कि जब पदार्थके परमाणुको प्रकाशकी गति प्राप्त हो जाती है – और वह भौतिक जगतमें प्राप्त हो सकनेवाली महत्तम गति है – तो उसे जो मात्रा (मास) प्राप्त हो जाती है उसका कोई पार नहीं होता । अध्यात्म-शक्तिको मुक्त करनेका वैसा ही नियम गांधीजी द्वारा प्रतिपादित सूत्रमें मिलता है – अर्थात् जब कोई छोटेसे छोटा व्यक्ति भी अहिंसाके आदशेका पूरी तरह साक्षात्कार कर लेता है और मन-वचन-कर्मसे अहिंसामय हो जाता है, तब वह मानो अहिंसाका कार्य बन जाता है; तब वह अहिंसाकी शक्तिसे, प्रेमकी शक्तिसे, आत्माकी शक्तिसे, सत्यकी शक्तिसे, हमारे भीतर बसे हुए भगवानकी शक्तिसे ओतप्रोत हो जाता है । उस शक्तिका कोई पार नहीं रहता और उसके सामने सारा द्वेष और सारा विरोध मिट जाता है : "अहिंसाके साथ जुड़े हुए सत्यके बल पर आप सारी दुनियाको अपने पैरों पर झुका सकते है ।" [यंग इंडिया, १० मार्च १९२०, पृ. ३] "जब वह एक बार गतिमान हो जाती है तो उसका प्रभाव, यदि पर्याप्त मात्रामें तीव्र हो जाय तो, सारे विश्व पर छा जायगा ।" [यंग इंडिया, २३ सितम्बर १९२६, पृ. ३३२] वास्तवमें इस नियमके अनुसार काम करनेवाला "एक पूर्ण सत्याग्रही अधर्मके विरुद्ध धर्मका युद्ध जीतनेके लिए काफी है ।" [यंग इंडिया, १० नवम्बर १९२१, पृ. ३६२] शर्त यह है कि उसकी अपनी स्वतन्त्र कोई इच्छा न रह जाय – वह सत्यरूपी ईश्वरके समक्ष सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर दे । गांधीजीने प्रमाणित किया है : "ऐसा समय आता है जब एक व्यक्ति अप्रतिहत बन जाता है और उसके कार्यका प्रभाव सर्वव्यापी बन जाता है । यह तभी होता है जब वह शून्य बन जाता है ।" [हरिजन, ६ अक्तूबर १९४६, पृ. ३४२]

इसके बुनियादी तर्कको उन्होंने इस प्रकार समझाया : "यदि हम अहंकारके बन्धनोंको तोड़ दें और मानवताके समुद्रमें लीन हो जायं, तो हम उसकी महानताके हिस्सेदार बन जाते हैं । यह समझना कि 'हम भी कुछ हैं' अपने और ईश्वरके बीच दीवार खड़ी करना है; 'हम भी कुछ हैं'

की भावनाको छोड़नेका अर्थ है ईश्वरके साथ एक हो जाना। समुद्रके भीतर रहनेवाला जलबिन्दु अपने पिताकी महानताका भागीदार बनता है, यद्यपि उसे इसका भान नहीं होता। परन्तु ज्यों ही वह समुद्रसे स्वतन्त्र अस्तित्व रखने जाता है त्यों ही सूख जाता है। . . . ईश्वर एक क्षणका भी विश्राम लिये बिना सतत कर्मरत रहता है। यदि हम . . . उसके साथ तादात्म्य साथ लें, तो हमारी प्रवृत्ति भी ईश्वरके समान अथक होनी चाहिये। जो बिन्दु समुद्रसे अलग हो जाता है उसके भाग्यमें क्षणिक विश्राम हो सकता है, परन्तु जो बिन्दु समुद्रके भीतर है उसके लिए समुद्रके ही समान कोई विश्राम नहीं होता। . . . ज्यों ही हम ईश्वररूपी समुद्रके साथ एक हो जाते हैं, त्यों ही हमारे लिए कोई विश्राम नहीं रह जाता और न वास्तवमें फिर हमें विश्रामकी जरूरत ही होती है। हमारी निद्रा भी कर्म है, क्योंकि हम अपने हृदयमें ईश्वरका नाम धारण करके सोते हैं। यह विश्राम-हीनता ही सच्चा विश्राम है। इस निरन्तर बनी रहनेवाली अशान्तिमें ही अवर्णनीय शान्तिकी कुंजी है। इस सम्पूर्ण समर्पणकी सर्वोपरि स्थितिका वर्णन करना कठिन है, परन्तु वह मानव-अनुभवकी सीमासे बाहर नहीं है। . . . हमारे सारे व्रत और कर्म इसे प्राप्त करनेमें सहायक होनेके लिए ही हैं। यदि हममें सत्य है तो हम किसी दिन इस स्थितिको अनजाने ही प्राप्त कर लेंगे।" [गांधीजी, 'फ्रॉम यरवडा मन्दिर', अहमदाबाद, १९३५, पृ. ६८-७०]

भारतीय दर्शनका एक प्राचीन सिद्धान्त है कि जिस व्यक्तिमें सत्यकी प्रतिष्ठा हो गई है अर्थात् जिसने अपने व्यक्तित्वके आंतरिक धर्मका—उस सत्यका जिसका उसने साक्षात्कार किया है और जो उसके लिए स्वाभाविक बन गया है — जीवनभर आचरण किया है, जो एक क्षणके लिए भी उस धर्मसे — सत्यसे — च्युत नहीं हुआ, उसे वचन-सिद्धि प्राप्त होती है। "ईश्वर-रूपी सत्यको और सत्यरूपी ईश्वर" को साक्षी रखकर वह अपना सोचा हुआ कर सकता है। ऐसा मनुष्य "विश्वशक्तिका, सत्यकी शक्तिका जीवन्त भंडार" बन जाता है और उसमें "संपूर्ण शुद्ध सत्यस्वरूप आत्माका तेज प्रकट होता है।" [यंग इंडिया, २३ सितम्बर १९२६, पृ. ३३२] यह वस्तु 'सच्चक्रिया' के नामसे पुकारी जाती है। यह सत्य दृढ़तासे हृदयमें स्थापित हो जाना चाहिये। जब ऐसा होता है तब वह सत्य अपार करुणाके रूपमें जीवमात्रके साथ स्थापित होनेवाले

तादात्म्यके रूपमें प्रकट होता है । "ईश्वरका साक्षात्कार करनेका अर्थ है प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना — अर्थात् जीवमात्रके साथ एकता अनुभव करना ।" [हरिजन, २ अप्रैल १९३८, पृ. ६५]

३

एच. जी. वेल्सने अपनी एक रचनामें यह भविष्य-वाणी की थी कि आनेवाले वर्ष "वास्तवमें विनियुक्त मनोविज्ञानकी शताब्दी" होंगे । उन वर्षोंमें "मानव-व्यवहारोंमें ऐसी क्रान्ति होगी जो उस निरी भौतिक क्रान्तिसे बहुत गहरी होगी, जिसकी सिद्धियोंके बीच आज हम जी रहे हैं ।" [वान टेस्लर कृत 'एन आउटलाइन ऑफ साइकोएनालिसिस' में एच. जी. वेल्सका उद्धरण, न्युयोर्क, १९२५, पृ. १२] परन्तु यह हमारे युगकी विशेषता है कि भौतिक परिवर्तनोंकी संभावना कितनी ही चौंका देनेवाली क्यों न हो तो भी हमारा मन उनका कोई विरोध नहीं करता; परन्तु मानव-आत्मा द्वारा किसी सये विस्तार, किसी नई शक्ति या किसी उच्च मानसिक शक्तिके प्रकट होनेकी कल्पनाको भी हंसीमें उड़ा दिया जाता है । उसे जादूकी कल्पना या अधिकसे अधिक किसी हठयोगीका अत्यन्त महान स्वप्न समझ लिया जाता है । फिर भी इसी तरहकी किसी घटनामें भविष्यकी आशा निहित है । भारतके सबसे बड़े जीवित दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् हमें स्मरण दिलाते हैं कि हमारे वर्तमान परिमाण हमारे जीवनकी अन्तिम सीमा नहीं हैं ।

कठोपनिषद् हमें कहता है कि ब्रह्माने मनुष्यको पैदा करके उसकी इन्द्रियोंको बहिर्मुख बना दिया, जिससे उसका अपने अभ्यन्तरसे – जो उसकी वास्तविक आत्मा है – सम्पर्क टूट गया । इसीको यों कह सकते हैं कि मनुष्यने भौतिक, दृश्य, इन्द्रियगम्य जगतके कार्योंमें अधिकाधिक उलझ कर अपनी अन्तः- सृष्टिके साथ, अन्तरात्माके साथ और उसके नियमोंके साथ अपना सम्पर्क खो दिया । परिणाम यह हुआ कि उसका मनोविज्ञान उसके भौतिक विज्ञानकी प्रगतिके साथ-साथ नहीं चल सका और आज उसने जो आविष्कार कर लिये हैं वे ही उसके शत्रु बनकर उस पर छा जानेका खतरा पैदा हो गया है । इसलिए एक विद्वान हमें बताते हैं कि "समाजका उद्धार करना हो तो बाह्य जगतके विषयमें मनुष्यका ज्ञान जितना गहरा होता जाय उतना ही

अपने सच्चे और सम्पूर्ण स्वरूपका उसका ज्ञान विकसित होना चाहिये । . . . उसे ऐसा कोई आध्यात्मिक नियम खोज निकालना चाहिये, जिसका भौतिक सृष्टिके नियमोंके जितना ही स्वतन्त्र अस्तित्व हो ।" [जेराल्ड हर्ड, 'दि इटर्नल गॉस्पेल', न्यूयॉर्क, १९४६, पृ. २२१] आंतरिक सृष्टिके इस नियमको मनोवैज्ञानिक नियम भी कहा जा सकता है ।

नियमका ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे हमें एक बल मिल जाता है । मनुष्यने जब तक अपनी बुद्धिसे भाप या बिजली सम्बन्धी नियमोंको पूरी तरह जान नहीं लिया तब तक वह उनका उपयोग नहीं कर सका था । इन नियमोंको जान लेने पर आज वह उन्हें नियंत्रणमें रख सकता है और वे उसे शक्ति प्रदान करती हैं । गांधीजीने निश्चयपूर्वक कहा है कि मनुष्यके आन्तरिक जगतका शासन ऐसे नियमोंके द्वारा होता है जो उतने ही अटल और स्वयं-शक्तिमान हैं तथा उतने ही निश्चित और प्रत्यक्ष उपयोगके योग्य हैं जितने, उदाहरणके लिए, भौतिक जगतका संचालन करनेवाले गतिके नियम हैं । परन्तु हमने आत्माके विज्ञानकी उपेक्षा की है । नतीजा यह है कि हमारे भीतर छिपे हुए आध्यात्मिक या मानसिक बलके विशाल भंडारका हम उपयोग नहीं कर पाते । गांधीजीका मत था कि यह शक्ति "बिजलीसे भी अधिक यथार्थ और आकाश (ईथर) से भी अधिक प्रबल है ।" उसका हार्द एक ऐसा सिद्धान्त है "जो स्वयं-संचालित है ।" [हरिजन, १४ मार्च १९३६, पृ. ३९] अधिकांश मानव-जाति अपने दैनिक जीवनमें अनजाने इस शक्तिका उपयोग करती है । वह हमारे जीवनका नियम है । परन्तु उसका जाग्रत और बुद्धिपूर्ण पालन करनेसे हमें वह शक्ति मिल सकती है जिसकी हमें पशुबलको अंकुशमें रखनेके लिए और हमारे मनोविज्ञानको हमारे भौतिक विज्ञानके जितना ही व्यावहारिक बनानेके लिए जरूरत है । गांधीजीने दृढ़तापूर्वक कहा था : "जब इस नियमका पालन सर्वत्र होने लगेगा तब ईश्वरकी पृथ्वी पर भी वैसा ही राज्य हो जायगा जैसा स्वर्गमें है । . . . पृथ्वी और स्वर्ग हमारे भीतर हैं । पृथ्वीको हम जानते हैं, परन्तु हमारे भीतरके स्वर्गको नहीं जानते ।" [हरिजन, २६ सितम्बर १९३६, पृ. २६०]

नियम तो अपना काम करेगा ही, चाहे हम उसे स्वीकार करें या न करें। परन्तु "जैसे कोई वैज्ञानिक प्रकृतिके नियमोंके विविध प्रयोग करके चमत्कार दिखा सकता है, ठीक वैसे ही जो मनुष्य प्रेमके नियमका **वैज्ञानिक निश्चितता**के साथ पालन करता है वह उससे भी बड़े चमत्कार दिखा सकता है। . . . इतना ही है कि हमारी शोधें इस क्षेत्रमें काफी दूर तक नहीं पहुंची हैं और यही कारण है कि सबके लिए उसकी कार्य-पद्धतिको समझना सम्भव नहीं।" [यंग इंडिया, १ अक्तूबर १९३१, पृ. २८७] (मोटे टाइप मैंने किये हैं।) गांधीजीका कहना था कि हमारी जड़ता या आलस्य ही हमारे रास्तेकी रुकावट है। वे पूछते हैं : "अगर हमने भौतिक विज्ञानमें आशातीत प्रगति कर ली है, तो आत्माके विज्ञानमें हम उतनी ही प्रगति क्यों नहीं कर सकते ?" [हरिजन, १४ मई १९३८, पृ. ११४] "हमारे भीतर अनेक शक्तियां छिपी हुई पड़ी हैं। . . . हमें सतत प्रयत्न करनेसे उनका पता लगता है। इसी प्रकार हम सर्वोपरि सत्ता — ईश्वर — का पता लगा सकते हैं, यदि हम उसकी खोज परिश्रमपूर्वक और दृढ़ निश्चयके साथ करें।" [एन. के. बोस, 'सलेक्शन्स फ्रॉम गांधी', अहमदाबाद, १९४८, पृ. ८]

परन्तु इसके लिए जिस मनोविज्ञानका आजकल उपयोग किया जाता है, उससे अधिक विशाल मनोविज्ञानकी — नये अध्यात्म-विज्ञानकी आवश्यकता है। और इसके लिए मनुष्यका इन्द्रियों द्वारा विभिन्न दिशाओंमें खींचा जानेवाला मन — जिसे विविध प्रकारके आध्यात्मिक यम-नियमोंका अभ्यास नहीं है — जिन पद्धतियोंका उपयोग कर सकता है, उनसे कहीं अधिक नाजुक और सूक्ष्म पद्धतियोंकी आवश्यकता है।

गांधीजी मानते थे कि अहिंसाके सच्चे पालनके लिए पालन करनेवालेके भीतर "अत्यन्त तीव्र बुद्धि" और "अत्यन्त जाग्रत" अन्तरात्माका होना जरूरी है। "मनुष्य अपने हेतुकी शुद्धताके बारेमें उस समय तक निश्चित नहीं हो सकता जब तक उसने पतंजलि जैसे योगाचार्योंके आदेशानुसार आध्यात्मिक साधनाका सारा मार्ग पार न कर लिया हो। पूर्ण चित्त-शुद्धि अन्य किसी उपायसे प्राप्त नहीं हो सकती।" [हरिजन, ८ सितम्बर १९४०, पृ. २७५]

यम-नियम पतंजलिकी योग-प्रणालीके अविभाज्य अंग और मूल आधार हैं । गांधीजी दावेसे कहते थे कि जिन्होंने सर्वोपारि शक्ति — जो व्यक्तियोंमें आत्मबलके रूपमें प्रकट होती है — के रहस्यका पता लगानेके लिए प्रयोग किये, वे इस परिणाम पर पहुंचे कि इन प्रयोगोंको करनेमें कुछ शर्तोंका पालन करना पड़ता है । "जैसे वैज्ञानिक प्रयोग करनेके लिए वैज्ञानिक शिक्षा-क्रम अनिवार्य होता है, वैसे ही अध्यात्म-जगतमें प्रयोग करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिए कठोर प्रारम्भिक साधना करना आवश्यक है ।" [यंग इंडिया, ३१ दिसम्बर १९३१, पृ. ४२८] गांधीजीके समस्त जीवनका आधार इन यम-नियमोंका पालन था । इससे उनकी व्यक्तिगत या संस्थागत, सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक हर प्रकारकी प्रवृत्ति यम-नियमोंके पालनका प्रयोग बन जाती थी और उनमें पूर्णता प्राप्त करनेका साधन हो जाती थी ।

अहिंसाकी शक्ति प्राप्त करनेकी जो कार्य-पद्धति है, उसका मूल आधार जीवमात्रकी मूलभूत एकताका सिद्धान्त है । व्यक्तिगत जीवोंकी तुलना प्रवालोंके उन असंख्य द्वीपोंके साथ की गई है, जो चारों ओर समुद्रके जलसे घिरे होनेके कारण एक-दूसरेसे काफी अलग पड़े हुए दिखाई देते हैं, परन्तु जिस समुद्रसे उनका उद्भव हुआ है उसके तलमें वे सब एक-दूसरेके साथ जुड़े हुए रहते हैं । आत्मशक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक मनुष्यकी वैयक्तिक चैतनामें निश्चित रूपसे अन्तर्हित एकताको अनुभव करना तथा उस अनुभव-को अन्य व्यक्तियोंमें संक्रान्त करना होता है ।

शांधीजीने घोषित किया था : "मैं अद्वैतमें विश्वास रखता हूं । मेरा मनुष्यकी एकतामें और इसलिए प्राणिमात्रकी एकतामें विश्वास है । इसलिए मेरी यह मान्यता है कि यदि एक मनुष्यको आध्यात्मिक दृष्टिसे लाभ होता है, तो उसके साथ-साथ सारे जगतको भी लाभ होता है और यदि एक मनुष्यका पतन होता है तो उस हद तक सारे जगतका भी पतन होता है ।" [यंग इंडिया, ४ दिसम्बर १९२४, पृ. ३९८] जब इस सिद्धांतको केवल पाठ्य-पुस्तकके तत्त्वज्ञानके रूपमें ही नहीं अपनाया जाता, परन्तु एक सजीव श्रद्धाके रूपमें व्यवहारमें लाया जाता है, तब उसके कुछ अनिवार्य परिणाम होते हैं । गांधीजीके शब्दोंमें कहें तो : "जब कभी मैं किसी भूल करनेवाले

मनुष्यको देखता हूं, तो अपने मनमें कहता हूं कि मैंने भी भूल की है; जब मैं किसी कामी पुरुषको देखता हूं, तो अपने आपसे कहता हूं कि किसी समय मैं भी कामी था; और इस प्रकार मुझे लगता है कि संसारमें सबके साथ मेरा अभिन्न सम्बन्ध है और मैं मानता हूं, कि जब तक हममें से छोटेसे छोटा आदमी भी सुखी नहीं होगा तब तक मैं सुखी नहीं हो सकता ।" [यंग इंडिया, १० फरवरी १९२७, पृ. ४४]

"तुम उन्हें उनके फलोंसे जानोगे ।" संत पॉलने गैलेशियाके लोगोंके नाम लिखे अपने पत्रमें कहा था कि आध्यात्मिक जीवनके फल "प्रेम, आनन्द, शान्ति, दीर्घ कष्ट-सहनकी शक्ति, सौम्यता, भलाई, श्रद्धा और नम्रता हैं ।" जिसने प्राणिमात्रकी एकता अनुभव कर ली है, उसके लिए क्षमा करने और दूसरोंके लिए कष्ट सहनेका धर्म स्वाभाविक बन जाता है । सतत अभ्याससे मनुष्यको इस व्यापक चेतनाका अनुभव अत्यन्त तीव्र और सजीव रूपमें होता है और इस प्रकार वह दूसरों तक उस चेतनाको पहुंचानेका साधन बन जाता है । फिर तो दूसरोंको लगा हुआ आघात या चोट हमको ही लगी अनुभव होती है; और हमारे आघात या चोटके लिए दूसरोंको भी ऐसा ही अनुभव होता है ।

इस प्रकार व्यक्तिको फिरसे अपने मानव-बन्धुओंके साथ उसकी एकताका अनुभव कराया जा सकता है — वह एकता जिससे अपनी अहं-केन्द्रित ऐन्द्रिक प्रवृत्तियोंके पीछे निरन्तर लगा रहनेके कारण वह दूर पड़ जाता है — और अपनी आत्माके नियमका पुनः भान कराया जा सकता है । स्वतः- सिद्ध होनेका गुण इस नियमको उसी तरह लागू होता है जिस तरह वह भौतिक नियमोंको लागू होता है । जब गांधीजी बुरा काम करनेवालोंके प्रति रहे अपने प्रेमके कारण उन्हें क्षमा कर देते थे और खुद कष्ट भोगते थे, तब वे सब भी गांधीजीके साथ कष्ट भोगते थे और केवल वे ही नहीं बल्कि संसारके हर भागके लोग कष्ट भोगते थे । इसका रहस्य यह था कि वे प्रेमधर्मका सतत और अटल रूपमें पालन करते थे । "इस प्रेमधर्मके कारण सारी परिग्रह-वृत्ति और सारी कामनाएं उदात्त और पवित्र हो जाती हैं ।" पांच यम-नियम इसी धर्मके — एक ही आदेशके पांच स्वाभाविक अंग-उपांग "अथवा पांच कसौटियां हैं । वह एक आदेश है :

मनुष्यमात्रसे वैसा ही प्रेम करो जैसा तुम अपने आपसे करते हो ।" इस प्रेमधर्मके कारण गांधीजीके समस्त जीवनने "सत्यके आचरणका रूप" ले लिया था ।

४

हमारे युगको मानसिक युग कहा गया है । जुंग कहते हैं : "जो महा विपत्तियां हमारे सामने मुंहवाये खड़ी हैं, वे . . . मानसिक या चित्तके क्षेत्रकी घटनाएं हैं । . . . मनुष्य आज अपने ही मानसकी प्राकृतिक शक्तियोंका शिकार बन रहा है ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लन्दन, १९४७, पृ. ८२] युद्ध और हिंसाके ऐसे ही दूसरे उपद्रव मूलतः "मानसिक महामारियां" हैं । इन घटनाओंकी तहमें वैयक्तिक और सामूहिक सानसिक व्याधियां हैं, जो हमारे युगका अभिशाप बनी हुई हैं ।

साधारण और विकृत व्यक्तिके बीचकी विभाजक रेखा बहुत सूक्ष्म होती है । मानस-चिकित्साशास्त्री हमें बताते हैं कि "तथाकथित मानसिक रोगियोंमें से बहुत कम मानसिक चिकित्सालयमें पहुंचते हैं । उनमें से अधिकांश आबादीका 'साधारण' अंग बनकर रहते हैं ।" [वही, पृ. ८५] परन्तु ये ही लोग जब एकसाथ मिल जाते हैं तो "असाधारण घटनाएं सामने आती हैं ।" संसारमें गत कुछ वर्षोंसे तानाशाही और एकाधिकारवादकी जो बाढ़ आई है, वह मानवकी उस भीतरी रोगी अवस्थाका बाह्य चिह्न है, जो सामान्य वस्तु हो गई है । जीवनके भौतिक साधनोंके बढ़ जानेसे हमारा मानसिक संतुलन बिगड़ गया है । ये साधन आविष्कारोंकी प्रगतिसे सुलभ हो गये हैं, परन्तु इनका कोई समुचित लक्ष्य नहीं होता । समाज पर हर दम छाया रहनेवाला "निराशा और निष्फलताका भूत" तथा "मनुष्योंको शराब व मादक पदार्थोंके सेवन और युद्धके सामूहिक संहारकी ओर ले जानेवाली उकताहट" [जेराल्ड हर्ड, 'पेन, सेक्स एण्ड टाइम', लन्दन, १९३९, पृ. २९८] इस मानसिक असन्तुलनके साथ जुड़े रहनेवाले कुछ रक्षण हैं ।

एकाधिकारवाद मानवके अचेतन मनका "क्षतिपूर्तिका एक कदम" है । "व्यक्तिमें दुर्बलता या शून्यताकी जो भावना होती है उसकी क्षतिपूर्ति सत्ताकी कामनाकी उथल-पुथल होती है ।"

[सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लन्दन, १९४७, पृ. १४] व्यक्ति तानाशाह और एकाधिकारवादी इसलिए बनता है कि "वह अपने साधनोंको नियंत्रित और प्रकट करनेवाले किसी पर्याप्त लक्ष्यके बिना नहीं जी सकता। . . . इसलिए वह अपने राष्ट्रमें एक ऐसे व्यक्तित्वका आरोपण करनेका प्रयास करता है, जिसमें वह कोई भी प्राणी व्यक्तित्व-विकासकी कक्षाको पहुंचनेसे पूर्व भूतमात्रके साथ जैसी अखंडितता अनुभव करता है" और जिसका अनुभव आधुनिक मानवको नहीं होता "वैसी अखंडितता मनुष्य-समाजके साथ अनुभव करता है।" [जेराल्ड हर्ड, 'पेन, सेक्स एण्ड टाइम', लन्दन, १९३९, पृ. ६]

ऐसे मामलेमें बुद्धि स्वयं बहुत सहायक नहीं होती। "बुद्धि – आज्ञाकारी दासी – इस चीजको एक तरहसे रख सकती है और बिलकुल दूसरी तरह भी रख सकती है।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लन्दन, १९४७, पृ. ८२] लेकिन जब एक आदमी भी अपने अनुभवका ऐसा "वास्तविक, मानसिक तथ्य" लेकर सामने आता है, जो "पत्थर जैसा कड़ा और सीसे जेसा भारी" हो, तो वह सबके लिए मुक्तिदायक बल और प्रकाश-स्तम्भ बन जाता है। इसी गुणके कारण गांधीजीके उद्गारोंमें और उनके अप्रकठ विचारों, संकेतों, चेष्टाओं और मौनमें भी प्रत्यक्ष कार्य जैसा बल रहता था, जिससे वे ऐतिहासिक घटनाओंका रूप धारण कर लेते थे। लोगोंमें विश्वास पैदा करने और उनके हृदयों पर शासन करनेवाली गांधीजीकी शक्तिका मूल उनके आंतरिक अनुभवकी गहराई, तीव्रता और पूर्णतामें निहित था।

हमारे युगको सबसे अधिक ऐसे "मुक्तिदायक व्यक्तित्व" की ही आवश्यकता है। एक चीनी दार्शनिकका कथन है : "जब ज्ञानी पुरुष एकान्तमें सम्यक् विचार करता है, तो उसकी बात हजारों मील दूर सुनाई देती है।

आध्यात्मिक तत्त्व प्रवृत्तिमय होकर ब्रह्माण्डके रूपमें कैसे विकसित हुआ, इस विषयमें उपनिषद्का सिद्धान्त यह है : जब अक्षर ब्रह्मने सोचा कि "मैं बहुत हो जाऊं" (एकोऽहं बहु स्याम), तब आदि चेतनाका एक भाग व्यक्तिगत चेतनाके रूपमें अलग हो गया और उसके दूसरे

भागमें से "मन और इन्द्रियोंका उद्भव हुआ। इसे आधुनिक मनोविज्ञानकी भाषामें कहें तो इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्यके विकासकी किसी स्थितिमें उसकी व्यक्तिगत चेतनाके दो विभाग हो गये अथवा, जैसा जेराल्ड हर्डने कहा है, उसके दो खण्ड हो गये। नतीजा यह हुआ कि उसका एक भाग "प्रत्यग् चेतना" बनकर आविष्कारक शक्तिके रूपमें आविर्भूत हो गया और दूसरा अप्रकट भाग सुप्त चेतनाका डूबा हुआ खण्ड बन गया। दूसरा खण्ड तब हुआ जब व्यक्तिगत चेतना अधिकाधिक अहं-केन्द्रित हो गई और उसकी अहं-भावनाने आविर्भावके पूर्वकी अवस्थाके समयका भान खो दिया, चेतना-मात्रके साथ अपनी मूलभूत एकताका भान गंवा दिया। मानसिक रोगका मूल आत्माके दो भागोंके बीच होनेवाला संघर्ष है। रोग "आत्म-भंग" है। व्यक्तिकी चेतना विभक्त होकर एक-दूसरेसे अलग पड़े हुए और परस्पर मेल न रखनेवाले दो भागोंमें बंट जाती है, तब व्यक्तिके मनमें गजग्राह अथवा संघर्ष उत्पन्न होता है। प्राणिमात्रकी मूलभूत एकताका भान न रहनेसे सामाजिक संघर्षका बीज-वपन हुआ, जो बाह्य बलोंके अधिकाधिक प्रयोगसे ही नियंत्रित हो सकता था। इसकी पराकाष्ठा अणुबमके आगमनमें हुई।

इस प्रकार आज हमारे सामने ये तीन समस्यायें हैं : (१) व्यक्तिमें अपनी अखंडता और पूर्णताकी समझ फिरसे कैसे आये, ताकि वह मानसिक रोगी न बने ? (२) हमें अपने मानव-बन्धुओंके साथ अपनी मूलभूत एकताका भान फिरसे कैसे हो और वह भान उतना ही तीव्र कैसे बने जितना तीव्र दृश्य वस्तुओंके जगतका भान होता है ? (३) समाजके लिए कोई ऐसा अहिंसक बल कैसे विकसित किया जा सकता है, जो उन बाहरी बलोंकी जगह ले ले जिनसे आज समाजका नियमन होता है और जो उन बाहरी बलोंसे अपना सम्बन्ध तोड़नेका सामर्थ्य हममें उत्पन्न कर सके ?

इन तीनों प्रश्नोंके लिए गांधीजीका उत्तर यह है : (१) निष्काम कर्मके उपदेशका पालन करके हम अपनी इन्द्रियोंकी प्रभुताको अथवा अपने व्यक्तित्वके "प्रत्यग् चेतना" वाले पहलूको मिटा सकते हैं। इससे हमारे जीवनकी विभिन्न भूमिकायें फिरसे एक हो जायंगी और मनुष्यका अपने साथ चलनेवाला युद्ध बन्द हो जायगा। (२) प्रेमधर्मके सतत पालनसे हम अपने मानव-

बन्धुओंके साथ अपनी मूलभूत एकता पुन: स्थापित कर सकते हैं और इस सिद्धान्तके पालन पर आधारित समाज-व्यवस्थाका निर्माण करके हम सबको एक करनेवाली चेतनाके इस अनुभवको सामान्य लोगों तक पहुंचा सकते हैं । (३) प्राणिमात्रके साथ उत्तरोत्तर अधिकाधिक तादात्म्य साधकर हम उस दिव्य चेतन तत्त्वके साथ फिरसे सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं, "जो अनेक रूपोंमें रह ही नहीं सकता" और सब व्यक्तिगत जीवात्मायें जिसके विशिष्ट रूप हैं । ऐसा करके हम सत्यकी शक्तिके – ईश्वरके – माध्यम बन जाते हैं, क्योंकि वही एक है और उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है, दूसरा सब माया है । इस शक्तिसे, जिसे अहिंसा, प्रेम या आत्माका बल भी कहते हैं, हमें वह अहिंसक पृष्ठबल मिल जायगा, जिससे हम अपने लिए और सभ्यताके लिए खतरा बनी हुई हिंसाकी शक्तियोंका सामना कर सकेंगे ।

५

गांधीजीने अपनी कल्पनाके सत्याग्रह-शास्त्रके बारेमें कहा था कि "वह शास्त्र अभी बन रहा है ।" [हरिजन, २४ सितम्बर १९३८, पृ. २६६] उनका यह दावा नहीं था कि उन्होंने शास्त्रको संपूर्ण बना दिया है । उनका मत था : वास्तवमें "सत्याग्रहका संपूर्ण शास्त्र रचा ही नहीं जा सकता । जहां तक मुझे मालूम है, कोई एक भी भौतिक विज्ञान, यहां तक कि अत्यंत निश्चित गणित-शास्त्र भी इस तरह नहीं रचा जा सकता ।" [हरिजन, २२ फरवरी १९४२, पृ. ४८] कुछ हद तक इसी कारणसे उन्होंने अपने जीवन-कालमें इसे एक शास्त्रके रूपमें तैयार करनेके प्रयत्नोंको प्रोत्साहन नहीं दिया । सत्याग्रहका पालन कुछ ऐसी बुनियादी धारणाओं पर आश्रित है, जो स्वभावसे ही न तो प्रमाणित की जा सकतीं, न अप्रमाणित की जा सकतीं । उनकी सत्यताकी परीक्षा अनुभवसे ही की जा सकती है । गणित-शास्त्रमें भी ऐसा ही होता है । "अपरिमेय संख्याओं" के, उदाहरणके लिए ऋण-संख्याओंके वर्गमूलकी कल्पना नहीं की जा सकती । उनका अर्थ तर्कसंगत भाषामें भी प्रकट नहीं किया जा सकता; वह तो केवल संकेतोंके द्वारा ही प्रकट किया जा सकता है । परन्तु व्यावहारिक विज्ञानकी समस्याएं हल करनेमें हमें उन संकेतोंके उपयोगसे सहायता मिलती है । इसी प्रकार जिन बुनियादी धारणाओं पर सत्याग्रहका आचरण

आधारित है उनकी सत्यताको पहले अनुभव करना पड़ता है, तभी हम उसकी शक्तिका सांसारिक कार्योंमें उपयोग कर सकते हैं ।

गांधीजीने एक बार कहा था : "मैंने अकसर कहा है कि . . . हमारे सारे धर्मग्रंथ नष्ट हो जायं, तो भी ईशोपनिषद्का एक मंत्र 'ईशावास्यमिदं स्वेम्' हिन्दूधर्मका सार प्रकट करने लिए पर्याप्त है । परन्तु वह एक मंत्र भी किसी उपयोगका नहीं रहेगा, यदि उसके अनुसार जीवन बितानेवाला कोई न हो ।" [हरिजन, १ मई १९३७, पृ. ९३]

जब गांधीजी कहते थे कि अहिंसाका उपदेश नहीं दिया जा सकता, तब उनका अभिप्राय यही था। अहिंसाके अनुसार जीवन जीना पड़ता है – उसे आचरणमें उतारना पड़ता है । किन्तु अहिंसाकी पद्धतियोंके विकासमें उन्होंने जो प्रमुख योग दिया है, उसकी कुछ झांकियां उनके जीवन और लेखोंसे चुनकर यहां दी जा सकती हैं ।

(१) यह मानी हुई बात है कि "अविरोधकी वृत्ति आत्मत्यागकी लम्बी तालीम और आत्माकी गुप्त शक्तियोंके पूर्ण ज्ञानसे सिद्ध की जाती है ।" [यंग इंडिया, २३ सितम्बर १९२६, पृ. ३३२] तब उसका अभ्यास साधारण लोगोंके लिए कैसे संभव बनाया जा सकता है ? गांधीजीका कहना था : "यह सच है कि **अहिंसाके शुद्ध उपासक ही इस विषयमें शोध कर सकते हैं और मानवको लागू होनेवाले इस महान सनातन नियमकी नई-नई संभावनायें समय-समय पर घोषित कर सकते हैं । परन्तु यदि यह नियम हो तो यह मानव-मात्रको लागू होना चाहिये** ।" [हरिजन, २२ फरवरी १९४२, पृ. ४८] (मोटे ठाइप मैंने किये हैं।)

गांधीजीकी प्रतिभाकी यह विलक्षणता थीं कि उन्होंने अपूर्ण साधनों द्वारा पूर्ण लक्ष्य प्राप्त करनेके तरीके खोज निकाले थे । प्रत्येक युगके आदर्शवादियोंको साधनोंकी कठिनाई सताती रही है । उनकी खोजका सार यह था कि "जाग्रत अहिंसाको पूरी तरह कार्यान्वित करनेके लिए सभी लोगोंमें उसकी एकसी मात्राका होना जरूरी नहीं । सिर्फ एक मनुष्यमें उसका होना काफी है, जैसे सेनामें एक सेनापति उसके झंडेके नीचे काम करनेवाले लाखों सैनिकोंकी शक्तिको

नियंत्रित रखने और उसका उपयोग करनेके लिए काफी होता है, भले ही वे सैनिक यह न जानते हों कि सेनापति अमुक हुक्म क्यों और किसलिए करता है ।" [यंग इंडिया, २३ सितम्बर १९२६, पृ. ३३२] इसी प्रकार जिन हजारों स्त्री-पुरुषोंने नमक-सत्याग्रहमें भाग लिया, वे अपने दैनिक आचरणमें क्रोध और घृणासे मुक्त नहीं थे; वे अत्यन्त अपूर्ण मानव थे । "वे ज्ञानपूर्वक अहिंसामें श्रद्धा नहीं रखते थे । . . . परन्तु अपने नेताओंमें उनकी श्रद्धा सच्ची थी ।" [हरिजन, ४ नवम्बर १९३९, पृ. ३३२] और गांधीजीका कहना था कि इतना काफी था । जब वे बड़ी संख्यामें मिलकर वर्जित नमक बटोरते थे, तब उनके दिलोंमें किसीके प्रति दुर्भावना नहीं थी । उनके सैनिक ढेंगके अनुशासनने सेनापतिकी अहिंसाकी साधनाके साथ मिलकर उन सबको प्रचंड शक्ति प्रदान कर दी थी ।

परन्तु जो लोग जनताका नेतृत्व करते हैं उनकी बात दूसरी ही है । "(अहिंसामें) उनका विश्वास ज्ञानपूर्ण होना चाहिये और उन्हें अपने विश्वासके सारे गुढ़ार्थोंको अपने जीवनमें उतारना चाहिये।" [वही]

जैसे जैसे गांधीजीकी खोज आगे बढ़ती गई वैसे-बैसे वे व्यक्तिगत पूर्णता सिद्ध करने पर अधिकाधिक जोर देने लगे, क्योंकि इसे वे आम जनताकी अहिंसाके संगठन और उपयोगकी कुंजी मानते थे । उन्होंने 'न्यूज क्रॉनिकल' के प्रतिनिधि नॉर्मन क्लिफसे कहा था : "अहिंसाकी लड़ाईमें अहिंसाकी शक्तिका प्रत्यक्ष प्रमाण एकल व्यक्तियोंने ही सबसे अधिक सफलतापूर्वक दिया है ।" मीराबहनको उन्होंने समझाया था : अहिंसा प्रकट नहीं होती । "हम अप्रकट वस्तुको नहीं समझ सकते । जब आत्मा शरीर धारण करती है तब उसे हम देख और समझ सकते हैं ।" [मीराबहन कृत 'ग्लीनिंग्स' में गांधीजीका उद्धरण, अहमदाबाद, १९४९, पृ. १४] इसीलिए "अहिंसाकी जीवंत मूर्ति बच जाने" की जरूरत है ।

(२) आत्मा एक सम्पूर्ण वस्तु है । इसकी रचना ऐसी है कि इसके भीतरके "सब" का "दूसरे सबसे सम्बंध है ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लन्दन, १९४७,

पृ. १७] इसलिए इसका विभाजन नहीं किया जा सकता । अहिंसाकी साधना साधकके जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्याप्त होनी चाहिये । इनमें पारिवारिक क्षेत्र मुख्य है, जहां "अहिंसाकी वर्णमाला उत्तम रूपमें सीखी जाती है ।" [हरिजन, २१ जुलाई १९४०, पृ. २१४] वहीं अहिंसाकी साधनाका आरंभ करना होता है । हम सब कभी कभी अपने घरोंमें तानाशाह बन जाते हैं । इसलिए इच्छाके अभावके कारण नहीं परन्तु क्षमता या सामर्थ्यके अभावके कारण हम अधिक बड़े एकाधिकारवादियों और तानाशाहोंसे अलग पड़ते हैं । हम अपनी आंखका शहतीर निकाल कर ही दूसरेकी आंखके तिल पर उंगली उठा सकते हैं । अहिंसाकी साधना हमारे घरेलू सम्बंधोंमें प्रकट होगी तभी बाहर उसका कोई प्रभाव पड़ सकता है ।

(३) इसके बाद आर्थिक क्षेत्र आता है । अहिंसाकी साधनाके लिए अहंका अतिक्रमण करना होता है । परन्तु हमारा समाज आज इस तरहका बना हुआ है कि वह अपनी अर्थ-व्यवस्थाको आवश्यकतायें बढ़ा कर यानी कामनाओंको उत्तेजित करके ही टिका सकता है । चूंकि उसका आधार प्रतिस्पर्धा, लोभ और भय पर है, इसलिए समाज व्यक्ति पर ऐसे मूल्य थोप देता है जिनसे उसका जीवन व्यवहारमें अहंके अतिक्रमणके लक्ष्यका निषेध बन जाता है । इसी कारणसे बुद्ध भगवानने "सम्यग् जीवन" [बुद्धके अनुयायी वर्जित धंधे नहीं कर सकते थे – जैसे हथियारोंका व्यापार, कसाईका धन्धा, शराब बेचना और जहर बेचना । उन्हें सिपाही बननेकी भी मनाही थी] पर इतना जोर दिया था । आधुनिक कालमें अमरीकी शान्तिवादी जॉन बुलमैनने अपनी दुकान पर आनेवाले ग्राहकोंको वेस्ट इंडियाकी शक्कर और शराब बेचना बन्द कर दिया था, क्योंकि ये चीजें गुलामोंके श्रमसे तैयार होती थीं । वे पैदल यात्रा करते थे, क्योंकि घोड़ागाड़ीमें सवार होनेसे वे अप्रत्यक्ष रूपमें उस निर्दय व्यवहारके भागीदार बन जाते, जो उनके जमानेमें घोड़ों और घोड़े हांकनेवालोंके साथ किया जाता था । जेराल्ड हर्ड कहते हैं : "जैसे उत्तरी ध्रुवके प्रदेशमें बीजोंसे रंग-बिरंगे फूलोंके पौधे लगनेकी आशा नहीं रखी जा सकती, वैसे ही हमारे समाजमें – जहां लक्ष्य अहंको संतुष्ट करने और व्यसन, सम्पत्ति और दंभसे उस अहंको स्थिर बनानेका हो – (व्यापक चेतना प्राप्त करनेके लक्ष्यकी दिशामें) विकास जारी रहनेकी आशा नहीं रखी जा

सकती ।" मानव-जाति उच्चतर मानसिक विकासके लक्ष्य तक पहुंचे इसके लिए ऐसे समाजकी जरूरत है, जो प्रेमधर्मके पालन पर आधारित हो – ऐसा समाज जिसमें सब प्रवृत्तियोंका मूल हेतु व्यक्तिगत लाभ न होकर अहंके अतिक्रमणके साधनके रूपमें अपने मानव-बन्धुओंकी सेवा करना हो । (देखिये खण्ड- २, पृष्ठ २४७-५९)

इस प्रकारके समाजका एक छोटासा व्यावहारिक नमूना पेश करनेके लिए और अहिंसाके आधारभूत यम-नियमोंके पालनका प्रत्यक्ष प्रमाण देनेके लिए गांधीजीने आश्रम-जीवन या सामुदायिक जीवन-प्रणालीकी स्थापना की । इसी साधनका उपयोग उन्होंने लोगोंमें मूलभूत यम-नियमोंका खमीर चैदा करनेके लिए किया; इन यम-नियमोंके पालनसे सत्याग्रहके आन्दोलनके लिए शक्ति और गति प्राप्त होती थी । ये आश्रम अत्यन्त अपूर्ण नमूने थे । फिर भी जहां कहीं वे खुले वहीं एक नई हवा, एक नवीन वातावरण पैदा हो गया । गांधीजीने देखा कि प्रेमधर्मका अत्यन्त अल्पमात्रामें होनेवाला पालन भी जब लाखों लोगोंके जीवनमें मूर्त रूप ग्रहण करता है, तब लड़ाईके मोर्चे पर खड़े दोनों ओरके समस्त लोगोंकी प्रतिक्रियाओंका मूल स्वरूप बदल जाता है और उसका एकत्र प्रभाव आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न करता है । देश भरमें जो आश्रम स्थापित हुए थे उन्हींसे गांधीजीको भारतके स्वातंत्र्य-संग्रामके दौरान अपने अहिंसक आन्दोलन संगठित करनेमें और उन्हें टिकाये रखनेमें मदद मिली । जहां कहीं भी आश्रम था वहां लोगोंने सत्याग्रहका रहस्य सीख लिया; और जहां कहीं सत्याग्रहका आन्दोलन चला वहां आश्रम खड़े हो गये । गांधीजीके अहिंसक सामूहिक आन्दोलनोंको संगठित करनेके लिए जिस प्रकारके कार्यकर्ताओंकी जरूरत थी उनका एक नमूना तो इन आश्रमोंने स्थिर किया ही; साथ ही उन्होंने अहिंसक ढंगके संगठनका नमूना भी स्थिर किया – यहां तक कि गांधीजी जिस संस्थाको हाथमें लेते थे, फिर वह कांग्रेस हो, हरिजन-सेवक-संघ हो या प्राकृतिक चिकित्सालय हो, उसीको आश्रम जैसी बना देते थे ।

(४) भारतकी प्राचीन परम्परा बताती है कि पुराने जमानेमें जब किसी बड़ी विपत्तिसे बचनेके सारे सामान्य उपाय निष्फल सिद्ध होते थे तब लोग तपस्याका आश्रय लेते थे । गांधीजीने

तपस्याकी व्याख्या "एकाग्र निष्ठा" और साधना की थी, जो किसी आदर्शकी सिद्धिके प्रयत्नमें अन्य सारी कामनाओं अथवा अभिलाषाओंको या तो उदात्त बना देती है अथवा भस्मीभूत कर देती है। वे कहते हैं : "तपस्या कई प्रकारकी होती है। पथभ्रष्ट लोग भी इसका आसरा ले सकते हैं।...ज्ञानवान भी ले सकते हैं।...तपस्याके प्रतापसे ही पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने अपने आविष्कार किये हैं।" [हरिजन, ८ सितम्बर १९४०, पृ. २७७]

गांधीजी कहते थे : "जो लोग अहिंसामें विश्वास रखते हैं, उनकी अन्तरात्मा तपस्यासे जाग्रत होगी। वह तपस्या है रचनात्मक कार्यक्रमकी पूर्ति। . . . जो लोग श्रद्धासे, पूरे ज्ञानके साथ और मूक भावसे उसे पूरा करेंगे, वे वर्तमान दावानलको बुझानेकी तपस्यामें भाग लेनेवाले माने जायंगे।" [वही]

गांधीजीकी राय थी कि "यदि एक व्यक्ति भी ऐसा हो जो लगभग पूरी तरह अहिंसक हो, तो वह इस दावानलको बुझा सकता है।" [वही] परन्तु यह ऐसी तपस्या है जिसे बहुत थोड़े ही कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने हमारे युगधर्मके अनुसार ऐसी तपस्या सुझाई, जिसे सामान्य लोग आसानीसे कर सकते हैं। "लोकतंत्रके इस युगमें यह अत्यावश्यक है कि वांछित परिणाम लोगोंके सामूहिक प्रयत्नसे निकलें। किसी अत्यंत शक्तिशाली व्यक्तिके प्रयत्नसे कोई उद्देश्य पूरा हो जाय तो बेशक अच्छा है, परन्तु उससे जन-समुदायको अपनी सामूहिक शक्तिका भान नहीं हो सकता। एक व्यक्तिकी सफलता ऐसी ही होगी जैसे कोई करोड़पति लाखों भूखे लोगोंको मुफ्तमें अन्नदान दे। इसलिए हमें अपनी शक्ति रचनात्मक कार्यक्रमको . . . पूरा करनेमें लगानी चाहिये।" [वही]

(५) गांधीजीने कहा था : "जिस चीजको लाखों आदमी मिलकर कर सकते हैं, उसमें अनोखी शक्ति भर जाती है।" [हरिजन, ७ अप्रैल १९४६, पृ. ७४] शर्त यह है कि वह अर्थपूर्ण हो – यानी करनेवालोंको उसके उद्देश्यका भान हो, नहीं तो वह जड़ क्रिया बन जाती है। अहंके अतिक्रमण और मूल्य-परिवर्तनके दैनिक अभ्यासके लिए, चाहे वह कितना ही सीमित हो, और

छोटेसे छोटे आदमीके साथ तादात्म्य साधनेके साधनके रूपमें गांधीजीने सबके लिए कताई-यज्ञ चलाया। चरखेके सम्बन्धमें गांधीजीने घोषणा की थी कि "यह चरखा अहिंसाकी कलाकी खोज करते हुए मेरे हाथ लगा है। और प्रतिदिन चरखेके विषयमें मेरी श्रद्धाको अधिक उज्ज्वल बनाता है।" [हरिजन, २० मार्च १९३७, पृ. ४२] इसके सम्बन्धमें भी उन्होंने वैसी ही प्रयोगात्मक खोजकी वृत्ति और वैज्ञानिक निश्चितता रखी, जैसी वे दूसरे आध्यात्मिक यम-नियमोंके पालनमें रखते थे। "वैसे चरखा खुद तो निर्जीव है, परन्तु जब मैं उसे प्रतीकका रूप दे देता हूं, तो वह मेरे लिए सजीव बन जाता है। उसकी आवाज जब संगीतमय निकलती है तो अहिंसासे उसका स्वर मिल जाता है। अगर वह संगीतमय नहीं होती तो अहिंसाके साथ उसका स्वर नहीं मिलता, क्योंकि उससे मेरी लापरवाही जाहिर होती है।" [हरिजन, २१ जुलाई १९४०, पृ. २१०] इसलिए हमें "चरखेके प्रत्येक भागके बारेमें बहुत ही सावधान रहना चाहिये।" तभी कताई "सच्चा यज्ञकर्म" [वही] होगी।

(६) गांधीजीने कहा है कि पश्चिमके लोगोंके मानसिक रोगोंके लिए कार्य द्वारा उपचार करनेकी पद्धतिके रूपमें चरखेको अपनाया जाय, तो उन्हें बड़ेसे बड़ा लाभ हो। १९४६ में ब्रिटिश मंत्री-मिशनकी समझौता-वार्ताओंके समय भंगीबस्तीमें गांधीजीने जो कताई-वर्ग शुरू किया था, उसमें एक अमरीकी पत्र-प्रतिनिधि, एण्ड्रू फ्रीमैन शरीक होते थे। उन्होंने एक बार गांधीजीसे पूछा : "अमरीकाके लिए चरखेका कोई सन्देश है ? क्या वह अणुबमके सामने काम दे सकता है ?"

गांधीजीने उत्तर दिया: "मैं मानता हूं कि सारी दुनियाके लिए उसके पास सन्देश है। . . . दुनिया आज उल्टी दिशामें दौड़ रही है। उसे अपनी गति पलट देनी चाहिये और अपना सूत स्वयं कातना चाहिये। उसे घरोंमें तैयार की हुई हाथ-उद्योगोंकी चीजोंकी ओर लौटना चाहिये और इस प्रकार उन यंत्रोंको अस्वीकार कर देना चाहिये, जिन्होंने ऐसे उपायको जन्म दिया है जिससे मनुष्य स्वयं अपना विनाश कर सकता है। हाथ-कताई आर्थिक आजादी, समानता और शान्तिका आरंभ है। इस छोटेसे चरखेको अपनानेसे सारी दुनियाकी रक्षा हो सकती है। बड़े-बड़े सम्मेलनोंसे

दुनियामें शान्ति स्थापित नहीं होगी । इन सम्मेलनोंके चलते हुए भी विश्वशान्ति भंग हुई है । शान्ति लोगोंकी तरफसे ही आनी चाहिये ।"

मुलाकात करनेवाले मित्रने बीचमें ही पूछा : "यदि कोई देश सचसुच चरखेको अपना सकता है तो वह भारत ही है । क्या आप मानते हैं कि भारत उसे अपनायेगा ?"

गांधीजीने उत्तर दिया : "मैं स्वीकार करता हूं कि इसे अपनानेकी प्रक्रिया भारतमें बहुत धीमी है । . . . परन्तु ईश्वरके लिए सब-कुछ संभव है । यदि ईश्वर नामकी कोई चेतन शक्ति नहीं है, तो चरखेके लिए भी कोई स्थान नहीं है ।"

पत्र-प्रतिनिधिने अपनी बात जारी रखते हुए कहा : "काफी बुद्धिमान मनुष्यके नाते और अमरीकी होनेके नाते मैं इतना ही कह सकता हूं कि यद्यपि बहुतसे अमरीकी कातनेवालोंको सनकी कहेंगे, फिर भी ऐसे लोग कम नहीं हैं जो गंभीरतासे इस सम्बन्धमें सोच रहे हैं । कोई न कोई ऐसी चीज ढूंढ़नी होगी, जो सभ्यताको विनाशसे बचाये । जीवनको सादा बनाना ही होगा।"

गांधीजीने उत्तर दिया: "मानवकी मानवताको और किसी उपायसे टिकाया नहीं जा सकता। सबको समान अवसर मिलना ही चाहिये । अवसर मिले तो प्रत्येक मानवमें आध्यात्मिक विकासकी एकसी शक्ति होती है । चरखा इसी विकासका प्रतीक है ।"

गांधीजीसे भेंट करनेवाले मित्रने अन्तमें कहा : "मेरा इरादा अमरीकी लोगोंके सामने चरखेका यह अर्थ रखनेका है कि यह एक 'विचारकी प्रेरणा देनेवाला यंत्र' है । जब मैं अपने कताई-वर्गमें भाग ले रहा था, तब मैंने देखा कि अगर में अकेला कातूं तो चरखा मुझे विचार करनेकी प्रेरणा देता है । अगर अमरीकी लोग कातने लगें तो शायद वे कुछ विचारनेका काम कर सकते हैं, जिसके लिए उन्हें और किसी तरह समय नहीं मिलता । शायद वे इसकी वजहसे अणुबमको भी भूल जायं ।"

(७) मनुष्य प्रतीकोंसे काम लेनेवाला प्राणी है । जो बात शब्दोंसे दूसरों तक नहीं पहुंचाई जा सकती, उसे हम प्रतीकों द्वारा पहुंचा सकते हैं । वे ऐसे साधन हैं जिनसे "व्यक्तित्वका एक स्तर दूसरे स्तरको संकेत देता है ।" उदाहरणार्थ, सपनोंमें "अर्ध-चेतन मन चेतनको स्वप्न-प्रतीकके द्वारा संकेत करता मालूम होता है ।" [रिचार्ड बी. ग्रेग, 'ए कम्पास फॉर सिविलाइज़ेशन', अहमदाबाद, १९५६, पृ. १६८]

विधियोंमें प्रक्रिया इससे उल्टी हो जाती है । विधि यानी किसी विचारकी प्रतीकरूप क्रिया "चेतन मन और भावनाओंको अर्थ-चेतन मनके साथ सम्पर्क साधनेमें और उस पर असर डालनेमें समर्थ बनाती है ।" इसका सुपरिचित उदाहरण नागरिकोंमें देशभक्ति पैदा करनेके लिए और सिपाहियोंको अनुशासन तथा निर्विवाद आज्ञा-पालनकी आदत सिखानेके लिए झंडा-वन्दनकी प्रथा है । विधि और प्रतीक दोनोंसे हमें "अपने व्यक्तित्वके विभिन्न स्तरोंका अधिक पूर्ण एकीकरण करनेमें सहायता मिलती है ।" [वही] सत्यके जिन पहलुओंका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उनमें निहित प्रचंड शक्तिको मुक्त करनेमें वे सहायक होते हैं । बाह्य प्रतीकोंके उपयोगका अधिक सादा उदाहरण यह है कि बन्दूक वगैराकी तालीम देनेके लिए हम किसी सजीव प्राणीके बजाय किसी जंगम लक्ष्यका उपयोग करते हैं । "आप पहले तख्तों पर, फिर निशानों पर और बादमें पशुओं पर गोली चलाते हैं । तब आपको विनाशकी कलामें कुशल होनेका प्रमाण-पत्र दिया जाता है ।" [हरिजन, २० मार्च १९३७, पृ. ४२] इस प्रकार बाहरी प्रतीकोंकी सहायतासे लोगोंको हिंसाका अभ्यास कराया जा सकता है । अहिंसाकी शिक्षामें भी विधिका और बाह्य प्रतीकोंका उपयोग है, परन्तु अपने आपमें वे काफी नहीं होते । "अहिंसक मनुष्यके पास कोई बाहरी हथियार नहीं होता, इसलिए उसकी वाणी ही नहीं, किन्तु कृति भी व्यर्थ प्रतीत होती है । मैं आपसे सब तरहके मीठे शब्द कह सकता हूं, जब कि मेरा आशय मीठे शब्द कहनेका न हो । दूसरी ओर, मुझमें सच्चा प्रेम हो सकता है, फिर भी मेरी बाहरी मुद्रा इसके प्रतिकूल हो सकती है । इसके अलावा दोनों ही सूरतोंमें बाहरसे मेरी क्रिया एकसी ही होने पर भी उसका प्रभाव अलग-अलग पड़ सकता है । कारण, हमारी क्रियाका प्रभाव अकसर उस समय अधिक प्रबल होता है जब वह प्रकट रूपमें

ज्ञात न हो । . . . परन्तु जान-बूझकर डाले जानेवाले प्रभावसे वह कहीं अधिक होता है ।" [वही] अहिंसाकी साधना करनेके लिए हमें वाणीसे परे, कर्मसे भी परे, कर्मके पीछे जो कुछ है वहां – विश्वतत्त्वके साथ तादात्म्य साधनेकी दृष्टिसे कर्मके मर्म तक, उस अंतिम सत्य तक, जिसमें हम सब एक हो जाते हैं, जाना पड़ता है । यह अंतिम सत्य समस्त ज्ञानका और संपूर्ण सत्ताका स्रोत है । और यह सत्ता उसीको मिलती है, जिसने अपनेको उस सत्यमें विलीन कर दिया है । ज्ञान आत्माका धर्म है । परन्तु "दुनिया हमारे साथ बहुत ज्यादा लगी हुई है ।" इसके फलस्वरूप हमारे भीतर जो सत्य निवास करता है उससे हम दूर पड़ जाते हैं । परन्तु गांधीजी जोर देकर कहते हैं : "हमने स्वर्गको फिरसे प्राप्त करनेके लिए ही खोया है ।" [यंग इंडिया, २ जुलाई १९२५, पृ. २३२] उसे फिरसे प्राप्त करना मानवका विशेष कर्तव्य और जन्मसिद्ध अधिकार है । प्लेटोके 'डायलॉग्स' में मेनोके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कि क्या सदाचार सिखाया जाता है, सॉक्रेटीज़ने कहा है : सदाचार सिखाया नहीं जाता । वह "एकत्रित" किया जाता है । एकत्रित करनेका अर्थ "अपनी संपूर्ण शक्तिको एकत्र कर लेना, अपनी आत्मामें निमग्न होना है ।" [एस. राधाकृष्णन, 'भगवद्गीता', पृ. १९४] अहिंसाके अभ्यासको अन्तर्मुख बनानेके लिए गांधीजीने तालबद्ध व्यक्तिगत और सामूहिक प्रार्थना और सामूहिक रामधुनकी प्रथा आरंभ की । (देखिये खण्ड-१, पृष्ठ २१२-१३) लाओत्सेने कहा है : "गंदला पानी स्थिर रहनेसे साफ हो जाता है ।" गांधीजीका कथन है : "हम धैर्ययुक्त प्रयत्न और मूक प्रार्थनाके द्वारा सत्यका और उसे प्रभावित करनेके एकमात्र उचित साधनके प्रयोगकी पद्धतिका – अर्थात् सत्याग्रहका अथवा आत्मबलका – पता लगाते हैं ।" [यंग इंडिया, १ जून १९२१, पृ. १७४] डॉ. राधाकृष्णन्के शब्दोंमें, "प्रार्थनाके मौनमें हम अपनी आत्माके गहरे स्तरोंको छूते हैं, जहां हर मनुष्यको अपनी-अपनी शक्ति और आवश्यकताके अनुसार ईश्वरके सजीव अस्तित्वके दर्शन होते हैं ।" [एस. राधाकृष्णन्, 'भगवत्गीता, पृ. १९४]

गांधीजीका यह दावा था कि उन्होंने "वैज्ञानिक निश्चितता" के साथ पचास वर्षसे अधिक समय तक अहिंसाकी साधना की है और उन्हें एक भी उदाहरण ऐसा मालूम नहीं है जिसमें

अहिंसा असफल रही हो । जहां कभी-कभी वह असफल होती दिखाई दी वहां वह सिद्धान्तकी असफलता नहीं थी, प्रयोगकर्ताकी अर्थात् स्वयं उनकी अपनी असफलता थी । "जब मैं बुराई करनेके लिए सर्वथा असमर्थ बन जाऊंगा और जब क्षण भरके लिए भी कोई कठोर या अहंकारपूर्ण बात मेरे विचार-जगतमें नहीं आयेगी, तभी मेरी अहिंसा समस्त जगतके अन्तरको हिलायेगी ।" [यंग इंडिया, २ जुलाई १९२५, पृ. २३२]

गांधीजीसे कहा गया था, "परन्तु इस प्रकारकी साधनामें तो हजारों वर्ष लग सकते हैं ।" गांधीजी इस कथनसे सहमत नहीं हुए : "कुछको हजार वर्ष लग सकते हैं, तो कुछको एक ही वर्ष लग सकता है । यह न समझिये कि अगर पचास वर्षके अभ्यासके बावजूद मैं अभी तक अपूर्ण हूं, तो आपको उसकी साधनाके लिए कहीं अधिक वर्ष चाहिये । नहीं, यहां त्रैराशिकका नियम लागू नहीं होता । आपको मुझसे जल्दी भी सफलता मिल सकती है ।" [हरिजन, २१ जुलाई १९४०, पृ. २१०]

गांधीजीने कहा : अपनी अपूर्णताओंसे हतोत्साह न होकर मैं उनमें अहिंसाकी प्रगतिके लिए ईश्वरका हेतु समझता हूं । "मेरी अपूर्णतायें और असफलतायें उतनी ही ईश्वरका वरदान हैं जितनी मेरी सफलताएं और प्रतिभाएं हैं; और मैं इन दोनोंको उसीके चरणोंमें अर्पण कर देता हूं । मेरे जैसे अपूर्ण मानवको इतने महान प्रयोगके लिए उसने क्यों चुना होगा ? मेरे खयालसे उसने जान-बूझ कर ही ऐसा किया है । उसे लाखों गरीबों, बेजबानों और अज्ञानोंकी सेवा करनी थी । पूर्ण मनुष्य शायद उनकी निराशाका कारण बनता । जब लोगोंने देखा कि उनके जैसी अपूर्णताओंवाला ही एक आदमी अहिंसाकी दिशामें आगे बढ़ रहा है, तो उन्हें भी अपने सामर्थ्यका भरोसा हुआ । अगर कोई पूर्ण पुरुष हमारा नेता बन कर आया होता, तो हम उसे पहचान न पाते और हमने उसे गुफामें जा बैठनेके लिए मजबूर कर दिया होता । संभव है कि जो मनुष्य मेरा अनुगमन करेगा वह अधिक पूर्ण हो और आप उसका सन्देश ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकें ।" [वही, पृ. २११]

उन्हें इसमें जरा भी शंका नहीं थी कि "कलका संसार अहिंसा पर आधारित समाज होगा – होना ही चाहिये ।" [कैटलिन कृत 'इन दि पाथ ऑफ महात्मा गांधी' में गांधीजीका उद्धरण, लन्दन, १९४८, पृ. ३२२] उन्होंने गंभीर घोषणा की : "मैं तो कोलम्बस और स्टीवेन्सनकी जातिका हूं । अगर मैंने कोई भूल भी की है तो समस्त युगों और देशोंके अधिकसे अधिक विख्यात वैज्ञानिकोंके साथ रहकर की है ।" [हरिजन, १५ जून १९४०, पृ. १६१] किस सच्चे वैज्ञानिकने कभी उस निर्मम सत्य और निश्चितताकी शिकायत की है, जिसकी उसके प्रयोगोंकी सफलताके लिए जरूरत थी; या कौन ऐसा वैज्ञानिक हुआ है जो कठिनाइयों और असफलताओंसे विचलित हो गया हो ? "मेरे जैसे हजारों मनुष्य अहिंसाके आदर्शकी सिद्धिके लिए मर सकते हैं, परन्तु अहिंसा कभी नहीं मरेगी; और अहिंसाका सन्देश श्रद्धालुओंके द्वारा ही फैल सकता है, जो इस उद्देश्यके लिए मरनेको कटिबद्ध हों ।" [हरिजन, मई १९४६, पृ. १४०]

६

यह दलील की गई है कि अहिंसाका हथियार तभी सफल हो सकता है जब उसका विरोध करनेवाली सत्ता नैतिक प्रभाव ग्रहण करनेवाली हों, परन्तु सर्वसत्ताधारी तानाशाहोंके – मनुष्यके रूपमें राक्षसों – के सामने वह बेकार साबित होती है; क्योंकि उन लोगों पर विश्वके लोकमतका कोई असर नहीं होता और उनमें दया अथवा नैतिकता जैसी वस्तु होती ही नहीं । यह देखते हुए कि तानाशाह बुनियादी तौर पर अनैतिक होते हैं, क्या उनके सामने अहिंसाका प्रयोग करना उनके हाथोंमें खेलना नहीं होगा ?

इसके उत्तरमें गांधीजी बार-बार कहते हैं कि अहिंसाका प्रभाव अत्याचारीकी मीठी नजर पर या सद्भावना पर निर्भर नहीं करता । वह तो अपने बल पर ही खड़ी होती है । "अहिंसामें मेरा विश्वास इस धारणा पर खड़ा है कि मानव-स्वभाव वास्तवमें एक ही है और इसलिए प्रेमका प्रभाव

उस पर पड़े बिना रह ही नहीं सकता । . . . अहिंसक सत्याग्रहीका आधार ईश्वरकी अचूक सहायता पर होता है । यह सहायता उसे ऐसी कठिनाइयोंमें भी सहारा देती है, जिनको पार करना अन्यथा असंभव माना जाता है । उसकी श्रद्धा उसे अजेय बना देती है ।" [हरिजन, २४ दिसम्बर १९३८, पृ. ३९४-९५]

गांधीजीका ऐसा मत था कि अहिंसक प्रतिरोध हिंसक प्रतिरोधसे कहीं अधिक सक्रिय होता है । वह प्रत्यक्ष, सतत, परन्तु तीन-चौथाई अदृश्य और केवल एक-चौथाई दृश्य होता है । जहां तक वह दृश्य है, वह प्रभावहीन दिखाई देता है । . . . परन्तु अन्तिम परिणाममें वह वास्तवमें अत्यन्त सक्रिय और अत्यंत पुरअसर होता है । . . . हिंसक मनुष्यकी प्रवृत्ति – जब तक वह जारी रहती है – अत्यधिक दृश्य होती है । परन्तु वह सदा क्षणिक होती है । . . . हिटलर . . . मुसोलिनी . . . स्टालिन . . . हिंसाकी तत्काल सफलता प्रमाणित कर सकते हैं । परन्तु वह उतनी ही क्षणिक होगी जितनी चंगेजखांके कत्लेआमकी थी । परन्तु बुद्धके अहिंसक कार्यका प्रभाव आज भी टिका हुआ है और समयके साथ और बढ़ेगा । और अहिंसाका जितना पालन किया जाता है उतनी ही वह प्रभावकारी और अक्षय हो जाती है; अन्तमें सारा संसार चकित हो कर कह उठता है, 'यह तो चमत्कार हो गया !' सभी चमत्कार अदृश्य शक्तिके मौन और प्रभावोत्पादक कार्यकी वजहसे होते हैं । अहिंसा सबसे अधिक अदृश्य और सबसे अधिक प्रभावकारी है ।" [हरिजन, २० मार्च १९३७, पृ. ४१-४२]

इतिहासका एक उदाहरण लीजिये । जब नीरोने रोमकी रात्रि-कालीन उद्यान-क्रीड़ाओंको प्रकाशमान करनेके लिए ईसाई नास्तिकोंको जिन्दा जलाना शुरू किया या छुट्टीके दिनोंमें रोमवासियोंके मनोरंजनके लिए कॉलोसियममें उन्हें योद्धाओं और भूखे सिहोंके सामने डालना शुरू किया, तब उस "अंधकारमय, तिरस्करणीय, अंधविश्वासपूर्ण नास्तिकताको – जैसा कि ईसाई धर्मको उस समय कहा जाता था – नष्ट करनेके संकल्प अथवा विश्वासके अभावनें उसे नहीं रोका था । नीरोके जमानेका प्रबुद्ध लोकमत नये सम्प्रदायके बिलकुल खिलाफ था । ईसाइयोंका महामारीकी तरह सफाया कर देना प्रशंसनीय और जनसेवाका उत्तम कार्य माना

जाता था । उन्हें स्वभावसे ही नीतिभ्रष्ट और राज्यद्रोही तथा राज्यके और सच्चे धर्मके शत्रु समझा जाता था । पॉण्टियस पाइलेटके मुंहमें अनातोले फ्रांसने जो शब्द रखे हैं उनसे ज्यादा जहरीला या क्रूर घृणासे भरा गोबेल्स और स्ट्रेशरका कोई भी यहुदी-विरोधी भाषण नहीं हो सकता था । वे शब्द प्रारंभिक ईसाइयोंके प्रति रोमके शासकोंके ऐतिहासिक रवैयेको सही-सही प्रगट करते हैं । ["चूंकि हम उन पर राज्य नहीं कर सकते, इसलिए हमें विवश होकर उन्हें नष्ट कर देना पड़ेगा । इस विषयमें कभी सन्देह न रखो । उनके हृदयमें सदा विरोध भड़कता रहेगा, उनके उत्तेजित मनमें विद्रोहकी आग जलती रहेगी, वे एक दिन हम पर इतने प्रचंड रूपमें टूट पड़ेंगे कि उनके सामने नुमिडियनोंका क्रोध और पार्थियनोंकी बड़बड़ाहट केवल बालकोंके खेल बनकर रह जायंगे । वे गुप्त रूपमें भयंकर आशाएं बांध रहे हैं और पागल बनकर हमारे नाशकी बात सोच रहे हैं । दूसरा कुछ हो भी क्या सकता है, जब किसी आकाश-वाणीके बल पर वे यह आशा लगाये बैठे हैं कि उनके ही वंशका कोई राजकुमार आयेगा और उसका राज्य सारी पृथ्वी पर फैल जायेगा ? उनका विनाश करना ही होगा । जरुसलेमको जड़से नष्ट करना पड़ेगा । मैं बूढ़ा तो हो गया हूं, परन्तु सम्भव है कि मेरे भाग्यमें वह दिन देखना बदा हो जब जरुसलेमकी दीवारें गिरेंगी और उसके घर आगकी लपटोंसे घिर जायंगे, जब उस स्थान पर नमक छिड़का जायगा जहां कभी मन्दिर खड़ा था । उस दिन अन्तमें मेरे कार्यका औचित्य सिद्ध होगा ।" – अनातोले फ्रांस, 'प्रोक्युरेटर ऑफ जूडिया' ।] उस समय ईसाइयोंकी संख्या और महत्ता भी इतनी नहीं थी कि वे "तंग करनेकी चालें " चलकर सफलता प्राप्त कर लेते । और उनको सतानेवाले लोग यह जानते थे । अगर उन्होंने ईसाइयोंका सफाया कर देनेका सचमुच फैसला कर लिया होता, तो कोई उन्हें रोकनेवाला नहीं था । फिर भी उन्होंने ईसाइयोंका सफाया इसीलिए नहीं किया कि वे ऐसा कर ही नहीं सकते थे । ["और, पॉण्टियस, तुमने खुद अपने सेनापतियोंकी गदाओंसे भोले-भाले मनुष्योंको मरते देखा है, जो अपने नाम प्रकट किये बिना जिस कामको वे न्यायपूर्ण समझते थे उसके लिए मर गये । ऐसे लोग हमारे तिरस्कारके पात्र नहीं हैं । मैं यह इसलिए कह रहा हूं कि ऐसी तमाम बातोंमें सौम्यता और मानसिक समता रखना वांछनीय है । परन्तु मैं स्वीकार करता

हूं कि मैंने यहुदियोंके लिए कभी कोई सजीव सहानुभूति अनुभव नहीं की । - अनातोले फ्रांस, 'प्रोक्युरेटर ऑफ जूडिया']

यह नई शक्ति इतनी आश्चर्यमें डालनेवाली, इतनी सूक्ष्म, इतनी नवीन और जिन पद्धतियोंको रोमन लोग अब तक मानते या जानते थे उनसे इतनी विपरीत थी कि उसके सामने वे किंकर्तव्य-विमूढ़ बन गये । और रोमनोंको पता चलनेसे पहले ही उसने गुप्त खमीरकी तरह सारे जन-समूहमें व्याप्त हो कर उसका कायापलट कर दिया । जब ईसाई शहीद जिन्दा जलाया जानेके लिए वधस्थलकी ओर बढ़ता था तब उसके मुख पर विजयकी जो मुसकान दिखाई पड़ती थी, वह गर्वीले रोमन सामन्तोंके आत्म-सन्तोष और झूठे आत्म-विश्वासको पहले तो आश्चर्यमें डाल देती थी, फिर उसे उत्तेजित कर देती थी और अन्तमें उसे जड़से हिला कर अभिभूत कर देती थी । रोमन योद्धाओंके सुदृढ़ कवच इस सूक्ष्म शक्तिका सामना नहीं कर सकते थे । वह शक्ति चुपके-चुपके ऊंचे और शक्तिशाली परिवारोंमें प्रवेश कर गई और अन्तमें सम्राट्के परिवार तकमें उसने स्थान ले लिया ।

हमारे अपने जमानेकी बात कहें तो अहिंसा-शक्तिकी श्रेष्ठताका वैज्ञानिक प्रमाण उस महान विद्वान प्रिंस क्रोपॉटकिनने अपनी पुस्तक 'म्यूचुअल एड : ऐज़ ए फैक्टर इन इवोल्यूशन, में दिया है । उन्होंने अपने समर्थनमें चार्ल्स डार्विनका यह कथन उद्धृत किया है कि जंगली जानवरोंमें बलवानोंकी विनाशकारी वृत्तियों पर कोई रोक या नियंत्रण नहीं है, परन्तु "जीवित रहनेके लिए सबसे योग्य वे जानवर नहीं हैं जो सबसे बलवान हैं या सबसे चालक हैं, परन्तु वे हैं जो एक-दूसरेको सहारा देनेके लिए आपसमें मिल जाना सीख लेते हैं ।" वे सिद्ध करते हैं कि पक्षियोंकी उन जातियोंका "जिनमें लूटके लिए लगभग आदर्श संगठन होता है ... ह्रास हो जाता है और दूसरी जातियां ... जो एक-दूसरेकी सहायता करती हैं ... फलती-फूलती हैं ।" अन्तमें "सबसे चालाक और चतुर जातियां मिट जाती हैं और जो सामाजिक जीवन और पारस्परिक सहायताके लाभ समझती हैं वे बची रहती हैं ।" सामाजिक वृत्ति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारसे विकासका मुख्य तत्त्व सिद्ध होती है । "प्रत्यक्ष रूपमें तो शक्तिका अपव्यय कम करते

हुए जातिका कल्याण सिद्ध करके और अप्रत्यक्ष रूपमें बुद्धिके विकासकी अनुकूलता पैदा करके वह वृत्ति यह ध्येय सिद्ध करती है ।" दयाका विकास सामाजिक जीवनका आवश्यक परिणाम है । उससे सामान्य बुद्धि और समझदारीमें काफी वृद्धि होती है । "वह . . . आगेके विकासमें सहायक होनेवाला प्रबल तत्त्व है ।"

इसका समर्थन कॉनरैड झेड. लॉरेंजके उद्गारोंसे भी होता है । इस महान प्रकृतिवादीने अपने ग्रंथ 'किंग सॉलोमन्स रिंग' में पचासों उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि किस तरह जहां जंगलके कानूनका राज्य है वहां भी विनीत प्राणी ही धरतीके उत्तराधिकारी बनते हैं । उन्होंने क्रूरता और पेटूपनके प्रतीक भेड़ियेको लिया है । जब एक भीमकाय बड़ा भेडिया और उससे जरा कमजोर भेड़िया कोई घातक लड़ाई करते हैं, तो जो हारता है वह बिना बचाव किये अपनी गर्दन शत्रुके सामने झुका देता है । यह उसके सारे शरीरका सबसे नाजुक भाग होता है ! "तने हुए गर्दनके पट्ठेसे इंच भरके फासले पर – जहां चमड़ीके ठीक नीचे गलेकी नाड़ी होती है – दुश्मनके जहरीले दांत उसके दुष्टतापूर्वक फैलाए हुए ओठोंके नीचेसे चमकते हैं । . . . प्रतिक्षण हारे हुए भेड़ियेको आक्रमणकी आशंका होती है और वह सांस रोक कर उस क्षणकी प्रतीक्षा करता है जब विजेताके दांत पराजितके गलेकी नाड़ीको फाड़ देंगे । परन्तु . . . विजेता अपने अभागे प्रतिद्वंद्वी पर निश्चित रूपसे झपटेगा नहीं । आप देख सकते हैं कि वह झपटना तो जरूर चाहता है, परन्तु झपट नहीं पाता ! कोई कुत्ता या भेड़िया इस प्रकार जब अपनी गर्दन अपने दुश्मनके आगे कर देता है तब उसे कभी गंभीरतासे काटा नहीं जाता ।" [कोनरैड झेड. लॉरेंज, 'किंग सोलोमन्स रिंग', १९५५, पृ. १८६-८७]

इसी तरह टर्की नामक पक्षियोंकी बात है : "टर्की पक्षी जंगली और भद्दी कुश्तियां लड़ा करते हैं । अगर कोई टर्की ऐसी कुश्तीमें हार जाता है, तो वह अपनी गर्दन जमीन पर फैला कर लेट जाता है । इस पर विजेता ठीक वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कोई भेड़िया अथवा कुत्ता ऐसी ही स्थितिमें करता है – अर्थात् जाहिरा तौर पर वह धराशायी शत्रु पर अपनी चोंचों और

लातोंके प्रहार करना तो चाहता है, परन्तु ऐसा वह कर नहीं पाता : कर पाता तो जरूर करता, पर वह कर ही नहीं पाता !" [वही, पृ. १९४]

लेखक आलोचना करते हैं : "बलवान प्राणीको निर्बल प्राणी पर प्रहार करनेसे रोकनेवाले कारण चाहे जो हों । व्यवहारकी दृष्टिसे देखा जाय तो इस बातका बहुत महत्त्व नहीं है कि कोई सीधीसादी और केवल यांत्रिक मानसिक प्रतिक्रिया बलवानको ऐसा करनेसे रोकती हैं या अतिशय उच्च कक्षाका नैतिक सिद्धान्त उसे ऐसा करनेसे रोकता है । निर्बल और प्रबल दोनोंका मूल व्यवहार एकसा रहता है : हारा हुआ प्राणी आहत होने पर अचानक प्रहारका सामना करना बन्द कर देता है और मारनेवालेके मार्गकी सारी रुकावटें दूर कर देता है; और ऐसा मालूम होता है कि इन बाहरी बाधाओंके मिट जानेसे ही आक्रमणकारीके केन्द्रीय ज्ञानतंतुओंमें कोई अजेय आन्तरिक बाघा उत्पन्न हो जाती है ।" [वही, पृ. १९५-९६]

अप्रतिरोधकी स्थितिमें हिंसाके मार्गमें यह "भीतरी बाधा" ही वह उपाय है, जिसे प्राणियोंके बचे रहनेके लिए प्रकृतिने विकसित किया है । इससे यह प्रतीत होता है कि जीवित रहनेका नियम घातक और अतिघातक शस्त्रोंको अपनाना नहीं, परन्तु उन्हें छोड़ना है ।

जब लोकतांत्रिक राष्ट्रोंके सामने भारी संकट उपस्थित था, उस समय 'न्यूयॉर्क टाइम्स' के संवाददाताके साथकी मुलाकातमें गांधीजीने यह हल सुझाया था कि लोकतांत्रिक राष्ट्रोंको एकसाथ निःशस्त्रीकरण कर देना चाहिये । वे बोले : "जितना इस समय यहां मेरा बैठना निश्चित है उतना ही यह भी निश्चित है कि इससे हिटलरकी आंखें खूल जायंगी और वह निःशस्त्र हो जायगा ।" मुलाकाती मित्रने पूछा : "क्या यह चमत्कार नहीं होगा ?" गांधीजीने उत्तर दिया : "शायद । परन्तु इससे संसार भावी हत्याकाण्डसे बच जायगा ।" "सबसे कठोर धातु भी पर्याप्त गरमीसे पिघल जाती है; इसी तरह अहिंसाकी पर्याप्त गरमीके सामने कठोरसे कठोर हृदय भी पिघल जाना चाहिये । और अहिंसाकी गरमी पैदा करनेकी शक्ति तो असीम है । . . . अपने आधी शताब्दीके अनुभवमें मुझे किसी ऐसी स्थितिमें से नहीं गुजरना पड़ा जब मुझे यह कहना पड़ा हो

कि मैं लाचार हो गया हूं और अहिंसाकी दृष्टिसे मेरे पास कोई उपाय नहीं है ।" [राधाकृष्णन् कृत 'ग्रेट इंडियन्स' में गांधीजीका उद्धरण, बम्बई, १९५६, पृ. ४२]

आज जब हमारे सामने एक या दूसरे पक्षकी जीत या हारका प्रश्न नहीं, बल्कि सभ्यताके और शायद मानव-जातिके ही टिकने या मिट जानेका प्रश्न है, तब इस सयानी, साहसी और अत्यन्त व्यावहारिक सलाह पर राष्ट्रोंके भाग्यविधाताओंको बहुत नम्रतापूर्वक विचार करना चाहिये । यह सलाह एक ऐसे पुरुष की है जिसमें अन्य किसीको शंका भी हो उससे पहले ही चीजोंके भीतरका मर्म देख लेनेकी असाधारण प्रतिभा थी ।

यह पूछा जा सकता है कि उन हजारों यहूदियों और दूसरे लोगोंका क्या हुआ, जो नाजी जर्मनीकी भट्ठियोंमें भस्मीभूत हो गये या गैसोंके दम घोंटनेवाले कमरोंमें नष्ट हो गये ? उनकी अहिंसा किस काम आई ? शायद इस प्रश्नका उत्तर एक प्रतिप्रश्न ही है : क्या जो लोग नाजियोंके हाथों मारे गये वे सच्ची अहिंसाका पालन करते थे –क्या वह बलवानोंकी अहिंसा थी ? क्या नाजी-अत्याचारके शिकार बने यहूदी प्राचीन कालके ईसाई शहीदोंकी तरह अपनी मौतका सामना मुसकराते हुए चेहरोंके साथ, उस क्षमा, श्रद्धा और प्रेमसे भरे हृदयके साथ करते थे, जो रोमन सेनापतियोंके हृदयोंमें ऐसी अमिट शंकायें बैठा देते थे जिन्होंने अन्तमें रोमन साम्राज्यकी जड़ें हिला दीं ? या वे अपने ओठों पर मूक अभिशाप और हृदयोंमें बदलेका कायर क्रोध भर कर मृत्युकी शरणमें जाते थे ? "दुर्बलोंकी अहिंसा बुरी वस्तु है । परन्तु कायरोंकी अहिंसा – कायरतापूर्ण अहिंसा – और भी बुरी है ।" [हरिजन, २८ जुलाई १९४०, पृ. २२७] ये वचन कठोर मालूम हो सकते हैं, परन्तु नियम तो अटल है । जब वास्तविक या काल्पनिक अन्यायकी दीर्घकालीन भावनाके कारण मनुष्यका हृदय कठोर हो जाता है, तब उसको पिघलानेके लिए अत्यन्त शुद्ध प्रकारके निर्दोष कष्ट-सहनकी भी उतनी ही मात्रा आवश्यक होती है ।इसलिए कभी-कभी अहिंसा काम करती दिखाई न देती हो, तो उसका अर्थ यही होता है कि अहिंसाकी अधिक मात्राकी और अधिक शुद्ध अहिंसाकी जरूरत है ।

जुंग हमें याद दिलाते हैं कि इतिहासके बुरेसे बुरे अपराधीको भी आत्मोद्धारसे परे नहीं मानना चाहिये। हममें से अच्छेसे अच्छे मनुष्यमें भी, "और सिर्फ इसीलिए कि वह अच्छेसे अच्छा है, बुराईका बीज छिपा रहता है; और कोई भी चीज इतनी बुरी नहीं होती कि उससे कुछ न कुछ भलाई न हो सके।" [सी.जी.जुंग,'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लन्दन, १९४७, पृ. ७५] "जब पेन्डुलम एक दिशामें बहुत जोरसे जाता है, तो वह दूसरी दिशामें भी उतनी ही दूर तक पहुंच सकता है। . . . ऋणमूल्य धनमूल्य द्वारा संतुलित होता है।" [वही, पृ. ८९] सन्त पॉलका यह प्रसिद्ध कथन हमारे सामने है कि जहां पाप बड़ा होता है वहां दया "उससे कहीं अधिक मात्रामें होती है।" यही बात गांधीजी अपनी बिहारकी प्रायश्चित्त-यात्रामें बड़ी बड़ी सभाओंके सामने दोहराते थे : "जितना बड़ा पापी, उतना ही बड़ा सन्त।"

गांधीजी कहते थे कि पशुबलकी चुनौतीके सामने लाचारी हमें इसलिए अनुभव होती है कि "हमने जान-बूझ कर अपने सामान्य व्यवहारोंमें ईश्वरको भुला दिया है। . . . हमारा दैनिक जीवन ईश्वरके निषेधका ही द्योतक है – ईश्वर-विमुख है।" [यंग इंडिया, २५ मई १९२१, पृ. १६५] "जैसे रासायनिक मिश्रण सारे आवश्यक पदार्थोंके बिना बनना असम्भव है, वैसे ही आवश्यक शर्तोंके आंशिक पालनसे शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।" [हरिजन, १६ मई १९३६, पृ. १०९] " तानाशाह उन लोगोंको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं जो उनके पास साफ दिल लेकर नहीं आते, जो उन बुराइयोंसे स्वयं मुक्त नहीं हैं जिनकी वे दूसरोंमें निन्दा करते हैं और जो हर प्रकारकी हिंसा, शोषण और साम्राज्यवादको तिलांजलि नहीं दे चुके हैं। उन्हें कभी भी सच्ची अहिंसाका अनुभव ही नहीं होता। "आज तक जिस हिंसाका उन्होंने सदा उपयोग किया है, उसका तत्काल उत्तर उन्हें मिला है। उनका किसी पर्याप्त मात्रामें संगठित अहिंसक प्रतिरोधसे अभी तक कभी वास्ता नहीं पड़ा है। इसलिए यह बहुत संभव ही नहीं है, बल्कि मैं इसे अनिवार्य मानता हूं, कि बड़ीसे बड़ी हिंसाका प्रदर्शन कर सकनेके बावजूद अहिंसाके ऐसे प्रयोगकी श्रेष्ठताको वे स्वीकार कर लेंगे।" [हरिजन, २४ दिसम्बर १९३८, पृ. ३९४-९५]

तीव्र दन्तपीड़ासे पागल बना हाथी ऐसे किसी भी मनुष्य पर दुष्टतापूर्ण आक्रमण कर देगा, जो उसका गलत इलाज करनेकी कोशिश करता है । परन्तु अनुभवी पशु-चिकित्सकको वह अपना उपचार करने देगा और अच्छा होने पर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करेगा । मानसिक रोगसे पीड़ित व्यक्ति – तानाशाह, अत्याचारी और ऐसे ही दूसरे मनुष्य – रोगग्रस्त प्राणियोंके समान हैं । जेराल्ड हर्डके शब्दोंमें, "शरीरसे तो वे बिलकुल स्वस्थ होते हैं, परन्तु उनकी मानसिक बीमारी बढ़ती ही रहती है । उन्हें किसी ऐसे आदमीकी जरूरत होती है, जो उनके 'रोगी मानसका सचमुच इलाज कर सके' । . . . वे विलासप्रेमी, आरामतलब लोकतंत्रोंसे, परिव्राजक और मस्त योगियोंसे तथा जोशीले क्रांतिकारियों और विश्वव्यापी सद्भावनाके दूतोंसे घृणा करते हैं और उनका विनाश करते हैं । परन्तु उन्हें ऐसे व्यक्तिकी सेवा और सहायताकी लालसा हो सकती है, जो मनके व्यापारोंका उनसे अधिक ज्ञान रखता हो और जो उन्हें उस वस्तुसे बचा सकता हो जिससे उनकी रक्षा उनकी खुफिया पुलिसकी कड़ीसे कड़ी निगरानी भी नहीं कर सकती । वह वस्तु है रात्रिके अन्धकार और एकाकीपनमें उनको स्वयं ही डरानेबाला उनका अपना स्वभाव ।" [जेराल्ड हर्ड, 'पेन, सेक्स एण्ड टाइम', लन्दन, १९३९, पृ. २५८] जेराल्ड हर्ड आगे कहते हैं : "चंगेज-खांने एक ताओपंथी गुरुको अपने पास बुलाया था और जब गुरुने उसे भला-बुरा कहा तब वह सुनता रहा था ।" [वही] और एक यूनानी इतिहासकारने क्या इस बातका उल्लेख नहीं किया है कि किस प्रकार सिकन्दरने यह स्वीकार किया था कि उसे एक भारतीय सन्त दण्डमिसके रूपमें ऐसा शत्रु मिला था, "जो बूढ़ा और नंगा होते हुए भी अनेक राष्ट्रोंके विजेता (सिकंदर) से अधिक बलशाली था ?" [देखिये प्यारेलाल, 'पिल्ग्रिमिज फॉर पीस', अहमदाबाद, १९५०, पृ. १५७-६०]

अभी तो हमने अहिंसाका किनारा ही मुश्किलसे छुआ है । गांधीजीका कहना है कि "इस शक्तिकी गुप्त संभावनाओंका पता लगाने और उन्हें अमलमें लानेके लिए आधी शताब्दीका समय कुछ भी नहीं है ।" [हरिजन, ११ अगस्त १९४०, पृ. २४१] "आधुनिक विज्ञान ऐसे दृष्टान्तोसे भरा पड़ा है, जिनमें असम्भव दिखाई देनेवाली वस्तु हमारे देखते-देखते संभव हो गई । परन्तु भौतिक

विज्ञानकी विजयें जीवनके विज्ञानकी विजयोंके सामने कुछ नहीं हैं – वह जीवन-विज्ञान जिसका सार उस प्रेममें समा जाता है जो हमारी आत्माका धर्म है ।" [हरिजन, २६ सितम्बर १९३६, पृ. २६०] वे मानते थे कि अहिंसा "विश्वकी ज्ञात शक्तियोंमें सबसे प्रबल शक्ति है । हम अभी इस बातका भी ठीक पता नहीं लगा पाये हैं कि पानी जैसे दैनिक उपयोगके पदार्थमें कितने असंख्य गुण भरे हुए हैं । . . . इसलिए अहिंसा जैसी अत्यन्त सूक्ष्म शक्तिको हमें तुच्छ नहीं समझना चाहिये । हमें धैर्य और श्रद्धाके साथ उसकी गुप्त शक्तिका पता लगानेकी कोशिश करनी चाहिये । . . . जब अटल श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य इस प्रयोगको और आगे बढ़ायेंगे तब इसकी कितनी अधिक सम्भावनायें सामने आयेंगी, इसका अनुमान लगाना कठिन है । . . . हमारा सामान्य अनुभव तो यह है कि अधिकांश मामलोंमें अहिंसा हिंसाका सच्चा इलाज है और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सर्वोच्च हिंसाका सामना सर्वोच्च अहिंसा कर सकती है ।" [हरिजन, २८ जुलाई १९४०, पृ. २१९]

यह आपत्ति की जा सकती है कि इसके लिए जिस साधना, अनुशासनकी आवश्यकता होती है, उसकी शायद मानव-स्वभावसे आशा रखना बहुत अधिक होगा । इसका उत्तर गांधीजी यह देते हैं कि किसीको भी मानव-स्वभावके पतन और उत्थानकी शक्तिके बारेमें कोई अटल मत नहीं बना लेना चाहिये । "अहिंसक उपायकी उपयोगिताको सभी आलोचक स्वीकार करते मालूम होते हैं, (परन्तु) वे अकारण यह मान बैठते हैं कि मनुष्य-स्वभाव अहिंसक तालीममें पड़नेवाले दबावको सहन नहीं कर सकता । परन्तु यह तो प्रश्नको टालनेकी बात हुई । मैं कहता हूं, 'आपने किसी भी पैमाने पर इस उपायको कभी आजमा ही नहीं है । जहां तक वह आजमाया गया है वहां तक उससे आशास्पद परिणाम निकले हैं ।' " [हरिजन, २१ जुलाई १९४०, पृ. २१३]

यह नहीं भूल जाना चाहिये कि अहिंसाके पुजारीको अहिंसाकी शक्तिसे पशुबलकी चुनौतीका सामना कर सकनेकी आशा रखनी हो, तो उसे अपनी अहिंसक शक्तिकी शोधमें अध्यवसाय और एकनिष्ठा तथा परिश्रम, सूझ और बुद्धिके उन्हीं गुणोंका परिचय देना होगा जिनका तानाशाह सत्ताकी प्राप्तिके लिए देता है । "हिटलर जैसे हिंसामें ही जीता है और ओतप्रोत

रहता है, वैसे ही हमें अहिंसामय हो जाना पड़ेगा । . . . हिटलर अपनी साधनाको पूर्ण बनानेमें चौबीसों घंटे जाग्रत रहता है । उसकी जीत इसलिए होती है कि वह उसकी कीमत चुकाता है ।" [वही, पृ. २१०]

गांधीजी पूछते हैं : क्या इसी तरह अहिंसाके पुजारी उसके लिए कीमत चुकानेको तैयार हैं ? क्या उनकी बुद्धि इतनी जाग्रत और स्पष्ट है ? "अहिंसामें केवल श्रद्धा होनेसे काम नहीं चलेगा । वह बुद्धिपूर्ण और सूजनात्मक होनी चाहिये । यदि हिंसाके क्षेत्रमें बुद्धिका बड़ा हाथ होता है, तो मेरी रायमें अहिंसाके क्षेत्रमें उसका और भी बड़ा हाथ होता है । [वही]

७

प्राकृतिक और ऐतिहासिक घटनाओंके गहरे अध्ययनसे यह सिद्ध होता है कि जब प्रकृति या समाजमें कोई वृत्ति शिखर पर पहुंच जाती है, तब वह अचानक उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनके कारण विपरीत वृत्तिमें बदल जाती है । थोड़े समयके लिए दोनों एक-दूसरेका संतुलन करती हैं । अन्तमें जो स्थिति पैदा होती है वह विकासकी नयी मंजिलका आरम्भ बन जाती है । विलियम ब्लेकने लिखा है : "अतिशय निष्ठा ज्ञान-मंदिरकी कुंजी है ।" बहुत बार बाजी बिलकुल बिगड़ चुकनेके बाद ही परिस्थितिमें सुधार होता है । विनाशक अस्त्रोंकी दिनोंदिन बढ़नेवाली घातकता और प्रयोग भविष्यके लिए संकेत होनेके बजाय वास्तवमें उसकी विपरीत वस्तुका संकेत भी हो सकते हैं ।

यह विचित्र घटना है कि दूसरे महायुद्धके दौरान शस्त्रास्त्र पहलेसे अधिक घातक हो चुके थे, फिर भी हताहतोंकी संख्या पहले विश्वयुद्धसे कम थी । तानाशाही शक्तियोंने देखा कि अगर वे विरोधियोंका सर्वनाश कर देनेकी अपनी असंदिग्ध शक्तिका प्रत्यक्ष प्रमाण दे सकें, तो उनके मतलबके लिए विरोधीका सर्वनाश करना जरूरी नहीं । इस शोधके चारों ओर उन्होंने अपना आतंक फैलानेका तत्त्वज्ञान निर्माण कर लिया । इससे उन्हें एक भी गोली चलाये बिना सिर्फ कूटनीतिक दबावके द्वारा ही सारी आबादियोंको गुलाम बना लेनेमें सफलता मिल गई । ज्यों ही

इस शोध पर अमल किया गया त्यों ही उससे उलटा तत्त्वज्ञान अस्तित्वमें आया । पीड़ित लोगोंने पता लगाया कि यदि वे आखिरी आदमी तक मरनेको तैयार हो जायं, तो कदाचित् उन्हें मरना न पड़े । कारण, अत्याचारी विरोधीका सर्वनाश नहीं करना चाहता, वह तो उसे झुका कर अपनी इच्छाके अधीन बना लेना चाहता है । इसलिए ज्यों ही लोग यह अनुभव कर लेते हैं कि उनमें कोई ऐसी वस्तु है जो शरीरसे भिन्न है और जिसे शस्त्रास्त्र नाशवान शरीरके साथ नष्ट नहीं कर सकते, त्यों ही शस्त्रास्त्रकी शक्ति व्यर्थ हो जाती है । अन्तमें यही हुआ । हारकी भावना अनुभव किये बिना मरनेकी कला सीख कर पीड़ित लोगोंने जीवित रहनेका तरीका खोज निकाला और अत्याचारी सिरके बल विनाशकी गोदमें पहुंच गये । जैसा 'दि मून इज डाउन' के लेखकने कहा है, " मक्खियोंने मक्खियां पकड़नेके कागज पर विजय प्राप्त कर ली ।"

इस दृष्टान्तके आधार पर गांधीजीने भविष्य-वाणी की थी कि अणुबमके आगमनसे पशुबलकी चरम सीमा आ गई है । उसके कारण अनिवार्य रूपमें इसकी विपरीत वस्तु – आत्मबल – सामने आयेगी । जिस दिन मानव-जाति उसे पशुबलके अत्याचारके विरुद्ध खड़ा करना सीख जायगी, उसी दिन अत्याचारका किला टूट कर ढह जायगा और अणुबमका जो भय मानव-जातिकी छाती पर बैठा है वह किसी बुरे सपनेकी स्मृतिकी भांति विलीन हो जायगा : "अहिंसा . . . आत्मबल या हमारे भीतर बसे हुए अन्तर्यामीकी शक्ति है । अपूर्ण मनुष्य उस शक्तिको संपूर्ण रूपमें नहीं पहचान सकता । परन्तु उसका अतिसूक्ष्म अंश भी जब हमारे भीतर सक्रिय हो जाता है, तो वह चमत्कार कर दिखाता है । . . . अहिंसा अपनी क्रियामें रेडियमकी तरह है । उसकी अतिसूक्ष्म मात्रा भी जब शरीरमें बढ़े हुए किसी हानिकारक भागमें जमा कर रख दी जाती है, तो लगातार, चुपके-चुपके और अविश्रान्त रूपमें वह काम करती रहती है और अन्तमें सारे रोगग्रस्त भागको स्वस्थ बना देती है । . . . वह स्वतंत्र रूपसे काम करती है । आत्मा मृत्युके बाद भी बनी रहती है, उसका अस्तित्व भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं करता । . . . वह देश-कालसे परे है । इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि अहिंसा एक स्थानमें सफलतापूर्वक स्थापित हो जाती है, तो उसका प्रभाव सर्वत्र फैल जाता है ।" [हरिजन, १२ नवम्बर १९३८, पृ. ३२६-२७]

गांधीजीने अहिंसाकी सफलताके लिए केवल दो शर्तें मानी हैं : (१) शरीरसे भिन्न आत्माके अस्तित्वमें और उसके अविनाशी होनेमें विश्वास होना चाहिये और "वह विश्वास सजीव श्रद्धाकी हद तक पहुंचना चाहिये"; और (२) अन्तमें "यह पद्धति उन लोगोंके काम नहीं आती जिनमें प्रेम-रूपी ईश्वरके प्रति सजीव श्रद्धा न हो ।"

यह दलील भी की गई है कि हवाई लड़ाइयोंके इस जमानेमें जो आदमी ऊपरसे मृत्यु बरसाता है, वह यह भी नहीं जानता कि कौन लोग और कितने लोग मारे गये । यह देखते हुए कि मारनेवाले और मरनेवालोंके बीच कोई व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता, नैतिक हृदय-परिवर्तनका उपाय उसे प्रभावित करनेके लिए कैसे काममें लिया जा सकता है ?

गांधीजीका उत्तर इससे पहलेके उनके वचनोंमें आ चुका है । अहिंसा सर्वव्यापक शक्ति है । वह अपने प्रचारके लिए किसी भौतिक माध्यम पर आधार नहीं रखती । वह अपने ही सहारे टिकी रहती है और अपने-आप काम करती है । इसके अतिरिक्त, "कोई योद्धा अपने युद्धों पर निर्वाह करता है ।" जिस क्षण उसे पता लग जाता है कि उसके शस्त्रास्त्र और युद्ध-कुशलता काम नहीं देती, उसी क्षण वह पंगु जैसा हो जाता है । गांधीजी कहते हैं : "मान लीजिये कि कोई सम्पूर्ण राष्ट्र यह संकल्प कर लेता है कि वह अत्याचारीकी इच्छा पर हरगिज अमल नहीं करेगा और न अत्याचारीके तरीकोंसे वह बदला ही लेगा; तब अत्याचारीको अपना आतंकवाद जारी रखना लाभदायक प्रतीत नहीं होगा । यदि अत्याचारीको काफी भोजन दिया जाय, तो एक समय ऐसा आयेगा जब वह अघा जायगा । अगर दुनियाके सारे चूहे आपसमें मिलकर निश्चय कर लें कि वे भविष्यमें बिल्लीसे नहीं डरेंगे, परन्तु सब उसके मुंहमें दौड़ पड़ेंगे, तो चूहे जिन्दा रहेंगे ।" [हरिजन, २४ दिसम्बर १९३८, पृ. ३९४-९५] बिल्ली चूहेके साथ खेलती है । वह उसे एकदम मार नहीं डालती, परन्तु उसे अपने जबड़ोंमें पकड़ती है, फिर छोड़ देती है और ज्यों ही वह बच निकलनेकी कोशिश करता है त्यों ही उस पर फिर झपठती है । अन्तमें चूहा केवल डरके मारे मर जाता है । "यदि चूहा भाग जानेका प्रयत्न न करे, तो बिल्लीको खेलका मजा न आवे ।" [वही]

गांधीजीसे एक बार पूछा गया था कि अणुशस्त्रोंके प्रकट हो जानेसे क्या अहिंसाका शस्त्र बेकार नहीं हो गया ? उन्होंने उत्तर दिया : ऐसा न होकर अणुशस्त्रोंके उद्भवके बाद तो मैदानमें अहिंसाका ही एकमात्र शस्त्र बाकी रह गया है । "यही एक ऐसी वस्तु है जिसे अणुबम नष्ट नहीं कर सकता । जब मैंने पहले-पहल सुना कि अणुबमने हिरोशिसाको भस्मीभूत कर दिया, तब मैं जरा भी नहीं हिला । इसके विपरीत, मैंने अपने मनमें कहा, "यदि अब भी संसार अहिंसाको नहीं अपनाता, तो मानव-जातिका सर्वनाश निश्चित है' ।"

अमरीकी संवाददाता मार्गरिट बर्क-व्हाइटने गांधीजीसे उनकी हत्याके कुछ ही घंटों पहले ३० जनवरी, १९४८ को पूछा था : "अणुबमका सामना आप . . . अहिंसासे कैसे करेंगे ?" उन्होंने जवाब दिया था : "मैं तहखानेमें नहीं छिपूंगा और न कहीं शरण लूंगा । मैं खुलेमें निकल आऊंगा और विमान-चालकको दिखाऊंगा कि मेरे मनमें उसके प्रति जरा भी दुर्भाव नहीं है । मैं जानता हूं कि इतने ऊंचेसे विमान-चालक हमारे चेहरे नहीं देख सकेगा । परन्तु हमारे हृदयोंकी यह अभिलाषा कि उसकी कोई हानि न हो उस तक पहुंचेगी और उसकी आंखें खुल जायंगी ।"

फिर यह अनुमान लगाकर कि मुलाकातीके मनमें क्या विचार चल रहे हैं, गांधीजीने यह भी कहा: "जो हजारों लोग हिरोशिमामें मारे गये वे इस प्रार्थनापुर्ण कृत्यके साथ मरते – अपने हृदयोंमें प्रार्थना करते हुए खुले तौर पर मरते – तो उनका बलिदान व्यर्थ न जाता ।"

यह केवल व्यक्तिगत श्रद्धाका या किसी रहस्यवादीका विश्वास नहीं था । गांवीजीने बार-बार यह सिद्ध कर दिखाया था कि किस प्रकार अहिंसाकी शक्तिसे सज्जित प्रबुद्ध आत्मा वह काम कर सकती है, जो सशस्त्र सेनाकी पूरी पलटनें भी नहीं कर सकतीं ।

किसीसे यह आशा नहीं रखी जा सकती कि वह दूसरेके एकाकी अनुभवको निर्णायक वैज्ञानिक प्रमाण मान ले । परन्तु गांधीजीकी राय थी कि उनके अनुभवको कोई भी मनुष्य दोहरा सकता है, यदि उसकी सब शर्तें पूरी कर दी जायं । इसलिए अहिंसाके पालनका एक वैज्ञानिक आधार है । "जिन ऋषियोंने हिंसाके बीच अहिंसा-धर्मकी खोज की, वे न्यूटनसे अधिक

प्रतिभाशाली थे । वे स्वयं वेलिंग्टनसे अधिक बड़े योद्धा थे । स्वयं शस्त्रोंका प्रयोग जानते हुए उन्होंने शस्त्रोंकी निरुपयोगिताका अनुभव किया और शस्त्रा-स्त्रोंसे थकी हुई दुनियाको सिखाया कि उसकी मुक्ति हिंसासे नहीं, परन्तु अहिंसासे ही होगी ।" [यंग इंडिया, ११ अगस्त १९२०, पृ. ३]

डॉ. झीमर कहते हैं कि गांधीजीका सत्याग्रहका कार्यक्रम "नीचेकी शक्तियोंके क्षेत्रको पार करके उच्चतर शक्तियोंके क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाले प्राचीन हिन्दू विज्ञानका एक गम्भीर, अत्यन्त वीरतापूर्ण और अत्यन्त शक्ति-शाली आधुनिक प्रयोग है । . . . यह एक भीमकाय आधुनिक पैमाने पर लड़ी जानेवाली और शाही सैनिक विद्यालयकी पाठ्यपुस्तकोंके बजाय ब्रह्मकी पाठ्य-पुस्तकोंसे निकाले हुए सिद्धान्तोंके अनुसार लड़ी जानेवाली लड़ाई है ।" [झीमर, 'फिलॉसफीज़ ऑफ इंडिया', लन्दन, १९५१, पृ. १७२]

इस कथनमें थोड़ा संशोधन करनेकी जरूरत है । ब्रह्म-विज्ञान किसी भी तरह विशेष रूपमें अथवा एकमात्र "हिन्दुओं" का विज्ञान नहीं है । "सत् – अन्तिम सत्य – एक ही है, किन्तु विद्वान उसे अलग-अलग नाम देते हैं ।" * यह प्राचीन वैदिक ऋषिका प्रमाण है । प्रत्येक धर्मने सभी देशों और सभी युगोंमें श्रद्धावान और आत्म-साक्षात्कार करनेवाले मनुष्य उत्पन्न किये हैं, जिन्होंने आत्मबलकी अद्वितीय क्षमताका प्रमाण दिया है और उसका दर्शन कराया है । हां, यह जरूर है कि उसके विज्ञानकी शोध करने और उसे रचनेका प्रयत्न केवल भारतमें ही किया गया था ।

गांधीजीका योगदान यह था कि उन्होंने इसमें से समाजके लिए विश्व-समस्याओंको या "यों कहिये कि युद्धकी एक सर्वोपरि समस्याको" [हरिजन, २४ सितम्बर १९३८, पृ. २६६] हल करनेका एक बल तैयार कर दिया और एक आधुनिक विज्ञानवेत्ता जैसी धैर्यपूर्ण प्रयोगात्मक यथार्थता और आलोचनात्मक अनासक्तिसे उसकी पद्धतियोंकी शोध की ।

भावी इतिहासकार वर्तमान युगके साथ संसारको हिला देनेवाली दो घटनाओंको सम्बद्ध करेगा – अर्थात् (१) अणुशक्तिका आविष्कार और प्रयोग तथा (२) शस्त्रास्त्रकी शक्तिका सफलतापूर्वक विरोध करनेके लिए आत्मबलका प्रत्यक्ष प्रयोग । यदि कोई उपमा दी जा सके तो

थोरो आत्माके विज्ञानके लिए बोहर और फर्मीके समान था, जिन्होंने पहले-पहल अणुका विश्लेषण और अणुमें निहित शक्तिको मुक्त किया । टॉल्स्टॉयकी तुलना आइन्स्टीनसे की जा सकती है, जिन्होंने शुद्ध गणितके प्रयोग करते हुए अकेले ही अणुमें छिपी हुई शक्ति और संभावनाओंका पता लगाया और उनका निरूपण किया तथा गांधीजीने उन वैज्ञानिकोंके समान कार्य किया जिन्होंने परमाणुको भेद कर नियंत्रित रूपसें इस भेदन-क्रियाको चालू रखा तथा उसमें से शक्ति उत्पन्न करनेवाली कार्य-पद्धतिको पूर्ण बनाया और रचनात्मक हेतुओंके लिए उस शक्तिका उपयोग किया ।

आत्मिक ज्योतिके विरल क्षणमें थोरोने लिखा था : "प्रेमका . . . कभी अन्त नहीं होता, वह कभी मन्द नहीं पड़ता । उसकी शक्ति अपार और अनन्त है; वह निरन्तर पृथ्वीको गतिमान रख सकता है । यद्यपि सभी युगोंमें ज्ञानीसे ज्ञानी पुरुषोंने इस बलको प्रकट करनेके लिए परिश्रम किया है और प्रत्येक हृदयको, आगे-पीछे, कम-ज्यादा रूपमें, इसका अनुभव करना पड़ता है, फिर भी वास्तवमें सामाजिक आवश्यकताओंके लिए उसका कितना थोड़ा उपयोग किया जाता है ? . . . यह सच है कि सारे सफल सामाजिक तन्त्रकी प्रेरक शक्ति यह (प्रेम) ही है; परन्तु . . . जैसे भौतिक जगत द्वारा यांत्रिक बलोंका आदर्श स्थितिकी प्राप्तिके कार्यमें उदारतापूर्वक और व्यापक प्रमाणमें उपयोग नहीं किया गया है, वैसे ही अभी तक प्रेमकी शक्तिका बहुत थोड़ी मात्रामें कंजूसीसे उपयोग किया गया है । . . . और भविष्यमें अधिक शक्तिके साथ काम करनेकी तैयारीके लिए इस शक्तिका संचय तो हम इससे भी कम कर रहे हैं । तो क्या इस साहसमें हम स्वयं हाथ नहीं बंटायेंगे ?" [एच. एस. कैनबी द्वारा सम्पादित, 'दि वर्क्स ऑफ थोरो', बोस्टन, १९४६, पृ. ७८८-८९]

अपनी मृत्युसे दो महीने पहले, टॉल्स्टॉयने गांधीजीके नाम एक पत्रमें भविष्य-वाणी की थी कि गांधीजी दक्षिण अफ्रीकामें अहिंसाका जो काम कर रहे हैं, वह ऐसा है जिसमें किसी दिन सम्पूर्ण ईसाई और गैर-ईसाई जगतको भाग लेना पड़ेगा ।

अपनी विशिष्ट निश्चितताके साथ गांधीजीने दृढ़ शब्दोंमें कहा था : "हमें हिंसाके क्षेत्रमें अद्भुत आविष्कारोंसे सतत चकित किया जा रहा है । परन्तु मैं मानता हूं कि अहिंसाके क्षेत्रमें इससे भी अधिक ऐसे चमत्कारी आविष्कार किये जायंगे, जिनकी सपनेमें भी कल्पना नहीं हो सकती और जो असम्भव दिखाई देंगे ।" [हरिजन, २५ अगस्त १९४०, पृ. २६०]

इस प्रकार अहिंसक प्रतिरोध अथवा आत्मबलका जो शस्त्र गांधीजीने संसारको दिया है, वह विश्वभरके ज्ञानी पुरुषोंकी शोधका परिणाम और सुफल है । दुनियाके समस्त पददलित और पीड़ित लोगोंको असत्यके विरुद्ध सत्यकी, अत्याचारके विरुद्ध स्वतन्त्रता और न्यायकी, शस्त्रास्त्रकी शक्तिके विरुद्ध आत्माकी जो लड़ाई लड़नी पड़ती है, उसमें यह आत्मबल उन सबकी सामान्य विरासत और यदि कहा जा सके तो उनकी एकमात्र आशा है ।

आजकल हम अणुशक्तिके आंतर-राष्ट्रीय नियंत्रण और विकासकी बहुत बातें सुनते हैं । क्या इस अनोखी शक्तिके विकास और उपयोगके लिए आन्तर-राष्ट्रीय सहयोग नहीं हो सकता? इस शक्तिके बारेमें संसारके सबसे बड़े जीवित मानसशास्त्री जुंगका प्रमाण है कि : "आत्मिक जीवन ऐसी विश्वशक्ति है, जो संसारकी समस्त शक्तियोंसे कई गुनी अधिक शक्तिशाली है ।" [सी. जी. जुंग, 'एसेज़ ऑन कंटेम्पोरेरी इवेन्ट्स', लन्दन, १९४७, पृ. ८२]

---

* एक सत् विप्रा: बहुधा वदंति ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट-क: सशस्त्र आक्रमणका अहिंसक प्रतिरोध

१

क्या भारतकी रक्षा की जा सकती है ?

[यह लेख अमरीकी पत्रिका 'लिबर्टी' के अगस्त १९४० के अंकमें छपा था । शीर्षक था "क्या भारतकी रक्षा की जा सकती है ?" लेखक थे महात्मा गांधी । इसे मोटे शीर्षक देकर यों छापा गया था : "आक्रमणकारीके विरुद्ध नया हथियार । एक प्रसिद्ध नेता आश्चर्यजनक योजना प्रस्तुत करते हैं ।" यह लेख सचमुच इसी रूपमें गांधीजीने लिखा था या नहीं, यह निश्चित कहा नहीं जा सकता । 'हरिजन' उस समय निकल नहीं रहा था और मैं युद्ध-विरोधी सत्याग्रहीकी हैसियतसे जेलके सींखचोंमें बन्द था । परन्तु जो विचार इतने सजीव ढंगसे इसमें रखे गये हैं वे प्रमाणभूत हैं, जैसा कि दो वर्ष बाद मीराबहनके प्रश्नोंके गांधीजी द्वारा दिये गये उत्तरोंसे समझा जा सकता है।] (देखिये पृ. ५२५)

हालके महीनोंमें जर्मन सेनाएं विद्युत्-गतिसे विशाल नये भूभाग हड़प कर चुकी हैं । फ्रांसका पतन हो गया है और विराम-संधिकी शर्तोंके अनुसार उसका निर्मम बंटवारा कर दिया गया है । एक सौ वर्षसे अधिक समय बाद पहली बार इंग्लैंडके सामने खाड़ीके तंग समुद्रके उस पार शत्रु आ खड़ा हुआ है और उसे अकेले ही उस शत्रुका सामना करना है । शायद कल ही जल और वायु मार्गसे आक्रमण हो जाय और विशाल साम्राज्यके हृदयके समान इंग्लैंडको रक्त-रंजित पराजय देखनी पड़े ।

अलबत्ता, जैसे पिछले कई महीनोंकी घटनाओंके बारेमें पहलेसे बताना असंभव था, वैसे ही कलकी घटनाओंकी भविष्य-वाणी भी नहीं की जा सकती । एक बात स्पष्ट है: जिन देशोंका भूतकालमें ब्रिटेनके साथ सम्बन्ध रहा है, उन सबके लिए नई परिस्थितियां और नई महत्त्वपूर्ण समस्याएं खड़ी हो रही हैं । इन समस्याओंका प्रभाव और किसी देशके बनिस्बत शायद भारत पर

ज्यादा पड़ेगा । इसलिए भारतको तुरन्त भविष्यकी संभावनाओंका अत्यन्त गंभीर विचार करना होगा ।

कमसे कम तीन संभावनाएं मुख्य मालूम होती हैं । एक तो यह कि इंग्लैंड जीतेगा । दूसरी यह कि इंग्लैंड और जर्मनी एक-दूसरेसे लड़ते-लड़ते थक कर चूर हो जायंगे और बादमें दोनों संधि करेंगे और ब्रिटिश साम्राज्यको पूरी तरह या लगभग अछूता रहने दिया जायगा । और तीसरी संभावना यह है कि इंग्लैंड हार जायगा और उसके विजेता ब्रिटिश साम्राज्यको भंग करनेका उपक्रम करेंगे ।

भारत ब्रिटिश साम्राज्यका सबसे समृद्ध और लाभप्रद शोषणकी दृष्टिसे अत्यन्त वांछनीय भाग है, इसलिए इस तीसरी संभावनाका उसे विचार करना ही चाहिये ।

क्या भारत विजेतासे अपनी रक्षा करेगा ? और शायद अधिक प्रस्तुत प्रश्न यह है कि क्या भारत अपनी रक्षा कर सकेगा ?

परन्तु पहले मैं यह कह दूं । यह सैद्धान्तिक बात उठायी गयी है कि जर्मनी अथवा रूस आदिमें से कोई तीसरा राष्ट्र भारतको ब्रिटेनसे अपनी स्वाधीनता प्राप्त करनेमें मदद दे सकता है। क्या भारत यह मदद स्वीकार करेगा ?

नहीं । हमें अपने ही भीतरी बलसे अपनी आजादी प्राप्त करनी होगी; नहीं तो हमारा पतन निश्चित है । बाहरकी मददसे खड़ी की गई कोई भी इमारत अवश्य कमजोर होगी । भारतको अपना भविष्य अकेले ही जीतना है और अकेले ही खड़े होना है ।

इसका सीधा सम्बन्ध उन प्रश्नोंसे है जो मैंने भारतकी अपनी रक्षाकी वृत्ति और समार्थ्यके बारेमें उठाये हैं । कारण, इन प्रश्नोंका सम्बन्ध जरूरी तौर पर वर्तमान युद्धके परिणामोंसे ही नहीं है । युद्ध न होता तो भी ये प्रश्न उतने ही लागू होते और इंग्लैंड भारतको पूरी स्वाधीनता दे देता तो

भी लागू होते । कारण, तब भी भारत पर आक्रमणकी उतनी ही संभावना रहती जितनी पराजित ब्रिटिश साम्राज्यके एक अंगके रूपमें रहती ।

भारतके अपनी रक्षा स्वयं कर लेनेके सामर्थ्यके प्रश्नका उत्तम उत्तर मैं एक पत्रका उल्लेख करके दे सकता हुं, जो मुझे हालमें अमरीकासे मिला है । मेरा पत्र-लेखक पूछता है : "मान लीजिये कि भारत राष्ट्रीय नीतिके साधनके रूपमें सत्याग्रह (सविनय अवज्ञा) और अहिंसाको अपना लेता है, तब वह किसी दूसरे राज्यके संभावित आक्रमणसे अपनी रक्षा कैसे करेगा ? आक्रमणकारीके सामने कैसा प्रतिरोध किया जा सकेगा और किया जायगा ? सीमा पर आक्रमणकारी सेनाका सामना करनेके लिए भारत क्या कार्रवाई करेगा ? अथवा वह तब तक कोई कार्रवाई नहीं करेगा जब तक आक्रमणकारी सारे देश पर अधिकार न जमा ले ?"

स्पष्ट है कि मेरे उत्तर केवल काल्पनिक ही हो सकते हैं । इसमें एक बड़ा "यदि" लगा हुआ है – कि भारत सविनय अवज्ञा और अहिंसाको अपनी राष्ट्रीय नीतिके रूपमें अपनायेगा । लेकिन मान लीजिये कि भारत ऐसा करेगा । मान लीजिये कि भारतकी कोई सेना नहीं है, कोई रक्षात्मक किलेबन्दी नहीं है, उसके पास बन्दूकें नहीं हैं, तोपें नहीं हैं, गोला-बारूद नहीं है, हवाई जहाज नहीं हैं और टैंक भी नहीं हैं । और मान लीजिये कि भारत बिलकुल अकेला ही रह जाता है और किसी आधुनिक नीरोकी विशाल और बलशाली सेनाएं उस पर आक्रमण करती हैं । तब क्या होगा?

भारत अपनी रक्षा इस प्रकार करेगा ।

स्वतन्त्र भारतीय राज्यके प्रतिनिधि आक्रमणकारीको निविरोध देशके भीतर प्रवेश करने देंगे । परन्तु वे आक्रमणकारीसे और उसकी सारी सेनासे सरहद पर कह देंगे कि भारतीय लोग किसी काममें तुम्हें सहयोग नहीं देंगे । उन्हें चाहे जैसी धमकियां दी जायं और चाहे जितना दण्ड दिया जाय, वे आज्ञाओंका पालन नहीं करेंगे ।

यह है सविनय अवज्ञा । यही भारतकी रक्षा है ।

आप शायद कल्पना करेंगे कि कठोर और निर्मम आक्रमणकारी इन बातोंको हंसीमें उड़ा देगा । यदि उसने उन सेनाओंको जीत लिया है जिन्होंने फौलादी हथियारों और तोपों तथा हवाई जहाजोंसे उसका मुकाबला किया था, तो अवश्य ही उसके लिए इस निहत्थी सेना पर विजय प्राप्त करना बायें हाथका खेल होगा ! परन्तु भारत करोड़ों लोगोंका देश है और यदि वे निष्क्रिय रहें तो सारा देश निष्क्रिय हो जाता है । उसके साथ कुछ नहीं किया जा सकता; वह निकम्मा हो जाता है । आक्रमणकारीको जल्दी ही पता लग जायगा कि सविनय अवज्ञा सचमुच एक बड़ा समर्थ और शक्तिशाली हथियार है ।

एक और उपाय भी रक्षाका है, जिसे भारत अपना सकता है । अहिंसक प्रतिरोधकी कलाकी तालीम पाकर भारतके लोग आक्रमणकारीकी तोपोंकी खुराक बननेके लिए निःशस्त्र होकर अपने आपको समर्पित करेंगे । वे आक्रमणकारीसे कहेंगे कि दबनेके बनिस्बत हम मरना ज्यादा पसन्द करते हैं । दूसरे देशोंमें भी ये वीरोचित हाब्द कहे गये हैं; भारतमें ये अपने पूरे सच्चे अर्थमें और विराट् मानव-समुदायके मुखसे कहे जायंगे । लाखोंकी तादादमें भारतके लोग आक्रमणकारीकी गोलियोंके सामने छाती खोल कर खड़े हो जायंगे । और यह एक भीषण, भयंकर दृश्य होगा – इसका नैतिक स्तर सर्वोच्च कोटिका होगा और यह भाग लेनेवालोंको पवित्र करने तथा उदात्त बनानेवाला होगा ।

रक्षाके इस तत्त्वज्ञानमें मूलभूत विश्वास यह है कि आधुनिक नीरो भी हृदयहीन नहीं होता । उसने या उसके सिपाहियोंने कभी ऐसा दृश्य नहीं देखा होगा कि असंख्य स्त्री-पुरुष पंक्तियां बनाकर हिंसक विरोध प्रकट किये बिना केवल मृत्युका ही आलिंगन कर रहे हैं । इसका असर अन्तमें उस पर जरूर होगा । यदि नीरो पर नहीं हुआ, तो उसकी सेना पर अवश्य होगा । मनुष्य लड़ाईकी उत्तेजनामें एक-दूसरेको बरसों तक मारते रह सकते हैं, उनके लिए मारने या मरनेकी बात सामान्य होती है । परन्तु जिन्हें आप मारते हैं उनकी तरफसे स्वयं आपके मारे जानेका कोई खतरा न हो, तो आप निहत्थे और अविरोधी लोगोंकी अनन्त काल तक हत्या नहीं करते रह सकते । आपको आत्मग्लानिसे अपनी बन्दूक नीचे पटक देनी पड़ेगी ।

इस प्रकार अन्तमें आक्रमणकारीकी हार जरूर होगी – नये शस्त्रोंसे, शान्तिपूर्ण शस्त्रोंसे, सविनय अवज्ञा और अहिंसक प्रतिरोधके शस्त्रोंसे ।

व्यावहारिक दृष्टिसे देखा जाय तो आक्रमणकारीका बलसे सामना करने पर जितनी प्राणहानि हो सकती है उससे अधिक शायद इस पद्धतिसे नहीं होगी । हॉलैण्ड, बेल्जियम और फ्रांसमें कितने आदमी मारे गये हैं ? लाखों ? अगर ये लोग आक्रमणकारी सेनाओंके सामने केवल निष्क्रिय होकर खड़े रहते, तो क्या बैठे-बिठायें लाखों लोगोंका वे सेनाएं संहार कर सकती थीं ? मैं ऐसा नहीं मानता ।

मैंने कोई असम्भव चित्र नहीं खींचा है । जिस प्रकारके अहिंसक प्रतिरोधका उल्लेख मैंने किया है, उसके व्यक्तिगत उदाहरणोंसे इतिहास भरा पड़ा है । ईसाई धर्मके इतिहासमें ऐसे अनेक स्त्री-पुरुषोंके उदाहरण मिलते है जिन्होंने उफ तक किये बिना और कोई सशस्त्र विरोध किये बिना अपनी श्रद्धाके लिए शहीद बनकर प्राण अर्पण कर दिये । सभी धर्मोंके इतिहासमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं ।

यह कहने या सोचनेका कोई कारण नहीं कि स्त्री-पुरुषोंका कोई समूह एक होकर अहिंसक प्रतिरोध नहीं कर सकता । वस्तुतः मानव-जातिके अनुभवका सार यह है कि लोग किसी न किसी तरह जीवित रहते हैं । इस तथ्यसे मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि बुनियादी तौर पर प्रेमधर्म ही मानवजाति पर शासन करता है । कारण, यदि द्वेष ही आधारभूत नियम होता, तो क्या युगों पहले मानव-जातिका सर्वनाश नहीं हो गया होता ?

हां, यदि भारत अहिंसाका मार्ग अपना लेता है, तो वह अपनी रक्षा कर सकता है और उसकी विजय हो सकती है !

२

मीराबहनका गांधीजीको लिखा पत्र और गांधीजीका उत्तर

मीराबहनका पत्र गांधीजीको

हम यह मान लें कि जापानी उड़ीसाके समुद्र-तट पर कहीं न कहीं उतरेंगे। कदाचित् उतरते समय कोई बमवर्षा या गोलाबारी नहीं होगी, क्योंकि समुद्र-तट पर रक्षाका कोई भी प्रवन्ध नहीं किया गया है। किनारेसे वे चावलके समतल सूखे खेतोंमें होकर तेजीसे आगे बढ़ेंगे। यहां एकमात्र रुकावट उन्हें नदियों और खाइयोंकी है, जो इस समय लगभग सूख गई हैं और कहीं भी ऐसी नहीं हैं जो पार न की जा सकें। जहां तक हम समझ पाये हैं, जापानियोंकी प्रगतिको रोकनेका कोई गम्भीर प्रयत्न उस समय तक नहीं किया जायगा जब तक वे उड़ीसाकी रियासतोंके पहाड़ी और जंगली भागों तक नहीं पहुंच जाते। रक्षक सेना, जो भी है, इन भागोंके जंगलमें छिपी हुई बताते हैं। सम्भव है कि वह जमशेदपुरकी सड़कको बचानेकी जी-तोड़ कोशिश करे, परन्तु उसके सफल होनेकी सम्भावना बहुत थोड़ी ही रहेगी। इसका मतलब यह है कि लड़ाई उड़ीसाके उत्तर-पश्चिममें लड़ी जानेकी आशा रखी जा सकती है। उसके बाद जापानी सेना बिहारमें प्रवेश करेगी। उस समय यह सम्भावना नहीं हैं कि जापानी लोग देशके बड़े भागमें फैल जायंगे, बल्कि वे समुद्रके और अपनी बढ़ती हुई सेनाके बीचके संचार-मार्ग पर केन्द्रित रहेंगे। ब्रिटिश शासन तो पहले ही वहांसे अदृश्य हो चुका होगा।

हमारे सामने समस्या यह है कि ये घटनाएं घटें तो हम क्या करें ?

जापानी सेना खेतों पर और गांवोंमें होती हुई तेजीसे आगे बढ़ेगी। वह देशवासियोंकी दुश्मन बन कर नहीं, परन्तु अंग्रेजी और अमरीकी युद्ध-प्रयत्नका पीछा और नाश करनेवाली बन कर आयेगी। लोगोंकी भावनाएं स्पष्ट नहीं हैं। उनकी सबसे प्रबल भावना तो अंग्रेजोंका भय और अविश्वास है; और जो व्यवहार उनके साथ हो रहा है उसके कारण यह भावना दिनों-दिन ज्यादा बढ़ती जा रही है। इसलिए जो अंग्रेजोंका नहीं है ऐसा सब कुछ स्वागतके योग्य बन जाता है।

एक मजेदार उदाहरण देखिये । कुछ भागोंमें देहाती कहते हैं : "अरे, ये शोर मचानेवाले हवाई जहाज तो अंग्रेजोंके हैं; परन्तु आवाज न करनेवाले वायुयान भी हैं और वे महात्माजीके विमान हैं।" मेरे विचारसे ये भोलेभाले निर्दोष लोग तटस्थताकी वृत्ति धारण करना ही सीख सकते हैं, क्योंकि वास्तवमें यही एक वृत्ति उन्हें समझायी जा सकती है । अंग्रेज तो उन्हें बमवर्षा वगैरासे आत्मरक्षा करनेकी शिक्षा दिये बिना न केवल भाग्यके भरोसे छोड़ देते हैं, बल्कि ऐसे आदेश भी जारी करते हैं जिन्हें यदि माना जाय तो लड़ाई आनेके पहले ही वे मारे जायंगे । तब वे घृणित ब्रिटिश राज्यका पीछा करनेवाले जापानियोंको उत्साहपूर्वक रोकनेके लिए कैसे तैयार हो सकते हैं, खास कर जब जापानी यह कह रहे हैं कि "हम आपसे लड़ने नहीं आ रहे हैं ।" परन्तु मैंने देखा है कि देहाती लोग तटस्थताकी वृत्ति अपनानेको तैयार हैं । अर्थात् वे जापानियोंको अपने खेतों और गांवोंमें होकर गुजर जाने देंगे और जहां तक संभव होगा उनके सम्पर्कमें आनेसे बचेंगे । वे अपनी खाद्य-सामग्री और रुपया-पैसा छिपा देंगे और जापानियोंकी सेवा करनेसे इनकार कर देंगे । परन्तु कुछ भागोंमें इतना-सा प्रतिरोध भी कराना कठिन होगा । वहां अंग्रेजी राज्यके प्रति इतनी अधिक घृणा है कि अंग्रेजोंके विरुद्ध किसी भी चीजका खुले हाथों स्वागत किया जायगा । मेरे खयालमें हमें अधिकसे अधिक प्रतिरोधका प्रयत्नपूर्वक अनुमान लगा लेना चाहिये, जिसकी आशा औसत निवासीसे रखी जा सकती है, और फिर उसीके अनुसार अपनी स्थिति निश्चित कर लेनी चाहिये । कोई स्थिर, देर तक टिकी रहनेवाली स्थिति – चाहे वह सौ फी सदी प्रतिरोधकी न हो – जल्दी टूट जानेवाले किसी भी कठोर रवैयेसे अन्तमें अधिक कारगर साबित होगी ।

वह अधिकसे अधिक टिकनेवाला रवैया, जिसकी हम साधारण लोगोंसे आशा रख सकते हैं, कदाचित् यह होगा :

१. जापानी लोग किसी जमीन, मकान या जंगम सम्पत्ति पर जबर्दस्ती अधिकार करें, तो उसका दृढ़तासे और लगभग अहिंसक ढंगसे सामना किया जाय ।

२. जापानियोंकी कोई बेगार न की जाय ।

३. जापानियोंके अधीन कोई प्रशासकीय सेवा स्वीकार न की जाय । (अमुक प्रकारके शहरी लोगों, सरकारी अवसरवादियों और दूसरे भागोंसे लाये हुए भारतीयोंके सम्बंधमें इसका नियंत्रण रखना कठिन हो सकता है ।)

४. जापानियोंसे कोई चीज खरीदी न जाय ।

५. उनके सिक्के स्वीकार न किये जायं और राज्य कायम करनेके उनके किसी भी प्रयत्नमें साथ न दिया जाय । (कार्यकर्ताओं और समयकी कमीके कारण यह काम बहुत मुश्किल है, परन्तु ज्वारको रोकनेके लिए हमें कोशिश तो करनी ही होगी ।)

अब कुछ कठिनाइयों और पैदा होनेवाली समस्याओंके बारेमें :

१. जापानी लोग मजदूरी, खाद्य-पदार्थ और सामानकी कीमत अंग्रेजी सिक्कोंमें चुकानेको तैयार हो सकते हैं । क्या लोग अच्छे दामों पर अपना माल बेचने या अच्छी मजदूरी पर काम करनेसे इनकार कर दें ? कई महीनेके लम्बे समय तक प्रतिरोधको टिकाये रखनेके लिए इसे रोकना कठिन हो सकता है । जब तक वे खरीदने और "सेवा" लेनेसे इनकार करते रहेंगे, तब तक शोषणका खतरा दूर रहेगा ।

२. जिन पुलों, नहरों वगैराको अंग्रेज उड़ा देंगे, उनके पुननिर्माणके बारेमें क्या करना चाहिये ? पुलों और नहरोंकी जरूरत तो हमें भी होगी । इसलिए क्या हम उन्हें फिरसे बनानेका काम हाथमें लें – भले ही उसका अर्थ जापानियोंका साथ देना हो, या जापानी पुल-निर्माताओंके आने पर हम वहांसे हट जायं ?

३. यदि वे भारतीय सिपाही, जो सिंगापुर और बर्मामें कैदी बना लिये गये थे, जापानकी आक्रमणकारी सेनाके साथ उतरें, तो उनके प्रति हमारा क्या रवैया होना चाहिये ? क्या हम उनसे भी वैसे ही दूर रहें, जैसे हम जापानियोंसे दूर रहेंगे ? अथवा हमें उनको अपने विचारका बना कर जीत लेनेकी कोशिश करनी चाहिये ?

४. (जापानियोंको आते देखकर) अंग्रेजी राज्यके भाग जानेके बाद हम सिक्कों (चलन) के बारेमें क्या करें ?

५. जब लड़ाइयां हो चुकेंगी और जापानी सेनाएं आगे बढ़ जायंगी, तब रणभूमि पर मृत सैनिक और घायल सैनिक पड़े होंगे । मेरे विचारसे मुर्दोंको जलाने और गाड़ने तथा घायलोंको उठाने और उनकी सेवा करनेके काममें हमें जापानियोंके साथ निःसंकोच सहयोग करना चाहिये । संभव है कि जापानी अपने ही आदमियोंमें से कम घायल हुए सैनिकों पर ध्यान दें और अपने शत्रुके कम घायल हुए सैनिकोंको कैदी बना लें तथा बाकीके लोगोंको कदाचित् छोड़ दें । तब उनकी सेवा करना हमारा पवित्र कर्तव्य होगा । इसके लिए हम अभीसे स्थानीय डॉक्टरोंके पथप्रदर्शनमें स्वयंसेवकोंकी तालीमकी योजना बना रहे हैं । उनकी सेवाओंका उपयोग भीतरी उपद्रवों, संक्रामक रोगों आदिकी स्थितिमें भी किया जा सकता है ।

६. रणभूमिके मृत सैनिकों और घायलोंके सिवा संभव है जापानी लोग कुछ बंदूकें, तमंचे और दूसरे छोटे शस्त्र इधर-उधर बिखरे हुए छोड़ जायं । अगर हम इन सबको इकट्ठा कर लेनेका आग्रह नहीं रखेंगे, तो संभव है वे चोर-डाकुओं और दूसरे बदमाशोंके हाथोंमें पड़ जायं । ये लोग तो गिद्धोंकी तरह हमेशा ही युद्धभूमिको लूटने आ पहुंचते हैं । इससे भारत जैसे निःशस्त्र देशमें बड़ा उपद्रव खड़ा हो जायगा । यदि हम इन शस्त्रास्त्रोंको जमा करें, तो हमें उनका क्या करना चाहिये ? मेरा मन तो यह कहता है कि उन्हें ले जाकर समुद्रमें डुबो दिया जाय । बताइये, आपकी क्या सलाह है ?

गांधीजीका पत्र मीराबहनको

तुम्हारा संपूर्ण और वस्तुस्थितिका स्पष्ट दर्शन करानेवाला पत्र मिला । . . . मैं . . . सीधा तुम्हारे प्रश्नों पर ही आ जाता हूं । प्रश्न सब अच्छे और प्रसंगोचित हैं ।

१. मेरे विचारसे हमें लोगोंको बता देना चाहिये कि वे क्या करें । वे अपने सामर्थ्यके अनुसार उस पर आचरण करेंगे । यदि हम उनके सामर्थ्यका निर्णय करने लगें और तदनुसार

आदेश देने लगें, तो हमारे आदेश अधूरे और हानिकारक सिद्ध होंगे । और ऐसा हमें कभी नहीं करना चाहिये । इसलिए तुम मेरी सूचनाओंको उसी अर्थमें समझना । याद रखना कि हमारा रवैया जापानी सेनाके साथ सम्पूर्ण असहयोग करनेका है । इसलिए हम उन्हें किसी भी तरहकी मदद न दें और न उनसे लेन-देन करके कोई लाभ उठायें । अत: हम उन्हें कोई चीज बेच नहीं सकते । यदि लोग जापानी सेनाका सामना नहीं कर सकते, तो वही करें जो सशस्त्र सैनिक किया करते हैं – अर्थात् जब वे प्रबल सेनाके समक्ष टिक न सकें तो हार मान कर पीछे हट जायं । और यदि वे ऐसा करते हैं तो जापानियोंसे कोई लेन-देन करनेका प्रश्न न तो उठता है, न उठना चाहिये । किन्तु यदि लोग मरते दम तक जापानियोंका मुकाबला करनेकी हिम्मत नहीं रखते और न उनमें जापानियों द्वारा आक्रांत प्रदेशको खाली करानेका साहस और सामर्थ्य है, तो हमारे आदेशोंके अनुसार जितना उनसे होगा वे करेंगे । एक बात उन्हें कभी नहीं करनी चाहिये – वे स्वेच्छासे जापानियोंकी अधीनता कभी स्वीकार न करें । यह कायरतापूर्ण कृत्य होगा और स्वातंत्र्य-प्रेमी लोगोंको शोभा नहीं देगा । उन्हें एक आगसे बच कर दूसरी आगमें, जो शायद ज्यादा भयानक होगी, नहीं पड़ना चाहिये । इसलिए उनकी वृत्ति सदा जापानियोंका प्रतिरोध करनेकी ही होनी चाहिये । इसलिए ब्रिटिश चलनी नोट या जापानी सिक्के स्वीकार करनेका प्रश्न ही नहीं उठता । वे जापानियोंकी किसी चीजको हाथ नहीं लगायेंगे । जहां तक हमारे अपने लोगोंके साथ लेन-देनका सवाल है, वे या तो विनिमय-प्रणालीका आश्रय लेंगे या उनके पास जो ब्रिटिश सिक्के होंगे उन्हें काममें लेंगे – इस आशासे कि जो राष्ट्रीय सरकार ब्रिटिश सरकारके स्थान पर आयेगी, वह अपने समार्थ्यके अनुसार लोगोंसे तमाम ब्रिटिश सिक्के ले लेगी ।

२. पुल बनानेमें सहयोग देनेका प्रश्न ऊपरके उत्तरमें समा जाता है । ऐसे सहयोगका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता ।

३. यदि भारतीय सैनिक हमारे लोगोंके संपर्कमें आवें और वे सद्भावनावाले हों, तो हमें अपने भाई मानकर उनके साथ व्यवहार करना चाहिये; और यदि वे कर सकें तो राष्ट्रीय लड़ाईमें

शरीक होनेका उन्हें निमंत्रण देना चाहिये । उन्हें यह वचन देकर लाया गया होगा कि वे देशको विदेशी जुएसे मुक्त करेंगे । यहां कोई विदेशी जुआ नहीं होगा, इसलिए उनसे यह आशा रखी जायगी कि वे लोगोंके मित्र बन जायंगे और ब्रिटिश सरकारके स्थान पर जो राष्ट्रीय सरकार स्थापित होगी उसकी आज्ञा मानेंगे । यदि अंग्रेज सुव्यवस्थित ढंगसे भारतसे हटे होंगे और शासनकी बागडोर भारतीयोंके हाथोंमें सौंप कर गये होंगे, तब तो सारी बात सुन्दर रीतिसे चलेगी; और शान्तिकालमें जापानियोंके लिए भारतमें या उसके किसी भागमें बस जाना मुश्किल भी बना दिया जा सकता है, क्योंकि उन्हें ऐसी प्रजासे वास्ता पड़ेगा जो नाराज और उनकी विरोधी होगी । यह कहना तो कठिन है कि क्या घटनाएं घट सकती हैं । लोग प्रतिरोधकी शक्ति प्राप्त कर लें इतना काफी है, फिर राज्य जापानी या ब्रिटिश किसी भी सत्ताका क्यों न हो ।

४. इसका उत्तर ऊपर (१) में आ गया है ।

५. संभव है कि ऐसी नौबत ही न आये; किन्तु यदि आ गई तो सहयोग दिया जा सकता है और वह जरूरी भी हो सकता है ।

६. रास्तेमें पड़े मिले हथियारोंके बारेमें तुम्हारा जवाब अतिशय ललचानेवाला और बिलकुल तर्कपूर्ण है । इस पर अमल किया जा सकता है । परन्तु मैं इस बातकी कल्पना कर सकता हूं कि सज्जन लोगोंके हाथमें ऐसे शस्त्र पड़ेंगे, तो वे उनका संग्रह करेंगे और संभव हुआ तो उन्हें सुरक्षित स्थानमें रख देंगे । यदि उनका संग्रह करना और बदमाशोंसे उन्हें बचाना असंभव हो, तो तुम्हारी योजना आदर्श कही जायगी ।

परिशिष्ट – ख : गांधीजीका आखिरी वसीयतनामा

देशका बंटवारा हो जाने पर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा आयोजित साधनोंके जरिये हिन्दुस्तानको आजादी मिल जानेके कारण मौजूदा स्वरूपवाली कांग्रेसका काम अब खतम हुआ – यानी प्रचारके वाहन और धारासभाकी प्रवृत्ति चलानेवाले तंत्रके नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गई है । शहरों और कसबोंसे भिन्न उसके सात लाख गांवोंकी दृष्टिसे हिन्दुस्तानकी सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी प्राप्त करना अभी बाकी है । लोक-तंत्रके ध्येयकी तरफ हिन्दुस्तानकी प्रगतिके दरमियान फौजी सत्ता पर मुल्की सत्ताको प्रधानता देनेकी लड़ाई अनिवार्य है । कांग्रेसको हमें राजनीतिक पार्टियों और साम्प्रदायिक संस्थाओंके साथकी हानिकारक होड़से बचाना चाहिये । इन और ऐसे ही दूसरे कारणोंसे अखिल भारत कांग्रेस कमेटी नीचे दिये हुए नियमोंके मुताबिक अपनी वर्तमान संस्थाको तोड़ने और लोक-सेवक-संघके रूपमें प्रकट होनेका निश्चय करे । अवसरके अनुसार इन नियमोंमें फेरफार करनेका इस संघको अधिकार रहेगा ।

गांववाले या ग्रामीण मनोवृत्तिवाले पांच वयस्क पुरुषों या स्त्रियोंकी बनी हुई हरएक पंचायत एक घटक बनेगी ।

पास-पासकी ऐसी हर दो पंचायतोंकी उन्हींमें से चुने हुए नेताके मार्ग-दर्शनमें काम करनेवाली एक मंडली बनेगी ।

जब ऐसी १०० पंचायतें बन जायं तब पहले दरजेके पचास नेता अपनेमें से दूसरे दरजेका एक नेता चुनें और इस तरह पहले दरजेका नेता दूसरे दरजेके नेताके अधीन काम करे । दो सौ पंचायतोंके ऐसे जोड़ कायम करना तब तक जारी रखा जाय जब तक कि वे पूरे हिन्दुस्तानको न ढंक लें । और बादमें कायम की गई पंचायतोंका हर समूह पहलेकी तरह दूसरे दरजेका नेता चुनता जाय । दूसरे दरजेके नेता सारे हिन्दुस्तानके लिए सम्मिलित रीतिसे काम करें और अपने-

अपने प्रदेशोंमें अलग-अलग काम करें । जब जरूरत मालूम हो तब दूसरे दरजेके नेता अपनेमें से एक मुखिया चुनें और वह मुखिया चुननेवाले चाहें तब तक सब समूहोंको व्यवस्थित करके उनका मार्गदर्शन करे ।

(प्रान्तों या जिलोंकी अन्तिम रचना अभी तक न होनेसे सेवकोंके इस समूहको प्रान्तीय या जिला-समितियोंमें बांटनेकी कोशिश नहीं की गई है । और, किसी भी वक्त बनाये हुए समूह या समूहोंको सारे हिन्दुस्तानमें काम करनेका अधिकार रहेगा । यह याद रखा जाय कि सेवकोंके इस समुदायको अधिकार या सत्ता अपने उन स्वामियोंसे यानी सारे हिन्दुस्तानकी प्रजासे मिलती है, जिसकी उन्होंने अपनी इच्छासे और बुद्धिमानीसे सेवा की है ।)

१. हरएक सेवक अपने हाथ-कते सूतकी या चरखा-संघ द्वारा प्रमाणित खादी हमेशा पहननेवाला और नशीली चीजोंसे दूर रहनेवाला होना चाहिये । यदि वह हिन्दू है तो उसे अपनेमें से और अपने परिवारसे हर प्रकारकी छुआछूत दूर करनी चाहिये और जातियोंके बीच एकताके, सब धर्मोंके प्रति समभावके और जाति, धर्म या स्त्री-पुरुषके किसी भेदभावके बिना सबके लिए समान अवसर और समान दरजेके आदर्शमें विश्वास रखनेवाला होना चाहिये ।

२. अपने कार्यक्षेत्रमें इसे हरएक गांववालेके निजी संपर्कमें रहना चाहिये ।

३. वह गांववालोंमें से कार्यकर्ता चुनेगा और उन्हें तालीम देगा । इन सबका वह रजिस्टर रखेगा ।

४. वह गांवोंको इस तरह संगठित करेगा कि वे अपनी खेती और गृह-उद्योगों द्वारा स्वयंपूर्ण और स्वावलम्बी बनें ।

६. गांववालोंको वह सफाई और तन्दुरुस्तीकी तालीम देगा और उनकी बीमारी व रोगोंको रोकनेके लिए सारे उपाय काममें लायेगा ।

७. हिन्दुस्तानी तालीमी संघकी नीतिके अनुसार नई तालीमके आधार पर वह गांववालोंकी जन्मसे मृत्यु तककी सारी शिक्षाका प्रबंध करेगा ।

८. जिनके नाम मतदाताओंकी सरकारी सूचीमें न आ पाये हों, उनके नाम वह उसमें दर्ज करायेगा ।

९. जिन्होंने मत देनेके अधिकारके लिए जरूरी योग्यता प्राप्त न की हो, उन्हें वह योग्यता प्राप्त करनेके लिए प्रोत्साहन देगा ।

१०. ऊपर बताये हुए और समय-समय पर बढ़ाये हुए उद्देश्योंको पूरा करनेके लिए, उचित कर्तव्य-पालन करनेकी दृष्टिसे, संघके द्वारा तैयार किये गये नियमोंके अनुसार वह स्वयं तालीम लेगा और योग्य बनेगा ।

संघ नीचेकी स्वाधीन संस्थाओंको मान्यता देगा :

१. अखिल भारत चरखा-संघ

२. अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ

३. हिन्दुस्तानी तालीमी संघ

४. हरिजन-सेवक-संघ

५. गोसेवा-संघ

आर्थिक व्यवस्था

संघ अपना ध्येय पूरा करनेके लिए गांववालोंसे और दूसरोंसे चंदा लेगा । गरीब लोगोंका पैसा इकट्ठा करने पर खास जोर दिया जायगा ।

मो. क. गांधी

नई दिल्ली, २९-१-१९४८

* * * * *